कालिदास का नाट्य-कल्प

(पटना विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० उपाधि के लिए स्वीकृत शोध-प्रबन्ध)

डा० श्यामारमण पाण्डेय

एम० ए० (संस्कृत एवं हिन्दी), डिप० इन-एड० (पटना)
पी-एच० डी० (पटना)

विश्वविद्यालय प्राध्यापक
संस्कृत विभाग
राँची विश्वविद्यालय, राँची

पटना

ओइम् नमः शिवाय

जिनकी तपस्या एवं साधना से मानव-समाज
विशेष गौरवशाली है
उन देवस्वरूप अपने प्रपितामह
स्वर्गीय बाबा मित्यानन्द पाण्डे जी को
पुण्य-स्मृति में सादर सभक्ति
सर्मापित

—श्यामारमण

पुरोवाक्

डॉ० श्यामारमण पांडेय संस्कृत के प्रौढ़ विद्वान् हैं। इनमें परम्परागत पांडित्य के प्रकर्ष के साथ आधुनिक विवेचनपटुता का भी श्लाघ्य समन्वय है। ऐसे कृती लेखक की प्रस्तुत कृति "कालिदास का नाट्य-कल्प" अपने अंतर्निहित गुणों से अनुरागी और जिज्ञासु पाठकों का ध्यान आकृष्ट करने में समर्थ होगी, इसमें संदेह नहीं। किसी कृति की सार्थकता यह है कि वह नयी दिशाओं की ओर संकेत करे। इस दृष्टि से मैं इस "नाट्यकल्प" का स्वागत करता हूँ और सारस्वत सफलता के लिए लेखक को साधुवाद देता हूँ।

देवेन्द्रनाथ शर्मा

भूतपूर्व कुलपति
पटना विश्वविद्यालय
तथा का० सि० द० सं० विश्वविद्यालय

आमुख

यह ग्रन्थ मेरे "कालिदास की नाट्यविषयक धारणा" नामक विषय पर पटना विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० उपाधि के लिए किये गये शोध-कार्य का परिवर्धित एवं परिष्कृत रूप है। शोध-प्रवन्ध के परीक्षक डा० रसिक विहारी जोशी, आचार्य एवं अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, का अभिमत है कि विषय की व्याप्ति एवं अर्थगौरव की दृष्टि से इस पुस्तक का शीर्षक "कालिदास का नाट्य-कल्प" ही उपयुक्त है। इसमें नाट्य के प्रायोगिक स्वरूप के आधार पर उनके सिद्धान्तों का अनुसंधान किया गया है। वस्तुतः प्रयोगप्रधान नाट्यशास्त्र की यही सफलता है। सिद्ध नाट्य-प्रयोक्ता कविकुलगुरु कालिदास के रूपक उनके नाट्य-सिद्धान्त के प्रायोगिक स्वरूप हैं। शोध-प्रवन्ध में "प्रमुख भारतीय नाट्याचार्यों एवं उनकी रचना" पर भी विशद विवेचन प्रस्तुत किया गया था। प्रस्तुत पुस्तक में उक्त अंश को हटा दिया गया है। नाट्य-प्रयोग-विज्ञान, नाट्याचार्य, रंग शिल्पी तथा नाट्यसिद्धि नामक अंश इसमें जोड़ दिया गया है। साथ ही अभिनय के विभिन्न प्रकारों पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है।

कालिदास संस्कृत साहित्य परम्परा के समुज्ज्वल रत्न हैं। आर्यजाति की चरम विकसित संस्कृति का स्वरूप उनकी रचनाओं में सुरक्षित है। उनके विचार में मानव-जीवन का उद्देश्य जरामरण रूप आवागमन से विमुक्ति एवं परमानन्द की प्राप्ति है—

"ममापि च क्षपयतु नीललोहितः पुनर्भवं परिगतशक्तिरात्मभूः"

इसीलिए उन्होंने अपने सर्वश्रेष्ठ नाटक 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' में लौकिक प्रेयस् के ऊपर पारलौकिक श्रेयस् का शाश्वत संदेश विश्व के मानव-समाज को दिया है। उनके जीवन का वास्तविक आदर्श यह है कि सांसारिक-आसक्तियों का रसास्वादन करते हुए भी अन्ततः अनासक्त रहना है और जरामरण के चक्र से मोक्ष पाने के लिए अपने जीवन को निरन्तर संयत एवं अनुशासित रखना है। उनके विचार से उपकार के द्वारा ही किसी के हृदय पर अधिकार हो सकता है। अपने जीवन के इस आदर्श की अभिव्यंजना उन्होंने अपनी रचनाओं में की है।

जैसे भारतीय नाटयकला के सैद्धान्तिक ज्ञान के लिए भरत का नाट्य-शास्त्र अपेक्षित है वैसे ही उसके प्रायोगिक स्वरूप के प्रत्यक्ष दर्शन के लिए प्रयोग-विज्ञान विशारद कालिदास के रूपक का अनुशीलन परमावश्यक है। उनके रूपकों

में न केवल नाट्यकला अपितु काव्य, संगीत, चित्र आदि विभिन्न कलाओं का सन्निवेश हुआ है। उनके रूपकों के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि अतिप्राचीन काल में ही भारतीय नाट्यकला ने आर्यों एवं आर्येतर सभ्यताओं के संगम का मार्ग प्रशस्त किया था। वास्तविक कला का जन्म समरसता से होता है, जहाँ सारे विरोध एवं वैषम्य समाप्त होकर एकरूप हो जाते हैं। कालिदास नाट्यविद्या के पारंगत विद्वान् थे। उनके रूपकों में भारत के सांस्कृतिक एवं बौद्धिक गौरव का सजीव चित्र अंकित हुआ है। नाट्य की परम्परागत महती विभूति एवं जीवन की स्रोतस्विनी धारा के सम्बन्ध में उनकी बहुत बड़ी आस्था है—

न पुनरस्माकं नाट्यं प्रति मिथ्या गौरवम् (मालविकाग्निमित्रम्)—नाट्य विद्या की श्रेष्ठता को प्रतिपादित करते हुए उन्होंने लिखा है कि यों तो सभी लोग अपने-अपने घर की विद्या को सबसे अच्छा समझते हैं, किन्तु वे लोग अपनी नाट्य-विद्या पर इतना अभिमान करते हैं, वह असत्य नहीं है। क्योंकि मुनिजनों का कहना है कि यह नाट्य तो देवताओं की आँखों को सुहानेवाला यज्ञ है। स्वयं भगवान् शंकर ने उमा से विवाह करके इस नाट्य को दो भागों में विभक्त कर दिया—एक ताण्डव और दूसरा लास्य।—इसमें सत्व, रज और तम तीन गुणों का समन्वय, अनेक रसों का सम्मिश्रण तथा लोकचरितों का प्रदर्शन हुआ है। इसलिए भिन्न-भिन्न रुचिवाले लोगों के लिए नाटक एक ऐसा मनोरंजन है, जिससे सबको समान आनन्द प्राप्त होता है।[1] कालिदास की इस नाट्य-कल्पना में समस्त लोक की एकता का मांगलिक अनुष्ठान मुखरित एवं समुद्भासित हुआ है। सच्चे अर्थ में उनका अभिज्ञानशाकुन्तलम् नाटक नानाभावोपसम्पन्न, नानावस्थान्तरात्मक और शुभाशुभ विकल्पक तीनों लोकों का भावानुकीर्त्तन स्वरूप है। कालिदास ने अपने युगीन भारत की सामाजिक, सांस्कृतिक, आध्यात्मिक तथा जातीय एकता की मंगलमयी कल्पना को नाट्यकला के माध्यम से परिव्यक्त किया है। इस दृष्टि से वे महाकवि वाल्मीकि एवं व्यास की श्रेणी में पांक्तेय हैं। यद्यपि इनके रूपक लक्ष्य ग्रन्थ हैं फिर भी इनमें नाट्यशास्त्रीय

---

१ गणदासः—कामं खलु सर्वस्यापि कुलविद्या बहुमता। न पुनरस्माकं नाट्यं प्रति मिथ्यागौरवम्।

कुतः—देवानामिदमामनन्ति मुनयः कान्तं क्रतुं चाक्षुषं
रुद्रेणेदमुमाकृतव्यतिकरे स्वाङ्गे विभक्तं द्विधा।
त्रैगुण्योद्भवमत्र लोकचरितं नानारसं दृश्यते।
नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधनम् ॥१।४॥ (मालवि०)

सिद्धान्त प्रायोगिक रूप में सुव्यक्त हुआ है। जहाँ इन रूपकों पर भरत के नाट्य-शास्त्र का प्रभाव है वहीं परवर्त्ती नाट्यशास्त्रकर्ताओं एवं रूपक रचयिताओं पर इनके प्रयोगों का प्रभाव दृष्टिगत होता है। करीब दो हजार वर्षों के बाद आज भी उनकी श्रेष्ठ नाट्यकृतियों से समुन्नत भारत के गौरव एवं कला-समृद्धि का अमृतवर्षी सौरभ विश्व के सहृदय सामाजिक को सुवासित, अनुरंजित एवं अनुप्राणित कर रहा है।

नाटककार वस्तुवृत्त तथा पात्र के शील, स्वभाव एवं आचार आदि के आधार पर नाट्य रचना करता है। वस्तुतः उसे एक ओर नाट्यशास्त्रप्रणेता की दृष्टि से दिशा-निर्देश मिलता है, तो दूसरी ओर समसामयिक लोक-जीवन के सुख-दुःखात्मक परिवेश से पर्याप्त संवेदना एवं शक्ति प्राप्त होती है। इस प्रकार शास्त्रीय सिद्धान्त तथा जीवन की वास्तविकता से अनुप्राणित नाट्यकृति को नाट्य-प्रयोक्ता रंगमंच पर प्रस्तुत करता है। साथ वह लोकधर्मी और नाट्यधर्मी विधियों द्वारा आंगिक आहार्य आदि विभिन्न अभिनयों के माध्यम से उस नाट्य-रचना को प्रेक्षक के हृदय में रसास्वाद की दशा तक ले जाता है। इस अभिनयन-क्रिया के कारण वह अभिनेता भी होता है। कालिदास नाट्यशास्त्रकर्त्ता, नाट्य-रचयिता तथा नाट्यप्रयोक्ता तीनों हैं। उन्होंने नाटक के लिए 'प्रयोगबन्ध' शब्द का प्रयोग किया है।[1] प्रयोग के अन्दर उपर्युक्त तीनों अर्थ समाहित हो जाते हैं। उनकी दृष्टि में नाट्यप्रयोग की सफलता सहृदय सामाजिक के परि-तोष पर निर्भर है।[2] इस अभिनयन-क्रिया के आधार पर वे अभिनेता भी सिद्ध हो जाते हैं।

प्रस्तुत पुस्तक में यह विचारणीय है कि कालिदास की नाट्य के सम्बन्ध में क्या धारणा है? उन्होंने अपने नाट्य-प्रयोगविज्ञान का उपयोग अपने रूपकों में किस प्रकार किया है? एतदर्थ विभिन्न नाट्यशास्त्रकर्त्ताओं के सिद्धान्तों का समीक्षात्मक एवं वैज्ञानिक विश्लेषणपूर्ण अध्ययन सर्वथा अपेक्षित है। उन सिद्धान्तों की पृष्ठभूमि में ही उनके रूपकों में प्रयुक्त उदाहरणों के माध्यम से नाट्य के भिन्न-भिन्न तत्त्वों के सम्बन्ध में उनकी धारणा का उल्लेख इस ग्रन्थ में यथाप्रसंग किया गया है।

---

१ सूत्रधार.—मारिष, बहुशस्तु परिषदा पूर्वेषां कवीनां दृष्टा। प्रयोगबन्धा। सोऽहमद्य विक्रमोर्वशीयम् नाम नाटकम् (त्रोटकम्) अपूर्वं प्रयोक्ष्ये। तदुच्यतां पात्रवर्गः स्वेषु स्वेषु पाठेष्वसंमूढैर्भवितव्यमिति ॥ (विक्र०, अंक १, पृ० ५।

२ सूत्रधारः—आपरितोषाद्विदुषां न साधुमन्ये प्रयोगविज्ञानम्।
बलवदपि शिक्षितानामात्मन्यप्रत्ययं चेतः ॥ १।२। (अभि० शा०)

सैद्धान्तिक तत्त्वों के अनुरूप उदाहरणों के बिना उनकी नाट्यविषयक धारणा का तात्त्विक मूल्यांकन नहीं हो सकता है। अतः सैद्धान्तिक पक्ष के विवेचन के लिए अनुसंधान के प्रसंग में मैंने निम्नलिखित शास्त्रीय ग्रन्थों का आश्रय ग्रहण किया है—

(१) भरत का नाट्यशास्त्र, (२) अभिनयदर्पण (नन्दिकेश्वर), (३) दशरूपक (धनंजय), (४) धनिक की वृत्ति, (५) अभिनवभारती (अभिनवगुप्त), (६) नाट्यदर्पण (रामचन्द्रगुणचन्द्र), (७) भावप्रकाशन (शारदातनय), (८) नाटक लक्षणरत्न कोश (सागरनन्दी), (९) रसार्णवसुधाकर (शिंगभूपाल), (१०) साहित्यदर्पण (आचार्य विश्वनाथ कविराज), (११) काव्यानुशासन (हेमचन्द्र) (१२) संगीत रत्नाकर (शार्ङ्गधर) (१३) शृङ्गारप्रकाश (भोजराज) आदि। कहीं-कहीं कोहलाचार्य का भी विचार उद्धृत किया गया है।

वाचिक अभिनय नाट्य-प्रयोगविज्ञान का प्रमुख अंग है। वाच्याभिनय का विधान पद, वाक्य, गुण, अलंकार एव ध्वनि आदि पर निर्भर करता है। कहने का तात्पर्य है कि नाटकीय संवाद-योजना पर वाच्याभिनय आधृत है। कालिदास का एतत्सम्बन्धी विधान किस प्रकार का है, इसके विनिर्धारण के लिए निम्नलिखित काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों का उपयोग किया गया है—

(१) काव्यालंकार (भामह), (२) काव्यादर्श (दण्डी), (३) ध्वन्यालोक (आनन्दवर्धन), (४) काव्यालंकार सूत्रवृत्ति (वामन), (५) काव्यप्रकाश (मम्मट), (६) काव्य-मीमांसा (राजशेखर) आदि।

इन लक्षणग्रन्थों के अतिरिक्त भास, शूद्रक, भवभूति आदि कतिपय नाटककारों के रूपकों तथा उनपर अनेक विद्वानों द्वारा की गयी टीकाओं एवं समालोचनाओं को भी संदर्भ रूप में ग्रहण किया गया है। आनुषंगिक रूप से भारतीय नाट्यकला की सुविकसित परम्परा की समग्रता की दृष्टि से मैंने आधुनिक काल में विरचित रूपकों पर भी संक्षिप्त रूप से प्रकाश डाला है।

परवर्त्तीकाल में कालिदास की रचनाओं के काव्य-सौंदर्य का निरूपण अपने-अपने ढंग से विद्वानों ने अनेक भाषाओं में किया। उनमें संस्कृत भाषा में मल्लिनाथ प्रभृति विद्वानों ने शास्त्रीय व्याख्यात्मक पद्धति से पदों, छन्दों, गुणों, रीतियों, अलंकारों एवं ध्वनियों आदि का विवेचन किया। पं० राघवभट्ट ने अभिज्ञानशाकुन्तलम् पर नाट्यशास्त्रीय विवेचन भी प्रस्तुत किया। इनके अतिरिक्त संस्कृत, हिन्दी, बंगला, अंग्रेजी आदि अन्यान्य भाषाओं में इनपर टीकाएँ लिखी गयीं। अंग्रेजी में अनेक विद्वानों ने आधुनिक शैली से उनके रूपकों का समीक्षात्मक अध्ययन कर काव्यगत वैशिष्ट्य उद्घाटित करने का प्रशंसनीय प्रयास

किया। आधुनिक शैली से इनके रूपकों पर अंग्रेजी में समीक्षात्मक अध्ययन प्रस्तुत करनेवाले विद्वानों में अरविन्द, जे० सी० झाला, द्विजेन्द्र लाल राय, के० पी० कुलकर्णी, एम० आर० काले, सी० आर० देवधर, वाल्टर रुबेन, के० एस० रामस्वामी शास्त्री, ए० बी० गजेन्द्रगदकर आदि का नाम उल्लेखनीय है। यों पहले तो सिर्फ अंग्रेजी भाषा में लिखी गयी ऐतिहासिक पुस्तकों में ही यत्किंचित् विवेचन प्रस्तुत किया गया था। कीथ, वेवर, मैकडोनल, पी० एल० वैद्य, विन्टरनित्स, कृष्णमाचार्यर आदि विद्वानों ने अपने संस्कृत साहित्य के इतिहास में कालिदास के रूपकों पर उल्लेखनीय विश्लेषणात्मक विवेचन किया है। डा० कीथ का संस्कृत ड्रामा गम्भीर विवेचनात्मक ग्रन्थ होने के कारण अब भी संदर्भ ग्रन्थ के रूप में समादृत है। किन्तु नाट्य-शिल्प एवं प्रयोग-विधियों का विवेचन उसमें बहुत कम है। हिन्दी भाषा में इस प्रकार के ग्रन्थ का बहुत अभाव रहा। किन्तु आधुनिक काल में हिन्दी में भी ऐसे समालोचनात्मक ग्रन्थ लिखे जाने लगे हैं। कुछ लोगों नें अंग्रेजी में लिखित आलोचनात्मक और ऐतिहासिक ग्रन्थों का अनुवाद किया है, तो कुछ लोगों ने उसे ही यत्र-तत्र परिवर्तित कर नया कलेवर प्रदान किया है। प्रो० वी० बी० मिराशी, आचार्य चन्द्रबली पाण्डेय, डा० भगवतशरण उपाध्याय, आचार्य बलदेव उपाध्याय, डा० रमाशंकर तिवारी, डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी, श्री काशिनाथ द्विवेदी, तथा सूर्यनारायण व्यास आदि विद्वानों ने हिन्दी में आधुनिक समीक्षात्मक शैली से कालिदास की नाट्यकृतियों पर अध्ययन प्रस्तुत किया है। बंगला, उड़िया, मराठी, तमिल आदि अन्यान्य भारतीय भाषाओं में इनकी रचनाओं पर अध्ययन प्रस्तुत किये गये हैं। कालिदास की नाट्यकृतियों पर कई शोध-प्रबन्ध भी लिखे गये हैं। डा० गायत्री वर्मा ने कालिदास के ग्रन्थों पर आधारित भारतीय संस्कृति नामक उच्चस्तरीय शोध-प्रबन्ध लिखा है। प्रस्तुत ग्रन्थ में मैंने कालिदास की कृतियों पर संस्कृत, हिन्दी एवं अंग्रेजी भाषाओं में उपलब्ध सभी सामग्रियों का पूरे विवेक के साथ समीक्षात्मक ढंग से उपयोग किया है।

कालिदास की नाट्यकृतियों पर इतने ग्रन्थ लिखे जाने पर भी मेरे विचार से आधुनिक शैली से मौलिक चिन्तन पूर्ण ग्रन्थ का अभाव बना ही है। मल्लिनाथ, राघवभट्ट, पं० श्री नवकिशोर शास्त्री आदि की टीकाओं तथा आधुनिक विविध टीकाओं से कवि के काव्य-सौंदर्य का एक निश्चित सरणि में उन्मीलन हुआ है। लेकिन कालिदास की नाट्यकृतियों का व्याख्यात्मक एवं विश्लेषणात्मक अध्ययन अद्यापि हिन्दी में प्रस्तुत नहीं हो सका है। मेरी जानकारी में इनके नाट्यकाल के सम्बन्ध में शोध के रूप में कोई कार्य नहीं हुआ है। मुझे ऐसा प्रतीत होता

रहा कि कालिदास की नाट्यकृतियों का मूल्यांकन प्राचीन एवं अर्वाचीन दोनों पद्धतियों से एक साथ होना चाहिए। क्योंकि उनके रूपकों में प्राचीन सरणियों के अनुसरण के साथ आधुनिक नाट्य-शिल्प-विधान का भी अभाव नहीं है। वस्तुतः आज ऐसे ग्रन्थ की आवश्यकता है जिसमें प्राचीन तथ्यात्मक विवेचन के साथ आधुनिक शैली से अभिव्यंजन हो। इस दृष्टि से इनकी नाट्यकृतियों पर बिल्कुल शोध नहीं हुआ है। प्राचीन नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थों में तो यत्र-तत्र कुछ उदाहरण मात्र प्रस्तुत किये गये हैं। स्वतंत्र रूप से नाट्यशास्त्रीय तत्त्वों का आधुनिक समीक्षात्मक शैली से विवेचन किसी नाटक विशेष पर नहीं किया गया है। इस पुस्तक के प्रणयन का प्रमुख उद्देश्य कालिदास के रूपकों का शास्त्रीय पद्धति तथा आधुनिक समालोचनात्मक दृष्टि से अध्ययन करना है। अध्ययन-काल में ही मैंने इस पर विचार किया था। किन्तु अनुकूल परिस्थिति के अभाव में मैं इस पर अपना शोध-पूर्ण कार्य उपस्थित नहीं कर सका। अध्ययन काल में मैं निरन्तर इस विषय पर चिन्तन करता रहा। कई वर्षों के अध्यापनानुभव के बाद मैं इस ग्रन्थ को प्रस्तुत कर रहा हूँ।

मैंने इस पुस्तक में प्राचीन ढंग से विभिन्न आचार्यों के मतानुसार शास्त्रीय नाट्य-तत्त्वों की तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक व्याख्या करते हुए कालिदास की तद्विषयक धारणा उनके प्रयोगों के आधार पर प्रस्तुत करने का हर संभव प्रयास किया है। इसके साथ ही मैंने आधुनिक शैली से इनके रूपकों के नाट्य-तत्त्व (वस्तु, नेता, पात्र, रस एवं भाषा आदि) पर सांगोपांग आलोचनात्मक अध्ययन किया है। प्राचीन एवं आधुनिक समीक्षा के तुलनात्मक विवेचन के आधार पर ही कालिदास की नाट्यविषयक धारणा को प्रस्तुत करना मेरा अभीष्ट रहा है। नाटकीय वस्तु, नेता एवं रसगत वैशिष्ट्य का प्रतिपादन इस ग्रन्थ की निजी विशेषता है। मेरी जानकारी में कालिदास की नाट्य-रचना के सम्बन्ध में इस प्रकार का कोई भी शोध-कार्य नहीं हुआ है। इस दृष्टि से अपने ढंग का यह सर्वथा अभिनव प्रयास है। इस ग्रन्थ में कालिदास की नाट्यविषयक धारणा के निर्धारण के पूर्व अनेक आचार्यों के तात्त्विक विचारों का संकलन, आकलन एवं संतुलन प्रस्तुत किया गया है। उन्हीं के आधार पर प्रतिपादित निर्णयात्मक विचारों का निष्कर्ष प्रस्तुत किया गया है। उन आचार्यों के मतों की सम्पुष्टि कालिदास के मूल प्रयोगमूलक विचार से हुई है। इस तरह उदाहरण के माध्यम से उनके विचार-तत्त्व को प्रस्तुत एवं प्रमाणित कर उसकी मौलिकता एवं प्रभावोत्पादकता का यथासंभव पूर्ण निर्वाह किया गया है। कालिदास की दृष्टि में नाट्यकला बहुत व्यापक है। उनके प्रयोग-विज्ञान के अन्तर्गत प्रयोगबन्ध-प्रक्रिया

के साथ-साथ आंगिक, वाचिक, सात्त्विक, आहार्य एवं चित्ताभिनय, रंग विधान, दृश्य-विधान तथा रंग-शिल्पों आदि सभी नाट्यकला से सम्बद्ध अन्य कलाओं एवं शिल्पों का समावेश हुआ है।

नाट्यकला के माध्यम से भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता के सत्य, श्रेष्ठ भव्य, शिव एवं सुन्दर की अनुभूति और तदनुसार अभिव्यक्ति कालिदास ने अपनी नाट्यकृतियों में किस प्रकार की, इसे प्रस्तुत ग्रन्थ में प्रकर्षपूर्ण शैली में उद्घाटित करने का यथेष्ट प्रयास किया गया है। आज भी लक्ष्य एवं लक्षण ग्रन्थों तथा नाट्य-प्रयोग के स्वरूपों और भारतीय संस्कृति को उनके रूपकों से संजीवनी शक्ति एवं गतिविधि मिल रही है। आशा है कि जब तक भारत और भारतीय संस्कृति रहेगी तब तक इनका आलोक सम्पूर्ण विश्व के सहृदयों को समान रूप से मिलता रहेगा।

यह तो निर्विवाद कहा जायेगा कि विदेशी आक्रमणकारियों एवं शासकों ने भारतीय संस्कृति एवं नाट्यकला को विध्वस्त करने के लिए कोई उपाय उठा नहीं रखा, फिर भी हम गर्व के साथ कह सकते हैं कि आज भी यदि अनुकूल वातावरण मिले तो कालिदास के रूपक भारतीय नाट्यकला एवं संस्कृति को पुनरुज्जीवित करने के लिए पर्याप्त हैं। स्वतंत्रताप्राप्ति के बाद भारतीय नाट्य-कला एवं संस्कृति की ओर राजनीतिज्ञों, प्रशासकों एवं कलाकारों का ध्यान जा रहा है। इसके उत्थान के लिए हर प्रकार के उपाय भी किये जा रहे हैं। भौतिकता के संघर्षमय अशान्त जीवन से ऊबकर विदेशी लोग भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता को अपनाने का प्रयत्न कर रहे हैं। विदेशी कलाकार यदा-कदा इनके रूपकों का अभिनय भी कर रहे हैं। मुझे अखण्ड विश्वास है कि कालिदास की रचनाओं के सच्चे अनुशीलन से उन्हें परम शान्ति प्राप्त होगी। वे अपने जीवन को भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता के ढाँचे में ढालने में सफल होंगे। पथभ्रष्ट भारतीय भी इनकी रचनाओं से सम्यक् आलोक पाकर अपनी परम्परा के साथ अपने को सुसम्बद्ध करेंगे। अब कथमपि संभव नहीं है कि सम्पूर्ण विश्व की मानवता एवं कला को शक्ति तथा नीति प्रदान करने वाली भरत एवं कालिदास की नाट्यकला अपने ही घर में वन्दिनी और वनवासिनी बनी रहे। सचमुच यह दुर्भाग्य एवं चिन्ता का विषय है। वृहत्तरभारत की संस्कृति एवं नाट्यकला के पुनरुद्धार तथा समुन्नयन के उद्देश्य से मैंने प्राचीन परम्परा के साथ अत्याधुनिक ढंग से इस शोध-प्रबन्ध को प्रस्तुत किया है। आशा है कि इससे लोग अपनी संस्कृति एवं नाट्यकला का सजीव परिचय प्राप्त करेंगे तथा उसके पुनरुद्धार के लिए कृतसंकल्प होंगे। मुझे विश्वास है कि यह ग्रन्थ आधुनिक नाटककारों को भी सम्यक् आलोक प्रदान कर अपनी प्राचीन परम्परा के अनुकूल नाट्यग्रथन

के लिए प्रेरित और उत्साहित करेगा। मौलिकता और व्यापकता की दृष्टि से हम पाते हैं कि कालिदास के प्रयोगबन्ध में ऐसे बीज सन्निहित हैं जिनका प्रयोग आधुनिकतम नाटकों में भी सर्वथा सफलता पूर्वक संभव है। कालिदास के रूपकों के आधार पर नवनिर्मित चलचित्र बहुत प्रभावोत्पादक सिद्ध हुए हैं।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध का सम्पूर्ण प्रतिपाद्य विषय-वस्तु-विधान नौ अध्यायों में संविभाजित है। प्रथम अध्याय में भारतीय नाट्यकल्पन के सम्बन्ध में तत्त्वतः विवेचन है। इस प्रसंग में नाट्य शब्द की व्युत्पत्ति एवं व्याख्या, नाट्य एवं रूपक, नृत्य तथा नृत्त का सर्वप्रथम सारगर्भित विश्लेषणात्मक अध्ययन किया गया है। तदनन्तर भारतीय नाट्योत्पत्ति-विषयक परिकल्पनाओं और स्थापनाओं पर समीक्षात्मक विवेचन प्रस्तुत करते हुए मैंने अपना मन्तव्य प्रकट किया है कि 'पाश्चात्य विद्वानों की ऊटपटांग भावनाओं एवं धारणाओं का तिरस्कार कर भरत-मुनि द्वारा नाट्यशास्त्र में वर्णित चारों वेदों से पाठ्य, गीत, अभिनय एवं रस तत्त्व ग्रहण कर ब्रह्मा द्वारा नाटयवेद की सृष्टि की परिकल्पना भारतीय संस्कृति के परिवेश में मान्य होनी चाहिए। कालिदास की नाट्य विषयक कल्पना[1] से भी इस तथ्य की संपुष्टि होती है। इसके बाद नाट्य-स्वरूप, नाट्योद्देश्य, नाट्य-परिधि, नाट्योपकरण (गीत, वाद्य एवं अभिनय), नाट्य के प्रकार, नाट्य-प्रयोग-प्रक्रिया तथा नाट्यशाला पर व्यापक रूप से भरत आदि आचार्यों का विचार उपस्थित करते हुए तत्संबंधी कालिदास की धारणा प्रस्तुत की गयी है। उन्होंने 'नाट्य' शब्द का प्रयोग अतिव्यापक अर्थ में किया है। उनकी नाट्य-परिधि में अनेक शिल्पों, विद्याओं, कलाओं एवं कर्मों का सन्निवेश हुआ है। उन्होंने पेड़-पौधे एव पशु-पक्षी को भी अपने नाट्य-प्रयोग में स्थान दिया है। सचमुच उन्होंने नाट्य में तीनों लोकों के भावों का अनुकीर्तन किया है। उनकी दृष्टि में नाट्य का उद्देश्य विभिन्न रुचि वाले लोगों का पृथक्-पृथक् समाराधन है। द्वितीय अध्याय में संस्कृत रूपक-रचना के उद्भव और विकास का संक्षिप्त इतिहास प्रस्तुत कर

तृतीय अध्याय में कालिदास के रूपकों की कथावस्तु, उपजीव्य एवं नाट्य-वैशिष्ट्य का विवेचन कर उनकी नाट्यकला तथा नाट्य-प्रतिमा को प्रकाशित किया गया है। इसमें अपनी जानकारी के अनुसार इस तथ्य पर प्रकाश डाला गया है कि कालिदास ने अपने रूपकों के कथानक की सामग्री कहाँ-कहाँ से संकलित संस्कृत नाट्य-परम्परा में कलिदास का महत्त्वपूर्ण एवं श्रेष्ठ स्थान निरूपित किया गया है।

१ देवानामिदमामनन्ति मुनयः…………१।४॥ (मालवि०)

की है, उसे किस प्रकार यथेष्ट प्रयोजन की परिपूर्ति के लिए संशोधित, परिवर्तित या सुनियोजित कर अभिनव रूप प्रदान किया है। इसमे प्रदर्शित किया गया है कि कालिदास की तीनों नाट्य-कृतियाँ मानव-हृदय की विभिन्न वाह्य परिस्थितियों में उदीयमान वृत्तियों का चित्रण लोकव्यवहार के साथ सामंजस्यपूर्वक करती हैं। इनमें उन्होंने प्रेममूलक आख्यान को ही नाटकीय कथावस्तु के रूप में परिगृहीत किया है। किन्तु उनमें प्रेम की अनेक अवस्थाओं का दिग्दर्शन बड़े ही मनोवैज्ञानिक ढंग से किया गया है। वस्तु; पात्र एवं रस की दृष्टि से उनके तीनों रूपकों में अनुपम वैशिष्ट्य है।

चतुर्थ अध्याय के प्रथम प्रकाश में कालिदास के रूपकों की वस्तु-योजना का तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन है। इसके द्वितीय प्रकाश में नाटकीय कथावस्तु का शास्त्रीय विभाग एवं उनका विश्लेषणात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। अभिनय (नाट्यधर्मिता) की दृष्टि से नाटकीय वस्तु के विश्लेषण के प्रसंग में सन्ध्यंगों एवं सन्ध्यन्तरों पर भी पूर्ण रूप से विचार किया गया है। नाटकीय वस्तु के विन्यास में इनके महत्त्वपूर्ण उपयोग पर प्रभूत प्रकाश डाला गया है।

पंचम अध्याय में नायक-कल्पना पर विचार किया गया है। इसे दो प्रकाशों में संविभाजित किया गया है। इसके प्रथम प्रकाश में शास्त्रीय दृष्टि से नायक के गुण-वैशिष्ट्य एवं भेद-विवेचन के साथ कालिदास के रूपकों के नायकों (अग्निमित्र, पुरूरवा तथा दुष्यंत) का गुणवैशिष्ट्यपूर्ण समीक्षात्मक अध्ययन है। द्वितीय प्रकाश में शास्त्रीय दृष्टि से नायिकाओं के गुणवैशिष्ट्य एवं भेद-निरूपण के साथ कालिदास के रूपकों की नायिकाओं (मालविका, उर्वशी तथा शकुन्तला) का गुणवैशिष्ट्यपूर्ण समीक्षात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। षष्ठ अध्याय में कालिदास के रूपकों में पात्र-संघटन तथा प्रमुख पुरुष और स्त्री पात्रों की चारित्रिक विशेषताओं का उल्लेख करते हुए चरित्र-चित्रण प्रस्तुत किया गया है। इसके साथ ही कालिदास के रूपकों के विदूषक की नाटकीय उपयंगिता पर अलग से सांगोपांग आलोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

सप्तम अध्याय में रसाभिव्यक्ति पर विचार किया गया है। इसके प्रथम प्रकाश में भाव एवं रस सम्बन्धी तुलनात्मक शास्त्रीय विवेचन के साथ रस-निष्पत्ति के सम्बन्ध में लोल्लटादि विभिन्न आचार्यों के मतों का संग्रह कर तद्विषयक कालिदास की धारणा एवं स्थापना वर्णित है। इसके वाद रस के विभिन्न प्रकारों का विवेचन करते हुए कालिदास के रूपक में अभिव्यक्त रसों पर पर्याप्त प्रकाश डाला

गया है। कालिदास की मान्यता है कि प्रयोग-दर्शन करते समय तन्मयीभवन की स्थिति में ही सहृदय सामाजिक को रसानुभूति होती है तथा स्थायी भाव ही रसत्व को प्राप्त करता है। इसके द्वितीय प्रकाश में रस-परिपोष में नाट्य-वृत्तियों के योग पर यथेष्ट प्रकाश डाला गया है।

अष्टम अध्याय में कालिदास के रूपकों की भाषा-शैली पर तथ्यपूर्ण विवेचन करते हुए नाटकीय-सम्वाद-योजना पर समीक्षात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। संवादों में प्रयुक्त संस्कृत एवं प्राकृत भाषागत विशेषता पर विचार करते हुए विभिन्न नाटकीय पात्रों के सम्बोधन-प्रकार पर प्रकाश डाला गया है। तदनन्तर नाटकीय कथावस्तु के सम्यक् विकास तथा नाटकीय संवादों में रसाभिव्यंजन के लिए अपने रूपकों में कालिदास द्वारा प्रयुक्त-नाट्यलक्षणों एवं नाट्यालंकारों को उदाहरण के माध्यम से उपस्थित किया गया है। उनके नाटकीय संवाद में सन्निविष्ट रीति, गुण, ध्वनि एवं अलंकारों आदि काव्यतत्त्वों पर पृथक्-पृथक् अध्ययन किया गया है। अन्त में नाटकीय संवाद में प्रयुक्त उनकी गद्य-पद्यात्मक शैलियों का सर्वांगीण विवेचन प्रस्तुत किया गया है। नवम अध्याय में रूपकों की वस्तु, नेता एवं रसगत नवीनताओं पर प्रकाश डालते हुए विवेचित सम्पूर्ण तथ्यों का उपसंहार प्रस्तुत किया गया है।

अपने शोध के प्रतिपाद्य विषय को उपस्थित करते हुए विषय से सम्बद्ध अनेक प्राचीन एवं आधुनिक संस्कृत, हिन्दी एवं अंग्रेजी के ग्रन्थों तथा पत्रिकाओं की आवश्यक सामग्री का जहाँ-कहीं भी इस प्रबन्ध में उपयोग किया गया है उनका उल्लेख पादटिप्पणी में किया गया है। पाद-टिप्पणी का क्रमांक प्रत्येक पृष्ठ पर बदल दिया गया है। कुछ ग्रन्थों, पत्रिकाओं एवं लेखकों के नाम सकेत रूप में लिखा गया है। अतः प्रबन्ध के अन्त में ही संकेत सूची और सहायक सन्दर्भ ग्रन्थों तथा पत्रिकाओं की सूची, लेखक के नाम एवं प्रकाशक आदि के साथ दी गयी है। नाट्य-तत्त्वों के सम्बन्ध में विभिन्न आचार्यों के भिन्न-भिन्न मतों को समाकलित करते हुए कालिदास के विचार के साथ यत्र-तत्र अपना मंतव्य भी प्रस्तुत किया गया है। आरम्भ से अन्त तक विवेच्य वस्तु को प्रस्तुत करते हुए यथासंभव आधुनिक अनुसंधान की वैज्ञानिक पद्धति का अनुसरण कर इस प्रबन्ध को अधिकतम उपयोगी एवं आकर्षक बनाने की कोशिश की गयी है।

कालिदास भारतीय संस्कृति के उद्गाता थे। इन्होंने अपने नाट्य-प्रयोग के माध्यम से आदर्श भारतीय समाज एवं संस्कृति को प्रचारित किया है। प्रत्येक भारतीय व्यक्ति के आचार में शास्त्रीय ज्ञान के तत्त्वों को इन्होंने इस प्रकार

पचा दिया था कि इतने राजनैतिक उत्थान-पतन, सामाजिक उथल-पुथल तथा विदेशी आक्रमणों के बाद भी भारतीय संस्कृति एवं नाट्यकला जीवित है। इनका नाटक अभिज्ञानशाकुन्तलम् विश्व साहित्य में अद्वितीय सिद्ध हुआ है। इनकी सबसे बड़ी देन यह है कि इन्होंने प्राचीन कथाओं को इस प्रकार संशोधित एवं परिवर्तित कर नाटकीय वस्तु के रूप में सुनियोजित किया है कि यह मानव के लिए उपदेश-प्रद, विश्रान्तिकारक एवं परमानन्ददायक सिद्ध हो रहा है। इससे नायक एवं नायिका के लोकानुकरणीय चरित्र का निर्माण हुआ है तथा प्रमुख शृंगार रस के साथ विविध रसों की धारा प्रवाहित हुई है।

प्रस्तुत शोध-प्रवन्ध में कालिदास की नाट्यविषयक धारणा को प्रकट करने में मुझे कहाँ तक सफलता मिली है इसका निर्णय सहृदय सुधी विद्वान् ही कर सकेंगे—"हेम्नः संलक्ष्यते ह्यग्नौ विशुद्धिः श्यामिकापि वा"।—कहाँ वाणी के अखण्ड देवतास्वरूप कालिदास का प्रतिभासम्पन्न व्यक्तित्व और कहाँ मेरे जैसा अभाव एवं सांसारिक क्लेशों के बीच जीवन-यापन करने वाला साधारण प्राध्यापक। अगर उनके रूपकों में सुव्यक्त उनकी नाट्य-विभूतियों को मैं पहचान सका और हृदयंगम कर सका हूँ तो यह उन्हीं की कृपा तथा आशुतोष ज्योतिर्लिंग बाबा वैद्यनाथ का आशीर्वाद है। महापुरुषों के गुणगान में यदि कुछ गौरव मिल जाय तो यह उन्हीं की महिमा है। मुझे तो किसी भी प्रकार के गौरव में असमर्थता की ही प्रतीति हो रही है—

मन्दः कवियशःप्रार्थी गमिष्याम्युपहास्यताम्।
प्रांशुलभ्ये फले लोभादुद्बाहुरिव वामनः ॥—

अनेक परितापों एवं विघ्न-बाधाओं के बाद मेरा यह मांगलिक अनुष्ठान परिपूर्ण हुआ। एतदर्थ देवाधिदेव सदाशिव के पादपद्मों पर मैं नतमस्तक हूँ। उनकी कृपा से जिस आशा का वृक्ष मैंने लगाया था, आज वह फलवान् हुआ। इस फल प्राप्ति में जिन महानुभावों का आशीर्वाद, सहानुभूति, सहायता एवं सहयोग मुझे प्राप्त हुआ, उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करते हुए मैं परम प्रसन्नता का अनुभव कर रहा हूँ।

सर्वप्रथम मैं उन विद्वानों के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ जिनकी कृतियों से प्रस्तुत ग्रन्थ को तैयार करने में मुझे सहायता मिली है।

पूज्यपाद प्रो० आचार्य विश्वनाथ मिश्र, भूतपूर्व अध्यक्ष, स्नातकोत्तर हिन्दी-विभाग, मगध विश्वविद्यालय, बोधगया ने मुझे इस विषय पर शोध-प्रबन्ध लिखने

की प्रेरणा दी। उन्होंने अपना बहुमूल्य समय देकर प्रबन्ध की संक्षिप्त रूपरेखा का संपरीक्षण किया। मैं उनकी उदारता एवं सहानुभूति के लिए आजीवन ऋणी रहूँगा।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध का शोध-कार्य गुरुवर प्रो० चन्द्रकान्त पाण्डेय, संस्कृत विभागाध्यक्ष एवं भूतपूर्व प्राचार्य पटना कालेज, पटना विश्वविद्यालय, पटना (विहार) के निर्देशन में सम्पन्न हुआ। भारतीय सनातन आचार्यों की परम्परा में प्रतिष्ठित पूज्यवर पाण्डेय जी के सामयिक मार्गदर्शन, सहायता एवं आशीर्वाद के फलस्वरूप यह शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत किया जा सका है। एतदर्थ मैं उनके प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

संस्कृत एवं हिन्दी के अधिकारी मार्मिक विद्वान परम श्रद्धेय गुरुवर आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा, कुलपति, पटना विश्वविद्यालय, पटना का मैं विशेष रूप से अनुगृहीत हूँ। उन्होंने समय-समय पर अपने शोधपूर्ण विचार से शोध सम्बन्धी मेरी जिज्ञासाओं का समाधान कर लाभान्वित एवं उपकृत किया है। उनके परामर्श के अनुरूप मैंने प्रबन्ध के विवेच्य विषयों में यत्र-तत्र कतिपय परिवर्त्तन एवं परिवर्धन किये हैं। उन्होंने इस ग्रन्थ का पुरोवाक् लिख कर इसे सार्थक किया है। संस्कृत के प्रकांड विद्वान् एवं चिन्तक परम श्रद्धेय आचार्य बद्रीदत्त शास्त्री, भूतपूर्व अध्यक्ष, हिन्दी एवं संस्कृत विभाग, संत कोलम्बा महाविद्यालय, हजारीबाग ने मुझे काफी सहायता की है। समय-समय पर उन्होंने अपने सुन्दर मार्गदर्शन से मुझे उपकृत किया है। एतदर्थ मैं उनका कृतज्ञ हूँ। उक्त महाविद्यालय में उनके स्नेहाधीन मैंने कई वर्षों तक अध्यापन किया था।

अपने पूज्य गुरुवर डा० हरिप्रपन्न द्विवेदी; अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, बी० एन० कालेज, पटना का मैं विशेष रूप से अनुगृहीत हूँ, क्योंकि मेरे इस कठिन कार्य की उपलब्धि में वे निरन्तर प्रोत्साहन देते रहे हैं।

लोकविश्रुत प्रकाण्ड वैज्ञानिक स्वर्गीय गणेश प्रसाद दूबे, लोकशिक्षा निदेशक, बिहार ने शंकर की भक्तिशक्ति-साधना में लीन मुझे अपनाया। असामयिक निधन हो जाने के कारण वे अपने जीवन-काल में इसे प्रकाशित रूप में नहीं देख सके। भारत के इस महान् वैज्ञानिक एवं हितैषी महात्मा के प्रति मेरी विनम्र श्रद्धांजलि है।

हिन्दी के निपुण सहृदय विद्वान् एवं कुशल प्रशासक दिनेश प्रसाद वर्मा, कुलसचिव राँची विश्वविद्यालय, राँची, ने अपने सद्भाव एवं कल्याणकारी सुन्दर विचार से मुझे उपकृत किया है। अशान्त स्थिति में भी शोध-प्रवन्ध की रचना कर सकने में मुझे उनका वहुत वड़ा सहयोग प्राप्त हुआ। एतदर्थ मैं उनके प्रति आभार प्रकट करता हूँ। निरन्तर यथेष्ट सहायता के लिए मैं अपने अनुज श्री रासविहारी पाण्डेय, एम० ए० (हिन्दी) बी० एड० को हार्दिक आशीर्वाद देता हूँ।

संस्कृत के विश्वविश्रुत प्रकाण्ड विद्वान् डा० विद्यानिवास मिश्र एवं डा० रसिक विहारी जोशी इस शोध-प्रवन्ध के परीक्षक थे। यह मेरे लिए अतिसौभाग्य एवं गौरव का विषय है। इन्होंने इस उच्चस्तरीय प्रवन्ध से परितुष्ट होकर प्रकाशनार्थ प्रशंसा एवं अनुशंसा लिखी। इन महात्माओं के चरणों में मेरा शतशः प्रणाम। उनकी गौरवपूर्ण सम्मति एवं हार्दिक सहानुभूति के लिए मैं सदा आभारी रहूँगा।

इस शोध-प्रवन्ध को ग्रन्थ रूप में प्रकाशित करने के लिए मेरे श्रद्धेय आचार्य एवं विभागाध्यक्ष डा० अयोध्या प्रसाद सिंह ने प्रवन्ध की उच्चस्तरीयता एवं लोकोपयोगिता पर अपनी विद्वत्तापूर्ण सम्मति दी तथा आर्थिक अनुदान के लिए अधिकारियों के पास अनुशंसित कर प्रेषित किया। तत्कालिक श्रद्धेय कुलपति डा० शालिग्राम सिंह जी ने इसे प्रकाशनार्थ स्वीकृति दी। तदनुसार प्रकाशित करने के लिए विश्वविद्यालय-अनुदान-आयोग का अनुदान मिला। मैं इसके लिए अपने श्रद्धेय आचार्य डा० अयोध्या प्रसाद सिंह, माननीय कुलपति डा० शालिग्राम सिंह, विश्वविद्यालय अनुदान-आयोग तथा राँची विश्वविद्यालय का आभारी हूँ।

प्रिय मित्र डा० वनेश्वर पाठक, अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, संत जीवियर कॉलेज, राँची एवं डा० रामाशीश पाण्डेय, अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, मारवाड़ी महाविद्यालय, राँची, ने अपनी शुभकामना एवं प्रेरणा से मुझे हमेशा उत्साहित किया है। एतदर्थ मैं उनका अनुगृहीत हूँ।

संस्कृत उद्धरणों से भरे इस ग्रन्थ के प्रकाशन का भार 'अनुपम प्रकाशन' पटना ने लिया और अतिउत्साह एवं तत्परता के साथ इस कार्य को पूरा किया। इसके लिए मैं अनुपम प्रकाशन के मालिक श्री भीमसेन जी तथा उनके कार्यकर्त्ताओं के प्रति भी अपना हार्दिक आभार प्रकट करता हूँ। प्रथम प्रकाशन के कारण मुद्रण में कुछ त्रुटि होना स्वाभाविक है। आशा है, पाठक इसके लिए क्षमा करेंगे।-

भारतीय नाट्यशास्त्र एवं नाट्य-प्रयोग में अभिरुचि रखनेवाले सुधी पाठकों के लिए विशेषत: शोधकार्य करने वाले विद्वानों के लिए यह ग्रन्थ अत्यधिक उपयोगी होगा, इसी आशा से इस ग्रन्थ को प्रकाशित कराया जा रहा है।

सर्वस्तरतु दुर्गाणि सर्वो भद्राणि पश्यतु।
सर्वः कामानवाप्नोतु सर्वः सर्वत्र नन्दतु॥

—श्यामारमण पाण्डेय

संस्कृत विभाग,
राँची विश्वविद्यालय,
राँची (बिहार)
१९८४ ई०

विषयानुक्रमणी

चतुर्थ अध्याय

कालिदास की संविधानक-योजना २७१

★

प्रथम अध्याय

भारतीय नाट्य-कल्पन और कालिदास

संस्कृत-साहित्य के विशाल भाण्डार को देखने से पता चलता है कि इसमें जहाँ रामायण और महाभारत-जैसे अनेक लक्ष्य ग्रन्थों की रचना हुई, वहाँ परवर्त्ती साहित्य को नियमित करने के लिए वहुत-से लक्षण-ग्रन्थ भी लिखे गये। वस्तुतः मूल काव्य, नाटक आदि ही साहित्य के विधायक लक्ष्य-ग्रन्थ हैं। मूल लक्ष्य-ग्रन्थ का रचयिता सर्वथा स्वतंत्र होता है। प्रतिभाशाली विद्वान् स्वयं अपने अनुरूप काव्य की सृष्टि करता है। फिर भी उन्हें भी साहित्यिक व्यवस्था की आवश्यकता तो होती ही है। भले ही वे अपनी प्रतिभा के वल पर नवीनता लाने के लिए यत्र-तत्र परिवर्त्तन-परिवर्धन करते रहते हैं। कवि की उच्छृंखलता एवं मनमानी को नियंत्रित करने के लिए लक्षण-ग्रन्थ अपेक्षित होता है। उन लक्षण-ग्रन्थों के आधार पर वे साहित्य-सृष्टि में प्रवेश करते हैं। सर्वप्रथम लक्ष्य-ग्रन्थ से ही लक्षण-ग्रन्थकर्त्ता प्रोत्साहन प्राप्त करता है। लेकिन वाद में वह स्वयं उससे नियन्त्रित भी होता है। पूर्ववर्त्ती लक्ष्य-ग्रन्थों के आदर्श के आधार पर ही लक्षण-ग्रन्थ निर्मित होते हैं। लक्ष्य के अभाव में लक्षण-निर्धारण संभव नही। संस्कृत-साहित्य की विविध शाखाओं में नाट्य अत्यधिक समृद्ध है। दुर्भाग्य ी वात है कि संस्कृत के अनेक नाट्य-साहित्य आज उपलब्ध नहीं हैं। विदेशी आक्रमणों के फलस्वरूप अन्यान्य रचनाओं के साथ यह साहित्य भी विलुप्त हो गया। आज हमें लक्षण-ग्रन्थों एवं अन्यान्य रचनाओं में उल्लिखित नामों के आधार पर ही उनका पता चलता है। करीव ५०० ईसवी पूर्व भरतमुनि-विरचित नाट्यशास्त्र में अनेक नाटककारों तथा उनकी रचनाओं का उल्लेख मिलता है। वे ही नाट्यशास्त्र में स्थापित नाट्य-लक्षणों के आधारभूत लक्ष्यग्रन्थ रहे होंगे। इससे तो स्पष्टतः विदित होता है कि भरतमुनि से पूर्व उच्च कोटि के नाट्य-ग्रन्थ लिखे गये होंगे, जिनके आधार पर भरत ने नाट्य-सम्वन्धी लक्षणों की स्थापना की। सम्प्रति महाकवि भास-विरचित नाटक ही उपलब्ध हैं और वे ही प्राचीनतम नाटकरका

दृष्टिगत होते हैं। पहले नाट्यशास्त्र और अलंकार-शास्त्र अलग-अलग शास्त्र थे किन्तु बाद में श्रव्यकाव्य में भी दृश्यकाव्य के कतिपय तत्त्वों के साम्य के आधार पर दोनो का एक-दूसरे मे अन्तर्भाव हो गया। फलतः अपने परवर्त्ती अलंकार-शास्त्रीय ग्रन्थ साहित्य-दर्पण में आचार्य विश्वनाथ कविराज ने नाट्यशास्त्र को भी समाविष्ट कर लिया।

महाकवि कालिदास के नाटकों ने परवर्त्ती नाट्यशास्त्र के रचयिताओ को प्रभावित किया। अतः यद्यपि भरतमुनि के मूल लक्षणों को आधार मानकर ही नाट्य-शास्त्र-सम्बन्धी लक्षण-ग्रन्थ लिखे गये, फिर भी कालिदास-जैसे प्रतिभावान् कवियों के लक्ष्य-ग्रन्थों ने उन्हे अपने लक्षणों मे यत्र-तत्र परिवर्त्तन लाने के लिए प्रेरणा दी। कालिदास ने भरत के नाट्यशास्त्र में स्थापित लक्षणों को स्वीकार कर अपने नाट्य-प्रयोगों को प्रस्तुत किया। उन्होने भरत को देवताओं के नाट्याचार्य के रूप मे उल्लिखत किया है तथा नाटकों मे आठ रसों के विकसित होने और अप्सराओ द्वारा अभिनीत किये जाने का निर्देश किया है।[1] अपने सर्वोत्तम नाट्य-प्रयोग अभिज्ञानशाकुन्तलम् में उन्होने नाट्यशास्त्रीय लक्षणों का सर्वथा निर्वाह किया है। अपने प्रयोगों मे कालिदास ने यत्र-तत्र अपनी प्रतिभा एवं मौलिकता का परिचय दिया है। कालिदास ने यद्यपि कोई नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थ नहीं लिखा है, फिर भी उनके लक्ष्य-ग्रन्थों के आधार पर तद्विषयक लक्षणों का विनिर्धारण किया जा सकता है। जैसा कि पहले ही लिखा गया है, लक्ष्य-ग्रन्थों के आधार पर ही लक्षण-ग्रन्थ लिखे जाते है। यह तो स्पष्ट है कि कालिदास के पूर्व नाट्यशास्त्र-जैसा समृद्ध एवं उच्च कोटि का लक्षण-ग्रन्थ लिखा जा चुका था। राजशेखर ने अपनी काव्यमीमांसा में लिखा है कि १८ अधिकरणो में विभक्त अलंकारशास्त्र के प्रत्येक अधिकरण की शिक्षा विभिन्न आचार्यो ने दी।[2] अतः

---

१. मुनिना भरतेन यः प्रयोगो
    भवतीष्वष्टरसाश्रयो नियुक्तः।
ललिताभिनयं तमद्य भर्त्ता
    मरुतां द्रष्टुमनाः सलोकपालः॥ —विक्रमोर्वशीयम् २।१८

२. तत्र कविरहस्यं सहस्राक्षः समाम्नासीत्, औक्तिकमुक्तिगर्भः, रीतिनिर्णयं, सुवर्णनाभः, आनुप्रासिकं प्रचेतायनः, यमकानि चित्रं चित्राङ्गदः, शब्दश्लेषं शेषः, वास्तवं पुलस्त्यः, औपम्यमौपकायनः, अतिशयं पाराशरः, अर्थश्लेषमुतथ्यः, उभयालङ्कारिकं कुबेरः, वैनोदिकं कामदेवः, रूपकनिरूपणीयं भरतः, रसाधिकारिकं नन्दिकेश्वरः, दोषाधिकारिकं धिषणः, गुणौपादानिकमुपमन्युः, औपनिषदिकं कुचुमार इति। —काव्यमीमांसा, पृ० १

कालिदास को अपने नाट्य-प्रयोग की रचना करते समय उन लक्षणों को अपने ध्यान में रखना अपेक्षित था ही। उनके नाटकों के अनुशीलन से पता चलता है कि उन्होंने नाट्य-लक्षणों के आदर्शो का सर्वथा पालन किया है। साथ ही अपने परवर्त्ती नाट्यशास्त्र के रचयिताओं पर आदर्श लक्ष्यों का प्रभाव भी छोड़ा है। धनंजय, धनिक और विश्वनाथ आदि ने तो अपने नाट्य-लक्षणों के लिए इनके नाट्य-प्रयोगों से उदाहरण दिया है। यह ध्यातव्य है कि कालिदास ने अपनी नाट्य-रचनाओं में नाट्य-प्रयोग शब्द लिखा है, जिसके तीन अर्थ होते हैं—(क) प्रयुज्यते इति प्रयोगः—इससे दशरूपक प्रयोग कहलाता है, (ख) प्रयुज्यते निवर्त्यते इति प्रयोगः—इसके अनुसार प्रयोग का अर्थ नाट्यशास्त्र हैं, तथा (ग) प्रयुक्तिः प्रयोगः—व्युत्पत्ति से प्रयोग का अर्थ अभिनय होता है। अपने मालविकाग्निमित्रम् में उन्होंने नाट्यशास्त्र को प्रयोग-प्रधान कहा है।[1] वस्तुतः उन्होंने उपर्युक्त तीनों अर्थो मे नाट्य-प्रयोग शब्द लिखा है, चूँकि उन्होंने नाट्य के विविध प्रकारों का भी प्रयोग किया है तथा उनमें शास्त्रीय नियमों के परिपालन के साथ-साथ उन्हें अभिनेय भी बनाया है। इसके अतिरिक्त कालिदास ने अंगहार, वृत्ति, संधि, प्रयोग, नृत्त, पात्र, सौष्ठव, उपवहन, वस्तु मायूरी, मार्जना आदि नाट्यशास्त्रीय शब्दो का प्रयोग किया है। अतः स्पष्ट है कि कालिदास नाट्यशास्त्र से सर्वथा परिचित ही नहीं, अपितु उसके पूर्ण ज्ञाता थे। नाट्य शब्द के व्यावहारिक रूप के सविशेष महत्त्व के कारण ही उन्होंने पुनः—अपने रूपकों में प्रयोग शब्द प्रयुक्त कर अपना अभिमत व्यक्त किया है।[2] यही कारण

---

१. प्रयोगप्रधानं हि नाट्यशास्त्रम्। —मालवि०, प्रथम अंक, पृ० २७४

२. —अपि गुरोः प्रयोगेण दिव्यपरिषदाराधिता। (विक्र० अंक २, पृ० ९२)

—अहो प्रयोगाभ्यन्तरः प्रश्नः। (मालवि० अंक २, पृ० २८५)

—देव मदीयमिदानीं प्रयोगमवलोकयितुं क्रियतां प्रसादः।
(मालवि० अंक १, पृ० ८७)

—तदिदानीं कतमं प्रयोगमाश्रित्यैनमाराधयामः।
(अभि० शा० अंक १, पृ० ५)

नन्वार्यमिश्रैः प्रथममेवाज्ञप्तमभिज्ञानशाकुन्तलंनामापूर्वनाटकं प्रयोगेऽधिक्रियतामिति। (अभि० शा०, अंक १, पृ० ५)

है कि उनकी दृष्टि में सफल नाटक की कसौटी जनमनोरंजन और विद्वत्प्रशंसा है।[१] स्पष्ट है कि उनके समय में सिद्धान्त से अधिक व्यावहारिक रूप को महत्त्व दिया जाता होगा। अतः उनके सभी रूपक अभिनेय है। विक्रमोर्वशीयम् में कवि का कथन इसका साक्षात् प्रमाण है।[२]

इस अध्याय में नाट्य के तत्त्वों पर प्रमुख नाट्याचार्यों के सिद्धान्तों के आलोक में कालिदास के व्यक्त विचार उपस्थित किये जा रहे हैं :

'नाट्य' शब्द की व्युत्पत्ति एवं व्याख्या

संस्कृत में नट्, नृत् और पाट् तीन धातुएँ मिलती है। वैयाकरण पाणिनि ने अपनी अष्टाध्यायी में नट् धातु से 'नाट्य' शब्द की व्युत्पत्ति की है और नटो के धर्म अथवा आम्नाय को 'नाट्' कहा है।[३] आचार्य रामचन्द्रगुणचन्द्र ने उसकी उत्पत्ति 'नाट्' धातु से मानी है।[४] पाश्चात्त्य विद्वान् वेवर तथा मोनियर विलियम का कहना

---

१. आपरितोषाद्विदुषां न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम्।
बलवदपि शिक्षितानामात्मन्यप्रत्ययं चेतः॥ (अभि० शा०, १।२)
अद्य नर्त्तयितास्मि। कुतः
उपदेशं विदुः शुद्धं सन्तस्तमुपदेशिनः।
श्यामायते न युष्मासु यः काञ्चनमिवाग्निषु॥ (मालवि० २।९)

२. मुनिना यः प्रयोगो भवतीष्वष्टरसाश्रयो नियुक्तः।
ललिताभिनयं तमद्य भर्त्ता मरुतां द्रष्टुमनाः सलोकपाल.॥
(विक्र० २।१७)

परिषदेषा पूर्वेषां कवीनां दृष्टरसप्रबन्धा। अहमस्यां कालिदासग्रथित-वस्तुना नवेन त्रोटकेनोपस्थास्ये। तदुच्यतां पात्रवर्गः स्वेषु पाठेष्व-वहितैर्भवितव्यमिति। (विक्र० अंक १, पृ० ५)

३. नटानां धर्म आम्नायो वा नाट्यम्।
—अष्टाध्यायी, ४।३।१२९

४. नाट्यदर्पण (गायकवाड़ ओरिएण्टल सीरीज), पृ०२८

है कि 'नाट्' धातु 'नृत्' धातु का प्राकृत रूप है। ऋग्वेद में 'नट्' धातु का प्रयोग मिलता है।[1] यजुर्वेद में 'नृत्' धातु का प्रयोग मिलता है। मांकड का विचार है कि 'नृत्' धातु बहुत प्राचीन है तथा उसकी अपेक्षा 'नट्' धातु का प्रचलन कम पुराना है। कुछ विचारक तो 'नट्' और 'नृत्' दोनों धातुओं को ऋग्वेदकाल से ही प्रचलित मानते हैं। सायण ने अपने भाष्य में 'नट्' का अर्थ व्याप्नोति[2] तथा 'नृत्' का अर्थ गात्र-विक्षेपण[3] किया है। ऐसा आभास मिलता है कि वेद के उत्तरकाल में 'नट्' और 'नृत्' दोनों धातुएँ समानार्थक होती गयीं, किन्तु बाद में 'नट्' धातु अधिक व्यापक अर्थ में प्रयुक्त होने लगी और इससे 'नृत्' के अर्थ के साथ-साथ अभिनय का अर्थ भी सिमटता गया[4]। सिद्धान्तकौमुदी में 'नाट्य' शब्द की कृत व्युत्पत्ति[5] से यह निष्कर्ष निकलता है कि 'नट्' धातु का अर्थ गात्र-विक्षेपण तथा अभिनय दोनों ही था। भारतीय नाट्यशास्त्र के संदर्भ-ग्रन्थों से पता चलता है कि 'नृत' और 'नट' ये दोनों शब्द 'नृत्य' और 'अभिनय' के बोधक थे। कालिदास ने अपने मालविकाग्निमित्र नाटक के प्रथम एवं द्वितीय अंकों में 'नाट्य' शब्द का प्रयोग नृत्य और अभिनय दोनों के लिए किया है। चूँकि मालविका ने दुष्प्रयोज्य चतुष्पदी छलिक का अभिनय किया है, इसलिए इसमें आहार्य अभिनय को छोड़कर अन्यान्य आंगिक अभिनय, गीत तथा नृत्य का संयुक्त[6] प्रयोग हुआ है। आचार्य धनंजय ने काव्यनिबद्ध पात्रों की अवस्थाओं को 'नाट्य' कहा है। तात्पर्य यह है कि 'नट' आंगिक एवं सात्त्विक अभिनयों के द्वारा दुष्यन्त की प्रत्येक प्रवृत्ति की ऐसी अनुकृति करे कि सामाजिक उसे दुष्यन्त ही समझें। नाट्य के समय दुष्यन्त और नट का भेद न रहे, उनमें तादात्म्य की प्रतीति हो, उसे नाट्य कहते हैं।

---

१. ऋग्वेद, ७।१०४।२३

२. यजुर्वेद, ४।१०५।२३ नृत्ताय सूतम्, यजुष् ३।६०

३. ऋग्वेद, ४।१०५।२३

४. वही, १०।८।३

५. नट् नतौ। इत्थमेव पूर्वमपि पठितम्। तत्राङ्गविक्षेपः। पूर्वपठितस्य नाट्यधर्मः यत्कारिप नटव्यपदेशः।

—सिद्धान्तकौमुदी, तिङन्त-प्रकरण

६ अवस्थानुकृतिर्नाट्यम्। —दशरूपक, प्रथम प्रकाश

नाट्य एवं रूपक :

रूप् धातु में ण्वुल् प्रत्यय जोड़ने से 'रूपक' शब्द बनता है[1]। इसका कई अर्थों में प्रयोग मिलता है। कहीं-कहीं 'रूप' शब्द का भी प्रयोग मिलता है। धनंजय ने लिखा है कि 'नाट्य' सिर्फ श्रव्य न होकर रंगमंच पर अभिनीत भी होता है। इसलिए यह दृश्य है। श्रव्यकाव्य का आनन्द हम श्रवणेन्द्रिय से लेते है, लेकिन दृश्यकाव्य का आनंद चक्षु से प्राप्य होता है। चक्षुर्ग्राह्य होने के कारण नाट्य को रूप भी कहा गया है।[2] वस्तुतः रूपक एवं रूप दोनों शब्द नाट्य के वाचक हैं। भरत ने दशरूप शब्द का प्रयोग नाट्य के दस प्रकार के लिए किया है।[3] दशरूपककार ने इसे स्पष्ट करते हुए लिखा है कि रूप का आरोप होने के कारण नाट्य को रूपक[4] कहा जाता है। अर्थात् नट में दुष्यन्त, राम आदि पात्रों की अवस्थाओं का आरोप किया जाता है। इसी विचार में थोड़े परिवर्त्तन के साथ विश्वनाथ कविराज का कहना है कि रूपक में अवस्थाओं की अनुकृति के साथ-साथ रूप का भी आरोप होता है।[5] नाट्यदर्पण में बताया गया है कि रूपित किये जाने के कारण ही नाटक आदि को रूप या रूपक कहा जाता है।[6] यथार्थतः रूप, रूपक, नाट्य तथा अभिनय आदि शब्दों का प्रयोग दृश्यकाव्य के लिए किया जाता है। यहाँ एक विचारणीय बात यह है कि रूपक और नाट्य दोनों पर्यायवाची शब्द हैं, किन्तु दोनों में सूक्ष्म अन्तर स्पष्ट है। नाट्य में अवस्थाओं की अनुकृति को प्रधानता दी जाती है। लेकिन रूपक में अवस्थाओं की अनुकृति के साथ-साथ रूप का आरोप भी आवश्यक है। अथवा यों कहा जा सकता है कि अवस्थानुकृति और रूपानुकृति का मिला-जुला रूप रूपक कहलाने योग्य होता है। उपर्युक्त विवेचन का निष्कर्ष

---

१. रूपयत्यत्र रूपि ण्वुल्। अभिनयप्रदर्शके काव्यप्रभेदे "रूपारोपात्तु रूपकम्"
—वाचस्पत्यम्, पृ० ४८१२

२. रूपं दृश्यतयोच्यते। —दशरूपक, प्रथम प्रकाश

३. दशरूपाविधाने तु पाठ्यं योज्यं प्रयोक्तृभिः। —नाट्यशास्त्र

४. रूपकं तत्समारोपात्। —दशरूपक, प्रथम प्रकाश

५. दृश्यश्रव्यत्वभेदेन पुनः काव्यं द्विधा मतम्।
दृश्यं तत्राभिनेयं तद्रूपारोपात्तुरूपकम्॥
—साहित्यदर्पण, षष्ठ परिच्छेद

६. रूप्यन्ते अभिनीयन्ते इति रूपाणि नाटकादीनि।
—नाट्य दर्पण, पृ० २३

हुआ कि नाट्य को रूपक कहने का कारण यह है कि नट् पर मूल व्यक्ति का आरोप किया जाता है। नाट्य में नायक की अवस्थाओं एवं वेप आदि का मुख्यतः अनुकरण होता है तथा सात्त्विक अभिनय की प्रधानता रहती है। यह रसाश्रित होता है और इसमें वाक्यार्थ का अभिनय होता है। कालिदास ने विक्रमोर्वशीयम् के तृतीय अंक के आरंभ में रूपक में रूप के आरोप को सरस्वती विरचित 'लक्ष्मी-स्वयम्वर' नामक रूपक के अभिनय की चर्चा करते हुए स्वीकार किया है।[1]

नृत्य एवं नृत्त :

नृती गात्रविक्षेपे अर्थात् गात्रविक्षेपार्थक 'नृत्' धातु में क्यप् प्रत्यय जोड़ने से 'नृत्य' शब्द व्युत्पन्न हुआ है। धनंजय ने 'नृत्य' को भावों पर आश्रित माना है।[2] इसका तात्पर्य हुआ कि जिस अभिनय के माध्यम से किसी पदार्थ की अभिव्यक्ति से सहृदय सामाजिक के भावों को अभिव्यक्त किया जाता है, उसे 'नृत्य' कहते हैं। संक्षेप में किसी भाव को प्रदर्शित करने के लिए व्यक्ति-विशेष के अनुकरण को नृत्य कहते हैं। जिसमें रस, भाव और व्यंजना का प्रदर्शन हो उसे अभनय-दर्पण में नृत्य कहा गया है। इसका आयोजन सभा तथा राजदरबार में होना चाहिए।[3] नृत्य में आंगिक अभिनय की अधिकता रहती है। नृत्य का ज्ञाता नर्त्तक कहलाता है। दशरूपक के अवलोकवृत्तिकार धनिक ने भावाश्रित नृत्य की तीन विशेषताएँ निरूपित की हैं—

(क) नृत्य में भावों का अनुकरण प्रधान रहता है; (ख) इसमें आंगिक अभिनय पर जोर दिया जाता है तथा (ग) इसमें पदार्थ का अभिनय रहता है। इस कथन का आशय हुआ कि शास्त्रीय पद्धति से समन्वित पदार्थाभिनयरूप गात्रविक्षेप नृत्य कहलाता है। नृत्य सम्पूर्ण देश में एक समान होता है, अतः इसे मार्ग कहते हैं, जैसे दक्षिण में प्रचलित भरतनाट्यम् अथवा कत्थक नृत्य या उदयशंकर के भावनृत्य।

---

१. द्वितीयः —लच्छीभूमिआए वट्टमाणा उव्वसी वारुणीभूमिआए वट्टमाणए मेणआए पुच्छिद्दा। सहि समाअदा एदे तेलोक्कसुपुरिसा सकेसवा अ लोअवाला। कदमस्सि देव भावाहिणिवेसोत्ति।

—विक्रमोर्वशीयम्, अंक ३, पृ० ९३
(पं० रामचन्द्र मिश्र द्वारा सम्पादित)

२. भावाश्रयं नृत्यम्। —दशरूपक, प्रथम प्रकाश

३. रसभावव्यञ्जनादियुक्तं नृत्यमितीर्यते।
एतन्नृत्यं महाराजसभायां कल्पयेत् सदा ॥१६॥ —अभिनयदर्पण

नृत्य के विपरीत अभिनय-रहित मात्र नाचने को नृत्त कहते हैं। इसमें सिर्फ अंगविक्षेप होता है, भावो का प्रदर्शन नही। यह अंगविक्षेप ताल[1] और लय[2] पर आश्रित होता है। धनजय के कथनानुसार **नृत्तं ताललयाश्रयम्** नृत्य की विशेष विधा को लक्ष्य करके आचार्य नन्दिकेश्वर ने नृत्त का लक्षण बताते हुए लिखा है कि जिस अभिनय मे भावो का प्रदर्शन नही किया जाता, उसे नृत्त कहते हैं।[3] नृत्त के इस लक्षण पर भरत के नाट्यशास्त्र का प्रभाव स्पष्ट है। कर्म और भाव की अभिव्यक्ति के लिए अभिनय अपेक्षित है, अतः इसके अभाव में नाट्य का कोई महत्त्व ही नही है। नाट्य में वाक्यार्थ की ही प्रमुखता है। इस स्थिति में ऋषियों ने भरत से पूछा—[4] माना कि भावार्थ को अभिव्यंजित करने के निमित्त अभिनय की योजना तो उचित है, परन्तु नृत्त-प्रयोग की क्या जरूरत है? नृत्त से गीतार्थ की अभिव्यंजना नही होती है। गीतार्थ सम्बन्ध की दृष्टि से भी इसकी कोई उपयोगिता नही है। इसके उत्तर मे भरतमुनि ने बताया कि शोभा का उत्कर्षक होने के कारण अभिनय के साथ नृत्त की आवश्यकता निर्विवाद है। नृत्त मंगलकारी है तथा लोगों की उसमे स्वाभाविक अभिरुचि रहती है। विवाहोत्सव, पुत्रजन्म, वर का श्वसुर

---

१ तालस्तत्प्रतिष्ठायामिति धातोर्घञि स्मृतः।

गीतं वाद्यं तथा नृत्तं यतस्ताले प्रतिष्ठितम् ॥

कालो लघ्वादिमितया क्रियया सम्मित इति गीतादेर्विदधत्तालः।

—सं० र०, अ० सं० —ताला०, पृ० ३-४।

२. क्रियानन्तरविश्रान्तिर्लयः स त्रिविध मतः। द्रुतो मध्यो विलम्बश्च। द्रुतः शीघ्रतमो मतः। द्विगुणद्विगुणौ ज्ञेयौ तस्मान्मध्यविलम्बितौ। मार्गभेदाच्चिरक्षिप्रमध्यभावैरनेकधा ॥

लयोऽक्षरे पदे वाक्ये योऽसौ नात्रोपयुज्यते।

—सं० र०, अ० सं०, ताला०, पृ० २५

३. भावाभिनयहीनं तु नृत्तमित्यभिधीयते।

—अभिनयदर्पण, १५

४. न गीतार्थमसम्बद्धं न चाप्यर्थस्य भावकम्।

कस्मान्नृत्तं कृतं ह्येतद्गीतेष्वासारितेषु च ॥२६४॥

—नाट्यशास्त्र, चतुर्थ अध्याय

के घर में प्रवेश, आमोद-प्रमोद, हर्ष-उल्लास एवं अभ्युदय के समय नृत्त के प्रयोग की विधि है।[1] आचार्य नन्दिकेश्वर ने भी नृत्य-प्रयोग के खास-खास अवसरों का विधान किया है।[2] इस प्रकार ताल एवं लय-मात्र पर निर्भर रहने पर भी अभिनय में में नृत्त की आवश्यकता सिद्ध है। भरतमुनि के कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि भूतगण द्वारा प्रतिक्षेपों यानी प्रचुर प्रशंसात्मक स्तुतियों से युक्त गीत-विशेषों से गीत का समारम्भ किया जाता है। ये गीत अभिनय के शुरू में अनेक वाद्ययंत्रों से सम्पन्न किये जाते हैं। वाद्ययंत्रों के प्रतिक्षेपों के प्रयोग द्वारा गीत के अभिनय तथा नृत्त-विभाजन में सहायता ली जाती है। उनमें उचित व्यवस्था प्रदान करने के लिए ही उसका प्रयोग किया जाता है।[3] उपर्युक्त तथ्यों से स्पष्ट है कि सभी नाट्याचार्यों ने अभिनय-कला में नाट्य के साथ नृत्त की आवश्यकता अनिवार्य रूप से स्वीकार की। नृत्त शास्त्रीय नहीं होता है, इसलिए उसे देशी कहा जाता है, जैसे लोकनृत्त या भीलों का 'गरवा' नृत्त।

नृत्य और नृत्त में अन्तर :

कालिदास ने 'नृत्य' तथा 'नृत्त' दोनों का उपयोग किया है। उन्होंने दोनों को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि रुद्र ने उमा के साथ विवाह कर अपने शरीर में ताण्डव और लास्य दो भेद कर दिये।[4] उनके इस कथन से स्पष्ट हो जाता है कि

---

१. अत्रोच्यते न खल्वर्थं कञ्चिन्नृत्तमपेक्षते।
किं तु शोभा प्रजनयेदिति नृत्तं प्रवर्त्तितम् ॥२६५॥
प्रायेण सर्वलोकस्य नृत्तमिष्टं स्वभावतः।
माङ्गल्यमिति कृत्वा च नृत्तमेतत्प्रकीर्त्तितम् ॥ २६६ ॥
विवाहप्रसवावाहप्रमोदाभ्युदयादिषु ।
विनोदकरणं चेति नृत्तमेतत्प्रवर्त्तितम् ॥२६७॥

—नाट्यशास्त्र, चतुर्थ अध्याय

२. अभिनयदर्पण, श्लोक १३-१४।

३. अतश्चैव प्रतिक्षेपाद्भूतसङ्घैः प्रवर्त्तिताः।
ये गीतकादौ युज्यन्ते सम्यङ्नृत्तविभागकाः ॥४।२६८॥

—नाट्यशास्त्र

४. देवानामिदमामनन्ति मुनयः कान्तं क्रतुं चाक्षुषं।
रुद्रेणेदमुमाकृतव्यतिकरे स्वाङ्गे विभक्तं द्विधा।
त्रैगुण्योद्भवमत्र लोकचरितं नाना रसं दृश्यते।
नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधनम् ॥४॥

—मालविकाग्निमित्रम्, प्रथम अंक

उन्होंने नृत्य के ताण्डव और लास्य दोनों भेदों को माना है। उन्होंने नृत्य और नृत्त दोनों का उपयोग तो किया है, किन्तु उनकी रचनाओं में दोनों के प्रयोग को देखने से ऐसा लगता है कि यथार्थतः उन्होंने दोनों के परस्पर भेद को नहीं माना है। उन्होंने मयूर के नृत्य के लिए नृत्त और नृत्य दोनों शब्दों का प्रयोग किया है।[१] मालविका के नृत्य में भाव के साथ-साथ उन्होंने रस का भी उल्लेख किया है, लेकिन उन्होंने स्वयं उसे नृत्त कहा[२] है। अपने पूर्वमेघ मे पशुपतिजी के ताण्डव नृत्त[३] तथा महाकाल के मन्दिर में वेश्या-नृत्य[४] का सांगोपांग वर्णन किया है। कालिदास ने भरत के प्रोक्त विधानानुसार नृत्य-प्रयोग के विशेष अवसरों का उल्लेख करते हुए बताया है कि ये नर्त्तकियाँ पुत्र-जन्मोत्सव[५] पर तथा यूँ भी राजा के प्रमोद[६] के लिए भी नृत्य किया करती थीं।

---

१. पुरोपकण्ठोपवनाश्रयाणां कलापिनामुद्धतनृत्यहेतौ।
प्रध्मातशङ्खोपरितो दिगन्तांस्तूर्यस्वने मूर्च्छति मङ्गलार्थे ॥६।९॥ —रघुवंश
उद्गलितदर्भकवला मृग्यः परित्यक्तनर्त्तना मयूराः।
—अभिज्ञानशाकुन्तलम्, ४।१२

२. वामं सन्धिस्तिमितवलयं न्यस्तहस्तं नितम्बे
कृत्वा श्यामाविटपसदृशं स्रस्तमुक्तं द्वितीयम्।
पादाङ्गुष्ठालुलितकुसुमे कुट्टिमे पातिताक्षं
नृत्तादस्याः स्थितमतितरां कान्तमृज्वायतार्धम् ॥२।६
—मालविकाग्निमित्रम्

३. नृत्तारम्भे हर पशुपतेरार्द्रनागाजिनेच्छां
शान्तोद्वेगस्तिमितनयनं दृष्टभक्तिर्भवान्या। —पूर्वमेघ, ४०

४. पादन्यासैः क्वणितरसनास्तत्रलीलावधूतै-
रत्नच्छायाखचितवलिभिश्चामरैः क्लान्तहस्ताः। —पूर्वमेघ, ३९

५. सुखश्रवा मङ्गलतूर्यनिस्वनाः प्रमोदनृत्यैः सह वारयोषिताम्।
—रघुवंश, ३।१९

६. स स्वयं प्रहतपुष्करः कृतलोलमाल्यवलयो हरन्मनः।
नर्त्तकीरभिनयातिलङ्घिनीः पार्श्ववर्त्ति गुरुरुज्वलज्जयत् ॥१९।१४ —रघुवंश
चारुनृत्यविगमे च तन्मुखं स्वेदभिन्नतिलकं परिश्रमात्।
प्रेमदत्तवदनानिलः पिबन्नित्यजीवदमरालकेश्वरः। —रघुवंश, १९।१५
अङ्गसत्त्ववचनाश्रयं मिथः स्त्रीषु नृत्यमुपधाय दर्शयन्।
स प्रयोगनिपुणैः प्रयोक्तृभिः संजघर्ष सह मित्रसन्निधौ॥
—रघुवंश, १९।३६

यद्यपि नृत्य और नृत्त को एक ही समझा जाता है, फिर भी दोनों में भेद कम नहीं है। नृत्य में अभिनय की प्रधानता रहती है, इसके विपरीत नृत्त में अभिनय की कोई आवश्यकता ही नहीं। नृत्य भावाश्रित होता है, किन्तु नृत्त ताल-लयाश्रित। डॉ० दशरथ ओझा[1] के शब्दों में—

(क) नृत्त में अंग-विक्षेपण केवल ताल और लय के सहारे होता है, किन्तु नृत्य में वह भावों पर अवलम्बित होता है।

(ख) नृत्त में किसी विषय का अभिनय नहीं होता है, किन्तु नृत्य में पदार्थ का अभिनय आवश्यक होता है।

(ग) नृत्त केवल सौन्दर्य-बोधक होता है, किन्तु नृत्य भावाभिनय में सहायक होता है।

(घ) नृत्त स्थानीय होता है, किन्तु नृत्य सार्वभौम।

नाट्य और नृत्य में अन्तर :

विषय-वस्तु के आधार पर नाट्य और नृत्य का भेद किया गया है। नाट्य रस पर आश्रित रहता है, लेकिन नृत्य भाव पर। यद्यपि दोनों में अनुकृति की प्रमुखता है, फिर भी नृत्य में विविध भावों की प्रधानता रहती है और नाट्य में अवस्थाओं की। नृत्य दृष्टि का विषय है। नाट्य दृश्य और श्रव्य दोनों है। केवल दृश्य होने के कारण नृत्य में आंगिक अभिनय की प्रधानता रहती है। भावाश्रय-प्रधान होने के कारण नृत्य में पदार्थाभिनय प्रधान होता है, लेकिन रसाश्रय-प्रधान होने के कारण नाट्य में वाक्याभिनय उत्तम कहा जाता है। यद्यपि दोनों में अन्तर इस प्रकार है, किन्तु प्रयोग की दृष्टि से ऐसा लगता है कि पहले नाट्य और नृत्य दोनों एक-दूसरे से प्रभावित तथा एक-दूसरे पर अवलंबित थे। कालिदास के मालविकाग्निमित्र के द्वितीय[2] अंक में मालविका एक गीत गाती है और उसके बाद रसानुकूल अभिनय करती है।

नृत्त एवं नृत्य के प्रकार :

ऊपर नृत्य एवं नृत्त का सांगोपांग विवेचन प्रस्तुत किया गया है। धनंजय ने इन्हें नाट्य का उपकारक कहा है। इन दोनों के दो प्रकार होते है—मधुर तथा

---

१. नाट्य-समीक्षा, प्रथम संस्करण।

२. मालविकाग्निमित्रम्, द्वितीय अंक, श्लोक ४ तथा ८

उद्धत । मधुर लास्य कहलाता है और उद्धत ताण्डव ।[1] नाटक आदि में पदार्थाभिनय के रूप में भावाश्रय नृत्य का तथा शोभाजनक होने के कारण नृत्त का प्रयोग होता है। शास्त्रीय नृत्य मे कोमल भावो और उद्धत भावों की व्यंजना मे विविध सरणियों का आश्रय ग्रहण किया जाता है, इसीलिए इसे दो प्रकार का माना गया है। ग्रामीण लोगो के वीच प्रचलित भैरोजी अथवा शीतलामाताजी के नृत्त उद्धत प्रकार के होते है । श्रावण या वसन्त ऋतु में होली के अवसर पर कामासक्त प्रेमिकाओं के लोकनृत्य में मधुर एवं सुकुमारता पायी जाती है। नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थों के अनुसार ताण्डव का आविष्कार शिवजी ने तथा लास्य का आविष्कार पार्वती जी ने किया है। कालिदास ने भी नृत्य के इन दोनों भेदों को स्वीकार किया है।[2] नृत्त मे पुरुषत्व, ओज तथा कठोरता है, नृत्य में सुकुमारता तथा स्त्रीत्व ।

भरतमुनि ने ताण्डव की उत्पत्ति के वारे में लिखा है कि दक्ष-यज्ञ का विध्वंस करने के पश्चात् उसी सांध्यवेला में नटराज शंकर ने विभिन्न रेचकों, अंगहारों एवं पिण्डीवन्ध के साथ ताण्डव नृत्त किया तथा भगवती पार्वती ने उनके साथ लास्य नृत्त किया। इस नृत्त मे मृदंग, भेरी, पटह, भाण्ड, डिण्डिभ (ढोल), गोमुख पणव एवं दुर्दुर वगैरह अनेक वाद्ययंत्रों का प्रयोग किया गया। वह नृत्त, ताल और लय पर आश्रित था। इस नृत को शंकरजी ने तण्डुमुनि को सिखाया। तण्डु ने उस नृत्त में गान तथा वाद्ययंत्रों का संयोग कर उसे ताण्डव नृत्त[3] के नाम से प्रचलित किया। आचार्य नन्दिकेश्वर के कथनानुसार शंकर के गण तण्डु द्वारा प्रवर्त्तित होने के कारण इसे ताण्डव के नाम से अभिहित किया गया ।[4]

---

१. मधुरोद्धतभेदेन तद्द्वयं द्विविधं पुनः ।
लास्यताण्डवरूपेण नाटकाद्युपकारकम् ।।१० ।।

—दशरूपक, प्रथम प्रकाश ।

२. देवानामिदमामनन्ति मुनयः कान्तं क्रतुं चाक्षुषं
रुद्रेणेदमुमाकृतव्यतिकरे स्वाङ्गे विभक्तं द्विधा ।
त्रैगुण्योद्भवमत्र लोकचरितं नानारसं दृश्यते
नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य वहुधाप्येकं समाराधनम् ।। १।४ ।। – माल०

३. सृष्ट्वा भगवता दत्तास्तण्डवे मुनये तदा ।
तेनापि हि ततः सम्यग्गानभाण्डसमन्वितः ।। २६२ ।।
नृत्तप्रयोगः सृष्टो यः स ताण्डव इति स्मृतः ।।

—नाट्यशास्त्र, चतुर्थ अध्याय

४. अभिनयदर्पण, श्लोक ५-६

आचार्य भरत ने देवपूजा के अलावा शृंगार रस के सुकुमार भावों की अवतारणा के अवसर पर ताण्डव नृत्त के प्रयोग का निर्देश किया है।[1] जहाँ स्त्री तथा पुरुषों के शृंगार से सम्बद्ध या प्रणयात्मक सहगान हो, वहाँ भगवती पार्वती द्वारा विरचित ललित अंगहारों से पूर्ण नृत्त की योजना की जाय।

भैरव ताण्डव, गौरी ताण्डव, उमा ताण्डव तथा सांध्य ताण्डव आदि ताण्डव के कई प्रकार किये गये हैं। इन भेदों में शंकर की सृष्टि, स्थिति, प्रलय, तिरोभाव और अनुग्रह (मोक्ष) नामक पाँच सृष्टि-प्रक्रियाओं का निरूपण किया गया है। शंकर के ध्वंसात्मक (सहारमूर्त्ति), शुभ्र (दक्षिणामूर्त्ति), वरदायक (अनुग्रह-मूर्त्ति) तथा संगीतात्मक (नृत्यमूर्त्ति)—ये चार रूप कहे गये है। नृत्यमूर्त्ति की १०८ मुद्राएँ बतायी गयी हैं।

लोक में अभिनय की सृष्टि करते समय पार्वती द्वारा जिस विलासयुक्त सुकुमार नृत्य की उत्पत्ति की गयी उसे लास्य कहा गया। नाट्यशास्त्र में लास्य के दस भेद निरूपित किये गये है—(क) गेयपद, (ख) स्थित पाठ्य, (ग) आसीनपाठ्य, (घ) पुष्पगण्डिका, (ङ) प्रच्छेदक, (च) त्रिगूढ, (छ) सैंधव, (ज) द्विगूढ, (झ) उत्तमोत्तमक, (ट) उक्त-प्रयुक्त। लास्य के इन दस भेदों में से अधिकांश का सम्बन्ध नृत्त से न होकर गायन से है।

कालिदास के ग्रन्थों में नृत्य के कई प्रकार के उल्लेख मिलते हैं। चामर[2] नृत्य में स्त्रियाँ चामर लेकर तरह-तरह की भाव-भंगिमाओं द्वारा नृत्य करती थीं। बाहुओं को शाखा[3] के समान हिलाकर किये गये नृत्य[4] में हाव-भाव की अधिकता रहती

---

१. देवस्तुत्याश्रयकृतं यदङ्गन्तु भवेदद्य।
माहेश्वरैरङ्गहारैरुद्धतैस्तत्प्रयोजयेत् ॥ ३१७ ॥
—नाट्यशास्त्र, चतुर्थ अ०

यत्तु शृङ्गारसम्बद्धं गानं स्त्रीपुरुपाश्रयम्।
देवीकृतैरङ्गहारैर्ललितैस्तत्प्रयाजयेत् ॥३१८॥
—नाट्यशास्त्र, चतुर्थ अध्याय

२. पूर्वमेघ, श्लोक ३९

३. रघुवंश, ९।३५
विक्र० ४।१२ —सुललितविविधप्रकारं नृत्यति कल्पतरुः।
एवं विक्र० ४।५४ —पूर्वादिक्पवनाहतकल्लोलोद्गतबाहुः मेघाङ्गैर्नृत्यति सललितजलनिधिनाथः।

४. अङ्गैरन्तर्निहितवचनैः सूचितः सम्यगर्थः।
पादन्यासो लयमनुगतस्तन्मयत्वं रसेषु
शाखायोनिर्मृदुरभिनयस्तद्विकल्पानुवृत्तौ
भावो भावं नुदति विषयाद्रागबन्धः स एव ॥२।८ —मालविकाग्निमित्रम्

थी । मालविका ने छलित (चलित) नृत्य किया था । मालविका के इस छलित नृत्य में हाव-भाव[1], गीत तथा रस सब-कुछ थे । रघुवंश[2] में उन्होंने नृत्य के साथ गीत का प्रदर्शन[3] किया है । नृत्य के शिक्षक नाट्याचार्य कहलाते थे । नृत्य-शिक्षक के लिए लासक शब्द का भी प्रयोग कालिदास ने किया है । अभिज्ञान-शाकुन्तलम् नाटक के पंचम अंक (प्रथम श्लोक) में हंसपदिका के गीत के साथ लास्य नृत्त के प्रच्छेदक नामक भेद का उदाहरण मिलता है ।

भारतीय नाट्योत्पत्ति-विषयक परिकल्पनाएँ एवं स्थापनाएं :

नाट्यवेद की सृष्टि कब और कैसे हुई, यह बताना वैसे ही कठिन है जैसे यह कहना बिल्कुल ही असंभव है कि यह नामरूपात्मक चराचर जगत् अचानक हिरण्यगर्भ से कैसे उत्पन्न होकर उत्तरोत्तर संवर्द्धित होता गया । नाट्योत्पत्ति के सम्बन्ध मे भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों ने अनेक कल्पनाएँ एवं स्थापनाएँ प्रस्तुत की है, परन्तु उनमें मतभेद की कमी नही है । उनके सिद्धान्तों मे समता का सर्वथा अभाव प्रतीत होता है । एक-दूसरे के विचार का खंडन कर अपने मत की स्थापना में सभी जी-जान से लगे नजर आते है । पाश्चात्य विद्वान् यूनानी नाटकों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में प्रचलित सिद्धान्तों को भारतीय नाटकों की उत्पत्ति के ऊपर लादना चाहते है । ऐसा करने से पूर्व वे देश-कालजन्य परिस्थितियों पर विचार करना शायद भूल जाते है । परिणामतः उनके मत सर्वथा निर्दोष एवं निर्भ्रान्त नही होने के कारण सर्वग्राह्य नही हुए । साहित्य देश-कालजन्य परिस्थितियों की उपज है । हमारे प्राचीनतम साहित्य वेद की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे परम्परागत धारणा है कि उस सहस्र मूर्धावाले परमेश्वर (सहस्रशीर्षा पुरुषः—ऋग्वेद, १०।९०।१ तथा यजुर्वेद, ३१—१), जो पूजनीय है तथा प्रत्येक व्यक्ति द्वारा अपनी रक्षा के लिए बुलाया जाता है, उससे ऋग्वेद,

---

१. रघुवंश, ९।३५ ।

२. मालविकाग्निमित्रम् में गणदास और हरदत्त को नाट्याचार्य कहा गया है ।

३. ऋतुसंहार, २।२७—अन्यासक्तं पतिं मत्वा प्रेमविच्छेदमन्युना।
वीणापुरःसरं गानं स्त्रियाः प्रच्छेदको मतः ॥६।२१८ ।

सामवेद और अथर्ववेद उत्पन्न हुए तथा उसीसे यजुर्वेद उत्पन्न हुआ है।[1] इसी तरह नाट्य को भी भारतीय परम्परा दैवी उत्पत्ति ही मानती है। अनेक अन्तः एवं बाह्य साक्ष्यों के आधार पर सिद्ध किया गया है कि पूर्ववैदिक काल में सर्वांगरूपेण नाट्य-कला हमारे देश में विद्यमान थी तथा उसका प्रयोग भी होता था।[2] नाट्योत्पत्ति के सम्बन्ध में स्पष्ट विवेचन प्रस्तुत करनेवाला सर्वप्राचीन ग्रन्थ आज भरत का नाट्यशास्त्र-मात्र उपलब्ध है। उसमें परम्परागत मान्यता के अनुरूप नाट्योत्पत्ति कैसे और कब हुई, इसका विवरण मिलता है। उनके कथनानुसार इस पंचम नाट्यवेद की रचना ब्रह्मा ने ही अन्य वेदों से नाट्य-सामग्री लेकर की। त्रेता युग में इन्द्रादि देवताओं के अनुरोध को स्वीकार कर ब्रह्मा ने ऋग्वेद से पाठ्य (सवाद), सामवेद से गीत (संगीत), यजुर्वेद से अभिनय और अथर्ववेद से शृंगारादि रसों का संग्रह किया। इस तरह सर्वविद् प्रजापति ब्रह्मा ने चारों वेदों तथा उनके उपवेदों का उपबृंहण कर पाँचवें नाट्यवेद का निर्माण किया।[3] उन्होंने जिस नाट्यवेद की रचना की, वह धर्म, अर्थ, यश तथा उपदेश से समन्वित समग्र कर्मफल का अनुदर्शक, सम्पूर्ण शास्त्रों के अर्थ से परिपूर्ण, समस्त शिल्प का प्रवर्त्तक तथा इतिहास से युक्त है। इन्द्र के अनुरोध पर ब्रह्मा ने भरतमुनि को अपने सौ पुत्रों (शिष्यों) के साथ इस नाट्यवेद के अभिनय करने का आदेश दिया। भरतमुनि ने भारती, सात्वती, आरभटी और कैशिकी वृत्तियों का आश्रय लेकर नाट्य का प्रयोग किया। रस, क्रिया और भाव से अभिपूरित कैशिकी वृत्ति के अभिनय के लिए भरतमुनि के आग्रह पर ब्रह्माजी ने सुकेशी, मंजकेशी आदि चौबीस अप्सराओं

---

१ तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे ।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्मात् यजुस्तस्मादजायत ।
—ऋ० सं०, १०।९०।९

२. नृत्ताय सूतं गीताय शैलूषं धर्म्माय समाचरन्नरिष्ठायै
भीमलन्नर्म्माय रेभंदृसायकारिमानन्दाय स्त्रीपखम्प्रमदे-
कुमारीपुत्रम्मेधायै रथकारन्धैर्य्याय तक्षाणम् ॥
—शुक्ल-यजुर्वेद की वाजसनेयी संहिता के तीसवें अध्याय में पुरुषमेध प्रकरण।

३. जग्राह पाठ्यमृग्वेदात्सामभ्यो गीतमेव च ।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि ॥ १।१७
वेदोपवेदैः सम्बद्धो नाट्यवेदो महात्मना ।
एवं भगवता सृष्टो ब्रह्मणा सर्ववेदिना ॥ १।१८
—नाट्यशास्त्र, प्रथम अध्याय।

की सृष्टि की। नाट्य को पूर्ण बनाने के उद्देश्य से ब्रह्मा ने विभिन्न वाद्ययंत्रों के वादन के लिए संगीताचार्य स्वाती एवं उनके शिष्यों और गायन-विद्या के लिए नारदादि मुनियों तथा गन्धर्वों को नियुक्त किया। अन्त में ब्रह्मा के आदेश से विश्वकर्मा ने नाट्य-मंडप की रचना की। नाट्य-रचना में भगवान् शंकर ने तांडव नृत्य, पार्वती ने लास्य नृत्य और विष्णु ने चारों वृत्तियाँ प्रदान की थीं।[1] यह नाट्य देवताओं के ही चरित्र का अनुभावन न होकर समस्त त्रैलोक्य का अनुकीर्तन (भावों का प्रदर्शन) है।[2] यह नाट्य अनेक प्रकार के भावों से सम्पन्न, अनेक प्रकार की अवस्थाओं से युक्त तथा लोक-वृत्त का अनुकरण है।[3] यह नाट्य, दुःखार्त्त, श्रमार्त्त, शोकार्त्त, तपस्वी आदि को प्रेक्षण के समय विश्रान्ति प्रदान करनेवाला है। साथ ही यह नाट्य धर्म, यश तथा आयु का संवर्द्धक, हितकारी, बुद्धि का विकास करनेवाला और संसार को उपदेश देनेवाला है।[4] ऐसा कोई ज्ञान, ऐसी कोई विद्या, ऐसा कोई शिल्प, ऐसी कोई कला, ऐसा कोई योग या ऐसा कोई कर्म नहीं है, जो इस नाट्य में न हो।[5]

निःसन्देह भरतमुनि ने नाट्योत्पत्ति की अलौकिक कल्पना प्रस्तुत की है। उनकी इस स्थापना से यह सिद्ध होता है कि वैदिक युग में नाट्य की कोई परम्परा नहीं थी। वैदिक युग के पश्चात् चारों वेदों से ही नाट्य के चारों तत्त्वों को ग्रहण कर नाट्य की रचना की गयी होगी।

आचार्य नन्दिकेश्वर ने भी अपने नाट्यदर्पण में लिखा है कि ब्रह्मा ने ऋग्वेद से पाठ्य, यजुर्वेद से अभिनय, सामवेद से गीत और अथर्ववेद से रसों को लेकर धर्म, काम, अर्थ और मोक्ष देनेवाला नाट्यवेद बनाकर सबसे पहले भरत को दिया है।[6]

धनंजय ने अपने दशरूपक में इस कथा का समर्थन करते हुए लिखा है कि समस्त वेदों के सार-तत्त्व को निकालकर ब्रह्मा ने जिस नाट्यवेद की रचना की, भरतमुनि ने जिसका प्रयोग या अभिनय कराया, जिसमें ताण्डव (उद्धत) नृत्य

---

१. नाट्यशास्त्र, प्रथम अध्याय।

२. नैकान्तोऽत्रभवतां देवानां चानुभावनम्।
त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्य नाट्यं भावानुकीर्तनम् ॥ १।१०७

—ना० शा०, अ० १

३. वही, श्लोक ११२

४. वही, श्लोक ११५-११६

५ वही, श्लोक ११७

६. अभिनयदर्पण, श्लोक २-८

महादेव जी ने और लास्य (कोमल) नृत्य पार्वती जी ने जोड़ा, उस पूरे नाट्यवेद के सब लक्षण को भला कौन कह सकता है, फिर भी कुछ विशेष गुण वाले नाट्यों या रूपकों के लक्षण मैं संक्षेप में कहता हूँ।[1] शारदातनय ने अपने, भावप्रकाशन में संगीत की उत्पत्ति की कथा के प्रसंग में नाट्योत्पत्ति का सांगोपांग विवेचन किया है। इस प्रकार भारतीय परम्परा नाट्य की दैवी उत्पत्ति में अटूट विश्वास रखती है। यह मत धार्मिक भावना का द्योतक सिद्ध होता है।

आलोचकों की दृष्टि में भरतमुनि द्वारा प्रस्तुत दैवी उत्पत्ति सम्बन्धी वृत्तान्त में किसी तथ्यात्मक महत्त्व का अभाव है। भारतीय जीवन-दर्शन[2] से अनभिज्ञ रंगीन चश्मे से भारतीय संस्कृति एवं साहित्य को देखने में अभ्यस्त पाश्चात्य समीक्षक नाट्योत्पत्ति सम्बन्धी इस स्थापना में वैज्ञानिकता का अभाव बताते हैं। यूरोपीय विद्वानों ने मनोनुकूल ढंग से यूनानी नाट्योत्पत्ति-सम्बन्धी सिद्धान्तों के आधार पर भारतीय नाट्योत्पत्ति की खोज का असफल प्रयास किया है। उन्होंने नाट्य के किसी अंश के सादृश्य के आधार पर अपने मत की स्थापना की है। उन स्थापनाओं के परीक्षणार्थ यहाँ विभिन्न सिद्धान्तों को प्रस्तुत करना अपेक्षित है। पाश्चात्य विद्वान् नाट्य की उत्पत्ति में लोक के संस्कारों का आधार ही स्वीकार करते हैं। कीथ का कहना है कि वैदिक साहित्य में नाटक का अभाव था, यही कारण है कि इन्द्रादि देवताओं को सर्वथा ऐसे नवीन साहित्य के रूप में नाट्य साहित्य की सृष्टि के लिए ब्रह्मा से प्रार्थना करनी पड़ी, जो वैदिक युग के परवर्त्तीकाल के उपयुक्त हो जाय।

ऋग्वेद में कुछ मंत्र संवाद रूप में हैं। सौनक और सायण ने उनमें से अधिकांश को संवाद सूक्त कहा है। उन सूक्तों के लिए कहीं-कहीं इतिहास और आख्यान-जैसे शब्दों का भी प्रयोग किया गया है। पुरूरवा-उर्वशी (१०।९५), यम-यमी (१०।१०), इन्द्र-इन्द्राणी और वृषाकपि (१०।८६), शरमा और पणिस् (१०।१०८) जैसे संवादात्मक सूक्तों को देखकर मैक्डोनल[3] ने कहा है कि

---

१ उद्धृत्योद्धृत्य सारं यमखिलनिगमान्नाट्यवेदं विरंचिश्चक्रे यस्य प्रयोगं मुनिरपि भरतस्ताण्डवं नीलकण्ठः। शर्वाणी लास्यमस्य प्रतिपदमपरं लक्ष्म कः कर्त्तुमीष्टे। नाट्यानां किन्तु किंचितगुणरचनया लक्षणं संक्षिपामि।

२ भावप्रकाशन, दशम अधिकरण

३ हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर।

ये संवाद ही भारतीय नाट्य-साहित्य के प्रारम्भिक रूप हैं। इनमें से पुरूरवा और उर्वशी के कथानक को लेकर कालिदास ने चिरकाल पश्चात् 'विक्रमोर्वशीयम्' नाटक की रचना की। ए० बी० कीथ[1] ने इन संवादों को अख्यान बताया है। इन आख्यानों (संवादों) के आधार पर दो मतों की स्थापना की गयी है। इनमें प्रथम विंडिश और ओल्डेनबर्ग के आख्यान-मत का समर्थन पिशेल और गेल्डनेर ने किया। गेल्डनेर की दृष्टि में उन्हें आख्यान के स्थान पर इतिहास कहना अधिक उपयुक्त जँचा। इनका कहना है कि ये संवाद भारत-यूरोपीय परम्परा के महाकाव्यात्मक वैशिष्ट्य की रचना का प्रतिनिधित्व करते हैं। उनका यह कहना है कि मूलतः ये संवाद गद्य-पद्यात्मक कथा के रूप में रहे होंगे, जिनमें परस्पर बातचीत के अवसर पर कथा ने संवाद का रूप ले लिया होगा। संवादात्मक अभिव्यक्ति के कारण पद्य भाग सुरक्षित रहा तथा गद्य भाग कालप्रवाह में विलीन हो गया। इस सिद्धान्त से यह संकेत मिलता है कि ये संवादात्मक मंत्र नाटकीयता से युक्त थे। प्रो० पिशेल के अनुसार संस्कृत नाटकों में गद्य-पद्य मिश्रण आदियुगीन साहित्य का अवशेष है। यह वीरचरितात्मक महाकाव्यीय तथा नाटकीय उद्देश्यों की पूर्ति करता है।[2]

संवाद-सूक्त के आधार पर मैक्समूलर ने दूसरे मत की स्थापना की। उन्होंने इन्द्र-मरुत् सूक्त के आधार पर तथ्य को प्रकट किया है कि ऋत्विक्गण इन सूक्तों का अभिनयात्मक पाठ करते थे। यही पाठ वेद में नाट्य का बीज है। इस मत की पुष्टि करते हुए प्रो० सिल्वा लेवी ने ऋग्वेद-काल में अभिनय की स्थिति को माना। उनका कहना है कि ऋत्विक्, होता आदि के द्वारा देवताओं के रूप-ग्रहण कर यज्ञ के अवसर पर नाट्याभिनय प्रस्तुत किया जाता होगा। प्रो० वान श्रोएडर ने मंडूक-सूक्त[3] को नाटकीय बताते हुए कहा था कि अनेक ब्राह्मण मिलकर किसी मेंढ़कों से भरे हुए तालाब में खड़े होकर उस सूक्त को गाते होंगे। इस आधार पर उन्होंने इस सूक्त की तुलना यूनानी प्रहसनकार अरेस्तोफनेस् के मेंढ़क नामक यूनानी प्रहसन से कर दी है। उन्होंने ऋग्वेद के उस सूक्त[4] को नाटक माना है जिसमें सोमरस निकालता हुआ एक ब्राह्मण अन्य प्राणियों की भाँति स्वेच्छापूर्त्यर्थ रक्षण पाना चाहता है। उस अवसर

१ जर्नल आफ दि रायल एसियाटिक सोसाइटी (१९११ ई०) पृ० ९७१ में 'दि वैदिक आख्यान ऐंड दि इण्डियन ड्रामा' शीर्षक लेख।

२ संस्कृत ड्रामा; कीथ, पृ० २१-२२।

३ ऋ० वे० सप्तम मंडल, १०२।

४ ऋ० वे० सूक्त ९।११२।

पर वन-देवता भी छिपे-छिपे नाचते-गाते हैं। अतः उनका कहना है कि पुरातन काल में नृत्य, गीत तथा वाद्य एक साथ चलते थे। उसी से प्रभावित होकर ऋग्वैदिक ऋषियों ने वैदिक संवादों के गायन और नर्तन के साथ अभिनय करना शुरू कर दिया था। लेकिन वे अभिनय सिर्फ यज्ञ से सम्बद्ध होते थे, अतः उसमें यूनान और मैक्सिको के गीतों की भाँति अश्लीलता नहीं होती थी। हर्टेल ने बताया कि वैदिक संवाद के बीज सूक्त गाये जाते थे। इसलिए वैदिक संवादों और उनके कर्मकाण्ड में नाट्य के बीज अवश्य हैं। सुपर्णाध्याय में वे इस बीज का विकास मानते हैं जिसका अनुकरण आजकल भी बंगाली यात्राओं में मिलता है।

ए० बी० कीथ ने इस मत का खंडन किया और कहा कि ये नाटकीय संवाद नहीं वैसे ही कर्मकाण्डीय संवाद हैं जैसे ईसाई गिरजाघरों में आज भी होते हैं जहाँ पादरी कहते हैं—अपने हृदय को ऊपर उठाओ और एकत्रित जनसमुदाय जवाब देता है....हम अपने हृदय भगवान् तक उठाते हैं। अनुकरण की भावना का अभाव होने के कारण ये संवाद नाटकीय नहीं हैं, चूँकि नाटक का तात्विक आधार अनुकरण है। श्रोएडेर ने कर्मकाण्ड और नाटक के मौलिक अन्तर नहीं समझकर ऋग्वेद के मंडूक सूक्त को नाटकीय कह दिया है। श्रोएडेर और हर्टेल का यह कहना भी सरासर गलत है कि ऋग्वेद के संवाद गाये जाते थे, क्योंकि सामवेद के मंत्र ही गाने के लिए रचे गये थे। ऋग्वेद के मंत्र का तो सिर्फ शंसन होता था। विन्टरनित्स ने थोड़ा संशोधन कर उस सिद्धान्त का समर्थन करते हुए कहा है कि इस प्रकार के सूक्तों को हम नाटक का स्थानापन्न तो नहीं, किन्तु नाटक का दूसरा रूप मान सकते हैं। पंडित सीताराम चतुर्वेदी[1] का मत है कि ये दोनों (संवाद एवं कर्मकाण्ड) सिद्धान्त भ्रामक हैं, क्योंकि नाट्य तो स्वयं चाक्षुप यज्ञ और उसका शास्त्र पंचम वेद है जिसकी पूर्णतः अलग सत्ता है। नाट्यशास्त्र में भरतमुनि ने चारों वेदों से चार तत्त्व लेकर नाट्य-वेद की रचना बतायी है। इसलिए वेद को नाट्य का मूल-स्रोत तो मान सकते हैं, लेकिन वैदिक कर्मकाण्ड को नाटक मानना अथवा उसके संवाद को नाटकीय कहना सर्वथा भ्रामक है।

नाटक के मूल में मानवीय प्रसुप्त धार्मिक भावना को निरूपित करते हुए ए० बी० कीथ ने नाट्य की धार्मिक उत्पत्ति स्वीकार तथा एतदर्थ कंसवध, त्रिपुरदाह और बालिवध जैसे प्राचीनतम नाटकों के नाम एवं कथावस्तु का साक्ष्य उपस्थित किया है।

मैकडोनेल के अनुसार नट और नाटक शब्द नट् धातु से बने हैं। यह संस्कृत की नृत् (नाचना) धातु का प्राकृत (देशी) रूप है। यही 'नाच' संभवतः

---

१ अभिनवनाट्यशास्त्र, ३५-३६।

भारतीय नाटक का पूर्व रूप है जिसमें पहले नाच या शरीर-संचालन के साथ हाथ तथा मुख के भावों का अभिनय होता रहा होगा और जिसमें पुनः गीत भी जुड़ गये होंगे। इसी तरह नाटक के पौराणिक अनुसंधानकर्त्ता का नाम भी भरत पड़ गया होगा, जिसका अर्थ नट है। नृत्त से नाट्य के उद्‌गम-सम्बन्धी मैक्डोनेल की इस मान्यता को श्री डी० आर० मकंडू[1] ने समर्थित किया तथा इसके लिए प्रमाण और विकास-क्रम की प्रक्रिया भी बतलायी। आलोचकों ने मैक्डोनेल के इस मत को भ्रामक सिद्ध करते हुए बताया कि संस्कृत की 'नट्' नृत् और 'णट्' इन तीन धातुओं से क्रमशः 'नाट्य', 'नृत्य' और नृत्त शब्द व्युत्पन्न हुए हैं। इनके अर्थ एक दूसरे से भिन्न हैं—"वाक्यार्थाभिनयम् रसाश्रयं नाट्यम्" "पदार्थाभिनयं भावाश्रयं नृत्यम्" "नृत्त ताललयाश्रयम्"। स्पष्ट है, इन शब्दों को एक दूसरे का पर्याय नहीं समझा जा सकता है। पूर्वपृष्ठों में इनका पारस्परिक अन्तर विशेष रूप से प्रस्तुत किया गया है।

पिशेल का अभिमत है कि भारतीय नाट्य की उत्पत्ति पुत्तलिका नृत्य से हुई। ये पुतलियाँ प्राचीन भारत में ऊन, लकड़ी, भैंस के सींग और हाथी दाँतों से बनी होती थीं। भारत से यह पुत्तलिका नृत्य प्रचलित होकर यूनान आदि देशों में प्रचलित होते हुए सर्वत्र फैल गया। महाभारत, कथासरित्सागर आदि में इसका उल्लेख मिलता है। बोलने वाली पुतलियों के रंगमंच पर लाये जाने का विवरण राजशेखर को बालरामायण में मिलता है। ये पुतलियाँ डोरे से चालित होती थीं। उसका संचालक सूत्रधार कहलाता था। प्रो० पिशेल ने भारतीय नाटक में सूत्रधार नाम को इस क्रम से जोड़ते हुए कहा है कि इन पुतलियों को नचाते हुए उनके डोरों को पीछे से पकड़े रहने के कारण ही सबसे पहले इसे सूत्रधार (सूत्तं धारयतीति सूत्रधारः) कहा गया होगा। बाद में इसे ही नाटक के प्रयोगकर्त्ता को मान लिया गया। साथ ही नाट्य के स्थापक शब्द से इस बात का संकेत मिलता हैं कि पुतलियों को लाकर मंच पर व्यवस्थित रखने का कार्य (स्थापक स्थापयतीति स्थापकः) का होता है। उनका कहना है कि उसके इसी भाव को ध्यान में रखकर प्राचीनकाल में इस शब्द का प्रयोग स्थापक के लिए किया होगा। शंकर पांडुरंग पण्डित ने भी इस मत का समर्थन किया है।

रिजवे ने पुत्तलिका-नृत्य से नाट्योत्पत्ति के सिद्धान्त का खंडन करते हुए वे उसे भ्रमात्मक बताकर इसे वास्तविक नाटक के सस्ते अनुकरणात्मक प्रदर्शन-मात्र कहा है। उन्होंने विश्लेषण किया कि उपर्युक्त ढंग से सूत्रधार और स्थापक शब्द का सम्बन्ध पुत्तलिका-नृत्य से नहीं जोड़ा जा सकता है चूँकि नाटक की कथावस्तु

1 दि टाइम्स आफ संस्कृत ड्रामा—मकंडू।

आदि का संक्षेप में वर्णन करने के कारण ही इसे सूत्रधार कहा जाता है न कि डोरी पकड़ने के कारण। पुतली नचाने वाले के लिए सूत्रधार शब्द का प्रयोग बहुत बाद की कल्पना है। इसके विपरीत नाटकों में सूत्रधार शब्द का प्रयोग ईस्वी पूर्व निर्विवादरूप से है। स्पष्ट है कि पुत्तलिका-नृत्य ही नाटकों की नकल है। परिणामतः उससे नाट्योत्पत्ति की कल्पना निराधार है।

भरतमुनि ने सूत्रधार[1] का वर्णन करते हुए लिखा है—आशीर्वाद से युक्त मधुर वाक्य और मंगलाचार के साथ जिसमें सब लोगों की स्तुति हो उसे 'नान्दी' कहते हैं। गीत, वाद्य और पात्र सबको समान रूप से जानने वाले तथा शास्त्र के अनुसार उनका प्रयोग करने वाले व्यक्ति को सूत्रधार कहते हैं। साहित्यशास्त्र में सूत्र का अर्थ डोरा नहीं; उसका अर्थ है—जिसमें थोड़े और निश्चित अक्षर हों, किसी सार्वभौम सिद्धान्त का तत्त्व निहित हो, जिसका अर्थ स्पष्ट और निर्दोष हो, उस कथन के ढंग को सूत्रज्ञानी लोगों ने सूत्र[2] कहा है। शारदातनय[3] ने सूत्रधार शब्द का निर्वचन किया है। सूत्र तथा सूत्रधार की उपर्युक्त परिभाषा पर यदि पिशेल का ध्यान गया होता तो वे कदापि यह कहने का प्रमाद नहीं करते कि सूत्रधार शब्द सिर्फ पुतली की डोरी पकड़कर नचाने वाले को कहते हैं।

इस प्रसंग में पिशेल ने छायानाटक में नाट्य की उत्पत्ति सम्बन्धी दूसरे मत की उद्भावना की। इसे ल्यूडर्स ने नाटक के विकास में आवश्यक कारण माना। डा० कोनो ने भी इस मत का समर्थन किया। संस्कृत के नाट्य-लक्षण-ग्रन्थों में छाया-नाटक का वर्णन नहीं मिलता है। फिर भी संस्कृत साहित्य में सात छाया-नाटकों का उल्लेख मिलता है। उनमें दूतांगद नाटक सबसे पुराना है। इसकी कथावस्तु रामायण से ली गयी है। छायानाटकों में दीपक की सहायता से छाया द्वारा नाटक दिखलाया जाता है। अभिनेताओं या पुतलियों की छाया मात्र को सामाजिक देखता है। विल्सन ने कल्पना की है कि छायानाटक वस्तुतः नाटक की रूपरेखा को कहते होंगे। प्रोफेसर सिलवां लेवी ने भी यही बात मान ली है। स्वयं पिशेल ने भी आगे चलकर इसे अर्द्धनाटक माना। मलाया, चीन, जापान, उत्तरी अफ्रीका में

---

१ ना० शा० भूमिका—पात्र-विकल्प नामक ३५ वें अध्याय में श्लोक ७४-७६।

२ स्वल्पाक्षरसंदिग्धं सारवद्विश्वतोमुखम्। अस्तोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदुः॥

३ सूत्रयन्काव्यनिक्षिप्तवस्तुनेतृकथारसान्। नान्दीश्लोकेन नान्यन्ते सूत्रधार इति स्मृतः। भावप्रकाशन, दशम अधिकरण।

प्रचलित छाया-नाटकों के आधार पर भारतीय नाटकों की उत्पत्ति-सम्बन्धी पिशेल का प्रतिपादित मत कथमपि मान्य नहीं हो सकता। उन्होंने सिर्फ आकाश के तारे तोड़ने का ही प्रयास किया है। इस मत की स्थापना के लिए कोई भी पुष्ट प्रमाण नहीं मिलता है।

डा० रिजवे ने नाट्योत्पत्ति के सभी सिद्धान्तों का खंडन किया।[1] उन्होंने संस्कृत नाट्य की विविध विधाओं और रामलीला, रासलीला एवं यात्रा के उत्सवों का वैदुष्यपूर्ण विवेचन कर यह निष्कर्ष निकाला कि नाट्य की उत्पत्ति का मूल तत्त्व वीर-पूजा है। इनके विचार से प्रशस्तिस्तम्भ की भाँति किसी वीर पुरुष के साहस अथवा पराक्रम का निदर्शन करते हुए नाट्य का प्रस्तुतीकरण भी उस वीर के प्रति आदर व्यक्त करना है। सर्वप्रथम रिजवे ने वीर-पूजा सिद्धांत का प्रतिपादन यूनानी त्रासदों के उद्भव के बारे में किया था। बाद में उसी मत को उन्होंने भारतीय नाट्योत्पत्ति के लिए भी मान लिया तथा इस मत की पुष्टि के लिए भारतीय साहित्य से उदाहरण देने का भरपूर प्रयास किया।

यह मत भी अन्य मतों की तरह ही भ्रमरहित नहीं है, चूँकि नाटक में इतिवृत्त का संयोग यद्यपि स्वीकार किया गया है, किन्तु नाटक के अनेक रूप काल्पनिक और पौराणिक भी होते हैं। इसलिए सिर्फ वीरों के आदर की भावना को ही नाट्योत्पत्ति मान लेना सर्वथा समीचीन नहीं प्रतीत होता है। ए० बी० कीथ ने इसका खंडन करते हुए कहा कि संस्कृत के अनेक नाटकों में वीर-रस का अभाव है। उनका कहना है कि संस्कृत नाटक की प्रस्तावना में यह उल्लेख नहीं मिलता कि अमुक नाटक की रचना किसी वीर पुरुष के प्रति आदर व्यक्त करने या उसकी स्मृति में की गयी है। प्रायः नाटकों में राजसभासदों तथा प्रजाओं के मनोरंजन के लिए ही नाटक की रचना की बातें मिलती हैं। अतः नाट्योत्पत्ति के सम्बन्ध में ऐसी कल्पना अनुचित है।

डा० ए० बी० कीथ ने वीर-पूजा-सिद्धान्त का खंडन कर नाट्योत्पत्ति के संबंध में थ्योरी ऑफ भिजिरेशन स्पिरिट (उद्भिज् जगत् की आत्मा की आविर्भूति का सिद्धान्त) की स्थापना की। पतंजलि के महाभाष्य में उल्लिखित कंसवध नाटक के आधार पर उन्होंने कहा कि जाड़ा, गर्मी, बरसात आदि ऋतुओं में प्रकृति के विविध परिवर्त्तनों को सामान्य जनसमुदाय के सम्मुख मूर्त्तरूप से दिखलाने की प्रवृत्ति से ही भारतवर्ष में नाट्य का उद्भव हुआ। उस नाटक में कंस और उनके सहायक अभिनेता अपने को काले रंग से रँग कर काले कपड़े धारण करते थे तथा कृष्ण एवं

---

१ ड्रामाज एण्ड ड्रामेटिक डान्सेज ऑफ नान-यूरोपियन रेसेज।

उनके सहचर अपने को लाल रंग से रँगकर लाल कपड़े पहनते थे। लाल रंग विजय का प्रतीक है और काला पराजय का। परिणामतः कंस पर कृष्ण की विजय को कीथ महोदय हेमन्त पर वसन्त की विजय मानते हैं। तथ्य के अभाव में इस सिद्धान्त को उनकी कष्ट कल्पना ही कही जा सकती है। स्वयं उन्होंने अपने परवर्ती वाक्यों में इसे अमान्य कहा।

कुछ विद्वानों ने नेपाल-राज्य के इन्द्रध्वज महोत्सव को देखकर यह कल्पना की कि जैसे यूरोप के मे-पोल नृत्य में यूनानी नाटक की उत्पत्ति हुई उसी तरह इन्द्रध्वज उत्सव से भारतीय नाट्य की उत्पत्ति हुई। नाट्यशास्त्र में वर्णित इन्द्र-ध्वज महोत्सव के अवसर पर प्रथम अभिनीत नाटक का उल्लेख कर यह बताने का प्रयास किया गया कि यह डान्स इन्द्र के जर्जर का प्रतीक है। यह सिद्धान्त भी निराधार है। चूँकि यूरोप के मे-पोल डान्स से इसकी समता कल्पित आधार लिये है। दोनों में उद्देश्य, भाव, क्रिया या रूढ़ि किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं है। साथ ही उत्सव के अवसर पर अभिनय का अभिप्राय यह कथमपि नहीं हो सकता कि उसके आधार पर नाट्योत्पत्ति हुई।

भारतीय उत्कर्ष एवं समृद्धि को छोटा देखने की चेष्टा रखनेवाला वेवर ने यवनी, यवनिका तथा शकारि शब्दों के आधार पर यह सिद्ध करने का दुस्साहस किया है कि यूनानियों के सम्पर्क में आने पर भारतीयों ने नाट्य-कला सीखी। विन्डिश, सिल्वाँ लेवी, कीथ तथा ई० ब्रान्डे ने भी इनके विचार का समर्थन किया। लेकिन यदि विवेक के साथ विचार किया जाय तो स्पष्ट शब्दों में कहा जा सकता है कि भारतीय नाट्य पर यूनानी नाटकों का कोई भी प्रभाव नहीं पड़ा। चूँकि भारतीय नाटकों में यूनानी नाटकों की भाँति न तो सम-गान (कोरस) होता था, न एक-एक कर अभिनेताओं की संख्या में वृद्धि हुई, न यहाँ मुख पर मुखौटा और पैरों में ऊँची खड़ाऊँ बाँधने का प्रचलन था, न हमारी रंगशालाओं का निर्माण उनके समान था और न भय तथा करुणा उपन्न करने वाले त्रासद (ट्रेजेडी) और फूहड़ गीतों से भरे प्रहसन ही प्रचलित थे। इतना ही नहीं, कीथ के अनुसार पर्दे के लिए प्रयुक्त यवनिका (प्राकृत रूप जवनिका) शब्द विशेषण-बोधक है। इसका अर्थ यूनानी (आयोनियन) है; क्योंकि भारतीय सर्वप्रथम इन्हीं के सम्पर्क में आये थे। यह शब्द यूनान, फारस, मिस्र, सीरिया तथा वैक्ट्रिया आदि सम्मिलित देशों का बोधक है न कि सिर्फ यूनान का। लेवी के अनुसार फ्रांस के सुन्दर वस्त्र के अर्थ में इस शब्द का प्रयोग किया जाता था। अतः इसका सम्बन्ध यूनानी रंगमंच से बिलकुल नहीं था, क्योंकि यूनानी नाटकों में पर्दे की चर्चा ही नहीं है। विण्डिश यवनिका को इस कारण से यूनानी कहते हैं जिस तरह यूनानी रंगशाला में पीछे की ओर चित्रित

दृश्य होता था उसी तरह भारतीय रंगमंच में पर्दा लगा दिया जाता था। उन्हें यह विचार करना चाहिए कि मात्र पर्दे के आधार पर नाट्योत्पत्ति का सम्पूर्ण आधार मान लेना बुद्धि-संकोच का द्योतक होगा। हो सकता है, मंचीय साधनों की उपलब्धि के अनुरूप कालान्तर में कपड़े का पर्दा भी टाँगा जाता होगा। इसके अलावे यमनी शब्द वाजसनेयी संहिता में मिलता है। यह इस बात का प्रतीक है कि अतिप्राचीन काल में 'यमनी' तिरस्करिणी के अर्थ में प्रयुक्त होता था। कालिदास ने भी पर्दे के अर्थ में तिरस्करिणी[1] शब्द का प्रयोग किया है। यही बात यवनी शब्द के लिए भी है। संस्कृत नाटकों में प्रायः राजा लोग यवनियों को अपनी दासी के रूप में रखते थे। कालिदास के अभिज्ञानशाकुन्तल[2] में इसका उल्लेख है। भारतीय रंगशाला त्र्यस्र, चतुरस्र और विकृष्ट इन तीनों का रूप-विस्तार यूनानी रंगशाला से नहीं मिलता। इन तर्कसंगत प्रमाणों के आधार पर निर्भ्रान्त रूप से कहा जा सकता है कि भारतीयों ने यूनानियों से नाट्यकला नहीं सीखी। कहना तो यही उचित होगा कि यूनानियों ने ही भारत के प्राचीन नाट्यों से यह कला सीखी है।

नाट्योत्पत्ति विषयक उपर्युक्त विभिन्न कल्पनाओं एवं स्थापनाओं के समीक्षण के बाद हम इस निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए विवश हैं कि नाट्य के अंग विशेष की समता के आधार पर निर्मित पाश्चात्य विद्वानों के सिद्धान्तों में भारतीय नाट्योत्पत्ति के स्वरूप को मानना सर्वथा अनुचित और असंगत होगा। अन्य प्रमाणों के अभाव में भारतीय संस्कृति के परिवेश में परम्परानुसार भरतमुनि द्वारा नाट्यशास्त्र में वर्णित चारों वेदों से पाठ्य, गीत, अभिनय और रस ग्रहण कर ब्रह्मा से नाट्य वेद की सृष्टि की कल्पना मान्य है। मैंने पहले ही इसकी चर्चा की है। संस्कृत नाटकों की रूप-रचना को देखने से भी हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उनके प्रारंभ में देवाराधना की भावना का परम्परानुकूल निर्वाह किया जाता है। कालिदास[3] ने तो इसे मुनियों के नेत्रों को सुन्दर लगनेवाला यज्ञ कहा है। यह ऐसा उत्सव है जिसमें सब मनुष्यों को, चाहे वे किसी भी रुचि के हों, आनन्द प्राप्त होता है। इसमें सत्त्व, रस और तम—तीनों गुणों से निर्मित मानव-जीवन अपने

---

१ नेपथ्ये परिगतायाश्चक्षुर्दर्शनसमुत्सुकं तस्याः।
संहर्तुमधीरतया व्यवसितमिव मे तिरस्करिणीम् ॥ मालवि०, २।१

२ एष वाणासनहस्ताभिर्यवनीभिर्वनपुष्पमालाधारिणीभिः परिवृत इत एवागच्छति प्रियवयस्यः।......अभिज्ञा० शा०।

३ मालवि०, प्रथम अंक, श्लोक—४।

भिन्न-भिन्न रसों में देखने को मिलता है। यह भिन्न रुचि वाले लोगों का एकमात्र समाराधन है। कालिदास के इस कथन में भरतमुनि के नाट्यवेदविषयक उस कथन का साम्य है जिसमें उन्होंने कहा कि इन्द्रादि देवताओं की प्रार्थना पर ब्रह्मा ने यह सार्ववर्णिक वेद बनाया जिसमें सभी पुरुष का, बालवृद्ध का, धनी-दरिद्र का; दुष्ट तथा शिष्ट सबका मनोरंजन हो सके। मुझे तो ऐसा लगता है कि पाश्चात्य विद्वानों की ऊटपटांग भावनाओं एवं धारणाओं का तिरस्कार कर भारतीय नाट्योत्पत्ति के सम्बन्ध में नाट्यशास्त्र में वर्णित भरतमुनि की स्थापना ही सर्वग्राह्य होनी चाहिए। "त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्य नाट्यं भावानुकीर्तनम्" नाट्य के स्वरूप के सम्बन्ध में भरत के इस कथन में जीवन की सर्वांगीणता एवं यथार्थता है। संस्कृत के नाटककारों ने यह प्रयास किया है कि जनमानस की सब प्रकार की वृत्तियों को सन्तुष्ट करते हुए भी इस प्रकार उनका मनोविनोद हो कि बिना उपदेश से ही वे स्वयं अपनी गलती सुधार कर अपना चरित्र उदात्त बनाते चलें। कालिदास प्रभृति संस्कृत के सर्वश्रेष्ठ नाटककारों ने यथार्थ की भित्ति पर उन्नत मानव-जीवन के आदर्शों की स्थापना की है। नरत्व से देवत्व की ओर जाने की भावना का परिपोष ही भारतीय जीवन-दर्शन का उत्स है।

नाट्य-स्वरूप

भगवान् ब्रह्मा (पितामह) के कथनानुसार धर्मादि पुरुषार्थ-चतुष्टय के साधनभूत तथा सभी लौकिक दुःखों का अपहर्त्ता नाट्य है। इसका उत्कृष्ट रूप नाटक है।[1] भरत के नाट्यशास्त्र में नाट्य के स्वरूप एवं परिभाषा की कई प्रकार से व्याख्या की गयी है। उसमें तीनों लोकों के भावों के अनुकरण को नाट्य कहा गया है।[2] इस सूत्र वाक्य को स्पष्ट करते हुए नाट्य में विवेच्य विषय-वस्तु का उल्लेख किया गया है। इसमें कहीं धर्म है, तो कही खेल, कहीं अर्थ-ज्ञान है तो कहीं शान्ति, कहीं हास्य है तो कहीं युद्ध, कहीं काम का वर्णन है तो कही वध का।[3] कहने का तात्पर्य

---

१ धर्मादिसाधनं नाट्यं सर्वदुःखापनोदकृत्।
अनुसेवध्वमृषयस्तस्योत्थानन्तु नाटकम् ॥३॥
—(ना० ल० र० चौ० प्र०)

२ त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्य नाट्यं भावानुकीर्तनम्।
—ना० शा०, प्र० अ०, श्लोक, १०७।

३ क्वचिद्धर्मः क्वचित्क्रीड़ा क्वचिदर्थः, क्वचिच्छमः।
क्वचिद्धास्यं क्वचिद्युद्धं क्वचित्कामः क्वचिद्वधः ॥१०८॥
—ना० शा० प्र० अ०।

यह है कि इसमें धर्मात्मा और ज्ञानियों की ही चर्चा नही बल्कि इसमें कामियों के काम तथा अशिष्ट जनों के सुधार की भी व्यवस्था होती है, दुर्विनीतों के निग्रह (दण्ड व्यवस्था) मदमत्तजनों के दमन करने की क्रियाएँ, नपुंसकों की धृष्टता एवं शूरवीरों के उत्साह भी वर्णित होते हैं। इसी तरह मूर्खों की मूर्खता, विद्वानों की विद्वत्ता, धनियों के विलास, दुःखियों के स्थैर्य, व्यवसायियों के धनार्जन के उपाय तथा उद्विग्नचित्त व्यक्तियों के धैर्य आदि का विवेचन होता है। अर्थात् जब लोगों की क्रियाओं का अनुकरण अनेक भावों और अवस्थाओं से सम्पन्न होकर किया जाय तब वह नाट्य कहा जाता है।[1] वस्तुतः नाट्य के त्रैलोक्य की अनुकृति कहलाने का यही तात्पर्य है। पुनः उन्होंने कहा कि सुख-दुःख से समन्वित लोक के स्वभाव को विभिन्न आंगिक अभिनयों द्वारा प्रदर्शित करना ही नाट्य है।[2] नाट्य की अन्य परिभाषा देते हुए भरतमुनि ने लिखा है कि जिसमें सातों द्वीपों के निवासियों, देवों, असुरों, राजाओं, ऋषियों, गृहस्थ लोगों के वृत्तान्तों का प्रदर्शन हो, उसे नाट्य कहते हैं।[3]

---

१ धर्मोधर्मप्रवृत्तानां कामः कामोपसेविनाम्।
निग्रहो दुर्विनीतानां मत्तानां दमनक्रिया ॥१०९॥
क्लीबानां धार्ष्ट्यजननमुत्साहः शूरमानिनाम्।
अबुधानां विबोधश्च वैदुष्यं विदुषामपि ॥११०॥
ईश्वराणां विलासश्च स्थैर्यं दुखार्दितस्य च।
अर्थोपजीविनामर्थो धृतिरुद्विग्नचेतसाम् ॥१११॥
नानाभावोपसम्पन्नं नानावस्थान्तरात्मकम्।
लोकवृत्तानुकरणं नाट्यमेतन्मया कृतम् ॥११८॥

—ना० शा० अ० १

२ यो यं स्वभावो लोकस्य सुख-दुःखसमन्वितः।
सोऽङ्गाद्यभिनयोपेतो नाट्यमित्यभिधीयते ॥१२१॥

—ना० शा० प्र० अ०।

३ देवानामसुराणाञ्च राज्ञामथ कुटुम्बिनाम्।
ब्रह्मर्षीणाञ्च विज्ञेयं नाट्यं वृत्तान्तदर्शकम् ॥१२०॥

—ना० शा० प्र० अ०

उपर्युक्त विचार से साम्य रखता हुआ विचार नाट्य के सम्बन्ध में अरस्तू ने व्यक्त किया है। उनका कहना है कि ट्रेजेडी उस विशिष्ट कार्य का अनुकरण है, जिसमें गम्भीरता एवं पूर्णता हो, अनेक विभाषाओं के साथ जिसकी भाषा कलायुक्त और आलंकारिक हो, जिसकी शैली अभिनयात्मक हो, वर्णनात्मक नहीं, तथा जो करुणा एवं भय का प्रदर्शन कर मानव-मन के विकारों को संशुद्ध एवं परिष्कृत करे।[1]

महेन्द्रविक्रम के अनुसार नाट्य उसे कहते हैं जो नटों द्वारा प्रदर्शित किया जाता है तथा जिसमें नृत्त, गीत आदि का प्रवेश नहीं।[2] इसके विपरीत महिमभट्ट ने नाट्य को गीत आदि से रंजित माना है। उनके मत से विभाव, अनुभाव आदि के वर्णन से जो आनन्द प्राप्त होता है उसे काव्य कहा जाता है तथा नट समुदाय द्वारा गीत आदि से रंजित जब प्रयोग किया जाता है तब उसे ही नाट्य कहा जाता है।[3]

धनंजय की परिभाषा "अवस्थानुकृतिर्नाट्यम्" में शब्द की प्रधानता है। वस्तुतः नाट्य रसाश्रित होता है। चूँकि दुष्यन्तादि के अभिनय से सहृदय सामाजिकों को तादात्म्य की प्रतीति तभी हो सकती है जब रसोद्रेक हो। वाक्य तथा अर्थ यानि वस्तु एवं भाव से ही यह सम्भव है। इसीलिए भरत ने "वाक्यार्थाभिनय-रसाश्रयं नाट्यम्" कहकर नाट्य को रसाश्रित माना है।

---

१ A tragedy, then, is the imitation of an action that is serious and also as having megnitude complete in itself, in languages with pleasurable accessories, each kind brought in seperately in the parts of the work; in a dramatic not in a narrative form, with incidents arousing pity and fear where with to accomplish its catharsus of such emotions. From Aristotle' on the Art of Poetry, P. 35.

२ नटैर्यत्प्रदर्श्यते तन्नाट्यम्। तत्र नृत्तगीतानाम् प्रवेशो नास्ति।

—भरतकोश

३ अनुभावविभावानां वर्णना काव्यमुच्यते।
तेषामेव प्रयोगस्तु नाट्यम् गीतादिरंजितम्॥

—व्यक्तिविवेक।

आचार्य नन्दिकेश्वर के मत से किसी पौराणिक तथा प्राचीन चरित पर आश्रित ऐसी कथा के अभिनय को नाट्य कहते हैं, जो लोक से सम्पूजित एवं मान्यताप्राप्त हो।[1]

इनके इस नाट्य-लक्षण से कथावस्तु का उल्लेख करते हुए लोक-रुचि के समावेश का भी विधान किया गया है। अभिनय का सम्बन्ध लोक-रुचि से है, अतः यहाँ लोक-रुचि का प्राधान्य स्वीकार किया गया है। नन्दिकेश्वर के इस कथन पर भरत के उस नाट्य-लक्षण का प्रभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है जिसमें उन्होंने कहा कि सुख-दुखों से समन्वित लोक के स्वभाव को भिन्न-भिन्न आंगिक अभिनयों के माध्यम से प्रदर्शित करना ही नाट्य है।[2]

आचार्य सागरनन्दी ने भरत प्रोक्त त्रैलोक्य के सुखदुःखात्मक भाव के स्थान पर सिर्फ इसी लोक के सुख-दु ख पर अधिक जोर दिया है। उसके मतानुसार इसी लोक के सुख-दुःख से उत्पन्न अवस्था के अभिनय को नाट्य के नाम से अभिहित किया जाता है।[3] भरत के इस मत का सविस्तार विवेचन करते हुए अभिनवगुप्त ने लिखा है कि नाट्य वह दृश्य काव्य-विधा है जो प्रत्यक्ष, कल्पना एवं अध्यवसाय का विषय बन कर सत्य और असत्य से समन्वित विलक्षण रूप धारण करके जन-सामान्य को आनन्द प्राप्त कराता है।[4]

नाट्य-स्वरूप-विवेचन के प्रसंग में कालिदास ने भरत मुनि के विचार से सहमति प्रकट करते हुए बड़ा ही स्पष्ट विचार व्यक्त किया है। उन्होंने लिखा है कि नाट्य देवताओं के नेत्रों को सुन्दर लगनेवाला चाक्षुष यज्ञ है। स्वयं महादेव जी ने उमा को अपने शरीर में मिला कर दो भागों में विभक्त किया है। (ताण्डव और लास्य)। इसमें सत्त्व, रज तथा तम—इन तीनों गुणों से निर्मित लोगों के चरित अनेक

---

१ नाट्यं तन्नाटकं चैव पूर्वकथायुतम् ॥—१४॥
—अभिनयदर्पण।

२ ना० शा० श्लोक १२१, प्र० अ०।

३ अवस्था या तु लोकस्य सुख-दुःखसमुद्भवा।
तस्यास्तदभिनयः प्राज्ञैः नाट्यमित्यभिधीयते ॥

४ प्रत्यक्षकल्पनानुव्यवसायविषयो लोकप्रसिद्धः सत्यासत्यादिविलक्षणत्वात् यच्छब्दवाच्यो लोकस्य सर्वस्य साधारणतया स्वत्वेन भाव्यमानश्चर्य-माणोऽर्थोनाट्यम्।

रसों में दिखाई देते हैं। अतः भिन्न रुचिवाले लोगों के लिए एक नाना प्रकार का मनोरंजन है अर्थात् एक ही नाट्योत्सव में अनेक प्रकार के आनन्द मिलते हैं।[1] उनकी दृष्टि में भाव, रस और अभिनय इन तीनों का समन्वय नाट्य है। वास्तव में कालिदास ने नाट्य का स्वरूप और महत्त्व भरत के नाट्यशास्त्र के अनुसार ही बताया है। यहाँ तक कि अनेक शब्द भी वहीं के हैं। इससे स्पष्ट है कि उनपर भरत के नाट्यशास्त्र का प्रभाव था। कालिदास के रूपकों के अनुशीलन से पता चलता है कि उन्होंने अपने नाट्य-प्रयोगों में धर्म, अर्थ, काम इन त्रिवर्गों को प्रतिपादन का विषय बनाया है। उनमें जहाँ पुरुष वर्ग के दुष्यन्त पुरूरवा, तथा अग्निमित्र जैसे राजाओं के चरित्र का चित्रण है तो वहीं ऋषि कण्व एवं मारीच, योगी नारद, नाट्याचार्य गणदास और हरदत्त, गन्धर्वराज चित्ररथ, बालक सर्वदमन, और आयु, दूत करभक, सारथि मातलि, मछुआ धीवर, द्वारपाल रैवतक, नगररक्षक श्याल, सेनापति भद्रसेन, शिष्य गालव, एवं वैखानस जैसे समाज के विविध पात्रों के शील-स्वभावों का अनुकीर्तन है। स्त्री-पात्रों में शकुन्तला, मालविका, धारिणी, इरावती, जैसी पृथ्वी-लोक की नायिकाओं के साथ स्वर्ग की अप्सरा नायिका उर्वशी के चरित का चित्रण है। गौतमी, प्रियंवदा, अदिति, तापसी कौशिकी आदि—उच्चवर्गीया लौकिक नारियों के साथ सानुमती, चित्रलेखा, सहजन्या, रम्भा, मेनका आदि पारलौकिक अप्सराओं के वृत्तान्त का भी प्रदर्शन किया गया है। साथ ही इन नाटकों में दासी, कौमुदिका, निपुणिका, मधुकरिका, चतुरिका, सेविका यवनी, शिल्पी लौंडियाँ मदनिका, और ज्योत्स्निका आदि समाज की अनेक नारियों के गुण-कर्मों का वर्णन मिलता है। इन चित्रणों से स्पष्ट है कि कालिदास को इहलोक के साथ परलोक का भी अनुकीर्तन अभीष्ट था। बालक, युवा, वृद्ध, ज्ञानी, रागी, विरागी, ऋषि, मुनि, योगी, यती, राजा, गरीब सब प्रकार के लोगों को अपने नाट्य में कालिदास ने स्थान दिया है। लोक के नाना भावों एवं नाना अवस्थाओं का अनुकीर्तन स्वतः इनके नाटकों में हो गया है। धर्म, अर्थज्ञान, भोगविलास, युद्ध, मृगया, हास्य, योग, शान्ति आदि की चर्चा सर्वत्र मिलती है। इन नाटकों में राजाओं, धर्मात्माओं तथा ज्ञानियों की चर्चाओं के साथ भोगियों के भोग-विलास,

---

1 देवानामिदमामनन्ति मुनयः कान्तं क्रतुं चाक्षुषं
रुद्रेणेदमुना कृतव्यतिकरे स्वांगे विभक्तं द्विधा।
त्रैगुण्योद्भवमत्र लोकचरितं नानारसं दृश्यते
नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधनम्॥१।४॥
—मालवि०, प्र० अ०

शूरों के उत्साह, मूर्खों की मूर्खता, विद्वानों की विद्वत्ता, दुःखी जनों की स्थिरता तथा व्यवसायियों के धनार्जन के उपाय भी वर्णित हैं। इनसे सिर्फ विनोद ही नहीं, अपितु जीवन के लिए बहुत बड़ा उपदेश भी मिलता है। मनुष्य उससे स्वतः अपने चरित्र को सुधारने का प्रयत्न करता है। कालिदास ने बड़े कौशल के साथ सुख-दुःख से समन्वित लोक-स्वभाव का अपने नाटकों में प्रदर्शन किया है। उनका अभिज्ञानशाकुन्तलम् तो भारतीय गृहस्थोपनिषद् कहा जा सकता है।

नाट्योद्देश्य

भारतीय नाट्य में सिर्फ उदात्त पुरुषों अथवा राजाओं के चरित का ही अनुकीर्त्तन नहीं होता, अपितु अनेक भावों से समन्वित विभिन्न अवस्थाओं में काम करने वाले सब तरह के व्यक्तियों के कार्यों के अनुकरण का विधान है। उसमें उत्तम, मध्यम एवं अधम तीनों प्रकार के मनुष्यों, देवताओं, राक्षसों, राजाओं, गृहस्थों एवं ब्रह्मर्षियों के वृत्तान्तों का प्रदर्शन किया जाता है, इस प्रकार सुख-दुःख-समन्वित लोगों के स्वभाव का आंगिक अभिनय ही नाट्य है। भारतीय नाट्य का उद्देश्य यह है कि सभी प्रकार के लोगों के चरित्र का ऐसा स्वाभाविक अभिनय हो कि उससे सबको मनोविनोद, उपदेश एवं विश्रान्ति मिले। ब्रह्मा ने नाट्यवेद का उद्देश्य बतलाया था धैर्य, क्रीड़ा, सुख आदि देनेवाला यह नाट्य सब रसों, भावों तथा क्रियाओं द्वारा सबको उपदेश देने वाला होगा।[1] दुःख, श्रम और शोक से पीड़ित तथा तपस्वी सबके मन को इस नाट्य से परम शान्ति मिलेगी।[2] इससे लोगों में धर्म, यश, आयु, कल्याण और बुद्धि भी बढ़ेगी तथा लोगों को उपदेश भी मिलेगा।[3] यही नाट्य श्रुति स्मृति, सदाचार तथा शेष अर्थों की कल्पना करने वाला एवं लोकरंजनकारी होगा।[4]

---

१ हितोपदेशजननं धृतिक्रीडासुखादिकृत ।१।११३।।
एतद्रसेषु भावेषु सर्वकर्मक्रियास्वथ ।
सर्वोपदेशजननं नाट्यं लोके भविष्यति ।१।११४।।

२ दुःखार्तानां श्रमार्तानां शोकार्तानां तपस्विनाम् ।
विश्रान्तिजननं लोके नाट्यमेतद्भविष्यति ।१।११५।।

३ धर्म्यं यशस्यमायुष्यं हितं बुद्धिविवर्धनम् ।
लोकोपदेशजननं नाट्यमेतद्भविष्यति ।१।११६।।

४ श्रुतिस्मृतिसदाचारपरिशेषार्थकल्पनम् ।
विनोदजननं लोके नाट्यमेतद्भविष्यति ।।१।१२३।।....ना० शा० प्र० अ०

कालिदास ने भी नाट्याचार्य गणदास से कहलाया है कि सब प्रकार की रुचिवाले लोग नाट्य से समान आनन्द पाते हैं ।[1]

ब्रह्मा के उपर्युक्त नाट्योद्देश्य का विश्लेषण करने से स्पष्ट हो जाता है कि जब हम अपने सांसारिक दुःख, क्लेश एवं चिन्ताओं से दूर हट कर भिन्न-भिन्न अवस्थाओं का मूर्त्त अभिनय देखते हैं तब हमारा हृदय अभिनेता तथा उसके अभिनय से विभावित हो जाता है। सम्पूर्ण चिन्ताएँ शान्त हो जाने के फलस्वरूप हम उसमें तल्लीन होकर रसास्वादन लेने लगते हैं। इसके साथ-साथ हम प्रच्छन्न रूप से अपने चरित्र, स्वभाव एवं प्रवृत्तियों का सुधार एवं परिष्कार भी करने लगते हैं और हम अपने मन में तय करते हैं कि रामादिवद्वर्तितव्यम् न रावणादिवत्। आचार्य मम्मट ने काव्य का उद्देश्य बतलाते हुए लिखा है कि इस तरह के विभाजन-व्यापार से जो आत्मसंस्कार होता है वह कान्तासम्मित उपदेश कहलाता है।[2] प्रायः सभी नाटककारों का यह उद्देश्य है कि विद्वान् एवं गुणवान् उसके अभिनय को देखकर रसमग्न हों तथा प्रशंसा करें। कालिदास ने इसी आशय को व्यक्त किया है।[3] उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट है कि अन्यान्य काव्य-रचयिताओं की तरह नाटककार का प्रमुख उद्देश्य दर्शक-समाज का मनोरंजन करके यश पाना ही होता है।

---

१ नाट्य भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधनम् ।।११४।;

—मालवि० प्र० अ०

२ काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये ।
सद्यः परनिर्वृत्तये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे ।।१।।

—काव्यप्रकाश, प्रथम उल्लास ।

३ आपरितोषाद् विदुषां न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम् ।
बलवदपि शिक्षितानां आत्मन्यप्रत्ययं चेतः ।।१।२।।
पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम् ।।

अभिज्ञा० प्रथम, अंक

सन्तः परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः ।।

—मालवि०; प्र० अंक

शारदातनय ने नाट्य से किस प्रकार सभी लोगों को आनन्दोपलब्धि होती है, इसका इस प्रकार विवेचन किया है[1]—लोग अनेक शील-स्वभाव के होते हैं। इन्हीं मानव-स्वभाव के आधार पर नाट्य रचा जाता है। अतः लोग अपना-अपना काम करते हुए भी अपने-अपने शिल्प, शृंगार, व्यवसाय, क्रिया तथा वाणी सब कुछ नाट्य में प्राप्त करने में सफल होते हैं। यही कारण है कि कामी, चतुर, सेठ, विरागी, शूर, ज्ञानी, बड़े-बूढ़े लोग, रस एवं भाव के विवेचक गुणी लोग, यहाँ तक कि बाल, मूर्ख तथा स्त्रियों को भी नाट्य में रस मिलता है, क्योंकि नाट्य में उन्हें अपनी-अपनी रुचि के अनुसार सामग्री मिल जाती है। युवक-युवतियों को काम की बातों में, चतुर बुद्धिमान लोगों को नीति की बातों में, अर्थलोलुप सेठों को अर्थोपार्जन की बातों में, विरागियों को मोक्ष की बातों में, वीरों को वीभत्स, रौद्र और युद्ध की बातों में, वृद्धों को धार्मिक-कथा-पुराण आदि में और विद्वानों को सब प्रकार की सात्त्विक बातों में संतोषप्रद आनन्द मिलता है। यहाँ तक कि बालक, मूर्ख तथा स्त्रियों को हँसी की बातें सुनने और नटों की वेश-भूषा देखने से आनन्द मिलता है।

नाट्य के दृश्य-प्रधान होने के कारण इसमें कथा के साथ सभी तरह के लोगों को अद्भुत-वस्तु देखने एवं दूसरों का अनुकरण करते देखने में अतिशय आनन्द मिलता है। कुछ विचारकों ने नाट्य का उद्देश्य सिर्फ उपदेश प्रदान करना माना है। धर्मार्थकाम—त्रिवर्ग के ज्ञान को काव्य-प्रयोजन माननेवाले कुछ लोगों का कथन है कि सत्काव्य के सेवन से धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष में और अन्य कलाओं में विचक्षणता प्राप्त होती है तथा अध्येता में कीर्ति और प्रीति का सन्निवेश होता है।[2] इसका खंडन करते हुए धनंजय ने व्यंजित किया है कि दशरूपकों के अनुशीलन का फल स्वसंवेद्य परमानन्द-रूप रसास्वाद है।[3]

---

१ नानाशीलाः प्रकृतयः शीले नाट्य प्रतिष्ठितम्।
....
बाला मूर्खास्त्रियश्चैव हास्यनेपथ्ययोः सदा ।।
—भावप्रकाशन, अष्टम अधिकरण।

२ धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च।
करोति कीर्ति प्रीतिं च साधुकाव्यनिषेवनम् ।।
१।२ भामह, काव्यालंकार, काव्यप्रशंसा

३ आनन्दनिष्यन्दिषु रूपकेसु व्युत्पत्तिमात्रं फलमल्पबुद्धिः।
योऽपीतिहासादिवदाह साधुस्तस्मै नमः स्वादुपराङ्मुखाय ।।६।।
दशरू० प्र० प्रकाश।

आचार्य नन्दिकेश्वर[1] ने नाट्य को ब्रह्मानन्द से भी बढ़कर बताया है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भारतीय नाट्य का उद्देश्य धर्म, अर्थ, काम की प्राप्ति है। कहने का तात्पर्य है कि नाट्य में जीवन के आदर्शों की व्याख्या होनी चाहिए। इसके साथ-साथ वह सामाजिकों को आनन्द प्रदान करने वाला भी होना चाहिए। दुष्टों का दण्डित होना और सज्जनों का उपकार ही इनका चरम लक्ष्य है। थोड़े में यही कहा जा सकता है कि लोकरंजन, लोकहित तथा लोक-विश्रान्ति ही भारतीय नाट्य का उद्देश्य है। यही कारण है कि प्रायः संस्कृत के नाटक सुखान्त हैं। इसमें दुःखान्त नाटकों का अभाव है। संस्कृत नाट्यकार के अनुसार नाट्य का उद्देश्य मुख्यतः उपदेश है। उससे सामाजिक को आचरण की शिक्षा मिलनी चाहिए कि रामादि के समान आचरण करना चाहिए, रावणादि के समान नहीं। मनोरंजन तो नाट्य का वाह्य दृश्य फल है। पाश्चात्य विद्वानों ने आनन्दानुभूति को नाट्य का प्रथम उद्देश्य माना है। वे खुल्लमखुल्ला सुधार की भावना फैलाने के सर्वथा विरोधी हैं। उनका बिचार है कि स्पष्ट शिक्षा से नाटक की रोचकता कम हो जाती है, अतः उसमें शिक्षा अव्यक्त रहनी चाहिए।[2] लेकिन जहाँ आदर्शवाद के प्रचार की बात है वहाँ यूनानी एवं अंग्रेजी नाटककार भी संस्कृत नाटककार की भाँति उसका प्रचार आनन्द और सुधार की भावना से करते हैं।

नाट्य की परिधि :

नाट्य सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का ऐसा दर्पण है जिसमें चराचर विश्व की प्रतिच्छवि का अवलोकन किया जा सकता है। भरत मुनि के अनुसार यह तीनों लोकों के भावों का अनुकीर्त्तन है—"त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्व नाट्यं भावानुकीर्तनम्।"[3] ब्रह्मा ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि इसमें उत्तम, मध्यम एवं अधम सब कोटि के मनुष्यों के कर्मों को संश्रय (आधार) मिलता है। पाश्चात्य विद्वान् अरस्तू ने भी इस तथ्य पर अधिक प्रभावपूर्ण प्रकाश डाला है। सभी प्रकार के मनुष्यों की क्रियाओं का विधान होने के कारण इसमें सभी ज्ञान, शिल्प, विद्या, कला एवं शास्त्रों का सन्निवेश होता है।

---

१ अभिनयदर्पण, श्लोक ७-११।

२ ड्रिंक्वाटर्सी, मिल्टन वर्सस साउदे एण्ड लैण्डार।

३ लोकवृत्तानुकरणं नाट्यमेतन्मया कृतम्।
उत्तमाधममध्यानां नराणां कर्मसंश्रयम् ॥११३॥

—ना० शा०, प्र० अ०।

कोई भी ऐसा योग या कर्म नहीं जिसका प्रदर्शन नाट्य में संभव न हो।[1] ब्रह्मा ने रहस्योद्घाटन करते हुए कहा कि नाट्य की परिधि (क्षेत्र) सप्त द्वीप तक ही परिसीमित नहीं, अपितु देव और असुर लोक तक है। इसमें देवगण, असुरों, राजाओं, गृहस्थों तथा ब्रह्मर्षियों के वृत्तान्त का प्रदर्शन किया जाता है।[2] ब्रह्मा ने नाट्यकला की भरपूर हार्दिक प्रशंसा करते हुए कहा कि वेदविद्या, इतिहास, आख्यान (कथा) आदि की परिकल्पना में समन्वित यह नाट्यवेद लोक के मनोरंजन का कारण सिद्ध होगा। इसमें श्रुति, स्मृति, सदाचार तथा ज्ञान-विज्ञान के साथ-साथ विनोद का भी सम्मिश्रण होता है।[3]

जो किया जा चुका है उसका अनुकरण नाट्य होगा—कृतानुकरणं लोके नाट्यमेतद्भविष्यति—नाट्यशास्त्र में ब्रह्मा के इस कथन का तात्पर्य यह है कि भूत, भविष्य एवं वर्त्तमान का कोई कल्पित वृत्त भी नाट्य का आधार हो सकता है। उनके कृतानुकरण का मतलब केवल पूर्वसंभूत वृत्त ही कृत नहीं होते, कल्पनाकृत वृत्त भी कृत होते हैं। इसी तरह भविष्य की बात भी जब कविकल्पित हो जाती है तो वह भी कृत हो जाती है। हम देखते हैं कि इतिवृत्त-प्रधान नाटकों में भी प्रधान पात्र तथा कुछ घटनाएँ तो सत्य होती हैं; बाकी पात्रों, घटनाओं, चेष्टाओं एवं संवादों की तो कल्पना ही करनी पड़ती है। अतः कल्पना संभूत सम्पूर्ण व्यापार

---

१ न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।
नासौ योगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन् यन्न दृश्यते ॥११७॥
सर्वशास्त्राणि शिल्पानि कर्माणि विविधानि च।
अस्मिन्नाट्ये समेतानि तस्मादेतन्मया कृतम् ॥११८॥

—ना० शा०, प्र० अ०

२ सप्तद्वीपानुकरणं नाट्यमेतद्भविष्यति ॥
येनानुकरणं नाट्यमेतद्यन्मया कृतम् ॥११९॥
देवानामसुराणां च राज्ञामथ कुटुम्बिनाम्।
ब्रह्मर्षीणां विज्ञेयं नाट्यं वृत्तान्तदर्शकम् ॥ (वही)

३ वेदविद्येतिहासानामाख्यानपरिकल्पनम्।
विनोदकरणं लोके नाट्यमेतद्भविष्यति ॥१२२॥
श्रुतिस्मृतिसदाचारपरिशेषार्थकल्पनम्।
विनोदजननं लोके नाट्यमेतद्भविष्यति ॥१२३॥

—ना० शा० प्र० अ०

कृत के अन्दर आ जाता है, चाहे वह भूत से सम्बद्ध हो या वर्त्तमान और भविष्य से। इस विवेचन का स्पष्टीकरण ब्रह्मा के ही कथन—"भविष्यतश्च लोकस्य सर्वकर्मानुदर्शकम्" से हो जाता है। भरतमुनि ने स्वयं प्रकरण, भाण, सट्टक आदि की कथा को कवि-कल्पित माना है।

ब्रह्मा के "त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्य नाट्यं भावानुकीर्तनम्" कहने का उद्देश्य केवल मानवों के भावों का अनुकरण ही नहीं वरन् अन्यान्य जीव-जन्तुओं के क्रिया-कलाप भी उसमें आ जाते हैं। महाकवि कालिदास ने भरतनाट्यशास्त्र में कथित समस्त कलाओं, विद्याओं, कर्मों, इतिहासों, शिल्पों और शास्त्रों का अपने नाटकों में सन्निवेश कर देवों, मेनका, सानुमती और उर्वशी जैसी अप्सराओं, केशी सरीखे दैत्य, असुरों, दुष्यन्त, पुरूरवा और अग्निमित्र जैसे राजाओं, गृहस्थों, कण्व, दुर्वासा और मारीच जैसे ऋषिप्रवरों के वृत्तान्तों का अनुकीर्त्तन एवं प्रदर्शन किया है। उन्होंने उत्तम, मध्यम और अधम सभी श्रेणी के पात्रों का चित्रण किया है। उनकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने मनुष्यों के साथ-साथ पशु-पक्षियों के भावों और क्रियाओं का भी प्रदर्शन किया है। इतना ही नहीं, उन्होंने देव-प्रकृति, मानव-प्रकृति तथा पशु-प्रकृति के साथ पेड़-पौधों जैसी जड़-प्रकृति का भी सन्निवेश कर सबमें समन्वय स्थापित किया है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि मानव-प्रकृति तथा मानवेतर बाह्य प्रकृति में ही सीमित न रहकर कालिदास ने चराचर ब्रह्माण्ड को ही नाट्य की विषय-वस्तु का क्षेत्र बना लिया है। सचमुच समत्व में ही ब्रह्मा की सृष्टि की सार्थकता है। अपार काव्य-संसार का सृष्टिकर्त्ता के कवि कैसे संसार के किसी अंग को विलग कर सकता है, विधाता की सृष्टि में मनुष्य की तरह ही पशु-पक्षी, पेड़-पौधे, सूर्य, चन्द्र, तारे, नदी, झरने, पर्वत आदि का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। इन सभी के वर्णन में ही काव्य-सृष्टि की सम्पूर्णता एवं सार्थकता है। रससिद्ध कवीश्वर कालिदास ने बाह्य प्रकृति के साथ मनुष्य की अन्तःप्रकृति का सामंजस्य स्थापित कर सही अर्थो में तीनों लोकों के सभी प्राणियों के भावों का अनुकीर्त्तन किया है। अपने सर्वश्रेष्ठ नाटक अभिज्ञानशाकुन्तलम् में सहृदय समदर्शी कवि कालिदास ने पशु-पक्षी, पेड़-पौधों की सहानुभूति एवं प्रेम-पूर्ण व्यवहार का सजीव चित्र उपस्थित किया है। शकुन्तला की पतिगृह के लिए विदाई के अवसर पर उसका पाला हुआ दीर्घापांग मृग पीछे से आकर उसका वल्कल पकड़ लेता है। चलने में रुकावट का अभिनय करती हुई शकुन्तला कहती है..............कोण् क्खु एसो णिवसणे मे सज्जई (यह कौन मेरा आँचल पकड़ कर खींच रहा है ?) इसपर कण्व कहते हैं—वत्से कुशा के काँटे से छिपे हुए जिसके मुख के घावों को ठीक करने के लिए तुम उस पर हिंगोटा का तेल लगाया करती थी वही तेरे हाथ के दिये हुए मुट्ठी भर साँवे के दानों से पला हुआ तेरे पुत्र के समान प्यारा

हरिण तेरा रास्ता छेके खड़ा है।[1] बोलने में असमर्थ हरिण के मनोभाव को दिखाने के लिए कवि ने उसके मुँह से शकुन्तला का आँचल ही पकड़ा दिया। वनलताओं से भरे तपोवन के वृक्षों को सम्बोधित कर ज्योंही कण्व उनसे शकुन्तला को विदा करने की आज्ञा देने के लिए कहते हैं त्योंही कोयल की कूक सुनाई पड़ती है। इसे सुनकर वे कहते हैं कि शकुन्तला के वन के साथी वृक्षों ने कोयल के शब्दों में उसे जाने की आज्ञा दे दी है।[2] कोयल की कूक के माध्यम से नाटककार ने यह दिखाने का प्रयास किया है कि जिन लतावृक्षों को शकुन्तला ने भाई-बहन के समान पाला-पोसा था, उनके हृदय में भी शकुन्तला के प्रति आत्मीयता थी। अतः वृक्ष के स्वयं नहीं बोल सकने पर भी उसके क्रोड़ मे निवास करने वाले पक्षियों द्वारा ही हार्दिक भाव की अभिव्यक्ति करा दी गयी है। इतना ही नहीं, विदाई के समय किसी वृक्ष ने चन्द्रमा के सदृश श्वेतवर्ण का मंगल कार्य के योग्य रेशमी वस्त्र दिया, किसी ने पैर में लगाने के लिए लाक्षारस (महावर) दिया, अन्य वृक्षों ने सुन्दर किसलयों के प्रतिस्पर्द्धा करने वाले, कलाई तक उठे हुए वनदेवता के करतलों से आभूषण प्रदान किये।[3] उस विदाई-वेला में जहाँ मृग दूब चरना छोड़ देते हैं वहीं लताएँ पीले पत्ते के रूप में आँसू भी बरसाती हैं।[4]

कालिदास ने अपने रूपकों में ललित कला के पाँचों भेदों (काव्यकला, संगीत-कला, चित्रकला, मूर्त्तिकला और वास्तुकला) का सन्निवेश किया है। उन्होंने सभी प्रकार की कलाओं को ललित कला कहा है। मालविका के नृत्य के सम्बन्ध में ललित कला का उपयोग किया गया है।[5] शिल्प शब्द का प्रयोग भी कवि ने इसी

---

१ यस्य त्वया व्रणविरोपणमिङ्गुदीनां, तैलं न्यषिच्यत मुखे कुशसूचिविद्धे।
श्यामाकमुष्टिपरिवर्धितको जहाति, सोऽयं न पुत्रकृतकः पदवीं मृगस्ते ॥१४॥
—अभि० शा०, चतुर्थ अंकः ॥

२ अनुगतगमना शकुन्तला तरुभिरियं वनवासबन्धुभिः।
परभृतविरुतं कलं यथा प्रतिवचनीकृतमेभिरीदृशम् ॥१०॥ वही।

३ वही, श्लोक ५।

४ उग्गलिअदब्भकवला मिआ परिच्चत्तणच्चणा मोरा।
ओसरिअ पण्डुपत्ता मुअन्ति अस्सू विअ लदाओ ॥१२॥
—अभि० शा०, चतुर्थ अंकः ॥

५ अव्याजसुन्दरीं तां विधानेन ललितेन योजयता।
परिकल्पितो विधात्रा बाणः कामस्य विषदिग्धः ॥२।१३ मालवि० ॥

आशय में किया है।[1] इनके विरचित ऋतुसंहार: और मेघदूत खण्डकाव्य, रघुवंशम् और कुमारसंभवम् महाकाव्य तथा मालविकाग्निमित्रम्, विक्रमोर्वशीयम् एवं अभिज्ञानशकुन्तलम् नाटक सभी काव्यकला के चरम आदर्श माने गये हैं।

कालिदास ने नाट्य में संगीत की अनिवार्य आवश्यकता स्वीकार की है। गीत, वाद्य और नृत्य, संगीत के तीनों भेदों का उपयोग इन्होंने अपने नाट्य में किया है। मालविकाग्निमित्र नाटक में कई जगह संगीत का उपयोग मिलता है।[2] गीत के साथ नृत्य की अपेक्षा का संकेत मालविका के गीत में मिलता है।[3] नाद, स्वर, ग्राम, मूर्च्छना, ताल, लय, तान, उपगान, वर्णपरिचय, मायूरी और मार्जना, पादन्यास द्विपदिका, शाखा, सत्व, राग (कैशिक, सारंग, ललित) आदि संगीत के पारिभाषिक तत्वों का उपयोग किया गया है। इसके साथ तन्त्रीगत वाद्य, (वीणा आदि), सुषिर (रन्ध्रयुक्त वाद्य), अवनद्धवाद्य (मुरज, पुष्कर, मृदंग, दुन्दुभि, पटह, मर्दल आदि) तथा घनवाद्य (घण्टा) जैसे अनेक वाद्ययंत्रों के प्रयोग भी इनके नाटकों में मिलते हैं। इन सभी का इनके रूपकों में कहाँ-कहाँ वर्णन है, इसे सांगोपांग वर्णित करने से प्रबन्ध की रूपरेखा बहुत विस्तृत हो जायगी। अत: उनके उद्धरण यहाँ नहीं प्रस्तुत किये जा रहे हैं। नृत्य आदि का सोदाहरण विवेचन आगे नृत्य के प्रसंग में किया जा चुका है।

संगीतकला की भाँति चित्रकला की उपयोगिता नाट्य में अपेक्षित है। अन्य कलाओं की भाँति कालिदास को चित्रकला भी अत्यधिक प्रिय थी। चित्रशाला शब्द का प्रयोग जनता की अभिरुचि एवं चित्रप्रियता की ओर संकेत करता है। चित्र बनाने वाले विशेष निपुण व्यक्ति को चित्राचार्य कहा गया है।[4] यूँ दुष्यन्त, पुरूरवा आदि सभी इस कला में सुदक्ष थे। कालिदास ने चित्रकला के लिए

---

१ भो वयस्य न केवलं रूपे शिल्पेऽप्यद्वितीया मालविका।—मालवि०।

२ तदारभ्यतां संगीतम्—मालवि०, अंक १, पृ० २६१।

—प्रेक्षागृहे संगीतरचनां कृत्वा तत्रभवतो।

दूतं प्रेषयत गर्भत: संगीतकेऽभ्यन्तरे स्व: ।। मालवि०, पृ० २७८।

—मालविके, इत: पश्य। कतरा ते संगीतसहकारिणी रोचते।

—मालवि०, अंक ५, पृ० ३४७।

३ मालवि०, २।८

४ चित्रशालां गता देवी यदा प्रत्यग्रवर्णरागां चित्रलेखामाचार्यस्यालोकयन्ती तिष्ठति। —मालवि० २।८

चित्र[1] एवं प्रतिकृति[2] दो शब्दों का प्रयोग किया है। जिस लकड़ी के चौकोर तख्ते पर रखकर चित्र खींचा जाता था, वह चित्रफलक[3] कहलाता था।

इनके नाटकों में कई प्रकार के चित्रों का उल्लेख मिलता है। सामूहिक चित्र का उल्लेख मालविकाग्निमित्र के प्रथम अंक में रानी के साथ दासियों में मालविका के चित्र में मिलता है।[4] शकुन्तला के चित्र में उनकी दोनों सखियों का भी चित्र है।[5] व्यक्तिगत चित्र का उल्लेख विक्रमोर्वशीयम् त्रोटक में उस स्थल पर मिलता है जहाँ पुरूरवा को उर्वशी का चित्र बनाने के लिए विदूषक ने कहा है।[6] विक्रमोर्वशीयम् में वस्तु चित्र का उल्लेख मिलता है।[7] इसी तरह मालविकाग्निमित्रम् में

---

१ साक्षात्प्रियामुपगतामपहाय पूर्वं चित्रार्पितां पुनरिमां बहुमन्यमानः।
—अभि० ६।१६

—इयं चित्रगता भट्टिनी। —अभि पृ० ११३।

—स जनो देव्याः पार्श्वगतश्चित्रे दृष्टः। —मालवि०, अंक १, पृ० २६३।

—नन्वेष चित्रयतो भर्त्ता। —मालवि०, अंक ४, पृ० ३२५।

२ शके मे प्रतिकृतिं निर्दिशति। —मालवि०, अंक ४, पृ० ३२४।

—तत्र मे चित्रफलकगतां स्वहस्तलिखितां तत्रभवत्याः शकुन्तलायाः प्रतिकृतिमानयेति। —अभि० पृ० १०८।

—अथवा तत्रभवत्या उर्वश्याः प्रतिकृतिचित्रफलक आलिख्यावलोकयंस्तिष्ठतु।
—विक्र० पृ० १७८।

३ द्रष्टव्य पादटिप्पणी, क्रं० स० ७—अभि०, पृ० १०८।

—तत्र मे चित्रफलकगतां चित्रफलकमादायोत्थाय च।
—अभिज्ञा० पृ० १२०।

—आर्य माढव्य अवलम्बस्व चित्रफलकम्। —अभि० पृ० ११५।

द्रष्टव्य पादटिप्पणी, स० ७, वि० प० पृ० १७८, अथवा तत्रभवत्या।

४ उपचारानन्तरमेकासनोपविष्टेन भर्त्ता चित्रागातायाः देव्याः परिजनमध्यगतानासन्नदारिकां दृष्ट्वा देवी पृष्टा। —मालवि० पृ० २६४।

५ भो इदानीं तिस्रस्तत्रभवत्यो दृश्यन्ते। सर्वाश्च दर्शनीयाः। कतमाऽत्र तत्रभवती शकुन्तला। —अभि०, पृ० ११४।

६ अथवा तत्रभवत्या उर्वश्याः प्रतिकृतिं चित्रफलक आलिख्यावलोकयंस्तिष्ठतु।
—विक्र० पृ० १७८।

७ अहो आलेख्यवानर इव किमपि यन्त्रयन्निभृत आर्यमाणवकस्तिष्ठति।
—विक्र० पृ० १७८।

मुद्रा में नागचित्र का जड़ा होना—वस्तुचित्र का उदाहरण मिलता है।[1] चित्र सजीव बनाने के लिए पृष्ठभूमि का अत्यधिक महत्त्व होता है। शकुन्तला के चित्र में दुष्यन्त ने मालिनी नदी, हंसों के जोड़े, मयूर, हरिण आदि सभी वस्तुओं को बनाया था। पेड़ों पर बल्कल टाँगने के चित्र को भी नहीं छोड़ा गया। उसने शकुन्तला से स्तनों के मध्य तन्तुमाला और कानों में सिरीस के डण्ठल तक बना दिया।[2] उनकी रचनाओं में यत्र-तत्र स्मरण शक्ति से चित्रांकन का उल्लेख मिलता है। अभिज्ञानशाकुन्तल में दुष्यन्त स्मृति से शकुन्तला का चित्र बनाता है।

कालिदास ने चित्र के लिए प्रतिकृति शब्द का प्रयोग किया है। चित्रकार की सफलता इसी में मानी जाती है कि वह ऐसा अद्वितीय सुन्दर चित्र बनाये कि मालूम पड़े वही व्यक्ति है। राजा अग्निमित्र का चित्र इतना सजीव था कि मालविका राजा को प्रेमपूर्वक इरावती की ओर देखते हुए डाह से मुँह फेर लेती है।[3] तदुपरान्त वह अपनी मनोदशा पर स्वयं दुःखी होती है।[4] शकुन्तला के चित्र की भी ऐसी ही विशेषता थी। एषा राजर्षेर्निपुणताने सख्यग्रगा मे नर्तत इति—सानुमती की यह उक्ति विश्वास दिलाती है कि उसे अवश्य ही ऐसा प्रतीत हुआ होगा कि शकुन्तला साक्षात् खड़ी है।[5] इन उल्लेखों से पता चलता है कि कालिदास ने नाट्य में विनोद के लिए चित्रकला को आवश्यक माना है।

कालिदास की रचनाओं में मूर्तिकला का भी प्रसंगतः विवरण मिलता है। विक्रमोर्वशीयम् के तृतीय अंक में लिखा है कि दोपहर की उत्कट उष्णता के कारण

---

१ सखि देव्या इदं शिल्पिसकाशादानीतं नागमुद्रासनाथमङ्गुलीयकं स्निग्धं निध्यायन्तो तवोपालम्भे पतितास्मि। —मालवि० अंक १, पृ० २६३।

२ कार्या सैकतलीनहंसमिथुना स्रोतोवहा मालिनी।
पादास्तामभितो निषण्णहरिणा गौरीगुरोः पावनाः।
शाखालम्बितवल्कलस्य च तरोर्निर्मातुमिच्छाम्यधः।
शृंगे कृष्णमृगस्य वामनयनं कण्डूयमानां मृगीम्।। अभि० ६।१७।
—कृतेन कर्णार्पितवन्धनं सखे शिरीषमागण्डविलम्बिकेसरम्।
न वा शरच्चन्द्रमरीचिकोमलं मृणालसूत्रं रचितं स्तनान्तरे।।६।।१८।।
अभि० षष्ठ अंक।

३ वकुला०—(आत्मगतं) चित्रगतभर्तारं परमार्थतः संकल्प्यासूयति।
—मालवि०, पृ० ३२६।

४ मालविका (आत्मगतं)—कथं चित्रगतो भर्त्ता मया सूचितः।
—मालविका० पृ० ३२७।

५ अभि०, अंक ६, पृ० ११४।

नींद में अलसाये मोर अपने अड्डे पर बैठे हुए पत्थर में खुदे हुए-से मालूम पड़ते हैं—उत्कीर्ण इव वासयष्टिपु निशा निद्रालसा बर्हिणो—३।२ देवप्रतिमाओं का उल्लेख रघुवंश (१६।३९, १७।३६, १७।३१) में मिलता है। अभिज्ञानशाकुन्तलम् के सप्तम अंक में सर्वदमन का मिट्टी के मोर से खेलने का वर्णन मिलता है। (प्रविश्य मृण्मयूरहस्ता) शकुन्तलावण्यं प्रेक्षस्व।

वास्तुकला का संकेत कालिदास के ग्रन्थों में मिलता है। उन्होने नगर का वर्णन किया है। नगरों की मुख्य सड़क (रघुवंश १३।१२) भी थी। नगर के मध्य बाजार (विपणि) (पूर्वमेघ, ३४) था। राजप्रासादों में कई कक्ष रहते थे (कुमार० ९।२५) यह विशाल प्रासाद अन्तर्भाग और बहिर्भाग में बँटे होते थे। बहिर्भाग में अन्नागार (अभि० पृ० ८२), सभागृह (रघु० १७।२७), कारागृह (माल० पृ० ३१५), चित्रशाला, संगीतशाला, यज्ञशाला (अभि० पृ० ८३) आदि रहते थे।

नाट्य-प्रयोग-विज्ञान :

नाट्य-कला के दो पक्ष हैं—(क) सिद्धान्त और (ख) प्रयोग। इन दोनों पक्षों का निरूपण भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र में किया है। उन्होंने सिद्धान्त पक्ष के अन्तर्गत नाट्योत्पत्ति, दशरूपविकल्पन, इतिवृत्त, पात्र, भाव एवं रस आदि का विधान प्रस्तुत किया है। प्रयोग पक्ष के अन्तर्गत आंगिक, वाचिक, सात्विक और आहार्य अभिनय आदि का विवेचन किया गया है। इस अभिनय के अन्तर्गत ही प्रयोग से सम्बद्ध समस्त शास्त्रीय सिद्धान्तों तथा लोक-परम्परागत मान्यताओं का समाकलन एवं विश्लेषण किया गया है। कालिदास के रूपकों के अध्ययन से स्पष्ट विदित होता है कि उनके नाट्य-प्रयोग विज्ञान के अन्तर्गत इन दोनों पक्षों का विधान है। इसीलिए उन्होंने 'प्रयोगमूलक नाट्य को प्रयोग' विज्ञान कहा। उनकी दृष्टि में नाट्य-प्रयोग की सफलता सहृदय सामाजिक के परितोष पर निर्भर करता है।[1] इससे स्पष्ट है कि नाट्य (अभिनय) प्रयोग के लिए ही होता है। इस अभिनय में इसका उन्मेष होता है। ये रस नाट्य के प्राण हैं। भरत मुनि ने इस प्रयोगमूल नाट्य-विज्ञान को अभिनय कहा है। विक्रमोर्वशीयम् में 'लक्ष्मीस्वयंवर' नाटक के अभिनय का उल्लेख किया गया है। उस अभिनय को देखकर प्रेक्षकगण तन्मय हो गये। यह तन्मयीभवन ही सहृदय के अन्दर रसोन्मेष की स्थिति है।

---

१ आपरितोषाद्विदुषां न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम्।
बलवदपि शिक्षितानामात्मन्यप्रत्ययं चेतः ॥२॥ अभि० शा०; प्रथम अंक।

नाट्याभिनय में नाटकीय पात्र अनुकार्य दुष्यन्तादि की अवस्था का साजात्य अनुकरण करता है। पात्र अभिनेतागण अपनी आंगिक चेष्टाओं (आंगिक अभिनय), वाणी के तुलित उपक्रम (वाचिक अभिनय), मनोवेगों की प्राञ्जल अभिव्यंजना (सात्त्विक अभिनय) समुचित वेश-विन्यास एवं अवस्था और प्रकृति के अनुरूप नाटककार (कवि) द्वारा निबद्ध पात्रों, उनके विचारों, भावों तथा नाटकीय कथा-वस्तु को रूपायित (अभिनीत) करता है। इन समग्र व्यापारों के माध्यम से नाटकीय पात्रगण सहृदय सामाजिक (प्रेक्षक) को रसाभिमुख करता है। इसीलिए उस अभिनयन करने वाले पात्र को अभिनेता की संज्ञा दी गयी है। नाट्य का प्रयोग इस अभिनय-व्यापार से ही सिद्ध होता है। सम्पूर्ण नाटकीय व्यापार अभिनय के अन्तर्गत आ जाते हैं। अभिनय के सम्पादन होने पर काव्य नाट्य होता है। यह नाट्य (अवस्थानुकृति) ही रस है। इस तरह अभिनय, नाट्य एवं रस तीनों एक ही हैं। कहने का मतलब है कि अभिनीत होने पर नाट्य रस्य होता है और रस्यता में ही नाट्य की प्राण-रूप आस्वाद्यता रहती है। विक्रमोर्वशीयम् में कालिदास ने नाट्य के लिए 'रस-प्रबन्ध' शब्द का प्रयोग किया है। यहाँ उनके निम्नलिखित सूत्रधार के वाक्य उल्लेखनीय हैं।

सूत्रधारः—अभिहितोऽस्मि विद्वत्परिषदा कालिदासग्रथितवस्तु मालविकाग्निमित्रं नाम नाटकमस्मिन् वसन्तोत्सवे प्रयोक्तव्यमिति। तदारभ्यतां संगीतम्।

—मालवि० अक पृ० ५।

सूत्रधार : अभिरूपभूयिष्ठा परिषदियम्। अद्य खलु कालिदासग्रथितवस्तु-नाऽभिज्ञानशाकुन्तलनामधेयेन नवेन नाटकेनोपस्थातव्यमस्माभिः। तत प्रतिपात्र-माधीयताम् यत्नः। —अभि० शा० प्र० अं० पृ० ८।

सूत्रधार : मारिष ! परिषदा पूर्वेषां कवीनां दृष्टरसप्रबन्धाः। अहमस्यां कालिदासग्रथितवस्तुना नवेन विक्रमोर्वशीयनामधेयेन त्रोटकेनोपस्थास्ये। तदुच्यतां पात्रवर्गः स्वेषु पाठेष्ववहितैर्भवितव्यमिति। —विक्र० प्र० अं० पृ० ३।

लोकधर्मी प्रयोग और नाट्यधर्मी प्रयोग :

भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र में रस, भाव एवं अभिनय आदि तत्त्व के साथ लोक-धर्मी रूढ़ियों का विशद विवेचन किया है।[1] लोकधर्मी नाट्यों में लोक का शुद्ध

---

१ रसाः भावा: ह्यभिनयाः धर्मी वृत्तिप्रवृत्तयः।
सिद्धिः स्वराः तथाऽतोद्यं गानं रंगश्च संग्रहः॥
ना० शा० ६।१० (गा० ओ० सी०)

और ना० शा० ६।२४ एवं १३ वां अध्याय।

एवं स्वाभाविक अनुकरण होता है। यह प्रकृत, स्थायी एवं व्यभिचारी भावों से युक्त रहता है। इसमें कल्पना द्वारा कोई परिवर्तन-परिवर्धन नहीं किया जाता है। अतः विविध भावों का संकेत करने वाले वाचिक, आंगिक, सात्त्विक एवं आहार्य आदि अभिनयों का अन्तर्भाव इसमें नहीं होता है। इसमें पुरुष द्वारा पुरुष का और स्त्री द्वारा ही स्त्री का अभिनय सम्पन्न होता है।[1] इसके सम्बन्ध में अभिनवगुप्त ने लिखा है कि लोकधर्मी रूढ़ि के अनुसार कवि ज्यों-का-त्यों वस्तु मात्र का वर्णन करता और नट प्रयोग करता है। वहां स्वबुद्धिकृत अनुरंजनकारी विचित्रता की कल्पना नहीं होती है।[2] इस तरह वह काव्यांश और प्रयोगांश लोकधर्म के अधीन होता है।

इसके विपरीत नाट्यधर्मी रूढ़ि अधिक काल्पनिक, विचित्रतापूर्ण और अनुरंजनकारी होती है। इसमें काव्यभाग और नाट्यभाग दोनों में परिष्कृत कविबुद्धि एवं प्रयोगकर्त्ता की कल्पना की प्रधानता रहती है। इस नाट्यधर्मी परम्परा के अन्तर्गत सकेत वाक्य, अंगहार, नाट्य में प्रयुक्त जनांतिक, अपवारित; स्वगत कथन, आकाशभाषित, शैल, यान, विमान, प्रासाद, दुर्ग, नदी, समुद्रादि को सूचित करने वाली पद्धतियां तथा मंच पर प्रयोज्य अस्त्र-शस्त्रों एवं अमूर्त भावों का संकेत करने वाली विधियां हैं। तात्पर्य यह है कि लोक का सुख-दुःख क्रियात्मक आंगिकादि अभिनय नाट्यधर्मी है।

संस्कृत-नाट्य परम्परा में आज नाट्यधर्मी नाट्य के रूप में भास, शूद्रक तथा कालिदास आदि की नाट्यकृतियां तो उपलब्ध हैं, लेकिन लोकधर्मी नाट्य का सर्वथा अभाव है।

गम्भीर रूप से विचार करने पर पता चलता है कि नाट्यधर्मी रूढ़ियों का मूलस्रोत लोकधर्मी रूढ़ियां ही हैं।[3] भरत ने भा नाट्यप्रयोग के लिए लोक

---

१ स्वभावभावोपगतं शुद्धं तु प्रकृतं तथा।
लोकवार्ता क्रियोपेतमङ्गलीला विवर्जितम् ॥
स्वभावाभिनयोपेतं नाना स्त्रीपुरुषाश्रयम्।
यदीदृशं भवेन्नाट्यं लोकधर्मी तु संस्मृता ॥
—ना० शा० १३।७१-७२ (गी० ओ० सी०)

२ यदा कविर्यथा वृत्तवस्तुमात्रं वर्णयति नटश्च प्रयुक्ते, न तु स्वबुद्धिकृतं रंजनावैचित्र्यं, तत्रानुप्रवेशयंस्तदा तावत् स काव्यभागः प्रयोगभागश्च लोकधर्माश्रयः तत्रधर्मी। —अ० भा० द्वि० भाग, पृ० १९२।

३ भारतीय नाट्य शास्त्र की परम्परा और दशरूपक। पृ० २५-२६
—लेखक हजारी प्रसाद द्विवेदी

को ही प्रमाण माना है ।[१] वस्तुतः भरत ने ग्रामों एवं नगरों में प्रचलित नाट्य की इन दोनों धाराओं को ही लोकधर्मी और नाट्यधर्मी कहा है। धनञ्जय एवं शारदातनय ने इन दोनों को 'मार्ग' और 'देशी' कहा है।[२] इस तरह भाव-रस से युक्त अभिनय ही 'मार्ग' है तथा ताल एवं लय पर आश्रित गान-विक्षेप पूर्ण नृत्य 'देशी' है। ऊपर नृत्य एवं नृत्त के विवेचन के प्रसंग में इन दोनों पर विचार किया गया है तथा कालिदास के रूपकों में इनके अन्तर्भाव पर विचार प्रकट किया गया है।

लोकधर्मी एवं नाट्यधर्मी प्रयोग की साभिप्रायता की स्थिति :

पौराणिक एवं ऐतिहासिक प्राचीन इतिवृत्त को अनुरंजनकारी कल्पना द्वारा तथा पुरानी घटनाओं को अधिक आकर्षक एवं रोचक ढंग से प्रस्तुत करना नाट्यधर्मी है। कालिदास ने महाभारत के शकुन्तलोपाख्यान के इतिवृत्त को अपने नाटक में परिवर्तित कर रोचक एवं आकर्षक बना दिया है। इसी तरह विक्रमोर्वशीयम् का कथानक भी मूलकथानक का परिवर्तित रूप है।

नाट्यधर्मी रूढ़ि में शास्त्रीय विधियों से युक्त अभिनय अधिक रुचिकर होता है। नाट्य के काव्यभाग एवं प्रयोगभाग में यथावश्यकता वाचिक अभिनय के प्रसंग में स्वरों का आरोह-अवरोह एवं भिन्न-भिन्न अलंकार की सुन्दर योजना होती है।[3] कालिदास के रूपकों में इस तथ्य का सर्वत्र अवलोकन होता है।

नाट्यधर्मी रूढ़ि के अनुसार पात्रों की भूमिका में विपर्यय होता है। इसमें पुरुष पात्र स्त्री की भूमिका में और स्त्री पात्र पुरुष की भूमिका में रंगमंच पर उपस्थित होते हैं। इनका विषय सिर्फ वेषभूषा, भाषा आदि में ही नहीं, अपितु स्वभाव में भी होता है।[४]

---

१ लोकसिद्धं भवेत् सिद्धं नाट्यं लोकस्वभावजम्।
तस्मात् नाट्यप्रयोगे तु प्रमाणं लोक इष्यते ।।

ना० शा० (गा० ओ० सी०)

२ दशरूपक १।९, भावप्रकाशन, पृ० २९५-२९६।

३ नीलांगहाराभिनयं नाट्यलक्षणलक्षितम्।

ना० शा० १३। ७३ ख (गा० ओ० सी०)

४ ना० शा० १३।७४ क (गा० ओ० सी०)

नाट्यधर्मी रूढ़ि के अनुसार लोक में प्रचलित विभिन्न द्रव्यों का नाट्य में इच्छा अथवा मूर्त्तिमान प्रतीकों के माध्यम से प्रयोग होता है।[1] अभिज्ञानशाकुन्तलम् में भ्रमर-बाधा का मंच पर प्रदर्शन इसी विधि से किया गया है।

कभी-कभी लोक एवं नाट्य परम्परा में काफी विरोध भी देखा जाता है। जैसे लोक में निकटस्थ व्यक्ति के उच्चरित कथन को लोग सुनते हैं, अनुच्चरित कथन को नहीं सुनते हैं। परन्तु नाट्य-प्रयोग में आसन्न पात्र के उच्चरित वाक्य को दूसरा पात्र नहीं सुनता है। एतदर्थ उसमें 'जनान्तिक' एवं 'अपवारित' जैसे नाटयशिल्प का प्रयोग किया जाता है। आकाशभाषित की योजना के अनुसार कथा-वस्तु के आग्रह से ही अनुच्चरित वाक्य को पात्र सुन लेते हैं। वस्तु-विन्यास एवं मनोविनोद दोनों दृष्टियों से ये नाट्य-रूढ़ियाँ उपयोगी हैं।[2] कालिदास के रूपकों की संविधानक-योजना के विवेचन-प्रसंग में इसपर काफी प्रकाश डाला गया है।

शैल, यान, विमान तथा आयुध आदि सांसारिक वस्तुओं का रंगमंच पर यथावत् प्रदर्शन संभव नहीं है। समस्त सांसारिक परिवेश के साथ कथावस्तु की प्रस्तुति के लिए भरत ने प्रतीकात्मक प्रयोग का विधान प्रस्तुत किया है। कहीं पात्र की विशिष्ट आंगिक चेष्टाओं द्वारा इन भौतिक पदार्थों का बोध होता है तो कहीं इन पदार्थों के मानवीकरण के द्वारा प्रेक्षक को तदनुरूप आभास होता है। पर्वत, एवं यान आदि का मूर्त्त प्रयोग नाट्यधर्मी रूढ़ि के माध्यम से सम्पन्न होता है।[3] 'रथावतरणम् नाटयति' आदि कथनों से कालिदास ने इनका बोध करा दिया है।

रंगमंच पर नाट्यधर्मी रूढ़ि के माध्यम से पात्रों के अंगों का ललित विन्यास संभव होता है। पात्र के प्रत्येक चरण-विन्यास उसकी सुख-दुःखात्मक मनोदशा को मूर्त्त रूप प्रदान कर अनुभवगम्य बनाता है। पात्रों का यह भाव-समृद्ध चरण-विन्यास आदि नाट्य के प्राण हैं।[4]

---

१ ना० शा० १३।७५ (गा० ओ० सी०)।

२ आसन्नोक्तं च तद्वाक्यं न शृण्वन्ति परस्परम्।
अनुक्तं श्रूयते यच्च नाट्यधर्मी तु सा स्मृता॥
ना० शा० १३।७६ (गा० ओ० सी०)

३ ना० शा० १३।७७ (गा० ओ० सी०)

४ ललितैः अंगविन्यासैः तथोत्क्षिप्तपदक्रमैः।
नृत्यते गम्यते चापि नाट्यधर्मी तु सा स्मृता॥
ना० शा० १३।८० (गा० ओ० सी०)

मानव के सुख-दुःखात्मक स्वभाव को रंगमंच पर आंगिक अभिनय एवं विविध वाद्यों के सहारे प्रस्तुत किया जाता है। यह भी नाट्यधर्मी रूढ़ि होती है, चूँकि लोक-व्यवहार में शास्त्रीय नियमों के आधार पर सुख-दुःख का प्रकाशन नहीं होता है।

रंगमंच पर दृश्य-विधान की सम्पूर्ण प्रक्रिया नाट्यधर्मी प्रयोग के माध्यम से ही संभव होती है। इसी तरह चित्राभिनय के सभी संकेतात्मक अभिनय नाट्यधर्मी विधि द्वारा सम्पादित होते हैं।[1]

नाट्य-प्रयोग के अवसर पर स्वाभाविक रूप को छोड़कर नाट्यधर्मी-प्रवृत्त नाट्य का प्रयोग ही समुचित होता है। इसी के द्वारा सहृदय प्रेक्षकों के हृदय में राग की प्रतीति होती है।[2] आंगिक चेष्टा और अलंकारों के योग से भावों में राग एवं रस का संचार होता है।[3] मानव मात्र के सहज स्वभाव लोकधर्मी हैं। उनकी कथमपि उपेक्षा नहीं की जा सकती है। यह मानव का सहज स्वभाव नाट्यधर्मी रूढ़ियों के लिए उसी तरह आधारस्वरूप हैं जैसे चित्र-निर्माण के लिए भित्ति। स्पष्ट है कि लोकधर्मी के आधार पर ही नाट्यधर्मी का विकास संभव है।[4]

संक्षेप में, हम कह सकते हैं कि वाचिक अभिनय में किये गये वाक्यों का प्रयोग लोकधर्मी है, किन्तु उसका गान नाट्यधर्मी हैं।[5] नाट्याभिनय में जनान्तिक एवं अपवारित विधियाँ नाट्यधर्मी हैं। आहार्याभिनय में अलंकारों का परिधान लोकधर्मी है, किन्तु पादसंचरण मात्र से शैलयान, विमान आदि पर चढ़ना नाट्य-धर्मी है। इसी प्रकार सात्त्विक अभिनय में मंच पर आँसू का प्रदर्शन लोकधर्मी है, लेकिन भावभंगिमा तथा विभिन्न मुद्राओं से उसकी अभिव्यक्ति नाट्यधर्मी है। निस्संदेह हम कह सकते हैं कि लोकव्यवहार एवं लोकानुभूति से ही नाट्यधर्मी

---

१ ना० शा० १३।८३ (गा० ओ० सी०)।

२ नाट्यधर्मी प्रवृत्तं हि सदा नाट्यं प्रयोजयेत्।
नह्यंगाभिनयादृते किंचित् रागः प्रवर्तते ॥
—ना० शा० १३।८४ (गा० ओ० सी०)।

३ मालवि० अंक २—श्लोक ४, पृ० १०४।

४ तस्मात् सर्वस्य सम्बन्धो सहजो भावो : लोकधर्मलक्षण उक्तो भित्ति-स्थानीयत्वेन नाट्यधर्म्या सहजसंवादिकर्मणः।
—अ० भा० भाग २, पृ० २१२।

५ श्लोक ४, मालवि० अंक २, विक्र० अंक २, श्लोक १२।

रूढ़ियों का विकास होता है। दूसरे शब्दों में, लोकधर्मी रूढ़ियाँ नाट्यधर्मी रूढ़ियों के लिए चित्ताधार के समान है।[1] इस दृष्टि से हम कह सकते हैं कि कालिदास के रूपकों में दोनों रूढ़ियों का उपयोग किया गया है।

नाट्योपकरण :

भरतमुनि ने नाट्य के अन्तर्गत गीत, वाद्य एवं नृत्य (अभिनय) का वर्णन किया है। उन्होंने कहा कि नाट्यप्रयोक्ता को पहले गीत में परिश्रम करना चाहिए, क्योंकि गीत नाट्य की शय्या है। गीत और वाद्य का सम्यक् रूप से प्रयोग होने पर नाट्य-अयोग में कोई विपत्ति नहीं आती है :—

गीते प्रयत्नः प्रथमं तु कार्य्यः शय्यां हि नाट्यस्य वदन्ति गीतम्।
गीते च वाद्ये च सुप्रयुक्ते नाट्यप्रयोगे न विपत्तिमेति॥

—भरत ना० सं० अध्याय ३२, पृ० ६०३।

गीत :

दशांशलक्षणलक्षित स्वरसन्निवेश – राग (या जाति), पद, ताल एवं मार्ग इन चार अंगों से युक्त गान गीत कहलाता है।[2] अभिज्ञान शाकुन्तलम् के पंचम अंक में दुष्यन्त नेपथ्य से मधुर गीतों को सुनकर कहता है कि यह अनुराग बरसाने वाला गीत है। उसके इस कथन में गीत का लक्षण स्पष्ट हो जाता है।[3] अथवा यूँ कहें कि रंजक स्वर-सदर्भ ही गीत है। गीत की अभिव्यंजना कंठ, तन्त्री एवं सुषिर से होती है। इनके मिलने पर स्वर्ण, गन्ध और कोमलता का सम्मिश्रण हो जाता है। अलग रहकर भी ये तीनों साधन अलग-अलग गीत की ही अवतारणा करते हैं। भगवान् कृष्ण के वेणुवादन को वेणु-गीत कहा गया। गीत नाट्य का अंग ही नहीं प्राण है। अतः उसका प्रयोजन नाट्य से भिन्न नहीं। वाद्य एवं नृत्य गीत के उपरंजक एवं उत्कर्षविधायक मात्र हैं।[4]

---

१ यानि शास्त्राणि ये धर्मा यानि शिल्पानि याः क्रिया।
लोकधर्मप्रवृत्तानि तानि नाट्यं प्रकीर्तितम्॥
ना० शा० (गा० ओ० सी०)।

२ ग्रहांशादिदशलक्षणलक्षितस्वरमात्रसंनिवेशविशेषो रागः।
तैः स्वरैः पदैस्तालैर्मार्गैर्देव चतुर्भिरङ्गैरुपेतं ध्रुवादिसञ्ज्ञकं गीतम्।
—कल्लि० सं० र०, अ० स०, राग, पृ० ३३।

३ अनुरागपरिवाहिनी गीतिः (अभि० शा० अंक ५, पृ० २५ डा० सु० शा०)

४ प्राणभूतं तावद् ध्रुवागानं प्रयोगस्य।
नृत्तं वाद्यानुगं प्रोक्तं वाद्यं गीतानुवर्त्ति च।
—आचार्य शार्ङ्गदेव, स० र० स्वरा० पृ० १५।

प्राचीन आचार्यो ने गीत में व्यंजना शक्ति मानकर उससे रस-व्यंजना के सिद्धांत का समर्थन किया है।[१] आनन्दवर्धन तथा उनके विरोधी भी गीत में रस-व्यंजना की शक्ति मानते हैं। उनका कहना है कि अवाचक होने पर भी गीत के शब्द रस-व्यंजक होते हैं।[२] रसकौमुदीकार श्रीकण्ठ ने भी काव्य, गीत एवं नाट्य को निरपेक्ष रूप में यानी अलग-अलग रस का उद्गम स्थान माना है।[3]

गीत नाद-प्रधान होता है। नाद का प्रभाव भाषा से अधिक व्यापक है। काव्य द्वारा रस का आस्वादन भाषामर्मज्ञ सहृदय-व्यक्ति ही करता है, लेकिन गीत से तो बच्चे भी प्रभावित हो जाते हैं।[४] यहाँ तक कि गीत से पशु-पक्षी, पेड़-पौधे भी आनन्दमग्न हो प्राण तक दे देते हैं।[५] श्रीमद्भागवत के अनुसार जड़ प्रकृति भी उससे

---

१ न हि यैवाभिधानशक्तिः सैवावगमनशक्तिः।
अवाचकस्यापि गीतशब्दादेः रसादिलक्षणार्थावगमात्।
ध्व०, कारि०, ३३, वृ० पृ० ३४६।

२ ननु शब्द एव प्रकरणाद्यवच्छिन्नो वाच्यव्यंग्ययोः सममेव प्रतीतिमुपजनयतीति किं तत्र क्रमकल्पनया। न हि शब्दस्य वाच्यप्रतीतिपरामर्श एव व्यंजकत्वे निबन्धनम्। तथा हि गीतादिशब्देभ्योऽपि रसाभिव्यक्तिरस्ति। न च तेषामन्तरा वाच्यपरामर्शः। —ध्व०, कारि० ३३, वृ० पृ० ३३४।

तथा हि गीतध्वनीनामपि व्यंजत्वमस्तीति रसादिविषयम्। न च तेषां वाचकत्वे लक्षणा वा कथंचिल्लक्ष्यते। शब्दादन्यत्रापि विषये व्यंजकत्वस्य दर्शनात् वाचकत्वादिशब्दधर्मप्रकारत्वमयुक्तं वक्तुम्।
—ध्व०, कारि० ३३, वृ०, पृ० ३५८।

३ नाट्ये गीते च काव्ये त्रिषु वसति रसश्शुद्धस्वभावः।
—म० को०, पृ० ५२९।

३ अज्ञातविषयास्वादो बालः पर्य्यङ्किकागतः॥
रुदन् गीतामृतं पीत्वा हर्षोत्कर्षं प्रपद्यते॥

५ वने चरन् तृणाहारश्चित्तं मृगशिशुः पशुः।
लुब्धा लुब्धकसंगीते गीते यच्छति जीवितम्॥

प्रभावित होती है।[1] हर्ष, शोक इत्यादि चित्तवृत्तियों को व्यक्त करने वाले नादरूप सार्वभौम हैं, भाषा के समान वे एकदेशीय नहीं। उदाहरणार्थ कालिदास के मूल काव्य का आनन्द असंस्कृतज्ञ आदमी नहीं ले सकता, लेकिन नाद-सौंदर्योत्पन्न आनंद का अनुभव हर किसी को होता है।

नाट्य-प्रयोग में गीत एवं संगीत के द्वारा चारों तरफ का वातावरण मधुर एवं आकर्षक बना दिया जाता है। नाटक में शास्त्रीय नियमानुसार पहले नान्दी गायन, तदुपरान्त ऋतु-विशेष का गीत गाया जाता है। श्रृंगार-रस प्रधान नाटकों में प्रेमियों तथा प्रेमिकाओं के मनोभाव की अभिव्यक्ति और उनके प्रेम-भाव को दर्शकों तक पहुँचाने में गीत बहुत महत्त्वपूर्ण होता है। प्रेम के गीतात्मक संदेश का अत्यधिक प्रभाव पड़ता है। नन्दी लोग यश एवं प्रशस्ति के गीत गाते हैं तथा वैतालिक गीतों के द्वारा दिन के भिन्न-भिन्न समय की सूचना देते हैं। इसके अलावे गीतों के माध्यम से नैराश्य तथा चिन्ता के मनोभाव की अभिव्यक्ति की जाती है। संस्कृत नाटकों मे रसात्मक अभिव्यक्ति के लिए द्विपदी, जम्भक, चर्चरी, कुलिका, मल्लघट्टी, भिन्नक आदि अनेक प्रकार के गीतों का प्रयोग नाटककारों ने किया है। संगीत-रत्नाकर में शुद्धा नामक गीत के पाँच प्रकार बताये गये हैं—गीतयः पंच-शुद्धाख्या भिन्ना गौड़ा निवेसरा।

साधारणी विशुद्धा स्यादवक्रैर्ललितैः स्वरैः ।।····नाट्यशास्त्र मे स्वाभाविकता के कारण पुरुषों के सस्वर-वाचन तथा स्त्रियो से गीत गाने का विधान किया गया है। इसके अतिरिक्त परम्परागत ध्रुवागीत को नाट्य-प्रयोग के लिए आवश्यक माना गया है। इसकी कई प्रकार से परिभाषा दी गई है। गीति का आधारभूत नियत पदसमूह ध्रुवा कहलाता है।[2] ध्रुवापद नारद आदि संगीतकार के गीतों की परम्परा में आते हैं तथा समुचित वर्णगुम्फ, वाक्य-विन्यास, अलंकार-योजना, छन्दोयति, आंगिक चेष्टा और संगीतात्मक माधुर्य के कारण अधिक आकर्षक होते हैं।[3] ध्रुव संबन्ध के कारण उन्हें ध्रुवा कहते हैं। इसके पाँच प्रकार हैं—प्रावेशिकी, नैष्क्रामिकी, आक्षेपिकी, प्रासादिकी और आंतरा। इसके द्वारा नाटक के पात्रों को

---

१ नद्यस्तदा तदुपधार्य्य मुकुन्दगीतमावर्त्तलक्षितमनो भवभग्नवेगाः ।
आलिंगनस्थगितमुर्तिभुजैर्मुरारेर्गृह्लान्ति पादयुगलं कमलोपहाराः ।।१५।।
—श्रीमद्भागवत, स्कन्ध १०, अ० २१

२ ध्रुवा-गीत्याधारो नियतः पदसमूहः ।
—अभि० शा० सं० २, अध्या० ६, पृ० २७०।

३ ध्रुवसंज्ञानि तानि स्युर्नारदप्रमुखैर्द्विजैः ।
गीतांगानीह सर्वाणि विनियुक्तान्यनेकशः ।।
भरत०, अ० सं०, पृ० ५३०।

गति की सूचना दी जाती है। नाटक के आरम्भ में पात्र रंगमंच पर आकर अनेक रसों तथा अर्थों से युक्त जिस ध्रुवा का गान करे, उसे प्रावेशिकी कहते हैं।[1] जो एक पात्र या सभी पात्रों के निष्क्रमण की सूचना देती है, उसे नैष्क्रामिकी कहते हैं। यह किसी अंक के अन्त में प्रयुक्त होता है।[2] विधि जाननेवाले गुणी नाट्य में क्रम का उल्लंघन करके जिस ध्रुवा का प्रयोग करते हैं, वह आक्षेपिकी कहलाती है।[3] जो ध्रुवा अन्य रस को प्राप्त अवस्था का, अपने आक्षेप से, परिवर्त्तन करके रंगस्थल में प्रसन्नता का संचार कर देती है, वह प्रासादिकी कहलाती है।[4] पात्र के विषादयुक्त, विस्मृत, क्रुद्ध, सुप्त, मत्त, विश्रान्त, मूर्च्छित या पतित होने पर दोषों को ढँकने के लिए प्रयुक्त होनेवाली ध्रुवा अन्तरा कहलाती है।[5] शारदातनय के अनुसार यह गीत किसी अंक के अन्त में गाया जाता है और प्रस्तुत अर्थ का नियोग प्रस्तुत करता है।[6]

कालिदास ने अपने तीनों रूपकों में गीतों का प्रयोग किया है। उनमें प्रयुक्त लय, ताल, स्वर, उपगान, मूर्च्छना आदि शब्दों से ऐसा आभास मिलता है कि उन्होंने रागबद्ध शास्त्रीय गीत तथा लोकगीत (उत्सवों के अवसर पर गाया जानेवाला)

---

१. नाना रसार्थयुक्ता नृणां या गीयते प्रवेशेषु।
प्रावेशिकी तु नाम्ना विज्ञेया या ध्रुवा तज्ज्ञैः॥
—भरत०, बं० सं०, पृ० ५८९।

२. अङ्कान्ते निष्क्रमणे पात्राणां गीयते प्रयोगेषु।
निष्क्रामोपगतगुणां विद्यान्नैष्क्रामिकीं तां तु॥ —वही

३. क्रममुल्लङ्घ्यविधिज्ञैः क्रियते या द्रुतलयेन नाट्यविधौ।
आक्षेपिकी ध्रुवाऽसौ....। —वही

४. या च रसान्तरमुपगतामाक्षेपवशात् प्रसादयति।
राग (रंग) प्रसादजननीं विद्यात्प्रासादिकीं तां तु॥ —वही

५. विषण्णे विस्मृते क्रुद्धे सुप्ते मत्तेऽथ सङ्कुले।
गुरुभारावसन्ने च मूर्च्छिते पतिते तथा॥ —भरत, का० सं०
दोषप्रच्छादने या च गीयते सान्तरा ध्रुवा॥
—भरत, बं० सं०, पृ० ५८९।

६. भावप्रकाशन पृ० ३०२।

दोनों का उपयोग किया है। कविवर कालिदास द्वारा अनेक स्थानों पर प्रयुक्त गीत' शब्द से प्रतीत होता है कि प्रत्येक प्रकार के गीत, गीत कहे जाते थे। उनके रूपकों में प्रयुक्त सभी गीत प्राय: प्राकृत में हैं। यहाँ कालिदास के प्रयुक्त गीतों के कुछ उदाहरण प्रस्तुत किये जाते हैं। अभिज्ञानशाकुन्तलम् नाटक के प्रारंभ में ग्रीष्मकाल के अवसर पर सूत्रधार के निर्देशानुसार नटी निम्नांकित गीत गाती है :

> ईषदीषच्चुम्बितानि भ्रमरैः सुकुमारकेसरशिखानि।
> अवतंसयन्ति दयमानाः प्रमदाः शिरीष कुसुमानि ॥ ४ ॥

इस गीत में नाटक की कथा की ओर संकेत किया गया है। यहाँ शिरीष-पुष्प के रूप में शकुन्तला को प्रस्तुत किया गया है तथा भ्रमर के रूप में दुष्यन्त के द्वारा उसके अस्थायी मिलन और आस्वादन की ओर भी संकेत किया गया है। सूत्रधार कहता है कि इस मनोमुग्धकारी मधुर गीतराग के प्रभाव के कारण राग द्वारा बँधी हुई चित्तवृत्तिवाली यह सभा (दर्शकगण) चारों तरफ चित्रलिखित की तरह हो गयी।

अभिज्ञानशाकुन्तल के तृतीय अंक में शकुन्तला अपनी काम-पीड़ा की अभिव्यक्ति करती है :

> तुज्झ णजाणे हिअअं मम उण कामो दिवावि रत्तिम्पि।
> णिग्घिण ! तवइ बलीअं तुइ वुत्त मणोरहाए अंगाइं ॥ १३ ॥

इसके पंचम अंक के आरम्भ में राजा दुष्यन्त को रानी हंसपादिका का गीत नेपथ्य के अन्दर से सुनाई पड़ता है :

> अहिणवमहुलोलुवो तुमं, तह परिचुम्बिअ चूअमञ्जरिं।
> कमलवस इमेत्तणिव्वुदो, महुअर ! विम्हरिओ सि णं कहं ? ॥१॥

---

१. तवास्मि गीतरागेण हारिणा प्रसभं हृतः। —अभि०, अंक १, पृ० ५।
—हला चिन्तितं मया गीतवस्तु। —वही, अंक ३, पृ० ४९।
—कलाविशुद्धायाः गीतेः स्वरसंयोगैः श्रूयते।
अहो रागपरिवाहिनी गीतिः। —वही, अंक ५, पृ० ७९
—आकाशे सुरगणसेविते समन्तात्किं नार्यः कलमधुराक्षर प्रगीताः।
—विक्रम० १।३
—व्रजतुतव निदाघः कामिनीभिः समेतो निशि सुललितगीते हर्म्यपृष्ठे सुखेन। —ऋतु० १।२८
—सा शूरसेनाधिपतिं सुषेणमुद्दिश्य लोकान्तगीतकीर्त्तिम्। —रघु० ६।४५

इस गीत का व्यंग्यार्थ यह है कि तुम महारानी वसुमति से प्रेम करने के कारण मुझ हंसपादिका को क्यों भूल गये हो ? इस गीत से दूसरी प्रतिध्वनि भी निकलती है। यहाँ दुष्यन्त ही भौंरा है, शकुन्तला आम्रमंजरी है। शकुन्तला का रसपान (संभोगादि) कर राजा अपनी राजधानी में वापस आ गया है। संभवत: कवि ने शकुन्तला के स्मरण दिलाने के लिए यह गीत गवाया हो।

मालविकाग्निमित्रम् नाटक के द्वितीय अंक में मालविका ने राजा अग्निमित्र के प्रति अपने प्रेम की अभिव्यंजना करते हुए आत्मसमर्पण की भावना सूचित की है :

दुल्लहो पियो मे तस्सिं भव हिअअ णिरासं ।

अम्हो अपङ्गओ मे पप्फुरइ किं वि वामओ ।

एसो सो चिरदिट्ठो कहं उवणइदव्वो ।

णाह मं पराहीणं दुइ गणअ सतिण्हं ॥४॥

इस चतुष्पदी में विप्रलम्भ शृंगार की कोमल अभिव्यक्ति हुई है। इसका गूढ़ प्रेम-व्यंजक भाव हृदय के अन्तस्तल को छूता है। यहाँ यह गीत—गीत के साथ कला-पूर्ण अभिनय तथा अभिनय के साथ साज-बाज की रमणीय पृष्ठभूमि—सिर्फ राजा अग्निमित्र पर ही नहीं, अपितु संपूर्ण सामाजिकों (द्रष्टागण) पर स्थायी प्रभाव डाल देता है।

विक्रमोर्वशीयम् त्रोटक (तोटक) के द्वितीय अंक में उर्वशी एक भूर्जपत्र पर लिख-कर राजा पुरूरवा के प्रति अपने हार्दिक अनुराग तथा बेचैनी की अभिव्यक्ति करती है :

सामिअ संभाविआ जह अहं तुए अमुणिआ ।

तह अणुरत्तस्स जह णाम तुह उवरि ॥१२॥

णं मे लुलिअपारिजाअसअणिज्जयम्मि होन्ति ।

णन्दणवणवादा वि अच्चुराहआ सरीरए ॥१३॥

इस गीत से यह व्यंजित होता है कि वह (उर्वशी) स्वयं समर्पण कर रही है, अत: तिरस्कारमय की निवृत्ति अपने-आप हो जाती है। अत: स्वच्छन्दभाव से उसके प्रति राजा प्रेम प्रकट करें। इसके चतुर्थ अंक में उर्वशी के विरह में व्यथित उन्मत्त की-सी स्थिति में अपने हृदय के अनुराग को व्यक्त करने के लिए जम्भलिका[1]

---

१. विक्रमोर्वशीयम् ४।३ ।

खण्डधारा[1], चर्चरी[2], खुरक[3], मन्दघटी[4], कुटिलिका[5] आदि अनेक गीत-प्रकारों का उपयोग किया गया है।

वाद्य

नाट्य में गीत के साथ वाद्य का होना आवश्यक है। संगीत में इन दोनों की अनिवार्य स्थिति मानी गयी है। रगभूमि के वातावरण को प्रशान्त बनाने में गीत से साथ वाद्य भी अपेक्षित है। प्राचीन वाद्यवेत्ताओं ने वाद्ययंत्रो को चार भागों में विभक्त किया है—(१) तन्त्रीगत, (२) आवद्ध एवं अवनद्ध, (३) सुषिर (रन्ध्रयुक्त) और (४) घन (धातुनिर्मित)। लक्ष्य के अनुसार संगीत-रत्नाकर में वाद्ययन्त्रों के शुष्क, गीतानुग, नृप्तानुग एवं द्वयानुग नामक चार प्रकार बताये गये हैं।[6] कालिदास ने गीतानुग शब्द का प्रयोग किया है।[7]

साधारणतः तन्त्रीवाद्ययंत्र को वीणा कहते हैं। संगीतदामोदर में उन्तीस प्रकार की वीणाओं का उल्लेख मिलता है। कालिदास ने प्रायः वीणा शब्द का प्रयोग किया है।[8] संगीतरत्नाकर के उल्लेखानुसार उन्होने वल्लकी[9], परिवादिनी[10] तथा तंत्री[11] का भी प्रयोग किया है। अवनद्धवाद्य में चर्मवद्ध वाद्य आते हैं। कालिदास ने

---

१. विक्रमोर्वशीयम् ४।४

२. वही, ४।११, २४, ३४, ४५, ५४, ५८, ७०, ७४।

३. वही, ४।२३

४. वही, ४।४४

५. वही, ४।५३

६. पुनश्चतुर्विधं वाद्यं वक्ष्ये लक्ष्यानुसारतः।
शुष्कं गीतानुगं नृत्यानुगमन्यद् द्वयानुगम् ॥
चतुर्थैतिमतं वाद्यं तत्र शुष्कं यदुच्यते।
यद्विना गीतनृत्याभ्यां तद्घोष्ठीत्युच्यते जनैः ॥ —संगीतरत्नाकर।

७. श्रोत्रेषु सम्मूर्च्छति रक्तमासां गीतानुगं वारिमृदगवाद्यम् ॥—रघु०, १६।६४

८. वही ८।३३, १९।३५। पूर्वमेघ, २६, ४९।

९. रघु०, ८।४१। ऋतु० १।८

१०. रघु० ८।३५

११. ऋतु०, १।३

इसके अन्तर्गत मुरज[1], पुष्कर[2], मृदंग[3], दुन्दुभि[4], पटह[5], मर्दल[6] आदि वाद्यों को लिया है। सुषिर वाद्यों में शंख, शृंग एवं वंशी के सभी प्रकार आते हैं। कालिदास ने वेणु[7], कीचक[8], शंख[9] तथा तूर्य[10] को इसके अन्तर्गत ग्रहण किया है। घनवाद्य के अन्तर्गत कालिदास के ग्रन्थ में घण्टा[11] का नाम प्रयुक्त किया गया है।

अभिनय

भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र में लिखा है कि आभिमुख्य के द्योतक अभि उपसर्ग के साथ णी ञ् धातु से योजित करने पर उसके अच् प्रत्ययान्त प्रयोग से जिस अर्थ की प्रतीति होती है, उसे अभिनय कहते हैं :

अभिपूर्वस्य णीञ्धातुराभिमुख्यार्थनिर्णये ।
यस्मात् प्रयोगं नयति तस्मादभिनयः स्मृतः ॥

इस व्युत्पत्ति का स्पष्टीकरण करते हुए उन्होंने बताया है कि जिसके सांगोपांग प्रयोग द्वारा, नाट्य के अनेक अर्थों का, श्रोता या सामाजिक के हृदय से विभावन या रसास्वादन कराया जाय, उसे अभिनय कहते हैं :

विभावयति यस्माच्च नानार्थान्हि प्रयोगतः ।
शाखाङ्गोपाङ्गसंयुक्तस्तस्मादभिनय स्मृतः ॥

---

१. धैर्यावलम्बिनमपि त्वरयति मां मुरजवाद्यरागोऽयम् ।
अवतरतः सिद्धिपथं शब्दः स्वमनोरथस्येव ॥१।२२ —मालवि०

२. जीमूतस्तनित विशङ्किभिर्मयूरै-
रुद्ग्रीवैरनुरसितस्य पुष्करस्य ।
निर्ह्रादिन्युपहित मध्यमस्वरोत्था
मायूरी मदयति मार्जना मनांसि ॥१।२१ —मालवि०

३. वही, अंक १, पृ० २७९, (नेपथ्ये मृदंग ध्वनिः) ।

४. रघु०, १०।७६,

५. वही, ९।७१

६. ऋतु०, २।४

७. रघु०, १९।३५

८. वही, २।१२, कुमार०, १।८, पूर्वमेघ—६०

९. वही, ६।१९, १७।६३, ७।६४, कुमार० १।२३

१०. रघु०, ३।३९, ६।५६, १०।७६, १६।८७

११. रघु०, १३।३८—४०

स्पष्टतः अभिनय का उद्देश्य है कि किसी पद या शब्द के भाव को मुख्य अर्थ तक पहुँचा देना, अथवा दर्शकों के हृदय को भाव (अर्थ) से अभिभूत करना —अभिनयति हृदयगतभावान् प्रकाशयति।—विश्वनाथ कविराज ने अभिनय को अवस्थानुकार कहा है—भवेदभिनयोऽवस्थानुकारः।—अर्थात् मन के क्रोध आदि भाव प्रकट करनेवाली आंगिक चेष्टाओं द्वारा किसी विषयी व्यक्ति का प्रकृत अनुकरण करके प्रदर्शित करने को अभिनय कहते हैं। लेकिन अभिनय में बाहरी कार्यों का प्रदर्शन करना उतना अभीष्ट नहीं, प्रत्युत प्रकृत मन का भाव व्यक्त करना ही इसका मुख्य उद्देश्य होता है। विश्वनाथ के उपर्युक्त लक्षण से स्पष्ट है कि अभिनय का मूल आधार अभिनय है। जैसे—अभिज्ञानशाकुन्तलम् में शकुन्तला का अभिनय करनेवाली अभिनेत्री आवेग सूचित करनेवाले अपने अनुभावों के माध्यम से सहृदय दर्शकों को आसानी से यह प्रतीति करा देती है कि वह भौंरे से बचने की चेष्टा कर रही है।

आन्तरिक भावों की अभिव्यक्ति के लिए शरीर तथा मन की एकाग्रता सर्वथा अपेक्षित है। आचार्य नन्दिकेश्वर ने लिखा है कि नृत्य ऐसा होना चाहिए, जो गीत, अभिनय, भाव और ताल से समन्वित हो। नृत्य के समय वाणी द्वारा गायन करना चाहिए। गीत के अभिप्राय को हस्त-मुद्राओं द्वारा, भावों को नेत्र-संचालन द्वारा तथा ताल-छन्द की गति को दोनों पैरों द्वारा प्रदर्शित करना चाहिए।[1] उन्होंने यह विधान किया है कि अभिनय-काल में हस्त-मुद्राओं, भावों और गतिभेदों को प्रदर्शित करते समय नर्त्तक-नर्त्तकी को चाहिए कि जिस दिशा की ओर वे हाथों का संचालन करें उसी तरफ नजर डालनी चाहिए। जिधर नजर गड़ावें वहीं नर्त्तकी का मन भी केन्द्रित होना चाहिए। जहाँ मन केन्द्रित हो, उसी के अनुरूप भावाभिव्यक्ति भी होनी चाहिए। इसी तरह भावाभिव्यक्ति के अनुरूप ही रस-सृष्टि भी होनी चाहिए।[2] भरत मुनि का विचार इनसे भिन्न है। जहाँ नन्दिकेश्वर ने अभिनय में रसानुभूति ही के लिए—हाथ, आँख, मन और भावों के तारतम्य पर अधिक जोर दिया है, वहाँ भरत मुनि ने वय, वेष, गति और

---

१. नृत्यं गीताभिनयनं भावतालयुतं भवेत्।—३५
आस्येनालम्बयेद् गीतं हस्तेनार्थं प्रदर्शयेत्।
चक्षुर्भ्यां दर्शयेद् भावं पादाभ्यां तालमाचरेत्॥३६॥—अभिनयदर्पण

२. यतो हस्तस्ततो दृष्टिर्यतो दृष्टिस्ततो मनः।
यतो मनस्ततो भावो यतो भावस्ततो रसः॥३७॥—वही।

पाठ्य के तारतम्य को विशेप महत्त्व दिया है।[1] इस तरह शरीर और मन की एकाग्रता से ही मुद्राओं, भावों तथा गतियों का सम्यक् रूप से प्रयोग किया जा सकता है। उन्हीं के तारतम्य से रसनिष्पत्ति संभव है। यही रस-सृष्टि नाट्य का प्रमुख लक्ष्य है।

अभिनय के अन्तर्गत नृत्य और नृत्त दोनों आ जाते हैं। कालिदास-विरचित मालविकाग्निमित्रम् की मालविका ने अभिनय के द्वारा अपने हृदय के अनुराग को व्यक्त किया है। अभिनय द्वारा चित्तवृत्ति का साधारणीकरण मालविका के नृत्य की विशेषता थी।[2] राजा अग्निमित्र ने उसकी नृत्यावस्था की आंगिक स्थितियों का वर्णन किया है।[3] परिव्राजिका, आचार्य गणदास के अनुरोध पर मालविका के नृत्य के गुण-दोपों के विवेचन के प्रसंग में अपने विचार की अभिव्यक्ति करती हुई कहती है—(अपने) अंगों को वाणी देकर उनके अर्थ अच्छी तरह बता दिया गया है, पैर लय के अनुसार चले, भावों के प्रदर्शन में तन्मयता रही, हस्त-संचालन द्वारा किया जानेवाला अभिनय मृदु था, अभिनय में परिवर्त्तनों का ऐसा ताँता बँधा कि रस का एक भाव झट दूसरे भाव का स्थान लेता जाता था, फिर भी राग का समाँ वही रहा।[4] इससे मालविका की अभिनय-निपुणता सिद्ध होती है। इसके साथ-साथ कालिदास के संगीत एवं नाट्यशास्त्र के पारखी होने का भी पता चलता है।

---

१. वयोऽनुरूपः प्रथमं तु वेषो, वेषानुरूपश्च गतिप्रचारः।
गतिप्रचारानुगतं च पाठ्ये, पाठ्यानुरूपोऽभिनयश्च कार्यः ॥१३।६९
—ना० शा०

२. मालवि०, २।५

३. वामं सन्धिस्तिमितवलयं न्यस्य हस्तं नितम्बे
कृत्वा श्यामाविटपसदृशं स्रस्तमुक्तं द्वितीयम्।
पादाङ्गुष्ठालुलितकुसुमे कुट्टिमे पातिताक्षम्
नृत्तादस्याः स्थितमतितरां कान्तमृज्वायतार्द्धम् ॥२।६ —वही।

४. अङ्गैरन्तर्निहितवचनैः सूचितः सम्यगर्थः
पादन्यासो लयमनुगतस्तन्मयत्वं रसेपु।
शाखायोनिर्मृदुरभिनयस्तद्विकल्पनानुवृत्तौ
भावो भावंनुदति विषयाद्रागबन्धः स एव ॥२।८ —वही।

अभिनय के प्रकार

नाट्यशास्त्र (६।२३, ८।१०) के अनुसार अभिनय चार प्रकार से सम्पन्न किया जाता है[1]—आंगिक, वाचिक, आहार्य और सात्त्विक। इन चारों भेदों के अधिष्ठाता भगवान् शंकर हैं। आचार्य नन्दिकेश्वर ने कहा है कि ये चार अभिनय शंकर के चार स्वरूप हैं :

> आङ्गिकं भुवनं यस्य वाचिकं सर्ववाङ्मयम्।
> आहार्यं चन्द्रतारादिस्तं नुमः सात्त्विकं शिवम् ॥१॥
>
> —अभिनयदर्पण

कालिदास ने आंगिक, वाचिक आदि अभिनय का नृत्य से क्या सम्बन्ध है, इसे अपने रघुवंश महाकाव्य में व्यक्त किया है। मालविकाग्निमित्रम् के निम्नलिखित श्लोक में अभिनय के इन भेदों का उल्लेख मिलता है :

> जनभिमनुरक्तं विद्धि नाथेति गेये वचनमभिनयन्त्याः
> स्वाङ्गनिर्देशपूर्वम्।
> प्रणयगतिमदृष्ट्वा धारिणीसन्निकर्षादहमिव सुकुमार
> प्रार्थनाव्याजमुक्तः ॥२।८॥

यहाँ 'वचनमभिनयन्त्या' पद में वाचिक अभिनय, 'स्वाङ्गनिर्देश' में आंगिक तथा व्यक्त प्रेम सात्त्विक अभिनय में आता है। मालविका के पंचांगाभिनय से गीत, वाद्य और नृत्य—ये ही तीन आंगिक, सात्त्विक और वाचिक अभिनय से कालिदास का आशय होगा। मालविका के छलिक (चलित) नृत्य से भी इसी की पुष्टि होती है। नेत्र तथा मुख के हाव भाव एवं हाथ-पैर आदि अंगों के संचालन द्वारा किसी प्रकृत विषय के अनुसार अनुकरण को आंगिक अभिनय कहते हैं। नन्दिकेश्वर के अनुसार अंगों द्वारा प्रदर्शित किये जानेवाले अभिनय को आंगिक अभिनय कहते हैं। नाट्यशास्त्र के अनुसार इसके शारीरज, मुखज और चेष्टाकृत तीन भेद हैं।

बीभत्स, करुण, रौद्र आदि रसपूर्ण वाक्यों से मानसिक भावों के अनुकरण को वाचिक अभिनय कहते हैं।[2] नन्दिकेश्वर ने लिखा है कि जिस नृत्य में वाणी द्वारा काव्य (गीत-संगीत) और नाटकादि (सम्वादादि) का अभिव्यंजन किया जाय

---

१. आङ्गिको वाचिकश्चैव आहार्यः सात्त्विकस्तथा।
ज्ञेयस्त्वभिनयो विप्राश्चतुर्धा परिकीर्त्तिताः। —नाट्यशास्त्र।

२. आङ्गिकोऽङ्गैर्निदर्शितः। —अभिनयदर्पण।

उसे वाचिक अभिनय कहते हैं।[1] इसे नाट्य का शरीर कहा गया है।[2] इसके ज्ञान के लिए नाट्यशास्त्र में गति, काकु, नाम, आख्यात, निपात, उपसर्ग, समास, तद्धित, विभक्ति एवं सन्धि आदि का विधान किया गया है। भरत मुनि ने पाठ्य के स्वर, स्थान, वर्ण, काकु, अलंकार और अंग—छह भेद बताये हैं। उन्होंने पाठ्य अंगों के अलावा उसकी विच्छेद, अर्पण, विसर्पण, विसर्ग, दीपन तथा प्रशमन—छह स्थितियों का वर्णन किया है। इन स्थितियों का प्रयोग भिन्न-भिन्न रसावस्थाओं में अलग-अलग करना चाहिए।

हार, और केयूर आदि वस्त्राभूषणों से सुसज्जित होकर जिस नाट्य का प्रदर्शन किया जाता है, उसे आहार्य अभिनय कहते हैं।[3] इस अभिनय का सम्बन्ध प्रसाधन, वेष-भूषा तथा साज-शृंगार से है। भरत मुनि ने इसे नेपथ्य-कर्म कहा है। कालिदास ने नेपथ्य-विधान शब्द द्वारा भरत के इस कथन का समर्थन किया है।[4] हम कह सकते हैं कि वस्त्राभूषणादि प्रसाधनों द्वारा प्रकृत वस्तु का तदनुरूप अनुकरण ही आहार्य है।

नन्दिकेश्वर के अनुसार जिस नाट्य में भावज्ञ व्यक्ति द्वारा सात्त्विक भावों के माध्यम से नृत्य का प्रदर्शन किया जाता है, उसे सात्त्विक अभिनय कहते हैं।[5] भरत मुनि ने इसकी श्रेष्ठता बताते हुए लिखा है कि जिस नाट्य में, सात्त्विक अभिनय की मुख्यता होती है, उसे श्रेष्ठ[6], जिसमें अन्य अभिनयों की तरह उसकी सामान्य स्थिति होती है, उसे मध्यम और जिसमें अन्य अभिनयों की अपेक्षा उसकी स्थिति गौण होती है अथवा बिलकुल अभाव रहता है, उसे अधम कहा जाता है। आचार्य अभिनवगुप्त का कहना है कि जिसे अभिनय कहते हैं, वह तो वस्तुतः सात्त्विक अभिनय ही है, न कि आंगिक, वाचिक, आहार्य। कहा जाता है कि नट अभिनय करता है, इसका अर्थ यही है कि नट की चित्तवृत्ति रामादि नायकों की चित्तवृत्ति से एकरस हो चुकी है और उसके कार्य-कलाप में सहृदय सामाजिक

---

१ वाचा विरचितः काव्यनाटकादि तु वाचिकः। ।३९।। —अभिनयदर्पण

२ वाचि यत्नस्तु कर्त्तव्यो नाट्यस्येयं तनुः स्मृता।
अङ्गनेपथ्यतत्वानि वाक्यार्थं व्यञ्जयन्ति हि ।। —नाट्यशास्त्र ५।२।

३. आहारो हारकेयूरवेषादिभिरलंकृतः ।।४०।। —वही

४. सूत्रधारः—(नेपथ्याभिमुखमवलोक्य) आर्ये! यदि नेपथ्यविधानमवसितम्, इतस्तावदागम्यताम्। —अभि० शा०, प्र० अं०, पृ० ५

५ सात्त्विकः सात्त्विकैर्भावैर्भावज्ञेन विभावितः ।।४०।। —वही

६. सत्त्वातिरिक्तोऽभिनयो ज्येष्ठ इत्यभिधीयते।

रामादि नायकों के कार्य-कलाप का दर्शन कर रहे हैं। अतः नाट्य को सत्त्व पर आधारित मानकर कहा गया है—सत्त्वे नाट्यं प्रतिष्ठितम्।

इन चार अभिनय-प्रकारों के अतिरिक्त भरत ने अपने नाट्य में सामान्याभिनय एवं चित्राभिनय का विवेचन अलग-अलग दो अध्यायों में किया है। उन्होंने सामान्याभिनय को वाचिक, आंगिक एवं सात्त्विक अभिनयों का समाहित रूप भी कहा है।[1] चित्राभिनय के अन्तर्गत सन्ध्या, प्रभात, सूर्य, चन्द्र, नदी, वन तथा पर्वत वगैरह प्राकृतिक तत्त्वों एवं परिस्थितियों का आंगिक अभिनय की विविध मुद्राओं के माध्यम से प्रतीक-रूप में अभिनय किया जाता है।[2] भरत के परवर्ती नाट्याचार्यों ने सामान्याभिनय और विशेषाभिनय को नहीं स्वीकार किया है।[3] भोज ने इन दोनों अभिनयों को आंगिकादि चार अभिनयों का ही समाहित रूप माना है।[4] लेकिन नाट्य-प्रयोग की व्यावहारिक दृष्टि से भरत ने इन दोनों अभिनय-प्रकारों की उपयोगिता स्वीकार की है और इसीलिए उन्होंने इनका अलग से विवेचन किया है।[5] कालिदास के रूपकों के अभिनय में इन दोनों की सर्वथा अपेक्षा प्रतीत होती है। प्रमदवन, वायुयान पर केशी नामक दैत्य द्वारा उर्वशी को ले भागना; शकुन्तला द्वारा वृक्ष को सींचते समय झुरमुट की आड़ से दुष्यन्त का देखना आदि उनके रूपकों में कई दृश्य एवं घटनाएँ हैं, जिनका रंगमंच पर प्रदर्शन चित्राभिनय द्वारा ही सम्भव है। अतः कालिदास की दृष्टि में ये दोनों अभिनय-प्रकार भी अभिनय की सर्वांगीण सफलता के लिए आवश्यक थे। नाट्य-प्रयोग में उपयोगिता को ध्यान में रखकर आगे उपर्युक्त आंगिक, आहार्य, सामान्य एवं चित्राभिनय पर यथाप्रसंग संक्षिप्त रूप से विचार किया जा रहा है।

आंगिक अभिनय के प्रकार—मनुष्य अपने विभिन्न अंगों (सिर, हाथ, वक्ष, पार्श्व, कटि एवं पाद), उपांगों (नेत्र, भ्रू, नासिका, अधर, कपोल और चिबुक) तथा प्रत्यंगों की विविध चेष्टाओं एवं भाव-मुद्राओं द्वारा जिस रमणीय अर्थ की सृष्टि करता है, वह आंगिक अभिनय है। नाट्यशास्त्र में भरत ने आंगिक

---

१. सामान्याभिनयो नाम ज्ञेयो वागङ्गसत्त्वजः २२।१।
—ना० शा० (गा० ओ० सी०)

२. अङ्गाभिनयस्येह यो विशेषः क्वचित् क्वचित्।
अनुक्त उच्यते यस्मात् स चित्राभिनयः स्मृतः।। २५।७ (का० भा०)

३ सरस्वतीकण्ठाभरण, २।१५७; —ना० द०, पृ० १७०

४. सरस्वतीकण्ठाभरण, पृ० २६५।

५. ना० शा० ८।१३ (का० भा०), गा० ओ० सी० ८।१४।

अभिनय के शारीरज, मुखज एवं चेष्टाकृत – तीन भेद किये हैं।[1] ये तीनों भेद विशिष्ट भावदशा एवं विचार-परम्परा के प्रतीक-स्वरूप हैं। अभिनय की दृष्टि से ये अंग, उपांग और प्रत्यंग आदि परस्पर सम्बन्धित है। इनका संचालन विशिष्ट विधियों के के अनुसार विशेष भावदशा की अभिव्यक्ति के लिए होता है।[2] कालिदास ने अपने नाट्य-प्रयोग में इनका भलीभाँति उपयोग किया है। मालविका के नृत्य में इसका स्वरूप दर्शनीय है।[3]

आंगिक अभिनयों के मुखज नामक भेद मे शिर से होनेवाले भेदों की संख्या निम्नलिखित १३ है : आकंपित, कंपित, धूत, विधूत, परिवाहित, आधूत, अवधूत, अंचित, निहंचित, परावृत, उत्क्षिप्त, अधोगत एवं लोलित।[4]

अंगोपांगों में अभिनय की दृष्टि से 'दृष्टि' का सर्वाधिक महत्त्व है। भरत का विचार है कि मनुष्य की आँखों की भाषा और भाव-भंगिमा में ही नाट्य प्रतिष्ठित रहता है। अतः उन्होंने दृष्टि के विविध रूपों, उनकी भाव-भंगिमाओं तथा अर्थ-परम्पराओं के विनियोग का विस्तारपूर्वक विवेचन किया है। नाट्य-शास्त्र में दृष्टि के कुल ३६ भेद बताये गये हैं।[5] (क) रस-दृष्टि—कान्ता, हास्या; भयानका, करुणा, अद्भुता, रौद्रा, वीरा, वीभत्सा; (ख) स्थायी दृष्टि—स्निग्धा, दृष्टा, दीप्ता, क्रुद्धा एवं भयन्विता आदि ८। (ग) संचारी दृष्टि—शून्या, मलिना, श्रान्ता, ग्लाना, मुकुला, अभितप्ता, शंकिता एवं विषण्णा आदि २०।

---

१. ना० शा० ८।१३ (का० मा०), गा० ओ० सी० ८।१४।

२. वही, ८।१६ (गा० ओ० सी०), अभि० द०, पृ० ६-७।

३. राजा—(आत्मगतम्)—अहो सर्वस्थानानवद्यता रूपस्य।
तथाहि—दीर्घाक्षं शरदिन्दुकान्ति.......तथास्या वपुः॥ २।३।
—मालवि०, अंक २

—मालवि० अंक २ का श्लोक ४ तथा ५।

राजा (आत्मगतम्)—अहो सर्वास्ववस्थासु चारुता शोभान्तरं पुष्यति।
तथाहि—वामं सन्धिस्तिमितवलयं ...... कान्तमृज्वायतार्धम्। २।६
—मालवि०, पृ० १०९

४. ना० शा० ८।१८,१९ (गा० ओ० सी०)

५. षटत्रिंशत् दृष्ट्योह्येताः तासु नाट्यं प्रतिष्ठितम्।
—ना० शा० ८।५५ (गा० ओ० सी०)।

उन्होंने दृष्टि के अन्तर्गत ही भौंह, तारा तथा पुट आदि का अलग-अलग विवेचन किया है। साथ ही तारा के नौ भेद, पुटकर्म के नौ और भौंहों के सात भेदों और रसभावानुसार उनके विनियोग का विधान भी किया गया है। ये भेद अनन्त अर्थ-परम्पराओं से समाविष्ट रहते हैं। कालिदास के रूपकों में ये भेद सर्वत्र दर्शनीय हैं। भरत के निर्धारित ये दृष्टि-भेद शास्त्रीय एवं व्यावहारिक—दोनों दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण हैं।

आन्तरिक भावों के प्रदर्शन में नासिका, कपोल, अधर और चिबुक का बहुत महत्त्व है। इनकी प्रत्येक मुद्रा विशेष भाव एवं रस की भाषा बनकर रूपायित होती है। नाट्यशास्त्र में नासिका (भेद—नता, मन्दा, विकृष्टा, सोच्छ्वासा, विकूणिता और स्वाभाविका), कपोल (भेद—क्षाम, फुल्ल, पूर्ण, कम्पित और सम) तथा अधर (भेद—विवर्त्तन, कंपन, विसर्ग, विनिगूहन, संदष्टक एवं समुद्ग) के छह तथा चिबुक के सात (भेद—कुट्टन, खण्डन, छिन्न, चिकिन, लोहन और सम आदि) और ग्रीवा के नौ (भेद—समा, नता, उन्नता; त्र्यस्ता, रेचिता, कुंचिता, अंचिता, वलिता एवं विकृता) कर्मों का विवेचन किया गया है। इनके विविध कर्मों का विनियोग श्रृंगार, वीर, करुण, रौद्र आदि रसों तथा विविध भावों के योग में होता है।

रस-दृष्टियों की तरह ही आंगिक अभिनय में मुखराग का अत्यधिक महत्त्व है। आचार्य भरत का अभिमत है कि दृष्टि से शाखा एवं अंगोपांगों से युक्त अभिनय भी यदि मुखरागविहीन होता है तो वह नाट्य की शोभा को नहीं बढ़ा पाता है। लेकिन मुखराग-समन्वित अभिनय से अर्थ का प्रकाशन उसी तरह होता है, जैसे अंधकारपूर्ण रात्रि में चन्द्रकिरणों के प्रकाश से रात्रि का।[1] मुखराग के निम्नांकित चार प्रकार हैं :

(क) स्वाभाविक (प्रकृत एवं तटस्थ दशा में)
(ख) प्रसन्न (अद्भुत, हास्य एवं श्रृंगार में)
(ग) रक्त (वीर, रौद्र, ममता तथा रुग्णावस्था में)
(घ) श्याम (भयानक एवं वीभत्स में)

---

१. शाखाङ्गोपाङ्गसंयुक्तः कृतो ह्यभिनयः शुभः।
मुखरागविहीनस्तु नैव शोभान्वितो भवेत्।
शारीराभिनयोऽल्पोऽपि मुखरागसमन्वितः।
द्विगुणां लभते शोभां रात्राविव निशाकरः। —ना०शा० ८।१६५ख, १६७क
(गा० ओ० सी०)

इसके सम्बन्ध में भरत की प्रयोगमूलक दृष्टि यह है कि नयनाभिनय तथा मुखराग दोनों में समन्वय-विधान होने पर ही नाट्य संभव होता है।[1] इस आशय का समर्थन कालिदास ने भी किया है।[2]

आंगिक अभिनय का लोक-जीवन की अन्तश्चेतना, अनुभूति की आंगिक अभिव्यक्ति तथा उसकी लोकानुमोदित पद्धति से सम्बन्ध है। अतः भरत का अभिमत है कि अभिनयक्रम में लोकानुसारिता का परित्याग नहीं होना चाहिए। इनका प्रदर्शन लोक-जीवन की परम्पराओं से होता है।

आंगिक अभिनय के प्रकारों में हस्ताभिनय का सर्वाधिक महत्त्व है। हस्ताभिनय के माध्यम से सभी प्रकार के नाट्यार्थों की अभिव्यक्ति संभव है।[3] अपने नाट्यशास्त्र में भरत ने लोक-प्रचलित हस्त की उन मुद्राओं, भाव-भंगिमाओं के आधार पर ही नाट्यधर्मी के परिप्रेक्ष्य में, उनमें कुछ विशेष चमत्कारी गुणों को समन्वित कर शास्त्रसम्मत रूप प्रदान किया है। स्पष्ट है कि उनकी दृष्टि में अभिनयशास्त्र का प्रवर्त्तक लोक-व्यवहार है।[4] प्रत्येक हस्त-मुद्रा में भाव एवं रस की आन्तरिक प्रेरणा रहती है।

हस्ताभिनय की मुद्रा और भावभंगिमाओं की रचना में देश, काल, प्रयोग, अर्थयुक्ति के अलावा करण कर्म, स्थान तथा प्रचार आदि का बहुत महत्त्व है।[5] नाट्य-प्रयोग हस्ताभिनय का विशिष्ट आधार है।

भरत के विचार से समुचित भाव-प्रकाशन और नाट्यार्थ की अभिव्यक्ति के लिए हस्ताभिनय के साथ मुख, भ्रू, नेत्र तथा कपोल आदि का यथोचित

---

१. नयनाभिवयोऽपि स्यात् नानाभाव रसस्फुटः।
मुखरागान्वितो यस्मात् नाट्यमत्र प्रतिष्ठितम्।
यथानेत्रं प्रसर्पेत् मुखभ्रूदृष्टिसंयुतम्।
तथाभावरसोपेतं मुखरागं प्रयोजयेत्।

—ना० शा० ८।१६७—१६९ (गा०ओ०सी०)

२. अङ्गैरन्तर्निहितवचनैः""स एव ॥२।८॥ —मालवि०, अंक २, पृ० ११५

३. नास्ति कश्चिदहस्तस्तु नाट्येऽर्थोऽभिनयं प्रति।—ना०शा० ९।१६१ (गा० ओ० सी०)।

४. ना० शा० ९।१६३ (गा०ओ०सी०)।

५. देशकालं प्रयोगं चाप्यर्थयुक्तिमवेक्ष्यतु।
हस्ताह्येते प्रयोक्तव्याः नृणां स्त्रीणां विशेषतः।—ना० शा० ९।१६४ (गा० ओ० सी०)।

—ना०शा० ९।१७१ (गा० ओ० सी०)।

संचालन तथा मुखराग का अभिव्यंजन अपेक्षित है।[1] मालविका के नृत्य में इस तथ्य की पुष्टि होती है।[2]

लोकधर्मी नाट्य-परम्परा द्वारा आन्तरिक चित्तवृत्ति का प्रकाशन एवं बाह्य अवयव-रूपों का प्रतीक-विधान होता है। अभिमान-सूचन में 'पताका' नामक हस्तमुद्रा का तथा कमल के समान सुन्दर पदार्थ के अभिव्यंजन में 'पद्मकोश' नामक हस्तमुद्रा का प्रयोग होता है। नाट्य-प्रयोग में 'जनान्तिक' ऐसी ही नाट्यधर्मी विधि है, जिसका प्रयोग त्रिपताका मुद्रा से होता है। हस्ताभिनय के संदर्भ में चारों करणों का प्रयोग नाट्यधर्मी परम्परा द्वारा संभव होता है। इस तरह स्पष्ट है कि हस्ताभिनय में लोकधर्मी एवं नाट्यधर्मी प्रवृत्तियों का पर्याप्त समन्वय है।

विविध हस्त-मुद्राओं के आधार पर भरत ने हस्ताभिनय के ६७ भेद किये हैं। इसके प्रमुख तीन भेद हैं—संयुत, असंयुत और नृत्त। इनमें संयुत हस्त से १३, असंयुत हस्त से २४ तथा नृत्त हस्त से ३० प्रकार की मुद्राओं का प्रयोग किया जाता है। इन मुद्राओं के शास्त्रीय नामकरण एवं रूप-रचना-विधान पर लोक-व्यवहार का प्रभाव है। मुष्टि, पताका, पद्मकोश, शुकतुंड, हंसवक्त्र, अर्धचन्द्र, भ्रमर आदि इसके अनेक प्रकार के नाम हैं।

इनके अतिरिक्त हृदय (वक्षःस्थल), उदर, पार्श्व, उरु, जंघा तथा पाद द्वारा होनेवाले अभिनयों का विवेचन भी भरत ने किया है। अभिनय में कई अंगों का समन्वित प्रयोग भी होता है। कटि, पार्श्व, उरु, जांघ और पाद के माध्यम से सम्पन्न होनेवाले अभिनयों के समीकरण को 'चारी' कहते हैं।[3] नाट्य एवं दोनों कलाओं के लिए 'चारी' का बहुत अधिक महत्त्व है। उनका कहना है कि नाट्य की स्थिति चारी में ही होती है। 'चारी' के बिना सिर एवं हस्तादि का भी संचालन नहीं हो पाता है।[4] भरत ने चारी के 'भौमी' और 'आकाशिकी' दो भेद किये हैं। इन दोनों के सोलह-सोलह भेद हैं।

---

१. सर्वे हस्तप्रचाराश्च प्रयोगेषु यथाविधि।
नेत्रभ्रूमुखरागाद्यैः कर्त्तव्या व्यञ्जितावुधैः॥—ना०शा० ९।१७०-१७९-१८० (गा० ओ० सी०)।

२. अङ्गैरन्तर्निहितवचनैः...स एव ॥२।८ —मालवि०, पृ० ११५।

३. ना०शा० १०।१—४ (गा० ओ० सी०)।

४. यदेतत् प्रस्तुतं नाट्यं तच्चारीष्वेवसंस्थितम्।
नहि चार्या विना किञ्चित् नाट्येऽङ्गं संप्रवर्त्तते—॥ ना० शा० १०।६ (गा० ओ० सी०)

नाट्य में पाद-प्रचार (चारी) और हस्त-प्रचार दोनों का प्रयोग होता है। नाट्य एवं नृत्य (नृत्त) में दोनों की अलग-अलग और एक साथ प्रधानता संभव है। ऐसी स्थिति में भरत का सिद्धान्त है कि जिस ओर पाद-प्रचार हो, उसी ओर हस्त-प्रचार भी होना चाहिए। मालविका के नृत्य की यही विशेषता है।[1] 'चारी' में अंग-सौष्ठव-विधान अनिवार्य है; क्योंकि अंग-सौष्ठव से ही नाट्य एवं नृत्य में शोभा का प्रसार होता है। नृत्य के अवसर पर मालविका के अंग-सौष्ठव का वर्णन राजा अग्निमित्र ने किया है।[2] इस शास्त्रीय चारी-विधान के मूल में भी लौकिकता का प्रच्छन्न रूप दृष्टिगत होता है। नाट्य में इसके प्रयोग से कालिदास की प्रयोगशील दृष्टि का पता चलता है।

आंगिक अभिनय के संदर्भ में गति-विधान :

भरत ने पात्र द्वारा प्रयोज्य स्थान, पाद-प्रचार, आसन एवं शयन आदि नाट्योपयोगी विधियों पर काफी विचार किया है। इन चारों विधियों का प्रयोग भावों की विभिन्न भूमिका में होता है। भरत ने इसे 'गति' की संज्ञा दी है। 'गति' के अन्तर्गत ही भाव, रस, अवस्था, देश एवं काल की विविधता के संदर्भ में प्रयोज्य पात्र के स्थान, पाद-प्रचार, आसन एव शयन आदि का विनिश्चय होता है। यह गति-विधान कालिदास के रूपकों में देखा जाता है। इससे उनके नाट्य-प्रयोग की समृद्धि तथा सफलता का पता चलता है। इसके अन्दर रंगमंच पर पात्रों के प्रवेश-काल से निष्क्रमण-काल तक की प्रत्येक शारीरिक चेष्टा का शास्त्रीय ढग से निर्धारण किया गया है।

रंगमंच पर पात्रों का प्रवेश बहुत महत्त्वपूर्ण नाट्य-प्रयोग-प्रक्रिया है। पात्रों के प्रवेश से सामाजिकों के हृदय में सुख-दुःखात्मक संवेदना उत्पन्न होती है। पात्र-प्रवेश को प्रभावोत्पादक बनाने के लिए ही भरत ने भाण्डवाद्य-पुरस्कृत 'मार्ग' और रसोपेत 'ध्रुवागान' का विधान पात्र-प्रवेश-काल में किया है।[3] आचार्य

---

१. अङ्गैरन्तर्निहितवचनैः---स एवः २।८ ॥ —मालवि०, पृ० ११५।

वामं ---कान्तमुज्वायतार्द्धम् ॥ २।६ —मालवि०, पृ० १०९।

२. दीर्घाक्षं---तयास्या वपुः ॥ २।३ —मालवि०, पृ० १०१।

३. तत्रोपवहनं कृत्वा भाण्डवाद्यपुरस्कृतम्।

कार्यः प्रवेशः पात्राणां नानार्थरससम्भवः ॥ —ना० शा० (गा० ओ० सी०)

कोहल और अभिनवगुप्त ने भी इस विधान का समर्थन किया है।[1] मालविकाग्निमित्रम् नाटक के आरम्भ में पात्र-प्रवेश के पूर्व सूत्रधार का निम्नलिखित वाक्य इस तथ्य के प्रयोग की पुष्टि है—"तदारभ्यताम् संगीतम्"

(मालवि०, प्र० अं०, पृ० ५)

नान्दी क्रिया के बाद ही पात्रों का प्रवेश कालिदास के रूपकों में हुआ है। नान्दी में संगीत एवं वाद्य का विधान है।

गति का क्रम अथवा लय का विनिर्धारण मानव की उत्तम, मध्यम एवं अधम प्रकृति के मेल में होता है। नाट्य में इन तीन प्रकृतिवाले लोगों के लिए क्रमशः स्थितलय, मध्यमलय और द्रुतलय के प्रयोग का विधान है। गति-निर्धारण के बारे में भरत का विचार है कि ताल, काल तथा लयाश्रित गति का निर्धारण सत्त्ववश (मनोदशा) के संदर्भ में होना चाहिए।[2] लयात्मकता ही गति-विधान का प्राण है। सत्त्वानुसार गति की लयात्मकता, लोक-व्यवहार के अनुरूप गति-कल्पना नाट्य-प्रयोग का प्राण है। आचार्य भरत ने शृंगारादि विविध रसों के अनुरूप गति का विस्तारपूर्वक विधान प्रस्तुत किया है।[3] विविध रसों के संदर्भ में पात्रों का सिर्फ पाद-प्रचार ही नहीं, हस्त-प्रचार, नेत्र, भ्रू एवं मुखराग आदि का भी लोकानुसारी विधिवत् विधान नाट्यशास्त्र में किया गया है। कालिदास ने अपने नाट्य-प्रयोग में इस विधि का विधान किया है। अतः उनका नाट्य-प्रयोग हृदयग्राही है। भरत की इस स्थापना में उनकी लोक-परम्परानुसारी नाट्य-प्रयोग की दृष्टि का परिचय मिलता है। कालिदास भी इनके विचार से सहमत मालूम पड़ते हैं।

भरत ने रथारोहण, पर्वतारोहण, सागर-नदी-संतरण आदि प्रभावोत्पादक दृश्यों, लौकिक पदार्थों, उनकी क्रियाओं एवं परिस्थितियों को नाट्य में स्वाभाविकता प्रदान करने के लिए नाट्योपयोगी प्रतीकात्मक अभिनयों की परिकल्पना की है। इन विषयों का विचार देशभेद से गतिभेद के अन्तर्गत किया गया है। अभिज्ञान-शाकुन्तलम् के प्रथम अंक में रथारूढ राजा दुष्यन्त मृग का पीछा करते हुए कण्व के आश्रम में प्रवेश करते हैं। इसी तरह सप्तम अंक में विमानारूढ होकर दुष्यन्त

---

१. कोहलेन प्रयोगबलाद् व्यपदिष्टं शुष्काक्षरगानं कृत्वा प्रवेश एव समुचित स्थानक दृष्टिमुखरागादियुक्तो कर्त्तव्यः। यथा सामाजिकानां झटित्येवान्विताभिधान न्यायेन मुख्यरसव्याप्तिरुदयते।

—अ० भा०, भाग २, पृ० १३०।

२. लयस्तथं सत्त्ववशेन योज्यम्। —ना० शा० १२।१३ (गा० ओ० सी०)।

३. ना०शा० १२।४०—४४ (गा० ओ० सी०)।

मातलि के साथ स्वर्ग से धरती पर उतरते हैं। विक्रमोर्वशीयम् के प्रथम अंक में राजा पुरूरवा आकाश में केशिन् दैत्य से उर्वशी को छुड़ाकर विमान द्वारा हेमकूट पर्वत पर उतरता है। वस्तुतः ऐसे रमणीय दृश्यों के प्रसंग में पात्रों द्वारा नाट्यधर्मी प्रतीकात्मक अभिनय के अलावा तदनुरूप काव्य-पाठ तो होता ही है, लेकिन चित्रपट पर अंकित प्रतिकृतियों का भी प्रयोग रंगमंच पर होता है। रथारूढ़ पात्र समपाद-स्थानक में रथ-यात्रा का अभिनय करता है। पात्र एक हाथ में धनुष और दूसरे हाथ में रथ का कूबर ग्रहण किये रहता है। सूत के हाथ में घोड़े की लगाम रहती है। इसी रूप में अभिज्ञानशाकुन्तलम् के प्रथम अंक में रथारूढ़ दुष्यन्त का प्रवेश आश्रम में होता है। नाट्य-प्रयोग में बाह्य जगत् की सौंदर्य-व्यंजना के लिए चित्रलिखित प्रतिच्छवियों का भी प्रयोग प्राचीन नाट्यों में मिलता है। अभिज्ञानशाकुन्तलम् के षष्ठ अंक में चित्रफलक पर मालिनी नदी के साथ वृक्ष पर टँगे वल्कल वस्त्र का भी चित्र अंकित किया गया है।

गति-निर्धारण में अवस्था का बहुत बड़ा योग रहता है। वय एवं पात्र के अनुरूप गति में अन्तर आ जाता है। एक नवयुवती के पाद-संचरण में जो लास्य एवं लालित्य होता है, वह किसी वृद्धा या बालिका की गति में नहीं होता है। नाट्य-प्रयोग में अवस्थानुरूप गति-प्रदर्शन होने पर ही उसमें स्वाभाविक नाट्य-रस का आस्वाद उत्पन्न होता है।

पुरुषों के समान ही नारी का गतिविधान उसकी प्रकृति, चित्तवृत्ति, देश एवं अवस्था पर आधारित है। नारी की गति पुरुष की अपेक्षा सदा सुकुमार और विलासयुक्त होती है। युवती, मध्यवयसा तथा वृद्धा की गति में भी काफी अन्तर होता है।

नाट्य-प्रयोग में आसन-विधान :

नाट्य-प्रयोग में हस्त- प्रचार एवं पाद-प्रचार के विविध रूप पात्रों की प्रकृति, चित्तवृत्ति, देश तथा अवस्था आदि से प्रभावित होकर निर्धारित होते हैं। आसन और शयन आदि की विभिन्न विधियाँ तथा उनकी रूप-रचना भिन्न-भिन्न हैं। चिंता शोक, मूर्च्छा, ग्लानि और प्रियानुप्रसादन के आसन एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न होते हैं। अतः आसन के विविध रूप मनुष्य की आभ्यन्तरिक मनोदशा के प्रतीक के रूप में प्रयुक्त होते हैं। अभिज्ञानशाकुन्तलम् के सप्तम अंक में दुष्यन्त अपनी प्रिया शकुन्तला के पैरों पर पड़कर अपनी गलती स्वीकार करता है।[1]

---

१. राजा—(शकुन्तलायाः पादयोः प्रणिपत्य)
सुतनु ………… धुनोत्वहिशङ्कया ॥७।२४ —अभि० शा०

सामाजिक स्तर के आधार पर भरत ने विभिन्न आसनों का विधान किया है। राजा और उसकी पत्नी के लिए सिंहासन; पुरोहित, मन्त्री और उसकी पत्नी के लिए वेत्रासन; सेनानी तथा युवराज के लिए मुंजासन, ब्राह्मणों के लिए काष्ठासन, वेश्या के लिए मयूरासन तथा अन्य प्रमदाओं के लिए भूमि के आसन का निर्देश किया गया है।[1] कालिदास ने अपने नाट्य-प्रयोग मे भरतानुमोदित आसनों का यथोचित उपयोग किया है।

भरत की दृष्टि में शयन-काल की आंगिक निश्चेष्टता भी विभिन्न भावों एवं मनोदशाओं को सूचित करती है। स्वप्नवासवदत्तम् मे शयन-विधान का प्रयोग रस एवं चमत्कार से पूर्ण है।[2]

आहार्याभिनय के प्रकार :

आहार्याभिनय नाट्य-प्रयोग का आधार है। यह महत्त्वपूर्ण नेपथ्यज विधान है। आचार्य भरत की दृष्टि में अवस्थानुसार और स्वभावगत नाटकीय पात्रों का वेश-विन्यास, अलंकार-परिधान, अंग-रचना और रंगमंच पर निर्जीव लौकिक पदार्थों एवं सजीव जन्तुओं के नाट्यधर्मी प्रयोग आहार्याभिनय है। इनका यह दृष्टिकोण सर्वथा उचित मालूम पड़ता है कि पात्र की धीरोदात्तादि विभिन्न प्रकृतियों एवं रति-शोकादि अनेक अवस्थाओं को नेपथ्य के अन्दर ही तदनुरूप वेश-रचना एवं वर्ण-रचना के माध्यम से आकृत किया जाता है। इसके बाद आंगिक एवं वाचिक अभिनयों के योग से रसोत्पत्ति होती है।[3] चित्रभित्ति की तरह यह सम्पूर्ण नाट्य-प्रयोग रूप-चित्र के लिए आधार के समान है।[4] एतत्सम्बन्धी भरत के विचार का काफी प्रभाव कालिदास पर दृष्टिगत होता है। स्वाभाविक सुन्दरता होने पर आहार्य-रूप बाह्याडम्बर की कोई आवश्यकता नहीं है।[5] अतः परिव्राजिका 'छलिक'

---

१. ना० शा० १२।२०८—२१२ (गा० ओ० सी०)।

२. स्वप्नवासवदत्तम्, अंक ५।

३. नानावस्थाः प्रकृतयः पूर्वं नैपथ्य साधिताः।
अङ्गादिभिरभिव्यक्तिमुपगच्छंत्यत्नतः ॥
—ना० शा० २१।२ (गा० ओ० सी०)।

४. तेन समस्ताभिनय प्रयोग चित्रस्यभित्ति स्थानीयमाहार्यम्। तथा च समस्ताभिनयव्युपरमेऽपि नेपथ्यविशेषदर्शनाद् विशेषोऽवसीयतस्व।
—अ० भा०, भाग २, पृ० १०९.

५. निसर्गसुभगस्य किमाहार्यकाडम्बरेण।
—(मल्लिनाथ की टीका) कुमारसम्भवम्, ७।२० पर।

चलित) नृत्य में सर्वांग सुन्दरता की अभिव्यक्ति के लिए नेपथ्य-विधि को आवश्यक नहीं मानती है।[१]

भरत की दृष्टि में आहार्याभिनय के सम्बन्ध में दार्शनिक तथ्य यह है कि जिस प्रकार आत्मा एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर में प्रवेश करते हुए पहले शरीर के सुख-दुःखात्मक स्वभाव का परित्याग कर दूसरे शरीर के सुख-दुःखात्मक प्रभाव को ग्रहण करती है, उसी प्रकार नाट्य-प्रयोक्ता पात्र भी नाट्य-प्रयोग के समय स्वभाव को छोड़कर और परभाव को ग्रहण कर प्रेक्षक के सामने उपस्थित होता है।[२]

नेपथ्यज अनेक विधियों को मिलाकर भरत ने आहार्याभिनय को चार भागों में विभक्त किया है[३] :

(१) पुस्त (संयोजन)
(२) अलंकार (प्रसाधन)
(३) अंग-रचना (स्वरूप-परिवर्तन)
(४) संजीव (नाट्य में जीव-जन्तुओं का प्रयोग)

आगे इनके विश्लेषणात्मक विवेचन के साथ नाट्य-प्रयोग में कालिदास द्वारा इनके उपयोग पर प्रकाश डाला जा रहा है :

१. पुस्त :

रंग मंडप का दृश्य (कक्षा)-विधान पुस्त-विधि से ही सम्पन्न किया जाता है। इसी के माध्यम से शैल, यान, विमान, रथ, हाथी, ध्वजा तथा दंड आदि अनेक लौकिक पदार्थों के सांकेतिक तत्त्वों को मंच पर उपस्थित कर नाट्य में कलात्मकता एवं यथार्थता लायी जाती है।[४] इसके तीन रूप हैं—संधिम,

---

१. परिव्राजिका—निर्णयाधिकारे ब्रवीमि। सर्वाङ्गसौष्ठवाभिव्यक्तये विरल-नेपथ्ययोः पात्रयोः प्रवेशोऽस्तु। —मालवि०, प्रथम अंक

२. स्ववर्णमात्मनश्छाद्य वर्णकैः वेषसंश्रयैः। आकृतिस्तस्य कर्तव्या यस्य प्रकृतिरास्थिता॥ यथा जन्तुः स्वभावं एवं परित्यज्यान्य दैहिकम्। तत्स्वभाव हि भजते देहान्तरमुपाश्रितः॥ वेषेण वर्णकैश्चैव छादितः पुरुषस्तथा। परभावं प्रकुरुते यस्य वेषं समाश्रितः॥—ना० शा० २१।८८ ख—९१क (गा० ओ० सी०)

३. ना०शा० २१।५ (गा० ओ० सी०)।

४. शैलयान विमानानि चर्मकर्मध्वजानगाः।
यानि क्रियन्ते नाट्ये हि स पुस्त इति संज्ञितः॥
—ना० शा० २१।९ (गा० ओ० सी०)

व्याजिम तथा चेष्टिम (वेष्टिम)। प्रस्तर-शिलाएँ, प्रासाद, दुर्ग, वाहन, विमान, रथ, घोड़ों तथा हाथियों को संधिम-विधि द्वारा मंच पर प्रस्तुत कर नाट्य को स्वाभाविक बनाया जाता है।[१] कालिदास के अभिज्ञानशाकुन्तलम्[२] एवं विक्रमोर्वशीयम् में रथ, घोड़े, हाथी, विमान, प्रासाद आदि अनेक लौकिक पदार्थों के प्रयोग मिलते हैं। इस संधिम-विधि से ही मंच पर स्वाभाविक प्रदर्शन उनका अभीष्ट रहा होगा। व्याजिम विधि में रथ, यान एवं विमान आदि को यांत्रिक साधनों के सहारे मंच पर कृत्रिम रूप से उपस्थित किया जाता है।[३] यह भी कालिदास का अभीष्ट था। वेष्टिम-विधि में वस्त्रादि को लपेटकर भौतिक पदार्थों का उपस्थापन होता है। किसी-किसी संस्करण में वेष्टिम के स्थान पर 'चेष्टिम' शब्द का प्रयोग किया गया है। इस तरह चेष्टिम-विधि में भौतिक पदार्थों का ज्ञान समरूप चेष्टा के प्रदर्शन से होता है।[४]

छत्र, मुकुट, इन्द्रध्वज आदि विभिन्न शुभ संकेतों एवं नाट्योपयोगी पदार्थों को पुस्त-विधि से ही मंच पर प्रस्तुत किया जाता था। इसी तरह उपर्युक्त सिंहासन, देवासन, मुञ्जासन, काष्ठासन, मयूरासन आदि की रचना भी पुस्त-विधि द्वारा ही सम्पन्न होती होगी। कालिदास के नाट्य-प्रयोग में इस विधि का पर्याप्त उपयोग किया गया है।

भरत का अभिमत है कि धनुष, गदा, शर, वज्र, चक्र आदि लौकिक अस्त्र-शस्त्रों का नाट्य में प्रयोग अनुकृत रूप में होना चाहिए।[५] छेदन-भेदन, ताड़न-मारण आदि द्वारा रक्त-स्राव का मंच पर प्रदर्शन निषिद्ध माना गया है।[६]

---

१. किलिञ्ज चर्म वस्त्राद्यैर्यद्रूपं क्रियते बुधैः।
सन्धिम नाम विज्ञेयः पुस्तो नाटक संश्रयः ॥
—ना० शा० २१।७ (गा० ओ० सी०)

२. अभि० शा०, अंक ६ एवं ७।

३. ना० शा० २१।७क (गा० ओ० सी०)।

४. ना० शा० २१।८ (गा० ओ० सी०)।

५. या काष्ठयन्त्र भूयिष्ठा कृता सृष्टिर्महात्मना।
न साऽस्माकं नाट्ययोगे कस्मात् खेदावहा हि सा ॥
यद्द्रव्यं जीवलोके तु नानालक्षण लक्षितम्।
तस्यानुकृति संस्थानं नाट्योपकरणं भवेत् ॥ —ना० शा० २१।२००-२०१

६. न भेद्यं नैव च छेद्यं न प्रहर्त्तव्यमेव तत्।
रङ्गे प्रहरणैः कार्यं संज्ञामात्रं तु कारयेत् ॥
—ना० शा० २१।२१८—२२६ (गा० ओ० सी०)

स्पष्ट है कि इस पुस्त-विधि द्वारा नाट्य-प्रयोग को स्वाभाविक रूप प्रदान करने में काफी सहायता मिलती है। कालिदास ने अपने नाट्य-प्रयोग में इस विधि का यथोचित उपयोग कर अपनी मौलिक प्रतिभा एवं नाट्य-प्रयोग-विज्ञान-कौशल का परिचय दिया है।

२. अलंकार :

नाटकीय रंगमंच पर उपस्थित विभिन्न पात्रों के माला-धारण, आभूषण-परिधान तथा वस्त्रादि वेष-विन्यास को भरत ने 'अलंकार' कहा है। माल्य द्वारा शरीर-प्रसाधन की वेष्टित, वितत, संघात्य, ग्रथित एवं प्रलंबित नामक पाँच विधियाँ हैं। विभिन्न शैलियों के अनुसार आभरण-प्रयोग की आवेध्य, बंधनीय, क्षेप्य एवं आरोप्य—चार विधियाँ हैं। आचार्य भरत ने पुरुषों और स्त्रियों द्वारा विभिन्न अंगोपांगों में प्रयोज्य अनेक आभरणों का भी उल्लेख किया है। कालिदास के रूपकों के विभिन्न पुरुष एवं महिला पात्रों द्वारा इन आभरणों के प्रयोग किये गये हैं। मालविकाग्निमित्रम् में इरावती द्वारा करधनी पहनने का वर्णन मिलता है। इन आभूषणों के प्रयोग से सौंदर्य में वृद्धि होती है और दर्शक के मन पर भी प्रभाव उत्पन्न होता है। इन आभूषणों के प्रयोग के सम्बन्ध में भरत का विचार है कि भाव एवं रस के अनुरूप इनका प्रयोग किया जाना चाहिए।[1] साथ ही उनका कथन है कि आगम, प्रमाण, पात्र, रूपशोभा एवं लोक-प्रचलित व्यवहार की पृष्ठभूमि में ही इन आभूषणों का प्रयोग उचित है।[2] भरत की दृष्टि में अधिक आभूषणों का प्रयोग उचित नहीं है। कालिदास के रूपकों के पात्र लोक-व्यवहारानुरूप यथावश्यकता ही आभूषणों का प्रयोग करते दृष्टिगत होते हैं। इसमे उनकी स्वाभाविकता बनी रहती है। आश्रम के वातावरण में शकुन्तला तो वल्कल ही पहनती है।

नाट्यशास्त्र में जाति-भेद और देश-भेद के आधार पर स्त्रियों के विलक्षण वेष, आभरण एवं केश-विन्यास का विधान किया गया है। इसी से रंगमंच पर उनकी जाति और देश का पता चलता है। आचार्य अभिनवगुप्त ने इन शब्दों की व्युत्पत्ति करते हुए लिखा है कि जो हृदय को व्याप्त (आवेष्टित) कर ले, उसे वेष

---

१. एतद्विभूषणं नार्या आकेशनखादपि।
यथाभावरसावस्थं विज्ञायैव प्रयोजयेत् ।।—ना० शा० २१।४२-४३।

२. न तु नाट्यप्रयोगे कर्त्तव्य भूषणं गुरुः।
रत्नवत् जतुवद्धं वा न खेदजननं भवेत् ।। —ना० शा० २१।४७—४९।

कहते हैं। केशविन्यास की मनोमुग्धकारी रचना-विधि वेष ही है। आभरण से सौंदर्य का पोषण (आभरण) होता है।[१]

विद्याधरी, यक्षिणी, अप्सरा, नागपत्नी, ऋषिकन्या तथा देवांगनाएँ वेष आदि से ही एक-दूसरे से पृथक् मालूम पड़ती हैं। विक्रमोर्वशीयम् में उर्वशी देवांगना के वेष में है। अभिज्ञानशाकुन्तलम् में तापस कन्याएँ वल्कल-वेष में ही आकर्षक मालूम पड़ती हैं।[२] विभिन्न तरह से दिव्यांगनाओं के वेष-विन्यास का वर्णन भरत ने किया है।[३]

भरत ने पार्थिव स्त्रियों का देशानुरूप वेष-विन्यास बताया है। गणिकाओं का मण्डन उनकी इच्छा के अनुसार होता है।[४] वियोगिनी एवं प्रोषितकान्ता के लिए मलिन वेष की परिकल्पना की गयी है। मेघदूतम् में प्रोषितभर्तृका यक्षिणी के शुद्ध स्नान का वर्णन किया गया है।[५] इसी तरह कालिदास ने ऋतुसंहार की नागरिकाओं, अलका की वधुओं, हिमालय की कन्या पार्वती, अज की पत्नी इन्दुमती तथा अलका की उन्मुक्त युवतियों के विविध आकार-प्रकार के मनमोहक आभूषण, अंग-रचना की शैलियों तथा केश एवं वेष आदि के मनोमुग्धकारी वर्णन किये हैं। इसे देखने से पता चलता है कि भरत-निर्दिष्ट आभूषण, अंग-रचना तथा वेष-विन्यास का प्रभूत प्रभाव कालिदास पर था। कालिदास ने अपने काव्यों एवं रूपकों की अधिकांश स्त्रियों का श्रृंगार पुष्पों से ही किया है।[६]

३. अंग-रचना :

देश, जाति एवं उम्र के अनुसार अंग-रचना की जाती है। इसी रूप-परिवर्त्तन के अनुसार नाटकीय पात्र स्वरूप और स्वभाव का परित्याग

---

१. हृदयं व्याप्नोति हृद्यत एव इति वेशकेशरचनादिः। आसमन्तात् भियते पोष्यते कान्तिर्येन तदाभरणं शिखाव्यालादिः। क्षुरकर्म अलकादि योजना, परिच्छदः विचित्र वस्त्रयोगः। —अ० भा०, भाग ३, पृ० १२० तथा ना० शा० २१।७२।

२ इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी। —अभि० शा०, अंक १, श्लोक १९

३. ना० शा० २१।५३—६५ (गा० ओ० सी०)।

४. ना० शा० २१।७१।

५. मेघदूतम्—उत्तरमेघ, श्लोक ३३, ३४ एवं ३५।

६. वही, २,११,२६,३४,३५ रघु०;७।६—१०, १९।४५; कुमार० ७।२६—३०ऋतु० १।४—८; २।१८—२२, ४।३—६; ५।८—१२।

करके अनुकार्य दुष्यन्त एवं शकुन्तला के स्वरूप और भाव को धारण करके सामाजिक (दर्शक) के सामने उपस्थित होता है। इस संदर्भ में भरत मुनि ने सित (उज्ज्वल), पीत, नील तथा रक्त-चार स्वाभाविक वर्णों का उल्लेख किया है। इन्होंने वर्णों की मिलावट से अनेक उपवर्णों की भी परिकल्पना की है। पुनः उन उपवर्णों को मिलाने से हजारों वर्णों की योजना होती है। विविध वर्णों से रँगकर नाटकीय पात्रों को जाति तथा देशानुरूप रीति से मंच पर प्रस्तुत किया जाता है। वर्ण-रचना और वर्तना-विधि द्वारा प्रासाद, यान, विमान, पर्वत, दुर्ग एवं शस्त्र भी प्राणी के रूप में नाटकीय मंच पर अवतरित होते हैं। भवभूति के उत्तररामचरितम् में गंगा, तमसा, मुरला तथा पृथ्वी देवी का अवतरण इसी रूप में हुआ है। इस तरह अंग-रचना और वर्तन की इस विचित्र शैली में नाट्यधर्मी विधि से सांसारिक निर्जीव वस्तुओं को भी नाट्य-प्रयोग के अवसर पर गति-संचार तथा मानवीय रूप-सज्जा प्रदान कर मंच पर उपस्थित किया जाता है। कालिदास ने भी इस विधि का उपयोग किया है। राजा, देवता, राक्षस तथा अन्य देशवासियों एवं विभिन्न जातियों के लिए विविध वर्णों का विधान किया गया है।[1] भरत के वर्ण-विधान के मूल में उन जनपदवासियों के रूप-रंग की विद्यमानता है। इसी तरह प्रत्येक रस के लिए अलग-अलग वर्ण का निश्चय किया गया है।[2]

पुरुषों के श्मश्रु-कर्म भी अंग-रचना के अन्तर्गत है। सामाजिक, धार्मिक एवं मानसिक परिस्थितियों के आधार पर इसके चार प्रकार हैं—शुद्ध, विचित्र, श्याम तथा रोमश।

जाति, देश, वय और विभिन्न अवस्थाओं के अनुसार पुरुषों के वेष तीन प्रकार के होते है—शुद्ध, विचित्र और मलिन।[3] शिरोवेष पार्श्वगत, मस्तकी और किरीटी—तीन प्रकार के होते है। इनमें किरीटी को सर्वोत्तम माना गया है।

मंच पर दिव्य पात्रों को मनुष्यवत् अवतरित करने का विधान है। भावों एवं रसों के साथ उनकी आंगिक चेष्टा तथा अन्य विकृतियाँ भी मनुष्यवत् होती हैं।[4] विक्रमोर्वशीयम् में उर्वशी का अवतरण मनुष्यवत् हुआ है।

---

१. ना० शा० २१।९२—११४ (गा० ओ० सी०)।

२. वहीं, ६।४७-४८।

३. ना० शा० २१।१२२—१३८।

४. ना० शा० २१।१५७—१६० (गा० ओ० सी०)।

४. संजीव :

संजीव नामक आहार्याभिनय के अन्तर्गत भरत ने अपद, द्विपद और चतुष्पद जीवों का मंच पर अवतरण-विधान बताया है। भयदायक व्याघ्र, सिंह आदि चतुष्पद तथा सर्प आदि अपद जीवों की कृत्रिम रूप-रचना रंगमंच पर प्रस्तुत करने का विधान किया गया है। अभिज्ञानशाकुन्तलम् के चतुर्थ अंक में काण्व ऋषि के आश्रम से विदा होती हुई शकुन्तला की साड़ी से उसका कृतक पुत्र मृग अनायास प्रेमवश लिपट जाता है। वृक्ष के ऊपर से विदाई की स्वीकृति-सूचक कोयल की कूक सुनाई पड़ती है। इस नाटक के सप्तम अंक में सर्वदमन सिंह के बच्चे से खेलते हुए उसके दाँत गिनता है। इस तरह मंच पर अपद, द्विपद तथा चतुष्पद जीवों के कृत्रिम अवतरण से नाट्य-प्रयोग में विश्व की सारूप्यता का सृजन होता है।' लौकिक पदार्थों एवं जीवों की अनुकृति नाट्य-प्रयोग का प्राण है। स्पष्ट है कि कालिदास को अपने नाट्य-प्रयोग में आहार्याभिनय की यह संजीव-पद्धति भी अभीष्ट थी। संजीव-शैली के प्रयोग के निमित्त भरत ने पटी अथवा घटी (साँचा) की रचना की भी कल्पना की है।

अन्त में, हम कह सकते है कि आहार्याभिनय के माध्यम से लोकधर्मी स्वाभाविक प्रवृत्तियों को रंगमंच पर नाट्यधर्मी के रूप में विभावनार्थ प्रस्तुत किया जाता है।[1] कालिदास ने अपने नाट्य-प्रयोग में इसका भलीभाँति उपयोग किया है। अतः उनके नाट्य-प्रयोग अत्यधिक स्वाभाविक एवं आनन्ददायक हैं।

५. सामान्याभिनय :

अभिनवगुप्त ने सामान्याभिनय को स्वतंत्र अभिनय मानते हुए कोहलाचार्य के विचार से एतत्सम्बन्धी भरत के मत का समर्थन किया है। उनके विचार से सामान्याभिनय के छह प्रकार हैं :

(१) शिष्ट, (२) मिश्र, (३) काम, (४) वक्र, (५) संभूत तथा (६) एकत्व-युक्त।[2]

आचार्य भोज ने भी वाचिकादि परम्परागत चार अभिनयों के अतिरिक्त सामान्य एवं चित्राभिनयों को स्वीकार किया है।[3] अभिनवगुप्त का स्पष्ट विचार

---

१. यस्मात् प्रयोगः सर्वोऽयमाहार्याभिनये स्थितः।
—ना० शा० २१।१ (गा० ओ० सी०)

२. कोहलमतानुसारिभिः वृद्धैः सामान्याभिनयस्तु पोढा भण्यते।
—अ०भा०, भाग ३, पृ० १४६।

३. अङ्गवाक् सत्त्वजाहार्याः सामान्यश्चित्रइत्यमी।
षट्चित्र इत्यभिनयाः तद्वत् अभिनयं वचो विदुः॥
शृ० प्र०, भाग २, पृ० २८३।

है कि नाट्य-प्रयोगों के समानीकृत इस अभिनय-विधि को भरत ने कवि तथा नाट्य-प्रयोक्ताओं की शिक्षा के निमित्त प्रस्तुत किया है। नाट्य के प्रति कालिदास की दृष्टि शास्त्रीय की अपेक्षा प्रयोगात्मक अधिक थी।[1] अतः उन्हें भी यह विधि मान्य रही होगी।

वाचिकांगिकादि अभिनयों का सूचन सामान्याभिनय के द्वारा होता है। इस तरह सिर, हाथ तथा नेत्र आदि के माध्यम से सम्पन्न होनेवाले अभिनय का समानीकृत प्रयोग होने पर सामान्याभिनय सम्पन्न होता है।[2] वागंगसत्त्वज होने के कारण यह अभिनय पुरुष एवं स्त्री के कामोपचार का प्रतिपादन करता है।[3] आहार्याभिनय भी इसकी परिधि के अन्तर्गत आ जाता है।[4]

प्रभात, सन्ध्या, सागर, नदी, पर्वत, रथ, यान, विमान तथा अन्य भौतिक पदार्थों का विभिन्न अंगोपांगों द्वारा रूपात्मक एवं प्रतीकात्मक अभिनय ही चित्राभिनय है।[5] चित्राभिनय में वाचिक, आंगिक एवं सात्त्विक अभिनयों का व्यामिश्रण होता है, लेकिन सामान्याभिनय में वाचिकादि अभिनयों का समानीकरण होता है। इस तरह चित्राभिनय में प्रतीकात्मकता की और सामान्याभिनय में मनोवेग की प्रधानता रहती है।[6] अभिनय का मुख्य उद्देश्य है आन्तरिक चित्तवृत्ति (सात्त्विक भाव) का वागंगादि द्वारा प्रदर्शन। अत भरत की दृष्टि में सात्त्विक भावों के अधिकाधिक प्रदर्शन से उत्तम कोटि का अभिनय होता है :

'सत्त्वातिरिक्तोऽभिनयो ज्येष्ठ इत्यभिधीयते'—ना० शा० २२।२
(गा० ओ० सी०)

---

१. प्रयोगप्रधानं हि नाट्यशास्त्रम् । (मालवि०, प्रथम अक)

२. सामान्याभिनयो नाम ज्ञेयो वागङ्ग सत्त्वज. ।
शिरोहस्तकटीवक्षोजंङ्घोरुकरणेषु यत् ।
समः कर्मविभागो यः सामान्याभिनयस्तु स । —ना० शा० २२।७३
(गा० ओ० सी०) तथा अ० भा०, भाग ३, पृ० १४८ ।

३. तथा चेह तु सामान्याभिनयः कामोपचारः ।—अ०भा०,भाग ३, पृ०१४७ ।

४. वही पृ० १४९ ।

५. ना० शा० २५।१ (गा० ओ० सी०) ।

६. चित्राभिनयात् कोऽस्य (सामान्याभिनयस्य) विशेषः । उच्यते—तत्र वागङ्गसत्त्वव्यामिश्रत्वेन चित्रिता । इह तु प्रत्येकनियतस्यानुक्तस्य विशेषान्तरस्याभिधानम् ।—अ० भा०, भाग ३, पृ० १४७ ।

भरत के इस कथन से स्पष्ट है कि अन्ततः नाट्य मनोवेगों, मनुष्य की आभ्यन्तरिक चित्तवृत्तियों के संघर्षों का प्रतिफलन है। सुख-दुःखात्मक होने के कारण नानावस्थान्तरात्मक 'नाट्य' लोक का भावानुकीर्तन होता है।[1] दुःखांत तथा श्रमार्त का नाट्य-प्रयोग के दर्शन से 'विश्रान्तिजनन' होता है।[2] भरत का यह नाट्योद्देश्य अरस्तू के 'दुःखविनोदन' सिद्धान्त से मिलता है। नाट्य का सम्पूर्ण द्वन्द्व मनुष्य के नैतिक कर्तव्यों पर आधारित होता है। कर्तव्यनिष्ठा से प्रेरित होकर ही दुष्यन्त निसर्गसुन्दरी शकुन्तला को पत्नी के रूप में पाकर भी न तो स्वीकारता है न त्यागता है। इस तरह हम देखते है कि संघर्ष एवं समन्वय की यही भावना भारतीय और पाश्चात्त्य नाटकों में मिलती है। संस्कृत के सुखान्त नाटकों में संघर्ष के बाद ही नायक एवं नायिका का मिलन दृष्टिगत होता है।[3]

आचार्य भरत ने सामान्याभिनय के अन्दर पुरुष एवं स्त्री के सत्त्वज अलंकारों का विश्लेपणात्मक विवेचन किया है। उनका कथन है कि आंगिक विकाररूप अंगज (भाव, हाव और हेला), अयत्नज (शोभा, कान्ति, दीप्ति, माधुर्य, धैर्य, प्रगल्भता एवं उदारता) तथा स्वाभाविक (लीला, विलास, विच्छित्ति, विभ्रम, किलकिंचित् मोट्टायित, कुट्टमित, विब्बोक, ललित और विहृत) चेष्टालंकारों के माध्यम से मनोगत भावों का प्रदर्शन होता है। ये अलंकार भाव एवं रस के मूलाधार है। मानव-हृदय में संवेदना के रूप में सात्त्विक भाव स्थित हैं। इसके अतिरिक्त सात्त्विक भाव शरीरधर्म के रूप में हर मनुष्य के अन्दर मौजूद हैं।[4] इन देहात्मक सात्त्विक भावों को शास्त्रीय दृष्टि से अलंकार संज्ञा दी गयी हैं। यह लोकप्रसिद्ध है कि शृंगाररस में स्त्रियाँ उत्तम हैं और वीररस में पुरुष। आचार्य भट्टतौत एवं शंकुक ने भरत के इस विचार का समर्थन करते हुए इन चेष्टालंकारों के महत्त्व को माना है।

---

१. नाना भावोपसम्पन्नं नानावस्थान्तरात्मकम्।
लोकवृत्तानुकरणं नाट्यमेतन्मया कृतम् ॥ —ना० शा० १।११२

२. दुःखार्तानां श्रमार्त्तानां शोकार्त्तानां तपस्विनाम्।
विश्रान्तिजननं लोके नाट्यमेतद्भविष्यति ॥ —ना० शा० १।११५

३. अभि० शा०, विक्र० तथा मालवि०।

४. इह चित्तवृत्तिरेव संवेदन भूमौ संक्रान्ता देहमपि व्याप्नोति।
सैव च सत्त्वमित्युच्यते।—अ० भा०, भाग ३, पृ० १५२।

स्त्रियों के सत्त्व-भेद की ही भाँति पुरुषों के भी सत्त्व-भेद होते हैं। वे हैं—शोभा, विलास, माधुर्य, स्थैर्य, गाम्भीर्य, ललित, औदार्य एवं तेज। स्त्रियों के अयत्नज अलंकारों में जहाँ शारीरिक सुकुमारता व्यक्त होती है वहीं पुरुषों के उपर्युक्त सत्त्व-भेद से उनके मनोगत भावरूप पौरुष का द्योतन होता है।[1] कालिदास के रूपकों में उपर्युक्त सत्त्वज अभिनय की प्रचुरता मालूम पड़ती है। ये सात्त्विक भावरूप अभिनय ही उनके रूप-सौष्ठव के आधार हैं।

भरत ने सामान्याभिनय के प्रसंग में शारीर अभिनय का भी विवेचन किया है। उनके विचार से समानीकृत इस शारीर अभिनय के छह प्रकार है—वाक्य, सूचा, अंकुर, शाखा, नाट्यायित एवं निवृत्त्यंकुर।[2]

अभिनय का सम्बन्ध भावों एवं रसों से है। वाचिक अभिनय के निम्नलिखित भेद हैं—आलाप, प्रलाप, विलाप, अनुलाप, संवाद, अपलाप, संदेश, अतिदेश, निर्देश, व्यपदेश तथा अपदेश। इनके द्वारा उपर्युक्त छह शारीर अभिनय सम्पन्न होते है। ये सबमें सामान्य रूप से वर्तमान रहते है।

सामान्याभिनय में शास्त्रसम्मत आभ्यन्तर अभिनय का प्रयोग होता है, न कि शास्त्र-बहिष्कृत स्वच्छन्द अभिनय का।

भरत ने कामभाव से अनुरंजित सम्पूर्ण संसार को देखकर स्त्री को ही सुख का मूल माना है। धर्म और अर्थ तो सुख के साधन-मात्र हैं। पुरुष एवं स्त्री का मिलन सुख-स्वरूप है। नर-नारी के काम-भाव के अभिनय में लोक-हृदय की सहज संवेदना उच्छ्वसित होती रहती है। अतः कामभाव सद्यः सहृदय-संवेद्य होता है। काम का चरम विकास होने पर स्त्री-पुरुष का हृदय परस्पर सम्पूर्णभाव से बेसुध होकर तल्लीन हो जाता है और अपने अहंभाव का विलयन कर प्रेम की एकता में डूब जाता है।[3] कालिदास ने इस तथ्य का उद्घाटन विविध प्रकार से अपने नाट्य-प्रयोग में किया है। अभिज्ञानशाकुन्तलम् में उन्होंने भोगजन्य शृंगार को आध्यात्मिक प्रेमरूप योग में परिणत कर दिया है। वाल्मीकि ने

---

१. ना० शा० २८।४३ (गा० ओ० सी०)।

२. वही।

३. यः स्त्रीपुरुषसंयोगो रतिसम्भोगकारकः।
स शृङ्गार इति ज्ञेयः उपचारकृतः शुभः ॥—वही, २२।९८।

भी इस तथ्य को स्वीकार किया है ।[1] कामशक्ति की प्रबलता एवं प्राथमिकता वेद में व्यक्त है :

> कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत् ।
> सोऽकामय वहुस्यां प्रजायेति ।

नाट्य-प्रयोग में पुरुष-स्त्री के स्वाभाविक सम्बन्धों, उनकी मानसिक क्रिया-प्रतिक्रियाओं को लौकिक रूप में प्रस्तुत करना ही भरत के समान कालिदास का अभीष्ट रहा है ।

६. चित्राभिनय :

सामान्याभिनय से चित्राभिनय भिन्न है । इसका सम्बन्ध मुख्यतः आंगिक अभिनय से है ।[2] अभिनवगुप्त के विचार से इसमें अनेक अभिनयों का व्यामिश्रण होता है । आचार्य भरत ने नाट्य-प्रयोग को प्रभावशाली रूप में प्रस्तुत करने के लिए कुछ खास विधियों एवं प्रतीकों का विधान किया है । वस्तुतः आंगिक अभिनय के माध्यम से चित्राभिनय को रूपित किया जाता है । चित्राभिनय के द्वारा प्रकृति के विभिन्न रूपों एवं मानव-मन की अन्तर्दशाओं का प्रत्यक्ष प्रदर्शन होता है । इस संदर्भ में भरत का कथन है कि जनान्तिक, अपवारित, स्वगत और आकाशभाषित की नाट्यधर्मी विधियाँ चित्राभिनय-शैली से ही नाट्य में प्रयुक्त होती हैं । इसमें प्राकृतिक पदार्थों, ऋतु-सौंदर्य तथा मनुष्य के मनोवेगों का मंच पर प्रतीकों के सहारे प्रदर्शन होता है । अतः इस अभिनय की उपर्युक्त अन्य अभिनयों की अपेक्षा स्वतंत्र उपयोगिता है । प्रकृति और लोक-जीवन पर आधारित इस अभिनय में कल्पना एवं अनुभव का सामंजस्य दृष्टिगत होता है । नाटकीय रंगमंच पर प्रस्तुत करते हुए अप्रत्यक्ष पदार्थ भी चित्र की भाँति प्रत्यक्ष मालूम पड़ता है ।[3]

---

१. काम एवार्थधर्माभ्यां गरीयानिति मे मतिः ।
—वा० रा०, अ० ५३।१०, श्लोक ९ ।

२. अङ्गाभिनयस्यैव यो विशेषः क्वचित् क्वचित् ।
अनुक्त उच्यते चित्रः स चित्राभिनयः स्मृतः ॥
—ना० शा० २५।१ (गा० ओ० सी०)

यस्तु पञ्चमः चित्राभिनयः प्रोक्तः सोऽप्यङ्गोपाङ्गकर्मविशेष रूपत्वात् आङ्गिक एवान्तर्भवति । —ना० द०, पृ० १९१ ।

३. लोकसिद्धं भवेत् सिद्धं नाट्यं लोकात्मकं तथा । —ना० शा० २५।१२१

संस्कृत-नाटकों में हाथी, मृगों का शिकार, सिंह के बच्चों के साथ खेल-कूद[1], विषम भूमि में रथ का तीव्रगति संचार आदि लौकिक पदार्थों, वर्षा ग्रीष्म[2], सूर्योदय, चन्द्रोदय[3], तीखी धूप आदि प्राकृतिक पदार्थों एवं अपद आदि विभिन्न प्राणियों का सन्निवेश है। कालिदास के अभिज्ञानशाकुन्तलम् में दुष्यन्त रथारूढ़ होकर मृग का आखेट करता है, आश्रम की लताओं में हाथी उलझ जाता है। मृगों के झुण्ड तपोवन में स्वच्छन्द घूमते-फिरते नजर आते हैं, कहीं भौंरे गुंजार करते हैं।[4] कहीं नदी, वन-उपवन के रमणीय दृश्य हैं। विक्रमोर्वशीयम् में राजा पुरूरवा का रथ हेमकूट पर्वत पर विषम भूमि से गुजर रहा है। उर्वशी आकाश-मार्ग से प्रमदवन में आती है, कहीं वासन्तिक दृश्य हैं। मालविकाग्निमित्रम् मे मालविका अशोक वृक्ष का दोहद पूरा करती है, अनेक पुष्प-वृक्ष खिल रहे हैं। इन सबको नाटकीय मंच पर चित्राभिनय से ही प्रस्तुत करना कालिदास का अभीष्ट रहा होगा। भरत ने वन्य-पशुओं के संकेत-विधान में बताया है कि दोनों हाथ स्वस्तिक-स्थित हों पद्मकोश की मुद्रा में अधोमुख हों। इसी तरह भरत ने नाट्य-प्रयोग में ऋतुओं के प्रतीकात्मक अभिनय का विधान किया है।[5] तदनुरूप इन ऋतुओं का नाट्य-प्रयोग कालिदास का भी अभीष्ट रहा होगा। भरत का निर्देश है कि ऋतुओं का रसानुग प्रयोग होना चाहिए। उनका यह भी कहना है कि नाटय-प्रयोग के अवसर पर विभिन्न ऋतुओं का अभिनय करते हुए आन्तरिक मनोभावों के अनुसार उन प्रतिक्रियाओं का मंच पर प्रदर्शन करना चाहिए।[6] क्योंकि दुःखी चित्त में सुखदायक प्रकृति भी दुःखदायक मालूम पड़ती है। शकुन्तला की विरह वेदना में संतापाकुल दुष्यन्त के लिए चन्द्रमा की शीतल किरणें आग की वर्षा करती

---

१. अभि० शा०, अंक ७।

२. वही, अंक १ तथा अंक ३।

३. यात्येकतोऽस्तशिखरं पतिरोषधीनाम्।
आविष्कृतोऽरुण पुरस्सरः एकतोऽर्कः। —वही, ४।२

४. हला परित्रायेथां मामनेन मधुकरेण अभिभूमयमानाम्। —वही, १।२२,

५. ना० शा० २५।२८—३६।

६. एतानृतूनर्थवशात् दर्शयेद्धि रसानुगान्।
सुखिनस्तु सुखोपेतान् दुःखार्थान् दुःखसंयुतान्।
यो येन भावेनाविष्टः सुखदेनेतरेण वा।
स तदाहित संस्कारः सर्वं पश्यति तन्मयम्॥ —ना० शा०, २५।३८-३९।

हुई जान पड़ती है तथा काम के पुष्प-बाण वज्र से भी अधिक ठोर मालूम पड़ते हैं ।[1]

नाट्य-प्रयोग में मनोभावों के प्रदर्शन की प्रमुखता को ध्यान में रखकर भरत ने पुरुष एवं स्त्री-पात्र के द्वारा भाव, विभाव और अनुभाव का यथोचित रीति से संकेत करने का विधान किया है ।[2] शारीरिक प्रेम एवं अनुभावों के द्वारा सुख-दुःखात्मक मनोभावों के प्रदर्शन के सम्बन्ध में भरत ने अपना विचार व्यक्त किया है । उनका यह भी कहना है कि नाट्य-प्रयोग में ललित सुकुमार भावों का प्रयोग स्त्री-पात्रों द्वारा तथा धैर्य एवं माधुर्य से युक्त मनोभावों का प्रयोग पुरुष-पात्रों द्वारा करना चाहिए ।[3] कालिदास के मालविकाग्निमित्रम् में नृत्य में लीन मालविका की आँखें उत्फुल्ल है तथा वदन चन्द्रमा की कान्ति के समान शुभ्र और स्निग्ध है ।[4]

आचार्य भरत ने नाट्य-प्रयोग को शृंखलाबद्ध एवं गतिपूर्ण बनाने के लिए आकाशभाषित, आत्मगत, जनान्तिक एवं अपवारित आदि अभिनय-शिल्पों का विधान किया है । कालिदास के रूपकों में इन अभिनय-शिल्पों का काफी प्रयोग हुआ है । नाटकीय मंच पर अनुपस्थित पात्र से संवाद-योजना तथा उपस्थित पात्र से अन्तर्हित हो वाक्य-योजना होने पर आकाशभाषित होता है । इस अभिनय-शिल्प में अन्य पात्र की उपस्थिति बिना ही उत्तर-प्रत्युत्तर के माध्यम से संवाद-योजना होती है । अतिप्रसन्नता, मद, राग-द्वेष, विस्मय एवं दुःखाकुलता की स्थिति में नाटकीय पात्र जब अपने हार्दिक भाव को अकेले व्यक्त करता है तो वहाँ स्वगत(आत्मगत) नामक अभिनय-शिल्प का प्रयोग किया जाता है । इसकी योजना मुख-राग से अथवा पात्र एक तरफ हटकर, प्रेक्षकों के सामने प्रस्तुत की जाती है । जनान्तिक एवं अपवारित का प्रयोग त्रिपताका शैली में होता है । इस प्रबन्ध के चतुर्थ अध्याय में अभिनय के दृश्य-प्रकरण में कालिदास के रूपकों में प्रयुक्त इन अभिनय-शिल्पों का विस्तार-पूर्वक विवेचन किया गया है ।

---

१. अभि० शा०, ३।३

२. यथारसं यथाभावं स्त्रीणां भावप्रदर्शनम् ।
नराणां प्रमदानां च भावाभिनयं पृथक् ॥
— ना० शा० २५।५१

३. सर्वे ललिताः भावाः स्त्रीभिः कार्याः प्रयत्नतः ।
धैर्यमाधुर्यसम्पन्नाः भावाः कार्यास्तु पौरुषाः ॥
—ना० शा० २५।६६-६७ (गा० ओ० सी०) ।

४. मालवि०, अंक २ ।

संस्कृत-नाटकों में कथावस्तु के आग्रह से स्वप्न तथा मद की योजना भी प्रस्तुत की गयी है। मालविकाग्निमित्रम् में विदूषक स्वप्न में बड़बड़ाता है। स्वप्नवासवदत्तम् में उदयन के स्वप्न की परिकल्पना है। अभिज्ञानशाकुन्तलम् में बालक सर्वदमन का अभिनय तुतलाते वाक्यों से किया गया है।

चित्राभिनय का उपसंहार करते हुए भरत ने कहा है कि सम्पूर्ण अभिनय-विधियों को सत्त्वातिरिक्तता से समलंकृत करना चाहिए। वस्तुतः सत्त्व (मनोवेग) की रागात्मक अभिव्यक्ति ही नाट्य-प्रयोग का प्रधान लक्ष्य है :

या यस्य लीला नियता गतिश्च रङ्गप्रविष्टस्य विधानतस्तु।
तामेव कुर्यादविमुक्त सत्त्वो यावन्नरङ्गात् प्रतिनिवृत्तः स ॥

—ना० शा० २५।११३-११४ (गा० ओ० सी०)

भरत के विचारानुसार कालिदास ने नाट्य-प्रयोग में लोक-परम्परा, वेद तथा अध्यात्म-तीनों की प्रामाणिकता की स्थापना की है। अन्त में, भरत का निर्देश है कि लोक-परम्परानुकूल सत्त्व एवं शील का समुचित उपयोग करते हुए नाट्य-प्रयोग करना चाहिए :

लोकसिद्धं भवेत् सिद्धं नाट्यं लोकात्मकं तथा।
नानाशीलाप्रकृतयः शीले नाट्यं प्रतिष्ठितम्।
तस्माल्लोकप्रमाणं हि विज्ञेयं नाट्योक्तृभिः।

—ना० शा० २५।१२१—१२३

नाट्य (रूपक) के प्रकार :

रस और अभिनय की प्रधानता को ध्यान में रखकर नाट्य के दो भेद किये गये है—(१) रूपक तथा (२) उपरूपक। रूपकों में रस की प्रधानता रहती है तथा उपरूपकों में नृत्य, नृत्त आदि की। ये दोनो भेद वास्तविक हैं, न कि काल्पनिक। हम कह सकते है कि रूपक नाट्य है तथा उपरूपक नृत्य। नाट्य का आश्रय रस होता है तथा नृत्य का आश्रय-भाव। अतः रूपक को वाक्यार्थाभिनयात्मक एवं उपरूपक को पदार्थाभिनयात्मक कहा गया है। भरत मुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में रूपक के दस प्रकारों का वर्णन किया है, लेकिन उपरूपकों का कोई निर्देश नहीं। अभिनवगुप्त के कथन से पता चलता है कि उपरूपक की परम्परा का श्रीगणेश संभवतः आचार्य कोहल ने किया।[1] आचार्य धनिक ने उपरूपकों को नृत्य-भेद माना है।[2]

---

१. प्रयोगाय प्रयोगत इति व्याख्याने प्रयोगत इति त्रिफलमेव। उक्तव्याख्याने तु कोहलादिलक्षितत्रोटकसट्टकरासकादिसङ्ग्रहः फलम्।

—अभिनवभारती, पृ० ४०७

२. डोम्बी श्रीगदितं भाणो भाणी प्रस्थानरासकाः।
काव्यं च सप्त नृत्यस्य भेदाः स्युस्तेऽपि भाणवत् ॥—दशरूपक, अवलोक, १।८

रूपकों की संख्या के बारे में आचार्यों में ऐकमत्य का अभाव है। भरत मुनि ने दशरूपकों के साथ साथ दो संकीर्ण रूपकों का भी उल्लेख किया है।[1] उनके कथन से यह अभिप्राय निकलता है कि नाटक और प्रकरण के संकर से 'नाटी' और 'प्रकरणी' दो संकीर्ण रूपक उत्पन्न होते हैं। धनंजय सिर्फ नाटिका को ही संकीर्ण का भेद मानते हैं। धनिक ने दोनो संकीर्ण रूपकों का खंडन किया है।[2] काव्यानुशासनकार हेमचन्द्र[3] तथा नाट्यदर्पणकार[4] ने रूपक के बारह भेदों का उल्लेख किया है। धनंजय ने विष्णु के दशावतार के आधार पर रूपक के दस भेद माने हैं।[5] आचार्य विश्वनाथ[6] के अनुसार रूपक के दस प्रकार निम्नलिखित हैं—(१) नाटक, (२) प्रकरण, (३) भाण, (४) व्यायोग, (५) समवकार, (६) डिम, (७) ईहामृग (८) अंक, (९) वीथी तथा (१०) प्रहसन। उपरूपकों के प्रकार के बारे में भी आचार्यों में अनेक मतभेद है। भोजराज ने अपने शृंगारप्रकाश में चौदह उपरूपकों का वर्णन किया है। शारदातनय के भावप्रकाशन में १८ उपरूपकों के सोदाहरण लक्षण मिलते हैं। साहित्यदर्पणकार[6] ने उन्हीं के आधार पर निम्नलिखत १८ उपरूपकों का वर्णन किया है—(१) नाटिका, (२) त्रोटक, (३) गोष्ठी, (४) सट्टक, (५) नाट्यरासक, (६) प्रस्थान, (७) उल्लाप्य, (८) काव्य, (९) प्रेङ्खण, (१०) रासक, (११) संलापक, (१२) श्रीगदित, (१३) शिल्पक, (१४) विलासिका, (१५) दुर्मल्लिका, (१६) प्रकरणी, (१७) हल्लीशक और (१८) भाणिका।

शारदातनय ने डोम्बी, मल्लिका, कल्पवल्ली और पारिजातक नामक चार और उपरूपक-प्रकार माने है।

---

१. अनयोश्च बन्धयोगादेको भेदः प्रयोक्तृभिर्ज्ञेयः
प्रख्यातस्त्वितरो वा नाटी संज्ञाश्रिते काव्ये ॥ —ना० शा०, १८।५७

२. दशरूपकम्, प्रकाश ३, कारिका ४३वीं की टीका।

३. पाठ्यं नाटकप्रकरणनाटिकासमवकारेहामृगडिमव्यायोगोत्सृष्टिकाङ्कप्रहसनभाणवीथीसट्टकादि। —काव्यानुशासन, अष्टमाध्याय, पृ० ३१७।

४. ना० द०, पृ० २२।

५. दशरूपकम्, प्र० प्र० २।

६. सा० द०, परि० ६।३।

७. वही, ६।४–६।

महाकवि कालिदास की रचनाओं के निरूपण से पता चलता है कि उन्होंने भी रूपक एवं उपरूपक के भेद को स्वीकार किया है। उनके अभिज्ञानशाकुन्तलम् तथा मालविकाग्निमित्रम् रूपक-प्रकार 'नाटक' हैं तथा विक्रमोर्वशीयम् उपरूपक का भेद 'त्रोटक' है। कालिदास ने रूपक के दश भेदों में से प्रकरण नामक भेदों को भी स्वीकार किया है।[1] यहाँ विभिन्न आचार्यों के अनुसार नाटक एवं त्रोटक का विश्लेषणात्मक विवेचन प्रस्तुत्य है।

नाटक :

अभिनवगुप्त ने सिर्फ नर्तनार्थक 'नट्' धातु से नाटक की व्युत्पत्ति मानी है।[2] नाट्यदर्पणकार आचार्य रामचन्द्रगुणचन्द्र ने नर्तनार्थक नट् धातु से नाटक शब्द को व्युत्पन्न माना है। "नाटकमिति नाट्यति विचित्रं रंजनाप्रवेशेन सभ्यानां हृदयं नर्तयतीति नाटकम्। ......नाट्यदर्पण १.५" यह मत सर्वमान्य है।

भरतमुनि के मतानुसार नाटक रूपक की वह विधा है जो पाँच संधियों, चार वृत्तियों, चौंसठ अंगों, छत्तीस लक्षणों सहित नाटकालंकारों से सुशोभित अत्यन्त सरस, उत्कृष्ट भावों से समन्वित, चमत्कारपूर्ण रचना से युक्त, महापुरुषों के सत्कार से सम्पन्न, अनिन्दित आचारण सन्निविष्ट, संधियों में सुश्लिष्ट, प्रयोगों में रमणीय, सुख का आश्रय तथा मृदुल शब्दों से युक्त हो।[3]

रामचन्द्रगुणचन्द्र के विचार से जिस नाट्य प्रकार में पौराणिक एवं ऐतिहासिक आद्य राजचरित का वर्णन हो, जो धर्म, काम एवं अर्थ का फलदाता हो तथा जो अंक, 'उपाय' (पंच अर्थप्रकृति), दशा (पंचावस्था) से समन्वित हो, वह नाटक के नाम से अभिहित होता है।[4]

---

१. तदिदानीं कतमत प्रकरणमाश्रित्यैनमाराधयाम: ?

—(अभि० शा० अंक १, पृ० १३)

२. नाटकं नाम तच्चेष्टितं प्रह्वीभावदायकं भवति तथा हृदयानुप्रवेशरंजनोल्लासनया हृदयं शरीरं......च......नाटकम्।

(अभिनव भारती, १८ अ०, पृ० ४१३)

३. पंचसंधिचतुर्वृत्तिचतुः षष्ट्यंगसंयुतम्। षट्त्रिंशल्लक्षणोपेतमलंकारोपशोभितम्। महारसं महाभोगमुदात्तरचनान्वितम् महापुरुषसत्कारं साध्वाचारं जनप्रियम्॥ सुश्लिष्टसंधियोगं च सुप्रयोगं सुखाश्रयम्। मृदुशब्दाभिधानं च कविः कुर्यात्तु नाटकम्।

—(ना० शा०)

४. ख्याताद्यराजचरितं धर्मकामार्थसत्फलम्।
साङ्कोपायदशा सन्धिदिव्यांगं तत्र नाटकम् ॥५१॥ —(ना० द० पृ० १)

शारदातनय ने अपने भावप्रकाशन में लिखा है कि सुबन्धु ने नाटक को पाँच वर्गों में विभाजित किया है—पूर्ण, प्रशान्त, भास्वर, ललित और समग्र इन सभी प्रकारों में विलास, विप्रलम्भ, विप्रयोग, विशोधन और उपसंहार नाम पाँच सन्धियाँ होती हैं—

सुबन्धुर्नाटकस्यापि लक्षणं प्राह पंचधा । पूर्णं चैव प्रशान्तं च भास्वरं ललितं तथा। समग्रमिति विज्ञेया नाटके पंच जातयः । उपक्षेपः परिकरः परिन्यासो विलोभकम् । एतान्यंगानि कार्याणि सर्वनाटक जातिषु ।।

इस प्रकार सुबन्धु ने अलग-अलग सन्धियों की कल्पना अवश्य की है, लेकिन सभी नाटक प्रकारों के बारे में उन्हें परंपरागत विचार ही मान्य है। आचार्य विश्वनाथ ने नाटक का लक्षण निरूपित करते हुए लिखा है कि नाटक नामक रूपक वह दृश्य काव्य है जिसकी कथावस्तु रामायण, महाभारत तथा इतिहास प्रसिद्ध हो, पंचसंधिसमन्वित हो, जिसमें विलास, समृद्धि आदि गुण तथा अनेक प्रकार के ऐश्वर्यों का वर्णन हो, जहाँ मानव-जीवन के सुख-दुःख की उत्पत्ति दिखायी जा सके और अनेक रसों का समावेश हो सके, जिसमें पाँच से दश तक अंक हो, जिसका नायक प्रसिद्ध राजवंश का धीरोदत्त, प्रतापी, गुणवान् कोई राजर्षि अथवा दिव्य या दिव्या-दिव्यपुरुष हो, जिसमें शृंगार या वीर रस प्रधान हो एवं अन्य रस अंगभूत हों; जिसकी निर्वहण सन्धि अत्यन्त अद्भुत हो, जिसमें चार या पाँच पुरुष प्रधान कार्य के साधन में व्याप्त हो तथा गौ की पूँछ के अग्रभाग के समान जिसकी रचना हो।[1]

अंग्रेजी के प्रसिद्ध कवि एवं समालोचक जॉन ड्राइडेन का विचार है कि नाटक मानव-प्रकृति का सच्चा और सजीव प्रतिबिम्ब है। इसमें जीवन की चित्त-वृत्तियों एवं लालसाओं का समावेश होता है।[2] इनके इस मत का अनुमोदन अरस्तु भी करते हैं।[3]

विभिन्न आचार्यों द्वारा निरूपित नाट्यलक्षणों के विश्लेषण से पता चलता है कि नाटक में प्रसिद्ध भूतकालीन चरित्र का चित्रण होता है क्योंकि वर्तमान और भविष्य चरित्रों का अभिनय नाटक-लक्षण के विरुद्ध है। नाट्यदर्पणकार के ऐसा कहने का तात्पर्य यह है कि वर्तमान कालिक नेता होने पर तात्कालिक प्रसिद्धि की

---

१. सा० द० परि० ६'७ ११।

. जॉन ड्राइडेन, एन एसे आन ड्रैमेटिक पोयजी।

३ पोयाटिक्स, II-III

बाधा से रसहानि हो सकती है तथा पूर्व महापुरुषों के चरितों में श्रद्धा भी।[1] उनके अनुसार भविष्यकालीन नेता का अभिनय भी असंभव है क्योंकि उनका कोई चरित ही नहीं होता। "चर्यतेस्म इति चरितम्" इस व्युत्पत्ति से स्पष्टतः भूतकाल का ही बोध होता है।[2]

नाटक के नायक के सम्बन्ध में भी अनेक मतान्तर हैं। धनंजय का कहना है कि नाटक का नायक या तो उत्कृष्ट गुणों से युक्त प्रसिद्ध वंश में उत्पन्न राजर्षि भूपति होता है। वह धीरोदात्त प्रकृति का और प्रतापशाली होता है। वह यश तथा कीर्त्ति की कामना किया करता है, उत्साह से युक्त होता है तथा तीनों वेदों (वैदिक परम्परा) का रक्षक होता है। अथवा नाटक का नायक कोई दिव्य देवता हो सकता है, जो उपर्युक्त सभी विशेषताओं से सम्पन्न होता है।[3] आचार्य विश्वनाथ धनंजय के उक्त राजर्षि एवं दिव्य के अतिरिक्त दिव्यादिव्य नामक नाटक के तीसरे प्रकार का नायक भी माना है।[4] उनके विचार से दुष्यंत आदि राजर्षि, श्रीकृष्ण आदि दिव्य एवं रामचन्द्र दिव्यादिव्य पात्र हैं। विश्वनाथ के कथन के प्रति प्रथम आक्षेप यह है कि कृष्ण को दिव्य, रामचन्द्र को दिव्यादिव्य क्यों माना जाय? वस्तुतः तीनों को राजर्षि की कोटि में रखा जा सकता है। दूसरा आक्षेप है कि यदि किसी नाटक का नायक दिव्य हो तथा अन्य पात्र मानव हो तो विश्वनाथ की नाटक की परिभाषा के अन्तर्गत नाटक का समावेश हो जायगा। अतः भरतमुनि के मत का समर्थन करते हुए कहा जा सकता है कि नाटक का नायक कोई भी मानव हो सकता है। नाट्य-दर्पणकार की दृष्टि में दिव्य कोटि के नायक माननेवाले उपर्युक्त विचारकों के मत उपर्युक्त प्रतीत नहीं होते हैं। इसके दो कारण हैं। पहला कारण है कि देवताओं के लिए अत्यन्त दुःसाध्य कार्य की भी सिद्धि उनकी इच्छा मात्र से

---

१. वर्त्तमाने च नेतरि तत्कालप्रसिद्धि बाधया रसाहानिः स्यात्, पूर्वमहापुरुष-चरितेषु च अश्रद्धानं स्यात्। —(नाट्यदर्पण, पृ० २५)

२. भविष्यतस्तु वृत्त चरितमपि न भवति, चर्यतेस्म चरितमित्यतीतनिर्देशात्। —(ना० द० पृ० २५)

३. अभिगम्यगुणैर्युक्तो धीरोदात्तः प्रतापवान् ॥२२॥
कीर्त्तिकामो महोत्साहस्त्रय्यास्त्राता महीपतिः।
प्रख्यातवंशो राजर्षिर्दिव्यो वा यत्र नायकः ॥२३। —(दश० प्र०३)

४ प्रख्यातवंशो राजर्षिर्धीरोदात्तः प्रतापवान्।
दिव्योऽथ दिव्यादिव्यो वा गुणवान्नायको मतः ।९॥ —(सा० द० परि० ६)

संभव है। दूसरा कारण यह है कि देवताओं के चरितों का अनुकरण मनुष्यों के लिए अशक्य होने के कारण उपदेशयोग्य नहीं होता है।[1] नाट्यशास्त्र में नायक के लिए प्रयुक्त "दिव्याश्रयोपेतम्" विशेषण का अर्थ अभिनवगुप्त ने दैवीपुरुष किया। काव्यानुशासनकार ने इनके अर्थ का खण्डन करते हुए लिखा है कि भरतमुनि ने दैवी सहायता के अर्थ में इसका प्रयोग किया है। इसके विचार से नाट्यदर्पणकार भी सहमत हैं। महाकवि कालिदास ने भरत मुनि के मत के अनुरूप अपने दोनों नाटकों के नायक दुष्यंत तथा अग्निमित्र जैसे प्रख्यात कुल के राजर्षि को बनाये हैं। नाटक की नायिका दिव्या हो सकती है क्योंकि मानवस्वरूप नायक के चरित अन्तर्भुक्त हो जाते हैं। कालिदास के विक्रमोर्वशीयम् की नायिका उर्वशी दिव्या है।

नाटक के नायक में औदात्य गुण का होना अपेक्षित माना गया है। अभिनवगुप्त ने उदात्त का अर्थ वीर रस योग्य माना है तथा उन्होंने बताया है कि नाटक के धीरललित, धीर प्रशान्त, धीरोद्धत और धीरोदात्त चारों प्रकार के नायक हो सकते हैं। लेकिन आचार्य विश्वनाथ, शिंगभूपाल तथा कृष्ण कवि के विचार से नाटक का नायक सिर्फ धीरोदात्त हो सकता है।[3] इनके मत को भरतमुनि के मत से पूरा विरोध है। भरतमुनि ने नायक का स्वभाव उदात्त, उद्धत, प्रशान्त या ललित माना है। नाटककारों ने अपने नाटकों में प्रायः चारों प्रकार के नायकों को चित्रित किया है। सागरनन्दिन के मतानुसार नाटक का नायक धीरललित होना चाहिए। उनका कहना है कि धीरोद्धत नायक देवता होते हैं। धीरललित राजा होते हैं,

---

१. देवतानां तु दुरुपपादस्याप्यर्थस्येच्छामात्रत एव सिद्धिरिति तच्चरितमशक्यानुष्ठानत्वात् न मर्त्यानामुपदेशयोग्यम्, तेन ये दिव्यमपि नेतारं मन्यन्ते, न ते सम्यगमंसतेति।
—ना० द०, पृ० २७।

२. नायिका तु दिव्यापि भवति यथोर्वशी, प्रधानेमर्त्यचरिते तच्चारितान्तर्भावात्। उपदेशानर्हप्रायवृत्तत्वेन दीप्तरसत्वेन च समवकारादौ दिव्योऽपि नेता न विरुध्यते।
—ना० द० पृ० २७।

३. साहित्य दर्पण ६।९, र० सु० ३-१३०, मं० म०, पृ० ६८।

धीरोदात्त सेनापति, अमात्य होते हैं तथा धीरप्रशान्त वैश्य होते हैं।[1] इनका मत ग्राह्य नहीं है क्योंकि संस्कृत के अनेक नाटकों के नायक धीरोदात्त हैं। नाट्यदर्पण-कार ने भी भरत के अनुरूप धीरोदात्त के अतिरिक्त अन्य प्रकार के नायकों को स्वीकार किया है।[2] कालिदास के रूपकों के सभी नायक धीरोदात्त हैं।

नाटक के इतिवृत्त के सम्बन्ध में धनंजय की भी मान्यता है कि उसे इतिहास प्रसिद्ध होना चाहिए। इसके साथ ही उनका कहना है कि नायक की प्रकृति (धीरोदात्तता) तथा नाटक के प्रमुख रस (वीर या शृंगार) के प्रतिकूल जो कोई बात इतिवृत्त में पाई जाती हो, कवि को चाहिए कि उसे इस प्रकार परिवर्तित कर दे कि नायक के चरित्र का वह दोष न रहे अथवा रस का वह प्रतिकूल तत्व हट जाय। इस तरह की जो भी अनुचित बात हो उसे छोड़ ही दे अथवा परिवर्तित करके नये रूप में रख दे।[3] महाकवि कालिदास ने धीरोदात्त नायक दुष्यन्त के चरित्र को निष्कलंक रखने के लिए दुर्वासा के शाप की कल्पना की।[4] अगर वे ऐसा नहीं करते तो अकारण शकुन्तला को भूल जाना उनकी कामुकता और लम्पटता को सिद्ध कर उसके धीरोदात्तत्व को दूषित कर देता। इस प्रकार महाभारत से प्राप्त मूल कथावस्तु में इन्होंने परिवर्द्धन किया है। नाटक की रूपरेखा के सम्बन्ध में पाश्चात्य विद्वान् आर० फ्लेकनोका विचार है कि अच्छे विनावट के कपड़े की तरह अच्छे नाटक की रूपरेखा होनी चाहिए। सुन्दर वस्त्र की तरह उसके सभी भाग सुसंगठित हों। उसकी वस्तु, आकार, रूपरग, रंजना,

---

१. ना० ल० र०, पृ० २२।

२. ये तु नाटकस्य नेतारं धीरोदात्तमेव प्रतिजानते, न ते मुनिसमयाध्यवगाहिनः नाटकेषु धीरललिता दीनामपि नायकानां दर्शनात्, कविसमयबाह्यश्च। (ना० द० पृ० २६)

३. यत्तत्रानुचितं किञ्चिन्नायकस्य रसस्य वा ॥२४॥
विरुद्धं तत्परित्याज्यमन्यथा वा प्रकल्पयेत्। (दश० प्र० ३)

४. विचिन्तयन्ती यमनन्यमानसा तपोनिधिं वेत्सि न मामुपस्थितम्। स्मरिष्यति त्वां न स बोधितोऽपि सन् कथां प्रमत्तः प्रथमं कृतामिव ॥१॥
(अभि० शा०, चतुर्थ अंक)

वातावरण आदि सभी में आकर्षक समन्वय होना चाहिए।[1] भरतादि आचार्यों की मान्यता है कि नाटक का अंत सुख-समृद्धि तथा नाना विभूति की उपलब्धि में होना चाहिए। कालिदास के अभिज्ञान शाकुन्तलम् में नाटक के उपयुक्त सभी लक्षण घटित होते हैं। अतः संस्कृत नाटकों की परम्परा में इसे सर्वश्रेष्ठ नाटक कहा गया है।

त्रोटक

त्रोटक को तोटक के नाम से भी अभिहित किया गया है। सागरनन्दी ने अपने ग्रन्थ नाटकलक्षण रत्न कोष में लिखा है कि अश्मकुट्टाचार्य के मतानुसार इसमें दिव्य तथा मानव पात्रों का चित्रण होता है और इसके प्रत्येक अंक में विदूषक विद्यमान रहता है।[2] आचार्य नखकुट्ट का कथन है कि दिव्य तथा मानवपात्रों का सम्मिश्रण ही त्रोटक है, क्योंकि इसके अलावा इसका सारा स्वरूप नाटक के समान होता है।[3] आचार्य बादरायण भी इसे ही स्वीकारते हैं।[4] उपर्युक्त लक्षणों से सर्वथा स्पष्ट है कि दिव्य नायिका के साथ मानव नायक का मिलन त्रोटक की विशेषता है। प्रत्येक अंक में विदूषक का रखा जाना उसकी मुख्य विशेषता नहीं है। महाकवि कालिदास की भी यही धारणा उनके त्रोटक-उपरूपक विक्रमोर्वशीयम् में स्पष्टतः परिलक्षित होती है। विक्रमोर्वशीयम् के प्रत्येक अंक में विदूषक नहीं है। इसमें पाँच अंक हैं।

आचार्य विश्वनाथ का कहना है कि इसमें, पाँच, सात, आठ या ज्यादा-से-ज्यादा नौ अंक होते हैं तथा देवता और मनुष्य का संमिश्रित वृत्त हुआ करता है। इसके प्रत्येक अंक में विदूषक की उपस्थिति आवश्यक है, अतः इसमें शृंगार रस की प्रधानता होती है।

शारदातनय ने त्रोटक (तोटक) के बारे में लिखा है कि इसके किसी-किसी अंक में विदूषक नहीं रहता है। शेष बातें उपर्युक्त ढंग से ही होती हैं।[5] सात अंक के तोटक का उदाहरण स्तम्भितरम्भम्' है।

---

१. आर० फ्लेकनो—डिसकोर्स ऑफ दि इंगलिश स्टेज।
२. दिव्यमानुषसंयोगोऽङ्केऽप्यंके विदूषकः। (ना० ल० र०, पृ० २६२) (चौ० प्र०)
३. दिव्यामानुष संयोगस्तोटकं नाटकार्थकम्। (वही)
४. तोटकं तद्धि विज्ञेयं दिव्यमानवसम्भवम्। (वही)
५. दिव्यमानुष संयोगो यत्रांकैरविदूषकैः। (भा० प्र० अधिकार ८)

नाट्य-प्रयोग-प्रक्रिया :

कालिदास ने विक्रमोर्वशीयम् के आरंभ में नाटक के लिए प्रयोगबन्ध[1] शब्द का प्रयोग किया है। अभिज्ञानशाकुन्तलम् में उन्होंने नाट्य के लिए प्रयोग-विज्ञान[2] शब्द का प्रयोग किया है। इनके नाट्यग्रथन (प्रयोगबन्ध) की प्रक्रिया शास्त्रानुमोदित है।

उपर्युक्त नाट्य के दश प्रकारों में नाटक को ही सभी आचार्यों ने सर्वश्रेष्ठ माना है; क्योंकि इसमें अन्य रूपक प्रकारों की अपेक्षा रंजन तथा रस की अधिकता होती है। इसमें विविध रसों का परिपाक होता है। साथ ही, इसमें सर्वांगीण अभिनय-सौंदर्य दिखाई पड़ता है। धनंजय ने तो नाटक को अन्य रूपक-प्रकारों की प्रकृति (मूल) माना है। उसी में नाट्य तत्त्वों (वस्तु, नेता और रस) के परिवर्त्तन करने से प्रकरण आदि रूपकों की सृष्टि होती है।[3] भावप्रकाशनकार ने नाटक-रचना को बहुत बड़ी नाट्य-कला-साधना मानी है।[4] भरतमुनि ने इसे नाट्य का उद्‌भव (उत्थान) कहा है।[5] इन तथ्यों के आधार पर इस नाट्यग्रथन-प्रक्रिया में नाटक-रचना की प्रक्रिया का विश्लेषण किया जाता है। शेष रूपक-प्रकार यत्किंचित् परिवर्त्तन के साथ तदनुरूप ही रचित होते हैं। अतः यहाँ नाटक-प्रयोग की प्रक्रिया का विशेष विवेचन ध्येय है। इसके विश्लेषण के साथ हमें यह विवेचनीय है कि कालिदास द्वारा ग्रथित नाटक में इस प्रक्रिया का कहाँ तक निर्वाह किया गया है। नाटकीय रचना-विधान की दृष्टि से अभिज्ञानशाकुन्तलम् सर्वोत्कृष्ट नाटक है।

आचार्य विश्वनाथ के मतानुसार नाटक-रचना (नाटक-प्रयोग) में सबसे पहले पूर्वरंग-विधान, उसके बाद रंग सभापूजन, फिर नाटक के कवि किंवा नाटक के नाम

---

१. सूत्रधार—मारिष, बहुशस्तु परिषदा पूर्वेषां कवीनां दृष्टाः प्रयोगबन्धाः।
—विक्र० पृ० ५।

२. सूत्रधार—आपरितोषाद्विदुषां न मन्ये प्रयोगविज्ञानम्।
—अभि० शा० पृ० ९, अंक १।

३. प्रकृतित्वादथान्येषां भूयो रसपरिग्रहात्। सम्पूर्ण लक्षणत्वाच्च पूर्वं नाटकमुच्यते॥
—(दशा० तृ० प्र०)

४. अपि सिध्येत विदुषां सुक्तिरभ्यासकौशलम्। न तु नाटकविद्यां सर्वलोकानुरंजिनी॥
—(भावप्रकाशन)

५. धर्मार्थसाधनं नाट्यं सर्वदुःखापनोदकृत्।
आसेवध्वं तदृषयस्तस्योत्थानं तु नाटकम्॥

का संकीर्तन और अन्त में, आमुख (या प्रस्तावना) प्रस्तुत करने का नियम है।[1] यहाँ विश्वनाथ का पूर्वरंग वस्तुतः नान्दीगायन है न कि भरतनिर्दिष्ट प्राचीन रंगमंच का बाइस अंगों वाला पूर्वरंग। यहाँ सर्वप्रथम पूर्वरंग, नान्दी स्थापना (प्रस्तावना) आदि पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या प्रसंगतः अपेक्षित है।

पूर्वरंग-विधान :

भरतमुनि ने नाट्य-प्रयोग के आरम्भ के पूर्व अनेक अनुष्ठानों का विधान बतलाया है। इसमें प्रधानतः गीत, वाद्य, नृत्य एवं पाठ्य आदि का प्रयोग यवनिका के अन्दर तथा बाहर किया जाता है। ये विधियाँ नाट्य-प्रयोग के पहले ही संपन्न की जाती हैं, अतः इसे पूर्वरंग[2] कहा जाता है। आचार्य धनिक ने इसकी व्युत्पत्ति करते हुए लिखा है—पूर्वं रज्यते स्मिन्निति पूर्वरङ्ग नाट्यशाला। अर्थात् जिसमें सामाजिकों को पहले आनन्द मिले। इस प्रकार पूर्वरंग का अर्थ नाट्यशाला है। इसमें (नाट्यशाला में) नाटक आदि रूपक के आरंभ में जो औपचारिक क्रियाएँ (प्रयोग, व्युत्थापन आदि) मंगलाचरण, देवतास्तवन आदि की जाती हैं, उन्हें पूर्वरंगता (पूर्वरग का काम) कहा जाता है। शारदातनय का विचार है कि पूर्वरंग की त्रिया द्वारा नट आदि का पारस्परिक अनुरंजन भी होता है, इसलिए सामाजिकों के लिए इसका प्रयोग आंशिक महत्त्व का है। चूँकि इसकी अधिकांश क्रियाएँ यवनिका के अन्दर ही सम्पन्न हो जाती हैं।[3] आचार्य विश्वनाथ के मतानुसार रंग (नाट्यशाला) की विघ्नशान्ति (मंगलशंसा) के लिए नाट्य-प्रयोग के पहले, नटों के द्वारा किया गया मांगल्य गायनवादनादि पूर्वरंग कहा जाता है।[4] रामचन्द्रगुणचन्द्र

---

१. तत्र पूर्वं पूर्वरंगः सभा पूजा ततः परम्।
कथनं कविसंज्ञादेर्नाटकस्याऽप्यथामुखम् ॥२१॥ —(सा० द०, परि० ६)

२. यस्माद्रङ्गे प्रयोगो पूर्वमेव प्रयुज्यते।
तस्मादयं पूर्वरङ्गो विज्ञेयो द्विजसत्तमाः ॥७॥ —(ना० शा० अध्याय ५)

३. सभापतिः सभा सभ्य गायका वादका अपि।
नटी नटाश्च मोदन्ते यत्रान्योन्यानुरंजनात् ॥
अतो रंग इति ज्ञेयः पूर्वं यत्स प्रकल्प्यते।
तस्मादयं पूर्वरंग इति विद्वद्भिरुच्यते ॥
कला पादाः पादभागाः परिवर्ताश्च सूरिभिः।
पूर्वं क्रियन्ते यद्रङ्गे पूर्वरंगो भवेदतः ॥ —(भावप्रकाशन। आधार ७)

४. यन्नाट्यवस्तुनः पूर्वं रंगविघ्नोपशान्तये।
कुशीलवाः प्रकुर्वन्ति पूर्वरंगः स उच्यते ॥२२॥ —(सा० द० परि० ६)

का कथन है कि पूर्वरंग के प्रयोग में रंजना ही मुख्य हेतु है। विघ्नोपशान्ति, पाठ एवं मंगलाशंसा का श्रद्धा के कारण महत्त्व है। यदि पूर्वरंग के धार्मिक आनुष्ठानिक पक्ष पर जोर नहीं भी दिया जाय तो भी इसका प्रयोग विशुद्ध नाट्य प्रयोग से सम्बद्ध है। इस तरह यवनिका के भीतर की जानेवाली प्रत्याहार, अवतरण आदि क्रियाओं की उपेक्षा संभव नहीं है। अभिनवगुप्त ने पूर्वरंग की विधियों की तुलना तन्तुपट से करते हुए लिखा है कि जिस प्रकार तुरी, तन्तु वेमा आदि के योग से पट बनता है उसी प्रकार गीत, वाद्य, पाठ्य तथा नृत्य रूपी एक-एक सूत्र को मिलाकर ही प्रयोगकर्त्ता नाट्य को सफल रूप प्रदान कर सकता है। इस सफलता का अन्तिम परीक्षा-स्थल पूर्वरंग है जिससे प्रेक्षक विद्वान् संतुष्ट होते हैं। भरतमुनि का कथन है कि रंगस्थ देवगण का पूजन, वैदिक-यज्ञ के समान है, अतः रंगपूजन की प्रेक्षा (रूपक) का प्रदर्शन नहीं करना चाहिए।[१]

नाट्यशास्त्र में पूर्व रंग के १९ अंग बताये गये हैं। (१) प्रत्याहार—(वाद्य-यन्त्र-विन्यास), (२) अवतरण (गायक-गायिकाओं का उचित स्थान पर निवेशन), (३) आरम्भ (सामूहिक गीत का आरंभ), (४) आश्रवण (वाद्ययंत्रों की आलाप आदि के साथ समरूपता लाना), (५) वक्त्रपाणि (वाद्ययन्त्रस्वरसन्धान), (६) परिघट्टना (तन्त्रीवाद्य-स्वरसंधान), (७) संघोटना, (८) मार्गसारित (वाद्ययंत्रों का स्वरसमन्वय), (९) आसारित (नर्तकियों के पादविन्यासगत कला एवं लय का निश्चय) का प्रयोग यवनिका के अन्दर होता था तथा शेष दस विधियों अर्थात् (१) गीतक या गीतविधि (देव-संकीर्तन), (२) उत्थापन (नान्दीपाठकों द्वारा मंगलोत्सवसमारम्भ), (३) परिवर्तन (सूत्रधार द्वारा परिक्रमा कर इन्द्र की वन्दना एवं जर्जरस्तुति, (४) नांदी (सूत्रधार द्वारा आशीर्वचनयुक्त स्तुतिपाठ), (५) शुष्कावकृष्ट (सूत्रधार द्वारा जर्जर श्लोक के पाठ के अवसर पर अवकृष्टा-ध्रुवा का शुष्काक्षर में पाठ), (६) रंगद्वार (आंगिक एवं वाचिक अभिनय की अवतारणा), (७) चारी (शृंगाररस के भावों का गति द्वारा प्रसार), महाचारी (रौद्ररस के भावों की गतियों द्वारा अभिव्यक्ति), (९) त्रिगत (सूत्रधार, पारिपार्श्विक

---

१. यज्ञेन सम्मितं ह्येतद्रङ्ग दैवतपूजनम्।
अपूजयित्वा रंगन्तु नैव प्रेक्षां प्रयोजयेत् ॥ ९८ ॥

—ना० शा० शा० अ० ३

तथा विदूषक के द्वारा कथावस्तु के सम्बन्ध में कौतूहलपूर्ण वार्तालाप) और (१०) प्ररोचना (काव्योपक्षेपयानि कथावस्तु का निरूपण तथा कवि के अभिधान को बतलाकर सामाजिकों में प्रस्तुत होने वाले प्रयोग के प्रति अभिरुचि जगाना) को यवनिका के उद्‌घाटन के बाद रंगपीठ पर प्रस्तुत किया जाता था।[1] इन दशों विधियों के द्वारा मुख्य रूप से मंगलाशंसा एवं नाट्यप्रयोग के प्रयोजन की सूचना दी जाती है। उपर्युक्त पूर्वरंग के अंगों की संख्या के बारे में अनेक मतांतर हैं। ब्रह्मा द्वारा नाट्योत्पत्ति के प्रसंग में उल्लिखित नान्दी तथा उसके नित्य प्रयोग के स्पष्ट निर्देश को ध्यान में रखकर कुछ आचार्य नान्दी के अतिरक्त शेष अंगों को अधिक महत्वपूर्ण नहीं मानते हैं, आचार्य अभिनवगुप्त, शारदातनय एवं सागर नन्दी ने शेष अंगों का विवेचन करते हुए नान्दी की प्रमुखता और अनिवार्यता का उल्लेख किया है। पूर्व रंग विधान के बाद रंगसभा पूजन अपेक्षित माना गया है, चूंकि रंग-सभासदों के निमित्त ही पूर्व रंग की भूमिका आवश्यक मानी गयी है। नाटक या स्वनामसंकीर्तन आदि नाटककार किंवा नटों के वाञ्छाकल्प में अन्तर्भूत माना गया है।[2] साहित्यदर्पणकार ने लिखा है कि यद्यपि पूर्वरंग प्रत्याहार (तन्त्री, भाण्ड आदि के समीनयन) आदि अनेक क्रियाओं का संमिश्रित रूप है, लेकिन तब भी इसके प्रमुख अंग नान्दी गायन का विधान अवश्य किया जाना चाहिए, क्योंकि विघ्न शान्ति का सम्बन्ध इसी से है।[3] इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन-विश्लेषण से स्पष्ट है कि नाट्य-प्रयोग की दृष्टि से पूर्व रंग की विधियों का कम महत्त्व नहीं है। कालिदास के अभिज्ञानशाकुन्तलम् नाटक के आरंभ में सूत्रकार[4] के कथन से

---

१. ना० शा०, अ० ५। श्लोक ८-१५, चौ० वि० प्रकाशन, संपादक—डा० सत्यव्रत सिंह।

२. भाव० प्र०

३. प्रत्याहारादिकान्यङ्गन्यस्य भूयांसि यद्यपि।
तथाप्यवश्यं कर्त्तव्या नान्दी विघ्नोपशान्तये ॥२३॥ सा० द० परि० ६।

४ अभि० शा० प्रथम अंकः—पृ० ५।
सूत्रधार :—(नेपथ्याभिमुखमवलोक्य) आर्ये।
यदि नेपथ्यविधानमवसितम्, इतस्तावदागम्यताम् ॥

स्पष्ट विदित होता है कि कालिदास को नाट्य प्रयोग के लिए पूर्वरंग विधान-क्रिया मान्य थी। यही कारण है कि रंगपीठ पर प्रयोज्य नान्दी-गायन को उन्होंने तीनों रूपकों में प्रस्तुत किया है। यहाँ प्रसंगतः नान्दी के स्वरूप के बारे में विभिन्न आचार्यों के मतों की समीक्षा कर कालिदास द्वारा प्रयुक्त नान्दी का विश्लेषण-विवेचन अपेक्षित है।

नान्दी :

"नन्दयति देवादीन् स्तुत्या, आनन्दयति च सभ्यान् स्तुतदेवप्रसादादिति नान्दी" इस व्युत्पत्ति का अभिप्राय है कि जिस मंगलगायन के द्वारा देवों की स्तुति की जाती है तथा उनके (स्तुत देवों के) प्रसाद से सामाजिकों को आनन्द प्रदान किया जाता है, उसे नान्दी कहते हैं। भरतमुनि प्रोक्त नान्दी-लक्षण को दुहराते हुए आचार्य विश्वनाथ ने लिखा है कि नान्दी देव, द्विज एवं नृपादि की ऐसी स्तुति (गीति) है; जिसमें रंग सामाजिकों की शुभाशंसा का अभिप्राय गर्भित रहता है।[१] भरतमुनि ने इसमें देव, द्विज आदि पूज्यजनों की वन्दना के साथ प्रशासक के सुशासन, राष्ट्र के प्रवर्धन, रंगमंच की आशाओं, (संभावनाओं, योजनाओं, प्रयोगों इत्यादि की) समृद्धि; नाट्यकार कवि को धर्म एवं यश की प्राप्ति और देवताओं के प्रीतिवर्धन की कल्पना की गयी है।[२] आचार्य विश्वनाथ का कहना है कि इस नान्दी के द्वारा शंख, चक्र, पद्म, चक्रवाक, कैरव आदि मंगलदायक वस्तुओं की अभिव्यंजना होनी चाहिए। यह अष्टपदा और द्वादशपदा दोनों हो सकती है।[४] शिंगभूपाल का विचार है कि इसमें

---

१. आशीर्वचनसंयुक्ता स्तुतिर्यस्मात्प्रयुज्यते।

देवद्विजनृपादीनां तस्मान्नान्दीति संज्ञिता ॥२४॥

—ना० शा०, सा० द० परि० ६।२४

२. ना० शा० अ० ५। १०७-१०९।

३ सा० द० परि० ६।२५।

आठ, दश या बारह पद हो सकते हैं।[1] नाट्य प्रदीपकार के मतानुसार नान्दी कविजन, कुशीलव तथा सभ्य लोगों को नन्दन करती हुई सज्जन रूपी सागर की हंसिनी की तरह दिखलाई पड़ती है।[2] प्रतापरुद्रीय में नान्दी के द्वारा काव्यार्थ-सूचन दिखला कर नान्दी के पदों की संख्या २२ तक बढ़ा दी गयी है। अभिज्ञानशाकुन्तल की राघवभट्ट प्रणीत व्याख्या में उद्धृत आदि भरत के मत में नान्दी के द्वारा काव्यार्थ की सूचना दी जाती है तथा इसमें पदों की संख्या आठ या दश रखी जाती है।[4] भावप्रकाशनकार ने नान्दी और रंगविघ्न-शान्ति का अटूट सम्बन्ध स्थापित किया है।[5] नान्दी के सम्बन्ध में नाट्यदर्पण का मत विशेष स्पष्ट है—नान्दी च पूर्वरङ्गाङ्गानां द्वादशमङ्गं सकलपूर्वरङ्गाङ्गोपलक्षिका, तेन नान्द्यन्ते सूत्रधार इत्यस्य सकलपूर्वरङ्गाङ्गानि तु केषांचित्लोकप्रसिद्धत्वात् केषांचिन्निष्फलत्वात् केषांचिदनवश्यं-भावित्वाच्च न लक्ष्यन्ते। नान्दी तु अवश्यंभावित्वान्मङ्गलाभिधानपूर्वकत्वाच्च शुभकृत्या रम्भस्येति लक्षिता। अतएव कवयो रूपकारणे, नान्द्यन्ते सूत्रधार इति पठन्ति। यत्र तु कविकृत नान्दी न दृश्यन्ते तत्रापि रंगसूत्रणाकर्तृकृता द्रष्टव्या। नान्दी पाठकाश्च सूत्रधार-स्थापक-पारिपार्श्विका इति। अग्निपुराण के अनुसार नान्दी के बाद सूत्रधार का प्रवेश होता है।[6] भरत मुनि का कथन है कि नाट्यारम्भ में सूत्रधार को सबसे पहले नान्दी-पाठ करना चाहिए। कुछ आचार्य भरत के इस विचार से सहमत नहीं हैं। आचार्य विश्वनाथ ने उपर्युक्त भरतानुसार नान्दीलक्षण तो प्रस्तुत किया है, किन्तु उनका अपना मत उससे भिन्न है। उनका कहना है कि उपर्युक्त आशीर्वचनरूप नान्दीलक्षण वस्तुतः नाट्याचार्य भरतमुनिसम्मत पूर्वरङ्गाङ्ग-भूत नान्दी लक्षण नहीं, अपितु कुछ अन्य नाट्यशास्त्रकारों का नान्दी लक्षण है। यह

---

१. र० सु० तृ० अ०।

२. नन्दन्ति काव्यानि कवीन्द्रवर्गाः कुशीलवाः पारिषदाश्च सन्तः।
यस्मादलं सज्जनसिन्धुहंसी तस्मादियं सा कथितेह नान्दी। —ना० प्र०

३. आशीर्नमस्क्रियारूपः श्लोक काव्यार्थसूचकः नान्दीति कथ्यते।
—अभि० शा० टीका निर्णय, सं० पृ० ५।

४. नान्दी वृपो······सस्मृता (भाव० प्र० अधिकार ७)

५. नाट्यदर्पण, चतुर्थ विवेक।

६. अग्निपुराण—३३८।९-१०।

नान्दी लक्षण पूर्वरङ्गविधान के एक अंग रंगद्वार का लक्षण है। अतः शारदातनय आदि कुछ नाट्याचार्यों का कहना है कि सामाजिकों के लिए आशीर्वचन (नान्दी) पूर्व ही रंगशाला में जो नाट्यारम्भ के लिए नटों द्वारा (देवादि स्तुतिरूप) वाचिक या आंगिक अभिनय किया जाता है वह (रंग में किये जाने वाले नाटक-प्रयोग के द्वार अथवा उपक्रम रूप होने के कारण) रंगद्वार नामक पूर्वरंग का अंग है।[1]

यस्मादभिनयो ह्यत्र प्राथम्यादवतार्यते।
रंग द्वारमतो ज्ञेयं वागङ्गभिनयात्मकम् ॥

अपने तर्क की पुष्टि के निमित उन्होंने भरतमुनि के साक्ष्य पर कहा है कि पूर्वरंग के अंगों में रंग द्वार के पहले जिस नान्दी नामक अंग का निर्देश किया गया है, वही संपादित होता है। अतः नाटककार के साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। कालिदास आदि के नाट्य-प्रयोगों में जो नान्दी[2] है, इसमें पूर्वरंग के अंगभूत नान्दी का लक्षण नहीं घटित होता है। यह नाटक से सम्बद्ध है, नाटक की पूर्वरंग-विधि से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। ऐसी नान्दी के बारे में भरतमुनि ने कहा है कि कवि को अपने नाटक का आरम्भ रंगद्वार से करना चाहिए। रंगद्वार से पूर्व नान्दी की रचना नटों की नान्दी-रचना है और रंगद्वार-रूप नान्दी नाटककार की रचना है। इसी कारण कालिदास के अभिज्ञानशाकुन्तलम् आदि नाटकों की प्राचीन प्रतिलिपियों में नान्द्यन्ते सूत्राधारः लिखा हुआ है और उसके बाद नाटककार रचित नान्दी (रंगद्वार) का उल्लेख किया गया है। कालान्तर में नाटकों की प्रतिलिपियों में नाटककाररचित नान्दी के बाद जो नान्द्यन्ते सूत्रधारः का निर्देश है, उसका अभिप्राय यह है कि पूर्वरंग के नान्दी के बाद नाटककार रचित नान्दी गायन

---

१. भा० प्र०

२. वेदान्तेषु यमाहुरेकपुरुषं व्याप्य स्थितं रोदसी
यस्मिन्नीश्वर इत्यनन्यविषयः शब्दो यथार्थाक्षरः।
अन्तर्यश्च मुमुक्षुभिर्नियमितप्राणादिभिर्मृग्यते।
स स्थाणुः स्थिरभक्तियोग सुलभो निःश्रेयसायास्तु वः ॥१॥

—(विक्र०)

सूत्रधार का कार्य है। तदुपरन्त नाटक का आरम्भ होता है।[1] आचार्य विश्वनाथ की नान्दी-सम्बन्धी स्थापना परम्पराविहित नहीं है। लगता है इनके इस विचार पर कालिदास आदि के नाटकों का प्रभाव है। नाट्यदर्पणकार ने भी इसी से प्रभावित होकर तदनुरूप उपयुक्त अपना मत अभिव्यक्त किया है।

नान्दी दो प्रकार की होती है— शुद्ध तथा पत्रावली। शुद्ध नान्दी सरल, मांगलिक, आशीर्वचनात्मक और नमस्कृति से युक्त होती है। इसके विपरीत पत्रावली नान्दी ध्वन्यात्मक होती है तथा इसमें बीज का विन्यास तथा अभिधेय वस्तु का विन्यास श्लेष अथवा समासोक्ति के द्वारा किया जाता है।[2] कालिदास ने अपने तीनों रूपकों में चार चरणों के कारण चतुष्पदा अथवा अवान्तर वाक्य होने के कारण अष्टपदा नान्दी का प्रयोग किया है। उन्होंने अभिज्ञानशाकुन्तलम् तथा मालविकाग्निमित्रम् में पत्रावली नान्दी का प्रयोग किया है क्योंकि उसमें कथावस्तु का उल्लेख इस प्रकार हुआ है—

"या स्रष्टुः आद्यासृष्टि—से शकुन्तला की ओर संकेत किया गया है, जिसे ब्रह्मा की सर्वश्रेष्ठ रचना माना गया है। "या विधिहुतं हविः वहति" से शकुन्तला के गर्भधारण करने की ओर संकेत किया गया है। "ये द्वे कालं विधत्तः" से शकुन्तला की दोनों सखियों (अनसूया और प्रियम्वदा) की ओर संकेत किया गया है जो कि शाप के समाप्ति-काल से परिचित थीं "श्रुतिविषयगुणा" से शकुन्तला के गुणों के संसार में फैलने की ओर संकेत है। "सयामाहुः सर्ववीजप्रकृतिः" से भरत (सर्वदमन) को उत्पन्न करने वाली शकुन्तला की ओर संकेत किया गया है। "या प्राणिनः प्राणवन्तः" से शकुन्तला एवं सर्वदमन के साथ राजा दुष्यन्त के अपने राज्य की ओर लौट आने का संकेत मिलता है। इस घटना से उसकी सम्पूर्ण प्रजा (प्राणिनः) मानो पुनः जीवित हो उठी थी। इससे राजा दुष्यन्त की ओर संकेत है जो शरीर होने के कारण पंचतत्व समन्वित है। यज्ञ करने के कारण उसे होता तथा सभी लोकपालों का अंश उसमें होने के कारण उसे विशिष्ट तेजस्वी कहा है। संभवतः

१. सा० द०, पृ० ३७१।

२. यस्यां बीजस्य विन्यासो ह्यभिधेयस्य वस्तुतः।
श्लेषेण वा समासोक्त्या नान्दी पत्रावलीति सा ॥ (ना० द०)

इसी आधार पर इसके सम्बन्ध में सूर्य और चन्द्रमा के तेज से युक्त होने की कल्पना भी की गयी है। इस प्रकार उसे भी शिव के समान उपयुक्त आठ रूपों से युक्त कहा जा सकता है। इसी प्रकार मालविकाग्निमित्रम् में शैव होने के कारण कालिदास ने शिवजी से हमारे हृदय के अन्धकार को दूर कर, प्रकाश के मार्ग में ले जाने की प्रार्थना की है, लेकिन इसके साथ ही नाटक की कथावस्तु की ओर भी संकेत कर अपनी नाट्य-निपुणता का परिचय दिया है। इस नाटक का नायक एक ऐसा ईश (राजा अग्निमित्र) है जो अपने सेवकों के सभी मनोरथों को पूरा कर देता है, अपनी प्रियतमा मालविका पर अनुरक्त होता हुआ भी राज्य का शासन तथा पालन भली-भाँति करता रहता है। इतना बड़ा राजा होता हुआ भी बिल्कुल विनीत है तथा अपनी प्रजा की बुराइयों को दूर करता हुआ उसे सन्मार्ग की ओर लगाता रहता है।

स्थापना (प्रस्तावना)

धनिक ने अपनी वृत्ति में स्थापक की व्युत्पत्ति करते हुए लिखा है कि जब पूर्वरंग में मंगलाचरण आदि का विधान सम्पन्न कर लेने के उपरान्त मंच से सूत्रधार लौट जाता है, तो उसी की तरह वैष्णव वेशभूषा में कोई दूसरा नट नाटकादि कथा वस्तु के काव्यार्थ की सूचना या स्थापना के कारण ही स्थापक कहलाता है।[१] आचार्य विश्वनाथ ने लिखा है कि सूत्रधार पूर्वरंग-विधि के बाद रंगमंच से उतर जाता है तथा उसके जाने के बाद सूत्रधार के समान ही दूसरा नट, जिसे स्थापक कहते हैं, रंगमंच पर आकर नाटक-प्रयोग की आस्थापना करता है। स्थापक द्वारा नाट्य-प्रयोग की इस उपक्रमणिका या आस्थापना को स्थापना कहते हैं। स्थापक का

---

१. पूर्वरंग विधाय विनिर्गते प्रथमं सूत्रधारे तद्वदेव वैष्णवस्थानकादिना
प्रविश्यान्यो नटः काव्यार्थं स्थापयेत्।
सच काव्यार्थस्थापनात् सूचनात्स्थापकः।

—दश रू० प्र० ३, पृ० ११३।

प्रवेश नाटकीय वस्तु के दिव्य होने पर दिव्य अवस्था में, अदिव्य होने पर अदिव्य अवस्था में और दिव्यादिव्य होने पर दिव्य या मानव अवस्था में होता है। स्थापक —सामाजिकों को नाट्य-वस्तु अथवा नाटक के बीज या मुख या पात्र की सूचना देता है। वह स्थापना-काल में भारती वृत्ति का प्रयोग करता है। वह कवि के नाम का संकीर्तन करता है तथा प्रस्तावना में मधुर श्लोकों के द्वारा नाट्य का प्रसादन भी करता है। वह कभी-कभी ऋतु वर्णन भी करता है।[1] भरतमुनि ने नाट्य शास्त्र में प्रस्तावना के ही पर्याय के रूप में स्थापना या आमुख का प्रयोग किया है।[2] अभिनवगुप्त ने स्थापक और सूत्रधार को अभिन्न मानते हुए लिखा है कि स्थापना का स्थापक या प्रस्तावक सूत्रधार ही नान्दी-प्रयोग को सम्पन्न कर स्थापक के रूप में प्रवेश करता है। प्रस्तावना भारती वृत्ति का अंग होती है। इसके उद्घात्यक कथोद्घात्य, प्रयोगातिशय, प्रवर्त्तक, तथा अवगलित आदि पाँचों भेदों में से किसी एक की योजना रूपक-प्रबन्ध में भरतमुनि ने अपेक्षित माना है। इनका सांगोपांग विश्लेषण नाट्यवृत्ति प्रकरण में किया जायगा। आचार्य नखकुट्ट के विचार से नेपथ्योक्त वचन या आकाशभाषित के श्रवण पर भी सूत्रधार इन भेदों के अलावे प्रस्तावना का कार्य कर सकता है। अतः यह अतिरिक्त प्रस्तावना-भेद है।[3]

---

१. पूर्वरंग विधायैव सूत्रधारो निवर्तते।
   प्रविश्य स्थापकस्तद्वत्काव्यमास्थापयेत्ततः ॥२६॥
   दिव्यमर्त्ये स तद्रूपो मिश्रमन्यतरस्तयोः।
   सूचयेद्वस्तु बीजं वा मुखं पात्रमथापि वा ॥२७॥
   रंगं प्रसाद्य मधुरैः श्लोकैः काव्यार्थसूचकैः।
   रूपकस्य कवेराख्यां गोत्राद्यपि स कीर्तयेत् ॥२८॥
   ऋतुं च कंचित्प्रायेण भारतीं वृत्तिमाश्रितः ॥
   —(सा० द० परि० ६) : (दशरू० प्रकाश ३। कारिका २-४)

२. ना० शा०, अध्याय ५। श्लोक १६८-१५।

३. सा० द० परि० ६।३९-४१।

संस्कृत नाट्य-प्रयोग में सूत्रधार के बाद स्थापक आता है। वह सामाजिकों के सामने नाटक की स्थापना करता है। वस्तुतः जैसा कि अभिनवगुप्त का उपर्युक्त कथन है, संस्कृत नाट्य-प्रयोगों में देखा जाता है कि सूत्रधार ही मंच पर प्रस्तुत होकर स्थापक का कार्य सम्पन्न करता है। कालिदास के तीनों रूपकों में सूत्रधार ही स्थापक के रूप में कार्य सम्पादन करते हुए दृष्टिगत होता है। वस्तुतः सूत्रधार शब्द ही अधिक सारगर्भित अर्थ रखता है चूँकि वही नाटकीय कथा-सूत्र की प्रथम सूचना देता है तथा नाटक के अभिनय से सम्बन्धित वस्तु एवं पात्रों की व्यवस्था करके नाट्याभिनय प्रारम्भ करता है। भरत के विचार से यह सूत्रधार ही नान्दीपाठ भी करता है। हम कह सकते हैं कि सूत्रधार ही नाट्यशाला का विधायक होता हैं। आचार्यों ने सूत्रधार की कई प्रकार से व्याख्या करने की कोशिश की है।[1] नाट्यकार और नाटक के गुण-दोष को भली-भाँति समझने के कारण सूत्रधार ही प्रस्तावना करने का अधिकारी भी है। प्रस्तावना सम्वादात्मक होती है न कि व्यक्तिविशेष का आलाप। अतः स्थापक (सूत्रधार) के साथ नटी अथवा पारिपार्श्विक रहता है। कभी-कभी इनकी जगह स्थापक के साथ विदूषक रहता है।[2] प्रस्तावना में प्रस्तुत अभिनय का आक्षेप करने वाली स्वविषयक अभिप्राय के सूचक चित्र-विचित्र उक्तियों का प्रयोग किया जाता है। प्रस्तावना के इस संलाप-क्रम में स्थापक (सूत्रधार) भारतीवृत्ति अपनाकर तदनुसार संस्कृतभाषा का प्रयोग करता है। संस्कृतभाषा का प्रयोग नही कर सकने के कारण नारी-पात्र इस वृत्ति का अवलम्बन नहीं कर सकती। कालिदास ग्रथित विक्रमोर्वशीयम् तथा मालविकाग्निमित्रम् नामक रूपकों में पारिपार्श्वक नामक (सूत्रधार का सहायक) पात्र नान्दी के बाद प्रवेश करता है तथा वह उसके (सूत्रधार के) साथ संलाप करता है। ये दोनों संस्कृत भाषा का प्रयोग करते हैं। लेकिन अभिज्ञानशाकुन्तलम् नाटक में नान्दी के पश्चात् नटी का प्रवेश होता है। सूत्रधार उससे संस्कृतभाषा में कहता है कि यदि नेपथ्यकार्य समाप्त हो गया हो तो इधर आओ। स्त्री होने के कारण नटी उससे प्राकृत भाषा में ही संलाप करती है। वार्त्ता-क्रम में सूत्रधार उपस्थित विद्वत् परिषत् में नाटककार कालिदास तथा उनकी रचना अभिज्ञानशाकुन्तलम्

---

१. सूत्रं धरतीति सूत्रधारः। —दशरूपक प्रकाश ३। अथवा—
नाटकीय कथासूत्रं प्रथमं येन सूच्यते। रंगभूमिं समाक्रम्य सूत्रधारः स उच्यते ॥
ना० शा०—सूत्रधारः पठेन्नान्दीं मध्यमं स्वरमाश्रितः।

२. नटी विदूषको वापि पारिपार्श्विक एव वा।
सूत्रधारेण सहिताः संलापं यत्र कुर्वते ॥३१॥
चित्रैर्वाक्यैः स्वकार्योत्थैः प्रस्तुताक्षेपिभिर्मिथः।
आमुखं तत्तु विज्ञेयं नाम्ना प्रस्तावनापि सा ॥३२॥ (सा० द० परि० ६)

के अभिनय की सूचना देता है।[1] तदनन्तर सूत्रधार नाट्याभिनय के ग्रीष्मकालोचित अवसरानुरूप सभा में उपस्थित लोगों के कानों को प्रसन्न करने के लिए तत्सम्बन्धी (ग्रीष्म-सम्बन्धी) गीत गाने का आदेश पाकर नटी प्राकृत भाषा में गीत गाती है।[2] इस प्रकार गीत के प्रभाव से सभी उपस्थित दर्शक-जन आकृष्ट हो जाते हैं। स्वयं सूत्रधार गीत को सुनकर ऐसा मन्त्रमुग्ध हो जाता है कि यह भूल जाता है कि उसे किस नाटक का प्रयोग करना है। पुनः वह नटी द्वारा स्मरण कराने पर पूर्व घोषित अभिनेय नाटक को याद करता है। और तुरत उसी गीत के प्रभाव के कारण आकर्पणपूर्ण वातावरण में युक्तिपूर्वक कहता है—आर्ये ! तुम्हारे मनोहर गीत राग की ओर मैं उसी प्रकार खिंचा जा रहा हूँ जैसे दौड़ते हरिण की ओर राजा दुष्यन्त खिंचा जा रहा है।[3] इस प्रकार नाट्यारम्भ की योजना प्रस्तावित कर वह मंच से हट जाता है। तदनन्तर काव्यार्थसूचक इस पात्र-सूचना के बाद रथ पर बैठे हरिण का पीछा करता हुआ राजा दुष्यन्त मंच पर प्रविष्ट होता है। सूत्रधार की इस मधुरोक्ति में नाटक की भावी मुख्य घटना से सम्बद्ध एक आवश्यक संकेत यह मिलता है कि जिस प्रकार वह (सूत्रधार) संगीत में मग्न होने के कारण अपने कार्य एवं कथावस्तु को भूल जाता है उसी प्रकार शकुन्तला भी दुष्यन्त के ध्यान में लीन होने के कारण दुर्वासा ऋषि के अतिथि-सत्कार सम्बन्धी अपने कर्त्तव्य को भूल जाती है। इसका परिणाम यह होता है कि दुर्वासा के अभिशापवश दुष्यन्त शकुन्तला को बिल्कुल भूल जाता है। सामने उपस्थित शकुन्तला नहीं पहचानने पर विगत घटना का उल्लेख भी करती है, फिर भी राजा उसे नहीं पहचान पाता है और इस प्रकार उसका परित्याग कर देता है। इस नाटक में भूलना महत्त्वपूर्ण घटना है। जिस प्रकार नटी द्वारा कर्त्तव्य-ज्ञान का स्मरण दिलाने पर सूत्रधार तदनुसार कार्य आरम्भ करता है उसी प्रकार अंगूठी भी राजा दुष्यन्त को शकुन्तला की याद कराती है। पुनः स्मरण होने पर राजा अपने कर्त्तव्य के प्रति उन्मुख हो जाता है। अन्ततः सूत्रधार की भाँति दुष्यन्त भी अपना कर्त्तव्य करते हुए अपने अभीष्ट लक्ष्य की परिपूर्त्ति कर लेता है। साहित्यदर्पणकार के विचार से यह अवगलित नामक

१. सूत्रधारः अभिरूपभूयिष्ठा परिषदियम्। अद्य खलु कालिदासग्रथितवस्तुनाऽभिज्ञानशाकुन्तलनामधेयेन नवेन नाटकेनोपस्थातव्यमस्माभिः। तत् प्रतिपात्रमभिधीयतां यत्नः।

२. इसी सिचुम्बिआइं भमरेहिं सुउमारकेसरसिहाइं।
आदेसअन्ति दअमाणा प्रमदाओ सिरीसकुसुमाइं ॥ अभि० शा० प्रथम अंक।

३. तवास्मि गीतरागेण हारिणा प्रसभं हृतः।
एष राजेव दुष्यन्तः सारङ्गेणातिरंहसा ॥५॥ अभि० शा० प्रथम अंक।

प्रस्तावना-प्रकार है। दशरूपककार ने इसे प्रयोगातिशय नामक प्रस्तावना नामक प्रस्तावना-प्रकार माना है। वस्तुतः उनका प्रयोगातिशय साहित्यदर्पणकार का अवगलित है।

मालविकाग्निमित्रम् में सूत्रधार पारिपार्श्वक से संलाप करते हुए वसन्तोत्सव के अवसर पर विद्वत्परिषत् के आदेशानुसार कालिदासविरचित मालविकाग्निमित्रम् नाटक के अभिनय की प्रस्तावना करता है।[1] और इसी आधार पर संगीत आरम्भ करने का आदेश देता है। इस कथन से पता चलता है कि आकर्षक वातावरण बनाने के लिए प्रस्तावना में संगीतयोजना कालिदास को अभीष्ट था। अभिज्ञानशाकुन्तलम् में भी गीति का आयोजन किया गया है। तदनन्तर पारिपार्श्वक के यह कहने पर कि भास आदि प्रख्यात प्राचीन कवियों के नाटकों को छोड़ कर परिषत् वर्त्तमान-कालिक नवीन कवि कालिदास की रचना को ही अधिक सम्मान क्यों दे रही है, सूत्रधार अभिनेय नाटक मालविकाग्निमित्रम् की ओर आकर्षण के लिए वैचित्र्यपूर्ण उक्ति द्वारा विषय-वस्तु को प्रस्तावित कर देता है।[2] वह कहता है कि मैं सभा की आज्ञा का पालन उसी तरह करना चाहता हूँ जिस तरह स्वामी भक्तिन दक्ष दासी (वकुलावलिका) रानी धारिणी की आज्ञा का पालन कर रही है।[3] इस प्रकार रंगमंच पर आते हुए एक पात्र की सूचना देकर सूत्रधार बड़ी चतुराई से नाटक की भूमिका आरम्भ कर देता है। यह "प्रयोगातिशय" नामक प्रस्तावना-प्रकार है।

विक्रमोर्वशीयम् में पारिपार्श्वक से बातचीत करने के प्रसंग में अभिनेय नाटक[4] की घोषणा करके उसके रचयिता कालिदास का परिचय देता है।[5]

---

१. सूत्रधारः—अभिहितोऽस्मि विद्वत्परिषदा कालिदासग्रथितवस्तु मालविकाग्निमित्रं नाम नाटकमस्मिन् वसन्तोत्सवे प्रयोक्तव्यमिति । तदारभ्यताम् संगीतम्। (मालवि० प्र० अंक, पृ० ५)

२. सूत्रधारः—अये विवेकविश्रान्तमभिहितम्। पश्य—
पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्।
सन्तः परीक्ष्यान्यतरद्भजन्ते, मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः ।।२। (मालवि० अंक १)

३. सूत्रधारः—शिरसा प्रत्यगृहीतमाज्ञामिच्छामि परिषदः कर्त्तुम्।
देव्या इव धारिण्याः सेवादक्षः परिजनोऽयम् ।।३।। (मालवि० अंक १)

४. सूत्रधारः—मारिष, बहुशस्तु परिषदा पूर्वेषां कवीनां दृष्टाः प्रयोगबन्धाः। सोऽहमद्य विक्रमोर्वशीयं नाम नाटकमपूर्वं प्रयोक्ष्ये। तदुच्यतां पात्रवर्गः स्वेषु स्वेषु पाठेष्वसंमूढैर्भावितव्यमिति। (विक्र० प्रथम अंक पृ० ५)

५. प्रणयिषु वा दाक्षिण्यादथ वा सद्वस्तुपुरुषबहुमानात्।
शृणुत मनोभिरवहितैः क्रियामिमां कालिदासस्य ।।२।। (विक्र० प्र० अंक)

तदनन्तर "परित्रायतां पत्रायतां यः सुरपक्षपाती यस्य वाऽम्बरतले गतिरस्ति" नेपथ्य की ओर से आई इस रक्षा-सूचक आवाज को सुनकर सूत्रधार विस्मय के साथ कहता है, अरे, मेरे विज्ञापन के पश्चात् यह कुररी पक्षियों का सा आर्त्तनाद आकाश में सुनाई पड़ रहा है। इसके बाद कुछ सोचकर नाटकीय कथावस्तु एवं प्रमुख घटना को प्रस्तावित करते हुए एक पात्र अप्सरा के प्रवेश की सूचना दे देता है और स्वयं मंच से हट जाता है।[1]

कालिदास के तीनों रूपकों की प्रस्तावना के विश्लेपण से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इसमें उन्होंने अपना, नाटक की वस्तु का तथा नाटक खेलने के अवसर का परिचय दिया है। नाट्याभिनय के अवसर की चर्चा करते हुए उन्होंने यह भी निर्देश किया है कि किस समाज की आज्ञा से नाटक खेला जा रहा है। उनकी प्रस्तावना में मनोवैज्ञानिक तथ्य भी मिलता है। वे संगीतादि से रसमय वातावरण उपस्थित कर नाटकीय पात्र एवं वस्तु का निर्देश कर देते हैं।

धनंजय का कथन है कि प्रस्तावना के अन्त में सूत्रधार रंगमंच से निष्क्रान्त हो जाय और उसके बाद कथावस्तु को प्रपंचित करे। राजर्पि भूपति या दिव्य नायक के विपय में इतिहासपुराण आदि में प्रसिद्ध कथावस्तु को ही नाटक की आधिकारिक कथावस्तु रखना चाहिए। यदि कवि उसके बारे में रस के अनुसार किसी कल्पित वस्तु का सन्निवेश करना चाहता है, तो वह प्रासंगिक रूप में ही की जानी चाहिए। जिस प्रख्यात इतिवृत्त में इस प्रकार का, गुणसम्पन्न नायक हो, वही कथावस्तु नाटक के उपयुक्त होता है।[2] अभिज्ञानशाकुन्तलम् नाटक की कथा का नायक दुष्यन्त धीरोदात्त राजर्पि है। वह इतिवृत्त महाभारत में प्रसिद्ध है। इस प्रसंग में दशरूपककार का यह निर्देश है कि नायक की धीरोदात्त प्रकृति एवं उसके प्रमुख वीर या शृंगार रस के प्रतिकूल जो भी बात उस इतिवृत्त में पाई जाती हो, उसे कवि इस प्रकार परिवर्त्तित कर दे कि नायक के चरित्र का वह दोप न रहे।

---

१. सूत्रधारः (कर्णं दत्त्वा) अये किं नु खलु मद्विज्ञापनान्तरं कुररीणामिवाकाशे-शब्दः श्रूयते। विचिन्त्य भवतु। ज्ञातम्—

उरूद्भवा नरसखस्य मुनेः सुरस्त्री
कैलासनाथमुपसृत्य निवर्तमाना।
बन्दीकृता विबुधशत्रुभिरर्धमार्गे
क्रन्दत्यतः शरणमप्सरसां गणोऽयम् ॥३॥ (विक्र० अंक १),

२. प्रख्यातवंशो राजर्पिर्दिव्यो वा यत्र नायकः।
तत्प्रख्यातं विधातव्यं वृत्तमत्राधिकारिकम्। (दशरूपक, प्र० ३)

अथवा रस का वह प्रतिकूल तत्त्व हट जाय।[1] उदाहरण स्वरूप मायुराज ने अपने नाटक उत्तरराघव में राम के द्वारा छल से वालि का वध सर्वथा छोड़ दिया है। महाकवि कालिदास ने महाभारत से गृहीत इतिवृत्त में धीरोदात्त नायक दुष्यन्त के चरित्र को अकलुषित रखने के लिए दुर्वासा के शाप की कल्पना की है।

इतिवृत्त के निश्चय कर लेने के वाद नाटककार को चाहिए कि उस प्रख्यात इतिवृत्त के आदि एवं अन्त की स्थिति का निश्चय कर ले। अर्थात् नाटक का समारम्भ किस घटना विशेष से किया जायगा तथा कहाँ जाकर वह समाप्त होगा, इसका निश्चय कर लेने के अनन्तर सम्पूर्ण कथा को पाँच भागों यानी मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श एवं निवर्हण नामक पाँच सन्धियों में विभक्त कर लेना चाहिए। पुनः इन सन्धियों को विभागों और अंगों में विभाजित कर देना चाहिए।[2] कहने का तात्पर्य यह है कि जब रस एवं नायक के अनौचित्य तथा विरोध के परिहार से नाटकीय इतिवृत्त परिशुद्ध हो जाय तब कवि इस बात का विभाग कर ले कि कथावस्तु की किन-किन वातों को उसे रंगमंच पर दिखाना और किन्हें नहीं यानी किन्हें विष्कम्भकादि के द्वारा सूचना ही देनी है। इसके अनुरूप वह इतिवृत्त में बीज, विन्दु, पताका, प्रकरी और कार्य इन पाँच अर्थप्रकृतियों की कल्पना करे। इस प्रकार उपक्लृप्त वस्तु को आरम्भ, यत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम इन पाँच अवस्थाओं के अनुकूल पाँच भागों (मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श और निवर्हण इन पाँच सन्धियों) में बाँट दें। तदनन्तर मुख तथा गर्भ सन्धि को १२, प्रतिमुख एवं विमर्श को १३ तथा निवर्हण सन्धि को १४ अंगों में विभक्त कर देना चाहिए। कुछ पाश्चात्य नाट्यशास्त्री इसी प्रकार की पाँच स्थितियाँ नाटक की कथावस्तु में स्वीकार करते हैं। यह तो अलग वात है कि पाश्चात्य नाटक में अन्त सदा सुखान्त नहीं होता है। लेकिन कुछ लोग तीन ही अवस्थाएँ मानते हैं—(१) आरम्भ, (२) संघर्ष तथा उसकी चरम स्थिति और (३) अन्त। इस प्रकार आधिकारिक इतिवृत्त के कुल ६४ अंग होते हैं। दूसरे प्रासंगिक इतिवृत्त के पताका नाक भेद में पाँचों सन्धियों का होना आवश्यक नहीं है। वह मुख्य इतिवृत्त की अपेक्षा एक, दो, तीन या चार सन्धियों से न्यून हो सकता है। इसमें आवश्यकतानुसार अंगों का समा-

---

१. यत्तत्रानुचितं किंचिन्नायकस्य रसस्य वा ॥२४॥
विरुद्धं तत्परित्याज्यमन्यथा वा प्रकल्पयेत्। (दशरू० प्र० ३)

२. आद्यन्तमेव निश्चित्य पंचधा तद्विभज्य च ॥२५॥
खण्डशः सन्धि संज्ञाश्च विभागानपि खण्डयेत् ॥ (वही)

वेश हो सकता है। प्रासंगिक कथा के प्रहरी नामक भेद में सन्धि का समावेश नहीं होना चाहिए।[1]

इस प्रकार कथावस्तु (इतिवृत्त) के विभाजनोपरान्त कवि नाटक के आरम्भ में कार्य के आधार पर उसकी (कार्य की) युक्ति के अनुरूप विष्कम्भक की योजना अथवा अंक की व्यवस्था करे।[2] एतदर्थ कार्ययुक्ति यह है कि यदि आरम्भ का कथाभाग नीरस हो, किन्तु उससे नाटक की वस्तु में गति मिलने के कारण आवश्यक हो तो वैसी स्थिति में नीरस किन्तु अपेक्षित कथावस्तु के विस्तार को छोड़कर जब कवि कथावस्तु के अवशिष्टांश को दिखाना चाहे तो उस नीरस वाक्यांश की सूचना देने के लिए वह विष्कम्भक का सन्निवेश करे। यदि कथावस्तु में शुरू से ही रसमय वस्तु पायी जाय तो वैसी स्थिति में विष्कम्भक का प्रयोग न कर आरम्भ में ही अंक का सन्निवेश करना चाहिए। इसके साथ प्रयोगातिशय आदि आमुख भेदों के आधार पर शुरू में ही पात्रप्रवेश कर देना चाहिए।[3] उदाहरणार्थ मालतीमाधव के आरम्भ में नीरस वस्तु की सूचना के लिए विष्कम्भक की योजना पायी जाती है। अभिज्ञानशाकुन्तलम् में शुरू से सरस कथावस्तु के सन्निवेश के कारण नाटक अंक से ही आरम्भ किया गया है। अभिज्ञानशाकुन्तलम् के तृतीय अंक के आरम्भ में शुद्ध विष्कम्भक, चतुर्थ अक के आरम्भ में मिश्र विष्कम्भक और षष्ठ अंक के आरम्भ में प्रवेशक है।

नाट्यदर्पणकार के अनुसार अंक रूपकों के अवच्छेद या अन्तःखण्ड का नाम है।[4] रसार्णवसुधाकर में लिखा है कि नाटक का प्रत्येक अवच्छेद रसभावों के लालन-पालन के लिए गोद का काम करता है, अतः इन्हें अंक कहा जाता है।[5] धनंजय के मतानुसार अंक में नाटक आदि के नायक का चरित प्रत्यक्ष रूप से पाया जाता है। वह स्वयं मंच पर आता है अथवा घटित घटना उसके चरित से साक्षात्

---

१. चतुःषष्टिस्तु तानि स्युरंगानीत्यपरं तथा ।।२६।।
पताकावृत्तमन्यूनमेकाद्यैरनुसन्धिभिः ।
अंगान्यत्र यथालाभमसन्धि प्रकरीं न्यसेत् ।।२७।। दश० प्र० ३

२. आदौ विष्कम्भकं कुर्यादंकं वा कार्ययुक्तितः ।। वही

३. अपेक्षितं परित्यज्य नीरसं वस्तुविस्तरम् ।।२८।।
यदासन्दर्शयेच्छेषं कुर्याद्विष्कम्भकं तदा ।
यदा तु सरसं वस्तु मूलादेव प्रवर्तते ।।२९।।
आदावेव तदांकः स्यादामुखाक्षेपसंश्रयः ।। (दशरूप० प्रकाश ३)

४. ना० द० १।१९

५. रसालंकारवस्तूनामुपलालनकांक्षिणाम् ।
जनकांकवदाधारभूतत्वादंक उच्यते ।। रसार्णवसुधाकर ३।१९७ ।

सम्वद्ध होती है। उसमें विन्दु नामक अर्थप्रकृति व्याप्त रहती है तथा वह अनेक प्रकार के नाटकीय प्रयोजन के सम्पादन एवं रस दोनों का आश्रय होता है।

अंकव्यवस्था के वाद नाटककार नाटक के अंगी रस को पुष्ट वनावें। यह रस-पुष्टि उन्हें अनुभाव, विभाव, व्यभिचारीभाव एवं स्थायीभाव के द्वारा करनी चाहिए। इनमें से कुछ को वह (नाटककार) ग्रहण कर सकता है, कुछ को छोड़ सकता है।[1] रस का इतना अधिक परिपोष भी न किया जाय कि कथावस्तु ही विच्छिन्न हो जाय तथा न वस्तु, अलंकार या नाटकीय लक्षणों से रस को ही तिरोहित कर दिया जाय। नाटक में रस और कथावस्तु दोनों महत्त्वपूर्ण हैं, अतः दोनों के समुचित संतुलन करने से ही नाटक की परिपूर्णता होगी।[2] नाटक में शृंगार अथवा वीर दोनों में से किसी एक को ही अंगी रस के रूप में उपनिवद्ध करना चाहिए। अंगरूप में अन्य सभी रसों का निवन्धन किया जा सकता है। निवर्हण सन्धि में अद्भुत रस का उपनिवन्धन किया जाना चाहिए।[3]

उपर्युक्त प्रकार से कथावस्तु में रस का सन्निवेश कर लेने के अनन्तर नाटककार को चाहिए कि लम्वी सफर, वध, युद्ध, राज्य तथा देश की क्रान्ति, संरोध (पुरी का घेरा लाल देना), भोजन, स्नान, सुरत, उवटन लगाना, वस्त्र पहनाना आदि वस्तुओं को अंकों द्वारा प्रत्यक्ष रूप से मंच पर नहीं वतावें।[4] मालविकाग्निमित्रम् के चतुर्थ अंक में राजा मालविका का आलिंगन करना चाहता है, किन्तु कालिदास ने वड़े कौशल से (मालविकानाट्येन परिहरति) रगमंच पर आलिंगन आदि न वता कर औचित्य की रक्षा की है। इसी प्रकार अभिज्ञानशाकुन्तलम् के तृतीय अंक में भी जव राजा दुष्यन्त शकुन्तला का अधरपान (श्लोक ३।२९) करना चाहता है तव शकुन्तला अधरपान करने से रोकने का अभिनय करती है (नाट्येन परिहरति)। इससे स्पष्ट है कि कालिदास ने इस सिद्धान्त को माना है। आचार्य धनिक के विचार से इनका उपनिवन्धन अंकों द्वारा न कर प्रवेशकादि

---

१. अनुभावविभावाभ्यां स्थायिना व्यभिचारिभिः ॥३१॥
गृहीतमुक्तैः कर्त्तव्यमंगिनः परिपोषणम्।

२. न चातिरसतो वस्तु दूरं विच्छिन्नतां नयेत् ॥३२॥
रसे वा न तिरोदध्याद्वस्त्वलंकारलक्षणैः।

३. एको रसोऽङ्गी कर्त्तव्यो वीरः शृंगार एव वा ॥३३॥
अंगमन्ये रसाः सर्वे कुर्यान्निर्वहणेऽद्भुतम् ॥

४. दशरूप० प्रकाश ३। कारिका ३४-३५
सा० द० परि० ६।१६-१९।

सूचकों के द्वारा इनकी सूचना दी जा सकती है। अधिकारी नायक के वध की सूचना में प्रवेशक आदि के द्वारा भी नहीं दी जानी चाहिए। वैसे आवश्यक वस्तु देव-पितृ-कार्य आदि का निबन्धन नाटककार अवश्य करे। उस आवश्यक वस्तु की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए।

अन्त में अंक-विभाजन, उसकी काल-सीमा तथा पात्र-संख्या उल्लेखनीय है। एक अंक में वस्तु-योजना इस प्रकार की हो कि वह मात्र एक दिन की घटना (चरित) से सम्बद्ध हो। वह एक ही प्रयोजन अथवा एक ही अर्थ से सम्बद्ध हो। उसमें नाटक का नायक निकटवर्ती हो तथा तीन चार से अधिक पात्रों का प्रवेश नहीं हो। अंक की समाप्ति के समय सभी पात्र मंच से बाहर चले जायें।[1] नाटक में भावी भावों के सूचक पताकास्थानकों का भी सन्निवेश होना चाहिए। इसमें बिन्दु नामक अर्थप्रकृति का प्रयोग हो और अन्त में बीज का परामर्श पाया जाना चाहिए। अंकों की योजना इस तरह की जाय, जिनमें पात्रों का प्रवेश तथा निर्गम सम्यक् रूप से किया जा सके। इसके अंकों की संख्या ५ से १० तक की हो सकती है।[2] इनमें पाँच अंकों का नाटक निम्न कोटि का और दश अंकों का नाटक श्रेष्ठ माना जाता है। कालिदास का अभिज्ञानशाकुन्तलम् ७ अंकों का, मालविकाग्निमित्रम् ५ अंकों का नाटक है।

नाटक-प्रयोग के सम्बन्ध में भरतमुनि की मान्यता है कि नाटककार को ऐसे नाटक का प्रयोग करना चाहिए जिसमें पाँचों सन्धियों का विन्यास हो, भारती आदि चार वृत्तियों, ६४ सन्ध्यंगों की योजना हो, ३६ नाट्य लक्षणों का समावेश हो, अलंकारों की शोभाधायकता हो, पुरुषार्थ के उपयुक्त रसों का संचार हो, अधिक से अधिक मनोरंजक रस-भावों का अनुप्राणन हो, शब्द और अर्थ के गुणों का समुचित विकास हो, महापुरुषों के चरित की चर्चा हो, जीवनोपदेश की बहुलता हो, सामाजिकों के लिए मनोरंजन की पर्याप्त सामग्री हो, सन्धियों तथा सन्ध्यंगो का सुसंश्लिष्ट विन्यास हो, लास्यांगों की योजना हो, छन्दों एवं वृत्तों का वैचित्र्य हो तथा मधुर एवं प्रसन्न शब्दों द्वारा वस्तु-वर्णन हो।[3]

---

१. एकाहाचरितैकार्थमित्थमासन्ननायकम् ॥३६॥
पात्रैस्त्रिचतुरैरंकं तेषामन्तेऽस्य निर्गमः ॥ (दशरू० प्रकाश ३)

२. दशरू० प्रकाश ३।३७-३८

३. पंचसन्धिः चतुर्वृत्तिः चतुःषष्ट्यङ्गसंयुतम्।
षड्विंशल्लक्षणोपेतमलङ्कारोपशोभितम् ॥१२१॥

नाट्याचार्य, रंग-शिल्पी एवं नाट्य-सिद्धि-विधान

नाट्याचार्य तथा रंग-शिल्पी—नाट्य-प्रयोग के अन्तर्गत सम्पूर्ण मानवीय ज्ञान-विज्ञान, शिल्प-कला तथा शास्त्रीय परम्पराओं का समन्वय है।[1] रंगमंच पर इसके प्रयोग के लिए अनेक विषयों के आचार्यों, कलाकारों एवं शिल्पियों के कार्य-कौशल का उपयोग किया जाता है। नाट्य-प्रयोग में योग देनेवालों में रंगाचार्य, नाट्याचार्य, वृत्तज्ञ, छन्द-विज्ञान तथा आभरणकृत, माल्यकार, चित्रकार, वेषकार, नाट्यकार, स्तौतिक, रजक, कारुक एवं कुशीलव आदि कई शिल्पियों का नाम उल्लेखनीय हैं। यहाँ इनके कार्य-विधान पर संक्षिप्त प्रकाश डाला जा रहा है।

सूत्रधार—इन पात्रों एवं रंगशिल्पियों में सूत्रधार प्रमुख होता है, क्योंकि सम्पूर्ण नाट्य-प्रयोग का संचालन इसी के द्वारा होता है। यही सभी नाटकीय पात्रों एवं नाट्य-प्रयोगकर्त्ताओं को जीवन और गति-विधि प्रदान करता है। जरूरत पड़ने पर यह स्वयं भी रंगमंच पर पात्र के रूप में उपस्थित होता है। स्थापना अथवा प्रस्तावना द्वारा यह नाट्यारम्भ करता है। वह अनेक शास्त्रों का ज्ञाता तथा माधुर्य, क्षमा, सत्यवादिता आदि स्वाभाविक गुणों से पूर्ण होता है।[2] कालिदास के रूपकों में सूत्रधार कविपरिचय देते हुए प्रयोज्य नाटक को प्रस्तावित करता है। वह गीत, वाद्य एवं नृत्यादि अनेक कलाओं का ज्ञाता होने के कारण नटी या पारिपार्श्वक की सहायता से नाट्यारम्भ करता है।[3] आधुनिक पाश्चात्य नाट्याचार्यों ने सूत्रधार की भरतानुरूप परिकल्पना की है।[4] इनके विचार से भी सूत्रधार (प्रोड्यूसर) ही सम्पूर्ण नाट्य-प्रयोग का स्रोत है। वह कवि के नाट्य, उसके विचार एवं परिकल्पना को अभिनय तथा अन्यान्य विधियों के माध्यम से रूप प्रदान करता है।

---

१. न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।
न स योगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन् यन्न दृश्यते ।।
—ना० शा० १।११३ ख-११४ (का० सं०)।

२. नाट्यप्रयोगकुशलः नानाशिल्पसमन्वितः।
पादछन्दविधानज्ञः सर्वशास्त्रविचक्षणः।
स्मृतिमान् मतिमान् धीर उदारः स्थितवाक् कविः।
अरोगो मधुरः क्षान्तो दान्तश्चैव प्रियम्वदः ।। इत्यादि
ना० शा० ३५।४१-५२ का० सं०।

३. सुविहिदप्पओअदाए अज्जस्स ण किं परिहाइस्सदि।
नटी—अभि० शा० प्र० अं० पृ० ८।

४. The status of producer is essentially one of the Control. He is, indeed, the autocrat of the theatre, into whom all things must be subservient.
—Theatre and stage, Page 781 (Production and Principles).

सूत्रधार के द्वारा ही नाट्य-प्रयोग में कवि, प्रयोक्ता तथा प्रेक्षक तीनों का समन्वय किया जाता है।

नाट्य-सिद्धि-विवेचन-क्रम में भरत ने पात्र, प्रयोग एवं समृद्धि नामक त्रिक की कल्पना की है।[1]

पारिपार्श्वक—यह माध्यम प्रकृति का नाट्यप्रयोक्ता पात्र सूत्रधार से कुछ कम गुणशाली होता है। वह रूपसम्पन्न, मेधावी, नाट्यमर्मज्ञ और कार्यकुशल होता है। यह सूत्रधार का सहचर होता है। मालविकाग्निमित्रम् एवं विक्रमोर्वशीयम् में यह सूत्रधार के सहचर के रूप में उपस्थित हुआ है।[2]

नट—रस, भाव एवं सत्त्वयुक्त लोक-वृत्तान्त का अनुकरण (नाट्य) करने के कारण इस नाट्यप्रयोक्ता पात्र को 'नट' कहा गया है।[3] यह अनेक वर्णों से आच्छादित, भूषणों से विभूषित, औदार्यादि गुणों से समन्वित राजा के समान होता है।[4] नाट्य-प्रयोग के अवसर पर यह 'स्वभाव' का परित्याग कर 'परभाव' में समाविष्ट तथा तन्मय होकर रंगमंच पर आता है। प्राचीन काल में कुशल नाट्य-प्रयोक्ता सभी ज्ञान-विज्ञान एवं कलाओं का ज्ञाता नट ही महानट, रंगाचार्य अथवा सूत्रधार होता था।[5]

नटी—संस्कृत नाटकों में सूत्रधार के साथ 'नटी' भी प्रस्तुत होती है। अभिज्ञानशाकुन्तलम् में सूत्रधार ने 'नटी' को 'आर्ये' कहकर सम्बोधित किया है।[6] नटी ने सूत्रधार को "आर्यपुत्र" कहकर सम्बोधित किया है।[7] भरत ने पत्नी को "आर्या" शब्द से सम्बोधित करने का विधान किया है।[8] उनके अनुसार पत्नी अपने पति को "आर्यपुत्र" कह कर सम्बोधित करे।[9] इससे विदित होता है

---

१. तथा समुदिताश्चैव विज्ञेयाः नाट्यमाश्रिताः।
पात्रं प्रयोगमृद्धिश्च विज्ञेयास्तु त्रयो गुणाः ॥—ना० शा० २७।९८-१०३।

२. मालवि० तथा विक्र० का आरम्भ भाग।

३. नाट्यति धात्वर्थोऽयं भूयो नट्यति च लोकवृत्तानाम्।
रसभावसत्वयुक्तं यस्मात् तस्मात् नटो भवति।—ना० शा० ३५।७३।

४. वर्णकैः छादितस्तत्र भूषणैश्चाप्यलंकृतः।
गाम्भीर्यौदार्यसम्पन्नः राजवत्तु भवेन्नटः ॥—ना० शा० २४।७३।७९।

५. लासको नर्तकः प्रोक्तः नटः शैलूष एव च।
स्त्रीजीवी भरतसुतो रंगाचार्यो महानटः ॥—हम्मीर-भरतकोष, पृ० ८६२।

६. सूत्रधारः—(नेपथ्याभिमुखमवलोक्य) आर्ये ! यदि नेपथ्याभिधानमवसितम्..
इतस्तावदागम्यताम्। (अभि० शा० प्र० अंक)

७. नटी—अज्जउत्त ! इयं ह्मि। (अभि० शा०, प्र० अंक)

८. पत्नी चार्येति संभाष्या।—ना० शा० १९।२६।

९. सर्वस्त्रीभिः पतिर्वाच्य आर्यपुत्रेति यौवने।—ना० शा०, (ग० ओ० सी०)

कि 'सूत्रधार' एवं 'नटी' समान जाति की नाट्य-व्यवसाय करने वाली खास जाति थी। पति-पत्नी दोनों नाट्य-प्रयोग में एक दूसरे के सहायक रूप में कार्यरत रहते थे। अभिज्ञानशाकुन्तलम् में नटी का गीतराग हृदयाह्लादक है।[1]

नर्तकी एवं नाटकीया—संभवतः 'नटी' की जगह पर भरत ने 'नाटकीया' का उल्लेख किया होगा। उनकी दृष्टि में रस-भाव-विभाविका, अभिनयज्ञा, भाण्ड-वाद्य एवं लय को भलीभाँति जाननेवाली रसानुविद्ध सर्वांगसुन्दरी नटी ही नाटकीया है।[2] अथवा 'नाटकीया' शब्द 'नर्त्तकी' के लिए प्रयुक्त किया गया है।[3]

नाट्य-शिल्पी—नाट्य-प्रयोग में नाटकीय पात्र के लिए मुकुट की रचना **मुकुटकर** करता है। विविध प्रकार के आभरणों से पात्रों के अंगोपांगों की छवि को अत्याकर्षक एवं प्रभावशाली बनाकर प्रस्तुत करने वाला **आभरणकृत** कहलाता है। सुरभित पुष्पमालाओं से नर-नारी पात्र को सुसज्जितकर प्रस्तुत करनेवाला **माल्यकृत** होता है। पात्रों की वेश-रचना करनेवाला **वेशकृत** होता है। रंगपीठ तथा रंगमंडप के अन्दर की भित्तियों पर **चित्रकार** चित्र बनाता है। **रजक** रसानुरूप विविध रंगों में नाटकीय पात्रों के वस्त्रों को रंगता है। **कारुक** रंगमंचोपयोगी सामग्री प्रस्तुत करता है। वाद्ययन्त्रों की समुचित व्यवस्था करनेवाले तथा वादन में निपुण व्यक्ति को **कुशीलव** कहा जाता है। इन सभी नाट्य-प्रयोक्ता को नाट्यशास्त्र में 'भरत' के नाम से अभिहित किया गया है।[4] नाट्य-प्रयोग में इन शिल्पियों का बहुत महत्त्व है क्योंकि ये शिल्पी नाट्य-प्रयोग को सरल बनाते हैं। कालिदास

---

१. आर्ये ! साधु गीतम्। अहो, रागबद्धचित्तवृत्तिरालिखित इव सर्वतो रंगः।
—अभि० शा० प्रस्तावना, पृ० १३।

तवास्मि गीतरागेन हारिणा प्रसभं हृतः। —अभिशा० प्रस्तावना, पृ० १४

२. स्वरतालयतिज्ञाश्च तथाऽऽचार्योपसेविकाः।
चतुराः नाट्यकुशलाश्चोहापोहविचक्षणाः।
रूपयौवनसम्पन्ना नाटकीयाश्च नर्त्तकी।
माधुर्येण च सम्पन्ना ध्यानयोगकुशलास्तथा।
अंगप्रत्यगसम्पन्नाः चतुःषष्ठिकलान्विताः ॥ आदि।
—ना० शा० ३५।७७ का० सं०।

३. अस्यैव कीर्त्यते भार्या लासिका नर्तकी नटी।
सैव रंगमुपारूढ़ा बकाधा रंगनायिका ॥—ना० ल० को० पं० २१८१-८२।
—सभातगासु नारीषु रूपयौवनकान्तिषु।
न दृश्यन्ते गुणैस्तुल्या नर्तकी सा प्रकीर्तिता ॥—ना०शा० ३४। ४७ का०सं०।

४. अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि भरतानां विकल्पनम्। —ना० शा० ३५। २० का०भा०।

के नाट्य-प्रयोग में इनका उपयोग किया गया है। इन शिल्पियों के अतिरिक्त भरत ने गणिका, शिल्पकारिका, शकार, विश तथा विदूषक आदि लोक-प्रिय पात्रों की भी चर्चा की है। इस ग्रन्थ के 'चरित्रवैशिष्ट्य' अध्याय में इन पात्रों के बारे में लिखा गया है।

संस्कृत साहित्य में इन नाट्य-प्रयोक्ताओं को समाज में कभी हीन दृष्टि से देखने का उल्लेख मिलता है। नाट्यशास्त्र में भरत ने इन्हें पुनः प्रतिष्ठित करने के लिए पाँच अध्यायों में इन कर्मकौशल एवं महत्त्व का वर्णन किया है। उन्होंने नाट्य को 'पंचम वेद' कहा है तथा उस नाट्य-विद्या के प्रयोग को पवित्र धार्मिक अनुष्ठान कहा है।[१] कालिदास ने तो नाट्य को "चाक्षुप-यज्ञ" की संज्ञा दी।[२] इससे पता चलता है कि इन नाट्य-प्रयोक्ताओं एवं नाट्याचार्यों के सम्बन्ध में कालिदास का बड़ा ऊँचा ख्याल था। उनके समय में इनकी सामाजिक प्रतिष्ठा भी थी। राजपरिवार की सम्भ्रान्त कन्या मालविका तथा राजा अग्निमित्र की पत्नी इरावती नृत्य एवं अभिनय की प्राप्ति करती है। इनके नाट्याचार्य गणदास और हरदत्त को राजा अग्निमित्र सम्मान का पद प्रदान करते हैं। इसी तरह प्राश्निक पद पर अधिष्ठित परिव्राजिका (बौद्धभिक्षुणी) के लिए राजा अग्निमित्र एवं रानी धारिणी दोनों के हृदय में बहुत बड़ा सम्मान का भाव है।[3] नाट्य-शिल्पियों की सामाजिक प्रतिष्ठा में अनेक उत्थान-पतन दृष्टिगत होते हैं।

नाट्य-सिद्धि-विधान

नाट्य-प्रयोग का प्रमुख उद्देश्य सहृदय सामाजिक (प्रेक्षक) के हृदय में रस की धारा प्रवाहित करना है। एतदर्थ प्रयोगसिद्धि सर्वथा अपेक्षित है। भरत का यह सिद्धि-विधान वस्तुतः नाट्य-प्रयोग का चरम उत्कर्ष है।[४] कालिदास ने भी विद्वान् सामाजिक के परितोप को नाट्य-प्रयोग की सिद्धि का प्रमाण माना है।[५]

---

१. य इमं श्रृणुयात् प्रोक्तं नाट्यवेदं महात्मना।
कुर्यात् प्रयोगं यश्चैवं तथाऽधीयीत वा नरः॥
या गतिः वेदविदुषां या गतिर्यज्ञवेदिनाम्।
या गतिर्दानशीलानां तां गतिं प्राप्नुयात् सुतः॥
—ना० शा० अ० ३६।७४७-७५ का० सं।

२. देवानामिदमामनन्ति .... समाराधनम्॥१।४ (मालवि०)।

३. मालवि०।

४. यस्मात् प्रयोगः सर्वोऽयं सिद्धार्थं सम्प्रदर्शितः।—ना० शा० २७।१ ख।

५. सूत्रधारः - आर्ये! कथयामि ते भूतार्थम्—
आपरितोषाद्विदुषां न मन्ये प्रयोगविज्ञानम्।
बलवदपि शिक्षितानामात्मन्यप्रत्ययं चेतः —॥१।२ अभि० शा०।

भरत-निर्दिष्ट सिद्धि-विधान के अनुसार कालिदास ने अपने नाट्य-प्रयोग मालविकाग्निमित्रम् के प्रथम एवं द्वितीय अंकों में प्रायोगिक दृष्टि से नाट्य-प्रयोगगत-सिद्धि की सारी समस्याओं को प्रयोग रूप में प्रस्तुत किया है।[1] नाट्यशास्त्र, हरिवंश पुराण तथा बौद्ध-ग्रन्थ अवदानशतक में नाट्य-प्रयोग-सिद्धि के लिए पारितोषिक प्रदान का उल्लेख मिलता है।

भरत की दृष्टि में दैवी एवं मानुषी दो प्रकार की नाट्य-प्रयोग-सिद्धियाँ होती हैं। ये नाट्य-प्रयोग-सिद्धियाँ वाचिक, आंगिक, सात्त्विक एवं आहार्याभिनयों के लोक एवं शास्त्र-परम्पराओं पर आश्रित हैं। मानुषी सिद्धि का प्रकाशन प्रेक्षक वाणी एवं शारीरिक अंगों के संचालन से व्यक्त करता है। अतः इसके दो प्रकार हैं—वाङ्मयी एवं शरीरी। इनमें वाङ्मयी सिद्धि के निम्नलिखित छः भेद हैं—स्मित, अर्द्धहास, अतिहास, साधु, अहो कष्टम् तथा प्रवृद्धनाद।[2] शरीर-सिद्धि के तीन प्रकार हैं—सरोमांचपुलक, अभ्युत्थान और चेलांगुलीदान। भावातिशय तथा सात्त्विक भावों की समृद्धि होने पर रंगमंच पर दैवी-सिद्धि का आविर्भाव होता है।[3] कालिदास के नाट्य-प्रयोगों में वे दोनों सिद्धियाँ दर्शनीय हैं।

उपर्युक्त नाट्य-सिद्धि के अतिरिक्त भरत ने सफल नाट्य-प्रयोग के लिए बाधाओं (दोषों) का परिहार आवश्यक माना है और निम्नलिखित चार प्रकार की बाधाओं का भी उल्लेख किया है—दैवी, आत्मसमुत्था, परसमुत्था तथा औत्पत्तिका।[4] कालिदास के नाट्य-प्रयोगों में इन बाधाओं का भी यत्र-तत्र संकेत मिलता है। अभिज्ञानशाकुन्तलम् के प्रथम अंक में आश्रम के अन्दर हाथी का प्रवेश हो जाना तथा भौंरे द्वारा मार्गावरोध आदि दैवी बाधा के उदाहरण हैं।[5] विक्रमोर्वशीयम् के तृतीय अंक में 'लक्ष्मीस्वयंवर' नाम नाटक के प्रयोग के समय लक्ष्मी की भूमिका में अभिनय करती हुई उर्वशी ने 'पुरुषोत्तम' के स्थान पर 'पुरूरवा' का उच्चारण कर दिया। फलतः इस अवाच्य-वचन-दोष के कारण उसे भरत मुनि से अभिशप्त होना पड़ा।[6] इस तरह की अन्यान्य बाधाएँ भी कालिदास के नाट्य-प्रयोग में अवलोकनीय हैं।

---

१. मालवि० प्रथम एवं द्वितीय अंक।
२. ना० शा० २७।३-४, ६-१२ (गा० ओ० सी०)।
३. या भावातिशयोपेता
४. ना० शा० २७।१९ (गा० ओ० सी०)।
५. अभि० शा० अंक—१।
६. विक्र० अंक—३।

नाट्य-प्रयोग में इन बाधाओं के प्रदर्शन से कालिदास की लोकाश्रित नाट्य की प्रयोगमूलक दृष्टि का परिचय मिलता है।

नाट्य-प्रयोगकर्त्ताओं में सूत्रधार और नाट्य-प्रयोग-सिद्धि एवं बाधाओं के निर्णय में प्राश्निक का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान माना गया है। सचमुच सफल नाट्य-प्रयोग के लिए नाट्यरचयिता की प्रतिभा एवं निपुणता, नाट्य-प्रयोक्ता की कुशल प्रयोगमूलक दृष्टि तथा नाटकीय मंच का उपयुक्त वातावरण सर्वथा अपेक्षित है। नाट्य-प्रयोग की सफलता के निर्णायक प्रेक्षक एवं प्राश्निक के लिए नाट्यकला, लोक तथा शास्त्र की सम्पूर्ण परम्परा का परिज्ञान अनिवार्य है।[1]

प्राश्निक एवं प्रेक्षको के सम्बन्ध में भरत द्वारा निर्दिष्ट विशेषताओं का प्रभाव कालिदास के रूपकों पर स्पष्ट रूप से दृष्टिगत होता है। अभिज्ञान शाकुन्तलम्[2] एवं विक्रमोर्वशीयम्[3] की दर्शक-मंडली "अभिरूपभूयिष्ठा" औरस-समृद्ध बन्धों का प्रयोग देख चुकी है। अतः सूत्रधार विद्वानों के पूर्णपरितोष के बिना नाट्य-प्रयोग को साधु नहीं मानता है।[4] इसी तरह मालविकाग्निमित्रम् का प्रयोग विद्वत्-परिषद् के अनुरोध से हुआ है।[5] इसमें नाट्याचार्य हरदत्त तथा गणदास के बीच राजा अग्निमित्र एवं रानी धारिणी की प्रशंसा-प्राप्ति की प्रतिस्पर्द्धा हो रही है। नाट्य-सिद्धि की निर्णायिका परिव्राजिका के कथनानुसार मालविका ने दुष्प्रयोज्य 'छलिक' (चलित) नृत्य का प्रदर्शन किया। सफलसिद्ध नाट्य के पात्रगत, प्रयोगगत तथा समृद्धिगत तीनों त्रिकों से समन्वित मालविका के निर्दोष नाट्य-प्रयोग का अवलोकन एवं परीक्षण कर निर्णायिका परिव्राजिका ने मालविका के ही पक्ष में अपना महत्त्वपूर्ण निर्णय घोषित किया। इससे स्पष्ट परिलक्षित होता है कि इस नाटक के दोनों अंकों में भरत के सिद्धि-विधान का समुचित प्रयोग किया गया है। साथ ही इससे कालिदास के सिद्ध नाट्य-प्रयोग विज्ञाता होने का भी परिचय मिलता है।

कालिदास के नाटक में ये सारे लक्षण घटित होते हैं। उन्होंने नाटक के सभी अंगों के साथ विविध पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया है। नाटक में पाँचों सन्धियों, चारों नाट्य वृत्तियों, शृंगार, वीर आदि रसों, ललित, वसन्त आदि

---

१. ना० शा० २७।६२-६३ (गा० ओ० सी०)।
२. अभिरूपभूयिष्ठा परिषदियम्।—अभि० शा० की प्रस्तावना।
३. परिषदेषा पूर्वेषां कवीनां दृष्टरसप्रबन्धा।—विक्र० की प्रस्तावना।
४. आपरितोषाद्विदुषां न मन्ये प्रयोग-विज्ञानम्।—अभि० शा० की प्रस्तावना।
५. अभिहितोऽस्मि विद्वत् परिषदा।—मालवि० की प्रस्तावना।

राग तथा मधुरराग विक्षेप और संस्कृत, प्राकृत, भाषाओं आदि के महत्त्व का प्रतिपादन स्वयं कालिदास ने अपने कुमारसम्भव में किया है।[1]

नाटक के अन्त में प्रशस्ति या भरतवाक्य का होना आवश्यक है। कालिदास के सभी रूपकों में भरतवाक्य हैं।[2]

नाट्यशाला :

संस्कृत साहित्य में नाट्यशाला के लिए नाट्यवेश्म, नाट्यमण्डप, चतुरस्त्र-शाला, रंगशाला, रंगमण्डप, प्रेक्षागृह तथा शिलावेश्म आदि विविध नामों का प्रयोग किया गया है। भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र के द्वितीय अध्याय में नाट्यमंडप, नाट्यवेश्म, नाट्यगृह आदि का प्रयोग किया है। कालिदास ने इसके लिए रंग[3] शब्द का प्रयोग किया है, जिसके अन्तगत रंगमंच, अभिनेता तथा दर्शक गण आदि सभी आ जाते हैं। मालविकाग्निमित्रम् में उन्होने नाट्याभिनय एवं संगीत-प्रदर्शन के स्थान को प्रेक्षागृह कहा है।[4] इसमें संगीतशाला और नाट्यशाला दोनों शब्दों के प्रयोग मिलते हैं। इनके अतिरिक्त कालिदास ने अन्य ग्रन्थों मे शिलावेश्म[5] दरीगृह[6] शब्दों का भी प्रयोग किया है।

महारसं महाभोगमुदात्तरचनान्वितम्।
महापुरुषसत्कारं साध्वाचारं जनप्रियम् ॥१४०॥
सुश्लिष्टसन्धियोगं च सुप्रयोगं सुखाश्रयम्।
मृदुशब्दाभिधानं च कविः कुर्यात्तु नाटकम् ॥१४१॥—ना०शा० १९।१

१. द्विधा प्रयुक्तेन च वाङ्मयेन सरस्वती तन्मिथुनंनुनाव।
संस्कारपूतेन वरं वरेण्यं वधू सुखग्राह्यनिबन्धनेन ॥९०॥
—तौ सन्धिषु व्यंजितवृत्तिभेदं रसान्तरेषु प्रतिबद्धरागम्।
अपश्यतामप्सरसां मुहूर्तं प्रयोगमाद्यं ललिताङ्गहारम् ॥९१॥ —कुमार० सर्ग ७।

२. अभि० शा० अंक ७।३५; मालवि० अंक ५।२०; विक्र० अंक ५।२४।

३. अहो रागनिविष्टचित्तवृत्तिरालिखित इव सर्वतो रंगः।
—अभि० शा०, अंक १, पृ० ५।

४. तेन हि द्वावपि वर्गौ प्रेक्षागृहे संगीतरचनां कृत्वा तत्रभवतो दूतम् प्रेषयतम्
(मालवि० अंक १, पृ० ८५)

५. मेघदूतम्—१।२७

६. कुमार० १।१०—यत्रांशुकाक्षेपविलज्जितानां यदृच्छया किम्पुरुषांगनानाम्।
दरीगृहद्वारविलम्बिविम्बास्तिरस्करिण्यो जलदा भवन्ति। १।१४

नाट्यशाला के प्राचीनतम रूप वैदिक यज्ञवेदियाँ ही थीं। नाट्यशास्त्र में ब्रह्मा के आदेशानुसार स्थापित विश्वकर्मा द्वारा सर्व-लक्षण-सम्पन्न नाट्यशाला के निर्माण का उल्लेख मिलता है। उसमें ही इन्द्रध्वज-महोत्सव के अवसर पर दैत्य-दानवनाश नामक नाटक का अभिनय किया गया था। अनुमानतः कहा जाता है कि यह नाट्यशाला शंकर-पार्वती के लीला-गृह कैलासपर्वत पर बनाया गया होगा। कैलास शब्द की व्युत्पत्ति से इस बात की पुष्टि का प्रयास किया जाता है।[1]

नाट्यशालाओं की विकास-परम्परा का स्पष्ट पता नहीं चलता है कि इसके विधि-विधान पर सूक्ष्म चर्चाएँ तो की गयी है, किन्तु नाटकों के अभिनय के लिए स्वतन्त्र नाट्यशालाओं का अभाव ही मिलता है। संस्कृत नाटकों के आधार पर कहा जा सकता है कि सामान्यतः उनका अभिनय देवोत्सव, विवाहोत्सव अथवा विजयोत्सव के अवसर पर होता था। प्राचीन ग्रन्थों से यह भी पता चलता है कि ये नाट्यशाला, संगीतशाला और चित्रशाला, राजप्रासादों में बनाये जाते थे। इनमे अन्तःपुर की राजकुमारियाँ, रानियाँ और राजकुमार योग्य आचार्य से ललित कलाओं की शिक्षा प्राप्त करते थे। इस तथ्य की पुष्टि के लिए कालिदास का मालविकाग्निमित्रम् नाटक पर्याप्त है। वहाँ हरदत्त और गणदास नामक नाट्याचार्य अपनी प्रशिक्षित शिष्याओं द्वारा संगीत प्रतियोगिता का आयोजन राजप्रसाद मे ही करते हैं। कालिदास के उल्लेख से पता चलता है कि इनके सभी रूपकों का अभिनय राजभवन-स्थित रंगशाला में हुआ था।

भरत निर्दिष्ट नाट्य-प्रकारों में मध्यम श्रेणी की चतुरस्र नाट्यशाला राजाओं के निमित्त होती थी। व्यक्तिगत कलाशालाओं के अतिरिक्त सार्वजनिक जीवन मे कला के प्रचार-प्रसार के लिए भी इसकी व्यवस्था होती थी। यही कारण है कि भारत के कुरु, पांचाल, चेदि, कौशल, वत्स, मगध और अवन्ती आदि जनपदों में संगीत-नृत्य, चित्र आदि के कलाकारों को देशव्यापी प्रसिद्धि प्राप्त थी। पाणिनि की अष्टाध्यायी, कौटिल्य के अर्थशास्त्र और वात्स्यायन के कामसूत्र आदि ग्रन्थों में नृत्य, सगीत की लोकप्रियता का पर्याप्त प्रमाण मिलता है। भास (४०० ई० पूर्व) के प्रतिमानाटक में नाट्यशाला के अस्तित्व की सर्वप्रथम सूचना मिलती है। जैसी कि मैंने ऊपर चर्चा की है, कालिदास के ग्रन्थों में नाट्यकला और नाट्यशाला के बारे में पर्याप्त सामाग्रियाँ मिलती हैं। इसके अतिरिक्त जैनग्रन्थों में नाट्यशाला की निर्माण-विधि पर शास्त्रीय प्रकाश मिलता है। इन सभी प्रमाणों के आधार पर

1. के सरसि लासः नृत्यम् अस्मिन् इति कैलासः।
अथवा केलीनां समूहः कैलम्, तेन आस्यते स्थीयते इति कैलासः।

स्पष्टरूपेण कहा जा सकता है कि अति प्राचीन काल में ही नाट्यशालाओं का निर्माण हो चुका था। शिल्परत्न और संगीत रत्नाकर में ऐसी नृत्यशाला का वर्णन है जिसमें यदाकदा नाट्याभिनय का भी आयोजन किया जाता था।

भरतमुनि के अनुसार विश्वकर्मा ने शास्त्रीय दृष्टि से नाट्यमंडप के तीन प्रकार के आकार और तीन प्रकार के परिमाण की परिकल्पना की[१]........ (१) विकृष्ट (आयताकार) चतुरस्र (वर्गाकार), और त्र्यस्र (त्रिभुजाकार) ये तीनों तीन-तीन परिमाण (माप) के होते हैं—ज्येष्ठ, मध्यम। और अवर (कनिष्ठ)[२] इस तरह नौ प्रकार के नाट्यमंडप हो जाते हैं। इनका ज्येष्ठादि विभाजन हस्त, दंड आदि के आधार पर किया जाता है। ज्येष्ठ (विकृष्ट, चतुरस्र और त्र्यस्र) की एक भुजा १०८ हाथ, मध्य (विकृष्ट, चतुरस्र और त्र्यस्र) की ६४ और अवर (विकृष्ट, चतुरस्र और त्र्यस्र) की ३२ हाथ की होती है।[३] इस तरह हस्त-दंड के परिमाण अलग-अलग कर लेने पर नाट्यमंडप के १८ प्रकार हो जाते हैं। नाट्यमंडप के प्रकार के सम्बन्ध में जो विद्वान् आकार के आधार पर ज्येष्ठता आदि का निश्चय करते हैं उनके अनुसार यह तीन प्रकार का होता है। किन्तु परिमाण के आधार पर विचार करने वाले अभिनवगुप्त जैसे विद्वानों के अनुसार इसके कुल १८ प्रकार हो जाते हैं। इनमें से ज्येष्ठ नाट्यगृह देवताओं का, मध्यम राजाओं का और अवर सामान्य जनता के लिए होता है।[४] भरतमुनि का यह कथन सर्वथा संदिग्धार्थक है। उससे स्पष्टतः पता नहीं लगता है कि उन्होंने यह विधान अभिनय की दृष्टि से किया है अथवा प्रेक्षण की दृष्टि से। कुछ विचारकों का मत है कि जिस प्रेक्षागृह में देवतागण प्रेक्षक हों उसे ज्येष्ठ होना चाहिए। उनके विचार से असहमति प्रकट करते हुए अभिनवगुप्त का कथन है कि वस्तुतः मंडप आदि का विधान रूपक के विविध प्रकारों को ध्यान में रख कर किया गया है।[५] जहाँ देवता और असुर के समान नायक और प्रतिनायक हो उस आरभटी

---

१. नाट्यशास्त्र, अध्याय २। श्लोक—७

२. विकृष्टश्चतुरस्रश्च त्र्यस्रश्चैव तु मण्डपः।
तेषां त्रीणि प्रमाणानि ज्येष्ठं मध्यं तथाऽवरम् ॥८॥
(ना० शा० अ० २)

३. अष्टाधिकं शतं ज्येष्ठं चतुःषष्टिस्तु मध्यमम्।
कनीयस्तु तथा वेश्म हस्ता द्वात्रिंशदिष्यते ॥१८॥ (ना० शा० अ० २)

४. देवानां तु भवेज्ज्येष्ठं नृपाणां मध्यमं भवेत्।
शेषाणां प्रकृतीनां तु कनीयः संविधीयते ॥११॥ (वही)

५. अभिनवभारती, पृ० २६

वृत्ति प्रधान् 'डिम' आदि में लम्बे-चौड़े रंगमंच की आवश्यकता होने से ज्येष्ठ मंडप की जरूरत होती है।[1] राजा आदि चरितों वाले नाटक के अभिनय में मध्यम प्रकार का नाट्यमंडप ही सर्वथा उपयुक्त होता है। अवशिष्ट सामान्य प्रकृतियाँ भाण, प्रहसन आदि में आती हैं।[2] भरतमुनि के विचार से मध्यम कोटि का प्रेक्षागृह सर्वोत्तम माना जाता है क्योंकि उसमे सभी पाठ्य या गेय तत्त्व स्पष्ट रूप से सुनाई पड़ते हैं।[3]

तीनों प्रकार की नाट्शाला के निर्माण की विधि करीब-करीब समान ही थी। वह पूर्वाभिमुख होता था। दो भागों में विभक्त नाट्यगृह के प्रथम भाग को प्रेक्षागृह कहा जाता था, चूँकि इसमें पश्चिम दिशा की ओर मुँह करके दर्शकगण बैठते थे। इसके दूसरे भाग को रंगभूमि कहा जाता था। रंगभूमि के दो भाग होते थे। पार्श्ववर्त्ती भाग में नेपथ्यगृह तथा उसके आगे रंगपीठ (रंगमच) होता था। प्रेक्षकों से करीब चार-हाथ की दूरी पर मध्य भाग में डेढ़ हाथ ऊँचा रंगपीठ (रंगमंच) होता था। उसी के ऊपर सभी पात्र अपने-अपने अभिनय का प्रदर्शन करते थे। इस रंगपीठ के दोनों पार्श्व में चार स्तम्भों पर अम्वारी के सदृश वने स्थान को मत्तवारणी कहा जाता था। मत्तवारणी के सम्बन्ध में कई विद्वानों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से विचार किया है। नाट्यशास्त्र में इसके सम्वन्ध में विचार व्यक्त किया गया है, वह वहुत संदेहास्पद है।[4] संस्कृत साहित्य तथा कोषों में मत्तवारण शव्द मिलता है जिसका अर्थ वरण्डा लिखा गया है। आचार्य विश्वेश्वर ने अपने ग्रन्थ हिन्दी अभिनवभारती में 'मत्तवारणी' शव्द का पाठान्तर रूप 'मत्तवारणी' माना है।[5] शव्दकल्पद्रुम में इसकी व्युत्पत्ति मत्तं वारयतीति मत्तवारणः करके "प्रसादवीथीनां वरण्डः" अर्थ लिखा गया है। कुट्टिनीमतम् ग्रन्थ में इसी अर्थ में "दिव्यधराधरभूमिरिव राजति मत्त-वारणोपेता" प्रयोग मिलता है। सुवन्धु ने "मत्तवारणयोर्वरण्डकेण" रूप में "मत्त-वारण" शव्द का प्रयोग किया है। प्रो० सुव्वाराव ने इसका अर्थ "मत्तानां वारणानां

---

१. अभिनव भारती : पृ० २६१।

२. अभिनव भारती : पृ० २६६—६७।

३. प्रेक्षागृहाणां सर्वेषां प्रशस्तं मध्यमं स्मृतम्।
तत्र पाठ्यं च गेयं च सुखश्राव्यतरं भवेत् ।।१२।। (ना० शा० अ० २)

४. रंगपीठस्य पार्श्वे तु कर्त्तव्या मत्तवारणी।
चतुःस्तम्भसमायुक्ता रंगपीठप्रमाणतः ।।२।।६३ (ना० शा०)

५. हिन्दी अभिनव भारती : पृ० ३१२।

श्रेणिः" मत्तवारणी किया है, लेकिन इसकी संगति यहाँ नहीं है। अभिनवगुप्त के विचार से मत्तवारणी रंगपीठ के दोनों पक्षों में मंडप के बाहर होती है। डा० मोहन घोष और डा० मार्कंड ने मंडप के अन्तर्गत इसकी स्थिति मानी है। अभिनव गुप्त का कथन है कि इनका आकार रंगपीठ के समान वर्गाकार होना चाहिए। लेकिन कुछ विद्वान् इसे विकृष्ट आयताकार मानते हैं। कालिदास के अभिज्ञानशाकुन्तलम् के षष्ठ अंक के अभिनय के आधार पर सिद्ध होता है कि रंगशीर्ष पर उसके दोनों तरफ मत्तवारणी का होना अनिवार्य है। वहाँ राजा का साला (नागरकश्याल) एवं उनके पीछे-पीछे दो सिपाही धीवर को बाँध कर लाते हैं।[१] सभी राजद्वार पर उपस्थित होने के लिए घूमते हैं। पुनः सभी प्रवेश करते है। इसके बाद मिश्रकेशी नाम की अप्सरा विमान से आती है।[२] इस अभिनय के निमित्त रंगमंच के स्तरों का होना परमावश्यक है। इसके बाद वहीं पर परभृतिका और मधुकरिका नाम की दो दासियाँ आती हैं।[३] फिर कंचुकी और उसके बाद राजा एव विदूषक का प्रवेश होता है। ये माधवीलता-गृह में जाने के लिए घूमते है।[४] यह माधवी लतागृह एक मत्तवारणी में बना होता है। वहाँ बैठकर चित्रांकन किया जाता है। चिट्ठी से राजकार्य देखा जाता है। वहाँ से विदूषक चला जाता है। इसी बीच विदूषक की आर्त्त आवाज सुनते ही राजा बाहर चले जाते हैं। पुनः तेजी से उस ओर बढ़ जाते हैं जिस तरफ दूसरे पक्ष की मत्तवारणी में प्रासाद बना हुआ है।

रंगपीठ के बिल्कुल सटे पीछे कुछ ऊँचाई पर रंगशीर्ष होता था। राजसभा आदि के दृश्य इसी पर दिखाये जाते थे। अन्यान्य दृश्यों के लिए कक्षाओं को इस्तेमाल में लाया जाता था। रंगशीर्ष के दोनों बगल में नेपथ्य के दरवाजे में गायकों एवं वादकों के बैठने का स्थान निश्चित होता था। रंगशीर्ष के पीछे सुसज्जित एक भित्ति होती थी। इसके (भित्ति के) दूसरी ओर नेपथ्य[५] होता था। नेपथ्य शब्द का प्रयोग कई अर्थों में किया गया है—पर्दा (जवनिका), वेश-रचना—गृह सजावट, वेश-रचना तथा अभिनयकर्त्ता का वेशविशेष।

---

१. तत प्रविशति नागरकश्यालः पश्चाद्बाहुवद्धं पुरुषमादाय रक्षिणौ च।
(अभि० शा० षष्ठ अंक)

२. ततः प्रविशत्याकाशयानेन मिश्रकेशी। (वही, पृ० ३९७)

३ ततः प्रविशति चूताङ्कुरमालोकयन्ती चेटी तत्पृष्ठेऽपरा च। (वही, पृ० ४००)

४. इत्युभौ परिक्रामतः। (वही : पृ० ४३४)

५. नेपथ्यं स्याज्जवनिका रंगभूमिः प्रसाधनम्, इत्यमरः।
नेपथ्यं तु प्रसाधने रंगभूमौ वेशभेदे, इति हैमः।

कालिदास ने नेपथ्य शब्द का प्रयोग अपने तीनों रूपकों में किया है।[1] "नेपथ्याभिमुखम्" में नेपथ्य का अर्थ वेश-रचना-गृह से है और नेपथ्य-विधानम् में नेपथ्य शब्द का अर्थ वेश-रचना है। यहाँ अभिनेता लोग अपनी वेशभूषा ठीक करते थे। इस भित्ति में स्थित दोनों दरवाजे रंगशीर्ष की ओर खुलते थे। मालविकाग्निमित्रम् में नृत्यारम्भ के पूर्व मालविका तिरस्करिणी के पीछे नेपथ्यगता थी तथा राजा अग्निमित्र पर्दा हटा कर भी उसे देखने के लिए आतुर हो रहा था।[2] इसी तरह नेपथ्य का आधुनिक ग्रीन रूम के रूप में प्रयोग परिव्राजिका की उक्ति से भी पुष्ट होता है।[3] यहाँ कालिदास ने परदे के अर्थ में तिरस्करिणी शब्द का प्रयोग किया है। इससे स्पष्ट है कि उस समय रंगमंच पर परदे का व्यवहार होता होगा। "नेपथ्यपरिगता" प्रयोग से भागवतशरण उपाध्याय रंगमंच संकेत मानते हैं तथा "संहर्तुम्" से वे अनुमान करते हैं कि परदा लपेटा जाता होगा तथा एक से अधिक परदा का प्रचलन था।[4] "ततः प्रविशति आसनस्थो राजा" कहने से स्पष्टतः विदित होता है कि सिंहासन पर राजा को बैठाकर परदा हटा दिया जाता होगा, क्योंकि बैठे-बैठे प्रवेश सम्भव नहीं है। श्री काणे का भी यही कथन है।[5] काणे और भागवतशरण उपाध्याय ने अनेक परदों के होने का अनुमान तो किया है, किन्तु इसके लिए कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं मिलता है। उनके सम्पूर्ण नाटकों में कहीं भी पटाक्षेप नहीं है तथा एक अंक में कई दृश्य भी नहीं हैं। प्रत्येक अंक की समाप्ति में "इति निष्क्रान्ताः सर्वे" लिखा मिलता है। इससे अन्दाज किया जा सकता है कि एक परदे से भी काम चल जाता होगा। मालविकाग्निमित्रम् के चतुर्थ अंक में "प्रविश्य पटीक्षेपेण" अर्थात् पर्दे को हटाकर प्रवेश का मंचीय निर्देश मिलता है।

भरतमुनि ने पूर्वरंग विधि में वाद्यादि की व्यवस्था और गीतों का गायन यवनिका के अन्दर ही निर्दिष्ट किया है। और नृत्य एवं पाठ्य के लिए यवनिका

---

१. सूत्रधारः—(नेपथ्याभिमुखमवलोक्य)—अभिज्ञा० शा० पृ० ५, मालवि० पृ० ४, विक्र० पृ० ४ —आर्ये यदि नेपथ्यविधानमवसितम्, इतस्तावदागम्यताम्। —अभि० शा० पृ० ५।

२. नेपथ्यपरिगतायाश्चक्षुर्दर्शनसमुत्सुकं तस्याः।
संहर्तुमधीरतया व्यवसितमिव मे तिरस्करिणीम्॥—मालवि० २।१

३. सर्वाङ्गसौष्ठवाभिव्यक्तये विगतनेपथ्योः पात्रयोः प्रवेशोऽस्तु।—(मालवि० अंक १, पृ० ८७)

४. इण्डिया इन कालिदास, पृ० २२४।

५. इण्डिया इन कालिदास, पृ० २४।

के उठाए जाने का भी संकेत किया है।[1] उन्होंने यह भी संकेत किया है कि पट के अपकर्षित किये जाने पर पात्रों का प्रवेश होता है।[2] यवनिका की स्थिति रंगशीर्ष और रंगपीठ के बीच मानी गयी है। संस्कृत नाटकों में अपटीक्षेप का बहुत प्रयोग मिलता है। 'यवनिका', 'जवनिका' और 'यमनिका' तीनों का व्युत्पत्त्यर्थ पट या 'प्रतिसीरा' होता है। अतः यवन से यवनिका का सम्बन्ध स्थापित करना भ्रान्त है। वस्तुतः जवनिका शब्द गत्यर्थक 'जू' धातु में 'ल्युट्' प्रत्यय के योग से बना है।

नाट्यशास्त्र में बताया गया है कि रंगशीर्ष कछुए की पीठ अथवा मछली की पीठ की भाँति न होकर दर्पण के तल के समान समतल होना चाहिए।[3] उस पर चित्र-विचित्र दारुकर्म की व्यवस्था भी बतायी गयी है। नाट्यमण्डप का निर्माण शैलगुहाकार द्विभूमिक होना चाहिए।[4] नाट्यमंडप तेज हवा से रहित और गम्भीर शब्दों को गूँजने वाला होना चाहिए। उसमें वातायन हो जिससे धीमी हवा ही अन्दर प्रवेश कर सके। ऐसे मण्डप में सभी प्रकार के वाद्यों (कुतप) की ध्वनि में स्वरगत गाम्भीर्य बना रहता है।[5]

भरतमुनि का निर्देश है कि प्रेक्षकों के बैठने के लिए ईंट एवं लकड़ियों से निर्मित सीढ़ीदार पीठक (आसन) हो। ये आसन भूमि से ऊपर उठे हुए हों जिससे रंगपीठ अच्छी तरह दिखलायी दे।[6]

नेपथ्य से रंगपीठ पर उतरने के लिए समान आकार के दो द्वार का विधान किया गया है तथा नेपथ्यगृह के सामने की ओर नटों के प्रवेश के लिए तीसरा द्वार और रंगमण्डप के सामने प्रेक्षकों के प्रवेशार्थ चौथा द्वार हो।[7]

---

१. एतानि तु वहिर्गीतान्यन्तर्यवनिकागतैः।
प्रयोक्तृभिः प्रयोज्यानि तन्त्रीभाण्डकृतानि च ॥११॥
ततः सर्वैस्तु कुतुपैः संयुक्तानीह कारयेत्।
विघट्य वै यवनिकां नृत्तपाठ्यकृतानि तु ॥१२॥ ना० शा० अ० ५

२. ना० शा०, १२।३

३. कुर्मपृष्ठं न कर्त्तव्यं मत्स्यपृष्ठं तथैव च ॥७७॥
शुद्धादर्शतलाकारं रंगशीर्षं प्रशस्यते।—ना० शा० अ० २।

४. कार्यः शैलगुहाकारो द्विभूमिर्नाट्यमण्डपः।८५।—ना० शा० अ० २

५. नाट्यशास्त्र, अ० २।८५-८६

६. वही अ० २।९५-९६

७. वही अ०। १००—१०१

भावप्रकाशन के दशम अधिकार में चतुरस्र, त्र्यस्र तथा वृत्त तीन तरह के रंगमंडप बताये गये हैं। उसमे लिखा है कि जहाँ सभापति के मित्र, सभ्य लोगों का गायन, वादन, नर्तन से युक्त भावों से रंजन होता है उसे रंगमण्डप कहते हैं। वृत्त (गोल) रंगमण्डप में देशान्तर की नाट्य मंडली वालों, नागरिकों एवं सज्जनों को राजा की ओर से संगीत सुनाने की व्यवस्था होती है। चतुरस्र मंडप में वेश्या, अमात्य, धनिक, सेनापति, मित्र तथा पुत्रों के साथ राजा संगीत का आनन्द लेता है। त्र्यस्र मंडप में मार्गी संगीत, चतुरस्र में मार्गी और देशी मिश्रित संगीत और वृत्त में मार्गी-देशी संगीत के साथ अन्य विचित्र क्रियाएँ मिली रहती हैं। नाट्य-मंडप का यह भेद और प्रयोजन की रीति सभी से भिन्न और नूतन है।[1]

यथाप्रसंग उपर्युक्त भरतमुनि के अनुसार निर्दिष्ट तीनों नाट्यगृहों के स्वरूप का विवरण अपेक्षित है। विकृष्ट मध्यम नाट्यगृह[2] की चौड़ाई—३२ हाथ, लम्बाई ६४ हाथ हो। इसे मध्य से विभक्त कर ३२-३२ वर्गफुट के दो वर्ग होते थे। उनमें पूर्वार्द्ध प्रेक्षागृह होता था। विकृष्ट मध्यम नाट्यगृह के बीच १६ हाथ लम्बा और ८ हाथ चौड़ा रंगपीठ होता था। रंगपीठ के दोनों पक्ष में ८ हाथ चौकोर स्थान में दोनों मत्तवारणियाँ होती थी। रंगपीठ के पश्चिम, किन्तु बीचों-बीच ८ हाथ चौकोर रंगशीर्ष होता था। रंगशीर्ष के पीछे भाग में ३२ हाथ चौड़ा और १६ हाथ लम्बा नेपथ्यगृह होता था।

विकृष्ट ज्येष्ठ और कनिष्ठ क्रमशः १०८ तथा ३२ हाथ लम्बे होते थे। शेष बातें विकृष्ट मध्यम की तरह ही होती थीं।

चतुरस्र नाट्यगृह[3] वर्गाकार होता था। इसके भी ज्येष्ठ की लम्बाई चौड़ाई १०८ हाथ, मध्य की ६४ हाथ और कनिष्ठ की ३२ हाथ।

त्र्यस्र नाट्यगृह[4] त्रिकोण आकार का होता था। इसकी तीनों भुजाएँ समान होती थी। शेष सभी विधान-चतुरस्र की भाँति होते थे।

नाट्यगृह के स्वरूप विवेचन के बाद रंगमंचीय परिधान, वेशभूषा नाट्य-प्रदर्शन-प्रक्रिया आदि पर भी थोड़ी विहंगमदृष्टि डाल लेना अपेक्षित है। भरतमुनि के कथनानुसार शुद्ध, विचित्र और मलिन तीन प्रकार के वेश हैं।

---

१ भावप्रकाशन—दशम अधिकार।

२. ना० शा० अ २।३७-३९।

३. ना० शा० अ० २।९१—१०५।

४. वही। १०६—१०९

धर्मकार्य में लगे हुए स्त्री-पुरुष, विनीत नर-नारी के वेश शुद्ध होने चाहिए। देव, दानव, यक्ष, गन्धर्व, राजा आदि के वेश विचित्र हों। वृद्ध, ब्राह्मण, श्रेष्ठी, अमात्य, पुरोहित, वणिक, कंचुकी, तपस्वी, क्षत्रिय, वैश्य आदि के शुद्ध वेश हों। उन्मत्त, प्रमत्त, यात्री, व्यसनी आदि के वेश मलिन हों। भरत मुनि का निर्देश है कि नाटककार को लोक-स्वभाव पर ध्यान रख कर पात्र के वर्ण, जाति, पद मर्यादा के अनुसार वेश योजित करना चाहिए। कालिदास के प्रयोग में अभिनयजन्य परिस्थिति के अनुकूल रंगमंचीय परिधान आदि के उपयोग पर भरपूर ध्यान रखा गया है। मालविकाग्निमित्रम् में कौशिकी के कथन से पता चलता है कि नृत्य-प्रदर्शन करने वाले को विशेष प्रकार का परिधान दिया जाता था।[1] विक्रमोर्वशीयम् में कालिदास ने कृष्णाभिसारिका के परिधान के बारे में लिखा है कि वह नीलांशुक धारण करती है और शरीर पर एक-दो आभूषण होते हैं।[2] आखेटक के वेश का संकेत भी मिलता है।[3] मालविकाग्निमित्र में मालविका के साथ डाकुओं से घिर जाने पर स्वयं परिव्राजिका उसके वेश के बारे में कहती है।[4] शकुन्तला वल्कल धारण करती थी।[5] राजा दुष्यन्त भी कहता है—"काममनुरूपमस्या वपुषो वल्कलम्"। शकुन्तला का चित्र बनाते समय दुष्यन्त एक वल्कल टंगा वृक्ष भी बनाता है।[6] विरहिणी स्त्रियों की वेशभूषा का वर्णन भी मिलता है।[7]

नाट्य-प्रयोग में नदी-संतरण, पर्वतारोहण, विमानावतरण आदि दृश्यों को सिर्फ नाट्य करके बतलाया जाता था। वास्तविक रूप में इसमें वस्तुओं का आयोजन नहीं किया जाता था। यथार्थ व्यापार के स्थान पर कालिदास ने "रूपयति" और

---

१. परिव्राजिका—निर्णयाधिकारे ब्रवीमि। सर्वांगसौष्ठवाभिव्यक्तये विरलनेपथ्ययोः पात्रयोः प्रवेशोऽस्तु—मालवि० प्रथम अंक, पृ० ८६।

२. उर्वशी—(आत्मानं विलोक्य) हला चित्रलेखे? अपि रोचते तेऽयं मेऽल्पाभरण-भूषितो नीलांशुकपरिग्रहोऽभिसारिकावेशः।—(विक्र० अंक ३, पृ० १०७)

३. मृगयावेशमपनयन्तु (अभि० शा०, अंक २, पृ० १०३)

४. मालवि० अंक ५। श्लोक १०।

५. शकुन्तला—हला अणसूए। अक्खिणिणद्धेण वक्कलेण पिअंवदाए दढं पीडिदा हिमं ता सिढिले हि दावं णं। (अभिज्ञा०, अंक १, पृ० ३५)

६. अभि० शा० ६।१९, पृ० ४५३।

७. वही पृ० ७।२१—नातिपरिष्कृतवेशः—मालवि० अंक ३। पृ० २९६।

"नाट्यति" शब्दों का प्रयोग किया है।[१] इसी तरह जो जिसका अभिनय करता था उसके लिए वह उसकी भूमिका में आता था।[२] मालविकाग्निमित्रम् से यह स्पष्ट विदित होता है कि नाट्याभिनय के पूर्व उसका अभ्यास होता था।[3]

●

१. इति शरसंधानं नाट्यति—अभि० शा० अंक १, पृ० १९
—इति भूयो रथवेगं निरूपयति।—वही, पृ० १७
—सर्वाः सगन्धर्वा आकाशोत्पतनं रूपयन्ति।—विक्र० अंक १, पृ० ३०।

२. लक्ष्मीभूमिकायां वर्तमानोर्वशी वारुणीभूमिकाया वर्तमानया मेनकयापृष्ठा।
—विक्र० अंक ३, पृ० ९३।

३. प्रथमोपदेशदर्शने प्रथमं ब्राह्मणस्य पूजा कर्त्तव्या।—मालवि० अंक २, पृ० १२०।

द्वितीय अध्याय

संस्कृत में रूपक-रचना का उद्भव और विकास

साहित्य में मानव-कल्याणार्थ ज्ञानराशि का संचय किया जाता है। यही कारण है कि हमारे प्राचीनतम साहित्य 'वेद' को संहिता के नाम से अभिहित किया गया है। किसी भी सुसंस्कृत एवं सुविकसित समाज को प्रतिबिम्बित करने वाले साहित्य में हम युग-युग के क्रिया-कलापों एवं संस्कृतियों का सजीव रूप प्राप्त करते हैं। भिन्न-भिन्न साहित्यकार की कृतियों में तत्कालिक युग-चेतना का स्वरूप तदनुरूप मिलता है। उस युग-चेतना एवं प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति साहित्यकार की निजी प्रतिभा के अनुरूप होती है। कालिदास अपने युग के सबसे बड़े प्रतिभा सम्पन्न कवि थे। उन्होंने समकालिक सभ्यता एवं संस्कृतियों का वर्णन साहित्य की श्रव्य एवं दृश्य दोनों विधाओं में किया। दोनों में उनकी प्रतिभा यद्यपि समान रूप से स्फुटित हुई है, किन्तु दृश्य काव्य में सविशेष प्रभावपूर्ण है। नाट्य-काव्य की सर्वोत्तमता स्वीकार करते हुए संस्कृत के कवियों एवं समालोचकों ने उनके गौरवग्रंथ 'अभिज्ञान-शाकुन्तलम्' को सर्वोत्कृष्ट माना है। साहित्यिक दृष्टि से ही उसका महत्त्व नहीं अपितु सामाजिक, सांस्कृतिक एवं व्यावहारिक दृष्टि से भी उसकी उपयोगिता है। आज भी उसकी भावधारा भारतीयों को ही नहीं विश्वमानव को मानवता के उच्च शिखर पर, पहुँचाने के लिए पर्याप्त है। यही कारण है कि उसका सम्मान देश-विदेश में सर्वत्र समान रूप से हुआ। कविकुल गुरु के उच्चासन पर प्रतिष्ठित कर संसार के सहृदयों ने भूरि-भूरि प्रशंसा की और उन्हें अपना लिया। साथ ही उनकी रचनाओं को विश्वसाहित्य में सर्वोच्च स्थान दिया। इस पुस्तक का प्रतिपाद्य विषय कालिदास की नाट्यविषयक धारणा है। अतः इसके ठीक-ठीक निरूपण के लिए उनके पूर्ववर्ती एवं परवर्ती नाटककारों की पारम्परिक रचनाओं का संक्षिप्त विवेचन सर्वथा अपेक्षित है।

साहित्य की परिधि में जब कोई परम्परा अत्यधिक पुरानी हो जाने के कारण अपने युगीन-जीवन की प्रवृत्तियों को अभिव्यक्त करने में असमर्थ हो जाती है तब उसी के आधार पर नई परम्परा जन्म लेती है। संस्कृत साहित्य की नाट्य-परम्परा के परीक्षण से विदित होता है कि इसमें भी अनेक परिवर्त्तन हुए हैं। इस परिवर्त्तन में भी संस्कृत की नाट्य-परम्परा अक्षुण्ण रही। यह स्मरणीय है कि

साहित्य में किसी भी प्रवृत्ति का सर्वथा लोप नहीं हो जाता है अपितु नई प्रवृत्तियों के साथ पुरानी प्रवृत्ति भी चलती रहती है। इस दृष्टि से विचार करने पर मालूम पड़ता है कि कालिदास की परम्परा का निर्वाह भवभूति ने भलीभाँति किया। लेकिन विशाखदत्त ने 'मुद्राराक्षस' में तत्कालीन प्रवृत्तियों के अनुरूप संस्कृत नाट्यपरम्परा में नई दिशा का श्रीगणेश किया। मृच्छकटिक में भी परम्परा से कुछ हटकर शूद्रक ने प्रगति लाई। आगे प्रत्येक नाटककार की रचनाओं का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करते हुए विचार किया जा रहा है कि भिन्न-भिन्न युग में संस्कृत के रूपकों का क्या स्वरूप रहा। इससे पूर्व यह विचार करना अपेक्षित है कि संस्कृत की नाट्य-परम्परा का प्रारम्भिक स्वरूप क्या था। इस प्रसंग में प्रो० डोनाल्ड क्लाइव स्टुअर्ट का विचार उल्लेखनीय है। उनका कथन है कि मानव समाज में मूलतः नाट्यकला की उत्पत्ति उसी दिन हुई जिस दिन किसी बालक ने खेल-खेल में अपने को किसी अन्य व्यक्ति की कल्पना की।[१]

सबसे पहले नाटक की उत्पत्ति कहाँ और कब हुई, इसके सम्बन्ध में पूर्वी एवं पश्चिमी विद्वान् खोज करते आ रहे है। पुष्टि प्रमाणों के अभाव में सभी ने अपने-अपने ढंग से मत व्यक्त किया है। भरतमुनि के अनुसार नाट्यवेद की रचना ब्रह्मा ने की थी और भूतल पर उसका प्रचार-प्रसार भरतमुनि ने किया।[२] वेदों के अध्ययन से पता चलता है कि नाट्य के प्रधान अंग संवाद, संगीत, नृत्य एवं अभिनय का अस्तित्व वैदिककाल में था। ऋग्वेद में उषा की उपमा एक नर्तकी से दी गई है[3]। पुरूरवा-उर्वशी[४], यम-यमी,[५] इन्द्र-इन्द्राणी-वृषाकपि,[६] सरमा-पणिस्[७] आदि कथोपकथन में नाटक का प्रमुख संवाद तत्त्व मिलता है। इसके आधार पर अनुमान किया जाता है कि कालान्तर में ये संवाद ही परिष्कृत होकर नाटक के रूप में परिणत हो गये होंगे। सामवेद में संगीततत्व पर्याप्त है। कात्यायन

---

१. Drama could spring from the play of a child who imagines, for the time being that he is someone else.
—The Development of Dramatic Art, 1928. Page 1.

२. नाट्यशास्त्र—प्र० अ०, श्लोक १४, १५, १७, १८।

३. ऋग्वेद—१।९२।४

४. वही—१०-९५।

५. वही—१०-१०।

६. वही—१०-८६।

७. वही—१०-१०८।

श्रौतसूत्र में सोमपान[1] के अवसर पर एक लघु अभिनय का प्रसंग मिलता है। इन तथ्यों के आधार पर मैक्समूलर का अनुमान है कि भारतीय नाट्य का मूलस्रोत वेदों में उपलब्ध संवाद एवं कर्मकाण्ड के मन्त्र हैं[2]। प्रो० सिलवेन लेवी[3] तथा ओल्डेनवर्ग[4] भी इनके विचार से सहमत हैं। डा० मैकडोनल के विचार इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय हैं[5]। इन्हीं की भाँति एस० एन० दास गुप्त तथा एस० के० दे[6] का कहना है–वैदिक मंत्रों में नाटकीय तत्त्व[7] विद्यमान हैं और उस समय के धार्मिक संगीत एवं नृत्य के साथ नाटक का सम्बन्ध सुनिश्चित है। शुक्लयजुर्वेद की वाजसनेयसंहिता (पुरुषसूक्त) के तीसवें अध्याय में उल्लिखित प्रसंग के आधार पर विद्वानों का विचार है कि उस समय व्यवसाय रूप से नाटक करनेवाली शैलूष जाति विद्यमान थी[8]। इस प्रसंग से स्पष्ट अवगत होता है कि शुक्ल यजुर्वेद के रचनाकाल में यज्ञ के अवसर पर नृत्य और गीत के लिए शैलूष (नट) की नियुक्ति की जाती थी। नृत्य एवं अभिनय के संयोग से वे नाट्याभिनय करते थे। तैत्तिरीय

---

१. कात्यायन—श्रौतसूत्र-७-८-२५।

२. Max Muller's version of thc Rig Veda, vol., Page 173.

३. 'Le Theatra Indian' Bibliothiqune de. Ecoledes-Haits Etudes. Fescicule 83, 1890 pp. 307-303.

४. H. Oldenberg in 2DMG, XXXII. p. 54 F. XXXIX p. 52.

५. The earliest forms of diamatic Litt. in India are represented by those hymans of the Rigved which contain dialogues, such as those of Sarma and Panis, Yama and Yami, Pururawas and urvaci, the latter, indeed being the foundation of a regular play composed much more than a thousand years latter by the griatest dramatist of India (Kalidas)—A. A Macdonell, A. Hist. of Sans. Lit. 1958. p. .46.

६. History of Sanskrit literature, volume l. 1947 by S. N Das Gupta and S. K. Des. P. 44.

७. यस्यां गायन्ति भूम्यां मर्त्या व्यैलवाः।—अथर्ववेद ११ का सू० १ मं० ४१।

८. यजुर्वेद संहिता, ३० वाँ अध्याय, छठा मंत्र—

मृताय मृतं गीताय शैलूषं धर्माय सभाचरं नरिष्टायै
भीमल नर्माय रेषद्दसायकारिमानन्दाय स्त्रीपसं प्रमदे
कुमारीपुत्रं मेधायै रथकारं धैर्याय तक्षाणम् ॥

ब्राह्मण१ में आयोगू, मागध (भाट), सूत्र, सूत, शैलूप आदि नाम मिलते हैं। डा० एस० एन० दास गुप्त उपर्युक्त विचार से असहमति प्रकट करते हुए कहते हैं कि इन नाटकीय तत्त्वों के प्रचुर प्रयोग के आधार पर यह कथमपि नहीं कहा जा सकता है कि वे सूत और शैलूप लोग नाट्य-नियमों से सर्वथा विज्ञात थे। इतना ही नहीं किसी भी वैदिक मंत्र में पात्रों का वर्णन अथवा नाटकीय पारिभाषिक शब्दावली दृष्टिगत नहीं होती है। हो सकता है कि नाटकीय धार्मिक उत्सवों से उस नाट्यकला का कोई न कोई सम्बन्ध रहा हो, जो गर्भस्थ शिशु की भांति अप्रक: हो।[२]

वैदिक युग के बाद रामायण और महाभारत काल में नाटक का कुछ विशेष स्पष्ट उल्लेख मिलता है जिससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि उस समय तक नाट्यकला का पूर्ण विकास हो चुका था तथा नाट्यसिद्धान्तों की स्थापना हो चुकी थी। रामायण में नृत्य (२।२०।१०), नृत्त (४।५।१७) और लास्य (२।६९।४) के उल्लेख के साथ नट (२।६।१४), नर्तक (१।१३।७) और शैलूप (२।८३।५) आदि अभिनेताओं का वर्णन मिलता है। रामायण के उल्लेख[३] से विदित होता है कि उस युग में अयोध्या नगरी में अनेक कलासंघों एवं नाटकसघों का अस्तित्व था। उस समय न केवल नृत्यसंगीत का, अपितु नाटकों का भी

---

१. तैत्तिरीय ब्राह्मण—३।४।१।१५।

२. It seems, therefore, that even if the elements of the drama were presant in the vedic times, there is no proof that the drama, in however, rudimentary form, was actually known. The actor is not mentioned nor does any dramatic terminology occur. There may have been some connection between the dramatic religious ceremonies and the drama in embryo —History of Sanskrit literature, by Dr. S. N. Das Gupta and S. K. De, University of Caloutta, 1947, p. 46-47.

३. रामायण —नटनर्तकसंघानां गायकानां च गायताम्।
अत: कर्णमुखा वाच. सुश्राव जनता तत:।। (२।६७।१५)
वधूनाटकसंघैश्च संयुक्तां सर्वत: पुरीम्।१।५।१२।।
नाराजके जनपदे प्रहृष्टनटनर्तका:। वा० रा० २।६७।१५
उत्सवाश्च समाजाश्च वर्द्धन्ते राष्ट्रवर्द्धना:।।

अभिनय[1] होता था। इसके साथ ही नाटय में रस-परिपाक[2] का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। राम की सीता व्यथा सुनानेवाले कुशीलव को कुछ लोग कहते हैं कि वे (कुशीलव) नट ही थे।

महाभारत में नाटक[3], नट, नर्तक[4] एवं सूत्रधार[5] का उल्लेख प्राप्त होता है। वनपर्व (१५।१३) में तो 'रामायण' तथा कौवेररम्भाभिसार नामक दो नाटकों के अभिनीत होने की स्पष्टतः चर्चा की गयी है। हरिवंशपर्व में प्रद्युम्न-विवाह के प्रसंग में कहा गया है कि वासुदेव कृष्ण के अश्वमेध यज्ञ के अवसर पर भद्रभट नामक नट द्वारा एक अद्भुत नाट्य-प्रदर्शन किये जाने पर ऋषि ने प्रसन्न होकर पुरस्कार स्वरूप उसे आकाश में विचरण करने तथा स्वेच्छया रूप धारण करने का वरदान दिया[6]। विराटपर्व में प्रेक्षागृह का भी उल्लेख है।

पाणिनि मुनि (७०० ई० पू०) की अष्टाध्यायी में भिक्षुसूत्रों और नटसूत्रों के प्रणेता पाराशर्य शिलालि[7] तथा कृशाश्वनामक[8] नामक दो पुराने नाट्यशास्त्रकर्त्ता आचार्यों के नाममात्र का परिचय प्राप्त होता है। इनके ग्रन्थों के उपलब्ध होने से नाट्य-कला विषयक अनेक बातें प्रकाश में आती हैं।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र से[9] प्रमाणित होता है कि मौर्ययुगीन भारत में नट,

---

१. वही वादयन्ति तथा शान्ति लासयन्त्यपि चापरे।२।६९।४
नृत्यादिभिरप्सरोभिश्च गन्धर्वैश्च महात्मभिः।९।९०।६६।

२. रसैश्शृंगारकरुणहास्यरौद्रभयानकैः।
वीरादिभिः रसैर्युक्तं काव्यमेतदगायताम् ॥१।४९॥

३. नाटका: विविधाः काव्याः कथाख्यायिककारकाः।२।१२-३६

४. आनर्ताश्च तथा सर्वे नटनर्तकगायकाः ॥२।१५-१३॥

५ इत्यब्रवीत् सूत्रधारः सूतः पौराणिकास्तथा ॥१।५०-१५।

६. हरिवंशपर्व—तत्र यज्ञे वर्तमाने सुनाट्येन नटस्तथा।
महर्षीस्तोषयामास भद्रनामेति नामतः ॥२।९१-२६।

७. पाराशर्यशिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः।७।३।११० ॥

८. कर्मन्दकृशाश्वादिनिः।४।३।१११।—अष्टाध्यायी

९. एतेन नटनर्तकगायकवादकवाग्जीवनकुशीलवप्लवसांभिकचारणानां स्त्रीव्यवहारिणां स्त्रियो गूढ़ा जीवाश्च व्याख्याताः। तेषां तूर्यकागन्तुकं पंचपण प्रेक्षावेतनं दद्यात्।
(कौटिल्य अर्थशास्त्र, अध्यक्ष प्रचार अधिकरण, २७वाँ अध्याय)

नर्तक, गायक, वादक, कथा सुनाकर जीविकोपार्जन करने वाले कुशीलव (नृत्य के साथ गानेवाले), पल्वल (रस्सी पर खेल दिखानेवाले), सौमिक (ऐन्द्रजालिक), चारण आदि विद्यमान थे। प्रत्येक मंडली का राजकर भी निश्चित था खेल दिखाने के लिए बाहर से आई मंडली प्रत्येक खेल का पाँच पण राजा को कर के रूप में देती थी। *उस समय राज्य की ओर से इन नटों की शिक्षा-व्यवस्था भी की जाती* थी। सभी ललितकलाओं को राज्य की ओर से प्रोत्साहित किया जाता था[1]। कलाकारों और कला का स्थान उन्नत बना रहे तथा अर्थ या सम्मान आदि के प्रलोभन में उसको व्यवसाय का माध्यम न बनाया जा सके—इसे ध्यान में रखकर आचार्य कौटिल्य ने कुछ विधि निर्दिष्ट भी की थी[2]।

जैनधर्म के समवायांगसूत्र की सूची में नृत्य, गीत, वाद्य और ताल को भी कलाओं मे परिगणित किया गया है। इसी तरह औपपत्तिकसूत्र में नाट्यशास्त्र, ताल और वाद्य की चर्चा है।

बौद्धग्रन्थ विनयपिटक से प्रमाणित होता है कि उस समय नाट्यकला का भारतव्यापी प्रचार था। अवदानशतकों में भी नाट्यकला का निर्देश है। विनय-पिटक के चुल्लवग में वर्णित कथा से विदित होता है कि कीटागिरि की रंगशाला में अभिनय के दर्शनार्थ गये अश्वजित् और पुनर्वसु नामक दो भिक्षु जब नाटक की परिसमाप्ति पर संघाटी फैलाकर नाचनेवाली नर्तकी के साथ प्रेमालाप करते देख लिये गये तब उन्हें विहार से बाहर निकाल दिया गया[3]।

वात्स्यायन के कामसूत्र[4] से पता चलता है कि दो-तीन सौ ई० पू० राज-प्रश्नीय आगम ग्रन्थ में महावीर स्वामी के जीवन चरित को नृत्यप्रधान नाट्य में अभिनीत किये जाने का उल्लेख हुआ है।

---

१. गीतवाद्यपाठ्यवृत्तनाट्याक्षरचित्रवीणावेणुमृदंगपरचित्तज्ञानगन्धमाल्यसंयूहन-सम्पादन-सम्वाहन-वैशिक-कला ज्ञानानि गणिका दासी रंगोपजीविनीश्च ग्राह्यता राजमण्डलादाजीवं कुर्यात्।—कौटिल्य अर्थशास्त्र, अध्याय-४१।

२. कुशीलवा वर्षारात्रिमेकस्था वसेयुः। कामदानमतिमात्रस्यातिवादं च वर्जयेयुः। तस्यातिक्रमे द्वादशपणो दण्डः। कामं देशजातिगोत्रचरणमैथुना-पहाने नर्मयेयुः।—कौ० अ० ४।७६।१।५

३. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, (जयशंकर प्रसाद) पृ० ९१। तृतीय संस्करण।

४. कुशीलवाश्चागन्तवः प्रेक्षणकमेषां दद्युः। द्वितीयेऽह नितेभ्यः पूजां नियतं लभेरन्। ततो यथाश्रद्धमषां दर्शनमुत्सर्गो वा। व्यसनोत्सवेषु चैषां परस्पर-स्यैकार्यता—का० सू० १।४।२८-३१।

भारतवर्ष में नाटक अत्यधिक लोकप्रिय तथा भारतीय संस्कृति एवं सामाजिक जीवन के अंग बन चुके थे। वात्स्यायन ने अपने कामसूत्र में लिखा है कि सरस्वती भवन में पक्ष या मास के प्रसिद्ध पर्वों के अवसर पर राजा की ओर से नियुक्त नटों का अभिनय होता था। यह उत्सव समाज कहलाता था[1]। कामसूत्र के उल्लेख से पता चलता है कि उस समय नृत्य और संगीत वेश्याओं के अपरिहार्य अंग थे[2]।

वैयाकरण पतंजलि मुनि के महाभाष्य में कंसवध एवं बलिबंध नामक दो धर्मप्रधान साहित्यिक नाटकों का विवरण मिलता है[3]। नाट्यकला और नट-नटियों तथा नर्तक-नर्तकियों (४।१।११४) के अतिरिक्त महाकाव्य में रंगमंच एवं नाट्याभिनय सम्बन्धी उपादान भी उपलब्ध होते हैं[4]। उपर्युक्त महाभाष्य में उल्लिखित दोनों नाटकों के आधार पर डा० कीथ यह निष्कर्ष निकालते हैं कि पतंजलि के समय में नट केवल नर्तक नहीं रह गये थे, वे संगीत एवं अभिनय द्वारा नाटक की घटनाओं को प्रदर्शित करते थे। अनेक प्रमाणों के आधार पर वे कहते हैं कि संस्कृत नाटक ईसा-पूर्व द्वितीय शताब्दी से अधिक पुराना नहीं है[5]।

---

१. पक्षस्य मासस्य वा प्रख्यातेऽहनि सरस्वत्या भवने नियुक्तानां नित्यं समाजः।
—कामसूत्र, नागरकवृत्तप्रकरण १५।

२. ताम्बूलानि स्रजश्चैव संस्कृतं चानुलेपनम्।
आगतस्याहरेत्प्रीत्या कलागोष्ठीश्च योजयेत् ॥ (का० सू० ६।१।३१)

३. इह तु कथं वर्त्तमानकालता कंसं घातयति बलिं बधयतीति चिरहते कंसे चिरबद्धे च बलौ। अत्रापि युक्ता। कथम्। ये तावदेते शोभनिका (सौभनिका) नामैते प्रत्यक्षं कंसं घातयन्ति प्रत्यक्षं च बलिं बन्धयन्तीति। ... अतश्च सतः व्यामिश्रा हि दृश्यन्ते केचित् कंसभक्ता भवन्ति केचित् वासुदेवभक्ताः। वर्णान्यत्व खलु पुष्यन्ति। केचिद्रक्तमुखा भवन्ति केचित् कालमुखाः।३।१।२६ महाभाष्य।

४. महाभाष्य—१।४।१९; ३।१।२६; ६।१।२।

५. The balance of probehality, therefore, is that Sanskrit dramas came into being shortly after, if not before, the middle of the second century B. C. and that it was evoked by the combination of epic recitations with the dramatic movement of the Krishna legend, in which a young—God strives against and over comes enemies.—Sanskrt Drama by A. B. Keith p. 45.

ब्रह्मपुराण (१८९।२०) में रासक्रीड़ा का सुव्यवस्थित रूप मिलता है। रास की यह परम्परा विष्णुपुराण (५।१३), पद्मपुराण (६९।८७-११८), ब्रह्मवैवर्त्त-पुराण (कृष्ण० २८-५५) तथा भागवत[1] में सविस्तार वर्णित है। भागवत की रासपंचाध्यायी में रासलीला का सर्वोत्कृष्ट रूप प्राप्त होता है। रासलीला और छालिक्य अभिनय पौराणिक काल की प्रमुख देन है। महाकवि कालिदास ने छालिक्य अभिनय को 'छलिक' नाम से अपने मालविकाग्निमित्र[2] में प्रयुक्त किया है।

रंगीन चश्मे से भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के विकास को हीन देखने के अभ्यस्त डा० कीथ भले ही संस्कृत नाटक को दो सौ ई० पूर्व से अधिक नहीं माने, किन्तु वस्तुस्थिति यह है कि भारतीय नाटक का पूर्ण विकसित रूप करीब पाँच सौ ई० पूर्व भरत के नाट्यशास्त्र में उपलब्ध था। पाणिनि मुनि के करीब दो सौ वर्ष बाद भरत के नाट्यशास्त्र में नाट्य-कला के सर्वोत्कृष्ट विकसित रूप का प्रतिपादन मिलता है। उसमें यह उल्लेख किया गया है कि त्रेता युग में इन्द्रादि देवताओं के अनुरोध पर ब्रह्मा ने चारों वेदों से क्रमश. पाठ्य, गीत, अभिनय और रस तत्त्व लेकर सार्ववर्णिक नाट्यवेद की सृष्टि की। तदुपरान्त उन्होंने भरतमुनि को इस पंचमवेद की सांगोपांग शिक्षा देकर अपने शत शिष्यों के सहयोग से इसके प्रयोग का आदेश दिया। भरतमुनि ने अपने शिष्यों को शिक्षित कर और ब्रह्मा से इष्ट स्त्रीपात्र के रूप में अप्सराओं को पाकर इन्द्रध्वज महोत्सव के शुभावसर पर "असुरपराजय" नामक नाटक का अभिनय किया। इसे देखने के बाद दैत्यगण अत्यधिक रुष्ट हुए और अभिनय में विघ्न उपस्थित करने लगे। जब वे किसी प्रकार शान्त नहीं हुए तो नाट्यप्रयोग के रक्षण के निमित्त नाट्यगृह की आवश्यकता का अनुभव किया गया। एतदर्थ विश्वकर्मा के द्वारा नाट्यगृह का निर्माण किया गया तथा विधिवत् रंगपूजा के साथ रंगरक्षक देवों की भी उसमें स्थापना की गई। इस प्रेक्षागृह में भरतमुनि ने पितामह ब्रह्मा द्वारा रचित अमृतमन्थन नामक समवकार को प्रस्तुत किया। इसमें देवों एवं दैत्यों ने अपने-अपने कर्म तथा भाव को प्रस्तुत होते देखकर प्रसन्नता व्यक्त की। इससे प्रसन्न होकर ब्रह्मा नटों को स्वतः शिव के पास ले गये। पुनः ब्रह्मा के आदेशानुसार भरत ने हिमालय के रमणीय शृंग में पूर्वरंग विधान के साथ शिव जी के समक्ष त्रिपुरदाह नामक डिम का अभिनय प्रस्तुत किया। इसे देखकर शिव जी बहुत खुश हुए और भरत को पूर्वरंग विधि में ताण्डव संयुक्त करने तथा उसे तण्डु से

१. भागवत स्कन्ध १, अध्याय ११, श्लोक २१।

२. मालविकाग्निमित्रम्—३।८।

प्राप्त करने का आदेश दिया। तदनुसार इसे तण्डु से पाकर उन्होंने पूर्वरंग में उनका समावेश किया। उसमें पार्वती के द्वारा सुकुमार श्रृंगारिक लास्य का भी योगदान था। इस नाट्यवेद को विशेष प्रभावोत्पादक बनाने के लिए चार नाट्यवृत्तियों को आविष्कृत कर उन्हें भी उसमें विष्णु जी ने प्रविष्ट करवाया। इस प्रकार सृष्ट इस दिव्य नाट्यवेद को भूतल पर भरतमुनि ने अवतरित किया[1]।

नाट्यशास्त्र में नाट्योद्भव सम्बन्धी इस विवेचन से भारतीय नाट्यपरम्परा के इतिहास के परिज्ञान के साथ यह सुस्पष्ट हो जाता है कि—भरतमुनि के समय में नाटक के 'नट' 'नटी' नृत्य-वाद्य, संगीत, संवाद, कथावस्तु तथा रंगमंच आदि विविध अवयव निर्धारित हो चुके थे। किन्तु जैसा कि ऊपर विवेचन किया है कि भरतमुनि से काफी पहले से ही नाट्यपरम्परा का सूत्रपात हो चुका था। भरत ने उस परम्परा को परिष्कृत शास्त्रीय रूप दिया। उन्होने पूर्ववर्ती लक्ष्य-ग्रन्थों को ध्यान में रखकर नाट्य-लक्षणों का निर्धारण किया।

"गिरनार" तथा सीतावेंगा की गुफाओं में प्राप्त प्रेक्षागृह हमें प्राचीन काल में रंगमंच के विकास की सूचना देते हैं।

उपर्युक्त साक्ष्यों के आधार पर संस्कृत के नाटकों की सुदीर्घ परम्परा का परिचय मात्र मिलता है। कोई भी मूल नाटक उपलब्ध नहीं है। अनेक देशी विदेशी आक्रमणों के परिणामस्वरूप संस्कृत की बहुमूल्य रचनाओं के साथ ये नाटक भी नष्ट हो गये।

संस्कृत नाटक की सजीव परम्परा का अनुवर्त्तन भास के नाटकों से होता है। यद्यपि कालिदास के पूर्व सौमिल्ल एवं कविपुत्र जैसे नाटककारों के होने का उल्लेख मालविकाग्निमित्रम्[2] में मिलता है, किन्तु आज वे उपलब्ध नहीं हैं। अपने पूर्ववर्ती इन दोनों प्रथित यशस्वी नाटककारों के साथ उन्होने भास का भी उल्लेख किया है। कालिदास की नाट्यशैली पर इनका न्यूनाधिक प्रभाव रहा होगा। संस्कृत नाट्य साहित्य की परम्परा कालिदास से दशवीं शताब्दी तक अविच्छिन्न रूप में प्राप्त होती है। इसके बाद इसकी धारा राज्याश्रय के अभाव के साथ-साथ

---

१. नाट्यशास्त्र—अ० प्र० अ०।

२. प्रथितयशसा भाससौमिल्लकविपुत्रादीनां प्रबन्धानतिक्रम्य कथं वर्त्तमानस्य कवेः कालिदासस्य कृतो बहुमानः।

—मालवि० प्र० अंक।

रंगमंच की समाप्ति के कारण क्षीण हो गई। फिर भी बीसवी शताब्दी तक संस्कृत में नाटक की रचना न्यूनाधिक रूप में जारी है। आगे भास से लेकर आधुनिककाल तक नाटककारों एवं उनकी नाट्यकृतियों का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है।

उपलब्ध नाटक के नाटककारों में अधिकांश विद्वान् भास को संस्कृत का सर्वप्रथम नाटककार स्वीकारते हैं। ये संस्कृत साहित्य के ऐसे देदीप्यमान रत्न हैं जिनकी आभा से आज भी संस्कृत साहित्य आलोकित एवं उद्भासित हो रहा है। उनके व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व की महिमा कविकुलगुरु कालिदास के अतिरिक्त वाण[1] (७वीं शताब्दी), दण्डी[2] (७वीं श०), भामह (७वीं श०), वाक्पतिराज[3], वामन (८वीं श०), राजशेखर[4] (९वीं श०) अभिनवगुप्त (१०वीं श०), तथा जयदेव[5] (१२वीं श०) आदि प्रमुख विद्वानों ने समान स्वर से वखानी है। इतने लब्ध-प्रतिष्ठ होते हुए भी मुसलमानों के उपद्रवपूर्ण शासन के फलस्वरूप इनकी रचनाएँ लुप्त हो चुकी थीं। सन् १९०९ ई० में श्री टी० गणपतिशास्त्री को कुमारी अन्तरीप से करीब २० मील दूर पद्मनाभपुरम् के निकट मनलिक्करमथम् नामक स्थान मे ताड़पत्रों पर प्राचीन मलयालम अक्षरों में लिखे हुए तेरह नाटक मिले। अनेक अन्तः एवं बाह्य प्रमाणों के आधार पर उन्होंने तेरहों नाटकों को भासकृत घोषित कर 'त्रयोदशत्रिवेन्द्रम्' नाटकानि के नाम से प्रकाशित कराया[6] और इन्हें कालिदास का पूर्ववर्ती सिद्ध किया।

---

१. सूत्रधारकृतारम्भैर्नाटकैर्बहुभूमिकैः।
सपताकैर्यशो लेभे भासो देवकुलैरिव ॥—(हर्षचरित)

२. सुविभक्तमुखाद्यङ्गैर्व्यक्तलक्षणवृत्तिभिः।
भरतोऽपि स्थितो भासः शरीरैरिवनाटकैः ॥—अवन्तिसुन्दरिकथा।

३. भासम्मि जलणमित्ते कान्तिदेवे तहावि रहुआरे।
सोबन्धवे अ बन्धम्मि हारिअन्दे अ आणन्दो ॥—गउडवहो।

४. भासनाटकचक्रेऽपिच्छेकैः क्षिप्ते परीक्षितुम्।
स्वप्नवासवदत्तस्य दाहको भून्न पावकः ॥ (काव्यमीमांसा)।

५. भासो हासः कविकुलगुरुः कालिदासो विलासः।—प्रसन्नराघव।

६ त्रिवेन्द्रम् से १९१२-१९१३ में प्रकाशित।

इन नाटकों के प्रकाश में आने पर प्रो० सिलवाँ लेवी, प्रो० विनटर नित्स तथा प्रो० सी० आर० देवधर प्रभृति विद्वानों ने इनका रचयिता युवराज महेन्द्र तथा शीलभद्र को ठहराया तथा उनका रचनाकाल ७वीं-८वीं शताब्दी निर्धारित किया।[1] किन्तु वर्त्तमान अनुसंधान के अनुसार यह सर्वथा सिद्ध हो गया है कि तेरहो रूपकों के रचयिता भास ही थे[2] तथा उनका स्थितिकाल चौथी-पाचवीं शताब्दी ई० पूर्व था।[3]

इनके कुछ रूपकों की कथावस्तु रामायण, महाभारत, पुराण तथा तत्कालीन कथा-साहित्य से ली गई है तथा कुछ का आधार कविकल्पित भी माना गया है। इतिवृत्त के स्रोत के आधार पर इनका विभाजन इस प्रकार किया जा सकता है :—

(१) रामायण पर आधारित —प्रतिभा और अभिषेक।

(२) महाभारत पर आधारित—पंचरात्र, मध्यमव्यायोग, दूत घटोत्कच, कर्णभार, दूतवाक्य, उरुभंग।

(३) भागवताश्रित कृष्णकथा पर आधारित—बालचरित।

(४) वृहत्कथाश्रित उदयन कथा पर आधारित—प्रतिज्ञायौगन्धरायण और स्वप्नवासवदत्तम्।

(५) कविकल्पित दरिद्रचारुदत्त और अविभारक।

इनके उपर्युक्त सभी रूपकों में स्वप्नवासवदत्तम् सर्वोत्कृष्ट है। संस्कृत साहित्य के गिने-चुने नाटकों में इसका गौरवपूर्ण स्थान है। इसका प्रभाव परवर्ती नाटकों पर स्पष्ट परिलक्षित होता है। अन्य नाटकों में स्थापित जीवन-दर्शन, नाटकीय औदात्य, शैली आदि का एकत्र समाहार इसमें मिलता है। वस्तु, नेता तथा रस के प्रति कवि का दृष्टिकोण भरत के नाट्यशास्त्र के अनुरूप ही मालूम पड़ता है। उनका यही प्रयोग परवर्ती नाटककारों की कृतियों में अनुकूल मिलता है। इनकी भाषा-शैली, नाटकीय कथोपकथन आदि सरल, प्रवाहपूर्ण एवं स्वाभाविक है। कहीं भी पाण्डित्यप्रदर्शन का आग्रह नहीं मिलता है। उन्होंने परवर्ती

---

१. दासगुप्ता:—हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर, वा० १, पृ० १०७-१०८।

२. डा० व्यास—संस्कृत कविदर्शनः पृ० २२८-२३०।

३. चन्द्रशेखर पाण्डेय—संस्कृत साहित्य की रूपरेखा। (तृतीय संस्करण) पृ० ९९-१०५।

नाटककारों के लिए दिशानिर्देश किया है। उनका प्रभाव कालिदास, शूद्रक, हर्ष आदि प्रसिद्ध नाटककारों पर भी स्पष्टरूपेण परिलक्षित होता है। उनके नाटकों में घटना की एकता, सार्थकता तथा घातप्रतिघात के साथ कवित्व, चरित्र-चित्रण एवं स्वाभाविकता आदि सफल नाटक के गुण विद्यमान है।

भास के पश्चात् नाटक-क्रम में कालिदास के रूपक उल्लेखनीय हैं। कुछ दिन पूर्व अनेक समालोचक कालिदास और अश्वघोष की पूर्वापरता सम्बन्धी वितर्क की तरह शूद्रक के स्थितिकाल को भी कालिदास से पूर्व मानते थे। वे लोग कालिदास की रचनाओं पर शूद्रक का प्रभाव मानते थे। किन्तु भास की नाट्य-कृतियों के प्रकाश में आने पर दोनों (कालिदास और शूद्रक) के नाटकों की तुलना करने पर अर्वाचीन विद्वान् इस निष्कर्ष पर पहुँचे है कि शूद्रक का आविर्भाव कालिदास के बाद हुआ। अनेक अन्तः एवं वाह्य साक्ष्यों के आधार पर अनुसंधान कर यह निश्चित किया गया है कि कालिदास का स्थितिकाल प्रथम शताब्दी ई० पू० था[1]। ये विक्रमादित्य के नवरत्नों में से थे[2]। इस कथन की पुष्टि के लिए उनके अभि० शा० तथा विक्रमोर्वशीयम् में उल्लिखित विक्रम शब्द की ओर संकेत किया जाता है[3]। मालविकाग्निमित्रम्, विक्रमोर्वशीयम् एवं अभिज्ञानशाकुन्तलम् इन तीनों रूपकों के रचयिता कालिदास थे, अब यह सर्वमान्य है। ये नाटक शृंगार-रस-प्रधान हैं तथा इनका प्रमुख विषय प्रेम है। वस्तु और रस की दृष्टि से ये नाटक अनुपम है। इनमें कालिदास ने भारतीय संस्कृति का अद्वितीय समुज्ज्वल चित्र अंकित किया है। इनके अभिज्ञानशाकुन्तलम् का स्थान विश्व-साहित्य में सर्वोपरि है। इनकी नाट्यप्रतिभा का वास्तविक प्रस्फुटन अभिज्ञानशाकुन्तलम् में हुआ है।

---

१. वलदेव उपाध्याय—संस्कृत साहित्य का इतिहास-पृ० १६५।

२. चन्द्रशेखर पाण्डेय—संस्कृत साहित्य की रूप-रेखा, पृ० १०७।
डा० हरिदत्त शास्त्री—संस्कृत काव्यकार—पृ० १००।

३. सूत्रधारः—आर्ये। इह हि रसभावदीक्षागुरोर्विक्रमादित्यस्य अभिरूपभूयिष्ठा परिषत्। अस्यां च कालिदासग्रथितवस्तुना नवेनाभिज्ञान-शाकुन्तलनामधेयेन नाटकेनोपस्थातव्यमस्माभिः। तत्प्रतिपात्रमाधीयतां यत्नः—अभि० शा०, पृ० ६।
चित्ररथः—(राजानं दृष्ट्वा सबहुमानम्) दिष्ट्या महेन्द्रोपकारपर्याप्तेन विक्रममहिम्ना वर्धते भवान्।—विक्र० पृ० २६, प्र० अ०
चित्ररथः— युक्तमेतत्। अनुत्सेकः खलु विक्रमालंकारः—विक्र० पृ० २९, प्र० अ०

नाट्यसाहित्य में इनके बाद अश्वघोष का क्रम आता है। पं० चन्द्रशेखर पाण्डेय ने भी कालिदास के बाद बौद्ध सम्राट् कनिष्क के गुरु[1] एवं आश्रित कवि अश्वघोष का क्रम निर्धारित किया है[2]। कनिष्क के गुरु होने के कारण इनका स्थितिकाल प्रथम शताब्दी ई० निर्विवाद है। दोनों की काव्यशैलियों की तुलनात्मक समीक्षा करने पर भी ये कालिदास के परवर्ती सिद्ध होते हैं। इनकी रचनाओं पर कालिदास की परिष्कृत रचना-शैली का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। भास[3] के भाव और भाषा का प्रभाव भी इन पर स्पष्ट है। इनकी रचनाओं में वेद तथा शास्त्र आदि की बातों की चर्चा मिलती है, अतः यह सिद्ध होता है कि वे सुशिक्षित ब्राह्मणकुल में उत्पन्न हुए होंगे और बाद में बौद्धधर्म में दीक्षित होकर उक्त धर्म के प्रचार में लीन हो गये। ये दार्शनिक होने के साथ उच्चकोटि के कवि और संगीतज्ञ भी थे। मध्य एशिया तूरफान नामक स्थान में प्रो० लूडर्स ने १९१० ई० में अश्वघोषकृत तीन नाटक प्राप्त किये[4]। इनके शारिपुत्रप्रकरण (शारद्वतीपुत्रप्रकरण) एक है। नाट्यशास्त्र के नियमानुसार यह ९ अंकों का प्रकरण है। इसमें शारिपुत्र और मौद्गल्यायन के भगवान् बुद्ध से उपदेश ग्रहण कर बौद्धधर्म में दीक्षित होने का वर्णन है। शेष दो रूपक खंडितरूप में प्राप्त हैं। तीनों रूपकों में भावों, विचारों तथा शब्दों का पारस्परिक विनिमय मिलता है। अतः तीनों रचनासाम्य के अन्तरंग प्रमाणों के आधार पर शेष दोनों को भी अश्वघोषकृत माना जाता है[5]। डा० कीथ ने इन दोनों नाट्यांशों को अश्वघोष की रचना मानी है[6]।

संस्कृत नाटकों की विकसित परम्परा में कालिदास एवं अश्वघोष के बाद मृच्छकटिक के रचयिता शूद्रक का नाम उल्लिखित किया जाता है। पहले आलोचकों ने शूद्रक को कालिदास का पूर्ववर्ती मान कर इनका स्थितिकाल

१. संयुक्तरत्नपिटक और धर्मपिटकनिदान, जिसका अनुवाद चीनी में ४७२ ई० में हुआ, बताते हैं कि अश्वघोष कनिष्क का गुरु था।
२. चन्द्रशेखर पाण्डेय—संस्कृत साहित्य की रूपरेखा, पृ० ५०।
३. बलदेव उपाध्याय—संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० १६५, पंचम संस्करण।
—चन्द्रशेखर पाण्डेय—सं० सा० की रूपरेखा—पृ० ३९।
—डा० हरिदत्त शास्त्री—सं० काव्यकार—पृ० १०२-१३।
४. बलदेव उपाध्याय—सं० सा० का इतिहास—पृ० १९६।
५. वही
६. डा० कीथ—संस्कृत ड्रामा—पृ० २३०।

अनुमानतः तीसरी शताब्दी ई० पू० माना[1] तथा कालिदास के कुछ नाटकों में मृच्छकटिक की छाप बतायी थी। परन्तु यहाँ प्रश्न यह उठता है कि जब कालिदास ने गौरव पूर्वक सौमिल्ल और कविपुत्र के साथ भास का नामोल्लेख अपने मालविकाग्निमित्रम् में किया तो मृच्छकटिक के कर्त्ता शूद्रक का नाम उन्होंने क्यों नहीं लिखा ? यह विचार और विवाद का गम्भीर विषय हो गया। फलतः दोनों की नाट्य-कृतियों के तुलात्मक ठोस अध्ययन के बाद और भास के नाटकों के प्रकाश में आने के कारण अब यह मान लिया गया है कि शूद्रक कालिदास के बाद आविर्भूत हुए[2]। इस प्रकार अधिकांश विद्वान् इनके स्थितिकाल की सीमा तीसरी शताब्दी के बाद छठी शताब्दी के पूर्व[3] यानी गुप्त काल के बाद हर्षवर्द्धन के पूर्व[4] पाँचवीं शताब्दी के आसपास निर्धारित करते है[5]।

कीथ प्रभृति कुछ पाश्चात्य विद्वान् शूद्रक को कल्पित व्यक्ति[6] मानते हैं तथा मृच्छक को इनकी नाट्यकृति नहीं स्वीकारते हैं। लेकिन अनेक अन्तः[7] एवं बाह्य साक्ष्यों के आधार पर अब सिद्ध किया गया है कि यह शूद्रक की रचना है तथा स्वयं शूद्रक ऐतिहासिक पुरुष थे।[8] मृच्छकटिक के वर्णित प्रसंगों से पता चलता है कि शूद्रक दाक्षिणात्य थे। इसके अतिरिक्त 'पद्मप्राभृतक' भाण भी शूद्रक की ही रचना मानी जाती है।

संस्कृत साहित्य में भास के बाद राजसंस्कृति के नियमों का उल्लंघन कर समाज के निम्नवर्गो का अपने नाटक में प्रतिनिधित्व करानेवाले ये अकेले नाटककार हैं। इससे स्पष्ट पता चलता है कि ये यथार्थवादी एवं प्रगतिवादी विचारधारा के पोषक थे तथा सामाजिक रूढ़ियों से बहुत दूर थे। वस्तु एवं भाव का कलात्मक संतुलन इसकी निजी विशेषता है। इसमें घटनाओं का घातप्रतिघात तथा कथानक का क्रमिक विकास पाया जाता है। यह रंगमंच के सर्वथा उपयुक्त है। टीकाकार पृथ्वीधर के कथनानुसार इसमें संस्कृत के अतिरिक्त शौरसेनी, मागधी, अवन्तिका,

---

१. पं० चन्द्रशेखर पाण्डेय—संस्कृत साहित्य की रूपरेखा-पृ० १०३।

२. वाचस्पति गैरोला—संस्कृत साहित्य का इतिहास-पृ० ८००-८०१।

३. वासुदेव उपाध्याय—गुप्त साम्राज्य का इतिहास—२ पृ० १०७।

४. डा० भोलाशंकर व्यास—संस्कृत कविदर्शन, पृ० २८०-२८४।

५. बलदेव उपाध्याय—सं० सा० का इतिहास—पृ० ५२३।

६. कीथ—स० ड्रामा पृ० १२९-३०।

७. मृच्छकटिक, अंक १, ३, ४, ५।

८. बलदेव उपाध्याय। सं० सा० का इतिहास—पृ० ५२१।

प्राच्या, शकारी, चाण्डाली तथा ढक्की सात प्राकृतों का प्रयोग किया गया है। इसमें हास्य रस की प्रधानता है। इनकी शैली सरल एवं प्रवाहयुक्त है तथा नाटक के गतिशील कथानक के सर्वथा उपयुक्त है। इनकी भाषा में यद्यपि भास और कालिदास की चारुता और भवभूति की उदात्तता नहीं है, किन्तु वे किसी भाव के मार्मिक चित्रण में सिद्धहस्त हैं।[1] शूद्रक भाव-भाषा सबमें—भास के ऋणी हैं।[2] शूद्रक की अभिव्यक्ति में ताकत है तथा थोड़े ही शब्दों में अधिक चित्र खींच देने की कला है। कालिदास की काव्यप्रवणता तथा अर्थ एवं ध्वनि का संतुलन इनमें नहीं है। भावों के सूक्ष्म चित्रण में वह भवभूति से पीछे है, किन्तु वह उनकी क्लिष्टता से मुक्त है। विशाखदत्त तथा भट्टनारायण आदि नाटककारों से शूद्रक सर्वथा अग्रगण्य हैं

हूणहरिण केशरी प्रभाकरवर्धन तथा यशोमती के पुत्र कान्यकुब्जों के राजा हर्षवर्धन (६०६ ई० से ६४७) के ऐतिहासिक व्यक्तित्व के बारे में विद्वान् एकमत हैं। इस विद्वान् सम्राट ने प्रियदर्शिका, रत्नावली नामक दो नाटिकाओं एवं नागानन्द नामक नाटक की रचना की। इन कृतियों के सम्बन्ध में वेबर प्रभृति कुछ विद्वान् की धारणा थी कि ये इनकी रचनाएँ नही हैं। किन्तु इनकी विद्वत्ता एवं योग्यशासकत्व की भूरि-भूरि प्रशंसा चीनी यात्री ईत्सिंग ने की है। इनके राज्यकाल में देश के पर्याप्त विकास के साथ शिक्षा की आशातीत उन्नति हुई। इनके अनेक आश्रित कवियों में बाणभट्ट प्रमुख थे। इन्होंने भी हर्ष की विद्वत्ता एव प्रभुता का गुणगान किया है।[3] जयदेव ने इन्हें कविता-कामिनी का हर्ष कहा तो सोड्ढल ने गीर्हर्ष की उपाधि से विभूषित किया। इस प्रकार के पर्याप्त प्रमाणों के आधार पर कहा जा सकता है कि ये ही उपर्युक्त तीनों कृतियों के स्रष्टा थे। ये शिव, सूर्य और बुद्ध के उपासक थे। भास के प्रतिज्ञायौगन्धरायणम् और स्वप्नवासवदत्तम् की तरह प्रियदर्शिका और रत्नावली नामक नाटिकाओं में हमें कालिदास के मालविकाग्निमित्र के साथ न केवल विषयवस्तु एवं स्वरूप की समानता ही वरन् उसकी स्मृति भी सुरक्षित मिलती है। प्रियदर्शिका की विशिष्टता गर्भाङ्क के प्रभावशाली समावेश में है। अभिनय की दृष्टि से रत्नावली नाटिका सफल रचना है। इसमें नाट्यशास्त्र के नियमों का सर्वथा पालन किया गया है। फलतः धनंजय एवं आचार्य

---

१. मृच्छकटिक—१।३६; १।५७।

२. हरिदत्त—संस्कृत काव्यकार—पृ० ६३।

३. बाणभट्ट—काव्यकथास्वपीतामृतमुद्वमन्तम्, विमलकपोलप्रतिबिम्बितां चामरग्रहिणीं विग्रहिणीमिव मुखवासिनीं सरस्वतीमादधानम्, अपि चास्य……प्रज्ञायाः शास्त्राणि कवित्वस्य वाचः………न पर्याप्तो विषयः।—हर्षचरितम् (नि० सा० संस्करण) पृ० ७१, ७४ ७८।

विश्वनाथ आदि ने अपने नाट्यशास्त्रों में इसी से उदाहरण प्रस्तुत किया है। इसमें यद्यपि शृंगार से लथपथ विलासमय चित्रण किया गया है, लेकिन भारतीय मर्यादा का उल्लंघन नहीं हुआ है। पाँच अंकों में लिखित शान्ति-रसप्रधान बौद्ध नाटक नागानन्द में राजकुमार जीमूतवाहन[1] की प्रणय-कथा और आत्मोत्सर्ग का नाटकीय चित्रण किया गया है। इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें हिन्दू एवं बौद्ध विचारों का समन्वय है।

हर्ष नाटिका के पहले और सफल कर्त्ता हैं। इनकी गर्भाङ्क-योजना का प्रभाव परवर्ती नाटककार भवभूति के उत्तररामचरित और राजशेखर के वाल-रामायण पर है। इनकी काव्य-शैली सरल और सुवोध है। ये कालिदास की भाँति काव्यकला और नाट्यकला दोनों दृष्टियों से सफल हैं। अन्तःपुर की प्रणय-नाटिकाओं की रचना मे ये अप्रतिम हैं। ये एक नई परम्परा के प्रवर्तक हैं। परवर्ती नाटककार राजशेखर की विद्धशाल-भंजिका और कर्पूरमंजरी, विल्हण की कर्णसुन्दरी आदि अन्य समकालिक नाटिकाएँ इन्हीं के अनुकरण पर रचित प्रतीत होती हैं। डा० कीथ ने लिखा है कि कालिदास के साथ इनकी तुलना करने के कारण ही हर्ष की नाट्यकृतियों को इतनी प्रशंसा नहीं प्राप्त हो सकी जितनी मिलनी चाहिए थी।[2] वस्तुतः भास, शूद्रक और कालिदास के नाट्यव्यक्तित्व का इनमें अभाव है। इन्होंने कालिदास और शूद्रक के बाद संस्कृत नाट्यपरम्परा का सफलतापूर्वक निर्वाह किया है।

कन्नौजाधिपति यशोवर्मा के बारे में दशरूपकादि नाट्यशास्त्र के ग्रन्थों एवं कल्हण की राजतरंगिणी के उल्लेख के आधार पर पता चलता है कि ये स्वयं विद्वान तथा वाक्पतिराज एवं भवभूति के आश्रयदाता थे।[3] ललितादित्य मुक्तापीड़ ने ७३३ ई० में यशोवर्मा को परास्त किया था।[4] अतः इनका स्थितिकाल सातवीं-शताब्दी मान्य है। इन्होंने रामायण की कथा के आधार पर छः अंकों में रामाभ्युदय नामक नाटक लिखा है। यह उपलब्ध नहीं है। काव्यशास्त्रों में इसके उदाहरणमात्र मिलते हैं।

---

१. यत्तदस्मत्स्वामिना श्रीहर्षदेवेन विद्याधरजातक प्रतिवद्ध नागानन्दं नाम नाटकं कृतम्। —हर्ष-नागानन्द की प्रस्तावना।

२. Comparison with Kalidasa is doubtless the cause why Harsha has tended to recive less praise than is dus to his dramas.
—Sanskrit Drama P. 175.

३. कविर्वाक्पतिराजश्रीभवभूत्यादिसेवितः।
जितो ययौ यशोवर्मा तद्गुणस्तुतिवन्दिताम्॥—राजतरंगिणी ४।१४४।

४. राजतरंगिणी ४।३४।

संस्कृत के महान् नाटककारों में कालिदास के पश्चात् भवभूति का नाम उल्लेखनीय है। ये उदुम्बरवंशीय ब्राह्मण थे। इनके पितामह का नाम भट्टगोपाल, पिता का नाम नीलकण्ठ तथा माता का नाम जतुकर्णी था। ये शिव के भक्त होने के कारण भवभूति कहलाने लगे। इस कथन का आधार उनके लिखित श्लोक हैं—

साम्बा पुनातु भवभूतिपवित्रमूर्तिः

अथवा

गिरिजायाः कुचौ वन्दे, भवभूतिसिताननौ ।

महावीर चरित के उल्लेखानुसार कुछ विद्वान् इनका वास्तविक नाम श्रीकण्ठ मानते हैं[1]। श्लोक वार्तिक-टीका के आधार पर भवभूति का नाम उम्वेक भी विदित होता है। मालतीमाधव की ४०० वर्ष पुरानी हस्तलिखित प्रति की पुष्पिका में उसके रचयिता का नाम उम्वेकाचार्य लिखा है न कि भवभूति अथवा श्रीकण्ठ। उसमें उन्हें प्रसिद्ध मीमांसक कुमारिल का शिष्य बताया गया है। महावीर चरित में उन्होंने अपने गुरु का नाम ज्ञाननिधि लिखा है[2]। उपर्युक्त उल्लेख से पता चलता है कि ये कन्नौज के राजा यशोवर्मा के आश्रित कवि थे। उन्हीं के आश्रित इनके सहयोगी विद्वान् वाक्पतिराज ने अपने गौडवहो नामक काव्यग्रन्थ में भवभूति की प्रशंसा की है[3]। अतः इसके आधार पर इनका स्थितिकाल सातवीं शताब्दी के आसपास निर्धारित किया गया है। इनकी तीन नाट्यकृतियाँ हैं—(१) महावीरचरित, (२) मालतीमाधव तथा (३) उत्तर-रामचरित। इनमें उत्तररामचरित सर्वोत्कृष्ट एवं संस्कृत के उच्च कोटि के नाटकों में परिगणित होता है। इसमें उनकी नाट्यप्रतिभा का पूर्ण परिपाक हुआ है। उन्होंने चरित्र-चित्रण एवं शैली का अभिनव प्रवर्त्तन किया है। ये शब्द-ब्रह्मविद थे[4]।

---

१. तदामुष्यायणस्य तत्रभवतो वाजपेययाजिनो महाकवेः पंचमः सुगृहीतनाम्नो भट्टगोपालस्य पौत्रः पवित्रकीर्तेर्नीलकण्ठस्यात्मसंभवः श्रीकंठपदलांछनः पद-वाक्यप्रमाणज्ञो भवभूतिर्नाम जतुकर्णीपुत्रः कविर्मित्रधेयमस्माकमिति विदांकुर्वन्तु ।
—महावीर चरित—पृ० ८ ।

२ महावीर चरित—१। ५ ।

३. भवभूतिजलधिनिर्गतकाव्यामृतरसकणा इव स्फुरन्ति ।
यस्य विशेषा अद्यापि विकटेषु कथानिवेशेषु ।।—गौडवहो— ७। ९९

४. उत्तररामचरितम्—७।२१, १।२
—स्पष्टभावरसचित्रैः पदन्यासैः प्रवर्तिता
नाटकेषु नटस्त्रीव भारती भवभूतिना ।। (धनपाल की तिलकमंजरी)।

भवभूति के ऊपर कालिदास की नाट्यकृतियों का प्रभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। दुष्यन्त और सर्वदमन के अज्ञात मिलन के आधार पर भवभूति ने उत्तररामचरित्त में राम एवं लवकुश का अज्ञात मिलन अंकित किया है। मालतीमाधव के नवम अंक में विरहव्यथित माधव ने मालती के समाचार को अवगत करने के लिए मेघ को अपना दूत बनाकर भेजा है[1]। कुछ साम्य रहने पर भी दोनों की शैली में पर्याप्त अन्तर है। कालिदास कोमलकान्तपदावली की सृष्टि करने में सर्वश्रेष्ठ हैं। ये शृंगाररस-प्रधान रचना में अद्वितीय हैं । इसके विपरीत भवभूति करुणरस के आचार्य हैं। इन्होंने उत्तररामचरित्त में करुणरस को सभी रसों का उत्पादक माना है। कालिदास ने वैदर्भी रीति को अपनाया है। भवभूति की शैली परिपुष्ट, उत्कृष्ट, ओजस्विनी, समासबहुल एवं सामंजस्यपूर्ण है। अतः इनकी रचनाओं में गौडी शैली की प्रधानता है। कालिदास की शैली ध्वन्यात्मक है, किन्तु भवभूति की शैली वर्णनात्मक है।

भवभूति के बाद विशाखदत्त (विशाखदेव) का नाम परिगणित किया जाता है। उनके नाटक की प्रस्तावना से विदित होता है कि वे सामन्त वटेश्वरदत्त के पौत्र और महाराज पृथु के थे[2]। उनके नाटक में उल्लिखित पार्थिवश्चन्द्रगुप्तः, पार्थिवोदन्तिवर्मा या पार्थिवोऽवन्तिवर्मा पाठ को प्रामाणिक मानकर क्रमशः ३७५-४१३ ई०, ७७९-८३० ई० तथा ६०६-६४८ ई० उनका स्थितिकाल माना जाता है। उनकी दो नाट्यकृतियाँ हैं :—(१) देवीचन्द्रगुप्तम् तथा (२) मुद्राराक्षसम्। सुभाषित ग्रंथों में बिखरे उद्धरणों के आधार पर 'राघवानन्द' नामक इनकी तीसरी नाट्यकृति भी विद्वानों ने पता लगाया है[3]। इनमें मुद्राराक्षस समग्र संस्कृत नाट्यसाहित्य में अपूर्व नाटक है। यह ऐतिहासिक-राजनीतिक नाटक है। इस पर भास के प्रतिज्ञायौगन्धरायणम् का प्रभाव दृष्टिगत होता है। इसमें नाट्यशास्त्र के सभी नियमों का पालन नहीं हुआ है। यह रस प्रधान न होकर घटना-प्रधान नाटक है। राजनीति एवं कूटनीति का इसमें सजीव एवं सफल चित्रण हुआ है। ओज गुण विशिष्ट इसकी शैली है।

हाल में कौमुदीमहोत्सव नामक एक नाटक उपलब्ध हुआ है। इसमें ५ अंक है। अनुमानतः यह कहा जाता है कि इसकी रचयित्री कोई दाक्षिणात्य महिला

---

१. क्वचित् सौम्य। प्रियसहचरं.........स एक ॥ (मालतीमाधव अंक ९, श्लोक २५-२६)

२. सूत्रधारः.............। "अद्य सामन्तवटेश्वरदत्तपौत्रस्य महाराजपदभाक्पृथुसूनोः कवेर्विशाखदत्तस्य कृतिः मुद्राराक्षसं नाम नाटकं नाटयितव्यम्" इति।

३. के० एच० ध्रुव : पूना ओरियन्टलिस्ट, अक्तूबर १९३६, पृ० ४२।

थी। विन्टरनिट्ज के विचार से यह दण्डी (६०० ई०) के बाद की रचना है, क्योंकि इस पर दण्डी की अवन्तीसुन्दरी कथा का प्रभाव है। इस पर मुद्राराक्षस का भी कुछ प्रभाव मालूम पड़ता है, अतः यह सम्भवतः मुद्राराक्षस के बाद की रचना होगी। इसमें भी राजनीतिक दावघात की प्रमुखता है। इसकी विशेषता यह है कि इसमें राजनीतिक घटनाओं को प्रणय कथा से सम्बद्ध किया गया है।

महेन्द्रविक्रमन् प्रथम ने महाविलास प्रहसन लिखा है। इसका समय ६१० ई० के आसपास है। इसमें कांची के नागरिक जीवन का वर्णन है।

श्यामिलक ने 'पादताडितक' नामक भाण लिखा है। उसने इसमें पारशव नामक कवि का नामोल्लेख किया है। बाण ने पारशव का नाम लिखा है। बाण की कादम्बरी से इसकी शैली मिलती-जुलती है। इस आधार पर इसका समय ७वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध निश्चित होता है।

संस्कृत नाट्य-परम्परा में भवभूति एवं विशाखदत्त के बाद भट्टनारायण विरचित 'वेणीसंहार' का स्थान है।[1] भट्टनारायण की रचनाओं में इनके जीवन-वृत्त के सम्बन्ध में कुछ भी उल्लेख नहीं मिलता है। सिर्फ इतना ही पता चलता है कि वे मृगराजलक्ष्मा की उपाधि से प्रसिद्ध थे। अत: इनका देश-काल अनुमानाश्रित है। किंवदन्तियों के अनुसार ये बंगाल के राजा आदिसूर द्वारा कन्नौज से बुलाये गये ब्राह्मणों में से एक थे। आदिसूर आदित्यसेन ६७१ ई० तक विद्यमान था। अतः सम्भवतः भट्टनारायण का समय ७वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध है। मम्मट ११ ० ई०, धनंजय (१००० ई०), आनन्दवर्धन (८५० ई०) तथा वामन (८०० ई०) आदि ने बहुत आदर के साथ इनकी नाट्यकृति वेणीसंहार का उल्लेख किया है। यही एकमात्र उपलब्ध नाट्यरचना है। विद्वानों की दृष्टि में रत्नावली के समान यह नाटकीय सिद्धान्तों के आधार पर लिखा गया नाटक है। इसी लिए यह नाटकीयगतिशीलता से रहित है। इसकी कथावस्तु महाभारत से ली गई है। इस पर हर्ष की रत्नावली की छाप है। संस्कृत नाटकों में इसका निजी स्थान है। यह संस्कृत के वीररस प्रधान नाटकों में विशेष लोकप्रिय है।

भट्टनारायण के बाद संस्कृत की नाट्यपरम्परा को आगे बढ़ानेवाले मुरारि हैं। ये मौद्गल्यगोत्रीय थे। इनकी माता का नाम तंतुमती (तनुमती) देवी

---

१. यदिदं कवेर्मृगराजलक्ष्मणो भट्टनारायणस्य कृतिं वेणीसंहारनामकनाटकं प्रयोक्तुमुद्यता वयम्।—(वेणीसंहार, अंक १, पृ० ७)।

तथा पिता का नाम श्रीवर्धमानक था। इनका स्थितिकाल भवभूति एवं रत्नाकर[1] के बीच ८वीं शताब्दी निर्धारित होता है। इनकी एक ही कृति अनर्घराघव नामक नाटक उपलब्ध है। इसमें महर्षि विश्वामित्र द्वारा यज्ञरक्षार्थ रामलक्ष्मण की दशरथ से याचना से राम-राज्याभिषेक तक की कथा अत्यन्त रोचक ढंग से प्रस्तुत की गई है। उनकी अभिव्यक्तिकला उच्च श्रेणी की है। उनके पद्यों में नाद-सौन्दर्य अवलोकनीय है। कवित्व की प्रौढ़ि तथा व्याकरणसम्बन्धी पाण्डित्य की दृष्टि से यह आदर्श कृति है। वस्तुतः इसमें नाटकीयता से अधिक पाण्डित्य की प्रधानता है। वे भवभूति तथा भट्टनारायण से प्रभावित थे।

अनंगहर्ष मातृराज ने ६ अंकों में 'तापसवत्सराज' नामक नाटक लिखा है। यद्यपि आनन्दवर्धन (९००० ई०) तथा राजशेखर (१००० ई०) ने इनका नामोल्लेख किया है। फिर भी इनका निश्चित समय अज्ञात है। तापसवत्सराज पर भवभूति की नाट्यशैली का प्रभाव परिलक्षित होता है।

राजशेखर (१००० ई०) ने माथुराजरचित 'उदात्तराघव' नामक नाटक का उल्लेख किया है। अभी यह नाटक उपलब्ध नहीं है। इसका आधार रामायण की कथा है। कुछ विचारकों ने अनंगहर्ष मातृराज और माथुराज को एक ही व्यक्ति माना है। अतः अनुमानतः इनका समय ८०० ई० माना जा सकता है।

केरल के राजा कुलशेखरवर्मन् ने दो नाटकों की रचना की—'सुभद्राधनंजय' तथा 'तपतीसंवरण'। इनका भी समय ८वीं शताब्दी माना जाता है।

शक्तिभद्र ने आश्चर्यचूड़ामणि नामक नाटक लिखा। इसमें ७ अंक हैं। कीथ ने इसका नाम आश्चर्यमंजरी लिखा है। हालांकि उनका यह कथन भ्रामक है। कहा जाता है कि ये शंकराचार्य के शिष्य थे। अतः इनका समय नवम शताब्दी का प्रारम्भ मान्य है। भास के नाटकों से इसमें साम्य मिलता है। इसमें अद्भुत रस की प्रधानता है। इसकी प्रस्तावना से पता चलता है कि उसने उन्मादवासवदत्त नामक एक अन्य नाटक भी लिखा है। यह रचना आज उपलब्ध नहीं है। इसमें शूर्पणखा-प्रसंग से लेकर लंका-विजय तथा सीता की अग्निपरीक्षा तक की कथा वर्णित है।

अनुमानतः कहा जाता है कि हनुमान नामक राम के भक्त ने रामकथा के

---

१. हरविजय (रत्नाकर)—३८।६८।

आधार पर हनुमन्नाटक या महानाटक लिखा।[1] आनन्दवर्धन (९०० ई०) के ध्वन्यालोक में उसका उद्धरण मिलता है, अतः इसका रचनाकाल नवम शताब्दी माना जाता है। इसमें १४वीं शती तक प्रक्षिप्तांश जुड़ते गये। यही कारण है कि इसके दो भिन्न पाठ आज उपलब्ध हैं। इसके दामोदरमिश्रकृत संस्करण में १४ अंक हैं तथा मधुसूदनकृत संस्करण में ९ अंक हैं। इसमें प्राकृत भाषा का प्रयोग नहीं मिलता है। इसमें गद्यांश की अत्यल्पता एवं विदूषक का अभाव है।

राजशेखर (९०० ई०) ने भीमभट्ट को पाँच नाटकों का रचयिता स्वीकार किया है। इस आधार पर भीमभट्ट का स्थितिकाल नवीं शताब्दी के पूर्व माना जा सकता है। ये नाटक आज उपलब्ध नहीं हैं। उन्होंने स्वप्नदशानन, प्रतिज्ञा-चाणक्य तथा मनोरमा वत्सराज नामक नाटक का नामोल्लेख किया है।

विशाखदत्त के बाद संस्कृत की नाट्यपरम्परा ह्रासोन्मुखी हो गई थी। कविराज राजशेखर ने उसे पुनरुज्जीवित किया। बालरामायण की प्रस्तावना से पता चलता है कि वे महाराष्ट्रचूड़ामणि कविवर अकालजद के पौत्र (चतुर्थ) और दुर्दुक के पुत्र थे। उनकी माता का नाम शीलवती था। ये उपाध्याय थे। ये यायावर जाति के महाराष्ट्रीय क्षत्रिय थे। कर्पूरमंजरी में लिखा है कि उनकी पत्नी अवन्तिसुन्दरी चौहानवंशीय क्षत्रिया थी। ये कान्यकुब्जेश्वर महेन्द्रपाल या निर्भयराज के सभापंडित एवं गुरु थे[2]। ये प्रतिहारवंशीय नरेश थे। सियदोनी के शिलालेख के अनुसार महेन्द्रपाल का समय ९०३-९०८ है[3]। राजशेखर ने अपनी रचनाओं में यत्र तत्र उद्भट (८०० ई०) और आनन्दवर्धन (८५०) का उल्लेख किया है। यशस्तिलकचम्पू (९५९ ई०) तिलकमंजरी (१००० ई०) तथा व्यक्तिविवेक (११५० ई०) में राजशेखर का उल्लेख है। अतः राजशेखर का स्थितिकाल दशवीं शताब्दी का आरम्भ निश्चित है। इन्होंने निम्नलिखित चार नाटकों की रचना की— कर्पूर मंजरी, विद्धशालभञ्जिका, बालरामायण तथा बालभारत या प्रचण्डपाण्डव। उन्हें अपनी विद्वत्ता का बहुत अभिमान है। उन्होंने अपने को वाल्मीकि, भर्तृमेण्ठ एवं

१. सुशीलकुमार दे : प्रॉब्लम्स ऑफ दि महानाटक—इण्डियन हिस्टारिकल क्वाटरली, भाग—७।
— पृ० ५३७ आदि तथा हिस्ट्री आफ लिटरेचर,
पृ० ३०२—एस० के दे०।

२. बालरामायण १।१८

३ कीलहार्न : एपिग्राफिया इण्डिका १, पृ० १७१, एस० एन० दास गुप्ता : हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर, पृ० ४५५, युनिवर्सिटी ऑफ कलकत्ता, १९ ७।

भवभूति का अवतार बताया है[1]। उन्होंने प्राकृत भाषा पर विशेष बल दिया है। कर्पूरमंजरी की प्रस्तावना में उन्होंने लिखा है कि संस्कृत भाषा कठोर और प्राकृत कोमल है। संस्कृत और प्राकृत में उतना ही अन्तर है जितना पुरुष और स्त्री में। उन्होंने प्राकृत को संस्कृत की जननी कहा है।[2]

क्षेमीश्वर राजशेखर के समकालिक राजा महेन्द्रपाल के आश्रित दरबारी राजकवि थे। इन्होंने दो नाटकों की रचना की — नैषधानन्द तथा चण्डकौशिक।

धनिक (११वीं शती) ने अपने दशरूपावलोक में तरंगदत्त, पुष्पदूषितक, पाण्डवानन्द तथा चलितराम नामक चार नाट्यकृतियों का उल्लेख किया है। इनके रचयिता का नाम अज्ञात है। इनकी भाषा-शैली के आधार पर अनुमान किया जाता है कि इनकी रचना १०वीं शताब्दी में हुई होगी। ये सभी नाटक अभी अप्राप्य हैं।

राजशेखर के बाद संस्कृत की नाट्यपरम्परा को पुनरुज्जीवन प्रदान करने-वाले नाटककार दिङ्नाग हैं। १८२३ ई० में मद्रास से इनके नाटक 'कुन्दमाला' का प्रकाशन हुआ। दिङ्नाग नामक दो साहित्यकार होने के कारण इनका स्थितिकाल मतभेदपूर्ण है। एक दिङ्नाग का उल्लेख मेघदूतम् में मिलता है[3]। मल्लिनाथ के विचार से ये कालिदास के समकालिक एवं प्रतिस्पर्धी बौद्ध दार्शनिक विद्वान् थे। द्वितीय दिङ्नाग का आविर्भाव १००० ई० मे हुआ। कुन्दमालाकी नाटकीय कथावस्तु रामायण पर आधारित है। उसमें नाटककार की रामभक्ति स्पष्टरूप से अभिव्यक्ति हुई है। इसलिए इस रामभक्त नाटककार को दार्शनिक बौद्ध मानना सर्वथा असंगत प्रतीत होता है। रामचन्द्रगुणचन्द्र (११०० ई०) ने अपने नाट्यदर्पण[4] में कुन्दमाला का उल्लेख किया है। इससे स्पष्ट है कि इसकी रचना १ वीं शती के प्रारम्भ में हुई होगी[5]। 'कुन्दमाला' पर उत्तररामचरितम् का प्रभूत प्रभाव परिलक्षित होता है। कुन्दमाला की भाषा-शैली प्रसादगुणयुक्त एवं सरल है। इसमें करुणरस की सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है।

---

१. बालरामायण—१।१६
२. यद्योनि. किल संस्कृतस्य—(बालरामायण)।
३. मेघदूत—पूर्वमेघ १४।
४. नाट० द०—पृ० ४८।
५. एफ० के० दे। एनल्स भण्डारकर ओ० रि० इ० भाग १६, पृ० १५८ और
ए० सी० वुलनर: वही भाग १५, पृ० २३६।

प्रख्यात काव्यशास्त्री क्षेमेन्द्र ने दो नाटक लिखे—'चित्रभारत' और 'कनकजानकी'। ये दोनों क्रमशः महाभारत एवं रामायण पर आधारित हैं। इनका स्थितिकाल ग्यारहवीं शताब्दी है।

ग्यारहवीं शताब्दी में ही विल्हण ने कर्णसुन्दरी नामक नाटिका का प्रणयन किया।

जेजाक मुक्ति के राजा कीर्तिवर्मा के समकालिक कृष्णमिश्र ने प्रबोधचन्द्रोदय नामक नाटक लिखा था। १०९८ ई० में लिखा हुआ कीर्तिवर्मा का शिलालेख उपलब्ध हुआ है। अतः कृष्णमिश्र का समय निश्चय ही ११०० ई० के आसपास है। इनका प्रबोधचन्द्रोदय शान्तरस-प्रधान एकांकी है। इसमें वेदान्त के अद्वैत सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है। कवि ने अतिरोचक ढंग से इसमें श्रद्धा, भक्ति, विद्या, ज्ञान, मोह, विवेक, दंभ, बुद्धि आदि अमूर्त्त भावमय विभिन्न पदार्थों को विभिन्न स्त्री एवं पुरुष पात्रों में विभक्त कर अध्यात्मविद्या का उपदेश प्रस्तुत किया है। अध्यात्मतत्त्वबोध की दृष्टि से उस नाट्यकृति का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। परवर्त्ती साहित्य पर इसका प्रभूत प्रभाव पड़ा है। इसके ही अनुरूप यशपाल (१३वीं श०) ने मोहपराजय, कर्णपूर (१६वीं श०) ने चैतन्यचन्द्रोदय नामक नाटकों की रचना की है। मध्यकालीन हिन्दी साहित्य पर इसका पर्याप्त प्रभाव है। तुलसीकृत रामचरितमानस के अन्तर्गत पंचवटी प्रसंग में इस रूपक के आध्यात्मिक प्रभाव की झलक मिलती है। कविवर केशवदास ने विज्ञान गीता के नाम से इसका छन्दोबद्ध अनुवाद किया है।

बारहवीं शताब्दी मे भी कई नाट्यग्रन्थ लिखे गये हैं। उनमें शंखधर कविराज (१२वीं श० के प्रारम्भ में) ने लटकमेलक नामक प्रहसन लिखा है। पद्मचन्द्र के पुत्र यशचन्द्र ने मुदितमुकुन्दचन्द्र नामक नाटक लिखा है। कनकाचार्य (कांचनपंडित) ने धनजंयविजय नामक व्यायोग लिखा। जैनाचार्य हेमचन्द्र के शिष्य रामचन्द्र ने एक सौ ग्रन्थों की रचना की थी। उनके प्रसिद्ध नाटकों में नलविलास, निर्भयभीम, सत्यहरिश्चन्द्र, कौमुदीमित्रानन्द और 'यादवाभ्युदय'' हैं। रामकथा पर आश्रित रघुविलास और राघवाभ्युदय नामक इनके दो नाटकों का उल्लेख कामिलबुल्के ने किया है[१]। बारहवीं शताब्दी में ही चाह्वानवंशीय राजा विग्रह राजदेव विशालदेव ने हरकेलि नाटक लिखा। इसका आधार 'भारवि' का 'किरातार्जुनीयम्' है। इसी समय के आसपास विग्रहराज के आश्रित सोमदेव ने ललितविग्रहराज नामक नाटक लिखा। इसी शताब्दी में सुभटकवि ने अभिनव

१. कामिलबुल्के : रामकथा, उद्भव और विकास, १९६।

शैली में दूतांगद नामक छायानाट्य की रचना की। ११४२ ई० में इस नाटिका का अभिनय अनहिलवाड़ के राजा त्रिभुवनपालदेव के दरबार मे हुआ था।

तेरहवी शताब्दी में कालंजर के राजा परमार्दिदेव के मंत्री वत्सराज ने निम्नलिखित नाटकों का प्रणयन किया : (१) किरातार्जुनीय (व्यायोग); (२) कर्पूर-चरित (भाण); (३) हास्यचूड़ामणि (प्रहसन); (४) रुक्मिणीहरण (ईहामृग); (५) त्रिपुरदाह (डिम); और (६) समुद्रमन्थन (समवकार)।

कौण्डिन्यगोत्रीय महादेव एवं सुमात्रा के पुत्र जयदेव का आविर्भाव १३वों शती के पूर्वार्द्ध हुआ था। ये बहुत बड़े नैयायिक, साहित्यशास्त्री एवं नाटककार थे। न्यायशास्त्र की विद्वत्ता के आधार पर इन्हें पक्षधरमिश्र, प्रसन्नराघव के गीतात्मक श्लोकों के कारण पीयूषवर्ष की उपाधियों से विभूषित किया गया था। ये मिथिला के निवासी थे तथा न्यायशास्त्र में आलोक नाम्नी टीका लिखने-वाले जयदेव से भिन्न नहीं थे। लेकिन गीतगोविन्दकार वंगीग जयदेव से ये भिन्न तथा कालक्रम से अर्वाचीन हैं[1]। इनकी एकमात्र उपलब्ध नाट्यकृति प्रसन्नराघव है। इसकी नाटकीय कथावस्तु रामायण के आधार पर है। इसमें कतिपय मौलिक परिवर्त्तन कर इन्होंने अपनी नाट्यनिपुणता का परिचय दिया है। उनकी नाटकीय भाषा में अद्भुत विलास एवं लालित्य है। भवभूति की तरह इनका संस्कृत भाषा पर असामान्य अधिकार था। कविता की दृष्टि से इसका जितना महत्त्व है उतना नाटकीय दृष्टि से नहीं। कविवर तुलसीदास ने अपने रामचरित-मानस में उनकी अनेक सूक्तियों को ग्रहण किया है।

मदन नामक कवि परमारवंशीय अर्जुनवर्मा के राजगुरु थे। इनकी रचित परिजातमंजरी नाटिका के कुछ अपूर्ण अंश प्राप्त हुए हैं। इसमें राजा अर्जुनवर्मा एवं पारिजातमंजरी की प्रणयकथा का वर्णन है।

१२.५ ई० में जयसिंहसूरि ने हम्मीरमर्दन नामक नाटक की रचना की।

१३०० ई० के आसपास परमारवंशीय धाराधवल के भाई प्रह्लादन ने 'परार्थपराक्रम' नामक व्यायोग लिखा। इसमें विराट राजा के यहाँ से गो-तस्कर अर्जुन के द्वारा हराने का वर्णन है।

जैन विद्वान् यशपाल ने इसी समय 'मोहपराजय' नामक टिका लिखा।

तेरहवी शताब्दी में ही 'मोक्षादित्य' ने 'भीमविक्रम' 'रामभट्टमुनि' ने

१. बलदेव उपाध्याय—संस्कृत साहित्य का इतिहास-पृ० ६००
—चन्द्रशेखर पाण्डेय—संस्कृत साहित्य की रूपरेखा—पृ० २२०।

'प्रबुद्ध रौहिणेय' प्रकरण, केरल के राजकुमार रविवर्मा ने 'प्रद्युम्नाभ्युदय' नाटक और बालकवि ने "रत्नकेतूदय" और रविवर्माविलास लिखे।

तेरहवीं शताब्दी का सर्वाधिक प्रतिभाशाली नाटककार हस्तिमल्ल लिखित चार नाटक प्राप्त होते हैं—विक्रान्तकौरव, मैथिलीकल्याण, अंजनापवनंजय तथा सुभद्रा। इनके अतिरिक्त उदयनराज, भरतराज, अर्जुनराज एवं मेघेश्वर नामक चारों नाटकों का रचयिता इन्हें ही माना जाता है।[1]

इसी समय वारंगल के राजा रुद्रदेव (१२६८-१३१९ ई०) ने उपर्गेदिय नाटिका एवं ययातिचरित नाटक की रचना की।

चौदहवीं शताब्दी में विद्यानाथ ने "प्रतापरुद्रीय-कल्याण" नाटक लिखा। इसमें पाँच अंकों में वारंगल के राजा प्रतापरुद्र (१२९४-१३२५ ई०) के राज्यासन पर बैठने का वर्णन है। यह नाटक लेखक के साहित्यशास्त्र के एक ग्रन्थ प्रताप-रुद्रियशोभूषण में ही मिला हुआ है। इसका प्रणयन उन्होंने नाट्यशास्त्र के बारे में लिखित नियमों के उदाहरणस्वरूप किया है। इनके भाई नरसिंह ने १३५० ई० के लगभग आठ अंकों में कादम्बरीकल्याण नामक नाटक कादम्बरीकथा के आधार पर लिखा। इनके भाई विश्वनाथ ने इसी समय सौगन्धिकाहरण नामक व्यायोग लिखा। इसमें उन्होंने विद्वद्वंश का परिचय भी दिया है। इस शताब्दी में विरूपाक्ष ने नारायण-विलास (नाटक) राजवर्धन के पुत्र एवं नटेश्वर के शिष्य मनिक ने भैरवानन्द नामक नाटक लिखा। ये फिरोजशाह तुगलक के राज्य काल में उत्पन्न हुए थे। इस नाटक में भैरव और मदनवती अप्सरा की कथा वर्णित है। उदण्ड कवि ने १० अंकों में 'मल्लिकामारुत' नामक प्रकरण लिखा। वेदान्तदेशिक ने संकल्पसूर्योदय तथा कविशेखर उपाधिधारी ज्योतिरीश्वर ने धूर्तसमागम नामक प्रहसन लिखा है।

पन्द्रहवीं शताब्दी की रचना का उदयप्रसिद्ध दाक्षिणात्य विद्वान् वामन भट्टवाण से होता है। इनकी तीन नाट्यकृतियाँ है—पार्वतीपरिणय, कनकलेखा-कल्याण एवं शृंगारभूषण। इनमें अन्तिम भाण नामक रूपक प्रकार है। १५वीं शताब्दी की प्रमुख नाट्यकृतियों में हस्तिमल्ल के वंशज ब्रह्मसूरिकृत ज्योतिप्रभा-कल्याण, गंगाधरकृत गंगादासप्रतापविलास, हरिहरकृत भर्तृहरिनिर्वेद, रूप-गोस्वामीकृत दानकेलिकौमुदी (भाण) तथा विदग्धमाधव एवं ललितमाधव (नाटक)

---

१. आफेक्ट : कैटेलोगस कैटेलोगरम (१८९१, लिपजिक)
—नाथूरामप्रेमी : जैन साहित्य और इतिहास—पृ० ३६९-३७०।

जीवरामयाज्ञिककृत मुरारिविजय उल्लेखनीय है। इस शताब्दी में छायात्मक शैली मे रायपुर के कलाशुरी नरेशों के आश्रित राजकवि व्यास रामदेवरचित सुभद्रा-परिणय, रामाभ्युदय तथा पाण्डवाभ्युदय नामक तीन नाटकों का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

शेषकृष्ण का 'कंसवध' १६वी शताब्दी का प्रथम नाटक है। इस शताब्दी में सर्वाधिक प्रख्यात एवं प्रभावशाली नाटककार गोकुलनाथ हुए। ये गढ़वाल के निवासी राजा फतेहशाह के दरबारी कवि थे। ये मिथिला के महाराज रघुवंश सिंह के समसामयिक थे। ये कुछ दिन उनके दरबार में भी रहे थे। उन्होंने मुदितमदालसा नामक रूपक के अतिरिक्त अमृतोदय नामक पाँच अंकों का दार्शनिक तत्त्वप्रधान नाटक लिखा। इसी प्रकार का भावनापुरुषोत्तम नामक रूपात्मक नाटक श्रीनिवास ने लिखा। अकबर के सम-सामयिक लक्ष्मणमाणिक्यदेव ने कुवलायाश्वर-चरित तथा 'विख्यातविजय', तंजौर जिलान्तर्गत विष्णुपुरम् के निवासी विलिनाथ ने मदनमंजरीमहोत्सव नाटक की रचना की। इनके अतिरिक्त सठकोप (तिरुमल) का वसन्तिकापरिणय, कुमार ताताचार्य का 'पारिजात' नाटक तथा रामानुज का वसुलक्ष्मीकल्याण इस युग के उल्लेखनीय नाटक है।

सत्रहवीं शताब्दी में नेपाल के राजा जगज्योतिर्मल्ल ने हरगौरीविवाह नामक संगीतप्रधान नाटक लिखा। इस शताब्दी की गुरुराम कृत सुभद्राधनंजय, 'रत्नेश्वर-प्रसादन'; तथा 'मदनगोपालविलास' 'राजचूडामणि दीक्षित के आनन्दराघव तथा 'कमलिनी-कलहंस' नामक नाटक और शृंगारसर्वस्व नामक भाण, नीलकण्ठ-दीक्षितकृत नलोपाख्यान पर आश्रित नलचरित, वेंकटाध्वरी का प्रद्युम्नानन्द; रुद्रदास-कृत चन्द्रलेखा नामक सट्टक, महादेव का अद्भुतदर्पण, रामभद्रदीक्षित का जानकी-परिणय, मल्लाकवि का सुभद्रापरिणय और सम्राजदीक्षित का श्रीदामचरित, आदि प्रमुख नाट्यकृतियाँ है।

मुगलों के शासनकाल में संस्कृत का कुछ प्रचार हुआ। दाराशिकोह बहुत बड़ा संस्कृतज्ञ था। उसने उपनिषदों की मुक्तकंठ से प्रशंसा की है। १८वीं शताब्दी में अनेक नाटक रचे गये। संस्कृत नाटकों की विकसित परम्परा के सम्यक् निरूपण के लिए उनमे से कुछ का विवेचन अपेक्षित है। इस शताब्दी में ट्रावणकोर के युवराज राजवर्मन (१७५७-१७८९ ई०) ने रुक्मिणीपरिणय और शृंगारसुधाकर नामक दो नाटकों का प्रणयन किया। विश्वनाथ ने मृगांकलेखा नामक नाटिका की रचना की। देव कवि ने विद्यापरिणय और जीवानन्दम् नाटक, भूदेव शुक्ल ने धर्मविजय नाटक लिखा। इस शताब्दी की प्रमुख नाट्यकृतियों में काठियावाड़ के

जगन्नाथ का सौभाग्य महोदय, शैवमतावलम्बी मलारी आराध्य का शिवलिंग-सूर्योदय, शंकरदीक्षित (व्यास जीवन) का प्रद्युम्नविजय, मिथिलावासी कृष्णदत्त का 'कुवलयाश्वीय,' ट्रावनकोर के शासक राजवर्मन के राजकवि वेंकटसुब्रह्मण्य का वसुलक्ष्मी-कल्याण, पेरुसूरि का 'वसुमंगल', बंगाल निवासी रामदेव का विद्यामोद-तरंगिणी आदि हैं।

इनके अतिरिक्त निम्नलिखित अज्ञातकालिक नाट्यरचनाएँ—मथुरादास की वृषभानुजा नाटिका, नीलकंठ का कल्याणसौगन्धिक, लोकनाथ भट्ट का कृष्णाभ्युदय, कृष्णावधूत; घटिकाशत का सर्वविनोद और वीरविजय, शंकर का शारदातिलक आदि, रामकृष्णगोपाल का नाटक 'केलिक्रीड़ा' आदि।

१९वीं शताब्दी में गोदावरी जिलान्तर्गत कोटिपल्ली ग्रामनिवासी भारद्वाज गोत्रोत्पन्न पद्मनाभ ने त्रिपुरविजय नामक व्यायोग लिखा। इसमें शिव द्वारा त्रिपुरासुर को जीतने की कथा आधार है। वत्तिशायकृत ययातितरुणनन्दन, तंजोरनिवासी राजा शिवेन्द्र के दरबारी राजकवि विराटराघवकृत रामराज्याभिषेक तथा 'वालिपरिणय', नदिया के राजा ईश्वरसेन के दरबारी राजकवि वैद्यनाथ वाचस्पति भट्टाचार्यकृत 'चैत्रयज्ञ' नाटक, पेरी काशिनाथ शास्त्री रचित 'पांचालिका रक्षणम्' एवं यामिनीपूर्णतिलक; श्रीनिवासाचारीकृत 'ध्रुवचरित' तथा 'क्षीराब्धि-शयनम्', बंगाल निवासी पंचाननकृत अमरमंगल नाटक आदि इस युग के प्रमुख नाट्यग्रन्थ हैं। इस युग में पं० अम्बिकादत्तव्यास (१८५८—१९०० ई०) को विशेष प्रसिद्धि प्राप्त हुई। इनके पूर्वज जयपुर राज के निवासी थे। बाद में इनके पितामह वाराणसी में आकर बस गये। उन्होंने सामवतम् नामक नाटक लिखा। यह १९वीं शताब्दी की सर्वोत्कृष्ट रचना है।

अन्त में बीसवीं शताब्दी के नाटकों एवं नाटककारों का उल्लेख किया जाता है। इस शताब्दी में अनेक नाटक लिखे गये। कुछ नाटककार जिनका जन्म १९वीं शती में हुआ, लेकिन मृत्यु बीसवीं शती में हुई उन्हें इसी शती के अन्तर्गत रखा गया है। डा० वी० राघवन के आज का भारतीय साहित्य[1] में प्रकाशित संस्कृत के लेख के आधार पर यहाँ इस शताब्दी के अधिकांश नाटककारों एवं उनकी कृतियों का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया जाता है।

आधुनिक कालिक संस्कृत के नाटक अनेक प्रकार से लिखे गये। अर्वाचीन नाटककारों ने प्राचीन विषय तथा शैली को वर्त्तमान विधानों एवं विचारों में ढालकर नवीन रूप देने का भरपूर प्रयास किया है। आधुनिक संस्कृत नाटकों में

---

१ साहित्य अकादेमी, राज्यपाल एण्ड सन्स दिल्ली, मार्च १९५८ ई०।

कुछ के विषय तो पौराणिक हैं, किन्तु उन्हें आधुनिक रंगमंच के अनुसार बनाया गया है। मध्यकालिक एवं आधुनिक महापुरुषों के जीवनवृत्त के आधार पर भी कुछ रूपक लिखे गये हैं। कुछ अंग्रेजी नाटकों के अनुवाद भी हुए हैं। समसामयिक समस्याओं के आधार पर कुछ नाटक लिखे गये है। ऐसे एकांकी नाटक बहुत प्रभावोत्पादक सिद्ध हुए है। आकाशवाणी से प्रसारित करने के उद्देश्य से ही ऐसे नाटक लिखे गये है।

पौराणिक आख्यानों को अभिनव रूप प्रदान करने वाले विद्वानों में महामहोपाध्याय शंकरलाल का नाम विशेप उल्लेखनीय है। उन्होंने 'सावित्रीचरित,' ध्रुवाभ्युदय, मद्रयुवराज, वामनविजय तथा पार्वतीपरिणप नामक नाटकों की रचना की। आर्काट जिला के निवसी ईचम्बदी श्रीनिवासाचारी (१८४८ ई० १९१४) नामक दाक्षिणात्य विद्वान् ने शृंगारतरंगिणी तथा 'उपापरिणय' नाटक लिखा। वाई० महालिंगशास्त्री (जन्म १८९७ ई०) ने प्रतिराजसूय, उद्गात्रदशानन, कलिप्रादुर्भाव तथा उभयरूपक की रचना की। इनमे कलिप्रादुर्भाव इनका प्रसिद्ध नाटक है। इसका प्रकाशन १९५६ ई० में हुआ था। इसका कथानक महाभारत के आधार पर निर्मित है। द्वापर के अन्त में कलियुग का किस प्रकार प्रादुर्भाव हुआ, यही इसका प्रमुख प्रतिपाद्य है। इसकी भाषा एवं शैली सरल, स्वाभाविक एवं आकर्पक है। इनका "उभयरूपक" सामाजिक नाटक है। तंजौर निवासी सुरेश शर्मा ने विल्हण की कहानी के आधार पर १९४३ में "प्रेमविजय" नामक नाटक लिखा।

मध्यकालिक एवं आधुनिक भारतीय महापुरुषों के जीवनचरित के आधार पर लिखनेवाले नाटककारों मे मूलशंकर माणिकलाल याज्ञिक सर्वप्रमुख है। ३१ जनवरी १८८६ ई० में नाडियाद नगर के प्रसिद्ध ब्राह्मण परिवार में इनका जन्म हुआ था। इन्होंने 'क्षत्रपतिसाम्राज्य', 'प्रतापविजय' तथा 'संयोगिता-स्वयंवर' नामक तीन नाटक लिखे। इनके बाद इस प्रकार के नाटकों की रचना करनेवालों में पं, मथुरा प्रसाद दीक्षित (जन्म १८७८ ई०) का नाम उल्लेखनीय है। उन्होंने वीरप्रताप, शंकरविजय, पृथ्वीराज, भक्तसुदर्शन, गांधी-विजय तथा भारतविजय नामक छः नाटकों की रचना की। ये सभी बीसवीं शताब्दी के प्रतिनिधि संस्कृत नाटक हैं। इन्होने अपनी प्रतिभा के बल पर नाटक-रचना के क्षेत्र में सर्वथा नूतन शैली एवं अभिनव परिप्रेक्ष्य का निर्माण किया। उनके उपर्युक्त नाटक ऐतिहासिक, सामाजिक, आर्थिक एवं नैतिक प्रतिमानों का वास्तविक स्वरूप प्रस्तुत करते हैं। उनका 'भारतविजय' नाटक सर्वोत्तमकृति है। इसी तरह महामहोपाध्याय हरिदास सिद्धान्त वागीश (जन्म १८७६ ई०) कृत मेवाडप्रताप, वंगीय प्रताप, विराजसरोजिनी, कंसवध, जानकीविक्रम तथा शिवाजी चरित नाटक उल्लेखनीय है।

विदेशी नाटकों का संस्कृत में रूपान्तर करने वाले नाटककारों में श्री शैल दीक्षितार का नाम उल्लेखनीय है। इन्होंने कामडी ऑफ एरर्स को, 'भ्रांतिविलास' नाम से अनूदित किया। शेक्सपीयर के ओथेल्लो का अनुवाद त्रिवांकुर के राजराज वर्मा ने किया। आर० कृष्णमाचार्य ने 'ए मिडसमर नाइट' का अनुवाद 'वासन्तिक स्वप्न' के रूप में किया लैंब रचित 'टेल्स ऑफ शेक्सपीयर' का अनुवाद विजयनगरम् के निवासी श्री एम० वैंकट रमणाचार्य ने किया। पूना के एस० एन० ताड़पत्रीकर (मृत्यु १९ नवम्बर १९५४ ई०) ने गोइटे के फाउस्ट का संस्कृत में 'विश्वमोहन' के नाम से अनुवाद दिया। डा० रामशास्त्री ने 'लेसिंग' के 'एमेलिया' 'डौलेट्टी' का अनुवाद किया। इसी तरह टेनिसन की शोकान्तिका 'दिकप' का अनुवाद सी० वैंकटरमय्या ने "कमलविज" के नाम से किया।

समसामयिक सामाजिक विषयों के आधार पर पश्चिमी नाटकों से प्रभावित आधुनिक ढंग के कई एकांकी नाटक संस्कृत में लिखे गये। उनमें 'क्षमाराव' का 'बाल-विधवा', श्रीमती क्षमाराव का 'कटुविपाक'; महाव्रत (आर्यसमाजी विद्वान्) का प्रकृतिसौन्दर्य, पुन्नसेरी नीलकंठ शर्मा का 'गैर्वाणविजय', दिल्ली निवासी प्रभुदत्त शास्त्री रचित 'संस्कृत वाग्-विजय' आदि नाटक उल्लेखनीय हैं। आधुनिक शैली के एकांकी रचयिताओं में दाक्षिणात्य विद्वान् नीपाज भीमभट्ट का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इनका जन्म १० अप्रील १९०३ ई० में हुआ था। इनका 'काश्मीर सन्धानसमुद्यान' विख्यात एकांकी है। इसी तरह वी० के० थम्पी ने 'प्रतिक्रिया', 'वनज्योत्स्ना' एवं 'धर्मस्य सूक्ष्मा गतिः', वरदराज शर्मा ने 'कस्याहम्', ए० आर० हैवरे ने 'मनोहरम् दिनम्', सीतादेवी ने 'अरण्यरोदन', के० तिरुवैंकटाचार्य ने 'अमर्षमहिमा'; सुरेन्द्रमोहनपंचतीर्थ ने 'वणिकसुता' की रचना की।

सामाजिक दृष्टि से लिखे गये नाटकों में प्रहसन का विशेष महत्त्व है। स्वतंत्र रूप से बीसवीं शताब्दी में लिखे गये प्रहसनों में एस० के० रामनाथ शास्त्री के 'दोलापंचीलक' एवं 'मणिमंजूषा', मद्रासनिवासी एल० वी० शास्त्री के 'लीलाविलास'; 'चामुण्डा' तथा 'निपुणिका' वाई० महालिंग शास्त्री रचित कौंडिन्यप्रहसन तथा शृंगार-नारदीय, सुरेन्द्रमोहन का कांचनमाला, जीवन्यायतीर्थ का 'पुरुषरमणीय' तथा क्षुत-क्षेम और एस० एस० खोत का 'मालभविष्यम्' प्रमुख हैं।

इस शताब्दी में कुछ व्यंग्य नाटिकाएँ भी लिखी गयीं। अन्य उपर्युक्त प्रकार के नाटकों में भी व्यंग्य लिखे गये। स्वतंत्र रूप से इस विषय पर लिखे गये नाटकों में आलवाय के० के० आर० नायर लिखित 'आलस्यकर्मीयम्', वटुकनाथ शर्मा का 'पाण्डित्यताण्डव', वाई० महालिंग शास्त्री का मर्कटमर्दलिका (भाण) एवं सुदर्शन शर्मा कृत 'शृंगारशेखर' (भाण) आदि विशेष उल्लेखनीय हैं।

इस प्रकार संस्कृत रूपकों के उद्भव और विकास के सांगोपांग अध्ययन से स्पष्ट है कि संस्कृत में रूपक-रचना की सुदीर्घ परम्परा है। उसका लेखन-प्रवाह अक्षुण्ण है। युगानुकूल प्रवृत्तियों के अनुसार इसमें नये-नये प्रयोग हुए। यह सही है कि आधुनिक कालिक रूपकों में प्राचीन नाट्यशास्त्रीय नियमों का पालन सम्भव नहीं हो सका। फलतः इनमें पाश्चात्य नाटकों की अत्याधुनिक प्रवृत्तियों का विशेष रूप से सन्निवेश हुआ।

समीक्षात्मक दृष्टि से विचार करने पर हम कह सकते हैं कि संस्कृत रूपक-परम्परा में भाव, भाषा, वस्तु, नेता एवं रस आदि सभी के सम्यक् परिपोष में कालिदास का स्थान सर्वोपरि सिद्ध होता है। क्या देशी, क्या विदेशी सभी विद्वानों ने अभिज्ञान-शाकुन्तलम् को विश्व का सर्वोत्कृष्ट नाटक माना है। इसके नाट्य-वैशिष्ट्य, संविधानक रचना, नायक, चरित, रसाभिव्यक्ति आदि का सम्यक् परीक्षण आगे के अध्यायों में अलग-अलग प्रस्तुत किया जा रहा है। आचार्य बलदेव उपाध्याय ने ठीक ही लिखा है कि "शकुन्तला नाटक कालिदास के ग्रंथों में ही शीर्षस्थानीय नहीं है अपितु वह संस्कृत नाटक मणिमाला का शोभायमान सुमेरु है—महनीय मध्यमणि है।..........यह आरम्भ से अन्त तक नाट्यकला का प्रशंसनीय निदर्शन है।........................कालिदास भारतीय कला के ही सर्वश्रेष्ठ कलाकार नहीं है बल्कि भारतीय संस्कृति के भी मर्मज्ञ व्याख्याता हैं।..................कालिदास का लक्ष्य है—भिन्नता में अभिन्नता की अनुभूति। उनका संदेश विश्वजनीन है तथा वर्तमानकाल में परम मंगल-साधक है।[1] प्रयोग की दृष्टि से भी इनके नाटक सफल हैं।"

---

१. संस्कृत साहित्य का इतिहास—पृ० १८७।

तृतीय-अध्याय

कालिदास के रूपक

कालिदास ने स्वयं अपने जन्म-काल, निवास-स्थान तथा वंशावली आदि के बारे में कहीं भी स्पष्टतः कुछ नहीं लिखा है। अतः इनके जीवन के सम्बन्ध में सारी बातें अनुमानाश्रित ही रह जाती हैं। जिन कवियों ने इनके सम्बन्ध में कुछ लिखा भी है, उन्होंने भी स्पष्टतः निर्देश नहीं किया है कि वे किस राजा के समय और कहाँ निवास करते थे। दशवीं शताब्दी के प्रारम्भ में राजशेखर[1] ने तीन कालिदास का पता बताया है। कुछ विचारकों का तो अभिमत है कि कालिदास के बाद अच्छे-अच्छे कवि इस (कालिदास) उपाधि से सम्पन्न किये जाते होंगे। फलतः आज कालिदासकृत कहे जाने वाले ग्रन्थों की संख्या ४१ तक हो गयी है।[2] किन्तु सर्वसम्मति से रघुवंशम् एवं कुमारसंभवम् दो महाकाव्य, 'ऋतुसंहार' एवं 'मेघदूतम्' दो खण्डकाव्य तथा 'मालविकाग्निमित्रम्', 'विक्रमोर्वशीयम्' तथा 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' नामक तीन रूपक ही मूल कालिदासकृत हैं। इन सात कृतियों के रचयिता कालिदास राजा विक्रमादित्य से सम्बद्ध थे। शेष रचनाएँ अन्य उपाधिधारी कालिदास की हो सकती हैं। कुछ समालोचक ऐसे भी हैं जिन्होंने ऋतुसंहार तथा मालविकाग्निमित्रम् की अपरिपक्व शैली के आधार पर इन दोनों को कालिदास-कृत मानने में अनेक संदेह व्यक्त किये हैं। परन्तु अब बहुमत के आधार पर ऋतुसंहार को कालिदास की प्रथम रचना मान लिया गया है। प्रो० विल्सन ने कई विषमताओं के आधार पर मालविकाग्निमित्रम् को विक्रमोर्वशीयम् एवं अभिज्ञानशाकुन्तलम् के कर्त्ता कालिदास की रचना मानने से साफ इन्कार कर दिया है। उनका कहना है कि मालविकाग्निमित्रम् के पद्यों में उक्त दोनों रूपकों के पद्यों की भाँति न तो स्वरमाधुर्य और लय है न उन दोनों की तरह इसमें ऊँची कल्पनाएँ ही हैं। साथ ही मालविकाग्निमित्रम् में वर्णित आचार-विचार भी हिन्दुओं के संस्कार की उत्कृष्टता का सूचक नहीं है। इनके इन आक्षेपों के आधारों पर मालविकाग्निमित्रम् को कालिदास की कृति ही नहीं मानना बिल्कुल अनुचित और

---

१ एकोऽपि जीयते हन्त कालिदासो न केनचित्।
श्रृंगारे ललितोद्गारे कालिदास त्रयी किमु ।
राजशेखर—सूक्ति मुक्तावली।

२ पं० रामचन्द्र मिश्र द्वारा सम्पादित विक्रमोर्वशीयम् की भूमिका, पृ० ११ (द्वि० सं०)

असंगत है। स्वर्गीय शंकर पांडुरंग पंडित ने अनेक वैदुष्यपूर्ण तर्कों को उपस्थित कर इन्हें खण्डित कर दिया है और इसे कालिदासकृत स्वीकार किया है। तीन नाटकों की प्रस्तावना[1] में समान रूप से कालिदास की कृति का संकेत मिलता है। इन प्रस्तावना-वाक्यों के अध्ययन से पता चलता है कि कालिदास को उत्तरोत्तर नाट्य-प्रौढ़ता प्राप्त हुई है। यही कारण है कि मालविकाग्निमित्रम् की प्रस्तावना में उन्होंने अपने पूर्ववर्त्ती भास कविपुत्रादि श्रेष्ठ नाटककारों की रचनाओं के रहते अपने नाटक की सफलता पर संदेह व्यक्त किया है। फिर भी वे अपनी प्रारम्भिक नवीन कृति को परीक्षा के लिए विद्वानों के समक्ष इस तथ्य के आधार पर उपस्थित करते है कि पुराने के कारण ही (नाटक) अच्छे नहीं हैं और न नये होने के कारण कोई नाटक बुरा होता है। विद्वज्जन दोनो की सम्यक् परीक्षा कर किसी को अपनाते हैं। मूर्ख लोगों की बुद्धि दूसरो की बुद्धि के पीछे चलती है[2]। प्रारम्भिक रचनाकाल में पूर्ण प्रशस्ति के अभाव में कवि का इस प्रकार का संदेहात्मक कथन है। विक्रमोर्वशीयम् में अपनी रचना की सफलता के प्रति कवि का विश्वास अपेक्षाकृत अधिक दृढ़ हो जाता है। अभिज्ञानशाकुन्तलम् मे तो कवि को अपनी सफलता पर पूर्ण विश्वास है। फलतः विद्वानों के समक्ष स्वग्रथित कथा-वस्तु वाले अपने अभिज्ञानशाकुन्तलम् नामक नवीन नाटक को सूत्रधार के द्वारा वे प्रस्तुत करवाते हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि ज्यों-ज्यों कवि को अपनी लेखन-शक्ति और प्रयोग-कला पर विश्वास जमता गया त्यों-त्यों उनका विचार गाम्भीर्य-पूर्ण तथा रचना-शैली भी परिष्कृत होती गयी। यही कारण है कि मालविका-ग्निमित्रम् में परवर्त्ती दोनों रूपकों की तरह विचार-गाम्भीर्य का कुछ अभाव दृष्टिगत होता है। पांडुरंग जी का कहना है कि लय तथा गेयात्मकता तीनों रूपकों

---

१. पारिपार्श्वकः—मा तावत्, प्रथितयशसां भासकविपुत्रसौमिल्लकादीनां प्रबन्धा-नतिक्रम्य वर्त्तमानकवेः कालिदासस्य क्रियायां कथं परिषदो बहुमानः।
(मालवि० अंक प्र० पृ० ६)

सूत्रधारः—मारिष, बहुशस्तु परिषदा पूर्वेषां कवीनां दृष्टाः प्रयोगबन्धाः। सोऽहमथ विक्रमोर्वशीयम् नाम नाटकमपूर्वं प्रयोक्ष्ये। (विक्रमो० प्र० अ०, पृ०५)

सूत्रधारः—आर्ये! अभिरूपभूयिष्ठा परिषदियम्। अद्य खलु कालिदासग्रथित-वस्तुनाभिज्ञानशाकुन्तलनामधेयेन नवेन नाटकेनोपस्थातव्यमस्माभिः॥
(अभि०शा० प्र० अं० पृ०८)

२. मालवि० १।२

में समान हैं चूँकि सभी में समान छन्दों का प्रयोग है।[1] भले ही अभिज्ञानशाकुन्तलम् की तरह प्रभावोत्पादक कल्पना का अभाव इसमें हो, किन्तु यह कथमपि नहीं कहा जा सकता है कि मालविकाग्निमित्रम् में कल्पना-वैभव है ही नहीं। वैसी कल्पना के अभाव का एक यह भी कारण है कि इसका कथानक ऐतिहासिक है। इसके अलावे यह भी द वे के साथ कहा जा सकता है कि मालविकाग्निमित्रम् में कोई असभ्य घटना नहीं। वहुविवाह की प्रथा होने के कारण हम मालविका के लिए अग्निमित्र के प्रेम को गर्हित नहीं कह सकते। यह भले कहा जा सकता है कि मालविकाग्निमित्रम् में कामवासनाश्रित प्रेम का चित्रण हुआ है। ऐसे प्रेम का अन्य दोनों रूपकों में अभाव है। प्रारम्भिक रचना होने के कारण ही इसमें अन्य दोनों की अपेक्षा परिपक्वता का अभाव है। हम कह सकते हैं कि मालविकाग्निमित्रम् कवि की नाट्यकला का अंकुर है, विक्रमोर्वशीयम् पुष्प है और अभिज्ञानशाकुन्तलम् मधुरतम फल है। यही इनकी रचना का पौर्वापर्यक्रम है।

शैलीगत वैशिष्ट्य के आधार पर भी कहा जा सकता है कि मालविकाग्निमित्रम् कालिदास की ही रचना है। यहाँ उनकी कुछ अन्य रचनाओं से भी मालविकाग्निमित्रम् में व्यक्त भाव तथा भाषा-साम्य प्रस्तुत किया जाता है।

मालविकाग्निमित्रम् में	कालिदास की अन्य कृतियों में
(१) पात्रविशेषे न्यस्तं गुणान्तरं व्रजति शिल्पमाधातुः। जलमिव समुद्रशुक्तौ मुक्ताफलतां पयोदस्य ।।६, प्र० अं०	क्रिया हि वस्तूपहिता प्रसीदति ।।३।१९ रघुवंशम्
(२) महासारप्रसवयोः सदृशक्षमयो द्वयोः। धारिणीभूतधारिण्योर्भव भर्त्ता शरच्छतम् ।।१५।। प्र० अं०	परिग्रहबहुत्वेऽपि द्वे प्रतिष्ठे कुलस्य मे। समुद्र-रशना चोर्वी सखी च युवयोरियम् ।। ३। १९ अभि० शा०

---

(१) The verse in Malvikagnimitra is as regular and model-like as that in the two sister dramas of the Poet. The metres too, are nearly the came in three dramas, so it max they are malodious in Sakuntal and Vikr., They are not less no in the Malavika.

मालविकाग्निमित्रम् में	कालिदास की अन्य कृतियों में
(३) जीमूतस्तनितविशद्भिर्मयूरैः-रुद्ग्रीवैरनुरसितस्य कं पुष्करस्य । निर्ह्लादिन्युपहितमध्यमस्वरोत्था मायूरी मदयति मार्जना मनांसि ।।१। २१।।	शुक्लापांगैः सजल-नयनैः स्वागतीकृत्यकेकाः । प्रत्युद्यातः कथमपि, भवान् गन्तुमाशु-व्यवस्येत् ।२२। पूर्वमेघ
(४) उपस्थितं नयनमधु द्वि० अंक, पृ० ९७	अहो लब्धं नेत्रनिर्माणम् । अभि० शा० कु० अंक २, पृ० १३९
(५) अहो सर्वास्ववस्थासु चारुता शोभान्तरं पुष्यति ।— पृ० १०९	अहो सर्वास्ववस्थासु रमणीयत्वमाकृतिविशेषाणाम् ।—अभि० शा० चतु० अं०
(६) वामे संधिस्मितवलयंन्यस्त हस्तं नितम्बे कृत्वा श्यामाविटपसदृशं स्रस्तमुक्तं द्वितीयम् ।	श्यामा लताकुसुमभारनतप्रवाला। स्त्रीणां हरन्ति धृतभूषणबाहुकान्तम् । —ऋतुसंहार
पादांगुष्ठालुलितकुसुमे कुट्टिमे पातिताक्षं ।	एवं वादिनि देवर्षौ पार्श्वे पितुरधोमुखी
नृत्तादस्याः स्थितमतितरां कान्तमृज्वायतार्धम् ।। द्वितीय अंक	लीला-कमल-पत्राणि गणयामास पार्वती ।। १।८१ कुमारसंभव
(७) उपदेशं विदुः शुद्धं सन्तप्तमुपदेशिनः श्यामायते न विद्वत्सु यः कांचनमिवाग्निषु ।। २।९	तं सन्तः श्रोतुमर्हन्ति सदसद्-व्यक्तिहेतवः । हेम्नः संलक्ष्यते ह्यग्नौ विशुद्धिः श्यामिकाऽपि वा ।।१।१० । रघुवंशम्
(८) उपात्तसारश्चक्षुषा मे स्वविषयः । —पृ० १२०	अनवाप्तचक्षुःफलोऽसि येन त्वया दर्शनीयं न दृष्टम् । —अभि० शा० । ११ ।
(९) सर्वैरुस्रैः समग्रस्त्वमिव नृपगुणैर्दीप्यते सप्तसप्तिः ।२।१२	तुल्योद्योगस्तव दिनकृतश्चाधिकारो मतो नः ।१। विक्रमो०
(१०) किं बहुना चिन्तयितव्योऽस्मि ते । —पृ० १३५	तदुपायश्चिन्त्यतां यथा सफलप्रार्थनो भवेयम् ।। (विक्रमो०।।)
(११) गृहीतक्षणोऽस्मि—पृ०१३६	तेन हि गृहीतः क्षणः । अभि० शा०

	मालविकाग्निमित्रम् में	कालिदास की अन्य कृतियों में
(१२)	प्रसक्ते निर्वाणे हृदय ! परितापं वहसि किम् ॥ —३।१	अहो ! लब्धं नेत्र-निर्वाणम् ॥ —अभि० शा०
(१३)	क्व रुजा हृदयप्रमाथिनी क्व च ते विश्वसनीयमायुधम् । मृदु तीक्ष्णतरं यदुच्यते तदिदं मन्मथ दृश्यते त्वयि ! —३।२	भगवन् कुसुमायुध ! त्वया चन्द्रमसा च विश्वसनीयाभ्याम् अति सन्धीयते कामिजनसार्थ……कुतस्ते कुसुमायुधस्य सततैक्ष्ण्यमेतत् । —अभि० शा०
(१४)	निसर्गनिपुणाः स्त्रियः —पृ० १५९	स्त्रीणामशिक्षितपटुत्वममानुषीणाम् ॥ — अभि० शा०, श्लोक ७५.
(१५)	नन्वेतत्प्रमदवनं पवनचलिताभिः मल्लवांगुलीभिस्त्वरयतीव भवन्तम् ॥ (पृ० १६२)	एतेन प्रमदवनोदितेन प्रत्युद्गतो भवनमागन्तुको दाक्षिणमारुतेन । एष वातेरितपल्लवांगुलीभिस्त्वरयतीव मां केसरवृक्षकः ।—अभि० शा०
(१६)	भर्तुः कृशेषु सुन्दरपाण्डुरेष्वंगेषु दृश्यते । —तृतीय अंक, पृ० २०५	ननु भणितमेव कमलनालायमानैरगैः । —विक्रमो० ११
(१७)	कार्य-सिद्धिपथः सूक्ष्मः स्नेहेनाप्युपलभ्यते ॥६॥ अंक (४)	अतिस्नेहः कार्य-दर्शी । विक्रमो० ॥
(१८)	नकुलावलिके एष वालाशोकवृक्षस्य पल्लवानि हरिणो लंघितुमागच्छति एहि निवारयाव एनम्।—अंक ४, पृ० २८९	अनुसूये ! यथैष इतो दत्तदृष्टिरुत्सुको मृगपोतको मातरमन्विष्यति । एहि संयोजयाव एनम् । -- अंक ३, अभि० शा०
(१९)	(इति संश्लेपमभिनयति)। मालविका नाट्येन परिहरति । —अं० ४, पृ० २९५	राजा मुखमस्याः समुन्नमयितुमिच्छति, शकुन्तला नाट्येन परिहरति । —अभि० शा०, अंक ३
(२०)	मामियमभ्युत्तिष्ठति देवी विनयादनूत्थिता प्रियया । विस्मृतहस्तकमलया नरेन्द्रलक्ष्म्या वसुमतीव ॥५।६॥—पृ० ३२९ ।	क्षयामण्डल-लक्ष्येण समदृश्याकिल स्वयम् । पद्मा पद्मातपत्रेण भेजे साम्राज्यदीक्षितुम् । —रघु० ४

मालविकाग्निमित्रम् में	कालिदास की अन्य कृतियों में
(२१) तनुभृतामीदृशी लोकयात्रा। — अं० ५, पृ० ३५६)	मरणं प्रकृतिः शरीरिणाम्। —रघु०)
(२२) अप्याकारसमुत्पन्ना मणिजातिरसंस्कृता। जातरूपेण कल्याणि! न हि संयोगमर्हति। —अंक ५, पृ० ३८०	रत्नं समागच्छतु कांचनेन ॥६।७९ —रघु०)

उपर्युक्त भाव-भाषा-साम्य के अतिरिक्त भी उपचार, पुरोभागिन्, अत्याहित, पर्युत्सुक, विभावय तथा स्वरयोग आदि शब्दों का प्रयोग तीनों नाट्यकृतियों में मिलता है। तीनों रूपकों में कामदेव को विश्वास का पात्र और धोखेबाज भी कहा गया है। मृग को हटाने के व्याज से पात्रों का रंगमंच से प्रस्थान करना तथा पत्रों से अंगुलियों की तुलना आदि बातें समान रूप से तीनों में मिलती हैं। इस तरह पांडुरंग महोदय ने निर्विवाद रूप से सिद्ध कर दिया है कि मालविकाग्निमित्रम् के रचयिता विक्रमोर्वशीयम् एवं अभिज्ञानशाकुन्तलम् के कर्त्ता कालिदास ही हैं।

इन तीनों रूपकों में नाट्य-विधा की दृष्टि से मालविकाग्निमित्रम् एवं अभिज्ञानशाकुन्तलम् नाटक हैं तथा विक्रमोर्वशीयम् उपरूपक-प्रकार त्रोटक है। इससे विदित होता है कि कालिदास ने रूपक एवं उपरूपक दोनों नाट्य-प्रकारों को स्वीकार किया है। इस अध्याय में उनके तीनों रूपकों की कथावस्तु, उनके उपजीव्य तथा नाट्यगत विशेषता पर प्रकाश डालना अभीष्ट है। रूपक एवं उपरूपक दो श्रेणियों में विभक्त होने के कारण सर्वप्रथम दोनों नाटकों का विवेचन प्रस्तुत किया जायगा तदनन्तर उपरूपक-भेद त्रोटक का।

मालविकाग्निमित्रम् : नाटकीय वस्तु

प्रथम अंक (स्थान—राजा अग्निमित्र का राजभवन तथा उसका पार्श्ववर्ती स्थल)

इस नाटक के आरम्भ मे स्रग्धरावृत्त में सर्वप्रथम दर्शकों के हृदय के अन्धकार को तिरोभूत कर सन्मार्ग के अवलोकनार्थ प्रकाश में ले जाने के लिए शिव जी की वन्दना की गयी है।[1] इस वन्दना के साथ ही नाटककार ने अपने नाटक की कथावस्तु की ओर भी संकेत कर दिया है। प्रकारान्तर से नान्दी श्लोक में ही नाटक

---

१. एकैश्वर्ये स्थितोऽपि प्रणतबहुफले यः स्वयं कृत्तिवासाः
कान्तासम्मिश्रदेहोऽप्यविषयमनसां यः पुरस्तान् यतीनाम्।
अष्टाभिर्यस्य कृत्स्नं जगदपि तनुभिर्बिभ्रतोनाभिमानः
सन्मार्गालोकनाय व्यपनयतु स वस्तामसीं वृत्तिमीशः ॥१॥ (मालवि० प्र० अं०)

का सम्पूर्ण कथानक व्यक्त हो जाता है। इसके बाद सूत्रधार नेपथ्य की ओर देखकर विज्ञापित करता है कि वसन्तोत्सव के अवसर पर विद्वत्परिषत् के आदेशानुसार मालविकाग्निमित्र नामक नाटक का अभिनय होगा। इसका आक्षेप करते हुए पारिपाश्र्वक तत्कालिक समाज की रुचियों के अनुरूप कहता है कि भास, कविपुत्र एवं सौमिल्लक आदि सुप्रसिद्ध नाटककारों की रचनाओं को छोड़कर नवोदित वर्त्तमान कवि कालिदास की इस कृति को विद्वत्परिषत् की ओर से इतना सम्मान क्यों दिया जा रहा है? वस्तुतः यह आक्षेप तत्कालिक समाज का था। अतः इस जनमत के समाधान के लिए कालिदास सूत्रधार के माध्यम से इस तथ्य की अभिव्यक्ति कराते हैं कि पुराने होने से ही सभी (नाटक) अच्छे नहीं हैं, न नये होने के कारण से कोई नाटक निन्दनीय (बुरा) होता है। परीक्षोपरान्त ही विद्वान् लोग ग्राह्य को ग्रहण करते है। इसके विपरीत मूर्खजन की बुद्धि दूसरों की बुद्धि का अनुगमन करती है।[1] यहो सूत्रधार बड़ी चतुराई के साथ रंगमंच पर रानी धारिणी की दासी वकुलावलिका के प्रवेश की सूचना देकर नाटक की भूमिका आरम्भ कर देता है तथा स्वयं वहाँ से प्रस्थान कर जाता है।

प्रस्तावना के बाद प्रथम अंक का आरम्भ मिश्र विष्कम्भक से होता है। इसमें सर्वप्रथम धारिणी की दासी वकुलावलिका आती है और कहती है कि उसे रान (धारिणी) ने आदेश दिया है कि नाट्याचार्य गणदास से पूछो कि चलित नामक नाट्य के शिक्षण में मालविका की कैसी प्रगति है। यह कहकर पूछने के लिए वह ज्यों ही संगीतशाला की ओर घूमती है त्यों ही वहाँ उपस्थित कौमुदिका से भेंट होती है। दोनों की परस्पर वार्त्ता से पता चलता है कि महारानी धारिणी के साथ एक ही आसन पर बैठे हुए महाराजा अग्निमित्र ने चित्रकला के आचार्य द्वारा बनाये गये चित्र में दासियों के मध्य समीप में ही खड़ी मालविका को देख लिया है। रानी उस सुन्दरी मालविका पर कड़ी निगरानी रखती है जिससे राजा की दृष्टि उस पर नहीं पड़ सके और वे उसके प्रति आसक्त नहीं हो सकें। इसके बाद नाट्याचार्य गणदास का प्रवेश होता है। उनसे पूछने पर वकुलावलिका को ज्ञात होता है कि मालविका संगीत और नृत्य की शिक्षा मे बहुत निपुण एवं विचक्षण बुद्धि है। गण-दास यहाँ तक उसके बुद्धि-कौशल की प्रशंसा करते है कि अभिनय के सम्बन्ध में जो-जो भावपूर्ण नृत्य मैं उसे सिखाता हूँ उन सबको और भी अच्छी तरह से दिखा कर ऐसा प्रतीत होता है कि मानो वह उलटा मुझे ही सिखा रही हो। उत्सुकतावश गणदास उससे पूछते हैं कि रानी ऐसी योग्य लड़की कहाँ से लायी है? वह

---

१. मालवि० १।२

उन्हें बताती है कि रानी धारिणी के वीरसेन नामक एक निम्नजाति के भाई ने नाचने गाने में योग्य होने के कारण इस उच्च घराने की लड़की (मालविका) को उपहार स्वरूप अपनी बहन के पास भेजा है।

ऊपर मिश्रविष्कम्भक में अतीत एवं भविष्य की बातों की सूचना देने के पश्चात्, मूल-कथा-वस्तु का आरम्भ होता है। अग्निमित्र अपने मंत्री वाहतक के साथ रंगमंच पर उपस्थित होता है। मंत्री विदर्भ के राजा यज्ञसेन के यहाँ से आये हुए पत्रोत्तर को सुनाता है। राजा अग्निमित्र ने विदर्भ के राजा यज्ञसेन के पास लिखा था कि आपके चचेरे भाई कुमार माधवसेन अपनी बहन का मेरे साथ विवाह-सम्बन्ध पक्का कर मेरे पास आ रहे थे। उन्हें बीच में आपके सीमान्त-रक्षक ने आक्रमण करके पकड़ लिया है। आप मेरा खयाल करके पत्नी एवं बहिन के साथ उन्हें छोड़ दीजिएगा। इसके जवाब में यज्ञसेन ने एक शर्त्त रखी कि यदि आप अपने यहाँ बन्दी बनाये गये मेरे साले मौर्य-सचिव को छोड़ देते हैं तो मैं भी उसी समय माधवसेन को मुक्त कर दूँगा (१।७)। उसकी इस शर्त्त पर राजा अग्निमित्र रोष में आकर कहता है कि यह (विदर्भ नरेश) मेरा स्वाभाविक शत्रु है और मेरे प्रति उसका विरुद्ध व्यवहार है। अतः वे उसे समूल नष्ट करने के लिए अपने साले वीरसेन के सेनापतित्व में सैन्यदल को भेजने के लिए मंत्री को आज्ञा देते हैं।

इसी समय राजा का कार्यान्तर सचिव विदूषक (गौतम) उनके पास आता है और चिन्तनशील मुद्रा में बोलता है—मुझे राजा ने आज्ञा दी थी कि गौतम! अकस्मात् चित्र में देखी हुई मालविका को प्रत्यक्ष देखने के लिए कोई उपाय सोच निकालो। इसने तदनुसार उपाय ढूँढ़ लिया है और राजा से चुपचाप कहा। इन्हें इस उपाय से दर्शन की भरपूर आशा बँध जाती है। विश्वस्त होकर राजा सोचता है कि जिस मनुष्य का कोई सहायक हो, वही विघ्न-बाधा वाले कार्य को बना सकता है, नेत्रवान् होता हुआ भी मनुष्य बिना दीपक के दृश्य वस्तु को नहीं देख पाता है (१।९) विदूषक की इसी युक्ति के प्रतिक्रियास्वरूप राजा की रंगशाला के नाट्याचार्य गणदास एवं हरदत्त का झगड़ते हुए प्रवेश होता है। राजा उन्हें ससम्मान आसन पर बैठा कर पूछते हैं कि यह क्या बात है कि इस समय शिष्यों को उपदेश देने के समय आप दोनों आचार्य एक साथ यहाँ आ गये है? उन्होंने एक दूसरे के अनुचित व्यवहार को बता कर राजा से इस बात का निर्णय करने का अनुरोध किया कि नृत्य और गायनकला में दोनों में कौन श्रेष्ठ है? राजा यह सोचकर इसके बारे में अकेले निर्णय देना उचित नहीं समझते हैं, क्योंकि महारानी धारिणी समझेंगी कि उन्होंने इसमें पक्षपात किया है। यही कारण है कि वे कहते हैं कि पंडित कौशिकी सहित

महारानी के समक्ष ही इस विषय पर विचार करना उचित होगा। यथादेश कंचुकी (मौद्गल्य) पंडित कौशिकी (परिव्राजिका) सहित रानी धारिणी को बुला लाता है। दोनों आचार्यों को राजकीय संरक्षण प्राप्त है। हरदत्त राजा का विश्वासपात्र है तो गणदास रानी का। अतः राजा भगवती परिव्राजिका को निर्णायक का पद ग्रहण करने के लिए अनुरोध करते हैं। दोनों आचार्य राजा के इस प्रस्ताव का हार्दिक समर्थन करते हैं। इस तथ्य को ध्यान में रखकर कि नाट्यशास्त्र में प्रधान बात तो प्रयोग-प्रदर्शन (अभिनय) की होती है (प्रयोग प्रधानं हि नाट्यशास्त्रम्) परिव्राजिका प्रस्ताव रखती है कि दोनों आचार्य अपनी-अपनी शिष्याओं का प्रायोगिक प्रदर्शन करें। अपने प्रस्ताव की सार्थकता एवं उपयुक्तता बताती हुई वह (परिव्राजिका) कहती है कि कोई (शिक्षक) तो ऐसा होता है कि उसकी क्रिया (विद्या) अपने आपमें ही सुन्दर रहती है, और दूसरा ऐसा होता है कि वह (शिक्षक) अच्छी तरह सिखाना ही जानता है, किन्तु जिसमें दोनों ही बातें अच्छी हों वही शिक्षकों में सर्वश्रेष्ठ माना जाना चाहिए।[1] दोनों आचार्य इस सारगर्भित प्रस्ताव का समर्थन करते हैं और प्रदर्शन के लिए राजी हो जाते हैं। किन्तु रानी धारिणी इस प्रदर्शन की बात को इसलिए टालने का भरपूर प्रयास करती है कि कहीं राजा मालविका को देख लेंगे तो सारा मामला गड़बड़ा जायगा। परन्तु अन्ततोगत्वा उसे भी प्रदर्शन की स्वीकृति देनी पड़ती है। रानी के कहने पर परिव्राजिका चलित नामक नृत्य के सम्बन्ध में प्रदर्शन (अभिनय) के लिए कहती है। साथ ही निर्णयाधिकारिणी होने के नाते वह निर्देश देती है कि सभी अंगों की सौंदर्याभिव्यक्ति के लिए बिना सजाये ही अपने पात्रों को दोनों आचार्य उपस्थित करें। दोनों आचार्य यथानिर्देश कार्यान्वियन के लिए चले जाते हैं। कुछ ही देर में नेपथ्य में मृदंग की आवाज सुनकर परिव्राजिका कहती है कि संगीत आरम्भ हो गया। राजा अन्य लोगों के साथ सामाजिक (द्रष्टा) बनते हैं।

द्वितीय अंक : (स्थान—अग्निमित्र के राजभवन से सम्बद्ध नाट्यशाला)

संगीत का प्रबन्ध हो चुकने पर अपने मित्र नर्मसचिव विदूषक के साथ राजा अग्निमित्र, रानी धारिणी, परिव्राजिका एवं भृत्यगण अपने-अपने पदानुसार आसनों पर बैठ जाते हैं। अवस्था में बड़े होने के कारण गणदास को अपनी शिष्या द्वारा

---

१ श्लिष्टा क्रिया कस्यचिदात्मसंस्था
संक्रान्तिरन्यस्य विशेषयुक्ता।
यस्योभयं साधु स शिक्षकाणां
धुरि प्रतिष्ठापयितव्य एव ।।१।१६।। मालवि०

नृत्य प्रदर्शन के लिए प्राथमिकता दी जाती है। वे शर्मिष्ठा की बनाई हुई मध्य लय वाली चौपदी की चौथी वस्तु का अभिनय एकाग्रचित्त से श्रवण करने के लिए राजा का ध्यान आकृष्ट करते हैं। गणदास के हट जाने पर राजा अपने मित्र विदूषक से कहता है कि नेपथ्यगृह मे स्थित हुए (मालविका को) देखने के लिए उत्कण्ठित हुई मेरी आँखें अधीरतावश पर्दे को हटा देने के लिए उद्धत सी हो रही हैं। इस पर विदूषक मालविका को मंच पर आते देखकर राजा से कहता है, आपकी आँखो की मधु आ गयी है। (उपस्थितं नयनमधु)। किन्तु उसके समीप ही मक्खी (रानी धारिणी) बैठी है, इसलिए सम्प्रति सावधानीपूर्वक मधुपान कीजिएगा। मालविका के सौंदर्य का प्रत्यक्षदर्शन कर राजा मंत्रमुग्ध हो सोचता है कि जिसने इसका चित्र बनाया है, उसने ठीक ध्यान से काम नहीं किया। वस्तुतः इसके सर्वांग सौंदर्य में कोई कमी नहीं है।[1] अब उन्हें विश्वास हो जाता है कि चित्रकार इसकी सुन्दरता को अपनी कला-निपुणता से चित्रित नही कर सका। यथादेश मालविका शृंगार-सानुकूल चलित नृत्य करती है तथा आलाप के साथ चौपदी-वस्तु गाती है।[2] यह पूरी चौपदी विप्रलंभ शृंगार की सुकोमल अभिव्यक्ति है और हृदय के अन्तस्तल को छूती है। इस प्रकार गीत, उसके साथ कलात्मक अभिनय तथा अभिनय के साथ साज-बाज की रमणीय पृष्ठभूमि न सिर्फ राजा पर, प्रत्युत सभी सामाजिकों (द्रष्टा-गण) पर अपना स्थायी प्रभाव डाल देते हैं। चतुर विदूषक तुरत समझ जाता है कि मालविका का भी राजा के लिए हार्दिक प्रेम है, अतः गीत के बहाने उसने अपने को राजा पर न्योछावर कर दिया है। विदूषक के इस कथन पर राजा कहता है कि मुझे भी यही अनुभूति हुई है।[3] गान-समाप्ति के बाद मालविका ज्योंही जाना चाहती है त्योंही विदूषक उसे रोक लेता है और कहता है कि आप नृत्य की कोई क्रिया भूल गयी है। गणदास के कहने पर वह लौट कर खड़ी हो जाती है। राजा

---

१. दीर्घाक्षं शरदिन्दुकान्तिवदनं बाहू नतावंसयोः।
संक्षिप्तं निबिडोन्नतस्तनमुरः पार्श्वे प्रमृष्टे इव।
मध्यः पाणिमितोऽमितं च जघनं पादावरालांगुली
छन्दो नर्तयितुर्यथैव मनसि श्लिष्टं तथास्या वपुः ।।२।३।। (मालवि०)

२. दुल्लहो पियो मे तस्सि भव हिअय णिरासं
अम्हो अपङ्गओ मे पप्फुरइ किं वि वामओ।
एसो सो चिरदिट्ठो कहं उवणइदव्वो।
णाह मं पराहीणं तुइ गणअ सतिण्हम् ।२।४। (मालवि०)

३. मालवि० २।५

उसकी स्थित मुद्रा में भी उसके अपूर्व सौंदर्य पर मुग्ध हो जाता है। गणदास के अनुरोध पर परिव्राजिका मालविका के नृत्य के गुण-दोष का विवेचन[1] करती हुई कहती है कि इसमें कोई दोष नहीं है। महारानी धारिणी परीक्षकों को संतुष्ट कर देने के लिए गणदास को वधाई देती है। कुछ देर के वाद अन्त में विदूषक कहता है कि पहले-पहल अपनी शिक्षा के प्रदर्शन पर आपको ब्राह्मण की पूजा करनी चाहिए थी। उसे आपलोग भूल गये। धारिणी इतनी उतावली में है कि मालविका को अधिक देर तक रुकने का मौका नहीं मिले। इधर राजा तथा मालविका मन-ही-मन एक दूसरे के प्रति अनुराग का विनिमय कर रहे हैं। अन्त में रानी गणदास को देखकर कह देती है कि अव आपकी शिष्या की शिक्षा का प्रदर्शन हो गया। यह सुन आचार्य गणदास के कहने पर उनके साथ वह चली जाती है। मालविका के चले जाने पर राजा चिन्तामग्न हो सोचता है कि उसका परदे के पीछे चला जाना ऐसा प्रतीत हो रहा है जैसे कि मेरी आँखों का भाग्य अस्त हो गया हो, मेरे हृदय का महान् उत्सव समाप्त हो गया हो अथवा मेरे धैर्य का दरवाजा वन्द हो गया हो (२।११)। राजा के मन में इस प्रकार मालविका के प्रति उभरती प्रेम की पीड़ा और भी तीव्र हो जाने के कारण हरदत्त की शिष्या इरावती के नृत्य को देखने की इच्छा समाप्त हो गयी। इधर वैतालिक मध्याह्न होने की सूचना देता है। अतः उस समय हरदत्त के पक्ष को यह कह कर टाल दिया जाता है कि भोजन करने का समय हो गया है, अतः उनकी शिष्या का अभिनय दूसरे दिन देखा जायगा। सव लोग भोजन के लिए चले गये। लेकिन राजा के मन में शान्ति नहीं। अतः उसने विदूषक से कहा कि स्वाभाविक सुन्दरी उस मालविका को ललित-कला का भी ज्ञान देकर ऐसा प्रतीत होता है जैसे विधाता ने उसे कामदेव का विष में वुझाया हुआ वाण वनाया हो (२।१३)। राजा ने विदूषक को शीघ्रातिशीघ्र कोई ऐसा उपाय ढूँढ़ने के लिए कहा जिससे वह जल्द मालविका से मिल सके। विदूषक मिलाने के लिए उन्हें वचन तो देता है, किन्तु यह भी कहता है कि वह मेघाच्छन्न चाँदनी के समान है। उसका दर्शन दूसरों के हाथ में है। अतः धैर्य से काम लें, तो अच्छा है। राजा अपनी अधीरता का कारण वताते हुए कहता है कि उसका हृदय अन्तःपुर की सभी महिलाओं की ओर से विमुख हो मालविका को ही अपने प्रेम का एकमात्र आधार वनाये वैठा है (२।१४)।

---

१. अंगैरन्तर्निहितवचनैः सूचितः सम्यगर्थः
पादन्यासो लयमनुगतस्तन्मयत्वं रसेषु।
शाखायोनिर्मृदुरभिनयस्तद्विकल्पानुवृत्तौ
भावो भावं नुदति विषयाद्रागबन्धः स एव ॥२।८॥ मालवि०

तृतीय अंक : (स्थान—राजा के प्रमदवन उद्यान में अशोक वृक्ष के समीप)

इस अंक का आरम्भ प्रवेशक से होता है जिसमें कुछ विगत तथा कुछ आने वाली बातों की सूचना समाहितिका और मधुकरिका नामक दो दासियों द्वारा दी जाती है। परिव्राजिका (कौशिकी) रानी धारिणी से मिलने जा रही है। अतः उनके आदेशानुसार उनकी दासी समाहितिका रानी के लिए उपहार-स्वरूप[1] बीजपूरक (बिजौरा) फल प्राप्त्यर्थ प्रमदवन की संरक्षिका मधुकरिका के पास जाती है। मधुकरिका के पूछने पर समाहितिका विदित कराती है कि निःसन्देह दोनों आचार्य नाट्यशास्त्र के अच्छे ज्ञाता हैं और अभिनय सिखाने में भी निपुण हैं, लेकिन मालविका के अभिनय में विशेषता होने के कारण गणदास को उच्चतर ठहराया गया। राजा मालविका के प्रेम में गम्भीर रूप से डूब गये है, लेकिन रानी धारिणी का मन रखने के लिए वे इच्छापूर्ति के लिए अपनी प्रभुता नही दिखाते हैं। मालविका भी आजकल मुरझाई-सी लगती है। मधुकरिका रानी को यह सूचित करने के लिए जाना चाहती है कि उसका (रानी का) परम प्रिय तपनीयाशोक फूलने में विलम्ब कर रहा है, अतः उसके फूलने का कोई उपाय कीजिए।

इस प्रवेशक दृश्य के बाद राजा और विदूषक का आगमन होता है। राजा अपनी कामदशा[2] का वर्णन करते हुए विदूषक को बताता है कि वह किस तरह दुस्साहसपूर्वक मालविका के प्रेम में लीन है। इस पर विदूषक उन्हें रोने-धोने से मना कर धैर्य धारण करने कहता है और बता देता है कि उसने वास्तव में उसके उद्देश्य की परिपूर्त्ति के लिए पर्याप्त उपाय कर लिया है। वह राजा को सूचित करता है कि उसने मालविका की प्रिय सखी बकुलावलिका को उनका सन्देश मालविका के पास पहुँचा देने के लिए तय कर लिया है। उसने (बकुलावलिका ने) दोनों के बीच मध्यस्थ का काम करके रानी की कड़ी निगरानी में रहने पर मालविका से राजा को मिलाने का वचन दिया है। जब राजा दिन का शेष भाग उचित कार्य मे व्यतीत करने के लिए कहता है। तब विदूषक उसे स्मरण दिलाता है कि रानी इरावती वसन्त के आरम्भ की सूचना देने वाली रक्ताशोक

---

१. रिक्त-पाणिर्न पश्येत् तु राजानं देवतां गुरुम्। (मनुस्मृति)

२. शरीरं क्षाम स्यादसति दयितालिङ्गनसुखे
भवेत्सारं चक्षुः क्षणमपि न सा दृश्यत इति।
तथा सारङ्गाक्ष्या त्वमसि न कदाचिद्विरहितं
प्रसक्ते निर्वाणे हृदय परितापं वहसि किम् ॥३।१। मा०वि०

की कलियों की प्रथम भेंट प्रेपित कर नये वसन्तोत्सव के वहाने निपुणिका द्वारा आप से निवेदन किया है कि आर्यपुत्र के साथ मैं झूला झूलने का आनन्द लेना चाहती हूँ। आपने उसे स्वीकृति-वचन दिया है। दोनों प्रमदवनोद्यान में पहुँचते हैं और वसन्त-श्री को निहारने लगते हैं। इसी समय काम-पीड़ित मालविका वहाँ पहुँचती है और अपने आप बोलती है कि जिस प्रियतम के हृदय का कोई पता नहीं, उसे चाहती हुई मुझे स्वयं लज्जित होना पड़ रहा है। मैं प्रिय सखियों से यह काम-वेदना कैसे कह सकती हूँ। पता नहीं कामदेव कब तक वेदना से ग्रस्त रखेगा जिसकी दवा ही नहीं? कुछ कदम आगे बढ़कर वह प्रमदवन में अपने आगमन के प्रयोजन को ध्यान में लाकर कहती है कि उसे रानी धारिणी ने आज्ञा दी है कि गौतम की दुष्टता के फलस्वरूप झूले पर से वह (धारिणी) गिर गयी जिससे उसके पैरों में चोट आ गयी है। अतः वह (मालविका) पीले अशोक को फुलाने का उपाय कर आवे। यदि पाँच रात से अन्दर वह फुला जायगा तो वह (धारिणी) उसे (मालविका को) मनोवांछित पुरस्कार देगी। वह उसके पैर के गहनों को लेकर आने वाली वकुलावलिका की प्रतीक्षा करती है और इसी वीच अपनी स्थिति पर चार आँसू वहाना चाहती है। विदूपक उसे वैठी देखकर राजा को उसकी उपस्थिति की सूचना देता है। यह जान कर जी में जी होता है। उसकी खिन्न अवस्था को देखकर राजा कहता है कि वियोग के कारण इसके गाल पीले हो गये हैं और इन्होंने इने-गिने ही आभूपण पहन रखे हैं। यह उस कुन्दलता सी लगती है जिसके पत्ते वसन्त ऋतु में पीले पड़ जाया करते हैं और जिसमें फूल विरले ही रहते हैं। (३।८) विदूपक तुरत भाँप जाता है कि उसे राजा की तरह प्रेम-रोग लग गया है। मालविका उस अशोक वृक्ष को देख कर कहती है कि जिसने फूलों की सजावट नहीं धारण की है और जो सुन्दर उपाय (दोहद) की माँग कर रहा है, मेरे ही समान अधीर वना हुआ है। वह वहीं छाँह में पटिया पर वैठ कर मन वहलाती है। विलकुल सन्निकट आ जाने के कारण विदूपक उसकी सारी वातें सुन कर "मैं अधीर वनी हुई हूँ", इस वाक्य की ओर संकेत करता है। लताओं के पीछे छिपकर राजा मालविका को टकटकी लगा कर देखता रहता है। कुछ ही क्षण में वकुलावलिका भी पैरों के लिए रक्तालक्तक एवं नूपुर लेकर पहुँच जाती है और मालविका के पैरों का साज-शृंगार करने लगती है। इसी समय मदिरा के नशे में इरावती अपनी दासी निपुणिका के साथ वहाँ आती है। उसका नशा चढ़ता जा रहा है और वह आर्यपुत्र (अग्निमित्र) को देखने के लिए उतावली हो रही है। निपुणिका इरावती को कहती है कि संभवतः राजा यहीं कहीं छिप कर

मजाक करने के लिए बैठे होंगे। दोनों प्रियंगुलता से घिरी वहीं अशोक वृक्ष के नीचे पत्थर की पटिया पर बैठ जाती है। यहाँ अशोक वृक्ष की छाया में वकुलावलिका द्वारा मालविका के चरणों को सजाती और महारानी धारिणी के पायजेब को इसके पास देख कर सशंक हो जाती है। जब उसे निपुणिका से मालूम होता है कि महारानी के पैर में चोट आ जाने के कारण मालविका को ही अशोक वृक्ष की इच्छा (दोहद) पूरी करने का कार्य सौंपा गया है तब उसे प्राप्त इस गौरव पर आश्चर्य होता है। मालविका के पैरों को सुसज्जित कर देने के बाद वकुलावलिका उससे कहती है कि तुम्हारा पैर तो लाल कमल की भांति सुन्दर लग रहा है। ईश्वर की कृपा से तुम स्वामी की गोद में लोटती रहो। बातचीत के सिलसिले में वकुलावलिका उसे कह देती है कि केवल मेरा ही तुझ से प्रेम नहीं है अपितु गुणग्राही राजा का भी। जब मालविका इसकी बात पर विश्वास नहीं करती है तब वकुलावलिका कहती है कि सज्जनों के इस कथन को मान लो—"प्रेम से ही प्रेम को परखना चाहिए (अनुरागोऽनुरागेण परीक्षितव्य इति)।" इतना ही नहीं वकुलावलिका स्पष्ट शब्दों में उससे कह देती है कि ये प्रेम पगे कोमल अक्षर महाराज के कहे हुए ही मैं कह रही हूँ। इस पर मालविका कहती है कि जब मुझे महारानी धारिणी की याद आती है तब मेरा हृदय विश्वास नहीं करता। पुनः वह कहती है कि संकट उपस्थित होने पर तुम सब तरह से मेरी सहायिका बनना। इस पर वकुलावलिका कहती है कि मैं तो मौलसरी के फूलों की माला हूँ जो मसलने पर और भी अधिक सुगन्ध देती है। राजा वकुलावलिका की निपुणता पर प्रसन्न है और सोचता है कि किस तरह वह मालविका को अपने वश में ले आई। राजा वकुलावलिका की कार्यदक्षता पर संतोष प्रकट करते हुए कहता है कि उसके हृदय को टटोल कर तुमने उसके समक्ष मेरा प्रेम प्रस्ताव रखा जब वह बहाना करने लगी तो तुमने ऐसा युक्तियुक्त उत्तर दिया कि उसे अपने कहने में ले आयी हो। सचमुच प्रेमियों का जीवन दूतियों के हाथ में रहता है (३।१४)। ठीक इसी समय इरावती भी वहाँ उपस्थित हो जाती है और जान जाती है कि वकुलावलिका ने मालविका के हृदय में राजा को बिठा दिया है। साज-सिंगार के बाद द्व्यर्थक शब्दों (पताकास्थानक) में वकुलावलिका यहाँ तक मालविका को कह देती है कि राग-भरा और आनन्द लूटने योग्य यह तुम्हारे सामने ही दीख रहा है। मालविका का प्रेमाकुल हृदय पूछ बैठता है कि भर्त्ता? वकुलावलिका मुस्कुराती हुई कहती है कि अशोक की शाखा में लटका हुआ कोंपलों का गुच्छा कानों मे पहन लो। यह सुनकर राजा उभयवर्त्ती प्रेम पर विचार करते हुए कहता है कि दो प्रेमियों मे एक में तो तड़पन ही न हो और दूसरा तड़प रहा हो, ऐसे दोनों का यदि मिलन भी हो जाय,

तो मुझे पसन्द नहीं। किन्तु यदि दोनों का एक दूसरे के लिए समान प्रेम हो और वे आपस में मिलने की आशा छोड़ चुके हों, तो उनका एक दूसरे के लिए मर जाना भी अच्छा है (३।१५)। स्पष्ट है कि कालिदास की दृष्टि में प्रेम दो-तरफा होता है। बस क्या था? कोंपलों को कानों में पहने विलास (नाज) के साथ अशोक पर पैर मारती है। इसे देख परिहास के लिए राजा विदूषक के साथ मालविका के समीप पहुँचते हैं। इरावती भी उन्हें बढ़ते देखती है। आगे बढ़कर विदूषक परिहास के साथ मालविका को कहता है, क्यों देवी जी! महाराज के प्रिय सखा इस अशोक पर आपका बायाँ पैर मारना क्या ठीक है? बकुलावलिका और मालविका घबरा कर डर जाने का अभिनय करती है। बकुलावलिका कहती है कि महारानी धारिणी की इसने आज्ञा पालन की है। इस अपराध में यह पराधीन है। अतः कृपया महाराज प्रसन्न हों। राजा मालविका को हाथ पकड़ कर उठाते हैं और कहते हैं कि यदि ऐसी बात है तो तुम्हारा कोई अपराध नहीं। पुनः वे उससे पूछते हैं, हे विलासिनी! इस वृक्ष के कठोर तने पर पादप्रहार करने से तुम्हारे कोंपल-सरीखे सुकोमल पैर पर कोई पीड़ा तो नहीं हुई? (३।१८) मालविका लज्जा का अभिनय करता है और दोहद कार्य सम्पन्नता की सूचना देने के लिए महारानी के पास जाना चाहती है। बकुलावलिका उसे राजा से जाने की आज्ञा माँगने कहती है। राजा मालविका को जाने के लिए आज्ञा देते हुए कहते हैं कि अशोक की तरह इस जन (राजा) पर भी चिरकाल से धैर्य के फूल नहीं लग रहे हैं, जो तुम्हें छोड़कर और किसी को नहीं चाहता, इसकी भी तुम अपने अमृत-तुल्य स्पर्श से साध पूरी कर दो न! (३।१९)। इसे सुन कर तुरत इरावती वहाँ प्रकट हो जाती है और सहसा कुछ आगे बढ़कर नशे में कह देती है—हाँ अवश्य पूरी कर दो। अशोक फूल प्रकट करे या न करे, ये (राजा) तो फूलेंगे भी और फलेंगे भी। अचानक इरावती को देखकर सभी अकबका (संभ्रान्त) हो जाते हैं। बकुलावलिका और मालविका दोनों चली जाती हैं। उनके जाने पर इरावती चिन्तित हो सोचती है और बोलती है। ओह! पुरुषों का कोई विश्वास नहीं। सचमुच मुझे बिलकुल पता नहीं चला कि मेरे साथ ऐसी ठगी हो रही है। मेरा हाल तो उस मृगी के समान है जो व्याधों के गीत पर लट्टू हुई बेखटके फँसा दी गयी हो। राजा बहाना कर इरावती से कहता है—सुन्दरि! मेरा मालविका से कोई सरोकार नहीं। तुम्हारे यहाँ आने में देर रही, अतः मैंने तो थोड़ा सा मन बहलाव किया है। इरावती पर इस कथन का कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। राजा तरह-तरह से उसे प्रसन्न करने के लिए मिन्नतें और मनौतियाँ करता है। फिर भी वह (अधीरा) क्रोध में आकर अपनी तागड़ी (करधनी) से ही उसे (राजा को) पीटना चाहती है लेकिन फिर सोच

कर करधनी को हाथ में थाम लेती है। इसके बाद राजा, यह सोचकर कि अब तो यह मान ही गयी है, उसके पैरों पर गिर पड़ता है। फिर भी वह नहीं मानती है। वह ताने कसती हुई कहती है कि ये मालविका के पैर नहीं हैं, जो छूने से तुम्हारी साध पूरी कर दें। यह कह कर वह अपनी दासी निपुणिका के साथ रानी को इन सारी बातों की सूचना देने चली जाती है। पादपतन पर भी इरावती के नही मानने पर राजा प्रेम की विषमता पर आश्चर्य प्रकट करता है और कहता है कि जब मेरा हृदय प्रियतमा (मालविका) ने हर लिया है, तो पैरों में पड़ने पर भी इरावती ने जो मुझे ठुकरा दिया है—इसे मैं अपनी भलाई ही मानता हूँ। यह सही है कि इरावती मुझ से प्रेम करती है, किन्तु जब वह रूठ ही गयी है तो मैं भी उसकी उपेक्षा कर सकता हूँ।

चतुर्थ अंक : (स्थान —प्रमदवन का समुद्रगृह)

विरह व्यथित राजा और प्रतिहारी का प्रवेश होता है। राजा मन ही मन चिन्तन करता है कि जिस प्रेम वृक्ष की जड़ें तब पड़ी थी, जब मैं उसका नाम सुन-कर उसकी आशा करने लगा था, राग-प्रीति के रूप में कोंपल तब फूट पड़ी थी, जब मैंने उसे अपनी आँखों से देखा और कलियाँ-सी तब खिल गयी थीं, जब उसे हाथों से छूकर उठाते हुए मुझे रोमांच हुआ था, वह वृक्ष अब मुझे अपना फल चलने दे, जिसके निमित्त मैं आकुल-व्याकुल हो बैठा हूँ (४।१)। विदूषक के आने पर राजा के आदेशानुसार प्रतिहारी पता लगाने जाती है कि रानी धारिणी के पैर में दर्द के कारण कहाँ और कैसे मन बहला रही है? विदूषक मालविका और बकुलावलिका की स्थिति के बारे में राजा को अवगत कराता है। कल जब इरावती रानी के पैर की चोट का कुशल-समाचार जानने आयी थी तब महारानी द्वारा प्रियतम (अग्निमित्र) से भेंट होने की बात पूछने पर उसने (इरावती ने) कहा—यह तो आपके पूछने की कोरी शिष्टता है कि स्वामी को अपनी दासी (मालविका) का प्रियतम बना जानती हुई भी पूछ रही है। इस पर रानी ने स्पष्टत: सारी बातें कहने के लिए आग्रह किया। तदनुसार इरावती ने मालविका के प्रति आपके प्रेम सम्बन्धी सारी बातें कह दीं। विदूषक राजा को विदित करता है कि मालविका और बकुलावलिका पैरों में बेड़ी पहने नागकन्याओं की भाँति ऐसे पाताल (तहखाना) में रह रही है जहाँ सूर्य की किरण तक नही दिखलाई पड़ती है। यह खबर पाकर मार्मिक अन्योक्ति शैली द्वारा दु:ख भरे शब्दों में वह कहता है कि मंजरियों से विकसित आम के वृक्ष पर बैठने वाली मधुर-कण्ठी कोयल (मालविका) और भ्रमरी (बकुलावलिका) को बड़ी आँधी (इरावती) को साथ में लिए हुए असमय की वर्षा ने पेड़ के खोखले में बन्द कर दिया है (४।२)। मुक्ति का कोई उपाय पूछने पर विदूषक राजा से कहता

है कि भूगर्भ के भाण्डार के पहरे पर महारानी ने मालविका को बिठा रखा है तथा उसे आज्ञा दे दी है कि बिना मेरी सर्पमुद्राङ्कित अंगूठी की छाप देखे तू इन दोनों को मत छोड़ना। चारों ओर देखकर विदूषक के कानों में उचित उपाय बताता है। प्रसन्न होकर राजा उक्त योजना की सफलता के निमित्त कार्यान्वित करने के लिए विदूपक को कहता है। प्रतिहारी महारानी का समाचार अवगत कर आती है और राजा को सूचित करती है कि वह (महारानी) हवादार कमरे में पलंग पर बैठी हुई है, पैर पर लाल चन्दन का लेप किया गया है और उसे एक दासी अपने हाथ में थामे हुए है तथा परिव्राजिका कथाओं से उनका मन बहला रही है। यही उचित अवसर पाकर राजा महारानी के पास मिलने चला जाता है। पीछे यज्ञोपवीत से अपने अँगूठे को बाँधे और घबराया हुआ विदूषक भी रानी के निकट पहुँचता है। वह चिल्लाते हुए कहता है—बचाओ, बचाओ, प्रमदवन में रानी के लिए फूल तोड़ते समय साँप ने मौत बनकर उसे काट लिया है। यह सुनकर सभी दुःखी हो जाते हैं। रानी पश्चात्ताप के स्वर में कहती है कि ब्राह्मण के जीवन को संकट में डालने का कारण सचमुच मैं ही हूँ। जयसेना समाचार लेकर आती है कि वैद्य ध्रुवसिद्धि ने चिकित्सा के लिए गौतम (विदूपक) को अपने पास ही बुलाया है, तदनुसार विदूषक को वैद्य के पास पहुँचा दिया जाता है। विष शान्ति के लिए यथावश्यकता जयसेना सर्पमुद्रांकित अंगूठी रानी से लेकर वैद्य को समर्पित करती है। इसके बाद विष उतर जाने के समाचार पाकर वह कहती है कि सौभाग्य की बात है कि मैं दोप से बच गयी। जयसेना बताती है कि मंत्री वाहतक राजकार्य के बारे में कुछ परामर्श लेना चाहता है। सर्पमुद्रांकित अंगूठी पाकर विदूपक बहुत खुश होता है। उसने कारावास की संरक्षिका को उस सर्पमुद्रांकित अगूठी दिखाकर मालविका और बकुलावलिका को कैद से मुक्त करवा लिया। बन्धन से मुक्त कराने के भेद के बारे में पूछने पर विदूपक राजा को कहता है कि उसने कारावास की रक्षिका से यह कह दिया कि राजा की कुण्डली देखकर दैवज्ञों ने बताया है कि राजा के ग्रहों की स्थिति कुछ मन्द है, अत. सभी कैदियों को मुक्त कर दिया जाय। उसने यह भी बताया कि रानी धारिणी ने इरावती का दिल रखने के लिए अपनी परिचारिका को न भेज कर उसे ही भेजा है जिससे इरावती को यह मालूम नहीं हो कि इसमें धारिणी का कोई हाथ है। इसके बाद यथासंकेत राजा, विदूपक, मालविका और बकुलावलिका समुद्रगृह में मिले। वहाँ चित्र में अंकित राजा को बकुलावलिका के कहने पर मालविका प्रणाम करती है। मालविका कहती है कि सखि! जब मैं उनके सामने थी, तब स्वामी के रूप से उतनी नहीं अघाई थी जितनी आज

चित्र में देखकर अघा रही हूँ। चित्र में इरावती की ओर राजा को ताकते देखकर मालविका कहती है कि सखि! मुझे तो स्वामी की यह अशिष्टता लगती है कि वे अन्य सभी रानियों को छोड़कर एक का ही मुँह ताक रहे हैं। वकुलावलिका मन ही मन समझ जाती है कि चित्रांकित स्वामी को ही यह असली समझ कर ईर्ष्या कर रही है, अतः परिहास के साथ वह मालविका को कहती है कि यह (इरावती) स्वामी को प्यारी है। यह सुनकर मालविका ईर्ष्या से अपना मुँह फेर लेती है। राजा छिपे-छिपे इस दृश्य को देखकर विदूषक से कहता है कि ईर्ष्या में चित्र की तरह अपना मुँह फेरते हुए इसके होंठ काँप रहे हैं और माथे की बिन्दी तेवर चढ़ने से टेढ़ी हो गयी है, यह मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि इसने अपने गुरु नाट्याचार्य से प्रियतम के अपराध पर रूठने के सुन्दर अभिनय की जो शिक्षा ली है, उसी को जैसे यहाँ दिखाया हो (४।९)। उसके समीप आकर राजा कहता है कि कमलनयिनी! चित्र में दिये हुए मेरे चित्र से तुम मुझ पर क्यों ऐसे रूठ रही हो? तुम्हारा यह दास सशरीर यहाँ खड़ा है (४।१०)। यह सुनकर मुँह पर लज्जा का भाव प्रकट करती हुई वह राजा के सामने हाथ जोड़ देती है। राजा प्रेम की अधीरता दिखाता है। इस पर विदूषक के पूछने पर अपने चुप रहने के और विश्वास नहीं करने के कारण को बताते हुए राजा कहता है कि मित्र! मेरी आँखों के सामने खड़ी होकर भी यह क्षण भर में ओझल हो जाती है, आलिंगन करने के लिए मेरी भुजाओं के बीच आई भी एकाएक खिसक जाती है, इस प्रकार मिलन में धोखा देने से प्रेम-रोग का दुखिया मेरा मन किस तरह इन पर विश्वास करे (४।११)? वकुलावलिका द्वारा राजा को विश्वास दिलाने की बात कहने पर मालविका खुल कर कह देती है कि सखि! मुझ मन्दभागिनी के लिए तो स्वप्न में भी भर्ता का मिलन दुर्लभ बना रहा। इस पर राजा कहता है कि मैंने तो प्रेम की आग[1] की साक्षी बना कर अपने-आप को ही तुम्हारी सखी के हाथ सौंप दिया है, मैं इनका स्वामी नहीं, बल्कि अकेले में सेवा करने वाला दास हूँ (४।१२)। अशोक की कोंपलों को चरने के लिए आते हुए मृग को हटाने के बहाने विदूषक वकुलावलिका के साथ उन दोनों को छोड़ कर वहाँ से हट जाता है। वकुलावलिका छिप कर बैठ जाती है और विदूषक दरवाजे पर पहरा देने

---

१. भारतीय प्रथा के अनुसार वर-वधू का पाणिग्रहण अग्नि को साक्षी बना कर होता है। यहाँ राजा और मालविका के मध्य लौकिक अग्नि क्या, स्वयं प्रेम की अग्नि ही साक्षी बन कर दोनों को पति-पत्नी रूप में बांध रही है। इसी तरह कुमारसंभव में महादेव-पार्वती का विवाह—वधूं द्विजः प्राह तवैष वत्से! वह्निर्विवाहः प्रतिकर्मसाक्षी। ७।८३।

लगता है। नींद आ जाने पर विदूषक वहीं शिलातल पर सो गया। मालविका को डरी-सी खड़ी देखकर राजा कहता है कि हे सुन्दरी! तुम मिलन के भय को छोड़ दो। बहुत देर से तुम्हारे प्रेम के लिए तड़पते हुए मुझ पर यों लिपट जाओ जैसे माधवी लता आम के वृक्ष पर लपट जाया करती है। (४।१३) मालविका कहती है कि महारानी के भय के कारण मैं अपने मन की इच्छा पूरी नहीं कर सकती हूँ। राजा उसे समझाते हुए कहता है कि प्रेम दिखाने की शिष्टता तो प्रेमी जनों में कुल का नियम है। मैं कभी से तुम पर आसक्त हुआ पड़ा हूँ, अतः अब मुझ पर कृपा करो। यह कह कर राजा उसे गले लगाने का अभिनय करता है। मालविका बच कर निकलने का अभिनय करती है। यह देख राजा मन ही मन कहता है कि नवेलियों के प्रेमपूर्ण नाज नखरे कितने सुन्दर लगते हैं। यह काँपती-काँपती अंगुलियों से तागड़ी खोलने में लगे मेरे हाथ को रोक देती हैं, जब मैं जोर से आलिंगन करता हूँ तो अपने दोनों हाथों से स्तनों को ढक देती हैं, जब मैं सुन्दर पलकों की आँखों वाले इनके मुँह को चूमने के लिए ऊपर उठाता हूँ, तो ये उसे फेर लेती हैं; इस प्रकार (ना-ना) का बहाना करने से ये मेरी इच्छा-पूर्ति का ही आनन्द मुझे दे रही हैं। इतने में निपुणिका के साथ इरावती (४।१५) भी विदूषक का हाल पूछने के लिए वहाँ आ गयी। इरावती चित्र में अंकित स्वामी को जब मनाना चाहती है तब निपुणिका कहती है कि स्वयं स्वामी को ही अब क्यों नहीं मना लेती है? इसके इस कथन पर वह पश्चात्ताप व्यक्त करती हुई कहती है कि अब स्वयं स्वामी वैसे कहाँ रहे जैसे चित्र में है। उनका हृदय तो अब किसी और ही जगह लग गया है। उनके प्रति उस दिन जो मैंने शिष्टाचार का उल्लंघन किया है, उसी को धोने के लिए यह मेरा प्रयत्न है। इसके बाद महारानी का संवाद लेकर चेटी आती है और कहती है कि महारानी धारिणी कहती है कि ईर्ष्या करने का मेरा यह समय तो रहा नहीं। सिर्फ तुम्हारा बड़ा आदर-सम्मान बढ़ाने के लिए ही मैंने सखी (वकुलावलिका) के साथ मालविका को बेड़ियाँ डालकर बन्द कर रखा है। इरावती विदूषक के पास पहुँचती है तो देखती है कि वह निद्रा के स्वप्न में बड़बड़ा रहा है— मालविका! राज-प्रणय में इरावती से आगे बढ़ने वाली बन जाओ! इस बात से चिढ़कर निपुणिका उसके ऊपर एक लकड़ी का टुकड़ा फेंक देती है। विदूषक डर कर चिल्ला उठता है—मेरे ऊपर साँप गिर पड़ा। विदूषक की इस आवाज को सुन कर राजा उसकी सहायता के लिए बाहर आते हैं। पीछे से मालविका भी राजा को रोकती हुई वहाँ पहुँचती है। वकुलावलिका भी वहाँ चली आयी। इरावती एक-ब-एक राजा के समीप आकर कहती है, दिन में मिलने का संकेत करने वाली जोड़ी का मनोरथ निर्विघ्न पूरा हो गया है न? इसे (इरावती को)

देखकर सभी घबरा गये। इस दृश्य को देखकर इरावती अत्यधिक क्रुद्ध हो गयी। राजा उसे रूठा देखकर कहता है कि इस विषय में तुम्हारे रूठने का मुझे कोई कारण नहीं दीखता क्योंकि अपराध किये हुए भी दास-दासियाँ उत्सव के दिनों में बन्धन के योग्य नहीं हुआ करते हैं। यही कारण है कि मैंने इन दोनों को छुड़ा दिया है। ये प्रणाम और कृतज्ञताज्ञापन करने के लिए यहाँ आयी हैं (४।१७)। इरावती निपुणिका से कहती है कि जाओ और महारानी को कह दो कि आपका पक्षपात मैंने देख लिया है। इसी समय अन्तःपुर से घबराई हुई-सी जयसेना आती है और कहती है कि पिंगल बन्दर ने गेंद के पीछे भागती हुई कुमारी वसुलक्ष्मी को इस प्रकार डरा दिया है कि उसका रोना बन्द नहीं होता। उसे होश नहीं हो रहा है। इस समाचार को पाकर इरावती अत्यधिक घबरा जाती है और कुमारी को आश्वासन देने के लिए राजा से निवेदन करती है। विदूषक के साथ राजा, इरावती, निपुणिका और चेटी चली जाती है। इस परिस्थिति से राजा अनेक संकटों से मुक्त हो जाते है। इसी समय नेपथ्य से यह आवाज आती है कि अशोक वृक्ष पाँच रातों के अन्दर ही खिल कर कलियों से लद गया। यह सुन प्रसन्नता के साथ मालविका और बकुलावलिका अपने साथ मे मधुकरिका (मालिन) को लेकर रानी धारिणी को यह समाचार देने तथा उससे यथोक्त पारितोषिक प्राप्ति के लिए चली जाती हैं।

पंचम अंक : (*स्थान—प्रमदवन में अशोक वृक्ष के समीप*)

प्रवेशक नामक अर्थोपक्षेपक (रंगमंचीय निर्देश) से यह अंक आरम्भ होता है, जिसमें भूत एवं भविष्य की बातों की सूचना दी जाती है। सर्वप्रथम मधुकरिका नामक प्रमदवनोद्यानपालिका आती है और कहती है कि रानी धारिणी की आज्ञा के अनुसार उसने अशोक वृक्ष को सजा दिया है। बड़ी खुशी की बात है कि मालविका पर भाग्य की कृपा होने लगी है। जो महारानी उस पर इतनी नाराज करवा दी गयी थीं, अब अशोक के फूलने के वृत्तान्त को सुनकर अति प्रसन्न हो गयी हैं। इसके बाद हाथ में लाख-मोहर लगी पेटी लिये रनिवास से आते हुए कुबड़े सारसक के आगमन का प्रयोजन पूछती है। वह कहता है कि जब से रानी ने सुना है कि सेनापति पुष्यमित्र (अग्निमित्र के पिता) ने अश्वमेध यज्ञ के घोड़े की रक्षा के लिए राजकुमार वसुमित्र को नियुक्त कर रखा है, तभी से उसकी दीर्घायु के लिए अठारह सुवर्ण मुद्रा दक्षिणा सत्पात्रों को दे रही है। उसी दक्षिणा को पुरोहितों को सौंपने जा रहा हूँ। पुनः वह बताता है कि रानी के भाई वीरसेन द्वारा प्रेषित पत्र से मालूम हुआ है कि उनके (वीरसेन के) नेतृत्व में स्वामी की विजयी सेना ने विदर्भ नरेश को अपने अधीन बना लिया है

तथा उसके सगोतो माधवसेन को छुड़ा लिया है। माधवसेन ने बहुत कीमती रत्न, हाथी, घोड़े, रथ तथा बहुत सी कलाकार दासियाँ एवं नौकर-चाकर भेंट में भेजे हैं।

प्रतिहारी आकर कहता है कि अशोक वृक्ष के सत्कार में लगी महारानी ने राजा को सूचित करने कहा है कि मैं उनके साथ अशोक के फूलों की शोभा देखना चाहती हूँ। महाराज को न्यायालय के कार्य में संलग्न देख कर वह उनकी प्रतीक्षा करता है। इधर दो वैतालिक राजा की विजय-स्तुति करते हुए आते हैं। इसके पश्चात् विदूषक के साथ राजा आता है। उन्हें प्रतिहारी सूचित करती है कि महारानी कह रही है कि सुनहरे अशोक के फूलों की शोभा देखकर आप मेरे उत्सव को सफल बनायें। रानी के आदेशानुसार पंडिता कौशिकी ने मालविका को विदर्भ कन्या की तरह वैवाहिक वेश में सुसज्जित किया। इसके बाद वैवाहिक वश में सुसज्जित मालविका, परिव्राजिका, कौशिकी तथा दास-दासियों के साथ महारानी धारिणी आती हैं। मालविका को वैवाहिक वेश में देखकर राजा कहता है कि यह हल्के-से रेशमी कपड़ और अल्प आभूषण पहने हुए ऐमी लग रही है जैसे कि चैत की वह रात हो, जिसमें धुंध के हट जाने से तारे चमकते रहते हैं और चाँदनी निकलने पर रहती है (५।७)। परिव्राजिका राजा को मनोरथ पूरा होने का आशीर्वाद देती है। महारानी मुस्कुराती हुई हल्के से ताना मारती हुई कहती है कि आर्यपुत्र ! हमने अशोक को आपके लिए युवतियों के साथ मिलने का संकेत गृह (मिलन-स्थान) चुना है। सभी वहाँ यथास्थान वैठ जाते हैं। इसी समय कंचुकी विदर्भ राज से भेंट में आई हुई ज्योत्स्निका एवं रजनिका नामक दो लौडियों को वहाँ उपस्थित करता है। इन दोनों लौंडियों को देखकर मालविका और परिव्राजिका एक दूसरे का मुँह देखने लगती हैं। राजा के पूछने पर दोनों लौंडियाँ कहती हैं कि वे संगीत की विशेपज्ञा हैं। महारानी धारिणी जब मालविका को सम्बोधित कर कहती है कि इन दोनों में से किसे—तुम्हें अपनी संगीत की साथिन बनाना पसन्द है तब दोनों लौंडियाँ मालविका को प्रणाम कर आश्चर्यपूर्वक देखती हैं और आँसू बहाने लगती हैं। इस दृश्य को देखकर राजा दोनों दासियों और मालविका के बारे में परिचय पूछता है। दोनों बताती हैं कि स्वामी ! आपकी विजयिनी सेना ने विदर्भ राज को अधीनस्थ कर जिस माधवसेन राजकुमार को बन्धनमुक्त कराया है, उनकी छोटी बहन यह मालविका है। यह सुनकर रानी धारिणी आश्चर्यचकित हो कह बैठती है— हैं ! ये राजकुमारी हैं ? मैं चन्दन को खड़ाऊँ बना कर बुरा कर बैठी हूँ—राजा इसकी इस दशा के बारे में पूछता है। दूसरी दासी बताती है कि हमारे राजकुमार माधवसेन को

जब उनके सगोती ने कैद कर लिया, तब उनके मंत्री आर्य वसुमति हम-जैस दास-दासियों को छोड़कर इन्हें छिपा कर ले गये। इसके आगे क्या हुआ, नहीं जानती हूँ। परिव्राजिका स्वयं जब इसके आगे की स्थिति का विवरण करने के लिए कहती है तब वे दोनों दासियाँ उनकी आवाज पहचान जाती हैं औ उन्हें प्रणाम करती हैं। परिव्राजिका कहती है कि माधवसेन का मंत्री सुमति उसका (परिव्राजिका का) ज्येष्ठ भ्राता है। जब इनके भाई की ऐसी दशा हो गयी, तब वे मेरे साथ-साथ इन्हें कहीं ले जाकर आपसे इनका सम्बन्ध करने की इच्छा से विदिशा नगरी जा रहे यात्रियों के साथ हो गये। यह व्यापारी दल कुछ दूर चलने के बाद घने जंगल में प्रविष्ट हुआ। वहाँ डाकुओं के दल ने उन पर आक्रमण कर दिया। कुछ देर तक उन व्यापारियों के सिपाही उनसे लड़े, लेकिन डाकुओं ने उन्हें परास्त कर दिया। इसके बाद मेरे भाई उस विपत्ति में डाकुओं के आक्रमण से घबड़ाई हुई इस मालविका की रक्षा करने के प्रयत्न में मारे गये। यह जान कर वह रोते-रोते मूर्च्छित हो गयी थी। जब उसे होश हुआ तो देखा मालविका का कहीं पता नहीं है। भाई के दाह-संस्कार के बाद जब मेरे विधवा-पन का दुःख ताजा हो गया तब आपके देश में आकर मैंने ये दो गेरुए वस्त्र पहन लिए, जंगली डाकुओं से छीनकर वीरसेन ने मालविका को देवी (धारिणी) के पास भेज दिया और जब रनिवास में मेरा आना-जाना शुरू हुआ तब मैंने इसे यहीं देखा। यह सुन कर राजा चिन्तित स्वर में कहता है—ओह ! विपत्तियाँ अनादर का घर हुआ करती हैं, क्योंकि कितनी बुरी बात है कि महारानी पद पाने योग्य इस सुकुमारी लड़की से हम इस प्रकार दासी का काम ले रहे हैं जैसे कोई स्नान कर रेशमी वस्त्र से शरीर पोंछने के लिए परने (तौलिये) का काम लेता हो (५।१२)। महारानी धारिणी परिव्राजिका से कहती है कि भगवति ! आपने यह उचित नहीं किया जो हमें मालविका को उच्चकुलीन नहीं बताया। परि-व्राजिका इसका कारण बताती हुई कहती है कि जब इसके पिता जीवित थे, तब देवोत्सव के अवसर पर उपस्थित एक सत्यवादी साधु ने मेरे समक्ष कहा था कि एक साल तक दासी का काम करने के बाद यह (मालविका) अपने योग्य वर प्राप्त करेगी। अतः साधु की अवश्यंभावी वाणी में विश्वास कर आपकी सेवा में लगी हुई इसे फलीभूत देखकर मैं एक वर्ष के निर्धारित समय की प्रतीक्षा करती रही और आप लोगों से इस बात को छिपाये रखी। राजा उसके इस मौन का समर्थन करता है। इसके बाद कंचुकी अपनी शेष सूचना देते हुए राजा से कहता है कि मंत्री जी यह भी कह रहे हैं कि विदर्भ-देश के बारे में क्या किया जाय—इसका हमने निर्णय कर लिया है। मैं आपके विचार सुनना चाहता हूँ। इस पर राजा अपना निर्णय देते हुए कहता है कि मैं यज्ञसेन और माधवसेन दोनों भाइयों

के दो पृथक् राज्य स्थापित करना चाहता हूँ। वे दोनों वरदा नदी के उत्तर और दक्षिण दोनों देशों को आपस में बाँट कर इस प्रकार शासन करें जैसे चन्द्र और सूर्य बाँटकर रात और दिन पर शासन किया करते हैं (५।१३)। कंचुकी आकर महाराज का जयजयकार करते हुए कहता है कि मंत्री जी ने आपके विचार की सराहना की है तथा मंत्रीपरिषद् का भी ऐसा ही मत है क्योंकि दो भागों में विभक्त राज्यलक्ष्मी को धारण करते हुए वे दोनों भाई एक दूसरे पर आक्रमण करने का विचार छोड़कर अपने नियामक—सार्वभौम शासक—आपकी आज्ञा पर इस तरह रहेंगे, जैसे कि दो घोड़े बराबर विभक्त रथ के जुए को अपने ऊपर रख कर आपस में बिना टकराये रथवाहक की आज्ञा पर रहते हैं। (५।१४) राजा इस आशय का पत्र वीरसेन के पास भेजने के लिए मंत्री-परिषद् को आदेश देता है। वैसा ही करके पुनः कंचुकी सेनापति पुष्यमित्र (राजा के पिता) द्वारा प्रेषित भेंट सहित एक पत्र लेकर राजा के पास पहुँचता है। राजा सादर भेंट लेकर और उसे शिर से लगाकर सेवक को सौंप देता है तथा स्वयं पत्र बाँचता है। उसमें लिखा है—स्वस्ति, यज्ञ-मण्डप के सेनापति पुष्यमित्र विदिशा में स्थित चिरंजीवी पुत्र अग्निमित्र को स्नेहपूर्वक आलिंगन करके सूचित करता है—तुम्हें विदित हो कि राजसूय यज्ञ में बैठे हुए मैंने सौ राजपुत्रों से घिरे वसुमित्र को रक्षक बना कर एक वर्ष में लौटा लाया जाने वाला जो घोड़ा खुला छोड़ा था, वह जब सिन्धु नदी के दक्षिणी तट पर चर रहा था, तो यवनों की अश्वारोही सेना ने उसे पकड़ना चाहा। अतः दोनों सेनाओं में घमासान युद्ध छिड़ गया। इसके पश्चात् धनुर्धारी वसुमित्र ने यवनों को पछाड़ कर उनके द्वारा बलात् हरा जाता हुआ अपना श्रेष्ठ घोड़ा वापस ले लिया (५।१५)। मेरा पौत्र घोड़ा वापस ले आया है, अतः जब मैं उसी प्रकार यज्ञ करूँगा जैसे अपने पौत्र अंशुमान् के द्वारा घोड़ा ले जाने पर राजा सगर ने किया था। इस अवसर पर शान्त मन होकर अविलम्ब तुम्हें सपरिवार यज्ञ देखने आना चाहिए। परिव्राजिका राजा और रानी को पुत्र की विजय पर बधाई देती है और कहती है कि भर्त्ता ने अब तक आपको प्रशंसनीय वीर-पत्नियों की अग्रिम पंक्ति में स्थान दे रखा था, पर अब पुत्र के कारण आपको वीरमाता पद भी प्राप्त हो गया है (५।१६)। इसे सुन कर रानी कहती है कि खुशी की बात है कि बच्चा पिता की तरह ही निकला (परितुष्टाऽस्मि पितरमनुगतो वत्स इति)। कंचुकी चाटुकारिता के साथ कहता है कि कुमार की इतनी मात्र वीरता का काम तो मेरे मन में कोई आश्चर्य नहीं कर रहा है जब कि उसके जन्मदाता आप इतने बड़े अजेय वीर हैं जैसे बाडवानल के जन्मदाता और्व ऋषि थे। (५।१७)। राजा ने कहा—मौद्गल्य! यज्ञसेन के साले से लेकर सभी कैदियों को छोड़ दिया जाय। रानी

धारिणी जयसेना (प्रतिहारी) को इरावती आदि रनिवास की सभी रानियों को पुत्रविजय की खबर देने कहती है। पुनः उसे एकान्त में ले जाकर वह कहती है कि मैंने अशोक की साध पूरी करते समय मालविका को जो वचन दे रखा है, उसे तथा मालविका के उच्च कुल की बात बता कर मेरी ओर से जाकर इरावती को मनाओ और कहो कि मुझे सत्यवचन से पतित नहीं किया जाय। सूचना देकर प्रतिहारी आती है और खुशियाली में रानियों से प्राप्त पर्याप्त आभूषणों की प्रशंसा करती हुई सूचित करती है कि इरावती ने कहा है कि रानी (धारिणी) सर्वशक्ति-सम्पन्न पटरानी हैं, जो करेंगी उचित ही होगा। जहाँ तक मालविका को पहले से ही प्रदत्त वचन की बात है, अब उससे पलटना ठीक नहीं है। इसके बाद रानी धारिणी परिव्राजिका से आज्ञा माँगती हुई कहती है कि मैं मालविका आर्यपुत्र (अग्निमित्र) को देना चाहती हूँ जैसा वसुमति ने पहले सोचा था। परिव्राजिका कहती है कि अब भी इस पर आपका ही अधिकार है। बस, यह सुन रानी मालविका का हाथ पकड़ कर कहती है कि आर्यपुत्र! आपने कुमार का जो प्रिय समाचार सुनाया है, उसके लिए यह योग्य पुरस्कार स्वीकार कीजिए। राजा लज्जा के मारे चुपचाप खड़े रहते है और विदूषक की ओर देखते हैं। जब विदूषक मालविका को रानी का पद भी दे देने के लिए राजा के बदले कहता है तब रानी कहती है, इसे दुहराने की जरूरत नहीं। यह जन्म से ही रानी पद प्राप्त कर चुकी है। इस पर परिव्राजिका कहती है कि रत्नों की जाति खानों से पैदा होती है, फिर भी जब तक उनका संस्कार नहीं किया जाता, तब तक वे सोने पर जड़ने योग्य नहीं होते (५।१८)। इसके बाद प्रतिहारी रेशमी वस्त्र लेकर आती है। रानी मालविका का घूँघट निकाल कर कहती है कि अब आर्यपुत्र इसे ग्रहण करें। राजा देवी की जैसी आज्ञा कह कर मौन स्वीकृति दे देते हैं। सभी दास-दासी रानी की जय कहने लगती हैं। परिव्राजिका महारानी को सम्बोधित कर कहती है कि—आप पर मुझे कोई आश्चर्य नहीं क्योंकि पति से प्रेम रखने वाली पतिव्रता नारियाँ अपने लिए सौत लाकर भी पति की सेवा किया करती हैं। समुद्र को जाने वाली नदियाँ अपने साथ सैकड़ों अन्य नदियों को भी तो समुद्र के पास पहुँचा दिया करती है (५।१९)। इसके बाद निपुणिका आती है और इरावती का सम्वाद सुनाती है कि मैंने महाराज का निरादर करके बड़ा अपराध किया है और स्वामी की इच्छा के अनुकूल व्यवहार नहीं किया है। अब स्वामी का मनोरथ पूर्ण हो गया है, अतः मुझ पर प्रसन्न होने की कृपा करें। इस परिणय सम्बन्ध से माधवसेन की इच्छा पूरी हो गयी—इसके लिए बधाई समाचार लेकर परिव्राजिका जब उसके पास जाने की आज्ञा राजा से माँगती है तो राजा अपने पत्र में ही उनकी ओर से बधाई लिखकर

भेजवाने का वचन देता है। अन्त में महारानी राजा से कहती है कि आर्यपुत्र ! आज्ञा दीजिए, अब आपकी कौन-सी प्रिय बात करूँ ? उत्तर में राजा कहता है कि इससे अधिक मेरी और प्रिय बात क्या हो सकती है ? फिर भी मैं यह चाहता हूँ कि हे देवी ! तुम मेरे प्रति निरन्तर प्रसन्न मुख रहना, तुम्हारी सौत की तरफ से तुम से मैं यही माँगता हूँ। अग्निमित्र के राजा रहते ऐसी आशा नहीं की जा सकती है कि 'ईति' आदि [1] विपत्तियों का अभाव न हो (५।२०)। इस भरतवाक्य से नाटक की परिसमाप्ति होती है।

मालविकाग्निमित्रम् का उपजीव्य

मालविकाग्निमित्र के उपजीव्य के सम्बन्ध में अनेक मतान्तर हैं। विक्रमोर्वशीयम् तथा अभिज्ञानशाकुन्तलम् की तरह वेद, महाभारत या पुराण इसका उपजीव्य नहीं है। इतना निश्चित है कि इसकी भी कथावस्तु का आधार ऐतिहासिक तत्त्व है। राजा अग्निमित्र, उनके पिता पुष्यमित्र, तथा अग्निमित्र का पुत्र वसुमित्र सभी ऐतिहासिक व्यक्ति हैं। कुछ विद्वान् के कथनानुसार इनके अलावे अग्निमित्र का मंत्री वाहतक, उसका साला वीरसेन, विदर्भ का राजा यज्ञसेन, यज्ञसेन का चचेरा भाई माधवसेन तथा माधवसेन का मंत्री सुमति भी ऐतिहासिक पात्र होंगे। धारिणी और वसुलक्ष्मी भी संभवतः ऐतिहासिक पात्र होंगी। संभवतः मालविका मालव प्रदेश की राजकुमारी होगी। पात्रों के नामों के अतिरिक्त नाटक में वर्णित घटनाएँ भी ऐतिहासिक हैं। उदाहरणस्वरूप विदर्भ के राजा का अग्निमित्र द्वारा पराजित होना, वसुमित्र द्वारा यवनों को पराजित करना, पुष्यमित्र द्वारा अश्वमेध यज्ञ किया जाना आदि सभी घटनाएँ ऐतिहासिक हैं। हाँ, इतना सही है कि कुछ घटनाएँ कवि कल्पना प्रसूत भी हैं। जैसे अग्निमित्र और विदर्भ के राजा के पारस्परिक युद्ध, मालविका का बचकर रानी धारिणी का दासी बनना, उसके (मालविका) के सौन्दर्य से राजा का प्रभावित होना आदि घटनाएँ अनैतिहासिक हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि ये घटनाएँ भी कल्पना-प्रसूत नहीं हैं। अपने समय में प्रचलित लोक-कथाओं से ही कवि ने ग्रहण किया होगा तथा इन्हें नाटक के रूप में परिवर्तित कर दिया।

विन्सेन्ट स्मिथ[2] के विवरण से विदित होता है कि सेनापति पुष्यमित्र ने अपने मालिक मौर्यवंश के अन्तिम राजा बृहद्रथ को मार कर १८३ ई० मे शुंगवंश

---

१. अतिवृष्टिरनावृष्टिः शलभाः मूषकाः खगाः।
प्रत्यासन्नाश्च राजानः षडेते ईतयः स्मृताः ॥

२. अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया।

की स्थापना की। संभवतः उसकी राजधानी पाटलिपुत्र थी। उसने ग्रीक राजा मेनान्दर को भी परास्त किया। पुष्यमित्र के राज्य के दक्षिणी प्रान्त में उसका पुत्र अग्निमित्र शासन करता था। उसकी राजधानी विदिशा (आधुनिक भिलसा) थी। अग्निमित्र ने विदर्भ के राजा को पराजित कर दिया। इसकी पराजय से उत्साहित होकर पुष्यमित्र ने अश्वमेध यज्ञ आरम्भ किया। यज्ञ के घोड़े के सुरक्षार्थ उसने अपने पौत्र वसुमित्र को नियुक्त किया। सिन्ध नदी के तट पर यवनों ने उसके घोड़े को पकड़ लिया। वसुमित्र ने बहादुरी के साथ उसे परास्त किया। उसके बाद पुयमित्र ने अश्वमेध यज्ञ पूरा किया। पुष्यमित्र की मृत्यु के बाद अग्निमित्र राजा हुआ। इसके बाद उसका (अग्निमित्र) का भाई वसु ज्येष्ठ या सुज्येष्ठ गद्दी पर बैठा। सात वर्षों के बाद वसुमित्र को गद्दी मिली। पुराणों में भी शुंगवंश का उल्लेख मिलता है। लेकिन उसमें सिर्फ इतना ही लिखा मिलता है कि सेनापति पुष्यमित्र बृहद्रथ को पराजित कर ३६ वर्ष तक राज्य करेगा, उसका पुत्र अग्निमित्र आठ वर्षो तक, पुनः वसु ज्येष्ठ सात वर्षों तक राज्य करेगा। इसके बाद अग्निमित्र का पुत्र वसुमित्र दश वर्षो तक राज्य करेगा। इस ऐतिहासिक विवरण से पता चलता है कि मालविकाग्निमित्र की कुछ घटनाएँ तथा पात्र ऐतिहासिक हैं। किन्तु पुराणों या शिलालेखों में स्पष्ट उल्लेख के अभाव में निःसन्देह यह कहना कठिन है कि कालिदास ने अपने नाटक की कथावस्तु कहाँ से ली है। पुराणों के स्पष्ट विवरण के अभाव में यही कहा जा सकता है कि कालिदास ने किसी अन्य स्रोत से मालविकाग्निमित्र का कथानक लिया होगा। इसके सम्बन्ध में विद्वान् एकमत नहीं हैं।

कुछ विद्वान् मालविकाग्निमित्र की कथावस्तु गुणाढ्य की बृहत्कथा से गृहीत मानते है क्योंकि बंधुमती की कहानी से नाटक की कथावस्तु में समानता मिलती है। इसी समानता के कारण कुछ विद्वानों का अनुमान है कि कालिदास ने अपने कथानक का सम्यक् संगठन उसी के आधार पर किया होगा। सम्प्रति बृहत्कथा उपलब्ध नहीं है। इसके दो संक्षिप्त रूपान्तर सोमदेव के कथासरित्सागर और क्षेमेन्द्र की बृहत्कथामंजरी के रूप में आज उपलब्ध हैं। कथासरित्सागर मे यह कथा इस प्रकार है—

> किं च बन्धुमतीं नाम राजपुत्रीं भुजार्जिताम्।
> गोपालकेन प्रहितां कन्यां देव्या उपायनम्॥
> तथा मंजुलिकेत्येव नाम्नान्येनैव गोपिताम्।
> अपरामिव लावण्य-जलधेरुत्थितां श्रियम्॥
> वसन्तकः सहायः सन् दृष्ट्वोद्यान-लता-गृहे।

गन्धर्वविधिना गुप्तमुपेयेमे स भूपतिः ॥
तच्च वासवदत्तास्य ददर्श निभृतस्थिता ।
प्रचुकोप च बद्ध्वा च सा निनाय वसन्तकम् ॥
ततः प्रव्राजिकां तस्याः सखीं पितृकुलागताम् ।
स सांकृत्यायनीं नाम शरणं शिश्रिये नृपः ॥
सा तां प्रसाद्य महिषीं तया सदैव कृताज्ञया ।
ददौ वसुमतीं राज्ञे पेशलं हि सतीमनः ॥

उपर्युक्त वर्णित कहानी में मालविकाग्निमित्र के पात्रों के नाम तो नहीं मिलते हैं, किन्तु कुछ घटनाओं का साम्य मिलता है। जैसे वन्धुमती राजकन्या है। उसे रानी के भाई गोपालक ने रानी के समीप प्रेषित किया। इस नाटक में भी मालविका भी राजकुमारी है। उसे महारानी धारिणी के भाई ने उसके पास भेजा। राजा वन्धुमती (मंजुलिका) को उद्यान में देखकर मोहित हो गया। मालविका को चित्र में ही देखकर राजा अग्निमित्र मोहित हो गया। इस कहानी के अनुसार वसन्तक की मदद से राजा वन्धुमती को पा सका। विदूषक (गौतम) की सहायता से अग्निमित्र को मालविका मिली। जैसे कथासरित्सागर में रानी वासवदत्ता ने गौतम को वन्धन-ग्रस्त किया उसी तरह इस नाटक में रानी ने मालविका और वकुलावलिका को कैदखाने में वन्दी कर रखवाया। उपर्युक्त कथा में रानी को मनाकर परिव्राजिका राजा का परिणय सम्बन्ध कराती है, किन्तु मालविकाग्निमित्र में रानी स्वयं राजा के हाथ में मालविका को रानी के रूप में सौंप देती है। इन समताओं के बावजूद दावे के साथ यह नहीं कहा जा सकता है कि कालिदास ने अपने नाटक की कथावस्तु कथासरित्सागर से ही ली है।[1] शेष घटनाएँ, जैसे नाट्याचार्य गणदास और हरदत्त का पारस्परिक कलह, नृत्यकला का प्रदर्शन, अशोक-वृक्ष के दोहद की पूर्ति, सर्पदंशन आदि, कवि की कल्पना की उपज हो सकती है। अगर इसे ही उपजीव्य मान लिया जाय तो प्रश्न यह खड़ा होता है कि क्या मूल घटनाएँ एवं पात्र भी कविकल्पित ही हैं? यहाँ हमें निरुत्तर हो जाना पड़ता है। डा० रमाशंकर तिवारी का कथन है कि कालिदास ने कथावस्तु के केन्द्रीय अंश को वृहत्कथा जैसे सूत्रों से ग्रहण किया होगा तो यह भी संभव हो सकता है कि पुष्यमित्र के अश्वमेध तथा वसुमित्र द्वारा उसके घोड़े की सुरक्षा वाली बात के सन्निवेश की प्रेरणा भी उन्हें रामायण तथा ब्रह्माण्ड पुराण एवं वायुपुराण जैसे आख्यान सूत्रों से मिली होगी। इस संदर्भ

१ महाकवि कालिदास—पृ० २७०। (डा० रमाशंकर तिवारी)

में काले महोदय का विचार उल्लेखनीय है।[1] उनके विचार से उपर्युक्त कहानी को मूल स्रोत स्वीकार करने के लिए प्रमाण नहीं मिलता है। संभवतः उपर्युक्त कथा तथा मालविकाग्निमित्रम् की कथावस्तु दोनों का कोई अन्य समान आधार रहा हो।

पुराणों में सिर्फ शुंगवंश की वंशपरम्परा तथा विभिन्न राजाओं का राज्य काल वर्णित है। ऐतिहासिक ग्रन्थ या शिलालेख वगैरह में प्रमुख पात्रों के नामों के सिवा विशेप घटना का विवरण नहीं मिलता है। अतः इन्हें भी नाटक के कथानक का मूलस्रोत नहीं माना जा सकता है।

मालविकाग्निमित्र[2] के पंचमअंक की श्लोक संख्या[2] के अध्ययन से पता चलता है कि अग्निमित्र एक प्रसिद्ध व्यक्ति था जिसकी सम्बन्धित कथा कालिदास के समय में आम लोगों में प्रचलित थी। विद्वानों ने उनसे सम्बद्ध कथाओं को छन्दोवद्ध कर रखा था जो आज उपलब्ध नहीं है। हो सकता है कि कालिदास ने इन्ही कथाओं को आधार बनाकर मालविकग्निमित्र नाटक की रचना की होगी। इन कथाओं में धारिणी, वसुलक्ष्मी, मालविका, वीरसेन, यज्ञसेन आदि का भी वर्णन होगा। विदूषक, इरावती, परिव्राजिका, वकुलावलिका आदि पात्र कवि-कल्पित हो सकते है। मालविका के साथ अग्निमित्र की प्रेम कहानी भी उस समय लोकप्रसिद्ध होगी। संभवतः उसके प्रेम की परिपूर्त्ति के निमित विदूषक का षड़यन्त्र, नाट्याचार्यो का द्वन्द्व, अशोक की दोहद-पूर्त्ति के लिए मालविका की नियुक्ति, विदूषक की चपलता के कारण धारिणी का गिर कर पैरों मे चोट खाना, साँप काटने का विदूषक का वहाना, राजा की पुत्री वसुलक्ष्मी का पिंगल वन्दर से डरना आदि घटनाएँ कवि द्वारा कल्पित की गयी होंगी। इस विवेचन से स्पष्ट है कि कालिदास ने मालविकाग्निमित्र की मूल कथा तत्कालिक प्रचलित अग्निमित्र की वीरता एवं प्रेम की कहानी से ली होगी।

---

१ We think, however, that kalidas could not have connected an imaginary love story with a historical cheracter like Agnimitra. His story must have had some basis of fact, some romantic tale of a princess living in disguise at his court. It is herdly likely that the poet would invent a queen—as Malavika. The story resembles that of Bhandhumati isprobably an accident or perhaps bath had a common source. Malavika. (M. R. Kale)

२ विरचितपदं वीरप्रीत्या दुरोपम ! सूरिभि-
श्चरितमुभयोर्मध्येकृत्य स्थित कथकैशिकान्।
तव हुतवतो दण्डानीकैर्विदर्भपतेः श्रियं
परिघगुरुभिर्दोर्भिः शौरेः प्रसह्य च रुक्मिणीम् ॥५।२ (मालवि०)

मालविकाग्निमित्रम् का नाट्यवैशिष्ट्य

समीक्षात्मक दृष्टि से विचार करने पर मालूम पड़ता है कि मालविकाग्नि-मित्रम् का कथानक नाटिका के कथानक की तरह है। इसका कथानक पश्चाद्वर्ती हर्ष की नाटिका रत्नावली अथवा प्रियदर्शिका के अधिक निकट है। राजप्रासाद एवं प्रमदवन के परिसीमित क्षेत्र में अग्निमित्र और मालविका की प्रणयकथा ही इसका प्रमुख प्रतिपाद्य है। अग्निमित्र अपनी ज्येष्ठा रानी धारिणी तथा कनिष्ठा रानी इरावती से छिपे-छिपे मालविका से प्रेम करता है। नाटिका के नायक की ही भाँति राजा "दवीत्रासेन शङ्कितः" है। इसके साथ ही मालविका भी 'देवीत्रासेन शंकिता' है। नाट्यशास्त्रीय विवेचन के आधार पर अग्निमित्र को धीरोदात्त नायक माना जायगा, किन्तु गम्भीर रूप से उनके क्रियाकलापों को ध्यान में रख कर विचार किया जाय तो वह धीरललित कोटि का अधिक प्रतीत होता है। इसका अंगी रस शृंगार है। यत्र-तत्र विदूषक का कथन ही इसमें हास्यरस का समावेश करता है। पाँच अंकों में विभक्त होने के कारण ही इसे नाटक की श्रेणी में रखा जाता है। कथावस्तु के संविधान की दृष्टि से तो यह नाटिका के ही विशेष समीप है।

इस नाटक का प्रमुख विषय तत्कालिक राजमहलों में चलने वाला प्रणय षडयन्त्र ही है। इसमें नाट्य-क्रिया-कलाप के सभी सूत्र विदूषक के हाथों में समर्पित हैं। यदि नाटक से विदूषक को हटा दिया जाय तो अग्निमित्र निष्क्रिय और निष्प्रभ बन जायगा। मालविका यद्यपि सौंदर्यवती और संगीत-कला में निपुण है फिर भी परिस्थितियों के कारण वह आदि से अन्त तक शंकायुक्त बनी हुई है। फलतः साहस और अवसर के अभाव में वह अपने प्रेम के मादक ज्वार को कभी खुल कर व्यक्त नहीं कर सकी। दोनों का प्रणय-सम्बन्ध विदूषक के छल-छद्म पर आश्रित है। यही कारण है कि इसमें न कोई नैतिक उद्देश्य चित्रित है, और न प्रेम का दुर्दमनीय उपप्लवन ही। प्रेमी-प्रेमिका दोनों की शका की गम्भीर छाया ने प्रणय को पूर्णतया उद्भासित नहीं होने दिया।

अपने प्रथम नाटक मालविकाग्निमित्रम् का कथानक भास के स्वप्नवासवदत्तम् से कुछ भी घट कर नहीं हो, इसे ध्यान में रख कर ही उन्होंने नाटक के आरम्भ में ही सूत्रधार के मुँह से इस सिद्धान्त[1] का निरूपण कर अपनी नाट्यकृति को बहुमानित किया है।

---

१ पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम् ।
सन्तः परीक्ष्यान्यतरद्भजन्ते मूढः परप्रत्ययनेय बुद्धिः ।।१।२ (मालवि०)

नाटक के प्रथम अंक में देवी धारिणी का विपरीत मनोभाव, विदूषक की सूत्र-संचारिणी बुद्धि-कुशलता, मालविका के प्रति अग्निमित्र की प्रेमासक्ति आदि सभी कथानक तत्त्वों का निर्देश स्पष्टरूपेण सामाजिक को मिल जाता है। अतः वस्तु-योजना की दृष्टि से इस अंक को सुसंगठित एवं सफल माना जा सकता है। द्वितीय अंक में मालविका के रूप-लावण्य तथा अग्निमित्र के पूर्वराग की निविड़ता की अभिव्यंजना प्रतिपादित की गयी है। मालविका को देखने पर अग्निमित्र की व्यक्त प्रथम प्रतिक्रिया[1] उत्तरोत्तर बढ़ती हुई इस अंक की परिसमाप्ति तक प्रगाढ़ हो जाती है। वह राजा के हृदय में इस प्रकार आ बसी है कि अन्तःपुर की सभी लावण्यवती रमणियों से उसका मन उचट गया है (२।११)। मालविका राजा के समक्ष अधिक देर तक नहीं ठहरे, रानी धारिणी की यह चिन्ता प्रेक्षक वर्ग को यह सोचने के लिए मजबूर कर देती है कि रानी की विपरीत भावना आगे चलकर सक्रिय प्रतिरोध का रूप धारण कर सकती है। इसके साथ ही विदूषक का कपट-कौशल भी सिद्ध हो गया है। शीघ्र किसी उपाय के लिए राजा के कहने पर विदूषक की उक्ति[2] में उसके सहज आत्मविश्वास की स्पष्ट झलक प्रेक्षक को मिल जाती है।

तृतीय अंक में अग्निमित्र एवं विदूषक, मालविका तथा उसकी सहेली बकुलावलिका और इरावती एवं उसकी दासी निपुणिका—इन तीन युग्मों का राजा के प्रमदवन में सम्मिलन होता है। जर्मन विद्वान् वाल्टर रूवेन[3] का कथन है कि इस अंक में राजा के बारे में दो बातें प्रत्यक्ष होती हैं। पहली यह कि राजा स्त्रियों के चरणरंजन की कला में निपुण है। दूसरी बात यह है कि राजा अपनी पत्नी इरावती को अपने ऊपर मेखला से प्रहार करने से उचित समय पर रोक देता है। इसे अध्ययन करने पर स्पष्ट हो जाता है कि कालिदास ने शुंगवंश के राजपरिवार का अत्यन्त उच्छृंखल चित्र अंकित किया है। सिर्फ लावण्यवती नवयुवती मालविका ही अपनी लज्जायुक्त पवित्रता से हमें आकृष्ट करती है। ऐसा प्रतीत होता है कि राजा की सुन्दरता के कारण वह प्यार करती थी।

---

१ चित्रगतायामस्यां कान्तिर्विसंवादशंकि मे हृदयम्।
संप्रति शिथिलसमाधि मन्ये येनेयमालिखिता ॥२।२ (मालवि०)

२ विदूषक—गहीदक्खणोम्हि। किदु मेहावलीरुद्धजोण्हा विअ पराहीणदं सण तत्तहोदी मालविआ। भवं वि सूणोवरिअरो गिद्धो विअ आमिस लोलुओ भीरुओ अ। ता अणादुरो विअ कज्जसिद्धि पत्थअन्तो मे रुच्चइ (मालवि० अं० २, पृ० १३६)

३ वाल्टररूवेन, कालिदास, पृ० ८२।

चतुर्थ अंक में मालविका एवं बकुलावलिका के तहखाने में बन्दी बना कर माधविका के निरीक्षण में रखे जाने तथा विदूषक के चातुर्य से उनके छुटकारा दिलाने की रोचक घटना का वर्णन हुआ है। इस अंक में मालविका के प्रति राजा अग्निमित्र के प्रणय को वाधित करने के लिए गुप्त रूप से चल रहे प्रयत्न चरम सीमा पर पहुँच जाते हैं। एक ओर उसकी प्रेमिका उसकी सखी के साथ बन्धनग्रस्त है, दूसरी ओर उसकी मुक्ति के लिए अनेक छल-प्रपंच किये जा रहे हैं। इस तरह हम देखते हैं कि नाटकीय संघर्ष यहाँ चरम बिन्दु पर पहुँच गया है। नाटककार का प्रमुख उद्देश्य—मालविका एवं अग्निमित्र को वैवाहिक सम्बन्ध में बाँधना है। इस अंक में विघ्न के समाप्त हो जाने से उस उद्देश्य की परिपूर्त्ति की आशा निश्चित हो जाती है। ज्योतिपियों के कथनानुसार राजा के अनिष्ट ग्रह के शमनार्थ बन्दियों की विमुक्ति की घटना की प्रकल्पना में विदूषक के प्रतिपन्नमतित्व का परिचय मिलता है। इसी तरह वसुलक्ष्मी के पीले बन्दर से संत्रस्त होने के कारण अस्वस्थ हो जाने वाली घटना की उद्भावना में नाटककार के सूक्ष्म नाटकीय कौशल का पता चलता है। प्रथम अंक में उल्लिखित नागमुद्रांकित अंगुलीयक का उपयोग पुनः इस अंक में भी किया गया है। इससे भावक को कलात्मक तृप्ति मिलती है। विदूषक का साँड़ की भाँति बैठे स्वप्न में 'हे देवी मालविके! राजप्रिया बनो', 'इरावती को राजप्रणय में जीत लो' इत्यादि बड़बड़ाना भी नाटकीय दृष्टि से बहुत बड़ा महत्त्व रखता है। नाटककार विदूषक के कपट-व्यापार को छिपाये रखना उचित नहीं समझता है। वस्तुतः प्रणय प्रसंग में कपटाचार एवं उसका भेद दोनों सुखद तथा स्पृहणीय हैं। इससे नाटकीय संघर्ष पैदा करने में नाटककार को सफलता मिलती है।

यह अंक क्रियापूर्ण है। इसमें राजा के अनुरागवर्धन की रोचक अभिव्यंजना हुई है।[1] मनसिजतरु से मालविका-मिलन रूपी मधुर फल के रसास्वादयिता बनाने की कामना में उसके (अग्निमित्र के) पूर्वराग की आश्वस्त अभिव्यक्ति हुई है। अपने प्रणय-सचिव विदूषक की निपुणता पर उसे भरपूर विश्वास है, अतः अन्तःपुर के विभिन्न षड़यन्त्रों के बावजूद वह अपनी कामना की सिद्धि में कदापि हताश नहीं मालूम पड़ता है। यद्यपि मालविका एवं बकुलावलिका के बन्दी बनाये जाने का समाचार सुनकर वह कातर भाव व्यक्त करता

---

१ राजा—(आत्मगतम्) तामाश्रित्य श्रुतिपथगतामाशया लब्धमूलः
संप्राप्तायां नयनविषयं रूढरागप्रवालः।
हस्तस्पर्शैर्मुकुलित इव व्यक्तरोमोद्गमत्वात्
कुर्यात्क्लान्तं मनसिजतरुर्मां रसज्ञं फलस्य ॥४।१
(मालवि०)

है।[1] फिर भी उसमें निराशा की भावना मुखरित नहीं होती है। इस नाटक की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें प्रेम-विह्वलता के मर्मस्पर्शी दृश्य उपलब्ध नहीं हैं जो नाटककार की अन्यान्य रचनाओं में प्रायः चित्रित हुए हैं। अग्निमित्र जब मालविका को अपने गले से लिपटने का अनुरोध करता है[2] तब महारानी धारिणी के भय से संत्रस्त वह उसे उपालम्भ देती है "(सोपहासम्)—जो ण भाएदि सो भए भट्टीदंसणे विट्ठसमत्थो भट्टा णं।" इस अंक में मालविका का यह यथार्थ एवं मर्मस्पर्शी कथन (जो पूरे राजभवन में अन्यत्र कहीं नहीं सुनाई पड़ता) नाट्यकला की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है। यह दृश्य सम्पूर्ण नाटक में सर्वाधिक सुन्दर है। अपने स्वामी से ऐसी स्पष्टोक्ति कालिदास ने शकुन्तला या उर्वशी से भी नहीं करायी है।

मालविका के इस प्रतिरोध के बावजूद प्रेमाचरण में अग्निमित्र का बलप्रयोग करना उचित नहीं है। उसे जबरदस्ती आलिंगनपाश में आबद्ध करना सुसंस्कृत भावुकों को खटकने वाला है।[3] ऐसा कठोर आचरण करने के लिए कालिदास ने अपने किसी अन्य नायक को स्वीकृति नहीं दी है।

नाटक के अन्तिम अंक में, अग्निमित्र एवं मालविका का बाधित प्रेम विधिवत् परिणय में पर्यवसित हो गया है। इसमें विदर्भ के राजा यज्ञसेन का अग्निमित्र की सेना से परास्त होना, दोहद की पूर्ति से अशोक में फूल लगना तथा पूर्व निश्चयानुसार रानी धारिणी द्वारा राजा अग्निमित्र के साथ वैवाहिक वेश में सुसज्जित कराकर विधिवत् विवाह करा दिया जाना, वीरसेन द्वारा प्रेषित दोनों दासियों के मुख से मालविका का रहस्योद्घाटन एवं परिव्राजिका कौशिकी द्वारा अपनी ओर मालविका की सारी दुर्दशाग्रस्त स्थितियों के वर्णन के साथ

---

१ राजा—कष्टं कष्टम्।

मधुरसा परभृतिका भ्रमरी च प्रफुल्लितात्रसंगिन्यौ।
कोटरमकालवृष्ट्या प्रबलपुरोवातया गमिते ॥४।८॥ वही

२ राजा—विसृज सुन्दरि! संगमसाध्वसं तव चिरात्प्रभृति प्रणयोन्मुखे।
परिगृहाण गते सहकारतां त्वमतिमुक्तलताचरितं मयि ॥४।१३॥ वही

३ राजा—(आत्मगतम्) रमणीयः खलु नवाङ्गनानां मदनविषयावतारः एषा हि—

हस्तं कम्पवती रुणद्धि रशनाव्यापारलोलांगुलि
हस्तौ स्वौ नयति स्तनावरणतामालिंग्यमाना बलात्।
पातुं पक्ष्मलचक्षुरुन्नमयतः साचीकरोत्याननं
व्याजेनाप्यभिलाषपूरणसुखं निर्वर्तयत्येव मे ॥४।१५ (मालविका)

राजकन्या होने पर एक वर्ष तक दासी के रूप में रहने पर योग्य वर से विवाह होने की साधु की कृत भविष्यवाणी के अनुरूप समग्र रहस्यों को छिपाये रखने का कारण बताना और अन्त में वसुमित्र के सेनापतित्व में विजय प्राप्ति के उपलक्ष्य में आयोजित यज्ञ में सपरिवार शामिल होने के लिए अग्निमित्र को आमन्त्रण आदि वर्णित है।

नाटककार ने कुशलतापूर्वक व्यक्त करा दिया है कि मालविका दासी नहीं, राजकुमारी है। ऐसा करने से अन्त में सारी उलझनें समाप्त हो जाती हैं और वह वैवाहिक सम्बन्ध के बाद रानी बन जाती है। अब अन्य लोगों के साथ ही रानी धारिणी को भी अति कष्ट की अनुभूति होती है और वह पश्चात्ताप करती है।[1] कालिदास की अन्य प्रेमी-प्रेमिकाएँ आधिदैविक कारणों से विपद्ग्रस्त हुई हैं, लेकिन मालविका की विपत्ति में कारुणिक विशिष्टता है। मालविका के दुर्भाग्य के लिए नाटककार ने कोई अपराध आरोपित नहीं किया है। राजकुमारी होती हुई भी विधिनियोग से वह दासी बनी है। भविष्यवाणी की अवधि समाप्त होते ही रानी धारिणी ने स्वयं उसे राजा से परिणीत कर सपत्नी बना लिया। ऐसा कर कालिदास ने धारिणी का व्यक्तित्व और ऊँचा उठाया है। परिव्राजिका के कथन में इस तथ्य की अभिव्यक्ति कराई गयी है कि पति को प्यार करने वाली साध्वी स्त्रियाँ अपने घर में सौत लाकर भी पति की पूर्ववत् सेवा करती हैं जैसे समुद्रोन्मुख नदियाँ अपने साथ दूसरी नदियों के जल को भी समुद्र में पहुँचा देती हैं।[2]

कालिदास ने अतिकुशलता पूर्वक नाटकीय ढंग से प्रथम अंक में सीमान्त के ग्रहण-विप्लव में माधवसेन की बहिन (मालविका) के खो जाने तथा यज्ञसेन द्वारा उसे खोजने के उद्योग की दी गयी सूचना के अनुसार वस्तुस्थिति की जिज्ञासा की पूर्त्ति के लिए अन्तिम अंक में सारे रहस्योद्घाटन के द्वारा समाधान प्रस्तुत किया है। प्रथम अंक में अग्निमित्र का संकेतित नरेन्द्र रूप इस अंक में स्पष्ट रूप से व्यक्त हो गया है। वह एक अधिशासक की भाँति कहता है कि जैसे सूर्य एवं चन्द्रमा दिन-रात को आपस में बाँटकर अलग-अलग चमकते हैं वैसे ही यज्ञसेन तथा माधवसेन वरदा नद नदी के उत्तर और दक्षिण तटों पर अपना-अपना राज्य स्थापित कर शासन करें।[3] हम देखते हैं कि इस अंक में नाटकीय-कौशल के साथ

१ देवी—कहं राअदारिआ इअं। चन्दणं सु मए पादुआपरिहोएण दूसिदं।

२ परिव्राजिका—नैतच्चित्रं त्वयि। कुतः
प्रतिपक्षेणापि पतिं सेवन्ते भर्तृवत्सलाः साध्व्यः।
अन्य सरितां शतानि हि समुद्रगाः प्रापयन्त्यब्धिम्॥ (मालवि०५।१९)

३ मालविका० ५।१३

मालविका के कुलशील की विज्ञप्ति, विदर्भ-विजय, अग्निमित्र के सम्राट् रूप आदि को सामंजस्यपूर्ण ढंग से उल्लिखित किया गया है।

नाटक के सम्पूर्ण कथानक के समीक्षणोपरान्त हम इस निष्कर्ष पर आते हैं कि इसमें सभी घटनाएँ स्वाभाविक रूप से परस्पर शृंखलाबद्ध हैं। इसकी सभी प्रासंगिक कथाएँ मुख्य कथा से सम्बद्ध हैं। इसकी सभी घटनाएँ सार्थक हैं। इसमें आन्तरिक एवं वाह्य संघर्षों को निपुणता के साथ प्रदर्शित किया गया है। अन्य नाटकों की भाँति इसमें विरहाग्नि में प्रेम का परिपाक नही हुआ है। इसका कार्यक्षेत्र राजमहल है, अतः इसमें तत्कालिक अवस्था का वास्तविक ज्ञान नही मिलता है।

अभिज्ञानशाकुन्तलम् : नाटकीय वस्तु

प्रथम अंक (स्थान—कण्व ऋषि का तपोवन)

सर्वप्रथम पत्रावली नान्दी में आठ स्वरूपों वाले शिव जी से सभी दर्शकों की रक्षा की याञ्चा की जाती है। इस नान्दी-गायन में ही प्रकारान्तर से नाटक की कथावस्तु का भी उल्लेख किया गया है। इसके बाद सूत्रधार विद्वत्-सभा में कालिदास विरचित कथावस्तु वाले अभिज्ञानशाकुन्तलम् नामक नये नाटक के अभिनय की सूचना देकर दर्शकों का ध्यान आकृष्ट करने के निमित्त नटी को ग्रीष्म कालिक गीत गाने कहता है। यथानिर्देश वह गीत गाती है (१।४)। इस गीत को सुनकर सूत्रधार कहता है कि सुन्दर वेगगामी इस हरिण द्वारा राजा दुष्यन्त के समान मैं भी तुम्हारे मनोमुग्धकारी गीत के राग से वलपूर्वक हर लिया गया हूँ (१।५)। यहाँ सूत्रधार अपने वार्त्तालाप के प्रसंग में राजा दुष्यन्त के नाम का उल्लेख करता है। नामनिर्देश से नाटकीय कथावस्तु प्रस्तावित हो जाती है।

अपने सारथि के साथ राजा दुष्यन्त शिकार के लिए वेग से मृग का पीछा करते हुए, हाथ में धनुषवाण लिये रथ पर आरूढ़ तपोवन में प्रवेश करते हैं। ज्योंही राजा वाण से मृग का वध करना चाहते हैं त्योंही कण्व का एक तपस्वी शिष्य वैखानस, उपस्थित होता है और सूचित करता है कि हे राजन् ! यह आश्रम का मृग अवध्य है। अत- इस कोमल मृग के शरीर पर फूलों के ढेर पर अग्नि के समान, यह वाण मत छोड़िए। दुःख की वात है कि कहाँ तो दया योग्य हरिणों का अतिचंवल यह जीवन और कहाँ तीक्ष्ण अग्रभाग से युक्त वज्र सदृश आपके ये वाण। भलीभाँति धनुष पर चढ़ाये हुए अपने वाण को शीघ्र उतार लीजिए। चूँकि आपका शस्त्र पीड़ितों की रक्षा करने के लिए है, निरपराध जीवों पर प्रहार करने

के लिए नहीं (१।१०-११)। इसे सुनते ही राजा बाण उतार लेता है। निर्देश के अनुकूल व्यवहार से प्रसन्न होकर वैखानस आशीर्वचनों के साथ राजा को कहता है कि पुरुवंश में उत्पन्न आपके लिए यह सर्वथा उचित है। इन गुणों से युक्त आप चक्रवर्ती पुत्र प्राप्त करें (१।१२)। पुनः समीपस्थ कण्व के आश्रम में चल कर अतिथि-सत्कार स्वीकार करने के लिए वैखानस राजा से अनुरोध करता है। आश्रम में कण्व ऋषि की उपस्थिति के बारे में पूछने पर तपस्वी उन्हें विदित करते हैं कि अपनी पुत्री शकुन्तला को अतिथि-सत्कार में नियुक्त कर इसके प्रतिकूल भाग्य को शान्त करने के लिए वे सोमतीर्थ गये हैं। राजा दुष्यन्त अपने सारथि को आश्रम के बाहर ही छोड़ कर स्वयं साधारण विनीत वेश में वहाँ प्रवेश करते हैं। वहाँ शकुन को सूचित करते हुए राजा कहता है कि यह तपोवन का शान्त स्थान है। मेरी दाहिनी भुजा फड़क रही है। इसका फल (यानि श्रेष्ठ स्त्री की प्राप्ति) यहाँ कैसे प्राप्त हो सकता है? अथवा होनहार घटनाओं के लिए सर्वत्र ही द्वार (मार्ग या साधन) हो जाते हैं (१।१६)। वहाँ वे आश्रम के वृक्षों को सींचती हुई तथा आपस में परिहास करती हुई शकुन्तला, अनसूया और प्रियम्वदा तीनों लावण्यवती युवतियों को देखते और सोचते हैं—अहो! मधुरमासां दर्शनम्।—यदि तपोवन में रहनेवाले लोगों का ऐसा शरीर है, जो अन्तःपुर में भी दुष्प्राप्य है, तो मानो वनलताओं ने अपने गुणों से उद्यान की लताओं को तिरस्कृत कर दिया है (१।१७)। वृक्ष की छाया में खड़ा होकर निहारते हुए राजा उनके आगमन की प्रतीक्षा करता है। इसके बाद अपनी दो सखियों के साथ वृक्षों में जल देती हुई शकुन्तला उपस्थित होती है। वह अनसूया से कहती है कि मेरा इन वृक्षों के प्रति सगे भाई के समान प्रेम है (अस्ति मे सोदरस्नेहोऽप्येतेषु)। राजा चमेली की नई कली के समान कोमल (नवमालिका कसुमपेलवा) शकुन्तला को पौधों के आलवाल में पानी डालते देखकर आदरणीय कण्व की असाधुदर्शिता पर विस्मित होता है और कहता है कि जो ऋषि कण्व सहज सुन्दर (अव्याज मनोहर) इसके शरीर के तप के योग्य बनाना चाहते हैं, वे निस्संदेह नील कमल की पंखुरियों की धार से शमीलता को काटने का यत्न करते हैं (१।१८)। वह कृशांगी शकुन्तला वल्कल वस्त्रों को धारण किये हुए होने पर भी अति सुन्दर मालूम पड़ती है (१।२०)। राजा शकुन्तला पर आसक्त हो जाता है और उसके रूप को चंचल भाव से देखकर कहता है। इसके अधरोष्ठ नवीन पत्र के समान लाल हैं। दोनों हाथ दो कमल-शाखाओं का अनुकरण करने वाले हैं। फूल के समान सुन्दर दृष्टिगोचर होने वाला यौवन इसके सभी अंगों में व्याप्त है (२।२१)। राजा इसकी उत्पत्ति के बारे में सोचते हैं कि कदाचित् यह कुलपति की असमान वर्ण की पत्नी से पैदा हुई हो। अतः निस्संदेह यह क्षत्रिय द्वारा स्वीकार्य है (१।२२)। इसी समय एक भौंरा जल के सिंचन से घबड़ा

कर उड़ा हुआ शकुन्तला के मुख पर भनभनाने लगता है। शकुन्तला अपने रस भरे अधरों (रतिसर्वस्वमधरम्) को छूने वाले भ्रमर से परित्राण पाने के लिए सखियों की सहायता चाहती है। दोनों सखियाँ थोड़ी हँसी के साथ कहती हैं—हम दोनों बचानेवाली कौन है ? (के आवां परित्रातुम्) दुष्यन्त को पुकारो (दुष्यन्तमाक्रन्द)। चूँकि तपोवन राजा द्वारा रक्षणीय हुआ करते है। उचित अवसर पाकर राजा अपने आपको सहसा प्रकट करता है। राजा को देखकर पहले सभी घबरा गयी। इसके बाद अनसूया अपनी सखी शकुन्तला के भौंरे से तंग किये जाने की बात बता कर उसे दिखाती है। यह सुनकर राजा दुष्यन्त शकुन्तला से पूछता है—क्या आपका तप बढ़ रहा है (अपि तपो वर्धते) ? शकुन्तला भयवश चुपचाप खड़ी रहती है। सखियों के अनुरोध से राजा सप्तपर्ण वृक्ष की वेदी (चबूतरे) पर बैठ जाते हैं। वे सभी उसके समीप बैठती है। राजा को देखकर शकुन्तला के भी मन में विकार पैदा हो जाता है, अतः वह विस्मित हो अपने आप सोचती है—किं नु खल्विमं प्रेक्ष्य तपोवनविरोधिनो विकारस्य गमनीयास्मि संवृत्ता। सभी को देखकर राजा कहता है कि आप लोगों की मित्रता समान आयु और रूप के कारण सुन्दर है। इसके बाद अनसूया राजा का परिचय पूछती है। यह सुनकर शकुन्तला मन ही मन कहती है—हृदय ! उतावले मत बनो। तुम्हारे द्वारा सोची गयी बात को ही अनसूया पूछ रही है (हृदय ! मोत्ताम्य। एषा त्वया चिन्तितान्यनसूया मन्त्रयते)। राजा अपना परिचय देते हुए कहता है कि जिसको पुरुवंशी राजा ने धर्माधिकारी के पद पर नियुक्त किया है, वह मैं निर्विघ्नता से युक्त तपोवन की धार्मिक क्रियाओं के बारे मे जानने के लिए यहाँ आया हूँ। अनसूया कहती है कि धर्माचरण करने वाले तपस्वी लोग अब सनाथ हो गये। शकुन्तला शृंगार की लज्जा का नाट्य करती है। दोनों के प्रेम भाव को देखकर दोनों सखियाँ कहती हैं कि यदि पिता कण्व आज यहाँ होते तो इस विशिष्ट अतिथि को अपने जीवन का सर्वस्व भी देकर कृतार्थ करते। वार्त्ताप्रसंग में राजा द्वारा शकुन्तला के जन्म एवं जाति आदि का परिचय पूछने पर अनसूया बताती हैं कि यह विश्वामित्र और मेनका नामक अप्सरा की पुत्री है। माता-पिता द्वारा त्यागी हुई इसके पालन-पोषण आदि द्वारा तात कण्व ही इसके पिता हैं। शकुन्तला के जन्म-वृत्तान्त को सुनकर राजा कहता है कि इस सौंदर्य की उत्पत्ति मनुष्य-लोक में कैसे हो सकती है ? तरल प्रभाव वाली बिजली पृथ्वीतल से कैसे निकल सकती है ? (१।२६) तब शकुन्तला संकोच से सिर झुका लेती है। पुनः राजा प्रियम्वदा से बेरोकटोक पूछने का निर्देश पाकर पूछता है। क्या तुम्हारी सखी शकुन्तला कामदेव के व्यापारों को रोकने वाले तापसव्रत का सेवन विवाह-पर्यन्त करेगी अथवा समान नेत्र होने के कारण प्रिय हरिणियों के साथ ही सदा निवास करेगी (१।२७) ? प्रियम्वदा उत्तर में कहती है कि आर्य ! यह

(शकुन्तला) धर्माचरण में भी पराधीन है। फिर भी पिता जी का विचार इसे किसी योग्य वर को देने का है। यह जानकर और शकुन्तला के क्षत्रिय कन्या होने के कारण दुष्यन्त उससे विवाह करना चाहता है। अतः अपने मन में कहता है कि हे हृदय ! अब सन्देह का निर्णय हो चुका है। जिसे तुम अस्पृश्य अग्नि समझ रहा था वह तो स्पर्श करने योग्य रत्न है (आशंकसे यदग्निं तदिदं स्पर्शक्षमं रत्नम्) (१।२८)। अब शकुन्तला ज्योंही चली जाना चाहती है त्योंही प्रियम्वदा उससे कहती है कि तू मेरे दो वृक्षों को सींचने की ऋणी है, अतः ऋणमुक्त होकर ही जा सकेगी। इस प्रकार कह कर उसे जबरदस्ती लौटा लेती है। इस पर राजा अनुराग-व्यंजक सहानुभूति-स्निग्ध शब्दों में कहता है—भद्रे ! वृक्षों को सींचने से ही मैं इसे थकी देख रहा हूँ (१।३०)। अतः मैं इसे ऋणमुक्त करता हूँ। यह कह कर राजा अपनी अंगूठी शकुन्तला को देना चाहता है। नामङ्कित अंगूठी के अक्षरों को पढ़कर दोनों सखियाँ एक दूसरी की ओर देखती हैं। इसे विस्मित देखकर राजा कहता है कि मुझे कुछ और न समझें। यह राजा का उपहार है। इस पर प्रियम्वदा कहती है कि यह अंगूठी आपकी अंगुली के वियोग योग्य नहीं है। आपके वचनमात्र से अब यह ऋणमुक्त हो गयी। इसके बाद राजा दुष्यन्त मन ही मन सोचते है कि शकुन्तला भी उनके प्रति अनुरक्त है क्योकि यद्यपि वह स्वयं मुझ से बातचीत नही करती, तो भी जब मै बोलने लगता हूँ तब वह कान लगा कर मेरी बातें सुनती है और मेरे सम्मुख न बैठने पर भी इसकी दृष्टि प्रायः अन्य विषयों की ओर नही है (१।३१)। इसी समय नेपथ्य से आवाज सुनाई पड़ती है कि तपस्वियो ! तपोवन की रक्षा के लिए आपलोग एकत्र हो जाइए। शिकार के लिए घूमने वाला राजा दुष्यन्त निकट में ही है। साथ ही एक विक्षुब्ध हाथी तपोवन में घुस रहा है। यह सुनकर दोनों सखियाँ घबड़ा कर अपनी कुटिया में जाने के लिए राजा से अनुमति माँगती है। उन्हें जाने की अनुमति देकर राजा स्वयं अपने सैनिकों को रोकने के लिए प्रस्थान करता है। अतिथिसत्कार नही हो सकने के कारण दोनों सखियाँ शिष्टा-चार के साथ राजा से पुनः दर्शन देने के लिए निवेदन करती हैं। पैर में कुश के काँटे चुभने और कुरवक वृक्ष की शाखा में वल्कल वस्त्र के फँस जाने के बहाने कुछ देर रुक कर राजा को निहारती हुई सखियों के साथ शकुन्तला चली जाती है। इसे इस प्रकार टकटकी लगाकर निहारती देखकर राजा पूर्णतः आश्वस्त हो जाता है। अब अपने नगर की ओर जाने को उसकी उत्सुकता समाप्त हो जाती है। वह कहता है कि शकुन्तला की ओर प्रवृत्त हुए अपने को मैं रोक नहीं सकता हूँ क्योंकि मेरा शरीर आगे की ओर बढ़ रहा है, किन्तु मेरा मन वायु से विपरीत दिशा में ले जाये जाते हुए ध्वजा के चीनी रेशमी वस्त्र के समान अपरिचित सा होकर पीछे शकुन्तला की ओर दौड़ रहा है (१।३४)।

द्वितीय अंक (स्थान—कण्व ऋषि का तपोवन)

खिन्न दशा में विदूषक का प्रवेश होता है। वह मृगया से तंग होकर अपने अनेक कष्टों का वर्णन तथा शकुन्तला पर दुष्यन्त की प्रेमासक्ति का चित्रण करता है। राजा दुष्यन्त भी अपनी कामपीड़ित दशा एवं शकुन्तला के प्रति प्रगाढ़ आसक्ति का वर्णन करते हुए विगत आलाप-संलाप का स्मरण करता है (२। १-२)। विदूषक राजा से कहता है कि इस तरह राजकीय कार्यों का परित्याग कर ऐसे हिंसक वन्य पशुओं से भरे प्रदेश में तुम वनचरों के समान व्यापार वाले हो गये हो। सचमुच नित्य हिंसक वन्य जन्तुओं का पीछा करने के कारण मेरे शरीर के जोड़ ढीले पड़ गये हैं। अतः कृपया प्रसन्न होकर एक दिन विश्राम कीजिए। उसके अनुरोध पर राजा शिकार खेलना बन्द कर देता है। सेनापति विदूषक के विचार के विपरीत मृगया के महत्त्व को बताते हुए कहता है कि शिकार खेलने से शरीर, चर्बी के कम हो जाने के कारण छोटे पेट वाला, हल्का, या चुस्त उद्योग करने योग्य हो जाता है। ऐसा देखा जाता है कि भय एवं क्रोध की स्थिति में जन्तुओं का भी मन क्षुब्ध एवं विकार युक्त हो जाता है। यह धनुर्धारियों के उत्कर्ष की बात है कि चंचल लक्ष्य पर उनके बाण सफल होते हैं। लोग व्यर्थ ही इसे व्यसन कहते हैं। वस्तुतः ऐसा मनोरंजन तो अन्यत्र कहीं नही है (२।५)। यह सुनकर विदूषक उसे क्रोधावेश में डाँटने-फटकारने लगता है। राजा शिकार के विचार को अस्वीकृत कर तत्क्षण सेनापति द्वारा सैनिकों को आज्ञा देता है कि वे तपोवनवासी तपस्वियों को कुछ भी कष्ट नहीं दें। क्योंकि शान्ति प्रधान तपस्वी जनों के अन्दर ज्वलनशील तेज प्रच्छन्न रूप में रहता है। सुस्पृश्य, सूर्यकान्त मणियों के समान अन्य तेजों से तिरस्कृत होने पर वे (तपस्वी) उस आन्तरिक तेज को उगलने लगते हैं (२।७) महाराज की आज्ञा शिरोधार्य कर सेनापति आदि सभी परिचर समुदाय चले जाते है। अब एकान्त में राजा शकुन्तला के सम्बन्ध मे, अपनी आसक्ति को प्रकट करते हुए विदूषक से कहता है। इस पर हँसते हुए विदूषक कहता है कि जैसे पिण्ड खजूर खाने से ऊबे हुए किसी व्यक्ति की इमली खाने की इच्छा होती है वैसे ही उत्तम स्त्रियों का तिरस्कार करने वाले आपकी यह प्रार्थना है। यह सुनकर राजा शकुन्तला के रूप-लावण्य का वर्णन करते हुए कहता है। स्रष्टा विधाता की सृष्टि-निपुणता और शकुन्तला के शरीर के बारे में विचार करने पर वह मुझे ब्रह्मा द्वारा पहले चित्र निर्माण कर उसमें प्राण का संचार कर अथवा मन से मानों सौन्दर्य-समूह को एकत्रित कर बनायी हुई एक अद्भुत स्त्री-रत्न प्रतीत होती है (२।९)। इतना ही नहीं उसका निर्दोष रूप-सौन्दर्य बिना सूँघे हुए फूल, नाखूनों से बिना छेदे हुए किसलय, बिना बींधे हुए

रत्न, बिना चखे हुए मधु तथा बिना भोगे हुए पुण्यों के फल के समान पवित्र तथा अखंड है। न जाने, विधाता किसे उसका उपभोक्ता बनायेगा (२।१०)। पुनः राजा अपने प्रति शकुन्तला द्वारा प्रदर्शित भाव-भंगिमाओं एवं राग-चेष्टाओं का वर्णन करते हुए आश्रम में कुछ दिन निवास करने के लिए विदूषक से बहाना सोचने कहता है। विदूषक कहता है कि आप उन्हें नीवार का छठा भाग लाकर देने कहें। उसके इस परामर्श को ठुकराते हुए राजा कहता है कि राजाओं को चारों वर्णों से प्राप्त धन नाशवान् है। लेकिन ये तपस्वीजन तो अनश्वर अपनी तपस्या का षष्ठांश देते हैं। इसी समय दो ऋषिकुमार वहाँ उपस्थित होते हैं और ऋषियों के समान राजा दुष्यन्त के आचरण का विश्लेषण करते हुए (२।१४-१५) आश्रम में होने वाली यज्ञ क्रियाओं में राक्षसों द्वारा किये जाने वाले विघ्नों की सूचना देते हैं। साथ ही इस परिस्थिति में कुछ रात तक सारथि सहित यहाँ रुक कर रक्षा करने का उन्हें वे लोग अनुरोध करते हैं। राजा उसकी प्रार्थना को सहर्ष स्वीकार करता है। उनके आदेशानुसार जाने के लिए रथ के तैयार होने और महारानी का संदेश लेकर नगर से करभक के आने की सूचना दौवारिक (द्वारपाल) आकर देता है। करभक (दूत) उन्हें सूचित करता है कि आपकी माता जी ने आगामी चौथे दिन उपवास की पारणा के अवसर पर आपको बुलाया है। इस संदेश को सुनकर राजा कहता है कि इधर तपस्वियों का कार्य है और उधर गुरुजनों की आज्ञा है। वस्तुतः दोनों ही अनुल्लंघनीय हैं। ऐसी द्वैध की स्थिति में राजा सोचकर विदूषक से कहता है कि मुझे माता जी पुत्रवत् मानती हैं, अतः तुम यहाँ से लौटकर, मुझे तपस्वियों के कार्य में संलग्न बता कर, पूजनीय माताओं का पुत्रकार्य सम्पन्न कर सकते हो। विदूषक के साथ ही राजा अपनी सम्पूर्ण सेनाओं को भी राजधानी हस्तिनापुर भेज देता है। जाते समय राजा यह सोचकर कि विदूषक अपने चंचलस्वभाव वश कहीं हमारी शकुन्तला से प्रेम से सम्बधित सारी बातों को अन्तःपुर की रानियों से न कह दे, उसे समझाता है। मित्र ! ऋषियों के प्रति आदरभाव के कारण मैं आश्रम में जा रहा हूँ। वस्तुतः तपस्वी-कन्या शकुन्तला के प्रति मेरी कोई इच्छा नहीं है। कहाँ मैं और कहाँ हरिणों के बच्चों के साथ वृद्धि को प्राप्त कामभाव से सर्वथा अनभिज्ञ शकुन्तला ? हास्य में कही गयी सारी बातों को सच मत मान लेना (२।१८)।

तृतीय अंक (स्थान—कण्व ऋषि का तपोवन)

ऋषिशिष्य हाथ में कुश लिये हुए प्रवेश करता है और दुष्यन्त के प्रभाव के बारे में कहता है कि आश्रम में उनके आते ही सभी धार्मिक कृत्य विघ्न रहित

हो गये हैं। वह बिछाने के लिए कुशों को ऋत्विजों के पास ले जाता है और परिक्रमा करते हुए आकाश की ओर देख कर शकुन्तला की अस्वस्थता एवं उपचार के बारे में सुनने का अभिनय करता है। इस तरह शुद्ध विष्कम्भ में विगत एवं भावी कथांश को दिखाया गया।

इसके बाद कामपीड़ित अवस्था में राजा आता है। वह शकुन्तला के प्रति अपनी प्रगाढ़ आसक्ति की अभिव्यक्ति करते हुए कामपीड़ा का अनुभव करके कुसुमवाणों वाले कामदेव और शीतल कहे जाने वाले चन्द्रमा को उपालम्भ देता है। वह कहता है कि ये दोनों मुझ जैसे कामपीड़ितों के लिए असत्य दिखाई पड़ते हैं। क्योंकि चन्द्रमा अपनी शीतल किरणों से मेरे ऊपर अग्नि की वर्षा करता है और तुम भी अपने पुष्पवाण को वज्र के समान कठोर बना लेते हो (३।३)। यज्ञ सम्पन्न हो जाने पर ऋषियों से जाने की अनुमति पाकर राजा दुष्यन्त विरहाकुल अवस्था में मालिनी-तट पर बने उस लतामंडप में जाता है जहाँ शकुन्तला प्रायः बैठा करती थी। वहाँ वह शाखाओं के मध्य-भाग में कुसुमों की शय्यावाली शिला की पटिया पर लेटी हुई दो सखियों द्वारा सेवित शकुन्तला को देखकर कहता है कि मेरी आँखों को सम्पूर्ण आनन्द मिल गया (अये, लब्धं नेत्रनिर्वाणम्)। वह छिप कर उनकी आपस की बातचीत को खड़ा होकर सुनता है। अनसूया ऐतिहासिक ग्रन्थों में वर्णित कामपीड़ितों के लक्षणों को शकुन्तला की स्थिति पर घटित देखकर उससे वस्तुस्थिति के बारे में पूछती है। शकुन्तला अपनी कामपीड़ा का कारण बताती हुई कहती है कि जब से तपोवन की रक्षा करने वाले राजर्षि दुष्यन्त मेरे दृष्टिपथ में आये हैं तब से उसकी अभिलाषा के कारण मैं इस अवस्था को प्राप्त हो गयी हूँ। अतः यदि तुम दोनों की अनुमति हो तो ऐसा उपाय करो कि जिससे मैं उसकी कृपा की पात्र हो जाऊँ। अन्यथा मैं जीवित नहीं रह सकूँगी। यह सुनकर प्रियम्वदा मिलन की सम्भावना पर विचार करती हुई अनसूया से कहती है कि वह राजर्षि भी प्रेमभरी दृष्टि से शकुन्तला को देखकर अपनी अभिलाषा प्रकट कर चुका है। इन दिनों रात्रि-जागरण के कारण वे दुर्बल मालूम पड़ते हैं। अतः वह विचार कर कहती है कि हे सखी! उनके लिए शकुन्तला से एक मदनलेख (प्रणयपत्र) लिखवाओ। उसे फूलों में छिपा कर देवता के प्रसाद के बहाने मैं उनके पास पहुँचा दूँगी। अपनी सखियों के निर्देशानुसार शकुन्तला कमलपत्र पर नाखूनों से पत्र मे लिखती है कि हे निर्दय! मैं तुम्हारे हृदय को नहीं जानती। परन्तु तुम्हारी ओर अभिलाषयुक्त मेरे अंगों को कामदेव दिनरात अत्यधिक संतप्त कर रहा है (३।१३)। इसकी अर्थसंगति के बारे में सखियों के विचार को जानने के लिए वह उन्हें सुनाती है। इसी समय एकाएक उन लोगों के समीप में जाकर दुष्यन्त कहता है कि कृशांगी! कामदेव तुझे निरन्तर तपा

रहा है, किन्तु मुझे तो वह जला ही रहा है। दिन जितना चन्द्रमा को कान्ति-विहीन करता है, उतना ही कुमुदिनी को नहीं (३।१४)। दोनों सखियाँ अविलम्ब उपस्थित मनोरथ का स्वागत करती हैं। शकुन्तला भी उसके स्वागतार्थ ज्योंही उठना चाहती है त्योंही उसे कष्ट करने से रोकते हुए राजा कहता है कि महान् संतापयुक्त तुम्हारे अंग शिष्टाचार का पालन करने योग्य नहीं हैं। अनसूया के कहने पर राजा शिलातल पर बैठ जाता है। शकुन्तला उसे देख कर लज्जित हो जाती है। प्रियम्वदा राजा से कहती है कि हमारी सखी शकुन्तला आपको ही लक्ष्य करके भगवान् कामदेव द्वारा इस शोचनीय दशा को पहुँचा दी गयी है। अतः उचित है कि आप अपने अनुग्रह द्वारा इसके जीवन की रक्षा करें। राजा उत्तर देता है कि यह प्रार्थना दोनों ओर से समान है। मैं सर्वथा आपका अनुगृहीत हूँ। इसके बाद अनसूया राजा से कहती है कि हे मित्र! सुना जाता है कि राजाओं की अनेक प्रियतमाएँ हुआ करती हैं। अतः इसके साथ वैसा व्यवहार कीजिएगा जिससे हमारी प्रिय सखी के लिए बन्धुजन शोक न करें। इस पर राजा उन्हें आश्वस्त विश्वस्त करते हुए कहता है कि अनेक स्त्रियों के होने पर भी मेरे वंश की दो ही प्रतिष्ठाएँ हैं—समुद्र रूपी मेखला से युक्त पृथ्वी और तुम्हारी यह सखी शकुन्तला (३।१७)। यह सुन दोनों सखियाँ निश्चिन्त हो जाती हैं और अकस्मात् वहाँ उपस्थित हुए हरिण के बच्चे को उसकी माँ के पास पहुँचाने के बहाने राजा एवं शकुन्तला को एकान्त में छोड़कर वहाँ से चली जाती हैं। जब शकुन्तला भी जाना चाहती है तो दुष्यन्त अनेक रोमांचक बातों के साथ राग का प्रदर्शन कर बलपूर्वक उसे लौटा लेता है। शकुन्तला कहती है कि पुरुवंशी राजन्! शील की रक्षा कीजिए। काम-पीड़ित भी मुझे अपने पर अधिकार नहीं है। वश क्या था। यह सुन कर राजा शकुन्तला के समक्ष गन्धर्व विवाह का प्रस्ताव रखता है (३।२०)। शकुन्तला कहती है कि मुझे अभी छोड़ दो। मैं पुनः अपनी सखियों से अनुमति लूँगी। राजा कहता है कि हे सुन्दरी! भ्रमर के द्वारा नवविकसित पुष्प के रस के समान, प्यासे द्वारा अक्षत तथा कोमल तेरे अधर का रस दयाभाव के साथ पिया जा रहा है, उसके बाद तुझे छोड़ूँगा। इतना कहकर वह शकुन्तला के मुँह को ऊपर उठाना चाहता है। शकुन्तला उसे रोकने का अभिनय करती है।

इसी समय नेपथ्य से आवाज आती है। हे चकवा की वहू! अपने साथी से विदा ले लो। रात्रि आ गयी है। शकुन्तला से आर्या गौतमी के आने की बात जान कर उसके कथनानुसार राजा शाखाओं की आड़ में छिप कर खड़ा हो जाता है। तदनन्तर हाथ में पात्र लिए हुए गौतमी और दोनों सखियाँ उपस्थित होती हैं।

गौतमी शकुन्तला के सिर पर शान्ति-जल छिड़कती है। इसके वाद गौतमी चली जाती है। शकुन्तला मन ही मन कहती है कि हे हृदय ! पहले ही अनायास मिले हुए मनोरथ (दुष्यन्त) के होने पर तुमने कातरता को नहीं छोड़ा। अब पश्चात्ताप-पूर्वक पृथक् होने पर तुझे संताप क्यों है ? हे दुःखहारक लतामंडप ! फिर सेवन करने के लिए मैं तुमसे विदा माँगती हूँ। यह कह कर वह अन्य स्त्रियों के साथ चली जाती है। राजा दुष्यन्त भी राक्षसों के द्वारा यज्ञ में डाले जाने वाले विघ्नों को दूर करने के लिए प्रस्थान करता है।

चतुर्थ अंक (स्थान—कण्वऋषि का तपोवन)

पुष्पचयन करती हुई शकुन्तला की दोनों सखियां आती हैं। इस अंक में शुद्ध विष्कम्भक से विगत एवं भावी घटनाओं का ज्ञान होता है। अनसूया प्रियम्वदा से कहती है कि यद्यपि गान्धर्व विधि से विवाहित होकर शकुन्तला ने अपने अनुकूल पति को प्राप्त कर लिया है। इससे मेरा मन अवश्य शान्त हो गया है किन्तु यह विचारणीय है कि अपने अन्तःपुर की रमणियों से मिलने पर राजा दुष्यन्त यहाँ के वृत्तान्त को याद रक्खेगा या नहीं ? प्रियम्वदा कहती है कि इस प्रकार की विशेष आकृतियाँ गुणों की विरोधी नहीं होती हैं। लेकिन पिता कण्व इस समाचार को सुनकर पता नहीं क्या कहेंगे ? अनसूया कहती है कि उन्हें मान्य होगा। क्योंकि गुणवान् व्यक्ति को कन्या देनी चाहिए—यह माता-पिता का प्रथम विचार हुआ करता है। सौभाग्यवश वैसा ही हुआ है।

इसके वाद नेपथ्य से आवाज आती है—ओह, मुझ अतिथि का अनादर करनेवाली ! एकाग्रचित्त हो तू जिसका चिन्तन करती हुई स्वयं आये हुए तपस्वी को नहीं जान रही है वह तुमसे स्मरण दिलाने पर भी तुझे वैसे याद नहीं कर सकेगा जैसे उन्मत्त व्यक्ति पहले कही हुई वात को स्मरण नहीं कर पाता है (४।१)। प्रियम्वदा दुर्वासा ऋषि को लौटने के लिए आग्रह करती हैं। पर जब वे नहीं लौटते हैं तब उनसे निवेदन करती है कि भगवन् ! प्रथम अपराध है, यह विचार कर तप के प्रभाव से अज्ञात अपनी पुत्री शकुन्तला के एक अपराध को आप को क्षमा कर देना चाहिए। इसके अनुनय-विनय पर उन्होंने अपने शाप में थोड़ा सुधार करते हुए कहा कि मेरा वचन असत्य नही हो सकता है, लेकिन पहचान के आभूषण को दिखलाने से शाप समाप्त हो जायेगा। यह सुन कर अनसूया धैर्य धारण कर कहती है कि शन्कुतला दुष्यन्त के द्वारा प्रदत्त उनके नामाक्षरित अंगूठी को इसके लिए यथावसर उपयुक्त बना लेगी। चिन्ताकुल रहने के कारण इस वृत्तान्त को दोनों की सखियों ने शकुन्तला को नहीं बताया।

तदनन्तर कण्व ऋषि का शिष्य प्रवेश करता है और यथानिर्देश अपने गुरुजी को हवन के समय की सूचना देने जाता है। इधर अनसूया यह सोचकर चिन्तामग्न है कि राजा दुष्यन्त से यथोक्त प्रतिज्ञानुसार न तो शकुन्तला को ले जाने के लिए अपने आदमी को ही भेजा है न पत्र ही भेजा है। हो सकता है, दुर्वासा का शाप विकार उत्पन्न कर रहा है। अतः वह पहचान की अँगूठी उसके पास भेजना चाहती है, किन्तु फिर वह सोचती है कि एतदर्थ किसे भेजा जाय। अथवा विवाहिता एवं गर्भिणी शकुन्तला के बारे में प्रवास से लौटे पिता काश्यप को कैसे सूचित किया जाय। इसी अवसर पर प्रियम्वदा आती है और शकुन्तला के प्रस्थानकाल के मांगलिक कृत्यों की तैयारी की सहर्ष सूचना देती है। वह यह भी बताती है कि लज्जा के कारण अवनत मुख वाली शकुन्तला का आलिंगन कर पिता कण्व ने यह कह कर अभिनन्दन किया—सौभाग्य से धुएँ से व्याकुल दृष्टि वाले भी यजमान की आहुति अग्नि में ही पड़ी। पुत्री ! योग्य शिष्य को दी हुई विद्या की भाँति तुम चिन्ता का विषय नहीं रही हो। आज ही ऋषियों से सुरक्षित करके तुझे अपने पति के पास भेज रहा हूँ। यज्ञशाला में आने पर शरीर रहित छन्दोमयी वाणी ने बतलाया कि हे ब्राह्मण ! राजा दुष्यन्त के द्वारा आधान किये गये तेज (शुक्र) को पृथ्वी के कल्याण के लिए धारण करने वाली अपनी पुत्री को अपने अन्तर्गत अग्नि को धारण करने वाले शमीवृक्ष के समान समझो।[1]

गोरोचन, तीर्थों की मिट्टी, दूब के अंकुर आदि मांगलिक वस्तुओं को हाथ में लिये हुए अनसूया स्नानादि क्रिया के बाद तपस्वियों से अभिनन्दन की जाती हुई शकुन्तला के समीप अपनी सखी प्रियम्वदा के साथ जाती है। पतिगृह जाते समय तपस्विनियाँ सखियाँ उसे मंगलमूलक अशीर्वाद[2] देती हैं। अनसूया और प्रियम्वदा के द्वारा मांगलिक प्रसाधन करने पर शकुन्तला आँखों से आँसू बहाती हुई कहती है—अब मेरे लिए आपलोगों द्वारा अलंकृत किया जाना दुर्लभ हो जायगा। उसके अलंकरणार्थ पिता काश्यप के प्रभाव से वनस्पतियों द्वारा प्रदत्त रेशमीवस्त्र, लाक्षारस एवं आभूषणों को हाथ में लिये हुए दो ऋषिकुमार उपस्थित होते हैं।

---

१ दुष्यन्तेनाहितं तेजो दधानां भूतये भुवः।
अवेहि तनयां ब्रह्मन्नग्निगर्भां शमीमिव ॥४।४॥ अभि० शा०, पृ० २०७।

२. तपस्वीनामन्यतमा—(शकुन्तलां प्रति) जादे ! भत्तुणो बहुमानसूअअं महादेई !
द्वितीया—वच्छे ! वीरप्पसविणी होहि।
तृतीह—वच्छे ! भत्तुणो बहुमदा होहि।
सख्यौ (उपसृत्य)—सही ! सुहमज्जणं दे होदु।
—अभि० शाकुन्तलम् (डा० सुरेन्द्रदेव शास्त्री) : पृ० २११-२१३।

शकुन्तला को देखकर प्रियम्वदा कहती है कि सखी ! वनस्पतियों के इस अनुग्रह से सूचित होता है कि तुम अपने पति के घर में राजलक्ष्मी का अनुभव (उपभोग) करोगी। इसके बाद स्नान करके वे आते हैं और चिन्तनशील मुद्रा में कहते हैं कि आज शकुन्तला चली जायगी, इसलिए मेरा मन दुख से भर रहा है। अश्रुप्रवाह को रोकने से मेरा गला रूँध गया है। मेरी दृष्टि चिन्ता के कारण निश्चेष्ट हो गयी है। वनवासी मुझे जब शकुन्तला के प्रति प्रेम के कारण ऐसी व्याकुलता है तब पहली बार पुत्री के वियोग से उत्पन्न दुःखों से गृहस्थ लोग कितने अधिक दुःखी होते होंगे ? शकुन्तला लज्जा के साथ उन्हें प्रणाम करती है। काश्यप उसे आशीर्वाद देते हुए कहते हैं कि हे पुत्री ! शर्मिष्ठा जिस प्रकार राजा ययाति की अतिप्रिय रानी थी उसी प्रकार तुम भी पति की प्रिय रानी होओ। उसने जिस प्रकार भावी सम्राट् पुत्र पुरु को प्राप्त किया, उसी प्रकार तुम भी भावी सम्राट् (चक्रवर्त्ती) पुत्र को प्राप्त करो (४।७)। इसे सुन कर गौतमी कहती है कि यह सिर्फ आशीर्वाद नही वस्तुतः वरदान है। तदुपरान्त पिता के निर्देशानुसार सभी आहुति दी गयी अग्नियों की परिक्रमा करते हैं। काश्यप ऋग्वेद के छन्द में निर्मित श्लोक (४।८) द्वारा शकुन्तला को आशीर्वाद देकर प्रस्थान करने का आदेश देते हैं। उस अवसर पर समीपवर्ती तपोवन के वृक्षों को सम्बोधित कर इसे पतिगृह जाने की अनुमति देने कहते हैं (४।९)। इसी समय कोयल की कूक सुनाई पड़ती है। इसी से वे समझ लेते हैं कि इन वृक्षों ने अव्यक्त मधुर कोयल के शब्दों के माध्यम से जाने की अनुमति दे दी है (४।१०)। शकुन्तला के कल्याणकर मार्ग होने और शान्त अनुकूल पवन के चलने की शुभ कामना युक्तवाणी आकाश में सुनाई पड़ती है (४।११)। इसे सुनकर गौतमी कहती है कि हे पुत्री ! बन्धुजनों की भाँति प्रेम करनेवाले तपोवन के देवताओं ने तुझे जाने की अनुमति दे दी है। शकुन्तला देवताओं को प्रणाम कर और हाथ की ओट से चुपके से प्रियम्वदा को कहती है। हे सखी ! आर्यपुत्र (पति) को देखने के लिए उत्कण्ठित होने पर आश्रम भूमि को छोड़ते हुए मेरे कदम बड़ी कठिनाई से आगे बढ़ रहे हैं। प्रियम्वदा कहती है कि तेरी तरह ही तपोवन की भी दशा हो रही है। हरिणों ने कुशों के ग्रासों को उगल दिया है, मयूरों ने नाचना छोड़ दिया है तथा लताएँ पीले-पीले पत्तों को गिरा कर मानो आँसू बहा रही हैं (४।१२)। इसके बाद वह वनज्योत्स्ना लता को शाखारूपी बाहुओं से आलिंगन करने कहती है। जब शकुन्तला अपनी सखियों को कहती है कि इस लता को तुम्हारे हाथ में धरोहर के रूप में छोड़ती हूँ तब वे दोनों सखियां आँसू बहाती हुई कहती हैं — हम दोनों को किसके हाथ में सौंपती हो ? पिता कण्व से शकुन्तला कहती है कि इस मृगी के सकुशल प्रसव कर लेने पर शुभ समाचार देने के लिए किसी व्यक्ति को आप मेरे पास अवश्य

भेजिएगा। शकुन्तला द्वारा पुत्रवत् पालित मृग वस्त्र से चिपट कर उसका रास्ता छेंक लेता है (४।१४)। उस मृग को शकुन्तला लौट जाने कहती है और स्वयं रोती हुई प्रस्थान करती है। काश्यप उसे धैर्यपूर्वक आँसू रोकने कहते हैं क्योंकि ऊँची-नीची भूमि को नहीं देख सकने के कारण उसके पैर लड़खड़ा रहे हैं। कुछ दूर चलने के बाद पीपल की छाया में सभी बैठ जाते हैं। शकुन्तला चुपके से कहती है—सखी ! देखो कमल के पत्तों की ओट में बैठे हुए भी अपने साथी चकवा को न देख सकने के कारण व्याकुल यह चकवी जोर से चिल्ला रही है कि मैं दुष्कर कर्म कर रही हूँ। इस पर सनसूया उसे समझाती है कि सखी ! ऐसी बात न कहो। यह भी अपने प्रियतम के बिना दुःख के कारण बड़ी लम्बी रात को बिताती है। परन्तु आशा का बन्धन वियोग के बहुत बड़े दुःख को भी सहन करा देता है (४।१६)। इसके बाद सोच-विचार कर काश्यप ऋषि शार्ङ्गरव से कहते है कि शकुन्तला को आगे करके तुम मेरी ग्रोर से राजा को संदेश में कहना—हमलोगों के पास केवल तपस्या रूपी धन है, आपका भी वंश ऊँचा है तथा आपके प्रति शकुन्तला का जो प्रेम हुआ है, वह आपके वंश को किसी प्रकार अवनत नहीं करेगा। इन बातों को अच्छी तरह सोच-विचार कर आप इसे अपनी स्त्रियों में समान भाव से देखिएगा। इससे आगे भाग्य के अधीन है। वह हम वधू के सम्बन्धियों को नहीं कहना चाहिए (४।१७)। तत्पश्चात् वे शकुन्तला को पतिगृह में पहुँचने पर कर्त्तव्य आचरण का उपदेश देते हुए कहते हैं कि अपने गुरुजनों की सेवा करना। अपनी सौतों के साथ प्रिय सखी के समान व्यवहार करना। अपमानित होने पर भी क्रोधवश आवेश में प्रतिकूल कार्य मत करना। अपने आश्रितों के प्रति अत्यन्त उदार रहना। अपने सौभाग्य पर गर्व न करना। इस प्रकार का व्यवहार करने से स्त्रियाँ गृहलक्ष्मी के पद को अनायास प्राप्त कर लेती हैं तथा इसके विपरीत आचरण करनेवाली स्त्रियाँ अपने घर वालों के हृदय में दुःख पैदा करने वाली होती हैं (४।१८)। यथा निर्देश पिता का आलिंगन कर शकुन्तला कहती है कि अब पिता की गोद से छूटी हुई मैं, मलयपर्वत के किनारे से उखाड़ दी गयी चन्दन-लता के समान दूसरे देश में कैसे प्राण धारण करूँगी ? इस पर प्रबोध देते हुए कण्व कहते हैं कि तुम महाकुलीन पति की गृहस्वामिनी बन कर अपार धनराशि से भरी-पूरी गृहस्थी सम्हालने में व्यग्र रहती हुई शीघ्र ही जिस प्रकार पूर्व दिशा में पवित्र सूर्य को जन्म देती है, उसी प्रकार पवित्र पुत्र को पैदा कर मेरे वियोग से संजात दुःख का अनुभव नहीं करोगी (४।१९)। इसके बाद दोनों सखियाँ शकुन्तला का आलिंगन कर कहती हैं कि हे सखी ! यदि वह राजा तुम्हें पहचानने में कुछ विलम्ब करे तो उसे उसके नाम से अंकित इस अँगूठी को दिखला देना। सखियों के ऐसे सन्देश से जब शकुन्तला घबड़ा जाती है तब दोनों सखियाँ कहती हैं कि डरो नहीं।

प्रेम अनिष्ट की आशंका करने वाला होता है। शकुन्तला के पूछने पर कण्व कहते हैं कि चिरकाल पर्यन्त चारों समुद्रों तक व्याप्त पृथ्वी की सौत रहकर अद्वितीय वीर दुष्यन्त के पुत्र भरत को राजसिंहासन पर बैठा कर एवं परिवार के भार को उस पर डाल कर अपने पति दुष्यन्त के साथ इस शान्त आश्रम में पुनः आकर रहोगी (४।२०)। जाने का समय हो जाने के कारण शकुन्तला पिता कण्व से चिपट कर कहती है कि आपका शरीर तपस्या के कारण अति दुर्बल हो गया है। अतः आप मेरे लिए अधिक दुःखी न हों। तदनन्तर कण्व तेरा मार्ग कल्याणकारी हो (शिवास्ते पन्थानः सन्तु) कह कर जाने की अनुमति देते हैं। गौतमी, शार्ङ्गरव और शारद्वत के साथ शकुन्तला प्रस्थान करती है। कुछ देर के बाद प्रियम्वदा और अनसूया भी कण्व के पीछे-पीछे आश्रम की ओर चल देती है। तपोवन के पास आकर दोनों सखियाँ कण्व से कहती हैं कि शकुन्तला रहित इस शून्य तपोवन में हम कैसे प्रवेश करें ? कण्व कहते हैं कि तुम्हारी प्रेम की प्रवृत्ति ऐसा दिखला रही है। सोच-विचार कर वे कहते हैं कि शकुन्तला को पति के घर भेज कर मुझे मानसिक शान्ति मिली है। क्योंकि वस्तुतः कन्या दूसरे का ही धन है। आज उसे पति के पास भेज कर मेरी यह अन्तरात्मा उसी तरह अत्यधिक प्रसन्नता का अनुभव कर रही है, जैसे धरोहर के लौटा देने पर (४।२२)।

पंचम अंक स्थान—(हस्तिनापुर में राजा दुष्यन्त का राजमहल)

आसनस्थ राजा दुष्यन्त तथा विदूषक का प्रवेश होता है। विदूषक राजा से कहता है कि संगीतशाला से मधुर गीत की आवाज सुनाई पड़ रही है, इसे कान देकर आप सुनें। वे सुनते हैं, हे भ्रमर ! नये पुष्प-रस के लोभी तुम आम्र की मंजरी का उस प्रकार चुम्बन (रसास्वादन) करके अब कमल में निवास मात्र से संतुष्ट होकर इसे क्यों भूल गये हो (५।१) ? इसे सुनकर राजा आश्चर्य के साथ कहता है कि अनुराग बरसाने वाला गीत है (अहो रागपरिवाहिनी गीतिः)। इसके अभिप्राय को समझ कर राजा मुस्कुराता हुआ कहता है कि हंसपदिका से मैंने सिर्फ एक बार ही प्रेम किया था। अतः इसने महारानी वसुमती को लक्ष्य करके मुझे बहुत बड़ा उलाहना दिया है। तुम मेरी ओर से हंसपदिका से कहना कि उसने अति चतुराई से मुझे उलाहना दिया है। यथादेश विदूषक सूचित करने जाता है। राजा मन में सोचता है कि इस भावपूर्ण गीत को सुनकर प्रियजन के वियोग बिना भी मैं क्यों अत्यधिक व्यग्र हो रहा हूँ तदनन्तर कंचुकी प्रवेश करता है और राजा के समीप जाकर कहता है कि हिमालय की उपत्यका के वनों में रहने वाले तपस्वी जन स्त्रियों के साथ कण्व ऋषि का संदेश लेकर आये हैं। राजा उसे कहता है कि मेरी ओर से उपाध्याय सोमरात को निवेदन करना कि इन आश्रमवासियों

का वैदिक विधि से सत्कार करके स्वयं ही इन्हें अन्दर लावें। मैं यहीं दर्शन योग्य स्थान पर बैठा हुआ उनकी प्रतीक्षा करता हूँ। इससे बाद शकुन्तला को आगे करके गौतमीसहित मुनिगण प्रविष्ट होते हैं। उनके आगे-आगे पुरोहित हैं। शार्ङ्गरव और शारद्वत दोनों आपस में दुष्यन्त के राजकीय वैभव के बारे में बातचीत करते हैं। शकुन्तला अपशकुन का अभिनय करती हुई कहती है कि मेरी दाहिनी आँख क्यों फड़क रही है? इसे सुन गौतमी कहती है—हे पुत्री! अमंगल का नाश हो। तुम्हारे पतिकुल के देवता तुझे सुख दें। पुरोहित सोमरात कहते हैं कि हे तपस्विन्! राजा पहले आप लोगों की प्रतीक्षा कर रहे हैं, इन्हें देखिए। शार्ङ्गरव पुरोहित से कहता है—हे श्रेष्ठ ब्राह्मण! इस राजा के प्रशंसनीय शिष्टाचार के बावजूद हमलोग इस विषय में उदासीन हैं। क्योंकि फलों के आने पर वृक्ष झुक जाते हैं। नये जलों से भरे मेघ नीचे लटक जाते हैं। सज्जन व्यक्ति समृद्धि पाकर नम्र हो जाते हैं। यह परोपकारियों का स्वभाव ही है (५।१२)। शकुन्तला को देखकर राजा दुष्यन्त प्रतिहारी से पूछता है कि पीले पत्तों में नये किसलय के समान इन तपस्वियों के मध्य अपरिस्फुट शरीर लावण्य वाली यह स्त्री कौन है (५।१३)? जब प्रतिहारी कहती है कि कुतूहल से पूर्ण रहने पर भी मेरा तर्क किसी निश्चय पर नहीं पहुँच रहा है तब राजा कहता है—परस्त्री की ओर देखना उचित नहीं (अनिर्वर्णनीयं परकलत्रम्)। पुरोहित द्वारा सूचना पाकर राजा उन सभी तपस्वियों को प्रणाम करता है तथा पूछता है कि मुनियों की तपस्या तो निर्विघ्न चल रही है? विश्व के कल्याण के लिए भगवान् कण्व कुशलपूर्वक तो हैं? शार्ङ्गरव कहता है कि सिद्ध महापुरुषों की कुशलता उनके अपने अधीन हुआ करती है। उन्होंने आपकी नीरोगता का प्रश्न पूछते हुए यह संदेश भेजा है– आपने आपस में शपथ लेकर गान्धर्व विधि से इस मेरी पुत्री के साथ विवाह किया है। मैंने खुशी से उस कार्य की अनुमति दे दी है क्योंकि आप आदरणीयों में अग्रगण्य के रूप में स्मरण किये गये हैं और शकुन्तला साक्षात् शरीरधारिणी सत्क्रिया है। समान गुणों वाले वरवधू को मिलाते हुए ब्रह्मा बहुत समय के बाद निन्दा को नहीं पा सके (५।१५)। अतः आप इस गर्भवती (शकुन्तला) को अपने साथ धर्माचरण के लिए स्वीकार करें। गौतमी कहती है कि यद्यपि मेरे कहने का अवसर नहीं है फिर भी मैं कुछ कहना चाहती हूँ, क्योंकि इसने अपने पिता आदि गुरुजनों से अनुमति नहीं ली और तुमने भी अपने बन्धुओं से नहीं पूछा। अतः दोनों की स्वेच्छा से किये गये इस कार्य के बारे में किसे क्या कहूँ (५ १६)। आशंका के साथ इनकी बातें सुनकर राजा कहता है कि आप लोगों ने यह कैसा झमेला उपस्थित कर दिया है (किमिदमुपन्यस्तम्)? इस पर शार्ङ्गरव कहता है कि आप स्वयं लोकाचार में निष्णात हैं। पिता का कुल ही

जिनका एकमात्र आश्रय स्थान रह गया है, ऐसी सधवा स्त्री पूर्णतः पतिव्रता होने पर भी लोगों की नजर में शंकनीय हो जाती है। इसलिए उसके बन्धुजन यही चाहते हैं कि पति को वह प्रिय हो या अप्रिय, पर वह अपने पति के समीप ही रहे (५।१७)। राजा कहता है—तो क्या यह श्रीमती (शकुन्तला) मेरे द्वारा पहले व्याही गई है (किं चात्रभवती मया परिणीतपूर्वा)? शार्ङ्गरव राजा से पूछता है—किये हुए कर्म के प्रति विद्वेषवश धर्म से इस प्रकार आपका विमुख होना क्या ठीक है (किंकृतकार्यद्वेषो धर्मं प्रति विमुखता कृतावज्ञा)? राजा कहता है कि आप असत्कल्पना पर आधारित प्रश्न क्यों कर रहे हैं? राजा के इस कथन पर शार्ङ्गरव क्रोध के साथ कह देता है कि धन एवं ऐश्वर्य से प्रमत्त लोगों में ये विकार प्रायः बढ़ जाया करते हैं। यह सुन कर राजा कहता है—इस कथन से मैं अत्यधिक अपमानित हो चुका हूँ (विशेषेणाधिक्षिप्तोऽस्मि)। इसके बाद राजा द्वारा पहचानने के लिए गौतमी शकुन्तला का घूँघट हटाती है। शकुन्तला को गौर से देख कर राजा मन ही मन सोचता है (५।१९) और कहता है कि हे तपस्वियो! बार-बार विचार करने पर भी मैं श्रीमती (शकुन्तला) के साथ विवाह करने की बात वस्तुतः स्मरण नहीं कर पा रहा हूँ। तब फिर गर्भिणी के लक्षणों से युक्त इसके प्रति अपने आपको पति मानता हुआ मैं इसे कैसे स्वीकार करूँ? यह सुनकर शकुन्तला अपने मन में सोचती है—आर्य को विवाह में ही सन्देह है। तब ऐसी स्थिति में मेरी दूर तक गयी हुई आशा कैसे पूरी हो सकती है? शार्ङ्गरव राजा के उपर्युक्त कथन पर कहता है कि आपको ऐसा नहीं कहना चाहिए। क्योंकि तेरे द्वारा जबरदस्ती उपभोग की गयी हुई अपनी पुत्री शकुन्तला के गांधर्व-विवाह की अनुमति देने वाले महर्षि कण्व का वस्तुतः तुम्हें अपमान नहीं करना चाहिए। जिसने चुराये अपने धन (शकुन्तला) को तुम्हें सौंपते हुए चोर के समान तुझे एक योग्य पात्र के रूप में स्वीकार किया है। तदनन्तर शारद्वत द्वारा विश्वसनीय उत्तर देने के लिए कहने पर शकुन्तला एक ओर मुँह करके राजा से कहती है—हे पौरव! आपके लिए यह उचित नहीं है कि उस प्रकार पहले आश्रम भूमि में स्वभाव से छलरहित हृदय वाले इस व्यक्ति (शकुन्तला) को शपथ के साथ ठगकर अब इस प्रकार के शब्दों से उसका निरादर करें। राजा दोनों कानों को छू कर "पाप शान्त हो" बोलते हुए कहता है—जैसे तटभंजिनी नदी स्वच्छ जल-प्रवाह को कलुषित एवं तटवर्ती वृक्षों को गिरा देती है उसी तरह क्या अपने खानदान को कलंकित और इस व्यक्ति (दुष्यन्त) को पतित करना चाहती हो (५।२१)? यह सुन कर सन्देहनिवारण के लिए शकुन्तला चिह्न रूप में प्रदत्त अँगूठी को दिखाना चाहती है। किन्तु अँगूठी रहित अपनी अंगुली को देखकर खेद और चिन्ता के साथ गौतमी की ओर देखने लगती है।

गौतमी उसे कहती है कि संभवतः शक्रावतार में शचीतीर्थ के जल की वन्दना करते समय अँगूठी गिर गयी है। राजा कुछ मुस्कुरा कर कहता है कि यही तो स्त्रियों की सूझ है। इसके बाद शकुन्तला कण्वाश्रम में प्रथम मिलन के समय की घटनाओं को याद दिलाती हुई कहती है कि एक दिन नवमालिका-मण्डप में, जब हम दोनों मौजूद थे, कमलपत्र के दोने में रखा हुआ जल आपके हाथ में था, तब मेरे द्वारा पुत्रवत् पालित दीर्घापाङ्गनामक मृग का बच्चा वहाँ आ गया। आपने यह पहले जल पी ले इस भाव से दया दिखाते हुए उसे जल पीने के लिए फुसलाया। लेकिन आपसे अपरिचित होने के कारण वह आपके हाथ के पास नहीं आया। बाद में उसी जल को मेरे हाथ में ग्रहण कर लेने पर उसने उसे पी लिया। उस समय आपने इस प्रकार उपहास किया था—"सभी अपने साथियों पर विश्वास करते हैं, तुम दोनों ही यहाँ वनवासी हो"।—इस बात पर राजा कहता है कि अपने स्वार्थ को पूरा करने वाली स्त्रियों के ऐसे असत्यपूर्ण मधु-सदृश वचनों से विषयी लोग ही आकृष्ट हुआ करते हैं। जब गौतमी राजा को कहती है कि तपोवन में संवर्धित निश्छल व्यक्ति (शकुन्तला) के प्रति ऐसा कहना उचित नहीं है, तब राजा रूखे स्वर में कहता है—अयि वृद्ध तपस्विनी! मनुष्य जाति से भिन्न पशु-पक्षी आदि जाति की स्त्रियों में भी बिना शिक्षा के ही स्वाभाविक चतुराई देखी जाती है। फिर ज्ञानसम्पन्न मनुष्य जाति की स्त्रियों का तो कहना ही क्या है! कोकिलाएँ उड़ने की ताकत होने तक अपने बच्चों को अन्य पक्षियों (कौओं) से पालन-पोषण करा लेती हैं (५।२२)। यह सुनकर शकुन्तला क्रोध के साथ कहती है—अनार्य! तू अपने हृदय के समान ही सबको समझ रहा है। धर्म के चोगे (कंचुक) को धारण किये हुए तिनकों से ढके हुए कुएँ के समान तुम्हारे जैसा और कौन दूसरा हो सकता है, जो तुम्हारा अनुकरण कर सके (५।२३)। शकुन्तला की भर्त्सना पर राजा मन में सोचता है कि मुझे संदेहयुक्त बुद्धि वाला बनाता हुआ इसका यह क्रोध यथार्थ-सा मालूम पड़ रहा है (५।२३)। पुनः प्रकट भाव से वह कहता है—भद्रे! दुष्यन्त का चरित्र सर्वत्र प्रसिद्ध है। फिर मैं अपने में यह वंचकता नहीं देख रहा हूँ। शकुन्तला कहती है—ठीक! अब मैं चरित्रहीन सिद्ध कर दी गयी हूँ, जो मैं पुरु कुल के विश्वास पर ऊपर से मधुर एवं हृदय के अन्दर विष भरे इस राजा के हाथ में पड़ी। इतना कह कर आँचल से मुँह ढक कर रोने लगती है। इस दृश्य को देखकर शार्ङ्गरव कहता है कि इस तरह स्वयं की गयी अनियंत्रित चंचलता दुःख देती है। इसलिए एकान्त में किया गया समागम विशेष रूप से परीक्षोपरान्त ही करना चाहिए। परस्पर अज्ञात-हृदय वाले व्यक्तियों के प्रति किया गया प्रेम इसी प्रकार शत्रुता में परिणत हो जाता है (५।२४)। राजा पूछता है कि हे महानुभाव! इन पर विश्वास के कारण ही दोषपूर्ण वाक्यों से

मुझे क्यों दुःखित कर रहे हो ? शार्ङ्गरव अनसूया के साथ जवाब देता है—जिसने जन्म से लेकर आज तक धूर्तता नहीं सीखी, उस व्यक्ति का वचन तो अप्रामाणिक है तथा जो धोखा देना विद्या समझ कर सीखते हैं वे पूरे सत्यवादी मान लिये जायें ? इस पर राजा कहता है कि हे सत्यवादी ! माना कि मैं वैसा ही हूँ। लेकिन इस स्त्री को ठगने से मुझे क्या मिलेगा ? शार्ङ्गरव कहता है कि आपको अधःपतन मिलेगा। शारद्वत शार्ङ्गरव को इस प्रकार प्रत्युत्तर से रोकते हुए कहता है कि हमने गुरु की आज्ञा का पालन कर दिया। अतः अब वापस जाते हैं। पुनः वह राजा के प्रति कहता है—यह आपकी स्त्री (कान्ता) है, चाहे आप इसे छोड़ दीजिए या अपने पास रखिए। क्योंकि दाराओं (पत्नियों) पर सब प्रकार की प्रभुता पति की ही स्वीकार की गयी है। गौतमी भी चलने कहती है। यह कह कर सभी चले जाते हैं। शकुन्तला कहती है कि इस धूर्त द्वारा मैं ठगी गयी हूँ। आप लोग भी छोड़ रहे हैं। यह कह कर वह पीछे-पीछे चल पड़ती है। इसे देखकर क्रोध के साथ लौट कर शार्ङ्गरव कहता है—ओ दुष्टा (पुरोभागे) ! क्या तू स्वच्छन्दता ग्रहण कर रही है, यह सुनते ही भय से शकुन्तला काँपने लगती है। आवेश में शार्ङ्गरव कहता है—हे शकुन्तला ! राजा जैसे कहते हैं, यदि वैसी ही है, तो कुलमर्यादा का उल्लंघन करने वाली तुझ से पिता कण्व को क्या प्रयोजन ? यदि तुम अपने पातिव्रत धर्म को पवित्र समझती हो तब तो तुम्हें पति के कुल में दासी के रूप में रहना भी उचित है (५।२७)। ऐसा करते देख राजा कहता है—हे तपस्वी ! आप इन्हें क्यों कोस रहे हैं ? चन्द्रमा कुमुदों को ही विकसित करता है और सूर्य सिर्फ कमल को ही। क्योंकि जितेन्द्रिय धार्मिक पुरुषों की मनोवृत्ति दूसरों की स्त्रियों के संपर्क से विमुख ही हुआ करती है (५।२८)। शार्ङ्गरव राजा से कहता है कि अन्यासक्ति के कारण यदि आप पूर्व घटित घटना को भूल गये हैं तो आप अधर्म से डरने वाले कैसे कहे जा सकते हैं ? इसके ऐसा कहने पर राजा अपने पुरोहित से पूछता है कि मेरी बुद्धि अज्ञानयुक्त हो रही है अथवा शकुन्तला असत्य बोल रही है। इस संशय में पड़ा हुआ मैं पत्नी का परित्याग कर देने वाला बनूँ या परस्त्री के स्पर्श से अपने को दूषित करने वाला होऊँ (५।२९)। सोच-विचार कर पुरोहित परामर्श देता है कि यह (शकुन्तला) प्रसवकाल तक हमारे घर रहे। मैं इसलिए कहता हूँ कि आपको ज्योतिर्विद महात्माओं ने बतलाया कि आप पहली बार ही चक्रवर्ती पुत्र उत्पन्न करेंगे। यदि ऋषि कण्व का दौहित्र उन लक्षणों से युक्त होगा तब तो आप इनका अभिनन्दन करके इन्हें अपने अन्तःपुर मे ले जाइएगा अन्यथा इन्हें इनके पिता के समीप भेज देना निश्चित ही है। राजा गुरु जी के परामर्श का अनुमोदन करते हैं। अतः पुरोहित शकुन्तला को अपने पीछे-पीछे चलने कहते हैं। शकुन्तला ऐश्वर्यवती पृथ्वी को सम्बोधित करती हुई कहती है कि मुझे अपने अन्दर स्थान दो

(देहि मे विवरम्)। यह कह कर वह रोती हुई सबके साथ चल देती है। इधर शाप के कारण विलुप्त स्मृति वाला राजा दुष्यन्त शकुन्तला के सम्बन्ध में ही सोचता रहता है। इसी समय नेपथ्य से आश्चर्यमाश्चर्यम् की आवाज आती है। पुरोहित प्रविष्ट होकर सूचित करते हैं कि महाराज ! कण्व के शिष्यों के लौट जाने पर ज्यों ही अपने भाग्य की निन्दा करती हुई वह युवती (शकुन्तला) अपने हाथ उठा-उठा कर विलाप करने लगी त्योंही अप्सरा-तीर्थ के निकट स्त्री के समान आकृति वाली एक तेजोमयी मूर्त्ति इसे उठा कर गायब हो गयी (५।३०)। इसे सुन सभी आश्चर्य का अभिनय करते हैं। राजा पुरोहित को कहता है कि मैंने पहले से ही उसे त्याग दिया है। अतः अब बेकार तर्क से क्या लाभ ? आप विश्राम कीजिए। राजा स्वयं व्याकुल होने के कारण शयनकक्ष चला जाता है। वहाँ राजा सोचता है कि यद्यपि मैं अपने द्वारा परित्यक्त इस मुनिकन्या (शकुन्तला) को विवाहिता स्त्री के रूप में स्मरण नहीं कर पा रहा हूँ, लेकिन अत्यधिक व्याकुल होता हुआ मेरा हृदय मुझे यह विश्वास दिला रहा है कि यह मेरी विवाहिता स्त्री है (५।३१)।

षष्ठ अंक (स्थान—हस्तिनापुर में स्थित राजा दुष्यन्त का राजमहल)

राजा दुष्यन्त के साले कोतवाल एवं पीछे बँधे हुए पुरुष को लेकर दो सिपाही आते हैं। दोनों सिपाही उस पुरुष (धीवर) को पीट कर चोर कहते हुए पूछते हैं कि बताओ, राजा की नामांकित यह अँगूठी कहाँ मिली ? वह अपना परिचय देते हुए कहता है कि मैं शक्रावतार नामक तीर्थ में रहने वाला धीवर हूँ। मैं जाल और काँटे आदि से मछली पकड़ने के साधनों द्वारा अपने कुटुम्ब का पालन करता हूँ। एक दिन ज्योंही मैंने रोहित मछली के टुकड़े-टुकड़े किये त्योंही उसके पेट के अन्दर रत्नों से चमकने वाली यह अँगूठी देखी। इसके बाद बिक्री के निमित्त उसे दिखाता हुआ मैं आप लोगों के द्वारा पकड़ लिया गया। अँगूठी प्राप्ति की यही कहानी है। अब आप मुझे मारिये या छोड़ दीजिए। यह सुन कर राजश्याल (कोतवाल) दूसरे सिपाही (जानुक) से कहता है कि वस्तुतः यह धीवर है। इसे अँगूठी कैसे मिली, यही विचारणीय है। अतः वह राजा के पास इसे (अँगूठी को) ले जाता है और तब तक नगर द्वार पर धीवर को सावधानी से रखवाली करने कहता है। दोनों सिपाही धीवर को वध करने के लिए डरा-धमका रहे हैं। कुछ देर के बाद राजश्याल वहाँ आता है और राजा के आदेशानुसार विज्ञापित करता है कि इसे छोड़ दो, क्योंकि इसके द्वारा अँगूठी मिलने की बात सही मान ली गयी है। यथादेश सिपाही उसे बन्धनमुक्त करता है। कोतवाल अँगूठी के मूल्य के बराबर राजा द्वारा दिया गया उपहार (पुरस्कार) धीवर को देता है। धीवर उसे

ग्रहण कर अपने को अनुगृहीत कहता है। जानुक (सिपाही) कहता है कि इस पुरस्कार से पता चलता है कि यह अँगूठी राजा को प्रिय होगी। कोतवाल कहता है कि उस अँगूठी के दर्शन ने महाराज को किसी व्यक्ति का स्मरण दिला दिया है। स्वभावतः गम्भीर होने पर भी उनकी आँखों में क्षण भर के लिए आँसू आ गये। धीवर उस उपहार में से आधा उन लोगों (सिपाही—कोतवाल) को देता है। इस पर कोतवाल कहता है कि हे धीवर ! तुम अब हमारे बहुत बड़े मित्र हो गये हो। यथाप्रस्ताव सभी शराब की दुकान पर चले जाते हैं।

तदनन्तर आकाशमार्ग से विमान द्वारा सानुमती नामक अप्सरा राजा की दशा देखने के लिए तिरस्कारिणी विद्या के प्रभाव से अदृश्य रूप में उपस्थित होती है और मधुकरिका एवं परभृतिका नामक दोनों उद्यानपालिकाओं के निकट जाकर वसन्तोत्सव के अवसर पर भी राजकुल में सूनापन के कारण का पता लगाती है। दोनों उद्यानपालिकाएँ उपस्थित मधुमास के बारे में बातचीत करती हैं। इसके बाद आम्रमंजरी तोड़ कर वह कन्दर्प की पूजा करती है। इसी समय बिना पर्दा उठे क्रोध के साथ प्रविष्ट होकर कंचुकी दोनों उद्यानपालिकाओं को डाँटते-फटकारते हुए कहता है कि महाराज दुष्यन्त द्वारा वसन्तोत्सव मनाने के बारे में मना कर दिये जाने पर भी तुम आम्रमंजरी क्यों तोड़ने लगी ? तुम दोनों ने नहीं सुना है कि वसन्त ऋतु में फूलने वाले सभी वृक्षों ने तथा उन पर रहने वाले कोयल आदि पक्षियों ने राजा की आज्ञा मान ली है। इसीलिए आम्रमंजरी पराग नहीं धारण कर रही है। खिलने के लिए तैयार होने पर भी कुरवक फूल कली के ही रूप में स्थित है। वसन्तागमन होने पर भी कोयल का शब्द कण्ठगत ही है। ऐसा प्रतीत होता है कि भयभीत होकर कामदेव ने भी अपने बाण को पुनः अन्दर कर लिया है (६।४)। दोनों भयभीत होती हुई क्षमा माँगती हैं और बताती हैं कि नवागत होने के कारण वे अज्ञात थीं। निषेध का कारण पूछने पर कंचुकी कहता है कि क्या आप दोनों ने शकुन्तला के परित्याग के कारण उत्पन्न लोकापवाद को नहीं सुना है ? दोनों कहती हैं कि राजा के साले के मुँह से हमने अँगूठी प्राप्ति का समाचार सुना है। इसके बाद की घटनाओं को बताते हुए कंचुकी कहता है कि जैसे ही महाराज ने अपनी अँगूठी देखी वैसे ही उन्हें स्मरण हो आया कि वस्तुतः श्रीमती शकुन्तला मेरी एकान्त में पूर्व विवाहिता पत्नी थी और अज्ञान के कारण उसने उसका परित्याग कर दिया है। उसी समय से वे पश्चात्ताप करते हुए सभी सुन्दर वस्तुओं से घृणा करने लगे हैं। पूर्ववत् मंत्रियों से नहीं मिलते हैं। बिस्तर के किनारों पर ही करवटें बदल-बदल कर जागते हुए ही रातों को व्यतीत करते हैं। उदारतावश जब कभी अन्तःपुर की स्त्रियों को उचित अवसर योग्य उत्तर देते हैं तब शकुन्तला का नामोच्चारण कर लेते हैं। फलतः बहुत देर तक लज्जा

के कारण व्याकुल रहते हैं (६।५) इसी मानसिक ग्लानि के कारण राजा ने वसन्तोत्सव का निषेध कर दिया है।

इसके बाद पश्चात्ताप के अनुकूल वेष को धारण किये हुए राजा, विदूषक और प्रतिहारी के साथ आता है। राजा को देखकर कंचुकी कहता है--मनोहर आकृति वालों में सभी अवस्थाओं में रमणीयता विद्यमान रहा करती है। (अहो सर्वास्ववस्थासु रमणीयत्वमाकृतिविशेषाणाम्) अतः प्रिया शकुन्तला के कारण खिन्न रहने पर भी राजा देखने में सुन्दर ही है। राजा दुष्यन्त ध्यान में मग्न धीरे-धीरे चारों ओर घूम कर प्रलाप करते हुए कहता है कि सारङ्गाक्षी प्रिया शकुन्तला द्वारा जगाये जाने पर भी मैं सोता रहा और अब मेरा यह दुष्ट हृदय पश्चात्ताप के दुःख के लिए जागा है (६।७)। कंचुकी प्रमदवन में स्वेच्छया आमोद-प्रमोद के स्थानों पर बैठने कहता है। राजा प्रतिहारी वेत्रवती को मन्त्री आर्य पिशुन से कहने के लिए आदेश देता है कि आज देर से उठने के कारण धर्मासन पर उनके लिए बैठना संभव नही है। अतः आपने जो नागरिकों का कार्य देखा हो, उसे पत्र पर चढ़ा कर भेज दें। इसके बाद यथानिर्देश वातायन (कंचुकी) भी वहाँ से चला जाता है। एकान्त हो जाने पर राजा विदूषक से कहता है कि मित्र ! सचमुच दुःख के समय विपत्तियाँ एक साथ आ जाती हैं। अब मुनि कण्व की पुत्री के प्रति किये गये प्रेम की स्मृति को रोकने वाले अज्ञान ने मेरे मन को मुक्त कर दिया है और मुझ पर प्रहार करने की इच्छा वाले कामदेव ने अपने धनुप पर आम्रमंजरी का वाण चढ़ा लिया है। इसके बाद माधवीलताकुंज में संगमर्मर की चौकी पर विदूपक के साथ राजा बैठता है। राजा विदूषक से पूछता है—मित्र, माना कि शकुन्तला के परित्याग के समय तुम नहीं थे, किन्तु तुमने पहले कभी उसका नाम मुझे स्मरण नही दिलाया था। क्या तुम भी मेरी ही तरह भूल गये थे ? उसके जवाव में विदूषक उनसे कहता है कि सचमुच आपने शकुन्तला के साथ अपने प्रेम सम्बन्ध की बातें बतायी थी। किन्तु यह सब कह कर फिर अन्त में आपने कहा था—यह हंसी की बात है, सत्य नहीं।—मैंने वही समझ लिया था। अचानक राजा कह उठता है—मित्र ! मुझे बचाओ (त्रायस्व माम्)। फिर वह कहता है कि परित्याग के कारण व्याकुल हुई प्रियतमा की उस दुर्दशा का स्मरण कर मैं अत्यधिक अधीर हो गया हूँ (६।९)। संभवतः उसकी माता मेनका की कोई सखी शकुन्तला को उठा कर ले गयी हो। दूसरा कौन उस पतिव्रता को छूने का साहस कर सकता है ? फिर राजा कहने लगता है कि वह शकुन्तला का मिलन क्या स्वप्न था ? क्या वह इन्द्रजाल था ? क्या वह मेरी बुद्धि का भ्रम था ? क्या वह उतने ही फल वाला मेरा अत्यल्प पुण्य था ?

वह कभी न लौटने के लिए चली गयी ? मेरी अभिलाषाएँ नदी के किनारे के पतन के समान हैं। दुष्यन्त विदूषक को बताता है कि अपने नगर की ओर प्रस्थान करते समय मुझसे प्रिया ने आँखों में आँसू भर कर कहा था—आर्यपुत्र ! कितने समय में मुझे अपना समाचार भेजेंगे ?—इस पर मैंने उसकी अंगुली में इस अँगूठी को पहनाते हुए कहा था कि हे प्रिये ! इसमें अंकित मेरे नाम के अक्षरों को गिनते हुए उसकी परिसमाप्ति के दिन तक मेरे अन्तःपुर में तुम्हें प्रवेश कराने वाला मेरा आदमी तुम्हारे पास पहुँच जायेगा। निष्ठुर हृदयवाला मैंने वह कार्य नहीं किया। इस प्रकार बोलते हुए अँगूठी को उलाहना देने लगता है (६।१३)। इसी समय पूर्वोक्त आदेशानुसार चतुरिका चित्रपट को हाथ को हाथ में लिये हुए आती है। राजा चित्रपट को अपने हाथों से पकड़ता है और कहता है कि पहले साक्षात् रूप से समीप में आई प्रिया को छोड़कर अब चित्रगत इसको बहुत मानता हुआ मैं मार्ग में स्थित पर्याप्त जल से परिपूर्ण नदी को छोड़कर मृगमरीचिका का अभिलाषी हो गया हूँ (६।१६)। प्रमत्ततावश राजा चित्र में अंकित भौंरे को कहता है कि तुझे कमल के मध्य भाग रूपी कारागृह में बन्द कर दूँगा यदि मेरी प्रिया के अधर का स्पर्श करोगे। जब विदूषक राजा को बताता है कि यह चित्र है तब वह आँसू बहाकर रोने लगता है। इसी अवसर पर चतुरिका राजा को सूचित करती है कि जब मैं कूचियों की पेटी लेकर इधर आ रही थी तब बीच में ही देवी वसुमती ने, जिसके साथ तरलिका भी थी, यह कह कर कि मैं ही आर्यपुत्र के पास ले जाऊँगी, उसे मेरे हाथ से जबरदस्ती छीन लिया। यह जान कर राजा दुष्यन्त चित्रपट को छिपा देने के लिए विदूषक को कहता है। विदूषक उसे लेकर शीघ्र मेघप्रतिच्छन्द नामक महल पर चला जाता है। तिरस्कारिणी विद्या के प्रभाव से छिपी-छिपी सारे दृश्य को देखती हुई सानुमती कहती है कि यद्यपि राजा का प्रेम रानी वसुमती के प्रति अब कम हो गया है और इसका मन शकुन्तला की ओर लगा हुआ है, फिर भी यह पुराने प्रेम का पूरा ध्यान रखता है। इसके बाद हाथ में पत्र लिये प्रतिहारी (वेत्रवती) का प्रवेश होता है। रानी वसुमती के आगमन के बारे में राजा द्वारा पूछे जाने पर यह (प्रतिहारी) कहती है कि मुझे हाथ में पत्र लिये देख कर वह लौट गयीं। प्रतिहारी से पत्र लेकर राजा पढ़ता है। उसमें मंत्री ने लिखा है कि समुद्र के द्वारा व्यापार करने वाला व्यापारियों के संघ का मुखिया धनमित्र जहाज के टूट जाने से मर गया है। वह सन्तानहीन है। अतः इसका धन-संग्रह राजकीय वस्तु होती है। सन्तानहीनता बहुत कष्ट की बात है, यह विचार कर राजा वेत्रवती को सम्बोधित कर कहता है कि बहुत धनी होने के कारण उसे अनेक पत्नियां होनी चाहिए। सम्भवतः उनमें से कोई गर्भवती होगी। प्रतिहारी से जब राजा को मालूम होता है कि उसकी एक पत्नी

का (जो अयोध्या के सेठ की पुत्री है) अभी पुंसवन-संस्कार हुआ है, तब मंत्री को सूचित करने के लिए आदेश देता है कि गर्भस्थ बालक पिता के धन का अधिकारी होगा। पुनः राजा यह भी घोषित करने के लिए कहता है कि प्रजाजन जिस-जिस प्रेमी सम्बन्धी से वियुक्त होते हैं, पापी को छोड़कर दुष्यन्त उन सबका सम्बन्धी है (६।२३)। इसके बाद लम्बी गरम साँस लेकर वह कहता है कि ओह इस प्रकार निःसन्तान की सम्पत्ति मूल पुरुष के मरने के बाद दूसरों के पास चली जाती है। मेरे मरने पर भी पुरु कुल की लक्ष्मी की यही दशा होगी। पुनः राजा समीप में आये हुए मंगल (शकुन्तला) का तिरस्कार करने वाले अपने को धिक्कारने लगता है (६।२४) और चिन्तायुक्त हो कर कहता है कि उसके (दुष्यन्त) के पितृ-गण संदेह में पड़ गये हैं (६।२५)। ऐसा कह कर राजा मूर्च्छित हो जाता है। प्रच्छन्न रूप से राजा की यह दशा देख कर इस समाचार से अपनी प्रिय सखी शकुन्तला को धैर्य को बँधने के लिए सानुमती उद्भ्रान्त नृत्य करती हुई वहाँ से चली जाती है।

इधर नेपथ्य से अब्रह्मण्यम् की आवाज सुनाई पड़ती है। पुनः आवाज आती है—हे मित्र! बचाओ! बचाओ। राजा यवनी के हाथ से धनुष लेकर जब चारों तरफ रिक्त स्थान को देखता है तब कहता है कि ऐ तिरस्कारिणी विद्या से गर्वयुक्त! मेरा शस्त्र तुझे देख लेगा। यह मैं उसी बाण को चढ़ाता हूँ जो मारने योग्य तुझ को मारेगा और रक्षा रने योग्य ब्राह्मण की रक्षा करेगा (६।२८)। इसके बाद विदूषक को छोड़ कर इन्द्र का सारथि मातलि प्रवेश करता है। मातलि को देख कर शीघ्र अस्त्र को वापस लौटाता हुआ राजा उसका स्वागत करता है। मातलि राजा को, इन्द्र द्वारा कहा हुआ संदेश सुनाते हुए कहता है कि कालनेमि की सन्तान दुर्जय नामक दानवों का समुदाय सचमुच इन्द्र द्वारा नहीं जीता जा सकता। युद्ध के मैदान में आप ही उसके मारने वाले माने गये हैं। जिस अन्धकार को सूर्य नष्ट करने में समर्थ नहीं है उसे चन्द्रमा ही दूर कर सकता है (६।३०)। राजा दुष्यन्त इन्द्र द्वारा दिये गये इस सम्मान के लिए अपने को अनुगृहीत मानता है। इसके बाद जब राजा पूछता है कि उसने (मातलि ने) विदूषक के साथ ऐसा दुर्व्यवहार क्यों किया तब मातलि बताता है कि आपको किसी कारण से हुए मानसिक सन्ताप से खिन्न देखकर क्रुद्ध करने के लिए मैंने वैसा किया था। क्योंकि ईंधन को हिलाने-डुलाने से अग्नि प्रज्वलित हुआ करती है, छेड़ा हुआ साँप अपने फन को फैलाता है। इसी तरह मनुष्य भी प्रायः उत्तेजित होने पर ही अपने पराक्रम को प्राप्त होता है। (६।३१)। इस पर राजा चुपके से उपस्थित विदूषक से कहता है कि प्रिय मित्र! स्वर्गाधिपति इन्द्र की आज्ञा का उल्लंघन नहीं किया जा सकता है।

इसलिए इस विषय में वस्तुस्थिति को बता कर मंत्री पिशुन से कहना कि अब अकेली तुम्हारी बुद्धि ही प्रजा का पालन करे। प्रत्यंचा चढ़ा मेरा धनुष राक्षसों के वध करने में लग गया है (६।३२)। 'जैसी महाराज की आज्ञा' कह कर विदूषक चला जाता है। मातलि के अनुरोध के अनुसार राजा दुष्यन्त रथ पर चढ़ कर इन्द्र के साथ चला जाता है।

सप्तम अंक (स्थान—हेमकूट पर्वत पर मरीच ऋषि का आश्रम)

आकाशमार्ग से रथ पर बैठा हुआ राजा दुष्यन्त और मातलि का प्रवेश होता है। दानवों पर विजय प्राप्त कर लेने के बाद इन्द्र द्वारा राजा का भव्य आदर-सत्कार किया जाता है। जब राजा उनके द्वारा किये गये अत्यधिक आदर के कारण अपने को अनुपयुक्त-सा समझता है तब मातलि कहता है कि वह (इन्द्र) भी आपके पराक्रमशील कार्यों से आश्चर्यान्वित होकर अपने द्वारा किये गये सत्कार के महत्त्व को कुछ नहीं समझते हैं (७।१)। राजा इन्द्र द्वारा किये गये सत्कार का वर्णन करते हुए कहता है कि उन्होंने देवताओं के समक्ष अपने आधे आसन पर मुझे बैठा कर माला के निमित्त हृदय में विद्यमान इच्छा से युक्त समीपस्थ अपने पुत्र जयन्त की ओर देखकर मुस्कराते हुए वक्षस्थल पर पोंछे हुए हरिचन्दन के चिह्न से चिह्नित मन्दार के फूलों की माला स्वयं अपने गले से उतार कर पहना दी (७।२)। जब मातलि कहता है कि अपने स्वर्ग को दानव रूपी काँटों से रहित कर दिया तब राजा कहता है कि इसमें इन्द्र का ही प्रभाव प्रशंसनीय है (७।४)। इस पर मातलि कहता है कि स्वर्ग में प्रतिष्ठित आपके यश का प्रभाव है कि देवगण गाने योग्य पदों की रचना कर देव-स्त्रियों के प्रसाधन से अवशिष्ट रंग से कल्पवृक्ष के वस्त्रों पर आपका पराक्रम आदि से परिपूर्ण चरित्र लिख रहे हैं (७।५)। लौटते समय राजा को मातलि भिन्न-भिन्न स्थानों और मार्गों को दिखाते हुए आता है। पृथ्वी के निकट आने पर मातलि राजा को बताता है कि यह हेमकूट नामक किन्नरों का पर्वत है। यह तपस्या की सफलता के लिए सर्वोत्तम स्थान है। ब्रह्मा के पुत्र मरीच से जो प्रजापति उत्पन्न हुए हैं, देवों और दानवों के पिता कश्यप अपनी पत्नी के साथ यहाँ तपस्या करते हैं। यह जानकर राजा भगवान् कश्यप की प्रदक्षिणा करके जाना चाहता है। एतदर्थ दोनों रथ से उतरते हैं। मारीच के आश्रम को देखकर राजा कहता है कि यह स्थान स्वर्ग से भी अधिक सुख-शान्तिप्रद है। यहाँ मानों मैं अमृत के तालाब में डुबकी लगा रहा हूँ। मारीच ऋषि की तपोवनभूमि को साश्चर्य देख कर राजा कहता है कि कल्पवृक्ष के वन में ये सिर्फ वायु भक्षण करके जीवन बिताने का अभ्यास करते हैं। सुवर्ण कमलों के पराग से पीतवर्ण के जल में ये धार्मिक स्नान किया करते हैं। रत्नजटित प्रस्तर खंडों पर ध्यान लगाते

हैं तथा देवांगनाओं के समीप रह कर संयम करते हैं। अन्य मुनि लोग तपों के द्वारा जिन वस्तुओं की प्राप्ति की इच्छा किया करते हैं उनके बीच में रह कर ये तपस्या करते हैं (७।१२)। वहाँ वृद्ध शाकल्य से जब मालूम होता है कि भगवान् मारीच दक्ष की पुत्री अदिति द्वारा पतिव्रता स्त्रियों के धर्म के विषय मे पूछे जाने पर महर्षियों की पत्नियों सहित उनको उपदेश दे रहे हैं, तब राजा दुष्यन्त उपदेश-समाप्ति पर्यन्त वहाँ प्रतीक्षा करना उचित समझ कर अशोक वृक्ष की जड़ में बैठ जाता है। मातलि इन्द्र के पिता मारीच को राजा के आगमन की सूचना देने चला जाता है। राजा की भुजा फड़कने लगती है। इसी समय नेपथ्य से आवाज आती है—चंचलता मत कर। कैसे ? यह तो पुनः अपने स्वभाव पर आ गया। ध्वनि का अनुकरण करते हुए देख कर आश्चर्य के साथ राजा कहता है कि दो तपस्विनियाँ द्वारा पीछा किया जाता हुआ यह कौन बालक है जिसकी ताकत बालक के समान नहीं है ! यह बालक माता के पास से आधा स्तन-पान किये हुए तथा खीचने से बिखरे हुए गर्दन के बालों वाले सिंह के बच्चे को खेलने के लिए जबरदस्ती खींच रहा है। तदनन्तर सिंह के बच्चे को खींचता हुआ बालक दो तपस्विनियों के साथ प्रवेश करता है। उसके द्वारा सिंह के दाँत गिनते देखकर पहली तपस्विनी कहती है कि ऋषियों ने तुम्हारा नाम सर्वदमन ठीक ही रखा है। उस बालक के प्रति राजा के मन में अपने पुत्रवत् स्नेह उत्पन्न हो जाता है। राजा कहता है कि महान् तेज का बीज स्वरूप यह बच्चा मुझे चिनगारी की दशा में विद्यमान, लकड़ी की अपेक्षा करती हुई अग्नि के समान प्रतीत होता है (७।१५)। जब तपस्विनी सिंहनी के बच्चे को छोड़ देने पर दूसरा खिलौना देने कहती है तब वह हाथ पसार कर कहता है—कहाँ है ? इसे दो। बालक के पसारे हुए हाथ को देखकर राजा कहता है कि यह तो चक्रवर्ती राजा के लक्षणों को भी धारण किये हुए है (७।१६)। राजा का वात्सल्य भाव जग जाता है। वह कहने लगता है कि पुण्यवान् व्यक्ति ही, अकारण हँसने से कुछ थोड़ा-थोड़ा दिखाई देने वाले दांतों रूपी कलियों से युक्त तुतली बोली के कारण मनोहर वाणी वाले तथा गोद में बैठने की इच्छा रखने वाले पुत्रों को गोद में धारण करते हुए बच्चों के शरीर की धूलि से मलिन होते हैं (७।१७)। तपस्विनी की प्रार्थना के अनुसार राजा सिंहनी से अलग करते हुए उस बालक के स्पर्श को पाकर मन ही मन सोचता है कि जब किसी भी वंश के अंकुरस्वरूप इस बच्चे से मेरे अंगों का स्पर्श होने पर मुझे ऐसा अनिर्वचनीय सुख मिल रहा है तो जिस पुण्यात्मा की गोद से यह उत्पन्न हुआ है उसके चित्त में कितनी शान्ति या आनन्द उत्पन्न करता होगा (७।१९) ? दोनों (सर्वदमन और राजा) को देखकर तपस्विनी कहती है कि इस बालक की और आपकी आकृति मिलती-जुलती है। अपरिचित होने पर भी यह आपके अनुकूल हो गया है। तपस्विनी से राजा को मालूम होता है कि यह बालक

पुरुवंशी है। वह यह भी बताती है कि अप्सरा मेनका के सम्बन्ध से इस बालक की माता ने इस आश्रम में इसको जन्म दिया है।

हाथ में मिट्टी का मोर लिये तपस्विनी आती है और कहती है—सर्वदमन ! शकुन्त पक्षी के लावण्य को देख (शकुन्तलावण्यं प्रेक्षस्व)। आँखें फैला कर वह बालक कहता है—कहाँ है मेरी माता ? बालक खिलौना को ले लेता है। जब बालक की कलाई में रक्षासूत्र नहीं देख कर तपस्विनी आश्चर्य करती है तब राजा गिरे हुए उस सूत्र को उठा लेता है। उसे उठाते देखकर दोनों तपस्विनियाँ छाती पर हाथ रख कर एक दूसरे को देखने लगती हैं। रक्षासूत्र को उठाने से रोकने के कारण को पूछने पर पहली तपस्विनी बताती है कि यह अपराजिता नाम की औषधि भगवान् मारीच ने जातकर्म के समय इस बालक को दी थी। भूमि पर गिरी इसको माता-पिता या स्वयं को छोड़ कर यदि दूसरा कोई उठा लेता है तो यह (औषधि) साँप बन कर काट लेती है। मन ही मन अपना पूर्ण मनोरथ जानकर राजा सहर्ष बालक का आलिगन करता है। दूसरी तपस्विनी नियम पालन में तत्पर शकुन्तला को यह खबर देती है। जब बालक 'सर्वदमन माता के पास जाना चाहता है तब राजा दुष्यन्त कहता है—पुत्र ! मेरे साथ ही तुम माता का अभिनन्दन करोगे। बालक कहता है, मेरे पिता तो दुष्यन्त हैं, आप नहीं। तत्पश्चात् एक वेणीधारण किये हुए शकुन्तला आती है। शकुन्तला को देखकर चिन्ता के साथ राजा कहता है कि वही यह शकुन्तला है, जो मलिन वस्त्रों को पहने हुए, व्रत-पालन के कारण क्षीण मुखवाली, एक वेणी को धारण किये हुए पवित्र आचरण वाली, यह मुझ अति निष्ठुर पति के लिए इतने लम्बे विरह-व्रत को धारण कर रही है (७।२१)। पश्चात्ताप के कारण मलिन क्रान्ति वाले राजा को देख कर शकुन्तला सोचती है कि यह आर्यपुत्र जैसे तो नहीं मालूम पड़ते हैं। तब यह कौन है जो रक्षासूत्रधारी मेरे पुत्र को अपने शरीर के स्पर्श से दूषित कर रहा है ? सर्वदमन माता के पास जाकर कहता है कि यह कोई पुरुष मुझे अपना पुत्र कह कर मेरा आलिगन कर रहा है। राजा कहता है—प्रिये ! मेरे द्वारा तेरे प्रति की गयी क्रूरता भी अनुकूल परिणाम वाली हो गयी है, क्योंकि तुमने अब मुझे पहचान लिया है। यह सुनकर शकुन्तला मन ही मन सोचती है कि सचमुच ये आर्यपुत्र ही हैं। वह 'आर्यपुत्र की जय हो' कहती है। जब सर्वदमन अपनी माता से पूछता है कि ये कौन हैं तब शकुन्तला कहती है—वत्स ! अपने भाग्य से पूछो (वत्स ! ते भागधेयानि पृच्छ)। राजा तुरत शकुन्तला के पैरों पर गिर कर कहता है कि हे सुन्दरी ! तेरे हृदय से मेरे द्वारा किये गये परित्याग का दुःख दूर हो जाय। उस समय मेरे मन में किसी प्रकार का प्रबल अज्ञान उत्पन्न हो गया था क्योंकि कल्याणकारी विषयों के प्रति प्रबल तमोगुण

वाली प्रवृत्तियाँ प्राय: ऐसी ही होती हैं। अन्धा व्यक्ति अपने सिर पर किसी दूसरे द्वारा रखी गयी फूलों की माला को भी सर्प समझ कर फेंक देता है। (७।२४). इसके वाद शकुन्तला उन्हें उठाती है और कहती है कि वस्तुतः उन दिनों शुभ फल में विघ्नकारी मेरा पूर्वजन्म का किया हुआ कोई पाप उदय हो गया था, जिसके कारण दयालु होते हुए भी आर्यपुत्र मेरे प्रति उस समय निर्दयी हो गये थे। जब वह पूछती है कि इस दु:खिनी को आपने कैसे याद किया तब राजा शकुन्तला की आँखों के आँसू को पोंछता है (७।२५) और अँगूठी प्राप्ति के वाद स्मरण हुए सारे वृत्तान्त को सुन कर उसके हाथों में उस अँगूठी को धारण करने कहता है। इस पर वह कहती है कि मुझे इस अँगूठी का विश्वास नहीं है। अतः आर्यपुत्र ही धारण करें। तदनन्तर मातलि प्रवेश करता है और कहता है कि सौभाग्य से आप धर्मपत्नी के मिलन एवं पुत्र-मुख दर्शन से वृद्धि को प्राप्त हो रहे हैं। भगवान् मारीच ने आपको दर्शन देना स्वीकार कर लिया है। अत: दर्शन के लिए चलिए। राजा के निर्देशानुसार शकुन्तला पुत्र को सम्भाले आगे वढ़ती है और पीछे-पीछे राजा एवं मातलि दर्शनार्थ चले जाते हैं। तदनन्तर अदिति के साथ आसन पर वैठे हुए मारीच प्रवेश करते हैं। राजा को देखकर मारीच अदिति से कहते हैं कि दाक्षायणि! यह तुम्हारे पुत्र इन्द्र के युद्धों में सवसे आगे चलने वाला 'दुष्यन्त' नाम से कथित पृथ्वी का रक्षक (स्वामी) है। जिस दुष्यन्त के धनुष से जिसके सभी कार्य पूरे हो गये हैं, ऐसा वह तीक्ष्ण धारवाला वज्र इन्द्र के लिए अव सिर्फ आभूपण मात्र रह गया है (७।२६)। यह सुनकर अदिति कहती है कि इसकी आकृति से ही इसके प्रभाव का अनुमान किया जा सकता है। राजा अदिति एवं मारीच को प्रणाम करता है। मारीच आशीर्वाद देते हैं—वत्स चिरंजीव। पृथ्वी पालय। अदिति उन्हे अद्वितीय महारथी होने का आशीर्वाद देती है। पुत्र सहित शकुन्तला के प्रणाम करने पर मारीच आशीर्वाद रूप में कहते हैं—हे पुत्री! तेरा पति (दुष्यन्त) इन्द्र के समान है, तेरा पुत्र जयन्त (इन्द्र के पुत्र) के समान है। तू इन्द्राणी के समान होना। इसके अलावे तेरे योग्य अन्य कोई आशीर्वाद नहो है (७।२८)। अदिति कहती है—पुत्री! तुम पति द्वारा अत्यधिक सम्मानित होओ तथा यह दीर्घायु वालक (सर्वदमन) दोनों कुलों को आनन्दित करने वाला होवे। यथादेश सभी प्रजापति के समक्ष चारों ओर वैठ जाते हैं। प्रत्येक की ओर संकेत करते हुए मारीच कहते है कि यह पतिव्रता शकुन्तला है, यह सद्गुणों से युक्त पुत्र है, यह आप हैं। सौभाग्य से श्रद्धा, धन एवं विधि ये तीनों वस्तुएँ यहाँ एकत्र हो गयी हैं (७।२९)। आशीर्वाद पाकर राजा कहता है—भगवन्! अभीष्ट की सिद्धि तो पहले ही हो गयी है और आपका दर्शन वाद में हुआ है। आपकी कृपा अनोखी है (७।३०)। इसके वाद शकुन्तला के साथ अपने किये अपराध को कहता है (७।३१)। इस पर प्रवोध देते हुए मारीच ऋषि

कहते हैं कि तुम अपने अपराध की शंका मत करो। तुम में चित्त विकार होना भी संभव नहीं। जैसे ही अप्सरस्तीर्थ घाट से अत्यधिक व्याकुल शकुन्तला को लेकर मेनका दाक्षायणी के निकट आयी, उसी समय मैंने ध्यान से यह जान लिया था कि दुर्वासा के शाप के कारण तुमने अपनी इस तपस्विनी धर्मपत्नी का परित्याग किया है, किसी अन्य कारण से नही तथा यह परित्याग अँगूठी के दर्शन से समाप्त हो जाने वाला था। ठंढी साँस लेकर राजा अपने मन में सोचता है कि मैं निन्दा से मुक्त हो गया हूँ। शकुन्तला भी मन में सोचती है कि आर्यपुत्र ने अकारण मेरा परित्याग नही किया था। शाप के कारण ही मेरी दोनों सखियों ने मुझे कहा था कि आवश्यकता पड़ने पर पति को यह अँगूठी दिखला देना। मारीच शकुन्तला को समझाते हुए कहते हैं—पुत्री ! तुम्हारी इच्छा पूरी हो गयी है। अब तुम अपने पति के प्रति क्रोध नहीं करना। शापवश तुम्हारे पति की दर्शन-शक्ति के अवरुद्ध हो जाने से निष्ठुर पति के लिए तुम कुण्ठित गति हो गयी थी। लेकिन अब इसके अज्ञान के नष्ट हो जाने से उन पर तेरा ही प्रभुत्व रहेगा। मैल के कारण जिसकी निर्मलता नष्ट हो गयी है, ऐसे शीशे पर प्रतिबिम्ब स्पष्ट नही दिखाई पड़ता है, किन्तु निर्मल हो तो प्रतिबिम्ब साफ दिखाई देता है (७।३२)। सर्वदमन के बारे में मारीच ऋषि राजा से कहते हैं कि आप इसको उसी प्रकार का होने वाला चक्रवर्ती सम्राट् समझें। अद्वितीय महारथी यह अस्खलित और शान्त गतिवाले रथ के द्वारा समुद्रों को पार करके सात द्वीपों से युक्त पृथ्वी को जीतेगा। इस तपोवन में यह प्राणियों का दमन करने के कारण "सर्वदमन" नाम वाला है। भविष्य में यह समस्त लोक का पालन करने के कारण "भरत" नाम को प्राप्त करेगा (७.३२)। राजा कहता है कि आपके द्वारा इसका जातसंस्कार किया गया है, अतः इसमे सभी बातों की आशा की जाती है। अदिति के विचारानुसार मारीच ऋषि अपने शिष्य गालव को कण्व ऋषि के पास भेज कर उनसे यह निवेदन करने कहते हैं कि पुत्रवती शकुन्तला को, शाप की समाप्ति हो जाने पर, स्मरणयुक्त दुष्यन्त ने पुनः स्वीकार कर लिया है। उनके आदेशानुसार गालव चला जाता है। मारीच दुष्यन्त को भी इन्द्र के रथ पर सवार होकर राजधानी जाने की अनुमति देकर जाते समय आशीर्वाद देते हुए कहते हैं कि इन्द्र तुम्हारी प्रजाओं के निमित्त प्रचुर वर्षा करे। तुम भी विस्तृत यज्ञों के द्वारा वज्रधारण करने वाले इन्द्र को प्रसन्न करो। इस प्रकार दोनों लोकों (स्वर्ग और मर्त्य) के उपकार से प्रशंसनीय पारस्परिक कृत्यों के द्वारा तुम दोनों सैकड़ों युगों को व्यतीत करो (७।३४)। उनकी शुभ कामनाओ से गद्गद होकर राजा भरत वाक्य में कहता है कि इससे अधिक क्या प्रिय हो सकता है ? यदि आप और अधिक मेरा प्रिय करना चाहते हैं तो ऐसा हो—राजा प्रजा के हित के लिए प्रवृत्त हो। ज्ञान-वृद्ध लोगों की वाणी पूजा को प्राप्त हो तथा सर्वशक्तिमान् स्वयभू शिव मेरे पुनर्जन्म को नष्ट कर दें।

अभिज्ञानशाकुन्तलम् का उपजीव्य

रामायण और महाभारत चिरकाल से भारतीय साहित्य के प्रेरणा-स्रोत रहे हैं। महाभारत के आदिपर्व के उल्लेख[1] से इस विचार की पुष्टि होती है। यद्यपि भास, कालिदास, भवभूति, भट्टनारायण आदि कवियों ने अपनी रचनाओं का आधार उपर्युक्त ग्रन्थों को बनाया है, फिर भी इससे उनकी मौलिक प्रतिभा में कोई कमी नहीं आयी है। इसका कारण यह है कि वस्तु-विन्यास में ही कवि का कौशल है। कवि लोक-प्रसिद्ध-गाथाओं को भी आधार बनाकर अपनी कला-निपुणता से चमका देता है। मालविकाग्निमित्र में उल्लिखित कथानकचयन विषयक कालिदास की यही मान्यता है —"विनेतुरद्रव्यपरिग्रहोऽपि बुद्धिलाघवं प्रकाशयतीति' जैसा कि ऊपर मालविकाग्निमित्र के उपजीव्य का विवेचन करते हुए स्पष्ट किया गया है कि कालिदास ने कुछ ऐतिहासिक पात्रों तथा उनके सम्बन्ध में प्रचलित लोक-कथाओं को आधार रूप में ग्रहण कर एक सुन्दर नाटकीय कथा-वस्तु का विन्यास कर दिया है। उसी के माध्यम से प्रणय नाट्य-काव्य की रचना कर तात्कालिक, शैक्षणिक, सामाजिक एवं राजनैतिक स्थितियों का भी सजीव रूप नाटककार ने प्रस्तुत किया है। लोक-प्रसिद्ध कथा को आधार बनाने से खास कर कम पढ़े-लिखे दर्शकों पर उसका अधिक आसानी से प्रभाव पड़ता है। अपने परिचित पात्रों के अभिनय के अवलोकन से वह अधिक प्रभावित होकर अपने चरित्र में सुधार लाता है। परिचित पात्र एवं कथा होने से नाटककार की नाट्यकला का प्रभाव जादू की भाँति होता है।

कालिदास के अभिज्ञानशाकुन्तलम् के कथानक का बीज महाभारत[2] में मिलता है। महाभारत में वर्णित दुष्यन्त और शकुन्तला की कथा अत्यन्त साधारण, शुष्क एवं नीरस है। एक सफल नाटककार होने के नाते कालिदास ने अपनी उर्वर कल्पना एवं नाट्यकौशल से इस कथा में अनेक परिवर्त्तन तथा परिवर्धन करके इसे

---

१ महाभारत : आदिपर्व—

सर्वेषां कविमुख्यानामुपजीव्यो भविष्यति।
पर्जन्य इव भूतानामक्षयो भारतद्रुमः ॥१।९३
अनाश्रित्येदमाख्यानं कथा भुवि न विद्यते।
आहारमनपाश्रित्य शरीरस्येव धारणम् ॥२।३८८
इदं कविवरैः सर्वैराख्यानमुपजीव्यते।
उदरप्रेप्सुभिर्भृत्यैरभिजात इवेश्वरः ॥२।३८९।

२ आदिपर्व शकुन्तलोपाख्यान—अध्याय ८९-१००

सरस एवं नाटक के लिए सर्वथा उपयुक्त बनाया। इसके विपरीत विन्टरनीत्ज[1] तथा प्रोफेसर हरदत्त शर्मा [2] प्रभृति विद्वानों ने कथा-वस्तु एवं पात्रों के अधिक साम्य के आधार पर यह प्रमाणित करने का प्रयास किया है कि पद्मपुराण के स्वर्गखण्ड मे वर्णित शकुन्तलोपाख्यान ही अभिज्ञानशाकुन्तलम् का उपजीव्य है। अभिज्ञानशाकुन्तलम् में अँगूठी वाले प्रसंग की योजना के सम्वन्ध में अनेक विद्वानों[3] की धारणा है कि कठहारि[4] नामक बौद्धजातक में वर्णित मुद्रिका-वृत्तान्त से ही कालिदास ने प्रेरणा ग्रहण की होगी। इसी तरह अभिज्ञानशाकुन्तलम् मे धीवर द्वारा अँगूठी प्राप्ति के प्रसंग के लिए कुछ विद्वान् हेरोडोट्स नामक यूनानी इतिहास-कार के ग्रन्थ में वर्णित पालिक्रेट्स[5] नामक राजा की अँगूठी के वृत्तान्त का ऋणी कालिदास को मानते हैं। वाल्टर रूवेन[6] शाकुन्तल और वाल्मीकीय रामायण की कथाओं में उपलब्ध साम्यों के आधार पर अभिज्ञानशाकुन्तलम् को रामायण का संशोधित रूपान्तर मानते है। इसी तरह रनेक विद्वानो का अभिमत हे कि अभिज्ञान-शाकुन्तलम् पर भास के नाटकों का प्रभाव है। इनमें से किसका कहाँ तक प्रभाव अभिज्ञानशाकुन्तलम् पर है इस पर विचार करने से पूर्व महाभारत के आदिपर्व में वर्णित शकुन्तलोपाख्यान की सक्षिप्त कथा प्रस्तुत करना सर्वथा अपेक्षित है। इसी के आधार पर कालिदास द्वारा ग्रथित उपर्युक्त नाटकीय वस्तु-विन्यास का स्पष्टतः परीक्षण संभव है। महाभारत में वर्णित दुष्यन्त और शकुन्तला की कथा का संक्षिप्त मूल रूप इस प्रकार है :—

एक दिन पुरुवंशी राजा दुष्यन्त अपने साथ वड़ी सेना, मंत्री एवं पुरोहित आदि को लेकर शिकार खेलने गये। कुछ देर तक शिकार खेलने के वाद थक जाने पर तपोवन के वाहर ही अपनी सेनाओं को छोड़कर एवं शरीर से राजचिह्न को उतार कर पुरोहित और अमात्य के साथ उन्होने ऋषि के आश्रम में प्रवेश किया। कुछ देर चलने के वाद उन्होने मंत्री को भी एक स्थान पर छोड़ दिया और अकेले

---

१ एम० विन्टरनित्ज—हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर : वाल्यूम ३ : पृ० २९५।

२ हरदत्त शर्मा—कालिदास ऐण्ड द पद्मपुराण (कलकत्ता, १९२५)।

३ अभिज्ञानशाकुन्तलम्—एम० आर० काले द्वारा प्रकाशित (नवम संस्करण, १९६१) : पृ० ६३।

अभिज्ञानशाकुन्तल ऑफ कालिदास—ए० वी० गजेन्द्रगदकर द्वारा प्रकाशित

४ जातक कथा—संदोहो (प्रोफेसेर भागवत) : पृ० ४।

५ जर्नल आफ विहार एण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी, वाल्यूम ७ : पृ० ९७।

६ वाल्टर रुवेन; कालिदास : पृ० ५६।

कण्व की कुटी के समीप पहुँचे ।[1] उस समय महर्षि कण्व पुष्प एवं फल लाने के लिए वन गए थे । शकुन्तला ने ही स्वागत-सत्कार किया ।[2] शकुन्तला के अनुपम सौंदर्य को देखकर राजा मुग्ध हो गये । उन्होंने उससे उसका जन्म-वृत्तान्त पूछा । शकुन्तला ने विश्वामित्र और मेनका नामक अप्सरा से अपनी उत्पत्ति का सारा वृत्तान्त कह सुनाया । जब राजा को यह मालूम हो गया कि यह राजपुत्री है तब उसने उस पर अपना प्रेम व्यक्त किया और पत्नी होने का अनुरोध किया ।[3] शकुन्तला ने जवाब दिया कि मेरे पिता फल लाने के लिए आश्रम से बाहर गये हुए हैं । अतः एक मुहूर्त्त तक उनके आगमन की आप प्रतीक्षा करें । वे मुझे आपके पास समर्पित कर देंगे । वे पिता ही मेरे परम देव एवं परम प्रभु हैं । वे मुझे जिसके हाथ में सुपुर्द कर देंगे वही मेरा भर्त्ता होगा ।[4] इस पर दुष्यन्त ने कहा कि क्षत्रियों के लिए विहित गान्धर्व विवाह के अनुसार तू स्वयं अपना दान कर सकती हो । राजा के वचन से आकृष्ट होकर शकुन्तला ने इस शर्त्त पर विवाह करना स्वीकार कर लिया कि राजा की मृत्यु के बाद उसका (शकुन्तला का) पुत्र ही राजा होगा । उसकी शर्त्त स्वीकार कर लेने पर राजा ने गान्धर्व विधि से विवाह किया[5] तथा शकुन्तला को

---

१ सामात्यो राजलिङ्गानि सोऽपनीय नराधिपः ।
पुरोहितसहायश्च जगामाश्रममुत्तमम् ।३७। अ० ९१।
ततो गच्छन् महाबाहुरेकोऽमात्यान् विसृज्य तान् ।
नापश्यच्चाश्रमे तस्मिन् तमृषिं संशितव्रतम् ।।१।। ९२ महा० आदि०

२ गतः पिता मे भगवान् फलान्याहर्तुमाश्रमात् ।
मुहूर्तं संप्रतीक्षस्व द्रष्टास्येनमुपागतम् ।१३। अ० ९२

३ सुव्यक्तं राजपुत्री त्वं यथा कल्याणि भाषसे ।
भार्या मे भव सुश्रोणि ब्रूहि किं करवाणि ते ।

४ फलाहारो गतो राजन् पिता मे इत आश्रमात् ।
मुहूर्त्तं सुप्रतीक्षस्व स मां तुभ्यं प्रदास्यति ।।५।।
पिता हि मे प्रभुः नित्यं दैवतं परमं मम ।
यस्मै मां दास्यति पिता स मे भर्त्ता भविष्यति ।।६।।

५ यदि धर्मपथस्त्वेष यदि चात्मा प्रभुर्मम ।
प्रदाने पौरवश्रेष्ठ शृणु मे समयं प्रभो ।।२१।।
सत्यं मे प्रतिजानीहि यथा वक्ष्याम्यहं रहः ।
मयि जायेत यः पुत्र स भवेत्त्वदनन्तरः ।।२२।।
युवराजो महाराज सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ।
यद्यैतदेवं दुष्यन्त अस्तु मे संगमस्त्वया ।।२३।। अ० ९४।
—महा० आदि०

अपनी राजधानी में पूरे राजकीय ठाट-बाट के साथ ले जाने के लिए सेना आदि भेजने का वचन देकर कण्व ऋषि के शाप के भय से वहाँ से चला गया।

राजा के जाने के कुछ देर बाद कण्व ऋषि वन से फलादि को लेकर अपने आश्रम में पहुँचे। लज्जा के कारण शकुन्तला उनके पास नहीं उपस्थित हुई। उसकी मौनवृत्ति से उत्साहित होकर उन्होंने अन्तर्ज्ञान एवं योगबल के आधार पर दुष्यन्त के साथ उसके परिणय सम्बन्ध आदि की सारी बातें जान लीं। इसके बाद उन्होंने उसके वैवाहिक सम्बन्ध पर अपनी हार्दिक प्रसन्नता एवं अनुमति व्यक्त करते हुए वरदानस्वरूप कहा कि उसका पुत्र विश्व का सम्राट् होगा। ऋषि के क्रोध के भय से अपने वचनानुसार राजा दुष्यन्त ने शकुन्तला को राजमहल में ले जाने के लिए न तो सेनाएँ ही भेजीं न कोई खबर ही ली।[1] कालान्तर में शकुन्तला को आश्रम में ही पुत्र उत्पन्न हुआ, उसका जातकर्म आदि संस्कार कण्व ऋषि ने किया। छ: वर्ष की अवस्था में ही उसका बल-पराक्रम स्पष्ट मालूम पड़ने लगा। वह बड़े-बड़े सिंह, हाथी, महिष आदि हिंसक वन्य पशुओं को पकड़ कर वृक्षों में बाँध देता था और उनके साथ खेला करता था। उसके इस पराक्रम को देखकर आश्रमवासियों ने उसका नाम 'सर्वदमन' रखा। उसके बल एवं पराक्रम से युवराज होने योग्य देखकर कण्व ऋषि ने अपने शिष्यों को आदेश दिया कि वे शकुन्तला एवं सर्वदमन को राजा दुष्यन्त के पास हस्तिनापुर पहुँचा दें। परन्तु शकुन्तला और सर्वदमन आश्रम छोड़कर नहीं जाना चाहते थे। वस्तुत: शकुन्तला ने सोच लिया कि उसके पुत्र के उपद्रवी कार्यों से तंग आकर ही उसे वहाँ से हटाया जा रहा है। उसने पुन: आश्रम से नही जाने का अपना निर्णय बताया[2]। इस पर काश्यप ने कहा कि

---

१ कुमारो देवगर्भाभ: स तत्राशु व्यवर्धत।
ऋषेर्भयात्तु दुष्यन्त स्मरन्नैवाह्वयत्तदा ।।२०।।
—अ० ९५ मह० आदि०

२ एकस्तु कुरुते पापं फलं भुङ्क्ते महाजनः।
मया निवारितो नित्यं न करोषि वचो मम ।।२२।।
नि:सृतान् कुंजरान् नित्यं बाहुभ्यां संप्रमथ्य वै।
वनं च लोडयन् नित्यं सिंहव्याघ्रगणैर्वृतम् ।।२३।।
एवं विधानि चान्यानि कृत्वा वै पुरुनन्दन।
रूपितो भगवांस्तात तस्मादावां निवासितो ।।२४।।
नाहं गच्छामि दुष्यन्तं नास्मि पुत्रहितैषिणी।
पादमूले वहिष्यामि महर्षेर्भावितात्मन: ।।२५।।
अ० ९७ (महा० आदि०)

स्त्रियों को अपने पिता के घर में अधिक दिनों तक रहना उचित नहीं है।[1] अन्त में उन लोगों ने आश्रम से दुष्यन्त की राजधानी के लिए प्रस्थान किया। शकुन्तला ने पिता को हाथ जोड़ कर प्रणाम एवं प्रदक्षिणा करके कहा कि अज्ञानवश उसने जो भी अनृत कार्य किया है उसे वे कृपया क्षमा करेंगे। कण्व ने 'वैसा ही हो' कह कर सिर झुका लिया और मौन हो गये। करुणार्द्र हो उनकी आँखों से आँसू बहने लगे।[2]

राजसभा में पहुँचने पर शकुन्तला ने राजा को अपने पूर्व प्रसंगों का स्मरण दिलाया तथा पुत्र सर्वदमन को स्वीकार करने के लिए निवेदन किया। राजा ने कहा कि तुम्हारे साथ गान्धर्वविवाह की कोई बात उसे याद नहीं है। अतः उसने शकुन्तला तथा उसके पुत्र को ग्रहण करना अस्वीकार कर दिया।[3] इस पर शकुन्तला बहुत शर्मिन्दा हुई। वह क्रोध से तमतमाने लगी। पुनः पुत्र एवं पत्नी के महत्त्व पर उसने प्रकाश डाला। उसने सच्चाई के मूल्यों तथा पवित्र परिणय सम्बन्ध पर अपना विचार व्यक्त किया। अन्त में उसने चिन्ता के साथ कहा कि बचपन में उसके माता-पिता ने उसका परित्याग कर दिया था और आज उसका पति भी छोड़ रहा है। वह स्वयं आश्रम में लौट जाना चाहती थी, किन्तु पुत्र को स्वीकार कर लेने के लिए राजा से उसने प्रार्थना की। जब राजा ने

---

१ नारीणां चिरवासो हि बान्धवेषु न रोचते।
कीर्तिचारित्रधर्मघ्नस्तस्मान्नयत मा चिरम् ।।३५।।
—अ० ९७ (वही)

२ शकुन्तला च पितरमभिवाद्य कृतांजलिः।
प्रदक्षिणीकृत्य तदा पितरं वाक्यमब्रवीत् ।।३९।।
अज्ञानान्मे पिता चेयि दुरुक्तं वापि चानृतम्।
अकार्यं वाप्यनिष्टं वा क्षन्तुमर्हति तद्भवान् ।।४०।।
एवमुक्तो नतशिरा मुनिर्नोवाच किंचन।
मनुष्यभावात् कण्वोऽपि मनुरश्रूण्यवर्तयत् ।।४१।।
—अ० ९७ महा० आदि०

३ तस्योपभोगसक्तस्य स्त्रीषु चान्यासु भारत।
शकुन्तला सपुत्रा च मनस्यन्तरधीयत ।।२८।।
स धारयन् मनस्येनां सुपुत्रां सस्मितां तदा।
तदोपगुह्य मनसा चिरं सुखमवाप सः ।।२९।।
सोऽथ श्रुत्वापि तद्वाक्यं तस्या राजा स्मरन्नपि।
अब्रवीन्न स्मरामीति त्वा भद्रे समागमम् ।।३०।। अ० ९७—महा० आदि०

स्वीकार नही किया और शकुन्तला को असत्यवादिनी एवं दुश्चरित नारी कहा तब शकुन्तला ने कहा कि ठीक है, वह उसके योग्य नही है। अन्त में शकुन्तला ने कहा कि यद्यपि आपने इसे (सर्वदमन को) स्वीकार नही किया है, फिर भी इन्द्र की भविष्यवाणी के अनुसार यह मेरा पुत्र चक्रवर्त्ती सम्राट् होगा। इस प्रकार कहकर वह ज्यों ही वहाँ से जाने लगी त्यों ही आकाशवाणी[1] हुई—हे दुष्यन्त ! यह तेरा ही पुत्र है तथा शकुन्तला तेरी भार्या है। इसे सुनकर दुष्यन्त खुश हुआ और मंत्री एवं पुरोहित से बोला—सुनो, यह देववाणी है। उसने कहा कि यद्यपि मैं यह भलीभाँति जानता था कि सर्वदमन मेरा ही पुत्र है फिर भी मैंने इसलिए उसे अस्वीकार कर दिया कि यदि वह सिर्फ शकुन्तला के कहने पर स्वीकार कर लेता तो लोग उस पर अनेक प्रकार की शंका करने लगते।[2] इसके बाद उसने धार्मिक विधान के साथ शकुन्तला को पटरानी बनाया तथा अपने पुत्र सर्वदमन का नाम भरत रख कर उसे युवराज का पद प्रदान किया। अन्त में राजा ने शकुन्तला को यह कह कर शान्त किया कि उसने एकान्त में किये गये प्रणय सम्बन्ध के प्रकाशन, उसके चरित्र को आरोप-मुक्त करने तथा जनसामान्य के अनुमोदन की प्राप्ति के लिए ही ऐसा कहा था।[3] कालिदास ने महाभारत की उपर्युक्त साधारण पौराणिक कथा में अपने अभिज्ञानशाकुन्तलम् के लिए कथानक की भविष्णुता को अच्छी तरह पहचाना तथा गरिमा से मंडित उस कथा को नाटकीय रूप प्रदान कर सम्पूर्ण मानव समाज द्वारा प्रशंसा योग्य बनाया। यों महाभारत में नल-दमयन्ती का उपाख्यान भी निष्पादन एवं विन्यास की दृष्टि से मनोरम है। संभवतः यह शकुन्तलोपाख्यान से अधिक कवित्वपूर्ण भी है। किन्तु कालिदास ने उसे अपने नाटक के कथानक के लिए नहीं चुना। इसका कारण है कि नल-

---

१ भरस्व पुत्रं दौष्यन्तिं सत्यमाह शकुन्तला। —(महा० आदि०)

२ अहमप्येवमेवैनं जानामि सुतमात्मजम् ।१६।
यद्यहं वचनादस्या गृह्णीयामि ममात्मजम् ।
भवेद्धि शंका लोकस्य नैवशुद्धो भवेदयम् ।१७। अ० १०० (महा० आदि०)

३ त्वां चैव भार्या धर्मज्ञः पूजयामास धर्मतः ।
अब्रवीच्चैव तां राजा सान्त्वपूर्वमिदं वचः ॥२१॥
लोकस्यायं परोक्षस्तु सम्बन्धो नौ पुराभवम् ।
कृतो लोकसमक्षोद्य सम्बन्धो वै पुनः कृतः ॥२२॥
तस्मादेतन्मया तस्य तन्निमित्तं प्रभाषितम् ।
शंकेत वायं लोकोऽथ स्त्रीभावान्मयि संगतम् ॥२३॥
तस्मादेतन्मया देवि त्वच्छुद्ध्यर्थं विचारितम् ॥२४॥ अ० १०० (महा०आदि०)

दमयन्ती के उपाख्यान में कथा का फलक विशाल है। उसमें जोड़ने-घटाने की उतनी गुंजाइश नहीं है जितनी शकुन्तलोपाख्यान की कथा में। इसके अलावे महाभारत की उक्त कथा शृंगाररस की भविष्णुताओं से मंडित है। यह प्रेम व्यापी अन्य व्यापारों की अपेक्षा सहज भाव से हृद्य है। इतना ही नहीं, महाभारत के शकुन्तलोपाख्यान में अतिमानवीय तत्त्वों के विनियोग की अधिक संभावना है। इन सारी संभावनाओं को परख कर महाकवि कालिदास ने इसे अपने नाटक के कथानक के लिए चुना और अपनी प्रतिभा के बल पर अनेक परिवर्त्तन एवं परिवर्धन कर ऐसा नवीन और स्वाभाविक रूप प्रदान किया कि वह सहज ही जनमानस द्वारा ग्राह्य एवं अनुकार्य बन गया।[1]

यहाँ यह विचारणीय है कि क्या पद्मपुराण का शकुन्तलोपाख्यान अभिज्ञानशाकुन्तलम् का उपजीव्य नहीं है जब कि उसमें तथा इस नाटक की कथावस्तु, घटनाओं एवं पात्रों में अधिक साम्य मिलता है और विन्टरनित्ज तथा हरदत्तशर्मा प्रभृति विद्वानों ने उसी आधार पर इसे ही उपजीव्य माना भी है? इसके सम्बन्ध में वासुदेव विष्णुमिराशी का विचार[2] यह है कि संभवतः पद्मपुराणकार ने शाकुन्तल के प्रसंग तथा महाभारत के ओजस्वी भाषण को लेकर अपने शकुन्तलोपाख्यान की रचना की होगी। इसके अलावे यह भी संभव है कि पूर्वरचित पद्मपुराण में अभिज्ञानशाकुन्तलम् की रचना के बाद इसी के अनुरूप कुछ इधर-उधर कर शकुन्तलोपाख्यान जोड़ दिया गया हो। इसका कारण यह है कि हरिवंश तथा भागवत आदि अन्य पुराणों में महाभारत की कथा की तरह शकुन्तला की कथा दी गयी है। उनमें शार्ङ्गरव, शारद्वत, गौतमी, प्रियम्वदा जैसे पात्रों का उल्लेख नहीं मिलता है। यदि पद्मपुराण की कहानी पुरानी होती तो उनका उल्लेख उसमें अवश्य होता। यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि पुराणों की रचना की तिथि विवादास्पद है तथा उनमें अनेक प्रक्षेप भी मिलते हैं। आनन्दाश्रम प्रकाशन वाले पद्मपुराण में यह उपाख्यान उपलब्ध नहीं है। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि बाद में रचित होने के कारण कालिदास के नाटक से प्रभावित होकर पौराणिक शैली में इस उपाख्यान को पद्मपुराण में लिखा गया होगा। पौराणिक रूप प्रदान करने के लिए ही पद्मपुराण में हू-ब-हू नहीं लिख कर कुछ परिवर्त्तन कर दिया गया होगा।

अभिज्ञानशाकुन्तलम् में वर्णित अँगूठी वाली कल्पना के लिए कालिदास को कटहारी नामक बौद्धजातक का ऋणी मानना सर्वथा अयुक्तिसंगत एवं निराधार

---

१ पद्मपुराण—स्वर्गखण्ड, अध्याय १।५ तक

२ कालिदास—पृ० २०३-२०४।

है। क्योंकि जातक कथा में अँगूठी ने जो योगदान किया है वह नाटक में प्रयुक्त अँगूठी के योगदान से सर्वथा भिन्न है। साम्य इतना ही है कि दोनों में अँगूठी का उपयोग पहचान के लिए किया गया है। अभिज्ञानशाकुन्तलम् में दुर्वासा के शाप से अँगूठी का महत्त्व अत्यधिक बढ़ गया है और उसका उपयोग कालिदास ने अपने ढंग से किया है। दूसरी बात यह है कि जातकों की रचना की कोई निश्चित तिथि नहीं है। द्वितीय अथवा तृतीय शताब्दी ईस्वी तक जातकों की रचना होती रही। अतः निर्भ्रान्त रूप से कहा जा सकता है कि प्रथम शताब्दी ई० पू० में आविर्भूत कालिदास इस कल्पना के लिए कठहारी जातक के ऋणी नहीं है। इस सम्बन्ध में बलपूवक यही कहा जा सकता है कि पहचान के लिए कालिदास ने अँगूठी की कल्पना वाल्मीकीय रामायण के उस प्रसंग से ली होगी जहाँ राम पहचान के लिए हनुमान को अँगूठी देते हैं। महाकवि कालिदास ने अपने मालविकाग्निमित्रम् में भी पहचानने के लिए रानी धारिणी की सर्पमुद्रांकित अँगूठी का उपयोग किया है। इस सम्बन्ध में यह भी संभव है कि कालिदास ने अपने जमाने में प्रचलित अँगूठी वृत्तान्त वाली किसी लोककथा से यह अँगूठी वाली कल्पना ली हो। इसी तरह मछली के पेट से धीवर द्वारा अँगूठी की प्राप्ति की कल्पना भी लोककथाओं से ही कालिदास को सूझी होगी। हो सकता है, वाल्मीकि को भी अँगूठी वाली कल्पना किसी लोक-कथा से मिली हो।

पति द्वारा सीता और शकुन्तला के परित्याग, आश्रम में पुत्रोत्पत्ति आदि घटना-साम्य के आधार पर रूबेन का यह कहना सर्वथा उचित प्रतीत होता है कि कालिदास अपने नाटक के वस्तु-विन्यास में वाल्मीकीय रामायण से प्रभावित हैं। इसी प्रकार कालिदास के अभिज्ञानशाकुन्तल के अध्ययन एवं अनुशीलन से पता चलता है कि भास रचित प्रतिभा नाटक के वल्कल तथा वृक्ष-सेचन की घटनाएँ, स्वप्नवासवदत्तम् की कल्पना और तपोवन का दृश्य तथा अविमारक का शृंगारिक तत्त्व अभिज्ञानशाकुन्तलम् में कालिदास द्वारा समाविष्ट किये गये हैं। कालिदास ने अपनी प्रतिभा के द्वारा इन गृहीत तत्त्वों को अभिनव रूप प्रदान किया है। उपर्युक्त विशद विवेचन से यह स्पष्ट है कि कालिदास ने अपने अभिज्ञानशाकुन्तलम् की कथावस्तु का आधार महाभारत से ग्रहण किया और उसमें उपर्युक्त अन्य स्रोतों से तत्त्व लेकर अपनी प्रवीण प्रतिभा के बल पर अभिनव रूप प्रदान कर नाटकीय कथानक का संग्रथन किया। उन्हीं के शब्दों में—अथ खलु कालिदास-प्रथित वस्तुनाऽभिज्ञानशाकुन्तलनामधेयेन नवेन नाटकेनोपस्थातव्यमस्माभिः।[1]

---

१ अभिज्ञानशाकुन्तल, अंक—१, पृ० ८: प्रणेता डा० सुरेन्द्र शास्त्री।

अभिज्ञानशाकुन्तलम् का नाट्य वैशिष्ट्य

अभिज्ञानशाकुन्तलम् की नाटकीय वस्तु के सांगोपांग विवेचन के बाद उसके आधार-तत्त्व को उपस्थित किया गया। अनेक विश्लेषण के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि कालिदास ने सिर्फ महाभारत की नीरस एवं असम्बद्ध शकुन्तला विषयक कथा को ही अपने नाटक का आधार नहीं बनाया अपितु लोक-कथा, वाल्मीकीय रामायण तथा भास के नाटकों से भी कुछ-न-कुछ तत्त्व-ग्रहण किया है। इतना ही नहीं, कालिदास के अभिज्ञानशाकुन्तलम् की कथावस्तु के सूक्ष्म अध्ययन से पता चलता है कि उन्होंने महाभारत की निर्जीव एवं निष्प्राण कथा को हू-ब-हू ग्रहण न कर उसे सरस, स्वाभाविक, सुसम्बद्ध तथा नाटकीय बनाने के लिए अनेक परिवर्तन एवं परिवर्धन किये हैं। यही कारण है कि इस नाटक की कथा-वस्तु के विन्यास में कालिदास की प्रखर प्रतिभा की झलक सर्वत्र दृष्टिगत होती है। कालिदास के चयनविषयक सिद्धान्त "विनेतुरद्रव्यपरिग्रहोऽपि बुद्धिलाघवं प्रकाशयतीति"[1] से कथानक की भविष्णुता का अन्दाज लगाया जा सकता है। स्पष्ट है कि उन्होंने मूल कथा को गरिमाओं से विभूषित देखकर अपने नाटक के अनुकूल अधिक उपयोगी तथा सरस बनाने के लिए अनेक महत्त्वपूर्ण आवश्यक चमत्कारी परिवर्त्तनों के साथ कल्पना-प्रसूत तत्त्वों का सन्निवेश कर सर्वथा अभिनव नाटकीय रूप प्रदान किया है फलतः वह इतना प्रभावकारी और आकर्षक हो गया कि मानव-समाज द्वारा प्रशंसनीय बन गया। यही उनकी नाटकीय कथा-वस्तु की अपनी विशेषता है। अतः यहाँ उनके इस वस्तुगत नाट्य-वैशिष्ट्य के प्रदर्शन के लिए कथा-वस्तु में कृत परिवर्त्तनों एवं परिवर्धनों का समीक्षात्मक अध्ययन अपेक्षित है।

इस पुस्तक के नामकरण से ही इसकी वस्तुगत विशेषता प्रकट होती है। "अभिज्ञायते येन तदभिज्ञानम् (अंगुरीयकम्) तेन अभिज्ञानेन स्मृतम् इति अभिज्ञानस्मृतम। शकुन्तलायाः इदम् शाकुन्तलम्। अभिज्ञान च तत् शाकुन्तलम् च अभिज्ञानशाकुन्तलम्।" यहाँ अभिज्ञान से तात्पर्य है पहचानने का साधनभूत वह अँगूठी जिसे देखकर शकुन्तला के साथ कृत गान्धर्व विवाह आदि की सारी बातों का पुनः स्मरण हो गया है। यही इस नाटक की प्रमुख घटना है। अतः इस घटना को ही उद्देश्य मानकर रचे गये इस नाटक का नाम अभिज्ञान-शाकुन्तलम् रखा गया। इसकी दूसरी व्युत्पत्ति इस प्रकार से की जाती है— अभिज्ञानेन स्मृता शकुन्तला। 'अधिकृत्य कृते ग्रन्थे' इस नियम के मुताबिक अभिज्ञानशकुन्तलम् होने पर 'ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य' के अनुसार अन्तिम

---

1 मालवि० अंक १ पृ० ७०, प्रकाशक—मोहनदेवपंत।

स्वर के ह्रस्व तथा नाटक की संज्ञा होने के कारण नपुंसकलिंग होने पर 'अभिज्ञानशकुन्तलम्' रूप होता है। नाटक का यह नामकरण कथावस्तु की नवीनता एवं मौलिकता का द्योतक है। अब यह विचारणीय है कि किस प्रकार महाकवि कालिदास ने महाभारत से प्राप्त कथा-सूत्रों को पिरो कर अभिनव रूप प्रदान किया है। इस पर कालिदास के व्यक्तित्व की स्पष्ट छाप परिलक्षित होती है। एतदर्थ यहाँ अभिज्ञानशकुन्तलम् की वस्तुगत विशेषता का तुलनात्मक विवेचन-विश्लेषण उपस्थित किया जाता है।

कालिदास ने महाभारत के राजा दुष्यन्त की प्रणय-व्यापार सम्बन्धी कामवासना से पूर्ण कथा को पूर्णरूपेण परिवर्तित एवं परिवर्धित कर नये परिवेश एवं कई नये पात्रों की सृष्टि कर अपनी नाट्य-रचना के उद्देश्य के अनुकूल बनाया। मालविकाग्निमित्रम् की तरह इसे इन्होंने सिर्फ विनोद के लिए नहीं अपितु विनोद के साथ हितोपदेश एवं विश्रान्ति के लिए बनाया। इस उद्देश्य की परिपूर्ति के लिए उन्हें भले ही दुर्वासा के शाप तथा अँगूठी की घटना की योजना की कल्पना करनी पड़ी है। दुष्यन्त, शकुन्तला, सर्वदमन और कण्व ऋषि मात्र महाभारत के इन चार पात्रों से नाटकीय कार्य-व्यापार का संचालन संभव नहीं था अत. कालिदास ने नायिका शकुन्तला की दो विश्वस्त सखियों अनसूया एवं प्रियम्वदा, कण्व के दो शिष्यों शार्ङ्गरव और शारद्वत, आश्रम की अधीक्षिका गौतमी, माधव्य (विदूषक) सारथि, भद्रसेन (सेनापति), वैखानस (तपस्वी शिष्य), मारीच, रैवतक (द्वारपाल), करभक, श्याल (नगररक्षक), धीवर, गालव, सूचक, जानुक (दो सिपाही), सानुमती, दुर्वासा, दो तापसी, परभृतिका, मधुकरिका और चतुरिका (दुष्यन्त की दासियाँ) आदि हर क्षेत्र के विविध पात्रों की सृष्टि की है। दुर्वासा के शाप के परिणामस्वरूप उन्हें नाटक के षष्ठ एवं सप्तम अंक में नवीन घटना का विन्यास करना पड़ा है। मूल कथा में इस घटना का कोई अस्तित्व नहीं है। यह कालिदास के वस्तु-विन्यास में महत्त्वपूर्ण है। इसी के द्वारा वे दुष्यन्त एवं शकुन्तला के पार्थिव प्रेम को स्वर्गीय प्रेम में परिणत करने में सफल हुए हैं। अभिज्ञानशाकुन्तलम् का कथानक काम और धर्म, वासना और कर्त्तव्य इन दो विरोधी मानस प्रवृत्तियों के तुमुल संघर्ष पर आश्रित है। इसके प्रथम तीन अंकों में काम की प्रमुखता है तथा बाद के अंकों में धर्म की विजय है। वासना के वशीभूत राजा का पतन होता है किन्तु कर्त्तव्य की ओर अग्रसर होने पर उनका चरम उत्थान होता है। इस तरह कहा जा सकता है कि यह नाटक "धर्माविरुद्धः कामोऽस्मि" का सजीव साहित्यिक स्वरूप है। इसमें आध्यात्मिक रहस्यों की ओर भी अपूर्व संकेत किया गया है। मालविकाग्निमित्रम् एवं विक्रमोर्वशीयम् में अंकित दिव्य दृश्यों एवं

दिव्य मूर्त्तियों के अलावे इसमें ऐसे अनेक तत्व एवं मूर्त्ति हैं, जो आत्मसंवेद्य एवं अनुभवगम्य हैं। भाषा द्वारा उसकी अभिव्यक्ति संभव नहीं है। इसी से इसे कालिदास का सर्वस्व माना जाता है। उनसे इस नाटक में धर्म एव प्रेम के योग से समुत्पन्न मधुरानन्द का आस्वाद मिलता है। यह उनकी सर्वतोमुखी प्रतिभा तथा ब्रह्माण्डव्यापिनी कल्पना का निदर्शन है। इसके प्रणयन में कालिदास का प्रमुख उद्देश्य वासनाजन्य प्रेम को त्याग और तपस्या द्वारा सच्चे ईश्वरीय प्रेम में परिणत करना है। उन्होंने पृथ्वी का इस कलात्मकता से स्वर्ग से मिलन कराया है कि दोनों की सीमा का मेल मालूम नहीं पड़ता है। इस नाटक की कथावस्तु में विविध घटनाओं की योजना इस कुशलता से की गयी है कि कथा-विकास में किसी प्रकार की वाधा नहीं पड़ती। इसमें छोटी-से-छोटी घटना भी मूल कथानक एवं उसके उद्देश्य से जुड़ी हुई है।

प्रथम अंक में महर्षि कण्व की अनुपस्थिति ही दुष्यन्त और शकुन्तला के प्रणय तथा गान्धर्व विवाह का मूल कारण बन जाती है। इस नाटक में दुर्वासा के शाप तथा मुद्रिका का घनिष्ठ सम्बन्ध है। पंचम अंक में अँगूठी को देखने से राजा की गान्धर्व विवाह सम्बन्धी स्मृति जग सकती थी, लेकिन वह शचीतीर्थ में गिर गयी। इस छोटी सी घटना के कारण ही नाटक का कथानक आगे बढ़ सका और आधारतः षष्ठ एवं सप्तम अंक की रचना कर कालिदास अपने उद्देश्य की पूर्ति में सफल हो सके। इसी के कारण नाटक पंचम अंक में दुःखान्त दृश्य के साथ समाप्त होने से बच गया।

कालिदास ने रोचक प्रस्तावना के वाद मृगया दृश्य से नाटक का समारम्भ कर अपनी नाट्यकला-कुशलता का परिचय दिया है। महाभारत की कथा में राजा दुष्यन्त सैनिकों, मंत्री एवं पुरोहित के साथ आश्रम के समीप पहुँचता है। उन सभी को वाहर में ही छोड़ कर अकेले राजा महर्षि कण्व के दर्शन के लिए स्वयं आश्रम के अन्दर जाता है और तुरत शकुन्तला का साक्षात्कार करके उसका उचित आतिथ्य-सत्कार स्वीकार करता है। इस बेढंगे एवं अस्वाभाविक वर्णन को कालिदास ने इस प्रकार नाटकीय रूप में उपस्थित किया है जिससे कथानक स्वाभाविक, सुसंगठित एवं सुरुचिपूर्ण हो गया। नाटक के प्ररम्भ में राजा दुष्यन्त अपने वेगवान् रथ पर बैठे हुए सिर्फ सारथि के साथ शिकार के लिए एक हरिण का पीछा करते हुए आश्रम के पास पहुँचता है। उसकी सेना बहुत पीछे रह गयी है। मृगयाविहार-यात्रा में राजा के साथ उनके मंत्री तथा पुरोहित नहीं गये हैं। तपस्वी वैखानस की आवाज—आश्रममृगोऽयं न हन्तव्यो न हन्तव्यः—पर राजा धनुष पर से वाण उतार कर वध करना छोड़ देता है। अनुकूल व्यवहार

से प्रसन्न होकर वैखानस चक्रवर्ती पुत्र-प्राप्ति का आशीर्वाद[1] देते हुए राजा से आश्रम में चल कर अतिथि सत्कार स्वीकार करने के लिए अनुरोध करता है। तदनुसार राजा अपने सारथि को बाहर ही छोड़ शिकारी वेश को उतार कर साधारण विनीत वेश में वहाँ प्रवेश करता है। वह वृक्ष की छाया में खड़ा होकर वृक्ष सींचती हुई तीनों सखियों की हास-परिहासपूर्ण वार्त्ता को प्रच्छन्न रूप में सुनता है तथा उनके आगमन की प्रतीक्षा करता है। तदनन्तर शकुन्तला अपनी दोनों सखियों अनसूया और प्रियम्वदा के साथ वृक्ष सींचती हुई उपस्थित होती है। राजा शकुन्तला के रूप-लावण्य को देख कर उस पर आसक्त हो जाता है। इसी समय एक भौरा शकुन्तला के मुँह पर भनभनाते हुए परीशान करता है। उस दयनीय अवस्था में रक्षा के लिए पुकारने पर उचित परिस्थिति के अनुसार पुरुवंश की मर्यादा के अनुकूल रक्षक के रूप में राजा प्रकट होकर उस अवला की रक्षा करता है। महाभारत की कथा में इस स्वाभाविक घटना का सर्वथा अभाव है। मूल कथा के अनुसार राजा के आश्रम में उपस्थित होते समय महर्षि कण्व फल लाने के लिए वन गए थे। अतः उनकी धर्म-कन्या शकुन्तला ने राजा का अतिथि-सत्कार किया। राजा के पूछने पर उसने स्वयं अपना जन्म-वृत्तान्त कहा। विवाह के लिए जब राजा ने प्रस्ताव किया तब वह ऋषि कण्व के वन से वापस आने तक रुकने कहा तथा अन्त में शीघ्रता करने पर इस शर्त पर उसने विवाह करना स्वीकार किया कि राजा के बाद उसका ही पुत्र राजा होगा। विवाहोपरान्त शकुन्तला गर्भिणी हो गयी। इस तरह महाभारत में शकुन्तला प्रगल्भा, स्पष्टभाषिणी एवं निर्भीक तरुणी के रूप में चित्रित की गयी है। लेकिन एक तपस्वी-कन्या का किसी अपरिचित व्यक्ति के साथ पहली मुलाकात मे इस प्रकार खुल कर बातचीत करना अस्वाभाविक एवं अनैतिक मालूम पड़ता है। स्वयं अपना जन्म-वृत्तान्त बताना और शर्त पर विवाह करना उसकी उच्छृंखल कामवासना की परितृप्ति के निमित्त किया गया अविचारपूर्ण व्यापार कहा जायगा। उसके विवाह का यह ढंग सौदा-सा प्रतीत होता है। कालिदास की आदर्श गृहस्थ कन्या शकुन्तला के लिए अपने जन्म के गोपन वृत्तान्त को अपने मुख से कहना सर्वथा उचित नहीं था। अतः कालिदास ने इस घटना मे यथोचित परिवर्त्तन कर इसे स्वाभाविक एवं मर्यादानुकूल बना दिया। उन्होंने उसकी प्रिय सखी अनसूया से सांकेतिक शैली में उसके जन्म का रोमाचक वृत्तान्त कहलाया।[2]

---

१ जन्म यस्य पुरोर्वंशे युक्तरूपमिदं तव।
पुत्रमेवं गुणोपेतं चक्रवर्तिनमाप्नुहि ॥१।१२। (अभि० शा०)

२ अनसूया—सुणदु अज्जो गोतमीतीरे पुराकिल तस्स राएसिणो उग्गे तवसि वट्टमाणस्स किंवि जादशंकेहिं देवेहिं मेणआ णाम अच्छरा पेसिदा णिअमविऽ-घकारिणी।
तदो वसन्तोदारसमए से उन्मादइत्तअं रूवं पेक्खिअ..........। (इत्यर्धोक्ते लज्जया विरमति) ॥
—अभि० शा० प्रथम अंक, पृ० ६७ (प्रणेता सुरेन्द्रदेव शास्त्री)

ऐसा करने से शकुन्तला के शील एवं मुग्धत्व की रक्षा हो गयी। महर्षि कण्व को वन से फल लाने में दो-चार घंटे से अधिक समय नहीं लगे होंगे। इतने अल्प काल में प्रणयानुकूल वातावरण तैयार करना, गान्धर्व विवाह कर लेना तथा आपन्नसत्वा हो जाना संभव प्रतीत नहीं होता है। एतदर्थ औचित्य की दृष्टि से कालिदास ने शकुन्तला के विपरीत भाग्य की तथा भावी अनिष्ट की शान्ति के लिए कण्व ऋषि को दूर सोमतीर्थ भेजा है। वहाँ उनके जाने, अनुष्ठान करने तथा लौट कर आने में स्वभावतः चार-छः महीने लग गए होंगे। इस अवधि में राक्षसों से यज्ञ की रक्षा के लिए आश्रमवासियों के निवेदन के अनुसार राजा दुष्यन्त आश्रम में रहे। इस बीच नायक-नायिका का कई बार मिलन एवं वियोग संभव हुआ। इतने समय में दुष्यन्त एवं शकुन्तला का परस्पर प्रेम उत्तरोत्तर बढ़ता गया। राजा ने अपनी नामांकित अँगूठी शकुन्तला को उपहार स्वरूप दी है। कालिदास ने दोनों के प्रेम का ऐसा स्वाभाविक विकास दिखाया है जिसमें सिर्फ दुष्यन्त ही नहीं अपितु शकुन्तला भी उसके दिव्य गुणों पर समान रूप से अनुरक्त है। दोनों की एक दूसरे के प्रति हार्दिक सहानुभूति का भी स्पष्ट संकेत मिलता है।[1] दोनों की कामवेदना भी असह्य हो गयी है। दुष्यन्त विदूषक से शकुन्तला के बारे में अपनी मनः कामना प्रगट करता है तथा अपनी प्रेमिका शकुन्तला की स्वाभाविक मानसिक चेष्टाओं से उसकी मानसिक व्यथा का अनुभव करता है (२।१, २।११, १२)। स्वयं राजा अपनी काम-पीड़ा का अनुभव करके शीतलता प्रदान करने वाले चन्द्रमा को उपालम्भ देता है (३।३)। इधर शकुन्तला भी काम-सन्ताप से इतना संतप्त हो गयी है कि इस विषय में अपनी सखियों से

---

१ शकुन्तला—अणसूये ! अभिणवकुससुईए परिक्खदं मे चलणं। कुरवअसाहा-परिलग्गं च वक्कलं। दाव पडियाद्मेध म जावणं मोआवेमि।

(शकुन्तला राजानमवलोकयन्ती सव्याजं विलम्ब्य सह सखीभ्यां निष्क्रान्ता)।

(—अभि० शा० अंक १, पृ० ८३)

राजा—मन्दोत्सुक्योऽस्मि नगरगमनं प्रति। यावदनुयात्रिकान् समेत्य नातिदूरे तपोवनस्य निवेशयेयम्। न खलु शक्नोमि शकुन्तला व्यापारादात्मानं निवर्तयितुम्। मम हि—

गच्छति पुरः शरीरं धावति पश्चादसंस्तुतं चेतः।
चीनांशुकमिव केतोः प्रतिवातं नीयमानस्य ॥१।३४॥ (अभि० शा०)

कहती है कि यदि तुम दोनों की अनुमति हो तो ऐसा प्रवन्ध करो कि मैं उस राजर्षि दुष्यन्त की कृपा-पात्री बनी रहूँ। अन्यथा मेरा स्मरण रखना। (तद् यदि वामनुमतम्, ततस्तथा प्रवर्तितव्यम्, यथा तस्य राजर्षेरनुकम्पनीया भवामीति। अन्यथा स्मरतं माम्)। सखियों की सम्मति के अनुसार शकुन्तला तन्निमित्तक मदनलेख भी लिखती है (३।१३)। राजा जवाव मे कहता है—हे कृशांगी! कामदेव तुझे निरन्तर तपा रहा है। लेकिन वह मुझे जला ही रहा है (३।१४)। इस तरह की उभयवर्त्ती कामदशा तथा एक दूसरे के प्रति परस्पर अनुराग-अभिव्यंजन से दुष्यन्त एवं शकुन्तला दोनों के चरित्रों में कालिदास ने उचित शिष्टाचार का प्रदर्शन किया है। इतना ही नहीं, जब प्रियम्वदा अपनी सखी शकुन्तला की कामपीड़ित दशा में उसके जीवन के रक्षार्थ राजा के अनुग्रह की प्रार्थना करती है तब राजा सखियों के जाने पर एकान्त में शकुन्तला के साथ अपना राग प्रदर्शन करता है।

महाभारत में एकान्त में ही दुष्यन्त और शकुन्तला की सारी बातें, प्रेम का विकास तथा विवाह आदि सम्पन्न होता है। इसे अनुपयुक्त समझ कर कालिदास ने एतदर्थ शकुन्तला की सहायता के निमित्त अनसूया एवं प्रियम्वदा नामक दो सखियों का सन्निवेश किया है। इसी तरह कार्यान्तर सचिव विदूषक (राजा का अभिन्न मित्र) भी द्वितीय अंक में प्रविष्ट होता है। इन तीनों के सामावेश से ही कथानक की स्वाभाविकता एवं रोचकता मे आशा से अधिक अभिवृद्धि हुई है। कामपीड़ित शकुन्तला को जाने से जब राजा रोक लेता है तब शकुन्तला उससे कहती है—हे राजन्! शील की रक्षा कीजिए। काम-पीड़त भी मुझे अपने पर अधिकार नहीं है।[1] इस दशा में दुष्यन्त शकुन्तला से गान्धर्व विवाह के लिए प्रस्ताव[2] करता है तथा उसे अपने आलिंगन पाश में आवद्ध कर लेता है। इस अवसर पर पूरे औचित्य एवं कलात्मकता के साथ नाटककार गौतमी तथा सखियों के आगमन की सूचना देता है। शकुन्तला के निर्देशानुसार राजा लताकुंजों के पीछे छिप जाता है। अपने प्रेमी के साथ एकान्त में होने पर यद्यपि यह उसके प्रेमाग्रह का प्रतिकार है तथापि प्रणय ने शकुन्तला को इतना मुखर वना दिया है

---

१ शकुन्तला—पौरव ! रक्ख विणअं। मअणसंतत्तावि ण हु अत्तणो पहवामि।
अभि० शा० अंक ३, पृ० १७२।

२ राजा—भीरु ! अलं गुरुजनभयेन ! दृष्ट्वा ते विदितधर्मा तत्रभवान्नात्र दोषं ग्रहीष्यति कुलपतिः। अपि च,—
गान्धर्वेण विवाहेन वह्व्यो राजर्षिकन्यकाः।
श्रूयन्ते परिणीतास्ताः पितृभ्यश्चाभिनन्दिताः ॥३।२० वही पृ० १७३

कि वह लताकुंज को पुनः विहार के लिए आमन्त्रित करते हुए उससे विदा लेती है। राक्षसों के आगमन की सूचना देकर विरहाकुल दुष्यन्त को भी मंच से हटा दिया जाता है। यौवन-मद-मत्तता के हाव-भाव, लीला-चांचल्य, प्रणय-लज्जा के साथ आत्मप्रकाश का प्रबल संग्राम आदि सभी बातों को खोल कर कवि ने रख दिया है। यह शकुन्तला की सरलता का निदर्शन है। अनुकूल अवसर में इस भावावेश के आकस्मिक आविर्भाव को रोकने के लिए वह पहले ही प्रस्तुत नहो थी। इस प्रकार दोनों के हृदय में प्रणयोत्पत्ति, विकास एवं चरम-परिणति का चित्रण कालिदास ने बड़े कौशल से किया है। वासना की प्रबलता को कवि ने दुष्यन्त और शकुन्तला के व्यवहार से स्पष्ट कर दिया है।

महाभारत में बहुत देर तक सेना को बाहर छोड़ कर आश्रम के अन्दर राजा का प्रणयालाप करना, विवाह करना आदि घटनाएँ अस्वाभाविक सी लगती हैं। कालिदास ने अपने नाटक में पीछे छूटी हुई सेना का सुन्दर उपयोग किया है। राजा को नहीं पाकर सेना खोजती हुई आश्रम में चली आयी। शकुन्तला आदि से प्रेमालाप में संलग्न राजा सेना द्वारा किये गये उपद्रव की सूचना पाकर उचित-व्यवस्था करने के लिए बाहर जाता है। अनसूया तथा प्रियम्वदा इस स्थिति में राजा का अतिथि-सत्कार नहीं कर सकने के कारण पुनः दर्शन देने के लिए अनुरोध करती हैं। इस प्रकार कवि ने प्रथम मिलन बड़ी कलात्मकता एवं सुन्दरता से सम्पन्न किया है। उपर्युक्त परिवर्तित कथानक में किसी प्रकार की अस्वाभाविकता की प्रतीति नहीं होती है। नाटक के द्वितीय एवं तृतीय अंकों में प्रथम अंक की ही कथा-वस्तु का विकास दिखाया गया है। द्वितीय अंक में जब राजा दुष्यन्त विदूषक को अपनी माता के पास भेजता तब उसके (विदूषक के) दिमाग से पूर्वोक्त शकुन्तला के साथ कृत रति-विषयक बात को इसलिए हटा देना चाहता है जिससे वह जाकर देवी या अन्य किसी से न कह दे।[1] वस्तुतः पंचम अंक की शकुन्तला-अस्वीकार वाली घटना की आधारशिला यहीं रखी गयी है। यदि यहां विदूषक के सन्देह को नही मिटाया जाता तथा उसे उलटा विश्वास नहीं दिलाया जाता तो सामाजिक के मन में यह शंका पैदा हो सकती थी कि जब विदूषक राजा के शकुन्तला विषयक प्रेम को जानता था तो उसे पत्नी रूप में राजा को अस्वीकार करते देखकर उसे कुछ क्यों नही कहा। इस शंका का निवारण नाटककार ने यहीं कर दिया है। साथ ही विदूषक ने शकुन्तला को प्रत्यक्ष कभी देखा भी नहीं। इस घटना का सृजन कर कालिदास ने नाटक के कथानक की स्वाभाविकता में अभिवृद्धि की है।

---

१ क्व वयं, क्व परोक्षमन्मथो मृगशावैः समेधितो जनः।
परिहासविजल्पितं सखे परमार्थेन न गृह्यतां वचः ॥२।१८॥ (अभि० शा०)

कण्व के सोम-तीर्थ-गमन की नवीन कल्पना पर कालिदास ने अनेक नाटकीय घटनाओं को आश्रित कर दिया है। महर्षि कण्व की दीर्घकालिक अनुपस्थिति में ही तपस्वियों के अनुरोध पर राक्षसों के उपद्रव से आश्रय की रक्षा के लिए राजा का अधिक समय तक वहाँ ठहरना, फलतः नायक-नायिका के प्रणयोद्भव, विकास और परिणति तथा निरन्तर पति के चिन्तन में मग्न रहने के कारण अतिथि-सेवा धर्म की उपेक्षा के परिणामस्वरूप दुर्वासा का शाप आदि घटनाएँ सम्भव हो सकी। सखियों के अनुरोध से शाप सुधार में कण्व द्वारा सोमतीर्थ मे किये गये उपचार भी कारणभूत थे। मूल कथा में इन रमणीय सुसगत और स्वाभाविक घटनाओं का कही नामो-निशान नही ह। सोमतीर्थ से लौटने पर महर्षि कण्व को दुष्यन्त और शकुन्तला के प्रणय सम्बन्ध की सूचना कालिदास ने किसी के मुख से कहला कर छन्दोमयी वाणी द्वारा कहलायी। प्रियम्वदा ने सूचना देने के लिए चिन्तित अपनी सखी अनसूया से उसका वर्णन किया।[1] सूचना देने का उनका यह ढंग अनूठा एवं औचित्यपूर्ण है। इस नाटक में सूचना पाते ही कण्व ने तत्काल ही गर्भिणी शकुन्तला को पति के पास भेजने की व्यवस्था की है।[2] कण्व के इस कथन से कविवर कालिदास विवाह के बाद तुरत कन्या को पतिगृह भेज देने की प्राचीन भारतीय मर्यादा का पालन करने के साथ-साथ कन्या की विदाई के बाद उत्तरदायी मननशील पिता की मनोदशा को भी अभिव्यक्त कर देते हैं। इस परिवर्तन से नाटक के कथानक में पूरी स्वाभाविकता आ गयी है। इसके सर्वथा विपरीत महाभारत की कथा के अनुसार विवाह के बाद शकुन्तला तीन वर्षों के बाद कण्व के आश्रम में ही पुत्र उत्पन्न करती है। कण्व उसका जातकर्म सस्कार करते है। सर्वदमन जब छः वर्षों की अवस्था का हो जाता है तब यह सोचकर कि विवाहोपरान्त अतिदीर्घ काल तक कन्या को पिता के घर मे रखना अनुचित है, उसके पति के घर में भेजा जाता है। इस लोकमर्यादा का ज्ञान रहने पर भी नौ वर्षों तक आश्रम में रहने पर भी ऋषि को यह स्मरण नही हुआ कि उनके यहाँ अधिक समय तक रहने के कारण शकुन्तला की निन्दा होगी। यह बिलकुल अस्वाभाविक और उपहास्य मालूम पड़ता है। महाभारत मे शकुन्तला नौ वर्षों के बाद भी पतिगृह जाने के लिए तैयार नही होती है, वह

---

१ प्रियम्वदा—(संस्कृतमाश्रित्य)—

दुष्यन्तेनाहितं तेजो दधानां भूतये भुवः।

अवेहि तनयां ब्रह्मन्नग्निगर्भां शमीमिव ।।४।४। (अभि० शा०)

२ अर्थो हि कन्या परकीय एव तामद्य सम्प्रेष्य परिग्रहीतुः।

जातोऽस्मि सद्यो विशदान्तरात्मा चिरस्य निक्षेपमिवार्पयित्वा ।।४।।२२।। वही।

आश्रम में ही रहना चाहती है। उसे दुष्यन्त से अलग रह कर भी इन्द्र के कथनानुसार अपने पुत्र सर्वदमन के चक्रवर्ती होने में अखण्ड विश्वास है। यही कारण है कि वह दृढ़ता के साथ अपने इस विश्वास की घोषणा करती है। इस नाटक में शकुन्तला को अपने पतिगृह जाने के लिए अत्यधिक उत्सुकता है।[1] यहाँ शकुन्तला को अपने पति के लिए असाधारण आदर एवं भक्ति-भावना है। वह पति के लिए लोक को भूल जाती है। उसके लिए उसका पति ही तन, पति ही मन तथा पति ही सर्वस्व है। वह पति की चिन्ता में इस तरह डूबी हुई है कि उसे दुर्वासा के आने और शाप देकर चले जाने का कुछ पता नहीं है। आदर्श पत्नी के रूप में शकुन्तला के चरित्र-चित्रण में कालिदास की अपूर्व नाट्य-प्रतिभा का परिचय मिलता है।

महाभारत के अनुसार तीन वर्षों के बाद शकुन्तला को पुत्र उत्पन्न हुआ है। यह बिलकुल अस्वाभाविक तथा मानव प्रकृति के विपरीत है। कालिदास ने इसे मानवोचित बनाने के लिए राजा द्वारा अस्वीकार कर देने पर दैवी-शक्ति द्वारा मारीच के आश्रम में भेजा। वहीं वह यथासमय सर्वदमन को पैदा करती है। मारीच ऋषि उसका जात-संस्कार अपने हाथों से सम्पन्न करते हैं। ऐसा करने से दुष्यन्त को अपने पुत्र सर्वदमन तथा शकुन्तला से मिलन कराने में कवि को सहज सफलता मिली है। साथ ही यह कन्या की मर्यादा के अनुकूल हुआ है। वहाँ अपनी तपस्या के फल के रूप में शकुन्तला का पश्चात्ताप के फलस्वरूप आत्मज्ञान प्राप्त अपने पति दुष्यन्त से मिलन होता है। जहाँ इनका पूर्व मिलन पार्थिव तथा वासनात्मक था वहाँ यह उत्तर मिलन आध्यात्मिक एवं स्वर्गीय है। पश्चात्ताप और तपस्या की ज्वाला में क्षुद्रवासना तथा अज्ञान भस्मसात् हो गया। अब वे दोनों निर्विकार एवं निर्मल हो गये हैं। मिलन की इस चमत्कारपूर्ण नूतन कल्पना पर ही मुग्ध हो जर्मन कवि गेटे ने अभिज्ञानशाकुन्तलम् की हार्दिक प्रशंसा की है।

महाभारत में कण्व ऋषि शकुन्तला को पतिगृह भेजते समय थोड़ा-सा गतिशील एवं दुःखी होते नजर आते हैं। लेकिन कालिदास ने शकुन्तला की विदाई-वेला का ऐसा कारुणिक दृश्य उपस्थित किया है जो विवाह के बाद भारतीय कन्या की विदाई के अवसर का सजीव चित्र है। इसी के आधार पर उन्होंने नाटक के चतुर्थ अंक की आधारशिला रखी है। इस अंक के प्रथम दृश्य में पति-वियोग

---

१ शकुन्तला—(सप्रणामं परिक्रम्य। जनान्तिकम्) हला पिअंवदे णं अज्जउत्तदंसणुस्सुआए वि अस्समपदं परिच्चअंतीए दुक्खेण मे चलणा पुरदो पवट्टन्ति।

—(अभि० शा० अंक ४, पृ० २२९)

की चिन्ता में शकुन्तला डूबी है। इसी समय दुर्वासा आश्रम में उपस्थित होते हैं। पति की चिन्ता में बेसुध शकुन्तला द्वारा दुर्वासा का आतिथ्यसत्कार नहीं होता। हालांकि उसे ही कण्व ने अपनी अनुपस्थिति में अतिथि-सत्कार का भार सौंपा था। अतिथिसेवाधर्म में प्रमाद के कारण दुर्वासा शकुन्तला को शाप देकर चले जाते हैं।[1] पीछे से दौड़ कर *प्रियम्वदा उनके पास जाती है तथा अनुनय-विनय के साथ* क्षमा दान के लिए प्रार्थना करती है। अन्त में प्रसन्न होकर दुर्वासा शाप में थोड़ा सुधार कर देते हैं और कहते हैं कि पहचान के आभूषण को दिखलाने से शाप समाप्त हो जायगा।[2] इस प्रकार यहाँ अभिज्ञान के साथ राजा दुष्यन्त द्वारा शकुन्तला को प्रदत्त अंगुलीयक की महत्ता का स्पष्ट संकेत किया गया है। इस शाप की योजना महाभारत में नहीं है। यह कालिदास की मौलिक प्रतिभा की उपज है। इस शाप और अंगुलीयक के ऊपर ही सम्पूर्ण नाटक का उद्देश्य निर्भर करता है। इस नवीन घटना के सन्निवेश से सम्पूर्ण नाटक की रूपरेखा मूल कथा से भिन्न हो जाती है। यह घटना शकुन्तला की भावी दुर्घटना का प्रथम सूचक है। इसी के द्वारा कालिदास महाभारत के मूल कथानक को अभिनव रूप प्रदान करने और अपनी असाधारण प्रतिभा-प्रदर्शन में सफल हुए हैं। इस महत्व-पूर्ण केन्द्रीय घटना को विष्कम्भक में उल्लिखित कर उन्होंने अपने नाट्य-कौशल का परिचय दिया है। इस अंक के दूसरे दृश्य का प्रारम्भ शिष्यों के प्रभात-वर्णन[3] से होता है। इसमें किसी रहस्यमय घटना के घटित होने का संकेत मिलता है। सूर्य और चन्द्रमा के एक साथ उदय-अस्त के द्वारा मानो संसारियों का भाग्यचक्र

---

१ विचिन्तयन्ती यमनयमानसा तपोधनं वेत्सि न मामुपस्थितम्।
स्मरिष्यति त्वां न स बोधितोऽपि सन् कथां प्रमत्तः प्रथमं कृतामिव ॥४।१॥

२ प्रियम्वदा—तदो मे वअणं अण्णहाभविदुं णरिहदि, किंदु अहिण्णाणाभरण दंसणेण सावो णिवत्तिस्सदि त्ति मंतअंतो एव्व अंतरिहिदो।
—(अभि० शा० चतुर्थ अंक, पृ० १९२)

३ यास्त्येकतोऽस्तशिखरं पतिरोषधीना—
माविष्कृतोऽरुणपुरःसर एकतोऽर्कः।
तेजोद्वयस्य युगपद्व्यसनोदयाभ्याम्।
लोको नियम्यत इवात्मदशान्तरेषु ॥४।२॥
अन्तर्हिते शशिनि सैव कुमुद्वती मे
दृष्टिं न नन्दयति संस्मरणीय शोभा।
इष्टप्रवासजनितान्यबलाजनस्य
दुःखानि नूनमतिमात्रसुदुःसहानि ॥४।३॥ (अभि० शा०)

नियन्त्रित हो रहा है। इससे विदित होता है कि जीवन या प्रणय निरा आनन्दमय ही नहीं। यही दृश्य आगे चल कर शकुन्तला की विदाई में परिणत हो जाता है। पं० चन्द्रशेखर पाण्डेय[1] के शब्दों में, "शकुन्तला के प्रयाण का यह दृश्य अपने कवित्वमय वर्णन में, कन्या से गमन पर पितृ-हृदय की भावनाओं के चित्रण में, तथा सामाजिक एवं नैतिक आदर्शों के निरूपण में अनुपम है। कण्व की व्यग्रता, अनसूया और प्रियम्वदा की आनन्द में परिणत चिन्ता, कण्व का राजा के नाम संदेश और भावी गृहलक्ष्मी को उपदेश तथा आश्रम की नीरवता में विविध भाव और घटनाएँ, ये सब ऐसी मार्मिकता तथा प्रगाढ़ सुकुमारता से चित्रित हुए हैं कि प्रतीत होता है कि यह मानो शब्द-निर्मित मानव-हृदय हो।"

अभिज्ञानशाकुन्तलम् के प्रथम तीन अंकों में यौवन, सौन्दर्य तथा प्रेम का बिलकुल मादक, मोहक एवं विस्मृतिशील चित्र मिलता है। राजा दुष्यन्त के साथ गान्धर्व विवाह कर शकुन्तला किसी भारी शील-पतन की अपराधिनी हो रही है। भले ही कण्व ने इस प्रणय-सम्बन्ध पर यह विचार कर प्रसन्नता व्यक्त की है कि योग्य व्यक्ति के साथ सम्बन्ध हुआ है। किसी अन्य आश्रमवासी ने भी शकुन्तला के इस व्यवहार को अशोभन नहीं कहा है, लेकिन शकुन्तला के अनुसार ही उसका वह व्यवहार तपोवन विरोधी था।[2] राजा के मुख से शकुन्तला के साथ की प्रणयलीला सुन कर विदूषक परिहास में कहता है कि आपने तपोवन को क्रीड़ा-उद्यान बना दिया है (कृतं त्वयोपवनं तपोवनमिति पश्यामि)। स्पष्ट है कि शकुन्तला के यौवन में ही चिन्ता का बीजारोपण हो गया, किन्तु यह अलग बात है कि जवानी के जोश में उसे उसका भान नहीं होता है। नाटक के चौथे अंक में यह चिन्ता दुर्वासा के शाप से प्रत्यक्ष हो जाती है। कण्व ने इसे तपोवन विरोधी आचरण समझ कर भी दया एवं उदारतापूर्वक ध्यान नहीं दिया। संभवतः कण्व की ओर से भी दुर्वासा ने शील-रक्षार्थ यह दंड देना उचित समझा। चिन्ता की इस पृष्ठभूमि में शकुन्तला की विदाई का दृश्य और भी अधिक व्याकुलताजनक बन गया है। इस अंक में संपूर्ण वातावरण स्नेह, सद्भावना एवं आत्मीयता की मर्मस्पर्शी अभिव्यक्ति से ओत-प्रोत है। क्या जड़, क्या चेतन सभी शकुन्तला की विदाई पर करुणा की धारा बहा रहे हैं। शकुन्तला के प्रति सद्भावना, सहानुभूति एवं मांगलिक

---

१ संस्कृत साहित्य की रूपरेखा, पृ० ११७

२ शकुन्तला—(आत्मगतम्) किं णु खलु इमं पेक्खिअ तवोवणविरोहिणो विआरस्स गमणीअहितू संवुत्ता। (अभि० शाकु०, अंक १, पृ० ६१)।

आशीर्वादों[1] से सिर्फ आश्रमवासियों की उदारता और सहृदयता पर ही प्रकाश नहीं पड़ता है अपितु शकुन्तला के सरल, निस्पृह, पवित्र एवं निश्चल आत्मीयतापूर्ण आचरण की परोक्ष स्वीकृति भी उसमें विद्यमान है। यहाँ शकुन्तला के चरित्र को बहुत उदात्त एवं उन्नत बनाया गया है। कविवर कालिदास ने प्रेमिका शकुन्तला की चित्त-वृत्तियों की जिस सहृदयता के साथ विवृति की है उसी तरह यहाँ विदाई के अवसर पर सबके योग्य-व्यवहार एवं अनुकूल वातावरण की सृष्टि की है। तपोवन के पशु-पक्षियों, लता-वृक्षों से शकुन्तला का आत्मीय सम्बन्ध जोड़कर साक्षात् निसर्ग-कन्या बनाने में नाटककार को आशातीत सफलता मिली है। आश्रम के नैसर्गिक वातावरण में पली हुई शकुन्तला के जीवन-कर्म तथा स्वभाव में अभिनव चमत्कार उत्पन्न कर कालिदास ने इस नाटक को सजीव बना दिया है। ऐसा लगता है कि इस अंक में मानव-स्वभाव की सभी स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ मूर्त्त हो गयी हैं। नाटक का उद्देश्य केवल विनोद नहीं अपितु हितोपदेश भी है। इस उद्देश्य की पूर्त्ति ऋषि कण्व के मंगल वाक्य एवं पतिगृह में शकुन्तला के आचरणीय व्यवहार के लिए दिये गये उपदेश[2] तथा शिष्यों द्वारा दुष्यन्त के पास भेजे गये संदेश[3] में हुई है। इसमें वस्तुतः भारतीय संस्कृति के सनातन संदेश ध्वनित हुए हैं। इस विदाई प्रसंग में कवि ने वर्णाश्रम धर्म के प्रति अपनी आस्था एवं कौटुम्बिक कर्त्तव्यों के प्रति जागरूकता का समुचित प्रतिपादन किया है। फिर भी नाटककार ने स्नेह-सौहार्द-पूर्ण विदाई के मांगलिक वातावरण में भी विगत चिन्ता के तत्त्व को इस कौशल से सांकेतिक रूप में बनाये रखा है कि वह शकुन्तला के पति मिलन के उत्साह को क्षीण न कर दे। दुर्वासा के शाप से जो व्याकुलता उत्पन्न हुई है उसे अनसूया का यह कथन कि यद्यपि विषयों से विमुख हमलोगों को ये प्रेम-प्रसंग की बातें मालूम नहीं हैं तथापि मेरा विचार है कि राजा दुष्यन्त ने शकुन्तला के साथ अभद्र व्यवहार किया है, शकुन्तला के भावी-कल्याण की चिन्ता में अभिवृद्धि करता है।

---

१ तापसीनामन्यतमा—(शकुन्तलाप्रति) जादे ! भत्तुणो बहुमानसूअअं महादेई सद्दं लहेहि।

द्वितीया—वच्छे ! वीरप्पसविणी होहि।

तृतीया—वच्छे ! भत्तुणो बहुमदा होहि।

सख्यौ—सहि ! सुखपज्जनं दे होदु। (वही)

२ अभि० शा० चतुर्थ अंक श्लोक १८।

३ अस्मान् साधु विचिन्त्य संयमधनानुच्चैः कुलं चात्मन-

स्त्वय्यस्याः कथमप्यबान्धवकृतां स्नेहप्रवृत्तिं च ताम्।

सामान्यप्रतिपत्तिपूर्वकमियं दारेषु दृश्या त्वया

भाग्यायत्तमतःपरं न खलु तद् वाच्यं वधूबन्धुभिः ॥४।१७। (वही)

पुत्रवत् पालित दीर्घापांग मृग द्वारा शकुन्तला के पथ को रोकने का अभिप्राय यही है कि उसका भावी जीवन अपने पति के घर में मंगलमय नहीं होगा, अतः उसे आश्रम छोड़कर वहाँ नहीं जाना चाहिए। स्वयं शकुन्तला को कमल के पत्तों की आड़ में बैठे हुए भी अपने साथी चकवा को नहीं देख सकने के कारण व्याकुल चकवी को चिल्लाती देखकर आशंका होती है कि शायद उसकी मनोकामना पूरी न हो (हला ! पेक्ख । णलिणीपत्तन्तरिदं सहअरं अवेक्खन्ती आदुरा चक्कवाई आरउदि दुक्करं अहं करेमित्ति)। दुर्वासा के शाप की घटना से अनभिज्ञ शकुन्तला आश्रम से विदाई के समय अपनी सखियों के यह संकेत[1] करने पर कि यदि वह राजा तुम्हें पहचानने में कुछ विलम्ब करे तो उसे उसकी नामाङ्कित यह अँगूठी दिखला देना, प्रकम्पित हो उठती है। इस प्रकार इन संकेतों से चिन्ता, पुनः पुनः संभावित सुख की कल्पना को बाधित करती चली आई है। कितनी नाट्यकला निपुणता के साथ कवि हर्षोल्लास एवं आनन्द-क्रीड़ा में भी यह याद करने के लिए हमें मजबूर करता जा रहा है कि महर्षि कण्व की अनुपस्थिति में आरोपित, अंकुरित एवं पल्लवित यह प्रणय-व्यापार अशोभन और अमंगल भी है।

समीक्षात्मक अनुशीलन के बाद यह कहा जा सकता है कि सांस्कृतिक, सामाजिक, लोकाचार तथा काव्य की दृष्टि से चतुर्थ अंक सर्वाधिक प्रशस्त एवं रमणीय और कालिदास का सर्वस्व है।[2] वस्तुतः इस अंक में भौतिक एवं आध्यात्मिक जीवन की विषमताओं को हटाकर संतुलन और सामंजस्य उपस्थित किया गया है। इसमें हम देखते हैं कि आध्यात्मिक जीवन की करुणा भौतिक जीवन की करुणा से अधिक द्रवणशील, विवेकशील और समर्थ हुई है। कला और जीवन का अद्भुत समन्वय इसकी निजी विशेषता है। नाटक के पंचम अंक में करुणा की यही भावना हंसपदिका के गीत[3] से अधिक तीव्रतर हो जाती है। नेपथ्य से सुनाई पड़नेवाले इस गीत से हमारा हृदय आरम्भ में इसलिए अत्यधिक व्याकुल-व्यथित हो जाता है कि हमारे मानस पर शकुन्तला के साथ दुष्यन्त की प्रेम-लीला

---

१ सख्यौ (तथा कृत्वा) सहि ! णाम सो राआ पच्चहिण्णाणमन्थरो भवे, तदो से इमं अत्तणाम हेअअंकिअं अंगुलीअअं दंसेहि। (अभि० शाकु० अंक ४ पृ० २४८)।

२ कालिदासस्य सर्वस्वभमिज्ञानशकुन्तलम् ।
तत्रापि च चतुर्थोऽङ्को यत्र याति शकुन्तला ।।

३ (आकाशे गीयते) अहिणवमहुलोलुवो तुमंतह परिचुंबिअ चूअमंजरिं ।
कमलवस हमेत्तणिव्वुदो महुअर ! विम्हरिओ सिणं कहं ।।१।। (अभि शा० अंक ५)

का प्रभाव ताजा बना हुआ है। वह अपनी सखियों, तपोवन के सभी प्राणियों तथा पिता कण्व से शुभ कामना और आशीर्वाद लेकर अति स्निग्ध, करुण एवं पूत भाव से अनेक अरमान लिये पति के घर आ रही है। कालिदास ने अपने नाट्यकला-नैपुण्य द्वारा अंक के आरम्भ में राजा के चंचल प्रणय तथा भावी प्रत्याख्यान सम्बन्धी घटना की सूचना दिला दी है। प्रकारांतर से कवि ने यह प्रकट कर दिया है कि दुर्वासा के शाप से घटने वाली घटना का बीज राजा दुष्यन्त के स्वभाव में विद्यमान है। नाटककार ने इस प्रकार के आभासों से हमारे मानस को पहले से ही ऐसा बना दिया है कि शकुन्तला के साथ राजा के निर्मम व्यवहार तथा उसके परित्याग की घटना से अचानक कोई आघात नहीं पहुँचे। इससे यह कहा जा सकता है कि यह करुण-गीत आगे के क्रूर-काण्ड की पृष्ठभूमिका है।

महाभारत के शकुन्तलोपाख्यान के अनुसार दुष्यन्त एक प्रकार का कामुक लम्पट राजा के रूप में चित्रित किया गया है। वह कण्व के आश्रम में तरुणी शकुन्तला के सौन्दर्य को अकस्मात् देखकर मुग्ध हो जाता है तथा उसके ही पुत्र के राजा होने की शर्त्त को मंजूर कर विवाह कर लेता है। वह हमेशा सचेत है कि ऋषि की अनुपस्थिति में उसने यह अनुचित कर्म किया है। अतः वह ऋषि के क्रोध के भय से प्रकम्पित है। इसी भय के कारण वे अपने आश्वासन एवं वचन के अनुसार निर्धारित समय पर अपने भवन में शकुन्तला को लाने के लिए किसी को नहीं भेजता है। कालक्रम से वह उसे बिलकुल भूल जाता है। अन्ततोगत्वा नौ वर्षों की सुदीर्घ प्रतीक्षा के बाद जब महर्षि कण्व के आदेशानुसार शार्ङ्गरव एवं शारद्वत नामक दोनों शिष्य शकुन्तला को अपने पुत्र सर्वदमन के साथ राज-दरबार में पहुँच कर लौट आता है तब अपने पुत्र को आगे कर शकुन्तला राजकीय, न्यायालय में दुष्यन्त के सम्मुख स्वयं उपस्थित होती है। वह नौ वर्षों के पूर्व अपने साथ कृत प्रणयसम्बन्ध की सारी बातें उन्हें स्मरण दिलाती है। इस पर राजा अनभिज्ञ होने का बहाना करता है तथा अपशब्दों के साथ उसकी सच्ची बातों का खण्डन करता है। यहाँ अकेली शकुन्तला दुष्यन्त को पुत्र-प्रेम प्रदर्शित करने के लिए प्रेरित करती है तथा पत्नीव्रत धर्म पर प्रकाश डालती है। वह राजा को पत्नीत्यागी तथा महापापी बताती हुई क्रुद्ध होती है। दुष्यन्त लोकापवाद के भय से स्मरण रहने पर भी स्वीकार नहीं करता है। निराश होकर जाते समय जब आकाशवाणी उसकी परस्पर गान्धर्व-विवाह की सत्यता को घोषित करती है तथा यह भी पुष्टि करती है कि सर्वदमन उसी का पुत्र है तब राजा पुत्र सहित शकुन्तला को अंगीकार कर लेता है। राजा स्वयं इसके बाद कहता है कि मैंने इसके साथ विवाह अवश्य किया था किन्तु लोक इस घटना को सत्य नहीं मानता। इसीलिए मैंने ऐसा व्यवहार

किया है। दुष्यन्त का यह तर्क अपने चरित्र को निष्कलंकित बनाये रखने के लिए तो ठीक है, किन्तु शकुन्तला के पक्ष में तो यह व्यवहार न्यायसंगत नहीं माना जा सकता है। दुष्यन्त का यह कितना अमानवीय कर्म है कि सम्पूर्ण घटना के स्मरण रहने पर उसने शकुन्तला को अकेले छोड़ दिया। उसके भविष्य के बारे में उसने तनिक भी विचार नहीं किया। सचमुच इन घटनाओं की स्मृति के बाद यदि राजा का चरित्र घृणास्पद है तो शकुन्तला के साथ प्रणय-विलास एवं परिणय की समग्र बातों का विस्मरण तो उसकी राक्षसी वृत्ति ही कही जायगी। इस घटना से वह अत्यन्त स्वार्थी, कुटिल, क्रूर, भीरु तथा निर्बल हृदय का प्रतीत होता है। महाभारत के इस दुष्यन्त के प्रति हमारी कोई सद्भावना और सहानुभूति नहीं है। उसकी प्रशंसा की बात तो दूर रही।

संस्कृत नाट्यशास्त्र के नियमानुसार नाटक का नायक धीरोदात्त, प्रतापवान्, गुणवान्, सच्चरित्र तथा लोकादर्श होना चाहिए। एतदर्थ कालिदास ने महाभारत के निकृष्ट कोटि के नायक को पराक्रमी, प्रेमी, पापभीरु, कर्त्तव्यपरायण तथा दृढ़ राजर्षि के रूप में चित्रित करने के लिए दुर्वासा के शाप की कल्पना का नियोजन बड़ी ही कुशलता से नाटक में किया है। इस शाप ने दुष्यन्त के सारे कलंक को धोकर उसके चरित्र को बदल दिया है। नाटक में शाप के वशीभूत राजा शकुन्तला को अपने राजमहल में लाने के लिए किसी को भेजना भूल जाता है।

शकुन्तला के राजसभा में आने के पूर्व भी राजा रानी हंसपदिका का संगीत सुनकर व्यथित, उत्कंठित एवं अन्यमनस्क हो जाता है।[1] किन्तु उसी क्षण वह वर्त्तमान में विलुप्त हो जाता है। गर्भिणी शकुन्तला गौतमी तथा कण्व के शिष्य शार्ङ्गरव एवं शारद्वत के साथ राजसभा में उपस्थित हुई। शकुन्तला के अधखिले शरीर लावण्य (नातिपरिस्फुट शरीरलावण्यं) को वे देखते हैं। उन्हें लोभ तो होता है, किन्तु परस्त्री की ओर देखना उचित नहीं (अनिर्वर्णनीयं परकलत्रम्)— इस राजधर्म के पालन से वे किंचित् विचलित नहीं होते हैं। शार्ङ्गरव महर्षि कण्व का संदेश[2] सुनाते हुए कहता है कि अब आप इस गर्भवती को अपने साथ धर्माचार

---

१ रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्
पर्युत्सुको भवति यत्सुखितोऽपि जन्तुः।
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं
भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि ॥५।२॥ (अभि० शाकु०)

२ शार्ङ्गरव—सन्मिथः समयादिमां मदीयां दुहितरं भवानुपायंस्त तन्मया प्रीतिमता युवयोरनुज्ञातम्। कुतः —श्लोक १५ (अभि० शाकु० अंक ५)

के लिए स्वीकार कीजिए। यह सुनकर राजा को सन्देह होता है कि क्या यह श्रीमती शकुन्तला मेरे पहले ब्याही यही है (किं चात्रभवती मया परिणीतपूर्वा) ? गौतमी राजा के पहचानने के निमित्त शकुन्तला का घूँघट उठाती है। शकुन्तला को गौर से देखकर धर्मनिष्ठ राजा गम्भीरतापूर्वक मन ही मन सोचता है।[1] किन्तु स्मरण नहीं होता। अतः गर्भिणी के लक्षणों से युक्त उसके प्रति अपने आपको पति मानता हुआ स्वीकार करने में लाचार है। ऐसा कहने पर शारद्वत के निर्देशानुसार सोच-विचार के बाद शकुन्तला कहती है—हे पौरव ! आपके लिए यह उचित नहीं है कि उस प्रकार पहले आश्रम में स्वभावतः निश्छल मुझे शपथपूर्वक ठगकर अब इस प्रकार के शब्दों से निरादर करें। यह सुनकर राजा शान्तं पापम् की ध्वनि करते हुए कहता है कि जैसे किनारों को तोड़नेवाली नदी निर्मल और स्वच्छ जल को गन्दा किया करती है तथा किनारे के वृक्षों को गिरा दिया करती है उसी तरह क्या तुम अपने वंश को कलंकित एवं मुझे पतित करना चाहती हो (५।२१) ? इस पर शकुन्तला चिह्नस्वरूप उनके द्वारा प्रदत्त अँगूठी को दिखला कर राजा के संदेह को दूर करना चाहती है, पर अंगुली में उसे नहीं पाकर सविषाद गौतमी की ओर निहारने लगती है जब गौतमी कहती है कि शक्रावतार तीर्थ में शचीतीर्थ के जल की वन्दना करते हुए अँगूठी गिर गयी है तब मुस्कुराते हुए राजा ने कहा—इदं तत् प्रत्युत्पन्नमतिस्त्रैणमिति यदुच्यते।—पुनः शकुन्तला कण्वाश्रम में राजा के साथ विगत घटनाओं का स्मरण दिलाती है, फिर भी राजा विश्वास नहीं कर कहता है कि अपने स्वार्थ की सिद्धि में लगी स्त्रियों के इस प्रकार के झूठ से भरे हुए मधु सदृश वचनों से विषयी लोग ही आकृष्ट हुआ करते हैं। इसके बाद अविश्वास के ऊपर अविश्वास की लहर राजा के हृदय में हलचल मचाने लगती है। यहाँ तक उनक अध.पतन हो गया कि उन्होंने स्त्री जाति पर (जिसमें तापसी गौतमी भी वहाँ उसे समझा रही थी) तीखे व्यंग्य[2] के साथ आक्रमण किया। शकुन्तला सम्पूर्ण स्त्री जाति के नारीत्व के ऊपर किये गये आघात को बर्दाश्त नहीं कर पाती है और क्रोधाभिभूत हो राजा को "अनार्य" शब्द से सम्बोधित करती

१ अभि० शाकु०, अंक ५, श्लोक १९।

२ राजा—तापसवृद्धे !

स्त्रीणामशिक्षितपटुत्वममानुषीषु
संदृश्यते किमुत याः प्रतिबोधवत्यः।
प्रागन्तरिक्षगमनात् स्वमपत्यजात-
मन्यैर्द्विजैः परभृताः खलु पोषयन्ति ॥५।२२॥
(अभि० शा०)

हुई—धर्म के चोंगे को धारण किये हुए तिनकों से ढके हुए कुएँ के सदृश कहती है।[1] राजा शकुन्तला के इस क्रोध में निश्छलता तथा स्वाभाविकता का अनुभव करता है तथा हृदय में वास्तविकता को टटोलता है, किन्तु उसे जब स्मरण नहीं होता है तब कहता है—दुष्यन्त का चरित सर्वत्र प्रसिद्ध है। फिर भी मैं यह वंचकता अपने में नहीं देख पा रहा हूँ। अन्त में निराश होकर अपनी कोमल अबला प्रकृति के कारण यह कहती हुई—(अच्छा तो अब मैं चरित्रहीन सिद्ध कर दी गयी हूँ, जो मैं पुरुकुल के विश्वास पर ऊपर से मधु तथा हृदय में विष भरे इस राजा के हाथ में पड़ी[2]) रोने लगती है। इस स्थिति में गान्धर्व विवाह पर आक्षेप करते हुए कवि ने बड़े कौशल से शार्ङ्गरव के मुँह से कहलाया है कि इस प्रकार अपने आप की गई नियंत्रण रहित चंचलता दुःख देती है।[3] जब शार्ङ्गरव व्यंग्यपूर्वक[4] कहता है तब राजा सरल सीधे शब्दों में उनसे कहता है कि माना कि मैं असत्यवादी हूँ। किन्तु इसे (शकुन्तला को) ठग कर मुझे क्या मिलना है? यह भी सही है कि पुरुवंशी राजा अपना अधःपतन चाहता है, लेकिन यह विश्वसनीय नहीं है। इसके बाद शारद्वत कहता है कि यह आपकी कान्ता है, चाहे आप इसे छोड़ें या अपने पास रखें। क्योंकि पत्नियों पर पति की ही प्रभुता सर्वथा स्वीकार की गयी है।[5] यह कह कर गौतमी और शार्ङ्गरव के साथ वह शकुन्तला को छोड़ कर तपोवन को चल देता है। उनके पीछे-पीछे शकुन्तला भी यह कहती हुई चल पड़ती है कि एक तो इस धूर्त राजा के द्वारा मैं ठगी गयी हूँ और दूसरा आप लोग भी मुझे छोड़ रहे हैं। उससे अपने पीछे आती देखकर शार्ङ्गरव क्रोध के साथ घूम कर कहता है—ओ दुष्टा! क्या तू स्वच्छन्दता ग्रहण कर रही है (कि

---

१ शकुन्तला—अणज्ज! अत्तणो हि आणुमाणेण पेक्खसि। को दाणिं अण्णो धम्मकंचु अप्पवेसिणो तिणच्छण्ण कूवोवमस्स तव अणुकिदि पडिवदिस्सदि। (अभि० शा० अंक ५, पृ०३१)

२ शकुन्तला—सुट्ठु दाव अत्त स्वच्छन्दचारिणी किदम्हि। जा अहं इमस्स पुरुवंसप्पच्चएण मुहमधो हिअअट्ठिअविसस्स हत्थब्भासं उवगदा (इति पटान्तेन मुखमावृत्य रोदिति)—(अभि० शा०, अंक ५, पृ० ३१३)

३ शार्ङ्गरव—अतः परीक्ष्य कर्त्तव्यं विशेषात् संगतं रहः।
अज्ञातहृदयेष्वेव वैरी भवति सौहृदम्॥

४ अभि० शा० ५।२५

५ शारद्वत—तदेषा भवतः कान्ता त्यज वैनां गृहाण वा।
उपपन्ना हि दारेषु प्रभुता सर्वतोमुखी ॥५।२६॥ (वही)

पुरोभागे ! स्वातन्त्र्यमवलम्बसे ?) डाँट-फटकार के साथ वह कहता है कि हे शकुन्तले ! यदि तुम राजा के कथनानुरूप हो तो कुल मर्यादा का उल्लंघन करनेवाली तुझ से पिता कण्व को क्या प्रयोजन ? यदि तुम अपने पातिव्रत धर्म को पवित्र समझती हो तब तो पति के कुल में दासी के रूप में रहना भी उचित है। अतः तुम यहीं ठहरो। राजा उसकी यह दारुण दशा देखकर कहता है कि तपस्वी ! आप इसे क्यों कोस रहे हैं ? जितेन्द्रिय धार्मिक पुरुषों की मनोवृत्ति दूसरों की स्त्रियों के सम्पर्क से विमुख ही हुआ करती है। अन्त में, राजा अपने पुरोहित से पूछता है कि मेरी बुद्धि अज्ञानयुक्त हो रही है अथवा यह (शकुन्तला) असत्य बोल रही है। इस सन्देह में पड़ा हुआ मैं पत्नी का परित्याग कर देने वाला बनूँ अथवा परस्त्री के संपर्क से अपने को दूषित करने वाला होऊँ। पुरोहित के परामर्शानुसार राजा से अनुमति पाकर प्रसव-पर्यन्त उनके (पुरोहित के) घर में रहने के लिए सबके साथ शकुन्तला रोती हुई चली जाती है। रामायण की परित्यक्ता सीता की तरह वह पृथ्वी से अपने अन्दर स्थान माँगती है (भगवति वसुधे ! देहि मे विवरम्)। सब के चले जाने पर दुर्वासा के शाप के कारण विलुप्त स्मृति वाला राजा दुष्यन्त शकुन्तला के बारे में सोचता रहता है। इतने में नेपथ्य से "आश्चर्यमाश्चर्यम्" की आवाज सुनाई पड़ती है। पुरोहित से राजा को विदित होता है कि अपने भाग्य की निन्दा और विलाप करती हुई शकुन्तला को अप्सरा-तीर्थ के निकट एक तेजोमयी मूर्त्ति उठा कर चली गयी। अब राजा सोचता है कि यद्यपि इस परित्यक्ता मुनि-कन्या को (शकुन्तला को) विवाहित स्त्री के रूप में स्वीकार नहीं कर पा रहा हूँ किन्तु अत्यधिक व्याकुल मेरा हृदय मुझे विश्वास दिला रहा है कि यह मेरी विवाहिता स्त्री है (५।३१)। इस प्रकार कालिदास ने दुर्वासा के शाप का प्रभाव दिखला कर राजा के कलंक को धो-पोंछ कर निर्मल बना दिया है। इसके ही प्रभाव के वर्णन से कथानक को वैचित्र्यपूर्ण तथा रम्य प्रसंगों के वर्णन से चित्ताकर्षक बनाया गया है। यहाँ नाटकीय घटना संघर्ष के चरम विन्दु पर पहुँच गयी है। इससे यह अंक अत्यन्त नाटकीय हो गया है। साथ ही यह भी बड़ी खूबी से दिखाया गया है कि दुर्वासा के शाप के अनुसार शकुन्तला को अपने पति द्वारा तिरस्कृत होना आवश्यक था। इसके साथ-साथ शकुन्तला को अभिशप्त कर आश्रमविरोधी आचरण के कारण शील-स्खलन के लिए उचित दंड देने का विधान कर दिया गया है। वस्तुतः इसी शाप के कारण नाटक में विप्रलम्भ तथा अन्तिम सम्मिलन का करुण एवं मर्मस्पर्शी चित्र उपस्थित हो सका है। नाटककार ने शकुन्तला के दुत्कार, फटकार और परित्याग का दृश्य यहाँ महाभारत से भी उग्रतर बनाया है। यहाँ उन्होंने राजा के व्यवहार का उचित जवाब तथा उसके व्यवहार पर कठोर वाग्वज्र प्रहार के लिए कण्व के दोनों शिष्यों को राजसभा

में उपस्थित किया है। इससे दुष्यन्त को भी अपने किये हुए कार्य के लिए भर्त्सना एवं अपशब्दों को सुनना पड़ता है। लेकिन राजा का यह व्यवहार शाप के कारण है—यह दिखला कर कालिदास ने दुष्यन्त को दोषमुक्त कर दिया है। अतएव उसके प्रति हमारी सद्भावना लुप्त नहीं होती है। इस अंक में जहाँ नाटककार ने दुष्यन्त के चरित्र का चरम उत्कर्ष दिखाया है वहीं शकुन्तला को भी महाभारतीय नागर-कन्या की अपेक्षा निसर्ग-कन्या के रूप में प्रस्तुत करके उसके शील एवं मुग्धत्व को उभार कर उपस्थित किया है। कालिदास ने महाभारतीय शकुन्तला-प्रत्याख्यान के दृश्य को बिलकुल परिवर्त्तित कर नाटकीय एवं स्वाभाविक बना दिया है। नाटकीय कथावस्तु में शार्ङ्गरव, शारद्वत तथा गौतमी द्वारा राजा के चरित्र पर दोषारोपण करना, शकुन्तला द्वारा राजा की नामांकित अँगूठी दिखाने का प्रयत्न तथा उसके स्नान करते समय नदी में गिर जाने का गौतमी का अनुमान, लाचारीवश उसके (शकुन्तला के) द्वारा तपोवन में प्रेम एवं विवाह सम्बन्धी घटनाओं का स्मरण कराने का प्रयास, शार्ङ्गरव द्वारा उसे डाँटना, प्रसव के पूर्व तक पुरोहित द्वारा अपने घर में रखने का प्रस्ताव तथा करुण विलाप करती हुई शकुन्तला को तेजोमयी मूर्त्ति द्वारा आकाश में उड़ा ले जाना आदि घटनाएँ कवि-कल्पना प्रसूत हैं। नाटकीयता की दृष्टि से ये सारी घटनाएँ अत्यधिक महत्त्वपूर्ण एवं सुनियोजित हैं। इससे अनेक उद्देश्यों की पूर्त्ति हो गयी है। इस अंक में हम देखते हैं कि राजा दुष्यन्त में मनुष्यता की माया के साथ राजधर्म के पालन की भावना यथेष्ट है। शकुन्तला के जिस रूप को देखकर उसने कामुक की भाँति काम कर डाला था, अतिथि-धर्म का अपमान कर डाला था, ऋषि के शाप देने के भय को भी कुछ नहीं समझा था वही (शकुन्तला) राजसभा के सामने आकर कहती है—मैं तुम्हारी पत्नी हूँ। ग्रहण करो। लेकिन आज वह विस्मृति के कारण राजधर्म से एक पग विचलित नहीं होता है। शाप ने मानो राजा की चंचल रागात्मिका वृत्ति को समाप्त कर धर्मनिष्ठ एवं राजकर्म सम्पन्न बना दिया है। उसके सामने एक तरफ अलौकिक रूप है, मुनियों का क्रोध है, नारी का अनुपम विनय है तो दूसरी ओर राजधर्म का भय है। नाटक के इस दृश्य में एक मोहक कलात्मक सौन्दर्य है, उल्लास है। इस अंक में हम देखते हैं कि अलक्ष्य में एक युद्ध हो रहा है। एक पक्ष में क्षत्रिय तेज है और दूसरे पक्ष में ब्रह्मतेज। बड़ी झिड़कियों एवं भर्त्सनाओं को सुनकर भी दुष्यन्त क्रुद्ध नहीं होते हैं। किन्तु वे अपने प्रतिक्रम एवं राजधर्म से तनिक भी स्खलित नहीं होते हैं। नाटककार ने शकुन्तला को तेजोमयी मूर्त्ति द्वारा आकाश-मार्ग से ले जाने की घटना की योजना द्वारा अद्भुत रस के संचार के साथ ही जिस अभिज्ञानमुद्रिका के नदी में गिर कर खो जाने से शाप के परिणामस्वरूप उत्पन्न हुआ संघर्ष बहुत बड़ा हो

गया, उसका (अभिज्ञान मुद्रिका का) उपयोग आगे चल कर बड़े कौशल से किया है। आगे षष्ठ अंक के प्रवेशक में धीवर द्वारा मछली के पेट से उस मुद्रिका की प्राप्ति की घटना की नूतन कल्पना कर कालिदास ने दुर्वासा के परम दु:खदायी शापविमोचन का दृश्य प्रस्तुत किया है। इस अँगूठी को देखते ही राजा की स्मृति जाग जाती है। जिस अँगूठी के आभाव में शकुन्तला को कठोर यातनाओं का सामना करना पड़ा अब वही (अँगूठी) राजा दुष्यन्त के मन में शकुन्तला के प्रति दूना प्रेम उत्पन्न कर देती है। यही अँगूठी दुष्यन्त के हृदय में पश्चात्ताप का भी कारण बनती है। पश्चात्ताप की अग्नि में झुलस कर दुष्यन्त का हृदय पवित्र हो जाता है। स्मरण होने पर शकुन्तला के त्याग, शील तथा परिताप ने दुष्यन्त के हृदय को स्वच्छ बना दिया। उसका सच्चा उदार चरित्र निखर कर प्रकट हो गया। इस मुद्रिका के बल पर ही नाटक का कथानक आगे बढ़ा है। जहाँ दुर्वासा के शाप के कारण दुष्यन्त के चरित्र को कलंक से सर्वथा मुक्त किया जाता है वहीं मुद्रिका-प्राप्ति होने पर षष्ठ अंक में उसका पश्चात्ताप उसके चरित्र को निखार देता है। वह शाप के रहस्य को खोलकर उसके चरित्र को निरपराध और सरस बना देती है।

महाभारत के कलंकित दुष्यन्त के चरित्र को ऊँचा उठा कर गरिमा से मंडित करना मात्र कालिदास द्वारा नियोजित दुर्वासा के शाप का प्रयोजन नहीं अपितु इस नाटक में इससे भी गम्भीर एवं महत्त्वपूर्ण उद्देश्य पार्थिव रागात्मक प्रेम को शिवात्मक आध्यात्मिक प्रेम में विकसित करना है। इस उद्देश्य की पूर्ण-रूपेण सिद्धि के लिए नायक एवं नायिका दोनों का संताप की ज्वाला में दग्ध होना अनिवार्य है क्योंकि इसके अभाव में इन भौतिक अवयवों के लिए उत्पन्न रागात्मक प्रेम को विशुद्ध नहीं बनाया जा सकता। एतदर्थ कालिदास ने पति दुष्यन्त द्वारा परित्यक्ता शकुन्तला को पुनः उस कण्व के आश्रम में नहीं ले जाकर उस दुखिनी के विशाल दुःख के उपयुक्त विरल, नीरव एवं प्रशान्त अपरिचित महर्षि मारीच के तपोवन में पहुँचा दिया और मौन साध लिया। चूँकि उसकी पूर्व स्थित वनभूमि से पहले की भाँति मिलन अब संभव नहीं था। कण्वाश्रम से पतिगृह के लिए विदाई के समय तपोवन से उसके बाहरी सम्बन्ध का ही विच्छेद हुआ था, किन्तु दुष्यन्त द्वारा राजमहल से निकाल बाहर करने पर उसका विच्छेद पूर्ण हो गया। अब पहले की शकुन्तला नहीं रही। संसार के साथ उसका पहला सम्बन्ध नहीं रहा। मारीच के तपोवन में शकुन्तला ध्यानावस्थित हो तप:साधना में लीन हो जाती है। इस समय दुष्यन्त अभिज्ञानमुद्रिका के दर्शन बाद अभिज्ञात होकर पश्चात्ताप से दग्ध हो रहा है। यह पश्चात्ताप ही उसकी तपस्या है। पश्चात्तापपूर्वक शकुन्तला की प्राप्ति में ही शकुन्तला का गौरव है। इसीलिए

कालिदास ने यौवन के आकस्मिक आवेश में हुए संयोग के बदले यथार्थ चिरन्तन भाव से परस्पर प्राप्ति के लिए दुष्यन्त और शकुन्तला दोनों को दीर्घ दुस्सह ताप और तपस्या में प्रवृत्त कर दिया। अगर राजसभा में आते ही दुष्यन्त शकुन्तला को अंगीकार कर लेते तो वह भी उनकी अन्य प्रेमिकाओं की तरह राजमहल के किसी एक भाग में स्थान पाकर जीवन व्यतीत करती तथा दुष्यन्त भी कालिदास के अग्निमित्र तथा पुरूरवा जैसे अन्य नायकों की भाँति कामुक नायक बना रह जाता। दुर्वासा के शाप के फलस्वरूप दुष्यन्त एवं शकुन्तला दोनो का वियोग करा कर और पुनः तपस्साधना के द्वारा आत्मज्ञान-प्राप्ति के बाद पतिपत्नी के बीच का योजक सूत्र पुत्र सर्वदमन के माध्यम से अनुपम मिलन कराकर नाटककार ने अपने असामान्य कवित्व का परिचय दिया है। कवि ने दोनों के बाह्य मिलन को कण्टकाकीर्ण मार्ग में ले जाकर आभ्यन्तरिक मिलन से सार्थक कर दिया। इस प्रकार के आध्यात्मिक मिलन से लोककल्याणकारी प्रेम की स्थापना में कवि को असामान्य सफलता मिली। उन्होंने दोनों के पाप कर्म को अपने-अपने हृदय के भीतर अपनी ही आग से जला कर राख कर दिया। समस्त अमंगलों का विनाश कर नाटक की परिसमाप्ति हुई। सब के अन्दर पूर्ण शान्ति छा गयी। स्पष्ट है कि कालिदास ने अपने इस नाटक में यह सिद्ध करने का सफल प्रयास किया कि संसार में ब्रह्म के विधान में पाप भी मंगल कार्य सम्पन्न करने में नियुक्त है। पाप के अभिघात के बिना मंगल अपना चिरन्तन प्रकाश एवं शान्ति लाभ नहीं करता।

नाटकीयता लाने के लिए कालिदास ने षष्ठ अंक एवं सप्तम अंक में अपनी ओर से सभी घटनाओं की कल्पना की है। वे सारी घटनाएँ इस प्रकार हैं— दुष्यन्त द्वारा शकुन्तला को प्रदत्त अँगूठी मछली के पेट से धीवर को मिलना, नगरपालों द्वारा उसे पकड़ कर राजा के सामने प्रस्तुत करना, अँगूठी के दर्शन से शाप की परिसमाप्ति एवं राजा का शकुन्तलोपाख्यान को याद कर दुःख में पागल की तरह प्रलाप करना, उसके स्वरचित चित्र से राजा का मनोविनोद, निःसन्तान धनमित्र नामक व्यापारी की समुद्र में नौका टूटने से मृत्यु एवं उसके धन का राजकोष में मिलाये जाने की बात धनमित्र की किसी भी पत्नी के गर्भस्थ शिशु को उसके धन का अधिकारी बनाने की राजा द्वारा घोषणा, स्वयं निःसन्तान होने के कारण राजा का दुःखी होना, विदूषक के ऊपर प्रेत के आक्रमण का दृश्य पैदा करना, सारथि मातलि द्वारा राजा के निकट इन्द्र का सन्देश लाना, यथानिमंत्रण राजा का राक्षसों के वध के लिए स्वर्गलोक जाना, इन्द्र द्वारा राजा का सम्मान, वहाँ से लौटते हुए मारीच के आश्रम में पुत्र सर्वदमन का दर्शन तथा वात्सल्य भावपूर्ण हो उसके स्पर्श से ब्रह्मानन्द सुख का अनुभव, अपराजिता नामक ओषधि की घटना, शकुन्तला से मिलन, राजा द्वारा शकुन्तला से क्षमायाचना कर

उसे अपनी पत्नी के रूप में स्वीकार करना, मारीच द्वारा दुर्वासा के शाप की घटना बताना एवं उन्हें आशीर्वाद देना तथा पत्नी और पुत्र के साथ इन्द्र के रथ से राजा का अपनी राजधानी आना। इन घटनाओं के सन्निवेश से महाभारत से प्राप्त नीरस एवं असम्बद्ध कथा-वस्तु को अभिनव नाटकीय कथावस्तु के रूप में परिवर्त्तित करने में कालिदास की मौलिकता परिलक्षित होती है। इन परिवर्त्तनों एवं परिवर्द्धनों के कारण ही कालिदास संस्कृत साहित्य मे सर्वश्रेष्ठ नाटककार हैं तथा उनका अभिज्ञानशाकुन्तलम् सर्वोत्तम नाट्यकृति है।

विक्रमोर्वशीयम् : नाटकीय वस्तु

प्रथम अंक (स्थान—हेमकूट पर्वतशिखर एवं आकाश)

अन्य नाटकों की भाँति इस त्रोटक का आरम्भ पूर्वरंग के महत्वपूर्ण अंग नान्दी से होता है। इसमें अपने आराध्यदेव शिव की वन्दना की गयी है।[1] नान्दी पाठ के बाद सूत्रधार का मंच पर प्रवेश होता है। वह पारिपार्श्वक को बुलाकर कहता है कि इस सभा ने पुराने कवियों के नाटक अनेक बार देखे हैं। अतः आज मैं विक्रमोर्वशीयम् नामक नवीन रूपक का अभिनय करूँगा। एतदर्थ पात्रों को सावधान कर दो कि वे अपने-अपने पाठ में सचेत हो जायँ।[2] तदनन्तर वह (सूत्रधार) सामाजिकों से अनुरोध करता है कि स्नेही जन पर अनुकूलता से अथवा कथानक एवं महापुरुष पर सम्मान भाव से प्रेरित होकर सावधानी के साथ आप लोग कालिदास की इस रचना (क्रिया) का श्रवण एवं दर्शन करें (१।२)। तुरत ही नेपथ्य से करुण-क्रन्दन सुनाई पड़ता है—"परित्ताअदु परित्ताअदु जो सुरपक्खवादी जस्सवाडम्बरअले गदी अत्थि"।—कुररी पक्षियों के समान इस आर्त्तनाद को सुनने पर सूत्रधार सोच-विचार कर निष्कर्ष निकालता है कि नारायण मुनि की जाँघ से उत्पन्न उर्वशी नामक अप्सरा कुबेराराधन कर लौटते समय मध्यमार्ग में राक्षसों द्वारा बन्दी किये जाने पर अपनी सखियों के साथ करुण-क्रन्दन कर रही है (१।३)। इस प्रकार कुशलतापूर्वक नाटकीय वस्तु की प्रस्तावना पात्र-प्रवेश द्वारा करके सूत्रधार मंच से निष्क्रान्त हो जाता है।

---

१ विक्र०, प्र० अं०, श्लोक १

२ सूत्रधारः—मारिष, बहुशस्तु परिषदा पूर्वेषां कवीनां दृष्टाः प्रयोगप्रबन्धाः। सोऽहमद्य विक्रमोर्वशीयं नाम नाटकम् (नाट्यं त्रोटकम् इति वा—एम० आर० काले—विक्र०, पृ० ८) अपूर्वम् प्रयोक्ष्ये। तदुच्यतां पात्रवर्गः स्वेषु स्वेषु पाठेषु असंमूढैर्भवितव्यमिति (विक्र०, अंक १, पृ० ५)।

प्रयोगातिशय प्रस्तावना के बाद रक्षार्थ चिल्लाती रम्भा, मेनका और सहजन्या नामक अप्सराओं का प्रवेश होता है। तदनन्तर बिना पर्दा गिराये राजा पुरूरवा एवं सारथि का प्रवेश होता है। उस आवाज को सुनकर राजा कहता है कि रोना बेकार है। सूर्योपस्थान से लौटते हुए मुझे पुरूरवा को आप कहें कि आपकी रक्षा किससे की जाय। उनके वचन से आश्वस्त होकर रम्भा कहती है कि स्वर्ग की शोभा रूप हमारी सखी उर्वशी तथा चित्रलेखा को कुबेर के यहाँ से लौटते समय संयोगवश रास्ते में हिरण्यपुरनिवासी केशी नामक दैत्य बन्दी करके लिये जा रहा है। यह सुनकर राजा ने उन्हें आश्वासन देते हुए कहा कि आप चिन्ता न करें, मैं आपकी सखियों को लौटाने के लिए यत्न करूँगा।[1] इतना कह कर उन्होंने अपने सारथि के साथ केशी का पीछा किया तथा जब तक उसकी सखियाँ पूर्व निर्धारित प्रतीक्षास्थल हेमकूट पर पहुँचीं तब तक राजा भी चित्रलेखा के साथ उर्वशी को दैत्य से छुड़ा कर वहाँ पहुँच गये।[2]

राजा पुरूरवा एवं चित्रलेखा स्वस्थ बेहोश (उर्वशी को) होश करने के लिए समझाते बुझाते हैं (१।५)। इसके बाद वह होश में आती है और अपनी सखी से अवगत करती है कि महेन्द्रसदृश प्रभावशाली राजा पुरूरवा ने उसकी रक्षा की है। राजा को देख कर उर्वशी मन में सोचती है कि दानवों ने मेरा उपकार ही किया है।[3] प्रकृतिस्थ उर्वशी को देखकर उसकी स्वाभाविक सुन्दरता पर राजा मुग्ध हो गया और मन ही मन सोचने लगा कि नारायण मुनि को लुभाने गयी हुई अप्सराएँ, उनके उरू से उत्पन्न इस उर्वशी को देख कर सचमुच लज्जा से मर गयी थीं। अथवा यह किसी तपस्वी की सृष्टि नहीं हो सकती।[4] उर्वशी राजा को सस्पृह देखती हुई कहती है कि ये मेरे दुःख से दुःखी हैं तथा मुझे सस्नेह निहार रहे हैं। राजा के आदेशानुसार सारथी हेमकूट पर रथ उतारता है। उस विषमाभूमि में रथ हिलने-डुलने लगा। अतः चक्रनितम्बा उर्वशी के कन्धे से राजा का कन्धा सट गया। इस मधुर स्पर्श से दोनों के शरीर में वासना की

---

१ राजा—तेन हि मुच्यतां विषादः। यतिष्ये वः सखीप्रत्यानयनाय (विक्र० अंक १, पृ० १०)

२ (ततः प्रविशति रथारूढो राजा सूतश्च चित्रलेखावलम्बिता भयनिमीलिताक्षी चोर्वशी) (विक्र० अंक १, पृ० १३)

३ उर्वशी (राजानमवलोक्य। आत्मगतम्) उवकिदं क्खु दानवेहिं।

४ राजा—(प्रकृतिस्थामुर्वशीं निर्वर्ण्य। आत्मगतम्) स्थाने खलु नारायणमृषिं विलोभयन्त्यस्तदूरुसंभवामिमां दृष्ट्वा व्रीडिताः सर्वा अप्सरस इति। अथवा नेयं तपस्विनः सृष्टिर्भवितुमर्हति। श्लोक ८। (विक्र० अंक १)

बिजली दौड़ गयी (१।११)। हेमकूट पर उर्वशी ने अपनी सखियों का ग्रीवालिंगन किया। सभी अप्सराओं ने प्रसन्न होकर राजा को धन्यवाद दिया। रम्भा ने कहा कि महाराज सौ कल्प तक पृथ्वी का पालन करते रहें। (सव्वहा महाराओ कप्पसदाहं पुहविं पालअन्तो होदु)। इसी समय इन्द्र द्वारा प्रेषित गन्धर्वराज चित्ररथ का प्रवेश होता है। राजा को देखकर वह कहता है कि महेन्द्र के उपकार में लगनेवाले अपने पराक्रम से आप विजयी होते हैं।[१] राजा पुरूरवा उसका स्वागत करता है तथा परस्पर हाथ मिलाता है। इसके पश्चात् चित्ररथ ने पुरूरवा से कहा कि मित्र ! केशी द्वारा उर्वशी के हरण की बात नारद से सुनकर इन्द्र ने उसे बचाने के लिए गन्धर्व सेना भेजी, किन्तु इस बीच में हमने आपकी कीर्त्ति सुनी और यहाँ चले आये। अब आप उर्वशी को साथ लेकर हमलोगों के साथ इन्द्र से मिलें। आपने बड़ा उपकार किया है।[२] राजा इस विजय में इन्द्र की ही महिमा बताता है (१।१५) राजा की इस विनम्रता पर चित्ररथ कहता है—"युक्तमेतत। अनुत्सेक. खलु विक्रमालंकारः।"—राजा ने चित्ररथ के अनुरोध को यह कह कर टाल दिया कि अभी इन्द्र से मिलने का अवसर नहीं है। अतः वही उसे उर्वशी को इन्द्र के पास पहुँचा दें। तदनन्तर सभी प्रस्थान करते हैं। इधर उर्वशी जाते समय चुपचाप चित्रलेखा से राजा को आमन्त्रित करने के लिए कहती है। तदनुसार चित्रलेखा राजा से कहती है कि राजा पुनः दर्शनार्थ उन्हें जाने की अनुमति देता है।[3] राजा के प्रति आसक्ति के कारण उर्वशी झाड़ियों में अपनी एकावली के फँस जाने के बहाने उसकी ओर मुड़कर निहारती है और चित्रलेखा से छुड़ाने के लिए कहती है।[४] चित्रलेखा मुस्कुराती हुई कहती है कि यह बहुत जोरों से फँस गयी है। इसका छूटना कठिन है। इस पर उर्वशी उससे मुस्कुरा कर कहती है कि सखी ! अपनी इस बात को याद रखना।[५] सभी के चले जाने पर राजा पुरूरवा उर्वशी के मार्ग को देखकर कहता है कि अहो, कामदेव दुर्लभवस्तु के प्रति भी अभिलाषा पैदा करता है। आकाश की ओर जाती हुई यह अप्सरा

१ चित्ररथः (राजानं दृष्ट्वा सबहुमानम्) दिष्ट्या महेन्द्रोपकारपर्याप्तेन विक्रम-महिम्ना वर्धते भवान्। (विक्र०),

२ वही : १।१४

३ राजा गम्यताम् पुनर्दर्शनाय (वही)

४ उर्वशी—(उत्पतनभंगं रूपयित्वा) अम्मो लदाविडवे एआवली वैअअन्तिआ मे लग्गा (सव्याजं परिवृत्य। राजानं पश्यन्ती (चितलेहे मोआवेहि दाव णं) (विक्रमो०)

५ उर्वशी—(स्मितं कृत्वा) सहि सुमरेहि दाव एदं अत्तणो अणं। (वही)

हमारे शरीर से मन को उसी प्रकार खींचती जा रही है जैसे अग्रभाग तोड़ कर कमलनाल से हँसी सूत खींचती है (१।१८)। इसके बाद सभी का निर्गम हो जाता है।

द्वितीय अंक (स्थान—राजा पुरूरवा के विनानोत्संग नामक राजभवन का अहाता)

प्रवेशक से इस अंक का आरम्भ होता है। सर्वप्रथम विदूषक उपस्थित होता है। वह पुरूरवा से जान चुका है कि उसका उर्वशी नामक अप्सरा के लिए अगाध प्रेम है। राजा ने उसे इस बात को आत्मगत गुप्त रखने कहा है। किन्तु विदूषक स्वभावतः अतिमुखर होने के कारण राजरहस्य को छिपाये रखने में लाचार है। लोगों के बीच अपनी जीभ को सँभालने में असमर्थ होने के कारण वह जब तक राजा पुरूरवा कार्यासन से नहीं उठते हैं तब तक इस निर्जन 'विमानच्छन्द' नामक प्रासाद में रुका रहना चाहता है। इसके बाद रानी धारिणी की दासी निपुणिका का प्रवेश होता है। वह अपने स्वगत भाषण में कहती है कि काशीराजपुत्री रानी औशीनरी ने सूर्योपस्थान से लौटने पर राजा पुरूरवा में बहुत बड़ा परिवर्त्तन देखा है। वह शून्य हृदय मालूम पड़ते हैं। अतः राजा के प्रियमित्र माणवक (विदूषक) से उनकी उत्कण्ठा का पता लगाने के लिए रानी ने उसे (निपुणिका को) आदेश दिया है। वह उसके समीप पहुँचती है और निश्छल युक्ति से रहस्य को जानने का प्रयास करती है। माणवक के पूछने पर वह कहती है कि राजा जिस स्त्री के लिए उत्कंठित हैं उन्होंने उसी के नाम से देवी (औशीनरी) को पुकारा है।[1] यह सुनकर विदूषक कह देता है कि उर्वशी के दर्शन के बाद से राजा केवल उन्हें ही नहीं पीड़ा देते हैं, विनोद में भाग नहीं लेने के कारण मुझे भी अत्यधिक कष्ट दे रहे हैं।[2] निपुणिका इसके इस कथन से पुरूरवा के उर्वशी विषयक वासनात्मक प्रणय-रहस्य को जान जाती है और देवी को सूचित करने के लिए सोचती है। तदनन्तर वैतालिक मध्याह्न हो जाने के कारण राजकार्य छोड़कर स्नान-भोजनादि की सूचना राजा को देता है (२।१)। उत्कण्ठित अवस्था में राजा अपने मित्र विदूषक के साथ प्रवेश करता है। राजा विदूषक से कहता है कि कामदेव ने मेरे जिस हृदय में अपने बाण मार कर उस सुरलोक सुन्दरी (उर्वशी) के प्रवेश के

---

१ निपुणिका—अज्ज, जंणिमित्तं भट्टा उक्कण्ठिदो ताए इत्थिआए णाम भट्टिणा देवी आलविदा। (विक्र० अंक १, पृ० ३७)।

२ विदूषक·······ताए अच्छराए दंसणेण उम्मादिदो तत्तभवं ण केव मंपि विनोदविमुहो दिढं पीडेदि। (विक्र०, अंक २, पृ० ३८)।

मोदि

लिए द्वार बना दिया था, उसमें वह सिर्फ दर्शन मात्र से समा गयी है।[1] वह उसके सौन्दर्य में आसक्त हो कर कहता है कि उसका (उर्वशी का) शरीर आभूषणों का आभूषण, शृंगार प्रसाधनों का प्रसाधन तथा उपमानों का भी उपमान है।[2] इस उत्कण्ठा की स्थिति मे राजा मनबहलाव के लिए विदूषक के साथ प्रमदवन में जाता है। वहाँ पहुँचने पर दक्षिण-पवन से उसमें प्रतिस्पर्द्धा का भाव उत्पन्न होता है क्योंकि वह माधवी लता को पुष्परस से परिपूर्ण करता हुआ तथा कुन्दलता को नचाता हुआ एक कामी के समान मालूम पड़ता है।[3] राजा सोचता है कि सन्ताप शान्ति के विचार से प्रमदवनोद्यान में उसका आना ठीक वैसा ही हुआ जैसे कोई तरंग में वहता हुआ व्यक्ति तरंगाभिमुख तैरे (२।५)। वहाँ की वासन्तिक छटा उसके लिए पीड़क ही सिद्ध होती है। दुर्लभ उर्वशी की प्राप्ति की दुर्निवार अभिलाषा से कामदेव ने उसके हृदय को पहले ही विद्ध कर दिया था, अब स्त्रीनख की भाँति लाल कुरवक के फूल, अशोक के रक्त-कुसुम तथा ईषत् पराग कणों से पीली भासित होने वाली नूतन आम्रमंजरियाँ वसन्त श्री को ऐसी शोभा प्रदान कर रही हैं, मानो वह मुग्धावस्था को पार कर यौवन में प्रवेश कर गयी हो।[4] लम्बी साँस लेकर विदूषक से राजा कहता है कि रूपश्री-उर्वशी के दुर्ललित आकर्षण ने मेरी दृष्टि को मोहिनी-पाश मे बाँध दिया है। अतः इस उद्यान की पुष्पित लताएँ एवं कोमल-पौधे मुझे अच्छे नही लग रहे है। कोई उपाय सोचो जिससे मेरी साधना सफल हो।[5]

प्रमदवन में घूमते हुए विदूषक एवं राजा पुरूरवा अतिमुक्तलतामंडप में पहुँचे। वहाँ बैठने के बाद राजा के कथनानुसार वह उर्वशी के साथ उसके मिलन का उपाय सोचता है। निमित्त को सूचित कर राजा मन ही मन विचार करता है कि यद्यपि पूर्ण चन्द्रमुखी उर्वशी सुलभ नही है, फिर भी कामदेव ऐसी चेष्टा

---

१ राजा—आदर्शनात्प्रविष्टा सा मे सुरलोकसुन्दरी हृदयम्।
वाणेन मकरकेतोः कृतमार्गमवन्ध्यपातेन ।।२।२।। (विक्र०)

२ विक्र० २।३

३ विक्र० २।४

४ विक्र० २।७

राजा—(निःश्वस्य)—मम कुसुमितास्वपि सखे नोपवनलतासु नम्रविटपासु।
चक्षुर्बध्नाति धृतिं सद्रूपालोकदुर्ललितम् ।।२।८।।
तदुपायश्चिन्त्यतां यथा सफलप्रार्थनो भवेयम्।
—(विक्र० अंक १, पृ० ५३)

कर रहा है। मेरी मनोदशा ऐसी हो रही है, मानो मेरे मनोरथ सिद्ध होने पर हों।[1]

तदुपरान्त आकाश मार्ग से उर्वशी एवं चित्रलेखा राजभवन के अहाते में प्रवेश करती है। चित्रलेखा के पूछने पर उर्वशी हेमकूट शिखर पर लता गुल्म में एकावली के उलझ जाने से गमनविघ्न की पूर्व घटना का स्मरण दिलाती हुई राजर्षि पुरूरवा के पास अपने जाने के उद्देश्य को व्यक्त करती है। उनके पास निर्विघ्न पहुँचने के लिए चित्रलेखा उर्वशी को कहती है कि सखी, विश्वास रखो। बृहस्पति द्वारा उपदिष्ट अपराजिता नामक शिखाबन्धनी विद्या के प्रभाव से देव विरोधियों के लिए हम अदृश्य हो गयीं। वह अपनी सखी चित्रलेखा के साथ आकाश से उतर कर राजा पुरूरवा को अतिमुक्त लतामंडप में देखती है तथा तिरस्करिणी में छिप कर अदृश्य रूप से उनकी बातचीत को सुनती है। उर्वशी से मिलन का उपाय सोचकर विदूषक राजा से कहता है कि आप स्वप्न में मिला देने वाली निद्रा की उपासना करें। अथवा उर्वशी की छवि अंकित कर उसे निरन्तर देखा करें।[2] लेकिन कामबाण से विदग्ध-हृदय वाला होने के कारण पुरूरवा को स्वप्नसमागमकारिणी निद्रा भी नहीं आती है और चित्रफलक पर उसकी प्रतिकृति बना कर मन बहलाने में भी वह समर्थ नहीं हो रहा है क्योंकि बीच में ही उसके नेत्रों से अश्रु की धारा बहने लगती है।[3] इस तरह मनोव्यथा के अतिसान्द्र हो जाने पर वह उर्वशी को उपालम्भ देते हुए कहता है कि वह उसके प्रेम की अवमानना कर रही है और शायद उसकी यही कामना है कि कन्दर्प उसके सारे मनोरथों को चूर कर उसे सर्वथा असक्त बना दे।[4] तिरस्करिणी में अदृश्य उर्वशी एवं चित्रलेखा उनके इस उपालम्भ को भलीभाँति सुनती है। अपनी सखी से परामर्श लेकर उर्वशी प्रभाव से भूर्जपत्र पैदा कर तदनुसार उस पर अपना हार्दिक प्रेमव्यंजक पत्र लिख कर राजा के पास फेंक देती है। राजा उसे पढ़कर विदूषक को सुनाता है। उसमें लिखा है कि स्वामिन्, पूर्ण हृदय वाले

---

१ विक्र० २।९

२ विदूषक—सिविणसमाअमआरिण णिद्दं सेवदु भवं। अहवा तत्तभोदीए उव्वसीए पडिकिदिं आलिहिअ ओलोअन्तो चिट्ठ। (विक्र०, अंक १, पृ० ६२)

३ विक्र० २।१०।

४ राजा (सनिःश्वासम्) नितान्तकठिनां रुजं मम न वेद सा मानसीं।
प्रभावविदितानुरागमवमन्यते वाऽपि माम्।
अलब्धफलनीरसान्मम विधाय तस्मिञ्जने
समागममनोरथान्भवतु पंचबाण: कृती ॥२।११॥ (वही)

आपके प्रति हमारा जैसा अज्ञान या उदासीनता आपने स्थिर कर लिया है, यदि उसी तरह की बात रहती तो हमारा यह शरीर पारिजात-पल्लव से निर्मित शय्या पर भी क्यों व्यग्र होता और उसे नन्दनकानन की हवा से संताप क्यों होता ?[१] इस पत्र के भाव से आश्वस्त होकर राजा कहता है कि समान प्रेम का पता देने वाले एवं मनोहर अर्थ में बँधे इस प्रिया के पत्र को पाकर मुझे ऐसा मालूम पड़ता है मानो मेरा मुँह उसके बड़े-बड़े बरूनियों वाले मुँह से सट गया हो (२।१४)। राजा इस पत्र को रखने के लिए विदूषक को देता है। इसके बाद उर्वशी के कथनानुसार जब चित्रलेखा तिरस्करिणी हटाकर प्रत्यक्ष हो उर्वशी की प्रणय-वेदना का निवेदन[२] करती है तब पुरूरवा अत्यन्त कोमल भाव से अनुरोध करते हुए कहता है कि यह प्रेम तो उभयनिष्ठ है, कामदेव ने दोनों को समान रूप से सताया है। अतः एक तपे लोहे को दूसरे तपे लोहे से जोड़ देना चाहिए—

> पर्युत्सुकां कथयसि प्रियदर्शनां ता—
> मार्तं न पश्यसि पुरूरवसं तदर्थे।
> साधारणोऽयमुभयोः प्रणयः स्मरस्य
> तप्तेन तप्तमयसा घटनाय योग्यम् ॥ २, १६॥ (विक्र०)

उर्वशी राजा के निकट आकर लज्जा के साथ "जयतु जयतु महाराजः" कहती है। इस पर राजा कहता है—सुन्दरि ! अभी तक अप्सराएँ सिर्फ इन्द्र की 'जय' मनाती थीं, आज तुम मेरा जयकार कर रही हो। मेरी जय का इससे बड़ा प्रमाण क्या हो सकता है (२।१७)। इसी समय नेपथ्य से दूत के माध्यम से यह आदेश मिलता है कि भरतमुनि द्वारा नियोजित 'अष्टरसाश्रय' नाटक में अभिनय करने के लिए उर्वशी स्वर्ग लौट जाय। लोकपालों के साथ इन्द्र आज उसे देखना चाहते हैं।[३] यह सुनकर उर्वशी विषाद का अभिनय करती है (उर्वशी विषादं नाटयति)। जब उर्वशी की ओर से चित्रलेखा कहती है कि पराधीन यह उर्वशी आप से अनुज्ञा लेकर देवकोप से बचना चाहती है तब राजा कहता है मैं आप लोगों को रोकना नहीं चाहता हूँ। लेकिन इसे याद रखना।[४] वियोग-दुःख

---

१ विक्र० २। १२-१३

२ चित्रलेखा—मह सुरारिसंभवे दुज्जादे महाराओ एव्व सरणं आसि। सा अहं तुह दंसण समुत्थेण मअणेण बलिअं बाहीअमाणा भूओवि महाराएण अणकम्पणी अत्ति (विक्र० अंक २, पृ० ७२)

३ विक्र० २।१८

४ राजा—(कथंचिद्बाष्पं व्यवस्थाप्य) नास्मि भवत्योरीश्वरनियोगप्रत्यर्थी। स्मर्तव्यस्त्वयं जनः। (वही, पृ० ७७)

व्यक्त करती हुई उर्वशी अपनी सखी के साथ चली जाती है।[1] राजा विदूषक से कहता है कि पराश्रित होने के कारण अपने शरीर पर उसका कोई अधिकार नहीं, किन्तु स्वाधीनस्थ अपने हृदय को मुझे देती गयी है (२।१९)। यह दोनों के तन-मन मिलन की पृष्ठभूमि है। उर्वशी के चले जाने पर जब उसका प्रणय-पत्र भी विदूषक की असावधानी के कारण हवा में गायब हो जाता है तब वह अति-आर्द्र भाव से दक्षिण पवन को निवेदन करते हुए कहता है कि भगवन् पवनदेव, आप वसन्त द्वारा प्रस्तुत पुष्पपराग उड़ा ले जायें, व्यर्थ इस पत्र को लेकर क्या करेंगे? आप जानते हैं कि इस प्रकार की चीजों से विरह पीड़ितों का मन बहलता है। आपका भी तो अंजना से प्रेम था (२।२०)।

सपरिजन काशीराज पुत्री रानी औशीनरी वहाँ पहुँच जाती है और जब वह पत्र पा लेती है तब पुरूरवा झूठ बोलकर अपना अपराध छिपाना चाहता है[2] और मनाने में असमर्थ होने पर उसके पैरों पर गिर जाता है। देवी औशीनरी के रूठ कर चले जाने पर जब विदूषक कहता है कि ठीक ही हुआ तब राजा स्पष्ट शब्दों में उससे कहता है कि यद्यपि हमारा मन उर्वशी में लगा है फिर भी देवी के प्रति मेरा वही आदर भाव है। इसके बाद दोपहर का समय हो जाने पर अन्य भोजन आदि दैनिक कार्यों के लिए सभी राजभवन चले जाते हैं।

तृतीय अंक (स्थान—पुरूरवा का मणिहर्म्य नामक राजभवन)

विष्कम्भक से यह अंक आरम्भ होता है। भरतमुनि के पल्लव एवं गालव नामक दो शिष्यों की परस्पर वार्त्ता से मालूम होता है कि सरस्वती विरचित 'लक्ष्मीस्वयंवर' नाटक का अभिनय स्वर्गीय सामाजिकों के समक्ष गुरुदेव (भरतमुनि) के निर्देशन में किया गया। उसमें उन्हें पूरी सफलता मिली। लेकिन उसमें एक दोष यह हुआ कि लक्ष्मी का रूप धारण करने वाली उर्वशी उच्चारणगत प्रमादवश अपनी प्रणयकामना के बारे में पुरुषोत्तम के बदले पुरूरवा कह दिया। फलतः उस गोत्रस्खलन के अपराध में भरतमुनि ने उसे स्वर्गच्युत होने का शाप दे दिया, किन्तु इन्द्र ने कृपापूर्वक अभिनयान्त में उर्वशी को अनुमति देते हुए कहा

---

१ उर्वशी—(वियोगदुःखं रूपयन्ती सह सख्या निष्क्रान्ता)। (वही, पृ० ७७)

२ अपराधी नामाहं प्रसीद रम्भोरु विरम संरम्भात्।
सेव्यो जनश्च कुपितः कथं नु दासो निरपराधः ॥२१॥ (विक्र०)
(इति पादयोः पतति)।

कि तुम यथेच्छ पुरूरवा के पास तब तक रह सकती हो जब तक तुम से उत्पन्न संतति को वह नहीं देख ले।[1]

कंचुकी (लातव्य) उपस्थित होता है और निरन्तर स्त्रियों की सेवा में रहने के कारण संजात अपने कष्ट का अनुभव करता है। कुछ कदम आगे बढ़ कर वह सोचता है कि प्रियानुप्रसादनव्रत के अनुष्ठान में संलग्न रानी औशीनरी ने कहा है कि मैंने अपना मान छोड़कर निपुणिका के द्वारा महाराज से प्रार्थना की है कि उसे याद दिला दे। पुनः सायंकालिक पूजन विधान से परिव्याप्त राजभवन के दृश्य को देखने में वह लग जाता है। इसके बाद पूर्व निर्देशानुसार राजा पुरूरवा एवं विदूषक उपस्थित होते हैं। लातव्य (कंचुकी) राजा से कहता है कि देवी औशीनरी ने मणिहर्म्यपृष्ठ पर चन्द्रमा के मोहक दृश्य के दर्शनार्थ आपको आमन्त्रित किया है। वह राजा के साथ चन्द्ररोहिणी संयोग की प्रतीक्षा करना चाहती है। राजा उसकी प्रार्थना को स्वीकार कर विदूषक के साथ विनोदार्थ वहाँ जाता है। चन्द्रोदय के दृश्य को देखकर राजा कहता है कि उदयाचल में छिपे चन्द्रमा की किरणों से अन्धकार दूर भागा जा रहा है। इस समय पूर्व दिशा का मुख मेरे मन को इस तरह आकृष्ट कर रहा है मानो वह अपना केश (तम) समेट रही हो (३।६)। राजा उसे (चन्द्रमा को) प्रणाम करते हुए कहता है कि सज्जनों के यज्ञ आदि का अवसर प्रदान करने के लिए आप सूर्य में मिल जाते हैं, देव तथा पितृगण आपकी सुधा से अपनी तृप्ति करते है, रात्रि में फैलने वाले अन्धकार का आप विनाश करते हैं, महादेव का मस्तक आपसे शोभा पाता है (३।७)। तदनन्तर वह वहीं बैठ जाता है और देवी औशीनरी के आने में विलम्ब जानकर अपनी मनोदशा का वर्णन करता है। शिलाखण्ड से आच्छादित नदी का प्रवेग जैसे सहस्र धाराओं में विभक्त होकर प्रवाहित होता है वैसे ही समागम सुख में विघ्न पड़ने पर काम भी उसी तरह सौ गुना हो जाता है (३।९)। विदूषक उसे अपनी प्रिया उर्वशी के साथ समागम की आसन्न आशा बता कर धीरज बँधाता है। राजा अपने दाहिने हाथ के फड़कने से शुभ शकुन का विचार कर आशावान् होता है। इसी समय वहाँ आकाश मार्ग से अभिसारिकावेश में उर्वशी एवं चित्रलेखा का प्रवेश होता है। वे वहाँ अपनी दिव्य शक्ति से छिप कर

---

१ द्वितीयः—येन ममोपदेशस्त्वया लंघितस्तेन न ते दिव्यं स्थानं भविष्यतीत्युपाध्यायस्य शापः। महेन्द्रेण पुनः प्रेक्षावसाने लज्जावनतमुखी भणिता यस्मिन् बद्धभावासि तस्य मे रणसहायस्य राजर्षेः प्रियमत्र करणीयम्। सा त्वं तथाकामं पुरूरवसमुपतिष्ठस्व यावत्स त्वयि दृष्टसन्तानो भवेदिति। (विक्र०, अंक ३, पृ० ९५) (प्राकृत का संस्कृतरूपान्तर)

राजा की सारी बातों को सुनती हैं तथा प्रत्येक घटना का दर्शन करती है। जब विदूषक राजा की बढ़ती हुई काम-पीड़ा के शमन के लिए अमृतसिक्त चान्दनी का उपयोग करने को कहता है तब उर्वशी-मिलन की बेचैनी में क्षीणकाय राजा कहता है कि उसके उस रोग को न कुसुम-शय्या दूर कर सकती है, न चन्द्रकिरण, न सर्वांग में लिप्त चन्दन तथा मणियों की माला ही दूर कर सकती है। उसकी तो महौषधी स्वर्गीय बाला उर्वशी मात्र है अथवा एकान्त में प्रोक्त उसकी प्रेमकथा।[1] राजा उर्वशी के साथ प्रथम मिलन की घटना को याद कर कहता है कि रथ के हिलने-डुलने से मेरे कन्धे से उसका कन्धा छू गया, अतः मेरे अंगों में सिर्फ कन्धा ही कृती है, शेष अंग तो पृथ्वी के भारभूत हैं।[2]

इसी समय पूर्व निर्धारित उद्देश्य के लिए वहाँ रानी औशीनरी तथा हाथ में उपहार लिये परिजन का प्रवेश होता है। अचानक रानी को देखकर सभी घबड़ा जाते हैं। श्वेत वस्त्र एवं मंगलसूत्र पहने दूब की शिखा केश में लगाये व्रत के बहाने अपने गर्व का परित्याग कर आती देखकर राजा अनुमान करता है कि वह उस पर प्रसन्न है (३।१२)। देवी एवं निपुणिका राजा की जय कहती है। राजा स्वागत के साथ देवी को हाथ पकड़ कर बैठाता है। जब वह आर्यपुत्र के साथ व्रत के लिए घड़ी भर का विघ्न क्षमा करने कहती है, तब राजा कहता है कि यह तो अनुग्रह है, विघ्न नहीं। रानी द्वारा कृत प्रियानुप्रसादनव्रतानुष्ठान के बारे में राजा कहता है कि हे कल्याणि ! अपने मृणाल-कोमल इन अंगों को इस व्रत से बेकार कष्ट दे रही हो। जो दास तुम्हारी प्रसन्नता के लिए लालायित है उसे तुम क्या प्रसन्न करना चाहती हो ?[3] इस पर देवी राजा से कहती है कि इस व्रत के प्रभाव के कारण आप ऐसा कह रहे हैं। इसके बाद अभिनयमुद्रा में फूल चन्दन से चन्द्रकिरणों की पूजा करके विदूषक के हाथ में निपुणिका द्वारा मिठाई समर्पित कराती है। वह उन्हें व्रत की सफलता का अशीर्वाद देता है। पुनः राजा पुरूरवा की पूजा करके हाथ जोड़ कर प्रणाम करती हुई कहती है कि आज मैं चन्द्रमा एवं रोहिणी के देवी युग्म को साक्षी बना कर आर्यपुत्र को प्रसन्न करती हूँ। आज से जिस स्त्री को राजा प्रेम करेंगे तथा जो कोई भी आर्यपुत्र की 'समागमप्रणयिनी' बनना चाहेगी, मैं उसके साथ प्रेमपूर्ण व्यवहार करूँगी[4]। यह सुन कर विदूषक देवी से पूछता है कि क्या देवी का हमारे मित्र पर इतना प्रेम है ? देवी कहती है कि मैं

१ विक्र० ३।१०
२ वही : ३।११
३ वही : ३।१३
४ विक्र०, अंक ३, पृ० १२१।

अपने सुख को बलि देकर आर्यपुत्र का सन्ताप दूर कर देना चाहती हूँ। इसी से सोचो कि वे उतने प्रिय हैं या नहीं। देवी के इस वाक्य पर राजा कहता है कि तुम चाहो तो मुझे दूसरी स्त्री को दे सकती हो अथवा उससे छीन ले सकती हो, लेकिन तुम मुझे जैसा समझ रही हो मैं वैसा नहीं हूँ (३।१४)। व्रत पूरा कर देवी राजा के रोकने पर भी परिजन के साथ वहाँ से चली जाती है। आसन पर बैठ कर जब राजा विदूषक से पूछता है कि क्या देवी दूर चली गयी तब वह कहता है कि जैसे वैद्य किसी रोगी को असाध्य कह कर छोड़ देता है वैसे ही देवी ने भी तुझे असाध्य कह कर छोड़ दिया है। जब राजा चाहता है कि उर्वशी चुपचाप अपने नूपुर की आवाज सुना दे, पीछे से आकर कोमल हाथों से हमारी आँखें बन्द कर दे या इस प्रासाद पर लज्जा के कारण धीरे-धीरे चलती हुई सखी के द्वारा जबरदस्ती हमारे पास पहुँचाई जाय तब उसके प्रेम एवं व्यवहार से परितुष्ट उर्वशी पीछे से आकर राजा की आँखें बन्द कर देती है। राजा स्पर्श से ही उर्वशी को पहचान लेता है। उर्वशी हाथ हटा कर तथा कुछ दूर जाकर राजा का जयकार करती है। राजा उसे स्वागत के साथ अपने आसन पर बैठाता है। उर्वशी प्रसन्नतापूर्वक अपनी सखी चित्रलेखा से कहती है कि देवी ने महाराज को दान कर मुझे दे दिया है, अतः इनकी प्रेमिका की तरह इनके शरीर से सट गयी हूँ। मुझे दोष मत देना।[1] चित्रलेखा कहती है कि वसन्त के बाद ग्रीष्म में मैं सूर्योपस्थान में जाऊँगी, अतः जिस प्रकार हमारी सखी स्वर्ग के लिए उत्कण्ठित न हो, आप वैसा करें। राजा कहता कि स्वर्ग का सुख अवर्णनीय है, उसे कौन भुलावेगा? फिर भी अनन्य भाव से पुरूरवा तो इसका दास रहेगा ही।[2] इसके बाद चित्रलेखा उर्वशी से विदा लेती है और राजा को प्रणाम कर चली जाती है। राजा पुरूरवा के कथन को स्वीकार करता हुआ विदूषक कहता है कि सचमुच यह उसका अभ्युदय है। राजा कहता है कि उसकी आज्ञा का पालन करने में वह अपने को जितना धन्य मानता है उतना सम्पूर्ण पृथ्वी के स्वामी बनने या अपने सामन्तमौलिमणिरंजितपादपीठ से नहीं।[3] उर्वशी कहती है कि इससे अधिक प्रिय कह सकने की ताकत उसकी जिह्वा में नहीं। उर्वशी का हाथ अपने हाथ में लेकर वह कहता है कि इष्ट वस्तु का लाभ स्थिति में आश्चर्यजनक परिवर्त्तन ला देता है। आज वे ही चन्द्रकिरणें मेरे शरीर को आनन्दित कर रही हैं, वे ही कामबाण मेरे अनुकूल हो रहे हैं।

---

१ उर्वशी—हला देवीए दिण्णो महाराओ। अदो णणअवदी विअ सरीर संपक्कं गदम्हि मा खु मं पुरोभाईणि समतोहि। (विक्र०, अंक ३, पृ० १२७)।

२ विक्र० ३।१८

३ वही, ३।१९

प्रिये, तुम्हारे वियोग-काल में सभी प्रतिकूल वस्तुएँ आज अनुकूल हो रही हैं।[१] वस्तुतः दुःख के वाद प्राप्त सुख अत्यधिक आनन्ददायक होता है। धूप में तप्त मनुष्य को पेड़ की छाया अच्छी लगती है।[२] अन्त में राजा उर्वशीप्राप्तिविषयक मनोरथ की पूर्त्ति के पूर्व की भाँति रातें लम्बी होने की कामना कर वहाँ से विश्राम के लिए उर्वशी एवं विदूषक के साथ महल में चला जाता है।

चतुर्थ अंक (स्थान—यद्यपि इस अंक में घटना का स्थान-संकेत नहीं है, किन्तु परिस्थिति से मालूम पड़ता है कि गन्धमादन पर्वत पर कुछ घटना घटी है)

उर्वशी की सखी चित्रलेखा एवं सहजन्या की परस्पर वार्त्ता से मालूम होता है कि उर्वशी क्रीड़ावन्धु राजा पुरूरवा के साथ विहार करने के लिए गन्धमादन पर्वत पर गयी है। यहाँ पर मन्दाकिनी नदी के किनारे वालू के पहाड़ बना कर खेलने वाली विद्याधर कुमारी उदयवती के सौन्दर्य से आकृष्ट होकर राजा पुरूरवा देर तक प्यासी आँखों से उसे निहारते रहे। यह देख कर उर्वशी ईर्ष्यावश अत्यधिक क्रुद्ध हो उठी। उसने स्वामी के अनुनय-विनय को कुछ नहीं सुना। गुरु के शाप से उसका हृदय शून्य हो रहा था, उसने देवता का नियम भूल कर स्त्रियों के अगम्य स्थान कुमारवन में प्रवेश किया। वहाँ प्रवेश करते ही वह लता के रूप में परिणत हो गयी। राजा पुरूरवा उसके वियोग-दुःख से व्याकुल होकर उन्मत्त हो गया और उसी निर्जन वन में उसकी खोज में दिन-रात विताने लगा। पुनः अपनी प्रिया, उर्वशी से राजा के समागम का उपाय पूछने पर चित्रलेखा ने बताया कि "गौरीचरणरागसंभवसंगमनीयमणि" से समागम हो सकता है। सहजन्या आशा व्यक्त करती हुई कहती है कि वैसे महानुभाव चिरकाल तक दुःख में नहीं रहते। अतः मिलाने का कोई-न-कोई उपाय अवश्य हो जायगा।

इस अंक में उर्वशी के वियोग में उन्मत्त पुरूरवा की आत्मगत उक्ति गीतात्मक हो गयी है। उसमें वन के अनेक प्राणियों एवं तत्त्वों को सम्बोधित किया गया है। प्राचीन भारतीय रंगमंच पर इस प्रकार के गीतात्मक एकांकी नाटक के प्रदर्शन में कालिदास सर्वप्रथम हैं। पुरूरवा का यह गीतात्मक स्वगत भाषण इस तोटक के अन्तर्गत गीति नाट्य है। अतः इस अंक में नाटकीय कार्यकलाप अत्यल्प हैं। पुरूरवा की मनःस्थिति विवेक एवं भ्रान्ति के वीच दोलायमान रहती है।

अचानक उर्वशी के दृष्टि-विलोप से पुरूरवा को ऐसा प्रतीत होता है कि संभवतः केशी दैत्य ने उसे पुनः हर लिया। अतः क्रोधाभिभूत होकर वह चिल्ला

१ वही ३।२०
२ वही ३।२१

उठता है—"आः दुरात्मन् रक्षस्तिष्ठ तिष्ठ। क्व मे प्रियतमामादाय गच्छसि। हन्त शैलशिखराद्गगनमुत्पत्य बाणैर्मामभिवर्षति।" जब वह मिट्टी का ढेला उठा कर उसे मारने दौड़ता है तब उसका विवेक तुरंत खुल जाता है और वह कहता है—अरे यह तो उमड़ा हुआ मेघ है, क्रूर राक्षस नहीं। इसमें यह खिंचा हुआ इन्द्रधनुष है, तना हुआ राक्षस का शरासन नहीं। यह भी पानी की झड़ी लग रही है, बाण-परम्परा नहीं। तथा वह जो कसौटी पर बनी हुई सोने की रेखा के समान चमक रही है, वह मेरी प्राणप्रिया उर्वशी नहीं, बिजली है।[1]

इसके बाद कुछ देर तक उसका विवेक अक्षुण्ण रूप से कायम रहता है और इस स्थिति में वह शोक-विह्वल सामान्य व्यक्तियों के समान सोच्छ्वास आलाप करता हुआ कहता है कि केले के वृक्ष के समान जाँघ वाली कहाँ गयी होगी? क्रोधवश दैवी प्रभाव के बल से कहीं छिप गयी हो। लेकिन ऐसा नहीं हो सकता है क्योंकि उसका क्रोध अधिक देर तक नहीं ठहरता। या हो सकता है कि वह स्वर्ग चली गयी हो, किन्तु यह भी संभव नहीं, क्योंकि वह मुझे जी-जान से प्यार करती है। देवशत्रु दानव भी मेरे सामने से उसे हर कर नहीं ले जा सकते हैं। फिर भी वह मुझे कहीं दिखाई नहीं पड़ रही है। यह कैसा दुर्भाग्य है। इतना कहते ही वह मूर्च्छित होकर गिर पड़ता है। पुनः चारों ओर देखकर और दीर्घ श्वास लेकर वह कहता है कि दुर्भाग्यवाले व्यक्तियों के ऊपर दुःख पर दुःख आता रहता है क्योंकि एक ओर तो असह्य प्रिया का विछोह और दूसरी ओर ऐसा सुन्दर दिन जो बादलों के उठने और छिप जाने से अत्यधिक सुहावना लगता है (४।१०)। वह मेघ को कहता है कि इस पर किये अपने क्रोध को सँभालो, निरंतर वृष्टि से दिशाओं को रमणीय बनाओ तथा पृथ्वी पर उतरो। अगर परिभ्रमण में कहीं प्यारी उर्वशी को पा जाऊँगा तो तुम जो कुछ भी उत्पात करोगे मैं सह लूँगा (४.११)। पुनः हँसकर वह कहता है कि मैं मनस्ताप की उपेक्षा कर रहा हूँ। मुनियों ने कहा है कि राजा ही काल का कारण होता है।[2] अतः इस वर्षा काल को ही क्यों नहीं रोक दूँ। पुरूरवा स्वस्थ चित्त से वस्तुतः मे ही अपने समग्र राजकीय वैभव के प्रतीकों का अवलोकन करता है।[3] वह सतर्क विचार करता है कि मेघसिक्त सिकतामय भूमि पर यदि वह चलती तो

---

१ विक्र० ४।९

२ राजा कालस्य कारणम् (विक्र० अंक ५, पृ० १४८)

३ अथवा न प्रत्यादिशामि यत्प्रावृषेण्यैरेव लिङ्गैर्मम राजोपचारः सम्प्रति। कथमिव—४।१३ (विक्र०)।

महावर से रँगे हुए उसके सुन्दर पैरों के चिह्न दूर तक अवश्य दृष्टिगत होते जो नितम्बों के भारी होने के कारण पीछे एड़ी की ओर गहरे हो जाते।[1]

इसके बाद उसका विवेक उन्माद के कारण भ्रान्त हो जाता है। उस भ्रान्ति की स्थिति में वह हरी दूब पर फैली हुई वीर-बहूटियों को, प्रिया की सुग्गे के पेट की तरह हरितवर्ण का स्तनवरणवस्त्र समझ लेता है (४।१७)। इसके बाद वह क्रमशः मोर, कोयल, हंस, चकवा, भौंरा तथा मदमत्त हाथी से अपनी प्राण-वल्लभा का समाचार पूछता है (४।१८-६)। जब उसे किसी से कोई जवाब नहीं प्राप्त होता है तब वह अपनी प्यारी के वियोग में कातर भाव का अनुभव करते हुए किसी को उदार भाव से क्षमा करता है,[2] किसी के ऊपर चोरी का आरोप लगाता है,[3] किसी को उदासीनता के लिए उपालम्भ देता है,[4] किसी की उदासीनता के कारण का अनुमान करता है,[5] और किसी को समकक्ष मान कर उसे प्रिया-मिलन का स्वस्तिवाद देता है।[6]

तदुपरान्त पुरूरवा पर्वत, नदी, मृग तथा अशोक वृक्ष से अपनी प्रिया का पता पूछता चलता है।[7] नदी को उसने भ्रमवश उर्वशी समझ लिया है।[8] पृथु-लोचना मृगी के समान वह अपनी प्रेयसी को बताता है (४।६०)। सहानुभूति नहीं मिलने पर पुरूरवा दशा परिवर्त्तन को परिभवास्पद मानता है। इसी स्थिति में कुछ कदम आगे बढ़ने पर वह प्रस्तरखंड की दरार में रक्ताभ देखता है। उसे देखकर उसका प्रिया-विषयक प्रलाप समाप्त हो जाता है। वह सोचता है कि मन्दार पुष्पों से अधिवासित अपनी प्रिया के केशों में लगाने योग्य इसे लेकर मैं क्या करूँगा, जब मेरी प्रिया ही मेरे लिए दुर्लभ हो रही है (४।६३)। तत्क्षण नेपथ्य की ओर से किसी अदृश्य मुनि से निर्देश मिलता है—वत्स ! इसे ग्रहण

---

१ विक्र० ४।१६
२ विक्र० ४।२७
३ वही ४।३१-३४
४ वही ४।३९
५ वही ४।४२
६ वही ४।४७
७ वही, पृ० १७५
८ तरङ्गभ्रूभङ्गा क्षुभितविहगश्रेणिरशना
विकर्षन्ती फेनं वसनमिव संरम्भशिथिलम्।
यथाऽऽविद्धं याति स्खलितमभिसन्धाय बहुशो
नदीभावेनेयं ध्रुवमसहना स परिणता ॥४।५३॥ (विक्र०) ४।५३,५५,५८।

करो। यह पार्वती के चरणराग से उत्पन्न संगमनीयमणि है। इसे धारण करने से अतिशीघ्र निश्चय ही प्रिय व्यक्ति से भेंट होती है।[1] यथानिर्देश पुरूरवा उस मणि को उठा लेता है और कुछ कदम आगे बढ़ने पर लता को देख कर सोचता है कि इसने मेरा हृदय हर लिया है।[2] इतना कहकर वह लता का आलिंगन करता है। ऐसा करते ही उस लता के स्थान पर उर्वशी उपस्थित हो जाती है। वह रोती हुई "जेदु जेदु महाराओ" (महाराज की जय हो) कहती है। आनन्द विभोर होकर उससे राजा कहता है कि तुम्हारे वियोग से उत्पन्न दुःख में मैं डूब रहा था। सहसा भाग्यवश तुम मिल गयी जैसे मुर्दे को चेतना मिल जाय (४।६९)। जब राजा अपनी विरहावस्था का वर्णन करता है तब वह कहती है कि मेरी अन्तःइन्द्रियाँ बची थीं अतः आपकी सारी स्थिति से परिचित हूँ। अन्त में इसके लिए राजा से क्षमा याचना करती है। राजा कहता है कि हे कल्याणि ! मुझे मनाने की कोई आवश्यकता नहीं है, तुम्हें देखकर ही मेरी सभी वाह्य एवं आभ्यन्तर इन्द्रियाँ प्रसन्न हो गयी हैं।[3] अपनी दशा का वर्णन करने के बाद उर्वशी उस संगमनीय मणि को मस्तक पर धारण कर लेती है। इसके बाद वह राजा से कहती है कि आपको राजधानी से निकले बहुत दिन हो गये, प्रजाएँ हमें कोशती होंगी। अतः अब हमलोग राजधानी लौट चलें। यथेच्छ विमान पर चढ़ कर दोनों प्रस्थान कर जाते हैं।

पंचम अंक (स्थान—पुरूरवा का राजभवन)

अंकारम्भ में विदूषक के संक्षिप्त स्वगत कथन से विदित होता है कि बहुत दिनों के बाद उर्वशी के साथ नन्दनवन प्रभृति देवारण्यों में विहार कर राजा पुरूरवा अपनी राजधानी लौटे हैं। वे प्रजाओं से सत्कार पूजा पाते हुए राज्य कर रहे हैं। वे सर्वथा प्रसन्न हैं। उन्हें सिर्फ निःसन्तानता का दुःख है। जब किसी खास पर्व के अवसर पर राजा देवियों के साथ गंगा-यमुना-संगम-स्नान करने गये तब संयोगवश उस संगमनीय मणि को किसी दासी द्वारा तालवृन्त रखकर ले जाते हुए दूर से देखकर मांसखण्ड समझ गीध ने झपट लिया। इसकी खबर

---

१ (नेपथ्ये) वत्स ! गृह्यतां गृह्यताम्।

सङ्गमनीय इति मणिः शैलसुताचरणरागयोनिरयम्।

आवहति धार्यमाणः सङ्गमचिरात्प्रियजनेन ॥४।६४॥

२ विक्र० ४।६६

३ राजा—कल्याणि न तावदहं प्रसादयितव्यः। त्वद्दर्शनादेव प्रसन्नवाह्यान्तःकरणान्तरात्मा। (विक्र०, अंक ४, पृ० १९३)

मिलने पर शरासन वाण लेकर जब उद्विग्न राजा पुरूरवा तैयार हुआ तब तक वह गीध दृष्टि एवं वाण की गति से ओझल हो गया। अन्त में उन्होंने लातव्य (कंचुकी) के माध्यम से नगरनिवासियों को कहवाया कि पक्षियों के वासवृक्षों पर उसकी खोज की जाए। राजा विदूषक से अतिचिन्तित स्वर में कहता है कि उसी संगमनीय मणि ने मुझे प्यारी से मिलाया है, अतः मुझे उसके लिए इतनी ममता है। इसी समय कंचुकी वाण एवं मणि लिए दरवार में आता है और निवेदन करता है कि आपके पराक्रम ने वाण वन कर उस गीध को भेद दिया। वह पक्षी रत्नसहित पृथ्वी पर गिर पड़ा।[1] यह सुनकर सभी आश्चर्य प्रकट करते हैं। उस वाण पर अंकित नामाक्षर राजा पढ़ता है। उसमें लिखा था कि उर्वशी गर्भसंभूत, पुरूरवा के पुत्र, धनुर्धर, शत्रुप्राणसंहर्त्ता कुमार आयु का यह वाण है।[2] यह सुनकर प्रसन्नतापूर्वक जब वह कहता है कि सौभाग्य की बात है कि आप सन्तानवाले हुए तब राजा पुरूरवा उससे कहता है कि मित्र! यह बात कैसे हुई? नैमिषेयसत्र के अतिरिक्त मैं उर्वशी से अलग हुआ ही नहीं। कभी भी मैंने उर्वशी में गर्भ चिह्न भी नहीं देखा, फिर यह सन्तान कहाँ से संभव हुई? किन्तु उसके शरीर में कुछ दिनों तक इतना परिवर्तन मैंने देखा था कि उसके स्तनाग्र श्यामवर्ण, मुखच्छाया हरफावेर के समान पीताभ एवं आँखें अलसायी हुई हो गयी थीं।[3] इस पर विदूषक कहता है कि दिव्यांगना में मानुषी के सभी रूपों की संभावना की आप कल्पना न करें। उनके चरित प्रभाववश रहस्य होते हैं। राजा उसके इस कथन को स्वीकार करता है। लेकिन वह सोचता है कि उर्वशी ने किस लाभ से सन्तान को गुप्त रखा? इधर कंचुकी जयकार के साथ निवेदन करता है कि च्यवन ऋषि के आश्रम से एक कुमार के साथ एक तापसी आपसे मिलने आयी हैं। राजा के आदेशानुसार वह उन्हें लेकर आता है। कुमार को देखकर विदूषक राजा से कहता है कि इसका स्वरूप तो आपसे मिलता-जुलता है। (तह वहुअरं भवन्तं अणुकरेदि)। राजा भी इसे स्वीकार कर कहता है कि इस पर पड़ने वाली मेरी आँखें भर आई हैं, हृदय वात्सल्यभाव से पूर्ण हो रहा है, मन में अतिशय प्रसन्नता है। मेरे सारे अंग काँप रहे हैं। मेरे मन में इच्छा हो रही है कि धैर्य छोड़कर इसका आलिंगन कर लें।[4] इसके वाद राजा के प्रणाम करने

---

१ विक्र० ५।६
२ वही ५।७
३ वही ५।८
४ वाष्पायते निपतिता मम दृष्टिरस्मिन्वात्सल्यवन्धि हृदयं मनसः प्रसादः।
संजातवेपथुभिरुज्झितधैर्यवृत्तिरिच्छामि चैनमदयं परिरव्धुमङ्गैः ॥४।९॥
(विक्र०)

पर तापसी उन्हें सोमवंशविस्तारयिता होने का आशीर्वाद देती है। कुमार आयु को राजा चिरायु होने का आशीर्वाद देता है। कुमार आयु अपने मन में सोचता है कि मैं पुत्र तथा ये पिता है, जब इसे सुनने मात्र से इतना प्रेम उमड पड़ा है तब जिन्हे गोद में पल कर बढ़ने का अवसर मिला होगा उनको कैसा प्रेम होता होगा।[1] तदुपरान्त तापसी अपने आगमन का प्रयोजन बताती हुई कहती है कि यह दीर्घायु आयु जन्मकाल मे ही उर्वशी द्वारा कुछ विचार कर हमारे हाथों में सौंपा गया था। इसके जातकर्मादि सभी क्षत्रियोचित संस्कार भगवान् च्यवन के द्वारा सम्पन्न किये गये है। इसे शास्त्र एवं धनुर्वेद पढ़ाये गये है।[2] आज ऋषि कुमारों के साथ पुष्पसमिधा आदि के लिए वन में जाने पर इसने एक गीध को मार कर आश्रमविरुद्ध आचरण कर दिया। यह मालूम होने पर भगवान् च्यवन ने मुझे यह न्यास लौटा देने का आदेश दिया। एतदर्थ मै देवी उर्वशी से मिलना चाहती हूँ। उर्वशी आती है और तापसी को प्रणाम करती है। वह उसे स्वामी की दुलारी बनने का आशीर्वाद देती है। राजा पुत्रवती उर्वशी का स्वागत कर अपने आसन पर बगल में उसे बैठाता है। सभी के अपने-अपने आसन पर बैठ जाने पर तापसी उर्वशी से कहती है कि यह आयु सब विद्या पढ़ कर समर्थ हो गया, अतः तुम्हारी यह धरोहर तुम्हारे स्वामी के सामने मैंने तुम्हें सौंप दिया। हमारे आश्रम के नियमों में बाधा पड़ रही है, अतः मैं अब जाना चाहती हूँ। उनके अनिवार्य कार्य को ध्यान में रखकर उर्वशी उन्हें रोक नही पाती। अतः पुनः दर्शन देने की कृपा करने का उनसे अनुरोध करती है। राजा अपनी ओर से भगवान् को प्रणाम निवेदन करने के लिए उनसे अनुरोध करता है। कुमार आयु भी अपने को आश्रम में लेते जाने को कहता है। इस पर राजा पुरूरवा उससे कहता है कि अरे बेटे ! तुम आश्रम में रह चुके, अब तुमको गृहस्थाश्रम में प्रवेश करना चाहिए।[3] अन्त में आयु नीलकण्ठ नामक मयूर के बच्चे को भेजने के लिए तापसी से कहता है (५।१३)। तापसी भेजने का आश्वासन देती है और सबकी कल्याणकामना व्यक्त कर वहाँ से प्रस्थान करती है।

इसके बाद राजा पुरूरवा उर्वशी से कहता है कि मैं तुम्हारे पुत्र से तुम्हारे पुत्र से पुत्रवानों में अग्रगण्य हो गया हूँ, जिस तरह पौलोमी के गर्भ से उत्पन्न

---

१ विक्र० ५।१०

२ विक्र० अङ्क ५, पृ० २११-२१२

३ राजा—अयि वत्स—उषितं त्वया पूर्वस्मिन्नाश्रमे । द्वितीयमध्यासितु
तव समयः ।

जयन्त से इन्द्र (५।१४)। इसे याद कर उर्वशी रोने लगती है। जब राजा उसके पुत्र-प्रमोद के इस शुभ अवसर पर रोने का कारण पूछता है तब वह बताती है कि इन्द्र का नाम सुनते ही मुझे वह प्रतिज्ञा याद आ गयी! इन्द्र का आदेश था कि जब राजा पुरूरवा मुझसे उत्पादित अपने पुत्र का मुँह देख लें तब तुम पुनः स्वर्ग चली आओगी। मुझे आपके वियोग का इतना भय हुआ कि मैंने अपने लड़का के जन्म लेते ही उसे विद्याध्ययन के बहाने च्यवन मुनि के आश्रम में आर्या सत्यवती के हाथ में सबसे छिपाकर सौंप दिया। अब वह पिता की आराधना के योग्य हो गया है, ऐसा विचार कर उन्होंने इसे वापस कर दिया है। इतने ही समय तक मैं आपके पास रह सकी। यह सुनकर सभी दुःख व्यक्त करते हैं। जब उर्वशी स्वर्ग जाने के लिए राजा से अनुमति माँगती है तब वह अपनी मनो-व्यथा प्रकट करते हुए कहता है कि पराधीनता में वियोग अतिसुलभ होता है, इसमें अपनी रुचि से नहीं चला जा सकता है। तुम्हें अपने स्वामी इन्द्र के पास जाना चाहिए। मैं भी अपने पुत्र कुमार आयु के कन्धों पर राज्य भार डाल कर मृगों से निषेवित वन में चला जाऊँगा (५।१७)। यह सुनकर कुमार अपने पिता से कहता है कि वृषराज के वहन करने योग्य बोझ को ढोने में बछड़े को नहीं लगाना चाहिए। इस पर राजा कहता है कि गन्धद्विप उम्र में छोटा होकर भी हाथियों को मार भगाता है। तुम बालक होकर भी पृथ्वी की रक्षा कर सकते हो, उम्र से नहीं, जन्म से यह भार ढोया जाता है।[1] लातव्य के माध्यम से मंत्रिमंडल को कुमार आयु के राज्याभिषेक का प्रबन्ध करने के लिए राजा आदेश देता है। कंचुकी दुःख भरी मुद्रा में जाता है। इसी समय अकस्मात् वहाँ नारद पहुँचे। सत्कार के बाद उन्होंने इन्द्र का सम्वाद राजा से कहा कि त्रिकालज्ञ मुनियों का कहना है कि निकट भविष्य में देवासुर-संग्राम होने वाला है। आप हमारे रण-सहायक हैं, अतः आप शस्त्रत्याग न करें। यह उर्वशी आयु भर आपकी सहधर्मचारिणी (स्त्री) रहेगी।[2] राजा ने कहा कि मैं इन्द्र के अधीन हूँ। नारद ने इसे उचित बताते हुए कहा कि आप इन्द्र का कार्य करें तथा इन्द्र आपका कार्य किया करें। सूर्य अग्नि को उद्दीप्त करता है और अग्नि अपने प्रखर तेज से सूर्य को प्रखर बनाता है (५।२०)। इसके बाद स्वयं नारद ने कुमार आयु का राज्याभिषेक किया। रानी औशीनरी, नारद, अप्सराएँ और राजा आदि ने आशीर्वाद दिया। वैतालिकों ने मंगलगान (५।२१-२२) किया। इस प्रकार सभी आनन्द विभोर हो

---

१ विक्र० ५।१

२ नारदः—त्रिकालदर्शिभिर्मुनिभिरादिष्टः सुरासुरसंगरो भावी। भवांश्च सांयुगीनः सहायो नः। तेन त्वया न शस्त्रं संन्यस्तव्यम्। इयं चोर्वशी यावदायुस्तव सहधर्मचारिणी भवत्विति। (विक्र० अंक ५, पृ० २२६)

जाते हैं। अन्त में राजा इन्द्र से यह कामना करता है कि उनकी कृपा से सज्जनों के कल्याण के लिए परस्पर विरोध रखने वाली सरस्वती एवं लक्ष्मी का संगम हो—

परस्पर विरोधिन्यारेकसंश्रयदुर्लभम्।
संगतं श्रीसरस्वत्योर्भूतयेऽस्तु सदा सताम् ॥५।२४॥

इस तरह भरतवाक्य से अभिनय का अन्त होता है और सभी मंच से निष्क्रान्त हो जाते हैं।

विक्रमोर्वशीयम् का उपजीव्य

पुरूरवा एवं उर्वशी के प्रणय-प्रसंग की कथा का प्रारंभिक रूप ऋग्वेद के मंडल १०, सूक्त ९५ के पुरूरवा-उर्वशी संवाद[1] में मिलता है। ऋग्वेद में मनु के साथ पुरूरवा का उल्लेख किया गया है। उसमें उन्हें हितकर (सुकृते) तथा अग्नि का मित्र कहा गया है।[2] मानव पुरूरवा, अप्सरा उर्वशी के अद्भुत सौंदर्य-पाश में बँध जाता है। उर्वशी ने उसकी पत्नी के रूप में पृथ्वी पर रहने का वचन दिया, बशर्त्ते वह उसे आवरणहीन रूप में नहीं देखे। यह सम्पूर्ण संवाद केन्द्रीय तत्त्व है। इस सूक्त के अठारहवें मंत्र में उसे इला के पुत्र के रूप में सम्बोधित किया गया है। चार शरद् तक पुरूरवा के साथ रहने के बाद दाम्पत्य-स्नेह का परित्याग कर वह गन्धर्वों के पास चली जाती है जब उपर्युक्त शर्त्त भंग हो जाती है। गन्धर्वों के साथ उर्वशी का पुराना सम्बन्ध था। वह उर्वशी को अधिक समय तक अन्यत्र रहने देना नहीं चाहता था। फिर भी पुरूरवा चाहता था कि वह कुछ दिनों तक और उसके साथ निवास करे। ऐसा नहीं करने पर वह आत्महत्या की भी धमकी देता है। फिर भी वह निर्दय भाव से उसकी प्रार्थना ठुकरा देती है। वह अपने को वायु की भाँति दुर्ग्राह्य बताती है (दुरापानावात इवाहमस्मि)। अन्ततोगत्वा वह कहती है—हे पुरूरवा! तुम मेरे लिए अपनी जान मत गमाओ, कुत्तों और सियारों से अपने को मत नोचवाओ। स्त्रियों का प्रेम स्थायी नहीं होता है, क्योंकि वे हृदय से

---

1 पुरूरवा—हये जाये मनसा तिष्ठ घोरे वचांसि मिश्रा कृणवावहै नु।
न नौ मन्त्रा अनुदितास एते मयस्करन् परतरे चनाहन् ॥१॥
उर्वशी—किमेता वाचा कृणवा तवाहं प्राक्रमिषमुषसामग्रियेव।
पुरूरवः पुनरस्तं परेहि दुरापानावात इवाहमस्मि॥
... .
उर्वशी—इति त्वा देवा इम आहुरैल यथेमेतद्भवसि मत्युबन्धुः।
प्रजा ते देवान्हविषा यजाति स्वर्ग उ त्वमपि मादयासि ॥१८॥
(ऋग्वेद, म० १०, सूक्त ९५)

2 ऋग्वेद १।३१।४

सियार और भालू होती हैं—

पुरूरवो मा मृथा मा प्र पप्तो मा वृकासो अशिवास उक्षन्।
न वै स्त्रैणानि सख्यानि सन्ति सालावृकाणां हृदयान्येता ॥

अन्त में वह मान जाती है और दयापूर्वक भावी आनन्द के लिए सान्त्वना देती है।

कुछ परिवर्त्तनों एवं परिवर्धनों के साथ पुरूरवा एवं उर्वशी का उपर्युक्त प्रेमप्रसंग शतपथ ब्राह्मण,[1] वेदार्थदीपिका,[2] महाभारत[3] (हरिवंश), विष्णु-पुराण[4], पद्मपुराण, भागवत पुराण[5]: मत्स्यपुराण[6] तथा कथासरित्सागर[7] (वृहत्कथा) में भी वर्णित है।

शतपथ ब्राह्मण में पुरूरवा एवं उर्वशी के परिचय के साथ-साथ गन्धर्वों द्वारा उनके साथ किये गये प्रपंच का वर्णन प्राप्त होता है। उसमें बताया गया है कि उर्वशी के लुप्त हो जाने के पश्चात् पुरूरवा अत्यधिक व्याकुल एवं उद्विग्न होकर उसे इधर-उधर खोजता-फिरता है। उसी क्रम में वह कमलों से भरे जलाशय में अन्यान्य अप्सराओं के साथ तैरती दिखाई पड़ती है। उसके अनुरोधों से करुणार्द्र होकर उर्वशी अपने को प्रकट करती है और एक साल के बाद एक रात भर उसके रहने का वचन देती है। तत्पश्चात् पुरूरवा गन्धर्वों को खुश कर उनके कथनानुसार नरलोक में स्वर्गीय अग्नि को लाकर यज्ञ करता है। इससे वह गन्धर्व रूप पा लेता है। इसके दूसरे अवतरण में हवनाग्नि में प्रयुक्त होने वाली लकड़ियों का युग्म इन्हीं दोनों के नाम से सम्बद्ध किया गया है।

ऋग्वेद के उपर्युक्त सवाद सूक्त पर आधारित प्रेमी युगल की प्रेमकथा का वर्णन विभिन्न पुराणों में भिन्न-भिन्न प्रकार से किया गया है। महाभारत (हरिवंशम्) तथा वेदार्थदीपिका में वैदिक पुरूरवा-उर्वशी संवाद की कथा में महत्त्व-पूर्ण परिवर्त्तन किया गया है। उनमें मूलकथा के दुःखान्त स्वरूप को बिल्कुल छोड़ दिया गया है। उनमें लिखा है कि उर्वशी ने पुरूरवा पर दया करके वर्ष में एक बार

---

१ शतपथ ब्राह्मण २।५।१ (ऋग्वेद १०।९५ सूक्त की व्याख्या)।

२ षड्गुरुशिष्य द्वारा ऋग्वेद की, की गयी सर्वानुक्रमणी व्याख्या, ऋ० वे० १०।९५

३ महाभारत १०।२६

४ विष्णुपुराण—अध्याय ४।६

५ भागवतपुराण, स्क० ९, अ० १४

६ मत्स्यपुराण, अ० २५

७ कथासरित्सागर, ल० ३०, त० ३।

अपने पास आने की स्वीकृति दी। अथवा पुरूरवा के द्वारा कृत यज्ञ के फलस्वरूप देवों ने उर्वशी को जीवनपर्यन्त उसके साथ रहने की अनुमति दी। अथवा अन्ततः उसी यज्ञ के परिणामस्वरूप पुरूरवा ने गन्धर्व के पद को प्राप्त किया तथा सदा के लिए वहीं रह गया, पुनः कभी भी उसका उर्वशी से वियोग नहीं हुआ।

विष्णुपुराण एवं भागवत पुराण में लिखा है कि मित्रावरुण के शाप के कारण अत्यन्त सौंदर्यपूर्ण मानवीय रूप में उर्वशी को भूलोक में रहना पड़ा। चन्द्रवंशी राजा पुरूरवा उसके रूपलावण्य से आकृष्ट होकर उसके उत्कट प्रेम में लीन हो गया। कुछ शर्तों के साथ वह उनकी पत्नी बन गयी। पहली शर्त के अनुसार उसके दो प्रिय मेढ़ों को अपने संरक्षण में सुरक्षित रखना था तथा दूसरी शर्त के अनुसार वह उसे अपनी पोशाक से आवरणहीन कदापि नही देख सके। स्वर्गनिवासियों के बीच उर्वशी का अभाव बहुत खटक रहा था। कुछ गन्धर्वों ने उसकी पुनः प्राप्ति के लिए प्रयास करना शुरू किया। वे राजा पुरूरवा के शयन-कक्ष में घुस गये और दोनों मेढ़ों को ले भागे। उनके मिमियाने की आवाज से पुरूरवा एवं उर्वशी जाग गये। पुरूरवा ने, यह कल्पना कर कि इस घोर अन्धकार में उर्वशी उसे नही देख सकेगी अतः अपने बिछावन से उठ कर नग्नवेश में ही उसका पीछा किया। इस स्थिति में गन्धर्वों ने प्रभाव से बिजली की चमक पैदा कर दी। फलतः उर्वशी की दृष्टि उसी रूप में पुरूरवा पर पड़ गयी। इस प्रकार शर्त भंग होते ही तत्क्षण उर्वशी विलुप्त हो गयी और गन्धर्वों के साथ इन्द्रलोक चली गयी। जब पुरूरवा को इस क्षति का ज्ञान हुआ तब वह अपनी पत्नी उर्वशी की खोज में यत्र-तत्र घूमने लगा! घूमते-घूमते वह कुरुक्षेत्र में एक जलाशय के समीप पहुँचा। वहाँ उसने अन्य अप्सराओं के साथ जल-विहार करती हुई उर्वशी को देखा। तत्क्षण पहचान कर पुरूरवा ने उसे अपने यहाँ लौट चलने की प्रार्थना की। उसने उसके साथ लौटना तो अस्वीकार कर दिया, किन्तु उसने यह प्रतिज्ञा की कि यदि वह राजकार्य को सफलतापूर्वक करता रहेगा तो वह वर्ष में एक बार उसके पास आयेगी। अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार वह प्रतिवर्ष उसके पास आने लगी। फलतः उससे आयु, धीमत, अमावसु, विश्वावसु, शतायु एवं धृतायु नामक छः पुत्र उत्पन्न हुए। फिर भी राजा पुरूरवा उसके साथ स्थायी संभोग चाहता था। एतदर्थ उसने अनेक यज्ञ किये। उसके फलस्वरूप उसने गन्धर्व का पद प्राप्त किया। इस प्रकार स्वर्ग के वातावरण में सोल्लास रहते हुए उसने अपनी प्रेयसी के साथ स्वर्गीय सुख का अनुभव किया।

इसी प्रेमी युगल की प्रणय-कथा का वर्णन बृहत्कथा (कथासरित्सागर, तरंग, १७) में भी हुआ है। किन्तु वहाँ उपर्युक्त वर्णन से बिलकुल भिन्न रूप

मिलता है। उसमें (कथासरित्सागर) में लिखा है कि अपने भक्त पुरूरवा की उर्वशी विषयक आसक्ति को जानकर विष्णु ने नारद के द्वारा इन्द्र को कहलाया कि वे उर्वशी को पुरूरवा के साथ रहने की अनुमति दें। इन्द्र के आदेश से वे दोनों संपृक्त हुए और आनन्दपूर्वक जीवन यापन करने लगे। इसके बाद स्वर्ग में देवासुर-संग्राम हुआ। उस युद्ध में पुरूरवा की सहायता से राक्षसों को परास्त कर इन्द्र ने विजय प्राप्त की। इस विजयोल्लास के उपलक्ष में इन्द्र-सभा में उत्सव मनाया गया। उसमें अप्सराओं के नृत्य-संगीत का भी आयोजन किया गया। नृत्याचार्य तुम्बुरु के अधीक्षण में रम्भा नामक अप्सरा नृत्य कर रही थी। नृत्य-संगीत का आस्वादन करते हुए राजा पुरूरवा को रम्भा द्वारा नाचने में कृत गलती पर हँसी आ गयी। उसके इस अशिष्ट व्यवहार पर तुम्बुरु ने रुष्ट होकर उसे उर्वशी से वियुक्त होने का शाप दे दिया। शापवश मध्यम लोक में आने पर उसने देखा कि गन्धर्वगण उर्वशी को लिये जा रहे हैं। । इसके बाद पुरूरवा ने बद्रिकाश्रम जाकर विष्णु की प्रसन्नता-प्राप्ति के लिए तपस्या करना आरम्भ किया। विष्णु को प्रसन्न कर उसने गन्धर्वों से पुनः उर्वशी को प्राप्त किया।

पाश्चात्य विद्वान् विल्सन का कथन है कि विक्रमोर्वशीयम् का सम्पूर्ण कथानक एक रूपक है। उसमें सूर्य नायक तथा उषा नायिका है। वे दोनों (सूर्य एवं उषा) कुछ समय के लिए साथ रहते हैं और बाद में अलग हो जाते हैं। अकेले सूर्य सर्वत्र परिभ्रमण करते हैं। पुनः दिवसान्त में दोनों सम्पृक्त हो जाते हैं।

मत्स्यपुराण में वर्णित पुरूरवा उर्वशी की प्रणय-कथा 'विक्रमोर्वशीयम्' की कथा-वस्तु से बहुत कुछ मिलती-जुलती है। उसमें वर्णित है कि बुद्ध को अपने पिता से पृथ्वी का साम्राज्य मिला। बुद्ध को इला से एक पुत्र उत्पन्न हुआ। उसने अपनी क्षमता से एक सौ अश्वमेधयज्ञ सम्पन्न किया। उसका नाम पुरूरवा रखा गया। उसने हिमालय पर्वत पर विष्णु की उपासना की। उनकी कृपा से सप्तद्वीपा वसुन्धरा का वह सम्राट् हुआ। उसने अपने शौर्य के बल पर केशी से उर्वशी को मुक्त कराया। बाद में वह उसकी प्रेयसी बन गयी।

धर्म, अर्थ एवं काम एक बार पुरूरवा के समीप आये। उन्होंने पुरूरवा को यह निर्णय देने के लिए अपनी उत्सुकता व्यक्त की कि उनमें किसका प्रथम स्थान है। पुरूरवा ने कहा कि धर्म ही मूर्धन्य स्थानीय है। इस निर्णय पर अर्थ एवं काम दोनों ने अतिरुष्ट होकर उसे शाप दे दिया। अर्थ ने शाप दिया कि वह लोभी होकर पतित हो जायगा। काम ने शाप दिया कि वह अपनी प्रियतमा उर्वशी से वियुक्त हो जायगा तथा विक्षिप्तावस्था में गन्धमादन पर्वत पर स्थित कुमारवन

में घूमता फिरेगा। लेकिन धर्म ने घोषणा की कि वह पवित्र दीर्घ जीवन व्यतीत करेगा। उसकी वंश-परम्परा सूर्य एवं चन्द्रमा की स्थिति पर्यन्त उत्तरोत्तर बढ़ती जायगी तथा वह हमेशा पृथ्वी के साम्राज्य का उपभोग करेगा। इसके बाद वे तीनों देवता अन्तर्धान हो गये।

पुरूरवा प्रतिदिन इन्द्र के पास जाते थे। अपने रथ पर आरूढ़ होकर सूर्योपासना के बाद लौटते समय उसने देखा कि केशी नामक दैत्य ने उर्वशी और उसकी सखी चित्रलेखा को पकड़ कर उड़ाये जा रहा है। राजा पुरूरवा ने उस पर आक्रमण किया और अपने वायव्य अस्त्र से मार डाला। इससे प्रसन्न होकर इन्द्र ने उसे विशेष शक्ति एवं सुयश प्रदान किया।

एक बार लक्ष्मी की भूमिका में उर्वशी जब भरतमुनि के निर्देशन में लक्ष्मी स्वयम्वर नाटक का अभिनय कर रही थी तब अपने प्रेमी में आसक्त होने के कारण गलती से पुरुषोत्तम के बदले पुरूरवा उच्चारण कर दिया। इससे अपना अनादर समझ कर भरत ने उसे स्वर्गच्युत होने का शाप दे दिया। इसके बाद पुनः उसका पुरूरवा से संयोग हुआ। उसके सम्पर्क से उसने आयु, धृतायु, अश्वायु, धनायु, धृतिमान्, वसु, द्विजात एवं शतायु नामक आठ पुत्रों को पैदा किया।

उपर्युक्त मत्स्यपुराण की कथा से नाटकीय कथा-वस्तु के साम्य के आधार पर विल्सन प्रभृति कतिपय विद्वानों की धारणा है कि इस त्रोटक के प्रथम तीन अंकों का कथानक इसी पुराण से कालिदास ने ग्रहण किया है। इतना तो निर्विवाद कहा जा सकता है कि 'विक्रमोर्वशीयम्' की नाटकीय कथा-वस्तु का अत्यन्त प्राचीनतम स्वरूप वेद एवं पुराण आदि ग्रन्थों में कुछ परिवर्त्तनों के साथ उपलब्ध होता है। पुरूरवा-उर्वशी की प्रेम-विषयक पौराणिक एवं इस त्रोटक की कथा में अनेक भिन्नताएँ परिलक्षित होती है। हो सकता है, कालिदास ने ऋग्वैदिक उक्त संवाद के साथ पुराणों में वर्णित कथा का भी अध्ययन किया हो तथा सब को मिला-जुलाकर नाटकीय रूप देने के लिए अपनी प्रखर प्रतिभा के बल पर अन्य नाटकों की कथा-वस्तु की भाँति इसमें भी अनेक परिवर्त्तन एवं परिवर्धन किये हों। यह तो सुनिश्चित है कि घटनाओं के वैदिक एवं पौराणिक कथात्मक स्वरूप मे रूपक में अनेक रसों का सन्निधान संभव नहो हो सकता है। अतः कालिदास ने अवश्य ही उपर्युक्त कथा में अनेक अपेक्षित परिवर्त्तन कर अपने त्रोटक के प्रतिपाद्य को कथानक के अनुकूल बनाया है। जहाँ तक मत्स्यपुराण में वर्णित कथा की समता के आधार पर उसे ही इस त्रोटक के उपजीव्य बनाने की बात है, पुराणों की किसी प्रामाणिक निश्चित तिथि के अभाव में इसे मान लेना निर्भ्रान्त नहो होगा। ऐसा भी संभव हो सकता है कि कालिदास की परि-

वर्तित नाटकीय कथा-वस्तु का ही प्रभाव मत्स्यपुराण पर पड़ा होगा। ऐसी स्थिति में तो ऋग्वेद में वर्णित पुरूरवा उर्वशी के संवादभाग को ही विक्रमोर्वशीयम् का उपजीव्य मानना अधिक उचित प्रतीत होता है। कलिदास द्वारा इस त्रोटक में कृत अनेक परिवर्त्तनों एवं परिवर्धनों के बावजूद उसकी आधरता अक्षुण्ण बनी रहती है। इसके साथ ही अपने पूर्ववर्ती पुराणों में वर्णित कथा का भी नाटकीय कथानक के निर्माण में उपयोग किया गया होगा।

विक्रमोर्वशीयम् का नाट्य-वैशिष्ट्य

विक्रमोर्वशीयम् के प्राप्त उपजीव्य कथांशों के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि इस त्रोटक की कथा ऋग्वेद, शतपथ ब्राह्मण, महाभारत विष्णुपुराण, पद्मपुराण, मत्स्यपुराण, वृहत्कथा (कथासरित्सागर) आदि अनेक ग्रन्थों में उपलब्ध है। अब प्रश्न है कि क्या कालिदास ने उपर्युक्त कथा को ही ज्यों का त्यों ग्रहण कर लिया? उनके त्रोटक के सम्यक् अनुशीलन से पता चलता है कि उन्होंने जैसे अन्य नाट्य-कृतियों की कथावस्तु इतिहास एवं पुराण से लेकर उसमें अनेक परिवर्त्तन एवं परिवर्धन कर नाटकीय रूप प्रदान किया है उसी प्रकार इसकी भी कथावस्तु ऋग्वेद तथा पूर्ववर्त्ती ग्रन्थों में वर्णित पुरूरवा-उर्वशी विषयक कथा से ग्रहण कर उसमें विभिन्न परिवर्त्तन एवं परिवर्धन कर नाटकीय बनाया है। यहाँ यह सर्वथा विचारणीय है कि कालिदास ने मूलकथा में कौन-कौन सा परिवर्त्तन एवं परिवर्धन किया है तथा उसकी नाटकीय उपयोगिता क्या है? एतदर्थ उनके द्वारा कृत परिवर्त्तन एवं परिवर्धन प्रस्तुत्य हैं। नाटककार ने नाटकीय वस्तु में नवीनता लाने के साथ-साथ नाटकीय वस्तु-विन्यास के लिए कई आवश्यक नवीन पात्रों की भी सृष्टि की है। ऐसा करने से कथानक का रंगमंचीय प्रभाव वहुत उत्कृष्ट एवं समुन्नत हो गया है। भारतीय नाट्य-परम्परानुसार प्राचीन दुःखान्त कथा को सुखान्त वनाने के लिए ये परिवर्त्तन सर्वथा अपेक्षित थे।

पौराणिक कथा के अनुसार पुरूरवा ने सर्वप्रथम नन्दनवन या इन्द्र-सभा में उर्वशी को देखा। किन्तु इस त्रोटक के प्रथम अंक में केशी नामक दैत्य द्वारा उर्वशी एवं उसकी प्रिय सखी चित्रलेखा को अपहरण करने पर अन्य सखियों द्वारा रक्षार्थ सहायता की याचना की जाती है। तदनुसार राजा ने अपने पराक्रम से अविलम्ब दैत्य का विनाश कर उर्वशी एवं उसकी सखी चित्रलेखा को विमुक्त कराया तथा हेमकूट पर्वत पर अन्य सखियों के सम्मुख उन्हें उपस्थित किया। विषमाभूमि में रथ के हिलने-डुलने पर उर्वशी के कन्धे से इसके कन्धे का स्पर्श हो गया। फलतः दोनों के अन्दर वासना के अंकुर उत्पन्न हो गये। राजा के पराक्रम एवं उदारतापूर्ण उपकार से प्रभावित होकर उर्वशी उसके प्रति आकृष्ट

हुई। उर्वशी के अलौकिक रूप-लावण्य को देखकर राजा मोहित हो गया तथा उसके *सौन्दर्य-पाश में आवद्ध हो गया।*[1] *नाटककार ने उर्वशी को ऐसी निरुपम* रूपवती नारी के रूप में चित्रित किया है जिसका उपयोग इन्द्र ने महान् तपस्वियों की तपःसाधना भंग करने के लिए सुकुमार अस्त्र के रूप में किया है। वह रूप-गर्विता लक्ष्मी को भी परास्त करने वाली स्वर्ग की शोभा (अलंकार) है।[2]

प्रथम अंक में ही दोनों (पुरूरवा एवं उर्वशी) की पारस्परिक आसक्ति पूर्णतः प्रकट हो गयी है। दृष्टि, परिचय एवं हार्द, तीनों अवस्थाओं को तय कर दोनों का अनुराग सम्बन्ध शीघ्र ही प्रेम में परिणत हो गया। इस त्रोटक की प्रतिपाद्य वस्तु की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें युद्ध के बाद प्रेम-दृश्य का वर्णन है। इन दोनों का प्रथम प्रणय-मिलन ऐन्द्रिय रस से परिपूर्ण है। इसमें कालिदास की अद्भुत मौलिक उद्भावना परिलक्षित होती है। उर्वशी एवं उसके प्रेम-प्रसंग के चित्रण में वे कवि की भाँति कल्पना-प्रिय मालूम पड़ते हैं।[3]

पुराणों में महारानी औशीनरी को पुरूरवा की पत्नी के रूप में कहीं नही वर्णित किया गया है। हरिवंश में तो सिर्फ उर्वशी को ही उसकी (पुरूरवा की) स्त्री कहा गया है। इस त्रोटक मे उर्वशी से प्रणय के पूर्व तो राजा के साथ औशीनरी का वैवाहिक सम्बन्ध सम्पन्न होना बताया गया है। वही उसकी प्रिया रानी है।

उर्वशी के प्रणय-पत्र को पाने पर रानी औशीनरी की ईर्ष्या तथा पुनः शान्ति पूर्वक प्रियानुपसादनव्रत कर स्वीकृति ही इस त्रोटक के द्वितीय एवं तृतीय अंक के कथानक के विकास में प्रमुख महत्त्वपूर्ण परिघटक हैं। यह सम्पूर्ण दृश्य कालिदास का निजी अन्वेषण है।

पुराणों में उवशी के अभिशप्त होने का प्रसंग भी भिन्न है। किसी में तो बताया गया है कि उसे भरत ने शाप दिया और किसी में लिखा है कि उसे

---

१ राजा (उर्वशीमार्गोन्मुखः) अहो नु खलु दुर्लभाभिनेवेशी मदनः।
एषा मनो मे प्रसभं शरीरात्पितुः पदं मध्यममुत्पतन्ती।
सुराङ्गना कर्षति खण्डिताग्रात्सूत्रं मृणालादिव राजहंसी।१।१८ विक्र०

२ या तपोविशेषपरिशंकितस्य सुकुमारं प्रहरणं महेन्द्रस्य, प्रत्यादेशो रूप-गर्वितायाः श्रियः अलंकारः स्वर्गस्य। (विक्र० अंक १, पृ० १९)

३ विक्र० १, पृ० ७, ८ एवं १८
—तदेतदुन्मीलय चक्षुरायतं
महोत्पलं प्रत्युपसीव पद्मिनी।।१।५।। विक्र०

तुम्बुरू ने शाप दिया। कहीं-कहीं तो मित्रावरुण के शाप की भी चर्चा है। कालिदास ने 'विक्रमोर्वशीयम्' में लिखा है कि स्वर्ग में भरतमुनि के निर्देशन में खेले जाने वाले लक्ष्मीस्वयम्वर नाटक के प्रसंग में पूर्वासक्ति के कारण प्रमादवश उर्वशी ने पुरुषोत्तम के वदले पुरूरवा नाम का उच्चारण किया। फलतः अपना अपमान समझ कर भरतमुनि ने उसे स्वर्गच्युत होने का शाप दिया। अभिनय के अन्त में इन्द्र ने शाप में सुधार करते हुए कहा कि राजा पुरूरवा मेरा युद्धसहायक है। हमें उसका कल्याण करना है। तुम यथेच्छ पुरूरवा के पास तब तक रह सकती हो जब तक तुम से उत्पन्न सन्तति का मुख-दर्शन नहीं कर ले। त्रोटक के तृतीय अंक के विष्कम्भक में उल्लिखित इस प्रसंग से दोनों प्रेमियों का मार्ग निर्विघ्न हो जाता है।

पुराणों के प्रसंग से पता चलता है कि राजा पुरूरवा उर्वशी को स्वर्ग से पृथ्वी पर लाया। किन्तु इसमें कालिदास ने काम के उभयवर्त्ती उद्वेग को चित्रित करने के लिए दिखाया है कि स्वयं उर्वशी उभिसारिका के रूप में अपनी सखी चित्रलेखा को साथ में लेकर नरलोक में आयी। वे दोनों प्रभाववश तिरस्करिणी की आड़ में छिप कर राजा की मनोदशा एवं उनके कामदशानुकूल समग्र व्यापार से परिचित होती हैं और अन्ततोगत्वा उसकी (राजा की) व्यथित स्थिति को देख कर उसके समक्ष प्रकट होती हैं।

त्रोटक के तृतीय अंक का अभिनव तथ्य यह है कि रानी औशीनरी ने प्रियानुप्रसादनव्रत किया है। एतदर्थ उसने राजा को मणिहर्म्य-भवन के पृष्ठ पर निमन्त्रित किया है। वहाँ वह उनके साथ चन्द्रमा एवं रोहिणी के मिलन का दृश्य देखना चाहती है। तदनुसार वहाँ वह चन्द्र की पूजा के वाद राजा का पूजन सम्पन्न कर सादर निवेदन करती हुई कहती है कि मैं देवयुगल चन्द्रमा एवं रोहिणी को साक्षी वना कर श्रीमान् को प्रसन्न करती हूँ; आज से जिस स्त्री को आर्यपुत्र प्यार करेंगे तथा जो कोई भी स्त्री उनकी समागमप्रणयिनी वनना चाहेगी उसके साथ मैं प्रेमपूर्ण व्यवहार करूँगी।[1] इस प्रकार रानी औशीनरी के इस त्यागमूलक दाक्षिण्यपूर्ण व्यवहार से उर्वशी का राजा की समागमप्रणयिनी होना सरल हो गया

---

1 देवी (राज्ञः पूजामभिनीय प्रांजलिः प्रणिपत्य) एसा अहं देवदामिहुणं रोहिणीमिअलच्छणं सक्खीकरिअ अज्जउत्तं अणुप्पसादेमि। अज्जप्पहुदि जं इत्थिअं अज्जउत्तो पत्थेहि जा अ अज्जउत्तस्स समाअमप्पणइणी ताए सह मए पीदिवन्धेण वत्तिदव्वं ति। (विक्र० अंक ३, पृ० १२१)।

है।[1] नाटककार कविकुल गुरु ने ऐसे कलात्मक चित्रण से त्रोटक में स्वाभाविकता के साथ उस समय की सामाजिक मान्यता का भी पोषण किया है। इसी के साथ पुरूरवा के दक्षिण नायकत्व की पुष्टि भी हो जाती है, जो कवि का प्रमुख उद्देश्य है। इससे यह सुस्पष्ट हो जाता है कि नाटककार ने तात्कालिक समाज में बहु-पत्नीत्व अनुमोदन के साथ राजाओं को सभी पत्नियों के प्रति दाक्षिण्य भाव रखने के लिए उपयुक्त उपदेश दिया है। इस अंक में उर्वशी बिना वैवाहिक विधि-विधान के ही पुरूरवा की सहधर्मिणी बन गयी। तत्कालिक समाज में सहधर्मिणी बनने के लिए पाणिगहण के शास्त्रीय संस्कार की मान्यता थी। मालविकाग्निमित्र में कामाग्नि को ही साक्षी कर मालविका को स्वीकार किया गया है। लेकिन उर्वशी के ग्रहण में इस शास्त्रीय नियम का सर्वथा उल्लंघन किया गया है। अतः उर्वशी को यह चिन्ता है कि कही उसे कुलटा न समझ लिया जाय। वह कहती है कि देवी औशीनरी ने राजा को दान कर मुझे दे दिया है, अतः इनकी प्रेमिका की भाँति इनके शरीर से मैं सम्पृक्त हो गयी हूँ।[2] फिर भी सम्पूर्ण त्रोटक में कालिदास ने पुरूरवा को एक प्रणयी के रूप में ही चित्रित किया है। औशीनरी के अनुरोध के अनुसार मणिहर्म्य-भवन पृष्ठ पर आने पर भी उर्वशी-मिलन की चिन्ता में वह अधीर-सा नजर आता है। उसका पूर्वानुराग इस अंक में प्रवुद्ध हो गया है। उर्वशी को निरन्तर देखते रहने पर भी उसका संगम नहीं होने के कारण राजा की आभ्यन्तरिक वासना का ताप और भी उग्र बनता जाता है।[3] उस पीड़ा को वह काव्यमयी काल्पनिक अभिव्यक्ति देता है। उसकी अभिव्यक्त प्रेम-व्यंजना चतुर्थ अंक में उन्माद की पृष्ठभूमि बन जाती है।

किसी भी पुराण में संगमनीय मणि के द्वारा दोनों के पुनर्मिलन की घटना का उल्लेख नहीं है। इस त्रोटक के चतुर्थ अंक में सहजन्या एवं चित्रलेखा नामक अप्सराओं की पारस्परिक वार्त्ता के माध्यम से प्रवेशक नामक अर्थोपक्षेपक का प्रयोग कर इस बात की सूचना दी जाती है कि गन्धमादन पर्वत पर मन्दाकिनी के किनारे अपूर्व सुन्दरी विद्याधर कुमारी को अपलक दृष्टि से बहुत देर तक देखते रहने के कारण प्रतिस्पर्द्धा एवं ईर्ष्यावश क्रुद्ध होकर राजा के अनुनय-विनय को भी ठुकरा कर वह चली जाती है और स्त्रियों के लिए अगम्य कुमारवन मे प्रवेश करते

---

१ चित्रलेखा सहि महाणुहावाए पदिव्वदाए अब्भणुण्णदो अणन्तराओ दे पिअसमागमो हविस्सदि। (विक्र० अंक ३, पृ० १२१)।

२ उर्वशी —हला देवीए दिण्णो महाराओ। अदो से पणअवदी विअ सरीरसंपक्कं अदम्हि। मा खु मं पुरामाइणि समत्थेहि। (विक्र० अंक ३, पृ० १२७)

३ विक्र० ३।८

ही वन्यलता के रूप में परिणत हो जाती है। इस परिणाम का कारण कवि की दृष्टि में दूरारूढ़ प्रेम की असह्यता एवं भरत मुनि का शाप है। वस्तुतः दूरारूढ़ प्रेम शीलस्खलन का अनुमान भी नहीं सह सकता है, संभोग की आत्मविस्मृति के मध्य उस विप्रयोग की तो बात ही नहीं। अतः उर्वशी-वियोग के अनाशंकित सहसा प्रहार से कवि प्रेमी पुरूरवा का उन्मत्त होकर चेतन अथवा अचेतन से परिचय एवं पता पूछते फिरना स्वाभाविक है। यहाँ पुरूरवा की भावुकता चरम सीमा पर पहुँच गयी है। उसकी अन्तरात्मा का अवसन्न रूप सर्वत्र दृष्टि-गोचर होता है। चतुर्थ अंक में इस दृश्य को देखने से ऐसा लगता है कि कालिदास को पुरूरवा की इस विरहावस्था के चित्रण में वाल्मीकीय रामायण के उस स्थल से प्रेरणा मिली हो जहाँ सीता के विरह में व्यथित राम को यत्र-तत्र जड़-चेतन से पूछ-पूछ कर सीता का पता लगाते फिरने का वर्णन किया गया है। अन्ततोगत्वा गौरीचरणरागसंभव संगमनीय मणि द्वारा दोनों का पुनर्मिलन होता है। यह कालिदास की अपनी मौलिक उद्भावना है। अन्यत्र वर्णित पुरूरवा-उर्वशी के प्रणय-प्रसंग में पुरूरवा को अन्ततः दुःखी ही छोड़ दिया गया है। यहाँ कालिदास ने संगमनीय मणि के प्रभाव से लता के रूप में परिणत उर्वशी का अलौकिक सुन्दरी नारी के रूप में राजा के द्वारा स्पृष्ट बाहुपाश में आबद्ध होने की घटना का चित्रण अतिनाटकीय ढंग से किया है। इससे भारतीय नाट्य-परम्परा की मर्यादा के अनुसार उन्होंने अपने इस त्रोटक को सुखान्त बनाने में अद्भुत सफलता प्राप्त की है। कालिदास ने भारतीय मर्यादा के अनुसार अपने त्रोटक की नायिका उर्वशी को मिलन के अवसर पर अधिक मुखर नहीं होने दिया है। उनका यह संयम प्रशंसनीय है। इससे उसकी चेतना प्रणयासक्त (रोमांटिक) होते हुए भी लोक-सापेक्ष बनी रही। कालिदास ने उर्वशी-पुरूरवा के इस मर्मस्पर्शी मिलन को अति प्रगाढ़ रूप से चित्रित नहीं किया है। उर्वशी कुमारवन सम्बन्धी तथा भरत-शाप सम्बन्धी घटना की ओर संकेत कर अपनी सारी स्थिति का संक्षिप्त परिचय देती है। पुरूरवा तुरत उसे स्वीकार कर लेता है। उस संगमनीय मणि को सिर पर धारण करने से उर्वशी की शोभा को देख कर राजा गद्गद हो जाता है और उसे क्षण भर उसी रूप में स्थित रहने की प्रार्थना करता है[1], किन्तु उर्वशी लोकमर्यादाग्रस्त होकर भयभीत है कि शायद प्रजागण राजा के इस दीर्घकालिक वियोग के लिए उसे ही कोसती होगी।[2]

१। विक्र०—४।७२

२ उर्वशी—पिअंवद महन्तो खु कालो तुह पइठ्ठाणादो णिअदस्सा असूअन्ति मं पकिदिओ। ता एहि। णिवत्तम्ह। (विक्र०, अंक ४, पृ० १९७)

इस त्रोटक के पंचम अंक में वर्णित सम्पूर्ण नाटकीय-कथा-वस्तु का विवरण अन्यत्र कहीं नहीं मिलता है। इस अंक की अभिनव घटनाओं के द्वारा कालिदास ने नाटकीय कथावस्तु में अदभुत सामंजस्य लाते हुए स्वाभाविकता प्रदान कर त्रोटक को सुखान्त बना दिया है। यह कालिदास की असामान्य प्रतिभा एवं कल्पना का फल है। तालवृन्त पर रख कर ले जाती हुई दासी के हाथ से गीध द्वारा झपट लेने पर संगमनीय मणि के लुप्त होने की घटना तथा पुनः आयु द्वारा बाण से उस गीध को मार कर मणि की प्राप्ति की घटना से अद्‌भुत दृश्य उत्पन्न हो जाता है। बाण पर अंकित नामाक्षर को पढ़ने पर मालूम होता है कि यह बाण पुरूरवा एवं उर्वशी के पुत्र आयु का है। च्यवनाश्रम में अपने पालित इस कुमार को लेकर भगवती सत्यवती पुरूरवा के राजभवन में पहुँचती हैं और सारा गोपन वृत्तान्त सुनाती हैं। पुत्र की प्राप्ति से राजा पुरूरवा को बेहद खुशी होती है। जब तापसी भगवती उर्वशी के हाथ में पुत्र रूप न्यास को लौटाती है तब वह इन्द्र द्वारा प्रोक्त बातों[1] को स्मरण कर शोकातुर हो जाती है। अन्ततोगत्वा उर्वशी ने पुरूरवा को सारी बातें बता कर कहा कि अब आपके साथ मेरे रहने का अवसान हो गया। इससे राजा मनोव्यथित होकर कहता है कि तुम स्वर्ग जाओ और मैं भी तुम्हारे पुत्र आयु को राज्याभिषिक्त कर वन चला जाऊँगा। इस अवसर पर नारद के माध्यम से इन्द्र ने संवाद भेजा कि राजा शस्त्र-त्याग नहीं करें, क्योंकि निकट-भविष्य में देवासुर-संग्राम होने वाला है। आप हमारे युद्ध सहायक हैं, अतः उस समय आपकी उपस्थिति अनिवार्य है। यह उर्वशी भी आजीवन आपकी सहधर्म-चारिणी बनी रहेगी।

पुराणों की कथा के अनुसार जब राजा पुरूरवा को उर्वशी निरावरण (अवस्त्र) देखती है, फलतः शर्त्त भंग हो जाती है, तब उर्वशी स्वयं गन्धर्वों के साथ चली जाती है। कहीं ऐसा भी वर्णन मिलता है कि गन्धर्वों ने उर्वशी को हर लिया। किन्तु कालिदास ने बहुत कलात्मक ढंग से स्पष्ट करते हुए पुत्रमुख दर्शन-पर्यन्त उसकी उपस्थिति स्वीकार की है।

पुराणों के अनुसार उर्वशी के वियोग में राजा पुरूरवा के ऊपर भगवान् का अनुग्रह बताया गया है। कहीं-कहीं गन्धर्वों के अनुग्रह की भी बात मिलती है। लेकिन इस त्रोटक में इन्द्र का उपर्युक्त अनुग्रह भी बताया गया है। इसी में तार्किक संगति भी है। इस प्रकार दोनों का प्रणय चिरस्थायी हो जाता है। अन्त में

---

१ द्वितीयः—सा तुमं जहाकामं पुरूरवसं उवचिट्ठ जाव सो तुइ दिठ्ठसंताणो भोदिति। (विक्र०, अंक ३, पृ० ९५)

पिता, पुत्र, महारानी औशीनरी, उर्वशी, चित्रलेखा एवं सहजन्या आदि अप्सराओं का मधुर मिलन होता है। नारद मुनि द्वारा आयु का राज्याभिषेक होता है।

कालिदास ने सिर्फ कथावस्तु को ही अपनी प्रखर कल्पना से रसमय नाटकीय रूप प्रदान नहीं किया है अपितु इसे ऐसा बनाने के लिए उन्होंने विदूषक, चतुर दासी निपुणिका, राजभवन के सारे साज-सामान, रम्भा, मेनका, सहजन्या एवं चित्रलेखा आदि अप्सराओं, पूज्य च्यवन, वृद्धा तापसी भगवती सत्यवती एवं मुनिवर नारद आदि के साहचर्य का भी कलात्मक ढंग से उपयोग किया है। मानव-कल्याणार्थ कालिदास ने प्राचीन पुरूरवा-उर्वशी विषयक दुःखान्त प्रणय प्रसंग को नाटकीय रूप प्रदान करने के निमित्त ही इतने आवश्यक परिवर्त्तन एवं परिवर्धन किये हैं। इससे इस त्रोटक की कथावस्तु का यह अभिनव रूप अत्यन्त सरस, मनोवैज्ञानिक एवं लोकरुचि सम्पन्न हो गया है।

इस त्रोटक की अनेक घटनाएँ अभिज्ञानशाकुन्तलम् से मिलती-जुलती हैं। दोनों की घटनावली ऋषियों की इच्छा से अत्यधिक प्रभावित हैं। दोनों में राजकुमार का पालन-पोषण आश्रम में, ही हुआ है। दोनों में प्रणयी पिता बन गये हैं। इतना ही नहीं दोनों में प्रणय-प्रसंग संयम की गरिमा से विभूषित है। कालिदास का विश्वास है कि सन्तानोत्पत्ति में ही दाम्पत्य की चरम परिणति है। इस सनातन विचार का पोषण उन्होंने सर्वत्र किया है। उनके इस त्रोटक की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसकी नाटकीय वस्तु का क्षेत्र लोक के साथ-साथ स्वर्ग भी है। इसमें दैवी एवं मानवी प्रेम का चित्रण हुआ है। हम कह सकते हैं कि सम्पूर्ण संस्कृत साहित्य में यह त्रोटक अनुपम है।

चतुर्थ अध्याय

कालिदास की संविधानक-योजना

प्रथम प्रकाश : कालिदास के रूपकों की वस्तु-योजना का तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन।

द्वितीय प्रकाश : नाटकीय कथा-वस्तु का शास्त्रीय विभाग एवं उनका विश्लेषणात्मक अध्ययन।

(अ) स्रोत एवं उद्गम की दृष्टि से—(१) प्रख्यात, (२) उत्पाद्य एवं (३) मिश्र।

(आ) फलाधिकार की दृष्टि से—(१) आधिकारिक एवं (२) प्रासंगिक।

(इ) अभिनय की दृष्टि से—

(१) सूच्य—अर्थोपक्षेपक— विष्कम्भक, प्रवेशक, चूलिका, अंकावतार तथा अंकमुख (अंकास्य)।

(२) दृश्य—(क) संवाद के विचार से—सर्वश्राव्य, नियतश्राव्य (जनान्तिक और अपवारित) तथा अश्राव्य।

(ख) अर्थप्रकृतियाँ–बीज; विन्दु; पताका (पताकास्थानक) प्रकरी एवं कार्य।

(ग) कार्यावस्थाएँ—आरम्भ; यत्न; प्राप्त्याशा; नियताप्ति एवं फलागम।

(घ) संधियाँ--मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श तथा निर्वहण।

(ङ) सन्ध्यङ्ग एवं सन्ध्यन्तर।

चतुर्थ अध्याय

कालिदास की संविधानक-योजना

प्रथम प्रकाश : कालिदास के रूपकों की वस्तु-योजना का तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन

तृतीय अध्याय में कालिदास के तीनों रूपकों की कथावस्तु का स्थूल दृष्टि से विवेचन एवं विश्लेपण प्रस्तुत किया गया है। उनके विश्लेषणात्मक अनुचिन्तन से यह स्पष्ट हो गया कि कालिदास ने पुराण एवं इतिहास से गृहीत इतिवृत्त (कथा) को आधारमात्र के रूप में ग्रहण किया है। उन कथाओं में आये पात्रों से ही नाटकीय कथा-वस्तु-विन्यास में काम नही चलता। कथा में वर्णित घटना-क्रम को भी यथावश्यकता नाटकीय संविधान के अनुकूल बनाना पड़ता है। कालिदास ने अपने तीनों रूपकों के कथानक की रचना में अपनी मौलिक प्रतिभा दिखायी है। यथावश्यकता उन्होंने नाटकीय-व्यापार के अनुकूल घटना-क्रम को सजाया है। उन्होंने प्रत्येक नाट्यकृति में अनेक नवीन पात्रों की सृष्टि की है। सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर पता चलता है कि मूल इतिवृत्त में वर्णित पात्रों के आदर्श चरित्र-चित्रण के लिए उन्होंने कथा-वस्तु को इस प्रकार परिवर्त्तित एवं परिवर्धित कर दिया है कि नाटकीय-वस्तु बिल्कुल नवीन-सी हो गयी है। इसके वस्तु-विन्यास में सर्वत्र कालिदास की नाट्य-निपुणता परिलक्षित होती है। इस अध्याय मे सर्वप्रथम तीनों रूपकों की वस्तु-योजना में कालिदास द्वारा स्थापित साम्य एवं वैशिष्ट्य का उपबृंहण किया जायगा। तदुपरान्त नाटकीय-वस्तु-विन्यास में कलिदास के शास्त्रीय दृष्टिकोण पर विचार किया जायगा। भारतीय नाट्यशास्त्रियों के अनुसार नाटकीय कथा-वस्तु के विन्यास के लिए नाटककारों ने यथावश्यकता अनेक नाट्यलक्षणों एवं नाट्यालंकारों का भी सम्यक् रूप से प्रयोग किया है। इनका विवेचन भाषा-अध्याय में संवाद-योजना के प्रसंग में किया जायगा।

वस्तु-रचना की दृष्टि से अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो गया कि कालिदास के प्रथम नाटक 'मालविकाग्निमित्रम्' की कथावस्तु उतनी प्रौढ़ एवं परिष्कृत नहीं है जितनी उनके सर्वोत्तम नाटक 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' तथा त्रोटक 'विक्रमोर्वशीयम्' की। यों सामान्य रूप से देखा जाय तो इनके रूपक परम्परा में समादृत राजाओं की प्रेम-कथाओं का वर्णन करने वाली पुरानी नाट्य-श्रेणी के हैं। इन सर्वाधिक लोक-प्रसिद्ध जन-प्रिय कहानियों का सोच-समझ कर इसलिए उन्होंने

चयन किया कि इनके कलात्मक वस्तु-विन्यास में अपनी नाट्य निपुणता का प्रकाशन किया जाय। सामाजिकों के लिए ये कथाएँ सुपरिचित थीं, अतः कालिदास ने पुरानी वर्णनात्मक शैली का परित्याग कर कथावस्तु को नितान्त नवीन एवं कलात्मक ढंग से सुसज्जित किया। मालविकाग्निमित्रम् के आरम्भ में ही उन्होंने अपने इस विचार की उद्घोषणा सामाजिकों के सम्मुख कर दी है।[1]

प्राचीन नाटककार जहाँ वर्णन को प्रधानता देते थे वहाँ कालिदास ने चरित्र-चित्रण को प्रमुखता प्रदान की है। मालविकाग्निमित्रम् की कौशिकी (परिव्राजिका) इस तथ्य को इस प्रकार व्यक्त करती हुई कहती है—नाटक में प्रयोग (अभिनय) की प्रमुखता होती है।[2] अपने इस सिद्धान्त की पुष्टि के लिए कालिदास विद्वानों की सहमति को भी ठुकरा देते हैं।[3] वे लोकरुचि के विरोध में भी अपनी कला की रक्षा करते हैं। नाट्याचार्य गणदास के शब्दों में उन्होंने इस विचार की पुष्टि हेतु कहलाया है कि निन्दा के भय से जो नाट्यकार जनमत के सामने झुक जाते हैं वे वनिये हैं क्योंकि उनका उद्देश्य कला की अभिव्यक्ति न होकर जीविकोपार्जन है।[4] उन्होंने इसी उद्देश्य से मालविकाग्निमित्र के कथानक को अभिनव ढंग से चित्रित किया है। उसके कथानक के सम्पूर्ण वातावरण तथा विकास में उनकी मौलिकता की झलक मिलती है। नृत्यगीत, चित्र, शिल्प एवं विदूषक की कार्यकुशलता से नाटकीय वस्तु आकर्षक एवं चमत्कारपूर्ण हो जाती है। मालविकाग्निमित्र की तरह कथानक विन्यास में चुस्ती एवं तारतम्य विक्रमोर्वशीयम् में उपलब्ध नहीं है। फिर भी इसके चरित्रांकन तथा अभिव्यंजना में कोई कमी नहीं मालूम पड़ती है। इसके चतुर्थ अंक में वर्णित पुरूरवा के प्रलाप में कोई नाटकीय व्यापार अथवा गत्वरता नहीं है। अनियंत्रित प्रेम के गम्भीर

---

१ पुराणमित्येव न साधु सर्वं नचापि काव्यं नवमित्यवद्यम्।
सन्तः परीक्ष्यान्यतरद्भजन्ते मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः॥
(मालविकाग्निमित्रम् १।२)।

२ परिव्राजिका—प्रयोगप्रधानम् हि नाट्यशास्त्रम्—मालविकाग्निमित्रम्,
प्रथम अंक पृ० ६४।

३ विदूषक—पण्डितपरितोषप्रत्यया ननु मूढा जाति।—(मोहनदेव पंत)
अंक २, पृ० १२३।

४ लब्धास्पदोऽस्मीति विवादभीरोस्तितिक्षमाणस्य परेण निन्दाम्।
यस्यागमः केवल-जीविकायै तं ज्ञानपण्यं वणिजं वदन्ति ॥१।१७।
(मालविकाग्निमित्रम्, अंक १)।

उद्वेग में यह गीत्यात्मक हो गया है। नाटककारों ने इसमें विवाहित प्रेम की मनोवैज्ञानिक परिणति पुत्रजन्म के चित्रण में दिखाई है। महाभारत की निर्लज्ज, चालाक, साधारण युवती अभिज्ञानशाकुन्तल में लज्जावती, आज्ञाकारिणी, स्नेहमयी आदर्श गृहिणी के रूप में चित्रित हुई है। इसी तरह महाभारत का कामुक स्वार्थी प्रणयी दुष्यन्त के चरित्र को धर्मपरायण, सहृदय तथा कर्त्तव्यनिष्ठ आदर्श राजा के रूप में परिवर्तित कर दिया गया है। नायक एवं नायिका को आदर्श पति-पत्नी के रूप में चित्रित करने के उद्देश्य से कालिदास ने महाभारत की सीधी-सादी वेढंगी नीरस कथा को भी नाटकीय कथानक के रूप में ढालने के लिए अनेक परिवर्त्तन एवं परिवर्धन किये हैं। नाटकीयता के लिए कई नवीन घटनाओं की उन्होंने सृष्टि की है। इस नाटक के प्रणय के गाम्भीर्य में संयम है। साथ ही नाटकीय व्यापार एवं अभिव्यंजना में प्रांजलता है। चरित्र एवं व्यापार के चयन में कालिदास की काव्यात्मक प्रवृत्ति दृष्टिगत होती है। उनके तीनों रूपकों का प्रमुख विषय प्रेम है। प्रेम के विविध रूप इनमें मिलते हैं। इनमें दरबारी प्रपंच-पूर्ण वातावरण में चिन्तामुक्त प्रेम, विच्छिन्न बना देने वाला अनियंत्रित प्रेम तथा यौवन-प्रेरित विवेकशून्य ऐसा प्रेम जो धीरे-धीरे दुःख-दैन्य एवं संताप की ज्वाला में दग्ध होकर पवित्र एवं उत्कृष्ट हो गया है। प्रेम ही मानवजीवन की असल संचालिका शक्ति है, इसे स्वीकार कर कवि ने उसे नियंत्रित रखा है तथा दैवी शक्तियों से अभिभूत चित्रित किया है।

कालिदास के तीनों रूपकों में नाटकीय कथा-वस्तु को सजाने में उनकी विशिष्ट प्रणाली समान रूप से दिखाई पड़ती है। सभी रूपकों में नायिका सर्वप्रथम विपन्न अवस्था में रंगमंच पर उतारी जाती है और उनकी दयनीय दशा को देखकर नायक मन, वचन तथा कर्म से उपकार करता है। यद्यपि मालविका राजघराने की कन्या है फिर भी परिस्थितिवश रानी धारिणी की दासी के रूप में वह जीवन-यापन करती है। उस अपार सुन्दरी को दासी के रूप में कार्यरत देखकर राजा अग्निमित्र उसके प्रति हार्दिक दया की भावना से ओत-प्रोत हो जाता है। इस सदय भावना से नायिका को देखने की योजना का वृहत् रूप विक्रमोर्वशीयम् तथा अभिज्ञानशाकुन्तलम् में भी मिलता है। दोनों की नायिकाओं को विपद्ग्रस्त स्थिति से नायक विमुक्त करता है। चन्द्रवंशी राजा पुरूरवा ने सूर्योपासना करके लौटते समय अप्सराओं का यह आर्त्तनाद[1] सुना कि हमारी रक्षा करो! हमारी रक्षा करो! स्वर्ग की शोभा हमारी सखी उर्वशी को केशी नामक दैत्य कैद कर

---

१ अप्सरसः—परित्ता अदु परित्ता अदु जो सुरपक्खवादी जस्स वा अम्बरवले गदी अत्थि। (विक्र०, अंक १, पृ० ८)

लिये जा रहा है ? यह सुनते ही राजा ने उन्हें आश्वासन के साथ कहा कि हम आपकी सखी को लौटाने जाते हैं, आप हेमकूट पर्वत पर हमारी प्रतीक्षा करें।[1] इसके बाद तुरत राजा ने केशी का पीछा किया और जब तक उर्वशी की संगिनी अन्य अप्सराएँ हेमकूट पर पहुँचो तब तक वे भी दैत्य के पंजे से उर्वशी को छुड़ाकर वहाँ लेते आये। इस प्रकार पुरूरवा ने उर्वशी को अपने पराक्रम से उपकृत किया। इसी तरह पुरुवंशी राजा दुष्यन्त सर्वप्रथम वृक्ष-सेचन में व्यस्त अपूर्व सुन्दरी शकुन्तला को देखकर उसके भाग्य की विचित्रता पर विस्मय प्रकट करता है तथा उसके प्रति करुण सस्पृह दृष्टि से देखते हुए महर्षि कण्व की असाधुदर्शिता[2] पर चिन्ता करता है। वृक्ष सेचन करते समय जब भौंरे उसके रतिसर्वस्व अधर का पान कर उसे तंग करते हैं तब राजा दुष्यन्त भौरों से शकुन्तला की रक्षा करता हैं।[3] इसे देखने पर बिलकुल स्पष्ट हो जाता है कि नायक के उपकार के प्रति कृतज्ञता भाव से नायिका का आकर्षण चित्रित करना कालिदास की नाटकीय संविधानक योजना का प्रथम बिन्दु है। यह नायक-नायिका के प्रथम मिलन से सम्बन्ध रखता है। पुरूरवा द्वारा केशी दैत्य से छुड़ाकर लाने पर होश में आई उर्वशी अपनी सखी चित्रलेखा से पूछती है—'क्या इन्द्र ने उसकी रक्षा की है ?' चित्रलेखा ने पुरूरवा के उपकार का वर्णन किया।[4] उर्वशी ने भी अपने स्वगत कथन में इस उपकार के लिए कृतज्ञता प्रकट की है।[5] अभिज्ञानशाकुन्तलम् में प्रियम्वदा के इस कथन में राजा के उपकार के लिए शकुन्तला के कृतज्ञता-ज्ञापन की अभिव्यक्ति नाटककार ने करा दी है।[6]

---

१ राजा—तेन हि मुच्यतां विषादः। यतिष्ये वः सखी प्रत्यानयनाय। (वही)

२ राजा - कथमियं सा कण्वदुहिता। असाधुदर्शी खलु तत्र भवान्।

काश्यपः य इमामाश्रमधर्मे नियुङ्क्ते।

इदं किल व्याजमनोहरं वपुस्तपःक्षमं साधयितुं य इच्छति।

ध्रुवं स नीलोत्पलपत्रधारया शमीलतां छेत्तुमृषिर्व्यवस्यति ॥१।१८

(अभि० शा०, अंक १, पृ० ४१) (डा० सु० शा०)

३ राजा—(सत्वरमुपसृत्य) कः पौरवे वसुमतीं शासति शासितरि दुर्विनीतानाम्।

अयमाचरत्यविनयं मुग्धासु तपस्विकन्यासु।१। २५ (वही पृ० ५८)

४ चित्रलेखा—ण महिन्देण। महिन्दसरिसानुभावेण इमिणा राएसिणा पुरूरवसेण।

(विक्र०, अंक १, पृ० २७)

५ उर्वशी (राजानमवलोक्य। आत्मगतम्) उवकिदं क्खु दाणवेहि। (वही)

६ प्रियम्वदा हला सउन्दले! मो इदा सि अणु अम्पिणा अज्जेण, अहवा महाराएण। गच्छ दाणिम्। (अभि० शा०, अंक १, पृ० ७६)

इस समता के बावजूद रागोत्पत्ति को लेकर दोनों में महत्त्वपूर्ण विषमता है। उपर्युक्त उर्वशी के कृतज्ञता प्रकाशन से पता चलता है कि पुरूरवा के पराक्रम एवं रूपाकृति से उर्वशी पहले मोहित होती है तत्पश्चात् पुरूरवा। होश में आई हुई उर्वशी को देखकर उसके हृदय में उत्पन्न निबन्धन इस प्रकार है :—

अस्याः सर्गविधौ प्रजापतिरभूच्चन्द्रो नु कान्तप्रभः
शृंगारैकरसः स्वयं नु मदनो मासो नु पुष्पाकरः।
वेदाभ्यासजडः कथं नु विषयव्यावृत्तकौतूहलो
निर्मातुं प्रभवेन्मनोहरमिदं रूपं पुराणो मुनिः ।१।८।

यह पूर्वरागोत्पत्ति विक्रमोर्वशीयम् की नायिका उर्वशी के चरित्र के अनुरूप ठीक ही है। इसका चित्रण पहले तो अप्सरा (सामान्य स्त्री) बाद में अभिसारिका के रूप में किया गया है। वह स्वयं अपनी सखी चित्रलेखा के साथ राजा से मिलने के निमित्त उसके प्रमदवन में जाती है तथा छिपी-छिपी राजा की रागजनित चेष्टाओं[1] को देखती है तथा तदनुसार प्रभाव से भूर्जपत्र पैदा कर उस पर गीतों में अपनी मनोव्यथा की स्पष्ट अभिव्यक्ति[2] कर उसे वहीं छोड़ देती है। इसके विपरीत अभिज्ञानशाकुन्तलम् में पहले शकुन्तला को देखकर नायक दुष्यन्त के हृदय में पूर्वराग की उत्पत्ति का चित्रण किया गया है। राजा वृक्षों की ओट में छिपकर शकुन्तला को वृक्ष सेचन करते देखता है तथा उसके रूपलावण्य से आकृष्ट हो जाता है।[3] इसके बहुत देर के बाद शकुन्तला को तपोवनविरोधी रागजनित विकार से निबद्ध चित्रित किया गया है। शकुन्तला के स्वगत कथन में उसका यह भाव अभिव्यंजित किया गया है—

"शकुन्तला—(आत्मगतम्) किं णु क्खु इमं पेक्खिअ तवोवणविरोहिणो
विआरस्स गमनीअह्मि संवुत्ता।"

---

१ राजा—उभयमप्यनुपपन्नम्।

हृदयमिषुभिः कामस्यान्तः सशल्यमिदं सदा
कथमुपलभे निद्रां स्वप्ने समागमकारिणीम्।
न च सुवदनामालेख्येऽपि प्रियामसमाप्य तां
मम नयनयोरुद्बाष्पत्वं सखे न भविष्यति ॥२। १०॥ (विक्र०)

राजा—(सनिःश्वासम्) नितान्तकठिनां रुजं मम न वेद सा मानसीं
प्रभावविदितानुरागमवमन्यते वाऽपि माम्।
अलब्धफलनीरसान्मम विधाय तस्मिञ्छठे।
समागममनोरथान्भवतु पंचवाणः कृती ।२। ११ (वही)

२ विक्र० अंक २, श्लोक १२-१३ (रा० च० मि०)।

३ अभि० शा० (डा० सु० शा०) अंक १ श्लोक १९-२० पृ० ४३-४४। —१। २।

तरह खींच लेती है जैसे अग्रभाग को तोड़कर कमलनाल से हंसी को खींचती है।[1] अभिज्ञान शाकुन्तलम् में लतामण्डप से निकलते दुष्यन्त का शरीर तो आगे की ओर बढ़ रहा है किन्तु उसका मन पीछे शकुन्तला की ओर उसी प्रकार दौड़ रहा है जिस प्रकार वायु से विपरीत दिशा में ले जाये जाते हुए ध्वजा का चीनी रेशमी वस्त्र।[2]

विक्रमोर्वशीयम् तथा अभिज्ञानशाकुन्तलम् दोनों रूपकों के नायक प्रारम्भ में रथ पर आरूढ़ चित्रित किये गये हैं। पुरूरवा केशी नामक दैत्य से उर्वशी का उद्धार करने के निमित्त रथ पर चढ़ कर दैत्यों से युद्ध करता हुआ दिखाया गया है। राजा दुष्यन्त मृगया के लिए रथ पर चढ़ कर भयत्रस्त भागते हुए मृग का पीछा करते चित्रित किया गया है। अन्तिम अंक में राजा इन्द्र के पक्ष से राक्षसों के साथ युद्ध करता है। केशी दैत्य के साथ युद्ध के बाद विक्रमोर्वशीयम् में नायक-नायिका के प्रणयोद्भेद का जो चित्र उपस्थित हुआ है वह इस त्रोटक की निजी विशेषता है। जिन परिस्थितियों मे शकुन्तला और दुष्यन्त का परिचय हुआ है, उनसे उर्वशी और पुरूरवा के मिलन की परिस्थितियाँ इन्द्रियजन्य रस से अधिक आर्द्र मालूम पड़ती हैं। आकाश मार्ग से आते समय रथ का चक्का हिलते देख कर राजा अपने मन में सोचता है कि मुझे इस विषमाभूमि में उतरने का फल मिल गया। इस चक्रनितम्बा उर्वशी के कन्धे से मेरा कंधा सट गया। उससे मेरे अन्दर रोमांच उत्पन्न हो गया। मानो मेरे कामांकुर उग आये हों।[3] विक्रमोर्वशीयम् तथा अभिज्ञानशाकुन्तलम् दोनों के प्रथम अंक में इस प्रकार की घनिष्ठ समानता

---

१ राजा—(उर्वशीमार्गोन्मुख.) अहो नु खलु दुर्लभाभिनिवेशी मदनः।
एषा मनो मे प्रसभं शरीरात्पितुः पदं मध्यममुत्पतन्ती।
सुराङ्गना कर्षति खण्डिताग्रात्सूत्रं मृणालादिव राजहंसी ॥१।१८ (विक्र०)

२ राजा—मन्दौत्सुक्योऽस्मि नगरगमनं प्रति। यावदनुयात्रिकान् समेत्य नातिदूरे तपोवनस्य निवेशयेयम्। न खलु शक्नोमि शकुन्तलाव्यापारादात्मानं निवर्तयितुम्। मम हि—
गच्छति पुरःशरीरं धावति पश्चादसंस्तुतं चेतः।
चीनांशुकमिव केतोः प्रतिवातं नीयमानस्य ॥१। ३४॥ (अभि० शा०)

३ राजा—(चक्रोद्घातं रूपयित्वा ! आत्मगतम्) हन्त ! दत्तफलो मे विषमावतारः।
यदयं रथसंक्षोभादंसेनांसो रथोपमश्रोण्याः।
स्पृष्टः सरोमविक्रियमङ्कुरितं मनसिजेनेव ॥१॥११॥ (विक्र०)

प्रत्यक्ष है। दोनों की नायिका अपने प्रियतम के प्रेमबाण से घायल है, किन्तु दोनों को अव्यक्त प्रेम की स्थिति में अपने-अपने प्रेमी से वियुक्त हो जाना पड़ा है।

विक्रमोर्वशीयम् एवं अभिज्ञानशाकुन्तलम् दोनों रूपकों में विदूषक का प्रवेश द्वितीय अंक में होता है। हालाँकि शृंगाररस प्रधान होने के कारण त्रोटक के नियमानुसार प्रत्येक अंक में विदूषक की उपस्थिति आवश्यक है। कालिदास के त्रोटक में प्रथम एवं चतुर्थ अंक में विदूषक का अभाव है। पहले सभी अंकों में विदूषक की स्थिति अनिवार्य नहीं रही होगी। बाद के त्रोटक में इस विदूषक की नितान्त आवश्यकता को ध्यान में रखकर कालिदास के परवर्ती कुछ नाट्यशास्त्रियों ने यह नियम बना दिया है। मालविकाग्निमित्रम् नाटक के सभी अकों में विदूषक का महत्त्वपूर्ण कार्य है। उसमें नायक के सारे प्रणयव्यापार विदूषक के माध्यम से सम्पन्न हुए हैं। संस्कृत नाटकों में विदूषक की स्थिति को लेकर यह अपने ढंग का अनूठा है। विक्रमोर्वशीयम् से द्वितीय अंक के आरम्भ में विदूषक सोचता है कि वह पुरूरवा के राजरहस्य को छिपाने में सर्वथा लाचार है। वस्तुतः वह दासी निपुणिका को कह देता है कि वह राजा को अपने नये प्रणय से रोकेगा।[1] अभिज्ञान-शाकुन्तलम् के द्वितीय अंक के अन्त में जब विदूषक को अपनी माता के पास राजा दुष्यन्त भेजता है तब वह शकुन्तला विषयक अपने प्रेम को छिपा लेता है।[2] इस तरह उसने उसकी सहायता से तथा प्रणयोद्भेद करने से अपने को मुक्त रखा है। इस प्रकार अभिज्ञानशाकुन्तलम् में विदूषक को अलग रखकर विदूषक सम्बन्धी प्रचलित धारणा को उन्होंने बदल दिया है। विक्रमोर्वशीयम् में विदूषक ने पुरूरवा को परामर्श दिया है कि वे स्वप्न में मिला देने वाली निद्रा की उपासना करें अथवा उर्वशी का चित्र खींच कर उसे देखा करें (विक्र० पृ० ६२)। अभिज्ञान-शाकुन्तलम् में दुष्यन्त ने भी शकुन्तला का चित्र खींचा है और छठे अंक में उसे देखकर आनन्द का अनुभव किया है। पुरूरवा द्वारा विदूषक से की गई प्रणय-विज्ञप्तियाँ दुष्यन्त द्वारा किये गये प्रणय-निवेदनों से मिलता-जुलता है। जैसे उर्वशी अपनी सखी चित्रलेखा के साथ छिपकर अपने प्रेमी नायक की स्वविपक्ष स्वीकारो-

---

१ विदूषकः—णिउणिए विण्णवेहि तत्तमोदि। जदामि दाव मिअतिण्हिआदो णिवत्तेदुं वअस्सं। तदो देवीए मुहं पेक्खिस्सं ति। (विक्रमोर्वशीयम् अंक २, पृष्ठ २९)

२ राजा—(स्वगतम्) चपलोऽयं वटुः कदाचिदस्मत्प्रार्थनामन्तःपुरेभ्यः कथयेत। भवतु। एनमेव वक्ष्ये। (विदूषकं हस्ते गृहीत्वा, प्रकाशम्) वयस्य! ऋषिगौरवादाश्रमं गच्छामि। न खलु सत्यमेव तापसकन्यकायां ममाभिलाषः पश्य—श्लोक १९, अंक २। अभिज्ञानशाकुन्तलम्। डा० सु० शा०

क्तिपूर्ण प्रेमवार्त्ताओं को सुनती है। उसी प्रकार दुष्यन्त, शकुन्तला एवं उनकी सखियों की बातचीत को उत्कंठा के साथ सुनता है और उससे अपने प्रणयोद्वेग के लिए आश्वासन प्राप्त करता है। परन्तु दोनों में महत्त्वपूर्ण अन्तर यह है कि जहाँ नायिका उर्वशी स्वयं अपने बारे में किये प्रेम की स्वीकारोक्ति को सुनने के लिए चली जाती है वहाँ शकुन्तला ने वैसा नहीं किया है। उर्वशी जैसी सामान्या या प्रगल्भा नायिका के लिए यह व्यवहार ठीक हो सकता है क्योंकि उसका प्रेम विवाहित पत्नी का नहीं है। किन्तु शकुन्तला जैसी आदर्श भारतीय गृहिणी के लिए कथमपि उचित नहीं माना जा सकता है। अतः यहाँ कालिदास ने बड़ी कुशलता से इस औचित्य का निर्वाह किया है। उर्वशी स्वयं प्रभाव से भोजपत्र पैदा कर उस पर अपना प्रणय लेख[1] लिखती है तथा पुरूरवा के सामने उसे फेंक कर अपने प्रेम को प्रकट करती है। अभिज्ञानशाकुन्तलम् के तृतीय अंक में शकुन्तला ने अपनी सखी प्रियम्वदा के अनुरोध पर नलिनी पत्र पर नखों से प्रणयगीत[2] लिखा है। उर्वशी तिरस्कारिणी विद्या के प्रभाव से अपने को प्रच्छन्न रख कर द्वितीय अंक में राजा पुरूरवा से मिलती है। जब राजा पुरूरवा उसे हाथ पकड़ कर बैठाता है (हस्ते गृहीत्वैनामुपवेशयति) तब वह तनिक भी विरोध नहीं करती है, किन्तु अभिज्ञान-शाकुन्तलम् के तीसरे अंक में जब दुष्यन्त ने शकुन्तला का हाथ पकड़ लिया है तब शकुन्तला ने उसे कहा है कि उनका वैसा व्यवहार अनुचित है और उसे छोड़ देना चाहिए। वह उसे रोकने का अभिनय करती है।[3] इससे शकुन्तला के संयमित यौवन का परिचय मिलता है। द्वितीय अंक में उर्वशी एवं पुरूरवा का यह द्वितीय मिलन बाधित हो जाता है क्योंकि इसी समय स्वर्ग में अभिनय करने के लिए वह इन्द्र द्वारा बुला ली जाती है।[4] इसके द्वारा कवि बाद में संकेतित

---

१ राजा—सामिअ संभाविआ ''''''सरीरए ।।२। १२-१३, (विक्रमोर्वशीयम्)

२ शकुन्तला—तुज्झ न जाने हिअअं मम उण कामो दिवावि रत्तिम्पि ।
णिग्घिण तवइ वरमीअं तुइ वुत्तमणोरहाए अंगाई ।।३। १३
(अभिज्ञानशाकुन्तलम्)

३ राजा—अपरिक्षतकोमलस्य यावत् कुसुमस्येव नवस्य षट्पदेन ।
अधरस्य पिपासता मया ते सदयं सुन्दरि ! गृह्यते रसोऽस्य ।।३। २१।
(इति मुखमस्याः समुन्नयितुमिच्छति। शकुन्तला परिहरति नाट्येन)।

४ देवदूतः—चित्रलेखे त्वरयोर्वशीम्।
मुनिना भरतेन यः प्रयोगो भवतीष्वष्टरसाश्रयो नियुक्तः।
ललिताभिनयं तमद्य भर्त्ता मरुतां द्रष्टुमनाः स लोकपालः ।।
नेपथ्ये—चक्कवाकवहुए ! आमन्तहि सहअरं। उवट्ठिआ रअणि।
(विक्र० २। १८)

भरतशाप इन्द्रानुग्रह तथा तृतीयांकगत पुरूरवा-उर्वशी मिलन निक्षिप्त करता है। इसी भाँति अभिज्ञानशाकुन्तलम् के तृतीय अंक में जब गौतमी के आगमन की सूचना मिलती है तब नायक-नायिका का द्वितीय मिलन बाधित हो जाता है। शकुन्तला के कथनानुसार राजा दुष्यन्त को शाखाओं की ओट में छिप जाना पड़ता है।[1] इससे औत्सुक्य की तीव्रता बनाए रखने तथा आगे के तीन अंकों की पृष्ठभूमि दृढ़ करने में कवि को सफलता मिली है। यहाँ तक विक्रमोर्वशीयम् के द्वितीय अंक एवं अभिज्ञानशाकुन्तलम् के द्वितीय तथा तृतीय अंक के कथानक-सृजन में समानता है। दोनों में एक विषमता यह है कि प्रेमातुर दुष्यन्त शकुन्तला से गान्धर्व विवाह के लिए अनुरोध करता है, किन्तु पुरूरवा कुछ प्रशस्तियों के अतिरिक्त और कुछ नहीं कहता है (२।१६)। विक्रमोर्वशीयम् के दूसरे अंक में पुरूरवा की पत्नी रानी औशीनरी का प्रवेश कराकर रंगमंच को सूना नहीं रखा गया है। लेकिन अभिज्ञानशाकुन्तलम् में जब शकुन्तला लतामण्डप को पुनः आभोग के लिए आमन्त्रित करती हुई मंच से चली जाती है तब एक ओर छिपा वियोग-भार से आक्रान्त सिर्फ दुष्यन्त ही वहाँ रह जाता है। जब नेपथ्य से तपोवन में राक्षसों के झुण्ड के आगमन की सूचना मिलती है (३।२४) तब राजा मे वीररस एवं कर्त्तव्यनिष्ठा का भावोद्बोध कर तथा चिन्ता के सारे भावों को दबा कर राक्षसों से लड़ने जाने के बहाने उसे मंच से निष्क्रान्त किया गया है।[2] ऐसा करके कालिदास ने अपनी नाट्यकला-निपुणता का परिचय दिया है।

विक्रमोर्वशीयम् में रानी औशीनरी का प्रवेश कराकर नाटककार ने मालविकाग्निमित्रम् की तरह प्रणय-द्वन्द्व की स्थिति पैदा कर दी है। किन्तु अभिज्ञान-शाकुन्तलम् में उन्होंने इस योजना को हटाकर अभिनव रूप दिया है। षष्ठ अंक में उन्होंने दुष्यन्त की रानी वसुमती के आगमन की सूचना मात्र देकर छोड़ दिया है, क्योंकि कवि ने शकुन्तला के 'शुद्धान्तदुर्लभ' सौन्दर्य के वर्णन के अतिरिक्त किसी अन्य सुन्दरी का चित्रण करना उचित नहीं समझा। यदि समीक्षात्मक दृष्टि से देखा जाय तो स्पष्ट है कि अभिज्ञानशाकुन्तलम् का प्रतिपाद्य विषय विक्रमोर्वशीयम्

---

1 शकुन्तला—(ससंभ्रमम्) पौरव ! असंसअं मम सरीखतं
तोपलभस्स अज्जा गोदमी इदो पएव्व आअच्छदि।
जाव विडवंतरिदो होहि।
(अभि० शा० अंक ३, पृ० १७७) डा० सु० शा०।

२ राजा—(आकर्ण्य, सावष्टम्भम्) भो भोस्तपस्विनः मा भैष्ट मा भैष्ट
अयमहमागत एव। (इति निष्क्रान्तः)। (अभि० शा०)

तथा मालविकाग्निमित्र की तरह 'प्रणय-द्वन्द्व' न होकर नियति-द्वन्द्व हो गया है। शकुन्तला एवं दुष्यन्त के मिलन में धारिणी या औशीनरी जैसा मूर्त्त विघ्न न होकर, दुर्वासा के शाप के रूप में अमूर्त्त नियतिचक्र ही बाधक दिखाई पड़ता है।

विक्रमोर्वशीयम् के तृतीय अंक के आरम्भ में भरत के शिष्यों द्वारा यह सूचना दी जाती है कि लक्ष्मी-स्वयंवर रूपक में लक्ष्मी के रूप में अभिनय करती हुई उर्वशी ने 'पुरुषोत्तम' नाम के बदले प्रमादवश 'पुरूरवा' मुँह से निकाल दिया। फलतः भरतमुनि ने उसे यह शाप दे दिया कि तुमने हमारे उपदेश का अनादर किया है, अतः तुम्हारा स्थान स्वर्ग में नहीं है।[1] लेकिन इन्द्र ने अभिनय के अन्त में लज्जावनतमुखी उर्वशी से कहा कि तुम जिसे चाहती हो वह राजा पुरूरवा हमारा युद्ध सहायक है, हमें उसका प्रिय करना है। तुम स्वेच्छया उसके पास तब तक रह सकती हो जब तक वह तुमसे उत्पन्न सन्तति को नहीं देख लें।[2] अभिज्ञानशाकुन्तलम् के चतुर्थ अंक के विष्कम्भक में सूचना मिलती है कि पति के ध्यान में मग्न शकुन्तला ने दुर्वासा का सत्कार नहीं किया। अतः उन्होंने अपने अपमान का अनुभव कर उसे शाप दे दिया है। (४।१) तथा प्रियम्वदा के अनुनय-विनय करने पर उन्होंने कहा है कि मेरा वचन असत्य नहीं हो सकता है, परन्तु पहचान के आभूषण को दिखलाने से शाप समाप्त हो जायगा।[3] स्पष्ट है कि उर्वशी एवं शकुन्तला दोनों युवतियों ने प्रगाढ़ प्रेम के कारण प्रमाद किया है और परिणामतः अभिशप्त होना पड़ा है। बाद में दोनों के शापों की कठोरता में कमी हुई है। परन्तु दोनों के अभिशाप के फल में अन्तर है। उर्वशी के लिए तो भरत मुनि का शाप ही पुरस्कार बन गया है। चूँकि उसे इन्द्र ने अनुग्रहपूर्वक संतान के मुखदर्शन के पूर्व अपने प्रियतम के साथ प्रणय-केलि करने के लिए स्वतंत्रता प्रदान की है। इसके विपरीत शकुन्तला को दुर्वासा के शाप के कारण अपने से परित्यक्त होने के साथ अनेक अपमान एवं यातनाओं को सहना पड़ता है। यह

---

१ द्वितीयः—जेण मम उवदेशो तुए लङ्घिदो तण्णदे दिव्वं
ठाणं हविस्सदित्ति उवज्झा अस्स सावो। (विक्र०)

२ द्वितीयः—महिन्देण उण पेक्खणावसाणे लज्जावणदमुही
भणिदा जस्सिं बद्धभावा सि तस्स मे रणसहाअस्स
राएसिणो पिअं एत्थ करणिज्जं। सा तुमं जहाकामं पुरूरवसं उवचिट्ठ जाव
सो तुह दिट्ठसंताणो भोदिति। (विक्र० अंक ३, ९५)।

३ प्रियम्वदा—तदो मे वअणं अण्णहभविदुं णारिहदि, किंदु अहिण्णाणाभरण
दंसणेण सावो णिवत्तिस्सदि त्तिमंतअतो एव्व अंतरिहिदो।
(अभि० शा० अंक ४, पृ० १९३)।

बात अलग है कि वह शाप ही बाद में वरदान में परिणत हो जाता है। दोनों प्रेमी-प्रेमिका का रागात्मक प्रेम दुःख एवं संताप की ज्वाला में दग्ध होकर शिवात्मक चिरन्तन आध्यात्मिक प्रेम में परिणत हो जाता है। दोनों को भौतिक जीवन में चरम सिद्धि प्राप्त होती है। दोनों के चरित्र का महत्तम विकास हुआ है। उनका आदर्श अनुकरणीय एवं वन्दनीय हो जाता है। मालविकाग्निमित्रम् में निर्दोष मालविका को भी ज्योतिषियों की भविष्यवाणी के अनुसार दासी के रूप में कुछ समय तक अपमानपूर्ण वातावरण में रहना पड़ता है। बाद में उन्हीं परिस्थितियों के कारण राजा अग्निमित्र से प्रणय होता है और उसका भाग्योदय होता है। वह राजा की अन्य रानियों के मध्य आदरणीय और गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त करती है। वस्तुतः कालिदास ने अपने तीनों रूपकों की तीनों नायिकायों को तीन दृष्टिकोणों से कल्पित किया है। फलतः उनके चरित्र-चित्रण में भी स्वभावतः भिन्नताएँ आ गयी हैं।

विक्रमोर्वशीयम् के चतुर्थ अंक के प्रवेशक में सूचित किया गया है कि जब उर्वशी अपने क्रीड़ा बन्धु राजा पुरूरवा के साथ गन्धमादन पर्वत पर विहार करने गयी थी तब वे (राजा) विद्याधर कुमारी उदयवती को बहुत देर तक एकटक से देखते रहे। वैसा करते देखकर उर्वशी क्रुद्ध हो गयी और स्वामी के अनुनय को ठुकरा कर स्त्रियों के नहीं जाने योग्य कुमारवन में ज्योंही घुसी त्योंही जंगली लता के रूप में परिणत हो गयी। अभिज्ञानशाकुन्तलम् के पंचम अंक में दुर्वासा के शाप के प्रभाव के वशीभूत अपने पति द्वारा अपमानित एवं परित्यक्त होने पर शकुन्तला तेजोमयी मूर्त्ति द्वारा आकाशमार्ग से हेमकूट पर्वत पर स्थित महर्षि मारीच के आश्रम में ले जायी गयी। वहीं वह पुत्र जनती है तथा बहुत दिनों तक तपस्विनी की तरह जीवन यापन करती है। विक्रमोर्वशीयम् के चतुर्थ अंक में वियोग के आरम्भ का सिर्फ कथन हुआ है तथा उसका अवसान भी उसी में व्यंजित है। लेकिन अभिज्ञानशाकुन्तलम् में शकुन्तला के वियोग की अवधि पंचम, षष्ठ एवं सप्तम अंकों में अभिनीत हुई। दोनों रूपकों में नायक की मनःस्थिति को पहले चित्रित किया गया है।

मालविकाग्निमित्र में मालविका की प्रणय-लीला राज्यान्तःपुर के अन्तर्गत ही होती है। मालविका भी उर्वशी की भाँति ईर्ष्यालु है। वह अपने प्रियतम के व्यक्त प्यार को पाने के लिए आकुल-व्याकुल है। मालविकाग्निमित्रम् के चतुर्थ अंक में एक चित्र में राजा अग्निमित्र को सिर्फ इरावती की ओर ताकते देखकर

मालविका उनसे रूठ जाती है तथा ईर्ष्या के साथ मुँह फेर लेती है।[1] उद्विग्नतावश उसे यह भी पता नहीं रह जाता है कि वह चित्र देख रही है। इसी प्रकार का भ्रम दुष्यन्त को भी अभिज्ञानशाकुन्तलम् के षष्ठ अंक में चित्रदर्शन से हुआ है। मालविकाग्निमित्रम् नाटक में मालविका एवं राजा अग्निमित्र दोनों रानी से भयभीत हैं। जब अग्निमित्र मालविका को नहीं डरने का संकेत करता है तब वह (मालविका) व्यंग्यवाक्यों में कहती है कि वह (राजा) स्वयं रानी से डरता रहता है।[2] मालविका के इस कथन में सच्चाई है। इसके इस अनुभूतिपूर्ण निर्भीक कथन से नाटक में रमणीय दृश्य उपस्थित हो जाता है। इस प्रकार का जवाब देने का अवसर उर्वशी या शकुन्तला को कदापि नहीं प्राप्त हुआ। पराश्रिता मालविका के लाख रोकने पर भी राजा अग्निमित्र जबरदस्ती उसे अपने परिरम्भनपाश में बाँध लेता है।[3] जितनी व्यग्रता से अग्निमित्र ने निस्सहाय नवयुवती मालविका के उरोजों एवं नीवीबन्ध पर कस कर प्रहार किया है उतनी निर्भीकता और कठोरता से दुष्यन्त और पुरूरवा ने क्रमशः शकुन्तला तथा उर्वशी का आलिंगन नहीं किया है। इस प्रकार के अग्निमित्र के व्यवहार से स्पष्ट हो जाता है कि वह अनियन्त्रित राजा है। ऐसी बात दुष्यन्त तथा पुरूरवा के आचरण में नहीं पायी जाती है। अग्निमित्र, पुरूरवा तथा दुष्यन्त तीनों राजाओं ने क्रमशः मालविका, उर्वशी एवं शकुन्तला से उनकी सुन्दरता के कारण ही प्यार किया है।

---

१ मालविका—हला भट्टा अदक्खिणो विअ पडिमाइ। जा सव्वं देवीजणं उज्झिअ एक्काए मुहे वद्धलक्खो।
मालविका—तदो किं दाणिं अत्ताणं आआसेमि।
(इति सासूयं परावर्तते)। (मालवि०)

२ राजा—न भेतव्यम्, न भेतव्यम्।
मालविका—(सोपहासम्) जो ण भाएदि सो भए भट्टिणीदंसणे दिट्ठसमत्थो भट्टा ण। (मालविकाग्निमित्रम् अंक ४, पृ० २९२-२९३)—मोहनदेव पंत)।

३ राजा—दाक्षिण्यं नाम बिम्बोष्ठि! वैम्बिकानां कुलव्रतम्।
तन्मे दीर्घाक्षि! ये प्राणास्ते त्वदाशानिबन्धनाः ॥४।१४॥
तदयमनुगृह्यताम् चिरानुरक्तो जनः। (इति सश्लेपमभिनयति।
(मालविका नाट्येन परिहरति)।
(आत्मगतम्) रमणीयः खलु नवाङ्गनानां मदनविषयावतारः। एषाहि,
हस्तं कम्पवती रुणद्धि रशनाव्यापारलोलांगुलि
हस्तौ स्वौ नयति स्तनावरणतामालिग्यमाना बलात्।
पातुं पक्ष्मलचक्षुरुन्नमयतः साचीकरोत्याननं
व्याजेनाप्यभिलाषपूरणसुखं निर्वर्तयत्येव मे ॥४।१५ (मालवि०)

कालिदास ने विक्रमोर्वशीयम् तथा अभिज्ञानशाकुन्तलम् दोनों रूपकों मे प्रणय का फल पुत्रोत्पत्ति व्यंजित किया है। दोनों के पुत्र आयुस् एवं सर्वदमन का पालन-पोषण पिता की आँखों से दूर ही हुआ है। मंच पर इन दोनों का प्रवेश आकस्मिक रूप में कराया गया है। विक्रमोर्वशीयम् में संगमनीय मणि के द्वारा लतारूप में परिवर्त्तित नायिका उर्वशी के साथ नायक पुरूरवा का मिलन होता है। अभिज्ञानशाकुन्तलम् में अभिज्ञानाङ्गुलीयक के माध्यम से दुष्यन्त और शकुन्तला का मिलन संभव होता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि दोनों रूपकों में नायक तथा नायिका के मिलन के निमित्त प्रत्यभिज्ञापक चिह्न का प्रयोग किया गया है। साथ ही दोनों रूपकों में नायक एवं नायिका के चिरस्थायी मिलन कराने में प्रधान या गौण रूप से दैवी शक्तियों का हाथ रहता है। विक्रमोर्वशीयम् में इन्द्र द्वारा प्रेषित नारद मुनि, पुरूरवा और उर्वशी के चिरकालिक साहचर्य का संदेश देते हैं।[1] उसी तरह अभिज्ञानशाकुन्तलम् में राक्षसों के वध में इन्द्र की सहायता करके लौटते हुए हेमकूट पर्वत पर मारीच के आश्रम में दुष्यन्त तथा शकुन्तला का आध्यात्मिक मिलन होता है।[2]

द्वितीय प्रकाश : "नाटकीय कथावस्तु का शास्त्रीय विभाग एवं उनका विश्लेषणात्मक अध्ययन"

कालिदास के रूपकों की नाटकीय कथा-वस्तु का अध्ययन करने पर विदित हुआ कि उन्होंने ऐतिहासिक एवं पौराणिक स्रोतों से प्राप्त कथा-तत्त्व को नाटकीय वस्तु के रूप में सुसज्जित करने के लिए अनेक स्तुत्य प्रयास किये हैं। उन्होंने नाटकीयवस्तु-विन्यास के लिए शास्त्रीय नियमों का आश्रय ग्रहण किया है। उनकी नाट्यकृति की गुणशालिता का निर्णय करने के लिए नाट्यशास्त्र ही मानदण्ड है। अतः यहाँ उनके नाटक एवं त्रोटक के कथानक (सविधानक) का भरतमुनि

---

१ नारदः—त्रिकालदर्शिभिर्मुनिभिरादिष्टः सुरासुरसंगरो भावी । भवांश्च सांयुगीनः सहायो नः । तेन त्वया न शस्त्रं संन्यस्तव्यम् । इयं चोर्वशी यावदायुस्तव सहधर्मचारिणी भवत्विति ।

(विक्रमोर्वशीयम्, अंक ५, पृ० २२९)

२ मारीचः—अपि च—

तव भवतु विडौजाः प्राज्यवृष्टिः प्रजासु
त्वमपि विततयज्ञो वज्रिणं प्रीणयस्व ।
युगशतपरिवर्त्तानेवमन्योन्यकृत्यै—
र्नयतमुभयलोकानुग्रहश्लाघनीयैः ॥७।३४॥ (अभिज्ञानशाकुन्तलम्)

तथा अन्य आचार्यों द्वारा अभिहित लक्षणों के साथ उदाहरण देते हुए विश्लेषणात्मक अध्ययन सर्वथा अपेक्षित है। इस अनुचिन्तन से कालिदास की नाटकीय कथावस्तु के सम्बन्ध में स्थापित धारणाओं एवं विचारों का स्पष्टीकरण हो जायगा। नाटकीय नियमों की जटिलता के संदर्भ में भी कालिदास की भविष्णुता उनकी प्रतिभा का दिशा-निर्देश करती है। यद्यपि ये नाट्यशास्त्रीय नियमों से सर्वथा अभिज्ञ थे फिर भी उन्होंने सर्वत्र भरतमुनि के विधानों का अनुगमन नहीं किया है। उनके सदृश कुशल प्रतिभाशाली नाटककार के लिए यह सम्भव भी नहीं था कि वे किन्हीं पिटे-पिटाये नियमों का हू-ब-हू अनुपालन करते। अनेक स्थलों एवं प्रकरणों में वे भरत के विपरीत मालूम पड़ते हैं। इनके पूर्ववर्ती नाट्याचार्यों में सिर्फ भरत मुनि प्रणीत नाट्यशास्त्र ही उपलब्ध है। भरत इनके पूर्ववर्ती आचार्य हैं, अतः इनके रूपकों के वस्तु-विधान पर उनका स्पष्ट प्रभाव है। इसके साथ-साथ इन्होंने यत्र-तत्र अपनी प्रतिभा के बल पर कुछ परिवर्तन किया है। अतः इनके इस परिवर्तन का प्रभाव परवर्ती नाट्यशास्त्रों पर पड़ा है। इनके इन लक्ष्य ग्रंथों को ही आधार मान कर परवर्ती आचार्यों ने भरत के निर्दिष्ट विधानों में कुछ जोड़-तोड़ किया है।

उन्होंने रूपक के भेद नाटक तथा उपरूपक के भेद त्रोटक की रचना की है। आचार्य नखकुट्ट के कथानुसार दिव्य तथा मानव भावों का सम्मिश्रण ही त्रोटक (तोटक) है, क्योंकि इसके अतिरिक्त इसका (त्रोटक का) सम्पूर्ण स्वरूप नाटक के समान ही है।[1] यहाँ उनकी संविधानक-योजना का शास्त्रीय अध्ययन प्रस्तुत करने के लिए कथावस्तु का विधान एवं विश्लेषण आवश्यक है। उनके नाटक एवं त्रोटक की कथा-वस्तु के स्वरूप विश्लेषण के लिए क्रमशः अभिज्ञान-शाकुन्तलम् तथा विक्रमोर्वशीयम् में विश्लेषित अंशों को उदाहृत किया जा रहा है। यों यत्र-तत्र मालविकाग्निमित्रम् के भी उदाहरण प्रस्तुत्य हैं। एतदर्थ यहाँ नाट्यशास्त्रों में प्रतिपादित वस्तुगत लक्षणों को परिभाषित करते हुए कालिदास द्वारा अपने नाट्य-प्रयोगों (नाटक एवं त्रोटक) में अनुमोदित विचारों को उदाहरण के माध्यम से अभिव्यक्त करने का प्रयास किया जा रहा है।

नाटकीय-वस्तु (कथानक) नाटक का मेरुदंड है, क्योंकि इसी के आधार पर पात्रों की सृष्टि तथा रसाभिव्यंजन भी संभव है। नाट्याचार्यों ने कई दृष्टियों से नाटकीय वस्तु के विभाग किये हैं। मूलस्रोत और उद्गम की दृष्टि से वस्तु के तीन भेद हैं:—(१) प्रख्यात, (२) उत्पाद्य तथा (३) मिश्र। इतिहास या

१—दिव्यमानुषसंयोगस्तोटकं नाटकार्थकम्—ना० ल० र०, पृ० २६२ (चौ० प्र०)

पुराण के प्रसिद्ध राजा के चरित्र पर आवृत कथा-वस्तु प्रख्यात कहलाती है। कालिदास के अभिज्ञानशाकुन्तलम् की कथा महाभारत के शकुन्तलोपाख्यान से ली गई है। इसी तरह मालविकाग्निमित्रम् का कथानक ऐतिहासिक है। तत्कालिक प्रचलित अग्निमित्र सम्बन्धी कहानियों से इस नाटक की मूल वस्तु सामग्री को ग्रहण करने का उल्लेख पीछे किया गया है। विक्रमोर्वशीयम् की कथा-वस्तु भी प्रख्यात है। इस तरह इनके तीनों रूपकों की कथा-वस्तु मूल की दृष्टि से प्रख्यात है। प्रख्यात इतिवृत्त के निर्वाह में नाटककार को बहुत सावधानी से काम लेना पड़ता है। कालिदास के अभिज्ञानशाकुन्तलम् के कथानक को देखने से पता चलता है कि उन्होंने चरित नायक दुष्यन्त के धीरोदात्तत्व को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए दुर्वासा के शाप की कल्पना कर ली है। इससे स्पष्ट है कि यदि प्रख्यात इतिवृत्त की गति ऐसी हो कि वह नायक के गुणों, उसके धीरोदात्तत्व में बाधक होती हो, तो ऐसी स्थिति में रस के अनौचित्य को हटाने के उद्देश्य से कथा के उस अंश में नाटककार स्वेच्छया परिवर्तन एवं परिवर्धन कर सकता है। इसके विपरीत उत्पाद्य वह कथा-वस्तु है जिसमें कवि इतिहास एवं पुराण आदि का आश्रय न लेकर अपनी कल्पना से ही कथा का निर्माण करता है। इसमें वह स्वतंत्रतापूर्वक रसानुकूल पात्रों का भी निर्माण करता है। मिश्र कथा-वस्तु में कथानक का कुछ तत्त्व इतिहास-पुराणादि से गृहीत है तथा कुछ अंश कविकल्पना प्रसूत। साथ ही वृत्त दिव्य, मर्त्य तथा दिव्यादिव्य होता है।[1]

सागरनन्दिन[2] ने मूल स्रोत की दृष्टि से वस्तु के दो भेद किये हैं: (१) उपात्त (२) प्रति-संस्कृत। उनके विचार से उपात्त कथावस्तु इतिहास या पुराण पर आधारित होती है और प्रतिसंस्कृत का कुछ अंश ऐतिहासिक या पौराणिक तथा कुछ कविकल्पनाश्रित होता है। फलाधिकार या अधिकारी की दृष्टि से नाट्याचार्यों ने इतिवृत्त (वस्तु) के दो भेद[3] किये हैं: (१) आधिकारिक (मुख्य) तथा (२) प्रासंगिक (गौण)। संस्कृत के सभी रूपक-प्रबंधों में इन दोनों इतिवृत्त प्रकारों की विचित्र योजना परिलक्षित होती है। फल के स्वामित्व को अधिकार कहते हैं तथा फल का स्वामी अधिकारी कहलाता है। उस अधिकारी अर्थात्

---

१ दशरूपक—प्र० प्र० प्रख्यातोत्पादमिश्रत्वभेदास्त्रेधापि तत्त्रिधा।
प्रख्यातमितिहासादेरुत्पाद्यं कविकल्पितम्।१५।
मिश्रम् च संकरात्ताभ्यां दिव्यमर्त्यादिभेदतः।

२ प्रतापरुद्रीय-पृ० १०३, भा० प्र०, पृ० २०२। ना० ल० र०–पृ० ७ (चौ० प्र०)

३ तत्राधिकारिकं मुख्यमङ्गं प्रासंगिकं विदुः।१।११ (दशरूपक)।

फलोपभोक्ता (प्रधान नायक) से सम्बद्ध इतिवृत्त आधिकारिक[1] वस्तु (इतिवृत्त) कही जाती है। यह इतिवृत्त नाटक में सर्वत्र फैला रहता है। सर्वव्यापकता के ही कारण अभीष्ट फलयुक्त आधिकारिक 'मुख्यवृत्त' कहा जाता है। इस मुख्य इतिवृत्त के अतिरिक्त नाटक में कुछ ऐसे भी इतिवृत्त होते हैं जो मुख्यवृत्त के विकास अथवा नायक के चरित्र में उत्कर्ष लाता है। इस कथा का प्रयोजन सिर्फ प्रधानवृत्त को सहायता पहुँचाना होता है, किन्तु प्रसंगतः इसका अपना फल भी सिद्ध हो जाता है। ऐसे इतिवृत्त को प्रासंगिकवृत्त कहा जाता है।[2] यह मुख्यवृत्त को गतिशील बनाता है। वस्तुतः प्रधान फल की उत्पत्ति के निमित्त ही इसका प्रयोग किया जाता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि यह 'प्रासंगिकवृत्त' 'आधिकारिकवृत्त' का ही उपस्कारक वृत्त होता है।[3]

कालिदास के मालविकाग्निमित्रम् में मालविका तथा अग्निमित्र की प्रेम-कथा, अभिज्ञानशाकुन्तलम् में दुष्यन्त एवं शकुन्तला की प्रणय-कथा तथा विक्रमोर्वशीयम् में पुरूरवा और उर्वशी की प्रेमकथा आधिकारिक इतिवृत्त है। मालविकाग्निमित्रम् में अग्निमित्र का विदर्भराज यज्ञसेन से संघर्ष का वृत्तान्त, नाट्याचार्यों का आपसी विवाद आदि प्रासंगिक कथाएँ हैं। अभिज्ञानशाकुन्तलम् में राजा दुष्यन्त की माता द्वारा राजा को बुलाना तथा अपने बदले राजा द्वारा विदूषक को माता के पास भेजना और मातलि से इन्द्र का संदेश पाकर दुष्यन्त का स्वर्ग जाकर राक्षसवध से सम्बद्ध कथा प्रासंगिक है। इसी प्रकार विक्रमोर्वशीयम् में उर्वशी का लतारूप में परिणत होने की कथा प्रासंगिक इतिवृत्त है। प्रासंगिक इतिवृत्त के पुनः दो भेद किये गये हैं जिनकी सोदाहरण व्याख्या अर्थप्रकृति के प्रकार के प्रसंग में की जा रही है।

नाट्यशास्त्र के सभी आचार्यों ने नाटकीय वस्तु के उपर्युक्त दो भेद किये हैं किन्तु वास्तव में (आधिकारिक और प्रासगिक) इतिवृत्त के ही अंग हैं, प्रकार नहीं। स्वभावतः कोई वृत्त आधिकारिक या प्रासगिक नही होता। नाटककार

---

१ अधिकारः फले स्वाम्यमधिकारी च तत्प्रभुः।
तस्येतिवृत्तं कविभिराधिकारिकमुच्यते ।।६।४३ (सा० द०)।
—दशरू० १।१२, पृ० ७, डा० स० व्र० सिंह

२ प्रासंगिकं परार्थस्य स्वार्थो यस्य प्रसंगतः।—पूर्वार्द्ध (दशरू०)
—अस्योपकरणार्थंतु प्रासंगिकमितीष्यते।—पूर्वार्द्ध (सा० द०)

३ प्रसवितर्हि प्रसंगः तत् आगतं प्रासंगिकम्, प्रसज्यते वा प्रधानफलनिष्पत्तये इति प्रसंगस्तत आगतम्।—(अभिनवभारती)

अपनी कल्पना द्वारा एक ही वृत्त में आधिकारिक और प्रासंगिक का भेद करके एक को आधिकारिक रूप में तथा दूसरे को प्रासंगिक रूप में प्रस्तुत करता है। आधिकारिक वृत्त रूपक का व्यापक वृत्त होता है तथा प्रासंगिक इपी का उपकरणभूत वृत्त रहा करता है। इस तरह प्रत्येक नाटकीय वस्तु में एक मूलकथा होती है तथा कुछ ऐसी घटनाएँ एवं उपकथाएँ होती हैं जो मूल कथा को परिपुष्ट कर फलप्राप्ति में योग देती हैं। ये कथापोषक प्रसंग या तो नाटक के नायक के चारित्रिक विकास में सहायक होते हैं अथवा मूलकला के प्रसार में सहयोग देते हैं।

रूपक में प्रयुक्त कथा तीन प्रकार की होती है :—(१) सूच्य, (२) श्रव्य तथा (३) दृश्य। नाटक में मुख्य व्यापार से सम्बद्ध घटनाओं को दो तरह से प्रस्तुत किया जाता है। जो घटना सरस तथा मुख्य पात्र से सम्बद्ध होती है और जिसका रंगमंच पर अभिनय किया जाता है, उसका समावेश अंक में किया जाता है। नाटकीय वस्तु की योजना एक अंक में सिर्फ एक दिन की घटना (चरित्र) से सम्बद्ध हो, उसका एक ही प्रयोजन हो तथा एक ही अर्थ से सम्बद्ध हो।[१] पाश्चात्य नाट्यशास्त्री अरस्तू के अन्वितित्रय (थ्री यूनिटीज) का समावेश अंक में हो जाता है। संस्कृत नाटक के अंक में जो ऊपर नियम-विधान किया गया है कि एक ही दिन की घटना का तथा एक ही प्रयोजन का सन्निवेश क्रमशः कालान्विति (यूनिटी आफ टाइम) एवं कार्यान्विति (यूनिटी आफ एक्सन) से सम्पृक्त है, और अंकों की एक दृश्यता (दृश्य-विभाजन का अभाव) स्थलान्विति (यूनिटी आफ प्लेस) का संपूरक है। अंक में नाटक का नायक समीपस्थ हो तथा अनेक पात्रों के समूह का प्रवेश नहीं कराया जाता। वहाँ सिर्फ तीन या चार पात्र प्रवेश करें। अंकान्त में इन सभी पात्रों का मंच से निर्गम हो जाना चाहिए। नाटक में पाँच से दश तक अंकों की संख्या होनी चाहिए। कालिदास के नाटकों तथा त्रोटक में ये सभी लक्षण घटित होते हैं। प्रत्येक अंक के अन्त में पात्रों के निर्गम के नियम का भी पालन किया गया है। उनके नाटक मालविकाग्निमित्रम् में ५ अंक हैं, अभिज्ञानशाकुन्तलम् में सात अंक हैं तथा त्रोटक विक्रमोर्वशीयम् में पाँच अंक हैं। अंक निर्माण में उन्होंने शास्त्रीय नियमों का सर्वथा पालन किया है। अभिनय की दृष्टि से नाटक में जो अंश शुष्क एवं नीरस अनभिनेय तथा रसाभिव्यंजन में बाधक एवं अश्लील होता है फिर भी नाटकीय वस्तु के अखण्ड स्वाभाविक प्रवाह के लिए जो आवश्यक होता

---

१ एकाहचरितैकार्थमित्थमासन्ननायकम् ।३६।।
पात्रैस्त्रिचतुरैरंकं तेषामन्तेऽस्य निर्गमः ।—दशरू० तृतीय प्रकाश-पृ० १६३ (चौ० प्र०)

—सा० द० ६। १२-१५। ना० शा० अ० २० (चौ० प्र०)

है उसकी केवल सूचना दे दी जाती है। उस अंश की सूचना अनिवार्य है। भरतमुनि के विचार से क्रोध, पागलपन, शोक, शाप, परित्याग, भगदड़, विवाह एवं अद्भुत रस से सम्बद्ध सारी बातें तो प्रत्यक्ष रंगमंच पर दिखाये जायँ, किन्तु युद्ध, राज-विप्लव, मरण, नगरावरोध आदि कार्यों का प्रत्यक्ष प्रदर्शन न कर इनकी सिर्फ सूचना दे देनी चाहिए।[1] धनंजय ने भी लिखा है कि लम्बी यात्रा, वध, युद्ध, राज्य एवं देश की क्रान्ति, संरोध, भोजन, स्नान, सुरत, उबटन लगाना (अनुलेपन), वस्त्र-धारण आदि प्रत्यक्ष रूप से नहीं दिखाना चाहिए। इनकी सूचना मात्र देनी चाहिए।[2] नाट्यदर्पणकार[3] तथा विश्वनाथ कविराज[4] भी उपर्युक्त मत से सहमत हैं। आचार्य विश्वनाथ ने 'दूराध्वानम्' के स्थान पर 'दूराह्वानम्' पद का प्रयोग किया है। कालिदास के विक्रमोर्वशीयम् के प्रथम अंक में अप्सराएँ पुकारती हैं— 'परित्रायतां परित्रायताम्............।' इनके इस प्रयोग के अनुसार 'दूराध्वानम्' ही उपयुक्त जान पड़ता है। अभिज्ञानशाकुन्तलम् की प्रस्तावना के तुरत बाद प्रमुख पात्र का प्रवेश कराकर अंक प्रारम्भ हो जाता है क्योंकि यह सरस मृगया के दृश्य से आरम्भ होता है। सरस वस्तु के कारण यहाँ विष्कम्भक की योजना नहीं करनी पड़ी है। लेकिन मालविकाग्निमित्रम् की प्रस्तावना के बाद मिश्र विष्कम्भक की योजना की गयी है। विक्रमोर्वशीयम् की प्रस्तावना के बाद सरस वस्तुयोजना के कारण प्रथम अंक का आरम्भ हो जाता है। इस तरह कालिदास के रूपकों में विष्कम्भकादि की शास्त्रसम्मत योजना[5] की गयी है। नाटकीय कथा-वस्तु के इस सूच्य अंश को कई प्रकार से सूचित किया जाता है। अनिबन्धनीय इतिवृत्त की सूचना के जो उपाय हैं उन्हें अर्थ (इतिवृत्त) के उपक्षेपक (प्रत्यायक)

---

१ क्रोधप्रमादशोकाः शापोत्सर्गोऽथ विद्रवोद्वाहौ ।
अद्भुतसंश्रवदर्शनमङ्के प्रत्यक्षजानि स्युः ।।२०।।
युद्धो राज्यभ्रंशो मरणं नगररोधनं चैव ।
अप्रत्यक्षकृतानि प्रवेशकैः संविधेयानि ।।ना० शा०, अंक २०।

२ दशरूपक—३।३४-३५

३ नाट्यदर्पण—पृ० ३३।

४ साहित्य दर्पण—६। १७-१९।

५ अपेक्षितं परित्याज्यं नीरसं वस्तुविस्तरम् ।
यदा संदर्शयेच्छेषमामुखानन्तरं तदा ।।६।६१।।
कार्यो विष्कम्भको नाट्य आमुखाक्षिप्तपात्रकः ।
यदा तु सरसं वस्तु मूलादेव प्रवर्तते ।।६।६८।।
आदावेव तदाऽङ्के स्यादामुखाक्षेपसंश्रयः ।—(सा० द०)

(या सूचक) होने के कारण अर्थोपक्षेपक कहते हैं। ये अर्थोपक्षेपक पाँच प्रकार के होते हैं :—(१) विष्कम्भक (विष्कम्भ), (२) प्रवेशक, (३) चूलिका, (४) अंकावतार और (५) अंकमुख (अंकास्य)। नाट्यदर्पणकार ने इन अर्थोपक्षेपकों के प्रयोग का विधान करते हुए बताया है कि बहुत एवं बहुकालव्यापी अर्थ सूच्य होने पर विष्कम्भक तथा प्रवेशक का प्रयोग किया जाता है। अल्प तथा अल्पकालीन अर्थ सूचनीय होने पर अंकास्य, अल्पतर और अल्पतरकालीन अर्थ के सूच्य होने पर चूलिका और अल्पतम एवं अल्पतमकालीन अर्थ सूचनीय होने पर अंकावतार का प्रयोग किया जाता है—आद्यौ सूच्ये बहावल्पे क्रमादल्पेतरे तमे। (ना० द० पृ० ३७)। विषकम्भक अंकसंधायक (अंक का संसूचक) हुआ करता है अर्थात् यह दो अंकों (अंकार्थों) का सम्बन्ध कराने वाला होता है—'विष्कम्नाति अनुसंधानेन वृत्तमुपष्टम्भयतीति विष्कम्भकः।' यह नाटक (रूपक) में घटित घटनाओं अथवा भविष्य में घटित होनेवाली घटनाओं (वृत्तांशों) का वह सूचक उपाय है जिसमें मध्यम पात्रों द्वारा संक्षेपतः कथांशों की सूचना दी जाती है। इसमें कभी एक तथा कभी दो मध्यम पात्रों की बातचीत से कथांश की सूचना दी जाती है।[१] यह शुद्ध और संकीर्ण (मिश्र) दो प्रकार का होता है। एक अथवा अधिक मध्यम श्रेणी के पात्रों वाला विष्कम्भक शुद्ध कहलाता है तथा मध्यम एवं अधम श्रेणी के पात्रों से प्रयुक्त विष्कम्भक संकीर्ण (मिश्र) कहा जाता है। ये दोनों प्रकार के विष्कम्भक अंक के आरम्भ में प्रयुक्त होते हैं, मध्य या अन्त में नहीं। यह प्रथम अंक के आरम्भ में तथा दो अंकों के बीच में भी रखा जा सकता है।

कालिदास के मालविकाग्निमित्रम् नाटक मे प्रस्तावना के तुरन्त बाद प्रथम अंक के आरम्भ से पूर्व संकीर्ण (मिश्र) विष्कम्भक का प्रयोग किया गया है। इसमें वकुलावलिका तथा कौमुदिका नामक दासियाँ अधम श्रेणी की तथा आचार्य गणदास मध्यम वर्ग के हैं। दासियाँ प्राकृत में बोलती हैं तथा गणदास संस्कृत में। यह विष्कम्भक अग्निमित्र के राजमहल का दृश्य उपस्थित करता है। मालविका को चित्र में देखकर राजा अग्निमित्र मुग्ध हो गया है। अतः ईर्ष्यावश महारानी धारिणी मालविका को राजा से दूर ही रखती है जिससे उस पर उनकी नजर नहीं पड़े। यह मालविका रानी धारिणी के भाई द्वारा प्रेषित उच्च घराने की लड़की है। वह अत्यन्त सुन्दर, विचक्षण बुद्धि तथा संगीत में रुचि रखने वाली है। धारिणी ने एक सर्पमुद्रांकित अँगूठी बनवाई है। इस अँगूठी का उपयोग आगे

---

१ वृत्तवर्तिष्यमाणानां कथांशानां निदर्शकः।
संक्षेपार्थस्तु विष्कम्भो मध्यपात्र प्रयोजितः ।।१। ५९ (दशरूपक)
—सा० द० ६।५५

चतुर्थ अंक में होता है। इस प्रकार विष्कम्भक की ये सारी बातें दर्शकों के सामने नाटकीय वस्तु की पृष्ठभूमिका के रूप में रख दी जाती हैं जिससे अग्रिम कथा की कड़ी टूटी प्रतीत नहीं होती है। इसके बाद वास्तविक नाटक आरम्भ होता है।

अभिज्ञानशाकुन्तलम् के तृतीय अंक के आरम्भ में शुद्ध विष्कम्भक का प्रयोग किया गया है। यहाँ राजा दुष्यन्त के आश्रम में आ जाने के कारण ऋषियों की आकुलता समाप्त होने की तथा लू लग जाने के कारण शकुन्तला की विरहावस्था का कथन कर एतदर्थ गौतमी के द्वारा शान्तिजल भेजने की सूचना एक मध्यम-वर्गीय पात्र शिष्य द्वारा दी गयी है। यहाँ भूत एवं भविष्य की सूचना दी गयी है। इसमें सिर्फ संस्कृत भाषा का प्रयोग किया गया है। इसी नाटक के चतुर्थ अंक के आरम्भ में शुद्ध विष्कम्भक का प्रयोग हुआ है। इसमें अनसूया, प्रियम्वदा तथा दुर्वासा ऋषि जैसे मध्यवर्गीय पात्र की वार्ता द्वारा भूत एवं भावी घटनाओं की सूचना दी गयी है।

प्रवेशक का शाब्दिक अर्थ है—सामाजिक के हृदय में अप्रत्यक्ष अर्थ का प्रवेश कराना (अप्रत्यक्षान् अर्थात् सामाजिकहृदये प्रवेशयतीति प्रवेशकः)। यह भी विष्कम्भक की भाँति ही अतीत एवं भावी वृत्तांशों का सूचक होता है। इसमें निम्नश्रेणी के पात्रों का प्रयोग होता है। इसकी भाषा संस्कृत भिन्न प्रकृतादि होती है। इसका प्रयोग नाटकारम्भ में कदापि नहीं होता है। इसकी योजना हमेशा दो अंकों के बीच में ही की जाती है।[1] मातृगुप्त के विचार का अनुमोदन करते हुए शारदातनय एवं सागरनन्दिन का अभिमत है कि प्रवशेक में ऋषि, मुनि, ब्राह्मण, कंचुकी तथा विट जैसे पात्रों का प्रयोग किया गया हो तो वे प्राकृत के बदले संस्कृत में बोल सकते हैं।[2] भरतमुनि[3] ने प्रवेशक के पाँच भेद किये हैं—(१) किसी प्रवेशक में गूढ़ आशय की व्याख्या की जाती है, (२) समय-संकेत मिलता है, (३) कार्य-विशेष के संरम्भ का बोध होता है, (४) कभी-कभी आधिकारिक इतिवृत्त के मुख्य अर्थ की प्राप्ति का संकेत मिलता है तथा (५) अग्रिम कथांश की सूचना मिलती है। सागरनन्दिन के विचार से प्रवेशक का प्रयोग नाटक, प्रकरण, नाटिका तथा प्रकरणी में ही होना चाहिए।[4]

---

१ तद्वदेवानुदात्तोक्त्या नीचपात्रप्रयोजितः ॥६०॥
प्रवेशोऽङ्कद्वयस्यान्तः शेषार्थस्योपसूचकः।—(दशरूपक प्र० प्र०)

२ मा० प्र० पृ० २१६। ना० ल० र० पंक्ति ३१५।

३ ना० शा० १८। ३५-३७

४ ना० ल० र०, पंक्ति ३४०।

कालिदास के मालविकाग्निमित्रम् के तृतीय अंक के प्रारम्भ में प्रवेशक नामक अर्थोपक्षेपक का प्रयोग किया गया है। यहाँ समाहितिका एवं मधुकरिका दोनों दासियों को रंगमंच पर उपस्थित कर विगत एवं भावी बातों की सूचना सामाजिकों को दी गयी है। इनकी परस्पर वार्ता से विदित होता है कि मालविका के नृत्य के बाद हरदत्त की शिष्या रानी इरावती ने अपने नृत्य का प्रदर्शन किया था। उन दोनों के नृत्य-प्रदर्शन में मालविका का अभिनय ही निर्णायिका कौशिकी (परिव्राजिका) द्वारा अच्छा ठहराया गया। इसके साथ यह पता चल गया कि मालविका भी राजा अग्निमित्र पर अत्यधिक मुग्ध है। वह मिलन के अभाव में दुबली-पतली होती जा रही है। रानी धारिणी के भय से राजा अग्निमित्र उससे स्पष्ट रूपेण प्रेम नहीं कर पा रहा है। इन बातों की सूचना के अलावे रानी के प्रिय तपनीयाशोक का यथासमय न फूलना तथा उसके दोहद का उपाय करना जैसी भावी घटना की सूचना भी दे दी गयी है। दासियाँ प्राकृत में बातें करती हैं। इस नाटक के पंचम अंक के आरम्भ में भी प्रवेशक का प्रयोग किया गया है। यहाँ विदर्भराज से युद्ध तथा अश्वमेधयज्ञ आदि अतीत की अनभिनीत और अशोक के फूल जाने पर रानी धारिणी द्वारा मालविका को दिया जानेवाला पुरस्कार आदि भविष्य की घटनाओं की सूचना रानी धारिणी के भृत्य सारसक तथा मालिन (उद्यान-पालिका) मधुकरिका की परस्पर वार्ता से दी गयी है। ये दोनों अधम श्रेणी के पात्र हैं, अतः इन्होंने प्राकृत में बातचीत की है।

विक्रमोर्वशीयम् के द्वितीय एवं चतुर्थ अंक के आरम्भ में प्रवेशक का प्रयोग किया गया है। इसी प्रकार अभिज्ञानशाकुन्तलम् के षष्ठ अंक के आरम्भ में भी प्रवेशक का प्रयोग किया गया है।

जहाँ सूच्य कथांश की सूचना नेपथ्य के अन्दर स्थित पात्रों द्वारा दी जाय वहाँ चूलिका नामक अर्थोपक्षेपक होता है।[1] शारदातनय के विचार से इसमें सूत, मागध, वन्दी, आदि पात्र हो सकते हैं। इसका प्रयोग अंक के मध्य में भी हो सकता है तथा अन्य अर्थोपक्षेपकों में भी इसका स्थान सम्भव है।[2] मालविकाग्निमित्रम् के चतुर्थ अंक के अन्त में चूलिका का प्रयोग किया गया है। यहाँ नेपथ्य स्थित पात्र से सूचना मिलती है कि पाँच दिनों के अन्दर ही तपनीयाशोक कलियों से भर गया है। अतः चलकर महारानी, धारिणी को इसकी सूचना दे दें।[3]

---

१ अन्तर्जवनिकासंस्थैश्चूलिकार्थस्य सूचना ।१।६१ उत्तरार्द्ध (दशरूपक); सा० द० पूर्वार्द्ध ६।५८।

२ मा० प्र०, पृ० २१७ तथा २१९-२२४।

३ (नेपथ्ये अच्चरिअं अच्चरिअं। अपुण्णे एव्व पंचरत्ते दोहलस्स मुउलेहिं सण्णद्धो तवणीआसोओ। जाव देवीए णिवेदेमि।

अंकावतार वह अर्थोपक्षेपक है जिसमें प्रथम अंक की कथावस्तु का विच्छेद किये विना दूसरे अंक की वस्तु चले।[1] भरतमुनि के अनुसार इसमें समाप्यमान अंक एवं आरम्भ होने वाले अंक के वीच कोई दूसरा दृश्य नहीं रहता। अंकावतार के वाद दूसरा अंक शुरू हो जाता है।[2] आचार्य विश्वनाथ के मतानुसार अंकावतार वह अर्थोपक्षेपक है जिसे पिछले अंक के अन्त में उस अंक के पात्रों द्वारा अगले अंक की सूचना दी जाती है।[3] मालविकाग्निमित्रम् नाटक के प्रथम अंक के अन्त में अंकावतार का प्रयोग किया गया है। यहाँ विदूषक निम्नलिखित वाक्य द्वारा भावी अंक की वस्तु की सूचना देता है—'देण हि दुवे वि वग्गा पेक्खाधरए संगीदर अणं कदुअ अत्तहोदो दूदं पेसअन्दु। अहवा मिअङ्-गसद्दो एव्व णां उट्ठावइस्सदि।' तत्पश्चात् मृदंग शब्द के सुनने के वाद दूसरे अंक के प्रारम्भ में सभी पात्र प्रथम अंक में वर्णित पात्रों के (हरदत्त एवं गणदास) के शिष्य शिक्षाक्रम का दर्शन करते हैं। इस प्रकार प्रथम अंक की कथा अविच्छिन्न रूप में ही दूसरे अंक में अवतरित होने के कारण अंकावतार है। इसी प्रकार विक्रमोर्वशीयम् के प्रथम अंक के अन्त में राजा पुरूरवा के इस कथन से अग्रिम अंक की वस्तु की सूचना दी जाती है :—

(उर्वशीमार्गोन्मुखः) अहो नु सुखदुर्लभाभिनिवेशी मदनः।
एषा मनो मे प्रसभं शरीरात्पितुः पदं मध्यममुत्पतन्ती।
सुराङ्गना कर्षति खण्डिताग्रात्सूत्रं मृणालादिव राजहंसी॥ १।१८।

अङ्कमुख (अङ्कास्य) वह अर्थोपक्षेपक है जहाँ एक ही अङ्क मे दूसरे अङ्क की समस्त कथा के बीजार्थ की संक्षिप्त सूचना दी जाय।[4] आचार्य विश्वनाथ भरत-मुनि से सहमत हैं। धनंजय के अनुसार जहाँ एक अङ्क की परिसमाप्ति के समय उस अङ्क में प्रयुक्त पात्रों द्वारा अवशिष्ट अर्थ की सूचना दी जाय, वहाँ अङ्कास्य (अङ्कमुख) कहलाता है।[5]

मधुर, उदात्त, रस एवं भावनिस्पन्द नाटकीय कथांश, जिनका नाटक में प्रभावोत्पादकता एवं रसमयता लाने के लिए मंच पर अभिनय आवश्यक होता है,

---

१ दशरूपक १।६२ (मालविकाग्निमित्रम् अंक ४, पृ० ३१८)।

२ नाट्यशास्त्र १९।११०।

३ अङ्कान्ते सूचितः पात्रैस्तदङ्कस्याविभागतः ॥५८॥
अत्राङ्कोऽवतरत्येषोऽङ्कावतार इति स्मृतः। (साहित्यदर्पण परि० ६)

४ यत्र स्यादङ्क एकस्मिन्नङ्कानां सूचनाऽखिला ।५९।
तदङ्कमुखमित्याहुर्बीजार्थख्यापकं च तत् ।—(साहित्यदर्पण परि० ६)

५ अङ्कान्तपात्रैरङ्कास्यं छिन्नाङ्कस्यार्थसूचनात् ।१। ६२ का पूर्वार्द्ध (दशरूपक)

उसे दृश्य कहते हैं। उपर्युक्त सूच्य वृत्तांश के अतिरिक्त कथावस्तु का दृश्यांश संवाद के विचार से तीन प्रकार का होता है—(१) सर्वश्राव्य (२) नियताश्राव्य एवं (३) अश्राव्य।[१]

किसी पात्र की उक्ति को यदि रंगशाला में उपस्थित सभी लोग सुनें तो सर्वश्राव्य (प्रकाश) कहते हैं। जैसे विक्रमोर्वशीयम् के द्वितीय अंक में –'राजा (प्रकाशम्) देवि नेदं मया मृगयते। स खलु परसमन्वेषणार्थमारम्भोऽयम्'। यदि रंगशाला में उपस्थित लोगों में से कुछ ही लोग किसी पात्र की वार्ता को सुनते हैं तो उसे नियतश्राव्य कहते हैं। इसके दो भेद होते हैं :—(१) जनान्तिक और (२) अपवारित। रंगमंच पर जहाँ दूसरे पात्रों के उपस्थित रहने पर भी दो पात्र आपस में इस प्रकार मंत्रणा करें कि दूसरों को सुनना अभीष्ट न हो। साथ ही दूसरे पात्रों की ओर त्रिपताकाकर द्वारा हाथ से संकेत कर दर्शकों को इस बात की सूचना दी जाय कि उनका वारण किया जा रहा है, वहाँ जनान्तिक नामक नियतश्राव्य कथोपकथन होता है।[२] यथा मालविकाग्निमित्रम् के प्रथम अंक में—

देवी—(गणदासं विलोक्य) (जनान्तिकं) अलं अज्जउत्तस्स उच्चाहकालणं मणोरहं पूरिअ।

इसी प्रकार विक्रमोर्वशीयम् के द्वितीय अंक में—

राजा—"(जनान्तिकम्) सखे किमत्र प्रतिविधेयम्।"

जहाँ मुँह को दूसरी ओर करके कोई पात्र गुप्त बात कहता है, उसे अपवारित कहते हैं।[३] जैसे विक्रमोर्वशीयम् के द्वितीय अंक में—

विदूषकः—(अपवार्य) दुरागदं दाणि संवुत्तम्।

यदि कहनेवाला पात्र स्वयं ही अपनी उक्ति सुनता है तथा दूसरे लोग उसे नहीं सुनते हैं, तो इसे अश्राव्य (स्वगत या आत्मगत) कहते हैं। जैसे विक्रमोर्वशीयम् के द्वितीय अंक में—'देवी—(आत्मगतम्) माखु लहुहिअआ अहं अणुअअं वहुमण्णो। किं दु अदक्खिण्णकिदस्स पच्छादावस्स भाएमि।' इनके अतिरिक्त

---

१ सर्वेषां नियतस्यैव श्राव्यमश्राव्यमेव च ॥ १।६४ पूर्वार्द्ध (दशरूपक)

२ त्रिपताकाकरेणान्यानपवर्यान्तरा कथाम्।१-६५
अन्योन्यामन्त्रणं यत्स्याज्जनान्ते तज्जनान्तिकम्। (दशरू०)

३ रहस्यं कथ्यतेऽन्यस्य परावृत्यापवारितम्। १।६६ उत्तरार्द्ध (दशरूपक)

श्राव्य का एक प्रकार 'आकाशभाषित' है। रंगमंच पर उपस्थित पात्र जहाँ दूसरे पात्र के बिना अकेले ही आकाश की ओर मुँह करके स्वयं प्रश्नोत्तर करे वहाँ आकाशभाषित नामक कथोपकथन होता है।[1] यथा अभिज्ञानशाकुन्तलम् के तृतीय अंक में—

"शिष्य:—यावदिमान् वेदिसंस्तरणार्थं दर्भानृत्विग्भ्य: उपनयामि। (परिक्रम्यावलोक्य च आकाशे) प्रियंवदे, कस्येदमुशीरानुलेपनं मृणालवन्ति च नलिनीपत्राणि नीयन्ते ?"

फल की सिद्धि की दृष्टि से नाटकीय वस्तु का प्रयोजन पाँच भागों में बँटा हुआ है—(१) बीज, (२) बिन्दु, (३) पताका, (४) प्रकरी और (५) कार्य। इन्हें अर्थप्रकृति के नाम से अभिहित किया गया है। अर्थ का अभिप्राय प्रयोजन या फल तथा प्रकृति का अर्थ है कारण या हेतु। अर्थप्रयोजन मूल प्रयोजन की सिद्धि का उपाय है। ये उपाय जड़रूप तथा चेतनरूप फल-साधन दो भागों में विभक्त किये जाते हैं। जड़रूप-फलसाधन भी दो तरह के होते हैं—(१) बीज और (२) कार्य। बीज फल का प्रधान कारण है तथा कार्य उस बीज की फलोत्पत्ति के निमित्त प्रयुक्त किया जाता है। चेतनरूप फलोपाय भी दो प्रकार के होते हैं: मुख्य एवं सहकारी। यह सहकारी फलोपाय भी दो प्रकार के होते हैं—(१) स्वार्थ सिद्धिपूर्वक परार्थ का साधक और (२) स्वार्थ निरपेक्ष परार्थ का साधक। इन त्रिविध चेतनरूप फलोपायों में बिन्दु मुख्य फलोपाय है, पताका स्वार्थसिद्धिपूर्वक परार्थ का साधक सहकारी फलोपाय और प्रकरी स्वार्थनिरपेक्ष्य परार्थ का साधक सहकारी फलोपाय है।[2] रूपक में नियमत: इन अर्थप्रकृतियों का उपनिबन्धन आवश्यक है। यहाँ यह सर्वथा स्पष्ट है कि 'फल' को रूपककार एवं नायक दोनों का फल माना गया है। रूपककार के निमित्त इसका (रूपक का) फल रसोल्लास है तथा नायक का फल पुरुषार्थ चतुष्टय (धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष) में कोई एक अथवा परस्पर संभिन्न पुरुषार्थ हो सकता है। उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि बीज आदि अर्थ प्रकृतिपंचक नाटकीय वस्तु के उपादान कारण हैं। अर्थप्रकृति कथा-वस्तु का भौतिक विभाजन है, जिसका सीधा सम्बन्ध कथा-वस्तु से ही है। इनके होने से नाटक का बाह्य रूप (ढाँचा) खड़ा हो जाता है। हम कह सकते हैं कि अर्थप्रकृतिपंचक आधिकारिक इतिवृत्त का बहिरंग विश्लेषण

---

१ किं ब्रवीष्येवमित्यादि विना पात्रं ब्रवीति यत्।
श्रुत्वेवानुक्तमप्येकस्तत्स्यादाकाशभाषितम् ॥१।६७॥ (दशरूपक)

२ अभिनवभारती—भाग—३, पृ० १२।

है। भरतमुनि का आदेश है कि रूपक-प्रबन्ध में अर्थप्रकृतिपंचक की यथाविधि योजना करनी चाहिए।[1]

भरतमुनि के अनुसार अर्थप्रकृति का उपर्युक्त क्रम ही है। नाट्यदर्पणकार ने इस मान्य क्रम में इस प्रकार परिवर्तन किया है—(१) बीज, (२) पताका, (३) प्रकरी, (४) बिन्दु तथा (५) कार्य। वस्तुतः सूक्ष्मदृष्टि से यदि विचार किया जाय तो नाटककार स्वेच्छया यथावश्यकता इनमें से किन्हीं का किसी भी क्रम से उपयोग करने के लिए स्वतन्त्र है। नाटक में उपर्युक्त क्रमानुसार इसका उल्लेख अपेक्षित नहीं है। प्रत्येक नाटक में पताका एवं प्रकरी का होना अनिवार्य नहीं है। आगे उपर्युक्त पाँचों अर्थप्रकृतियों की व्याख्या कर कालिदास की अर्थप्रकृति-पंचक रूप में नाटकीय वस्तुविभाग विषयक धारणा के परिज्ञानार्थ उनके नाटक में प्रयुक्त प्रत्येक अर्थप्रकृति को उदाहरण स्वरूप उल्लिखित किया जा रहा है। रूपक के प्रारम्भ में अत्यन्त अल्प रूप में संकेतित वह तत्त्व जो रूपक के फल का कारण है और नाटकीय वस्तु में विविध रूप में विकसित होता है, बीज कहलाता है। यह मुख्य फल का मुख्य उपाय है।[2] जैसे कृषक फल की कामना से धान्य आदि बीज निक्षेप करता है उसी प्रकार रूपक में प्रस्तावना के पश्चात् नायक आदि पात्र भी धर्म, अर्थ एवं काम रूप फल के निमित्त प्रारम्भ में ही सूक्ष्म रूप से बीज-वपन कर देता है। मातृगुप्ताचार्य ने फल बीज, वस्तुबीज तथा अर्थबीज के रूप में तीन प्रकार के बीज की कल्पना की है :—

'फले यस्य हि संहारः फलबीजं तु तद्भवेत् ॥
वस्तुबीजं कथा ज्ञेया अर्थबीजं तु नायकः ॥'

अभिज्ञानशाकुन्तलम् नाटक के प्रथम अंक के आरम्भ में वैखानस की इस उक्ति 'एष चास्मद्गुरोः कण्वस्य कुलपतेः' से लेकर राजा दुष्यन्त की इस उक्ति—"सा खलु विदित भक्तिर्मां महर्षये निवेदयिष्यति" तक नाटक की मुख्य कथा-वस्तु के फल का बीज है। इस कथोपकथन से स्पष्ट हो जाता है कि वैखानस ने राजा को आश्रम में जाने के लिए उत्साहित किया तथा राजा ने उसे स्वीकार किया। ये दोनों बातें संयुक्त होकर पूर्णबीज हैं। इसी बीज ने अनेक प्रकार से नाटकीय कथानक को विकसित किया है।

---

१ अर्थप्रकृतयः पंच ज्ञात्वा योज्या यथाविधिः। (नाट्यशास्त्र १९।२१)।

२ स्वल्पोद्दिष्टस्तु तद्धेतुर्बीजं विस्तार्यनेकधा।१।१७। पूर्वार्द्ध (दशरू०)
—सा० द० ६।६५, पृ० ३९८, ना० द० प्रथम विवेक।

विक्रमोर्वशीयम् के प्रथम अङ्क में उर्वशी के इस कथन में—(राजानमवलोक्य आत्मगतम्) उवकिदं क्खु दाणवेहिं।—में राजा पुरूरवा के लिए उसकी अभिलाषा की प्रथम अवस्था का पता चलता है तथा राजा पुरूरवा के 'प्रकृतिस्थामुर्वशीं निर्वर्ण्य' इत्यादि कथन में उर्वशी के लिए उसकी भी अभिलाषा की प्रथम अवस्था मालूम पड़ती है। इस प्रकार परस्पर दर्शन से नायक एवं नायिका दोनों की एक दूसरे के प्रति जागृत अभिलाषा इस त्रोटक की कथावस्तु के फल का बीज है।

अवान्तर कथा के विच्छिन्न हो जाने पर इतिवृत्त को जोड़ने तथा आगे बढ़ाने के लिए जो कारण होता है, उसे बिन्दु कहा जाता है।[1] कहने का तात्पर्य यह है कि नाटकीय वस्तु में आवश्यक कार्यजन्य व्यवधान के निवारणार्थ जो नायकादिगत उपायानुसंधान की योजना होती है उसे बिन्दु कहते हैं। यह अवच्छेदकारण विन्दु नाटकीय वृत्त में आगे चल कर पानी में गिरने पर तेल की बुन्दों के समान सम्पूर्ण कार्य व्यापार में फैल जाता है। अभिनवगुप्त के मतानुसार बिन्दु को रूपक में परिव्याप्त ज्ञानरूप तथा विचाररूप इतिवृत्तभाग माना गया है। बीज नामक अर्थप्रकृति से मुख्य सन्धि का उन्मेष होता है तथा बिन्दु से दोनों का विमर्श होता है।[2]

अभिज्ञानशाकुन्तलम् के प्रथम अङ्क के अन्त में एवं द्वितीय अङ्क के प्रारम्भ में राजा दुष्यन्त के मृगयावृत्तान्त से विच्छिन्न हुई दोनों (दुष्यन्त और शकुन्तला) के पारस्परिक अनुराग की कथा उसकी (राजा की) इस उक्ति से पुनः जुड़ जाती है। "सखे माधव्य! अनाप्तचक्षुः फलोऽसि येन त्वया द्रष्टव्यानां परं न दृष्टम्।" से लेकर "सर्वतः खलु कान्तमात्मानं पश्यति। अहन्तु तामेवाश्रमललामभूतां शकुन्तलामधिकृत्य ब्रवीमि" तक बिन्दु नामक अर्थप्रकृति की योजना है। राजा के इस कथन से प्रधान कथानक पुनः आरम्भ होता है।

'विक्रमोर्वशीयम्' के द्वितीय अङ्क में उर्वशी आदि के स्वर्ग में चले जाने पर उत्कण्ठित राजा पुरूरवा के इस कथन—

'आदर्शनात्प्रविष्टा सा मे सुरलोकसुन्दरी हृदयम्।
बाणेन मकरकेतोः कृतमार्गमवन्ध्यपातेन ॥२।२॥

---

१ अवान्तरार्थविच्छेदे बिन्दुरच्छेदकारम्।६। ६६॥
प्रयोजनानां विच्छेदे यदविच्छेदकारणम्।
यावत्समाप्तिर्बन्धस्य स बिन्दुः परिकीर्तितः॥ (ना० शा०)

२ अभिनव भारती—भाग ३, पृ० १४।

से पता चलता है कि उसके (उर्वशी के) प्रति स्मृति जागृत है। राजा उर्वशी के लिए व्याकुलता तथा उसके पूर्व कृत्यों का स्मरण मुख्य कथावस्तु को जोड़ता है। यह स्मृति त्रोटक की समस्त घटनाओं में व्याप्त है।

जो प्रासंगिक इतिवृत्त सानुबन्ध होता है तथा रूपक में दूर तक चलता है, वह पताका कहलाता है।[1] यह व्यापक प्रासंगिक इतिवृत्त प्रधानफल का सहायक होता है।[2] पताकारूप प्रासंगिक इतिवृत्त का नायक आधिकारिक नायक विषयक फल के अलावे उसका अन्य कोई भी फल उपनिबद्ध नहीं किया जाता। इस पताकानायक के अपने फल का उपनिबन्ध गर्भ सन्धि अथवा विमर्श सन्धि में ही समाप्त हो जाता है।[3] नाट्यदर्पणकार के विचार से अपने अर्थ में प्रवृत्त जो चेतन हेतु प्रधान इतिवृत्त के प्रयोजन को सम्पादित कराता है, उसे 'पताका' कहते हैं।[4] उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि दशरूपककार ने पताका एवं प्रकरी को प्रासंगिक इतिवृत्त का ही दो भेद माना है। इसके विपरीत नाट्यदर्पणकार ने नायक के सहायक और उससे सम्बद्ध नाटकीय वस्तु को पताका माना है। उनके विचार से ऐसा किये बिना इसको (पताका को) अर्थप्रकृति का प्रकार नहीं माना जा सकता है। साहित्यदर्पणकार आचार्य विश्वनाथ के विचार से अभिज्ञानशाकुन्तलम् में विदूषक का वृत्तान्त जो नाटक के द्वितीय अङ्क से षष्ठ अङ्क तक व्याप्त है, पताका है। लेकिन दुर्वासा के शाप तथा अँगूठी के प्रसंग को भी पताका माना जा सकता है, क्योंकि शाप का प्रभाव एवं अँगूठी का वृत्तान्त पूरे नाटक में परिव्याप्त है। वस्तुतः विदूषक एवं अँगूठी दोनों के वृत्तान्तों को निर्दोष-रूप से हम पताका मान सकते हैं। किसी नाटक का एक से अधिक पताका होने में कोई हर्ज नही है। यथाप्रसंग यहाँ 'पताकास्थानक' भी विवेचनीय है। नाटकीय वस्तु में चमत्कारपूर्ण प्रवाह लाने के लिए पताकास्थानक का प्रयोग किया जाता है।[5] अभिनवगुप्त के कथनानुसार 'पताकास्थानक' एक प्रकार का इतिवृत्त ही

---

१ दशरूपक—सानुबन्धं पताकाख्यम् ।१।१३

२ व्यापी प्रासंगिकं वृत्तं पताकेत्यभिधीयते ।६।६७ पूर्वार्द्ध (साहित्यदर्पण)

३ पताकानायकस्य स्यान्न स्वकीयं फलान्तरम् ।६७॥
गर्भे सन्धौ, विमर्शे वा निर्वाहस्तस्य जायते। (साहित्यदर्पण, परि० ६)।

४ अभिनवभारती-भाग ३, पृ० १८।
स्वार्थाय प्रवृत्तो यो हेतुश्चेतनः परस्य प्रधानस्य प्रयोजनं सम्पादयति स प्रसिद्धि प्राशास्यत्यहेतुत्वात् पताकेव पताका—नाट्यदर्पण, पृ० ३९।

५ पताकास्थानकं योज्यं सुविचार्येह वस्तुनि ।।४४।। (साहित्यदर्पण, परि० ६)

है। इस इतिवृत्त-प्रकार की योजना प्रधान इतिवृत्त में विचित्रता का आधान किया करता है।[1]

'पताका एवं पताकास्थानक रूप इतिवृत्त में भेद है। रूपक में पताका प्रधान इतिवृत्त का उपकारक होता है। अतः यह किसी निश्चित स्थान पर तथा पर्याप्त समय तक निरन्तर चलनेवाला वृत्त होता है। लेकिन पताकास्थानक तो यत्र-तत्र नाट्य के सौंदर्य को बढ़ाने के लिए होता है। नाट्यदर्पणकार ने इसे नाट्य का मंडन कहा है—

चिन्तितार्थापरप्राप्तिर्वृत्ते यत्रोपकारिणी।
पताकास्थानकं तत्तु चतुर्धा मंडनं क्वचित् ॥

धनंजय के अनुसार जहाँ प्रस्तुत भावी वस्तु के समान वृत्त या समान विशेषण के द्वारा अन्योक्तिमय सूचना हो उसे पताकास्थानक कहते हैं।[2] धनिक ने स्पष्ट करते हुए लिखा है कि कभी-कभी नाटककार रूपक में एक स्थान पर भविष्य में घटित होने वाली घटना का संकेत कर देता है। ध्वजा के समान भावी इतिवृत्त की सूचना देने के कारण यह सूचना पताकास्थानक कही जाती है। इसके दो भेद हैं :—(१) तुल्य इतिवृत्त अन्योक्ति रूप और (२) तुल्य विशेषण समासोक्ति रूप। भरतमुनि ने इसे विशेष रूप से स्पष्ट किया है। विश्वनाथ ने उन्हीं का अनुकरण किया है। भरत के अनुसार जहाँ किसी अर्थ के चिन्तन के समय नाटक आदि के भावी पदार्थ होने के कारण उसी चिह्न वाले अन्य अर्थ का भी प्रयोग किया जाय, वहाँ पताकास्थानक होता है।[3] यथा मालविकाग्निमित्रम् कि तृतीय अङ्क में वकुलावलिका का यह कथन पताकास्थानक है—

'एष उपारूढराग उपभोगक्षमः पुरतस्ते दृश्यते' (पृ० २१३)

जहाँ धनंजय एवं धनिक दो प्रकार के पताकाथानक मानते हैं वहाँ भरत[4] एवं उनके अनुयायी निम्नलिखित चार प्रकार के मानते हैं।—जहाँ अकस्मात् प्रेमानुकूल व्यापार के कारण अभीष्ट अर्थ की सिद्धि हो वहाँ प्रथम पताकास्थानक होता है। जब अत्यधिक श्लिष्ट वचनयुक्त काव्य-बन्ध होता है तो उसे द्वितीय पताकास्थानक कहते हैं। यथा, अभिज्ञानशाकुन्तलम् के तृतीय अङ्क में दुष्यन्त के प्रेम-व्यापार

१ तेन पताकास्थानकमितिवृत्तमेवोच्यते। तत्र वर्ण्यमानं तु जडाजडरूपं पताकासदृशमित्यर्थादुक्तं भवति। स चान्योऽर्थस्तल्लिङ्गस्तन्मुखमर्थं लिगयति विचित्रयतीति।—अभिनवभारती १९।३०।

२ प्रस्तुतागन्तुभावस्य वस्तुनोऽन्योक्तिसूचकम्।
पताकास्थानकं तुल्यसंविधानविशेषणम् ॥१।१४। (दशरूपक)

३ ना० शा० २१।३१

४ वही २१।३२-३५

में मस्त रहने पर नेपथ्य से इस उक्ति—"चक्कवाकवहुए ! आमन्ते हि सहअरं। उवट्ठिआ रअणी" से शकुन्तला को दुष्यन्त विदा होने का संकेत दिया गया है क्योंकि गौतमी आ रही है। यहाँ श्लिष्ट पदों द्वारा नाटकीय व्यंग्य है। जहाँ वक्ता का अर्थ अव्यक्त, लेकिन निश्चय के साथ हो एवं श्लिष्ट उत्तरयुक्त हो वहाँ तीसरा पताकास्थानक होता है। यथा, अभिज्ञानशाकुन्तलम् के चतुर्थ अङ्क के इस श्लोक—

'अन्तर्हिते शशिनि सैव कुमुद्वती मे
दृष्टिं न नन्दयति संस्मरणीयशोभा।
इष्टप्रवासजनितान्यबलाजनस्य
दुःखानि नूनमतिमात्रसुदुःसहानि' ।।४।३

से यह ध्वनि निकल रही है कि शकुन्तला को शीघ्र राजा दुष्यन्त के समीप भेज देना चाहिए। इस गूढ़ार्थ के होने से यहाँ तीसरा पताकास्थानक है। जब काव्य का वचन-विन्यास द्व्यर्थक, सुश्लिष्ट तथा अन्य वस्तु के उपन्यास से युक्त होता है तब चतुर्थ पताकास्थानक होता है।

इन चारों पताकास्थानकों का प्रयोग नाट्यकार यथावश्यकता स्वतन्त्रतापूर्वक जितनी बार चाहे कर सकता है। इसका प्रयोग नाट्य में प्रभावोत्पादक होता है। आचार्य अभिनव गुप्त भी इस विचार से सहमत हैं।[1] इसके प्रयोग के लिए संधिगतबन्धन अनिवार्य नहीं है। कालिदास ने पताकास्थानक का भी उपयुक्त प्रयोग कर नाट्यकला पर अपने असाधारण अधिकार का परिचय दिया है।

प्रकरी वह अर्थप्रकृति है जो अल्पदेशव्यापक प्रासंगिक इतिवृत्त के रूप में सिर्फ आधिकारिक वृत्त के सहायतार्थ विनियुक्त किया जाता है।[2] इसका भी कोई नायक होता है, लेकिन उसका कोई निजी फल नही होता। प्रकरी नायक के सभी कार्य आधिकारिक नायक की कार्यसिद्धि मे सहायक होते हैं। यह ध्यातव्य है कि रूपक में पताका एव प्रकरी की योजना आनवाय नही, अपितु वैकल्पिक है।

---

१ अभिनव भा० भाग—३, पृ० २२।४—

२ प्रासंगिकं प्रदेशस्थं चरितं प्रकरी मता। ६।६८ (सा० द०)—
फलं प्रकल्प्यते यस्याः परार्थायैव केवलम्।
अनुबन्धविहीनत्वात् प्रकरीति विनिर्दिशेत्।। (ना० शा० १९।२५)

अभिज्ञानशाकुन्तलम् के षष्ठ अंक में इन्द्र के सारथी मातलि का वृत्तान्त तथा सानुमती अप्सरा का वृत्तान्त प्रकरी है। सानुमती का वृत्तान्त नायिका की ओर पुनर्मिलन कराने में तथा मातलि का वृत्तान्त नायक की ओर से मिलन कराने में सहायक है।

कार्यरूप अर्थप्रकृति का अभिप्राय उस साध्य से है, जिसके लिए नायक के कृत्यों का आरम्भ होता है तथा जिसकी सिद्धि में नायक का कृत्यानुष्ठान समाप्त होता है।[1] इस कार्यरूप अर्थप्रकृति के निरूपण में काफी मतान्तर है। भरत-मुनि का कहना है कि जिस अर्थ के लिए आधिकारिक कथावस्तु प्रयुज्यमान होती है, उसकी पूर्ति को कार्य कहते हैं।[2] नाट्यदर्पणकार के विचार से बीजरूप में उपक्षिप्त नायक के उपाय से सम्बद्ध कथानक की सफलता सम्पूर्णता को कार्य कहते हैं।[3] धनंजय के कथनानुसार, धर्म, अर्थ एवं काम-रूप फल ही कार्य है। इसकी प्राप्ति के लिए नायक के कार्यारम्भ आदि का चित्रण किया जाता है। धनिक ने इसकी वृत्ति में लिखा है कि यह कार्य 'महाकार्य' अवान्तर कार्य आदि अनेक रूपों में बँटा रहता है! यह कार्य बीज का सहकारी साधन नहीं अपितु उसका साध्य है।[4] यह कार्यरूप फल उपर्युक्त त्रिवर्ग में से कभी एक, कभी दो तथा कभी तीनों हो सकता है। अभिनवगुप्त ने इसे स्पष्ट करते हुए लिखा है कि प्रधान उपाय तो बीज है, लेकिन उसका सहायक उपाय कार्य रूप है—कार्यते फलम् इति कार्यम्। कहने का तात्पर्य है कि नाटककार द्वारा बीज रूप से निक्षिप्त वृत्तविशेष की सफलता के लिए नियोजित जो भी वृत्त वैचित्र्य है, वह सब कार्यरूप है। इससे स्पष्ट है कि बीज और कार्य में साध्य-साधन का सम्बन्ध नहीं है।

अभिज्ञानशाकुन्तलम् के सप्तम अंक में दुष्यन्त एवं शकुन्तला का पुनर्मिलन कार्य है। राजा दुष्यन्त के इस कथन—"प्रिये! क्रौर्यमपि मे त्वयि प्रयुक्तमनुकूल-परिणामं संवृत्तं यदहमिदानीं त्वया प्रत्यभिज्ञातमात्मानं पश्यामि।" से लेकर मातलि की इस उक्ति—"दिष्ट्या धर्मपत्नी समागमेन पुत्रमुखदर्शनेन चायुष्मान् वर्धते।" तक में इसकी सूचना दी गई है।

---

१ सा० द० ६।६९-७० पूर्वार्द्ध।

२ यदाधिकारिकं वस्तु सम्यक् प्राज्ञैः प्रयुज्यते।
तदर्थो यः समारम्भस्तत्कार्यं परिकीर्तितम् ॥१९।२६ (ना० शा०)

३ ना० द० प्रथम विवेक।

४ दशरूपक (भोलाशंकर व्यास)—कार्यं त्रिवर्गस्तत् शुद्धमेकानेकानुबन्धि च ।१।१६।

विक्रमोर्वशीयम् के पंचम अंक में पुरूरवा, उर्वशी एवं उनके पुत्र आयु का समागम ही कार्य नामक अर्थप्रकृति है। नारद के इस कथन—"अविरहितौ दम्पती भूयास्ताम्" से इसकी सूचना दी गई है।

उपर्युक्त पाँचों उपाय सर्वत्र अनिवार्य नहीं हैं। यथावश्यकता रूपक में इनका प्रयोग किया जाता है। आदि से अन्त तक स्थिति के कारण बीज एवं बिन्दु की प्रमुखता है। पताका, प्रकरी एवं कार्य इन तीन उपायों में से प्रधान फल की उपयोगिता की दृष्टि से कहीं एक, कहीं दो तथा कहीं-कहीं तीनों की प्रधानता एवं गौणता होती है। अभिज्ञानशाकुन्तलम् में पाँचों उपायों का प्रयोग किया गया है।

रूपक का प्रमुख प्रयोजन फल में निहित है। ऊपर स्पष्ट किया गया है कि यही फल कथा का कार्य है, जिसका विस्तार रूपक में सर्वत्र रहता है। फलोद्देश्य से किये गये कार्य पाँच अवस्थाओं में दृष्टिगत होते हैं। नाट्यशास्त्र में इन अवस्थाओं को कार्यावस्था के नाम से अभिहित किया जाता है। वे कार्यावस्थाएँ निम्नलिखित हैं:—(१) आरम्भ, (२) यत्न, (३) प्राप्त्याशा, (४) नियताप्ति और (५) फलागम।[1] अभिनव गुप्त के मतानुसार यह अवस्थापंचक त्रिविध है। इस अवस्थापंचक का सम्बन्ध नायक की मनोदशा से होता है। अतः इसमें कार्य की सिद्धि के लिए नायक की मानसिक प्रवृत्ति एवं उसके व्यक्तित्व के क्रमिक विकास-चित्रण का विश्लेषण किया जाता है। इस अवस्थापंचक का सम्बन्ध नायक के साथ-साथ नाटककार से भी है। वास्तविक जीवन के अवस्थापंचक को नाटककार अपने काव्य-कौशल से नाटक के अवस्थापंचक में परिणत कर देता है। रूपक में इसकी (अवस्थापंचक की) सम्यक् योजना के लिए ही अर्थप्रकृतिपंचक की योजना यथास्थान आवश्यकतानुसार की जाती है।

---

१ संसाध्ये फलयोगे तु व्यापारः कारकस्य यः।
तस्यानुपूर्व्या विज्ञेयाः पंचावस्थाः प्रयोक्तृभिः ॥७॥
प्रारम्भश्च प्रयत्नश्च तथा प्राप्तेश्च संभवः।
नियता च फलप्राप्तिः फलयोगश्च पंचमः ॥८॥ ना० शा० अ० १९
—अवस्थाः पच कार्यस्य प्रारब्धस्य फलार्थिभिः ॥७०॥
आरम्भयत्नप्राप्त्याशानियताप्तिफलागमाः। (सा० द० परि० ६)—
दशरू० १।१९।
अभिनवभारती—(ना० शा० १९।७-८)

मुख्य फल की प्राप्ति के लिए नायक की इच्छा में उत्सुकता मात्र का पाया जाना आरम्भ कहलाता है।[1] नाट्यदर्पणकार के विचार से इस औत्सुक्य के अनुरूप वाङ्मनस-व्यापार का होना भी अपेक्षित है।[2] अभिज्ञानशाकुन्तलम् के प्रथम अंक में—"अपि नाम कुलपतेरियमसवर्णक्षेत्रसम्भवा भवेत्? अथवा कृतं संदेहेन।

असंशयं क्षत्रपरिग्रहक्षमा यदार्य्यमस्यामभिलाषि मे मनः।
सतां हि संदेहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणं प्रवृत्तयः" ।१।२३

—इस उक्ति से राजा दुष्यन्त के अन्दर शकुन्तला की प्राप्ति की अभिलाषा व्यक्त की गयी है। इसी प्रकार इसी अंक में—"(आत्मगतम्) किं णु इमं पेक्खिअ तपोवणविरोहिणो विआरस्स गमणीअह्मि संवुत्ता।" शकुन्तला की इस उक्ति से राजा दुष्यन्त के प्रति उसकी उत्सुकता प्रकट करायी गई है। परस्पर एक दूसरे के प्रति दोनों का अंकुरित होने वाला प्रेम प्रथम अंक के अन्त तक क्रमशः अधिकाधिक प्रकट होता गया है। उपर्युक्त स्थल से प्रथम अंक के अन्त तक का भाग आरम्भ नामक कार्यावस्था है।

अभीप्सितार्थ की प्राप्ति न होने पर, उसे पाने के लिए अत्यधिक तेजी के साथ जो योजनाबद्ध व्यापार (चेष्टा) होता है, उसे प्रयत्न कहते हैं।[3] स्पष्ट है कि आरम्भावस्था में उत्सुकता मात्र रहती है, लेकिन प्रयत्नावस्था में परम औत्सुक्य पाया जाता है।[4] इस अवस्था में नायक एवं नायिका दोनों अपनी अभीष्ट वस्तु को प्राप्त करने के व्यापार में संलग्न रहते हैं। अभिज्ञानशाकुन्तलम् के द्वितीय अंक में दुष्यन्त की इस "तपस्विभिः कैश्चित् परिज्ञातोऽस्मि"—उक्ति से फलप्राप्ति के लिए यत्न शुरू होता है। यह कार्य इस नाटक के तृतीय अंक तक चलता है। इस नाटकीय कथांश में दोनों ओर से एक दूसरे की प्राप्ति के लिए यत्न होता है। यही इस नाटक की प्रयत्न नामक द्वितीय कार्यावस्था है। विक्रमोर्वशीयम् में राजा पुरूरवा की इस उक्ति 'तदुपायश्चिन्त्यतां यथा सफल-प्रार्थनो भवेयम्'—से उसके अपने कार्य की सिद्धि के लिए प्रयत्न शुरू हो जाता है।

---

१ औत्सुक्यमात्रमारम्भः फललाभाय भूयसे।—पूर्वार्द्ध (दशरू०)
—सा० द० ६।७१ (पूर्वार्द्ध)

२ —उपायविषयमौत्सुक्यमौत्सुक्यानुगुणो व्यापारश्चारम्भावस्थेत्यर्थः।
(ना० द० प्र० विवेक)

३ प्रयत्नस्तु तदप्राप्तौ व्यापारोऽतित्वरान्वितः।१।२० (दशरू०)

४ औत्सुक्यमारम्भः परमौत्सुक्यं तु प्रयत्न इत्यर्थः (ना० द० प्र० विवेक)।

नायक की कार्यसिद्धि की चौथी अवस्था **प्राप्त्याशा** है। इस अवस्था में फल-प्राप्ति की संभावना उपाय एवं विघ्नशंका दोनों के बीच दोलायमान रहती है तथा फलसिद्धि के साधक एवं बाधक तत्त्वों के पारस्परिक द्वन्द्व में फलप्राप्ति की आशा (संभावना) बनी रहती है।[1] इससे स्पष्ट मालूम पड़ता है कि इस अवस्था में नायक चरितों के अन्तर्द्वन्द्व एवं बहिर्द्वन्द्व भी सन्निहित है। अथवा यों कहा जा सकता है कि यह अवस्था नायकचरितों के अन्तर्द्वन्द्व एवं बहिर्द्वन्द्व की ही अभिव्यंजना है। नाट्यदर्पणकार के अनुसार हेतुमात्र से फलसिद्धि की थोड़ी संभावना प्राप्त्याशा है।[2]

अभिज्ञानशाकुन्तलम् के चतुर्थ एवं पंचम अंक में प्राप्त्याशा नामक तृतीय अवस्था है। राजा दुष्यन्त द्वारा शकुन्तला को बुलाने के लिए राजधानी से दूत भेजने के दिये गये आश्वासन से मिलन की संभावना, दुर्वासा के शाप से मिलन में विघ्न, अभिज्ञान दिलाकर शाप के प्रभाव को विनष्ट किये जाने के उपाय से मिलन की पुनः संभावना, राजमहल में जाने पर दुष्यन्त द्वारा प्रत्याख्यान तथा नदी में अँगूठी के गिर जाने से विघ्न उपस्थित होते हैं। इस प्रकार उपाय एवं विघ्नों के बीच यहाँ प्राप्त्याशा है। इसी प्रकार विक्रमोर्वशीयम् के तृतीय अंक में रानी धारिणी द्वारा किये गये विघ्नों से निरस्त हो जाने पर नायिका से मिलन की आशा हो जाती है। अतः यहाँ प्राप्त्याशा नामक तृतीय कार्यावस्था है।

जब विघ्न के अभाव के कारण फलसिद्धि सुनिश्चित हो जाती है तब **नियताप्ति** नामक चतुर्थ कार्यावस्था होती है।[3] नाट्यदर्पणकार के मतानुसार उपायों के सफल होने से भावी कार्य की प्राप्ति का निणय नियताप्ति है।[4]

अभिज्ञानशाकुन्तलम् के षष्ठ अंक में अभिज्ञानांगुलीयक के मिल जाने के कारण दुर्वासा के शाप का प्रभाव समाप्त हो जाने पर सारे विघ्न दूर हो जाते हैं। फलतः नायक एवं नायिका का मिलन भी सुनिश्चित हो जाता है। सानुमती के इस कथन—"देवा एव्व तह अणु चिट्ठस्सन्ति जह अट्टरेण धम्मपदिणि भट्टा अहिणन्दिस्सदित्ति" से निश्चित प्राप्ति सूचित होती है। विक्रमोर्वशीयम् के

---

१ उपायापायशङ्काभ्यां प्राप्त्याशा प्राप्तिसंभवः।२१। पूर्वार्द्ध (दशरू०)
—सा० द० ६।७२ उत्तरार्द्ध।

२ फलसंभावना किंचित् प्राप्त्याशा हेतुमात्रतः।—(ना० द० प्र० विवेक)

३ अपायाभावतः प्राप्तिर्नियताप्ति सुनिश्चिता।१।२१ (दशरू०)
—सा० द० ६।७३ पूर्वार्द्ध

४ नियताप्तिरुपायानां साकल्यात् कार्यनिर्णयः। (ना० द० पृ० ४६)

चतुर्थ अंक में 'गौरीचरणरागसंभव संगमनीय मणि' की प्राप्ति से मिलन की संभावना निश्चित हो जाती है। सहजन्या के इस कथन—"अवस्सं किंपि अणुग्गहणिमित्तं भूओवि समाअमकारणं हविस्सदि" से नायक-नायिका के निश्चित समागम की सूचना मिलती है। अतः यहाँ नियताप्ति नामक चतुर्थ कार्यावस्था है।

समस्त फल की प्राप्ति ही कार्य की फलागम नामक अन्तिम अवस्था है।[1] यहाँ समस्त विशेषण का अभिप्राय यह है कि जहाँ अधूरा मिलन होगा वहाँ नियताप्ति ही होगी। नाट्यदर्पणकार का कहना है कि नायक के साक्षात् अभीष्ट अर्थ की प्राप्ति फलागम है।[2] उनके कथन का अभिप्राय यह है कि नायक का समग्र फल लाभ नहीं, अपितु उसके समग्र फल के लाभ का आरम्भ है। फलप्राप्ति फलागम नहीं अपितु फलोत्पत्ति फलागम है।[3]

अभिज्ञानशाकुन्तलम् से सप्तम अंक में दुष्यन्त एवं पुत्र सर्वदमन के साथ शकुन्तला का मिलन कार्य की फलयोग अवस्था है। महर्षि मारीच के इस कथन में फलागम नामक कार्यावस्था का स्पष्ट उल्लेख मिलता है :—

"दिष्ट्या शकुन्तला साध्वी सदपत्यमिदं भवान्।
श्रद्धा वित्तं विधिश्चेति त्रितयं तत्समागतम् ॥७।२९॥"

विक्रमोर्वशीयम् के अन्तिम अंक में पुरूरवा, उर्वशी एवं उसके पुत्र आयु का सुखमय मिलन होता है। नारद के इस कथन.............. "इयं चोर्वशी यावदायुस्तव सहधर्मचारिणी भवत्विति"—से पता चलता है कि उर्वशी राजा पुरूरवा के जीवन पर्यन्त सहधर्मचारिणी बनी रहेगी। यह नायक का अभीष्ट फलयोग है। अतः यहाँ फलागम नामक पंचम अवस्था है। उपर्युक्त कार्य की पंचावस्थाओं का विभाग कालिदास ने नायक की मानसिक स्थिति के आधार पर किया है।

पांच अर्थप्रकृतियों एवं पांच कार्यावस्थाओं के मेल के आधार पर नाटकीय वस्तु का पुनः विभाग किया जाता है जिसे "सन्धि" कहते हैं।[4] प्रत्येक अर्थप्रकृति

---

१ समग्रफलसम्पत्तिः फलयोगो यथोदितः ।१।२२ पूर्वार्द्ध (दशरू०)
—सा० द० ६।७३ उत्तरार्द्ध ।

२ साक्षादिष्टार्थसम्भूतिर्नायकस्य फलागमः। (ना० द० पृ० ४६)।

३ ना० द० प्र० विवेक।

४ अर्थप्रकृतयः पंच पचावस्थासमन्विताः ।२२। उत्तरार्द्ध
यथासांख्येन जायन्ते मुखाद्याः पंचसन्धयः। (दशरूपक)
—यथासंख्यमवस्थाभिराभिर्योगात्तु पंचभिः।
पंचधैवेतिवृत्तस्य भागाः स्युः पंचसन्धयः ॥६। ७४॥ (सा० द०)।

का क्रमशः प्रत्येक अवस्था के मेल से पाँच सन्धियों के स्वरूप का निर्माण होता है। स्पष्ट है कि पाँचों अर्थप्रकृति रूपी वृत्तभेद के साथ पाँचों अवस्थाओं की क्रमिक सम्बद्ध योजना के कारण नाटकीय इतिवृत्त के पाँच भाग होते हैं। उन्हें ही पाँच सन्धियाँ कहते हैं। सन्धि का अभिप्राय प्रधान इतिवृत्त के साथ परस्पर सम्बद्ध अन्य अवान्तर इतिवृत्त खण्डों का सम्बन्ध है।[1] अर्थात् नाटक के इतिवृत्त खण्डों का अपने-अपने उद्देश्य से विशेषों के साथ जो सम्बन्ध होता है उसे तो सन्धि कहते ही हैं, साथ ही इन परस्पर सम्बद्ध इतिवृत्त खण्डों और उनके उद्देश्यों का प्रधान नाटकीय इतिवृत्त तथा उनका मुख्य उद्देश्य के साथ जो सम्बन्ध है, उसे भी सन्धि ही कहते हैं। नाट्यदर्पणकार के विचार से नाटक के इतिवृत्तांश परस्पर अपने रूप से तथा अंगों से मिलते हैं, अतः सन्धि कहलाते हैं। यह पंचविध रूपकार्थराशि ही सन्धिपंचक है।[2] सन्धियों के बारे में आचार्यों में दो मत हैं। अभिनवगुप्त प्रभृति आचार्य नाटकीय प्रधान कथांश को उसके स्वरूप तथा अंग से सम्बद्ध करने वाले तत्त्व को सन्धि कहते हैं तथा उन्हें अवस्थाओं से अनुगत सिद्ध करते हैं। धनंजय, धनिक, शारदातनय तथा विश्वनाथ आदि आचार्य अवस्थाओं एवं अर्थप्रकृतियों को जोड़नेवाले तत्त्व को सन्धि कहते हैं। सन्धि के ये पाँच भेद हैं[3]—(१) मुख, (२) प्रतिमुख, (३) गर्भ, विमर्श (अवमर्श) तथा (५) निर्वहण (उपसंहृति)। जिन रूपकों मे जितनी कार्यावस्थाओं का प्रदर्शन होगा, उतनी ही सन्धियों का भी नियोजन किया जायगा। इन पाँचों सन्धियों में मुख एवं निर्वहण सन्धियों की ही प्रमुखता है, क्योंकि शेष तीन का यथावसर परित्याग भी किया जा सकता है। कालिदास के रूपकों में पाँचों सन्धियों का प्रयोग किया गया है। ऊपर सन्धि के स्वरूप के बारे में बताया गया है कि धनंजय आदि आचार्यों के विचार से सन्धियों में आरम्भ आदि अवस्थाओं तथा बीज आदि अर्थप्रकृतियों का सन्निवेश पाया जाता है। इसके विपरीत अभिनवगुप्त एवं नाट्यदर्पणकार आदि

---

१ अन्तरैकार्थसम्बन्धः सन्धिरेकान्वये सति ।१। २३ (दशरूपक)—सा० द०६। ७५ पूर्वार्द्ध ।

२ सन्धयो मुख्यवृत्तांशाः पंचावस्थानुगाः क्रमात् ।—(ना० द०प्र० विवेक) —अभिनवभारती : ना० शा० १९।३७।

३ मुखं प्रतिमुखं चैव गर्भो विमर्श एव च ।
तथा निर्वहणं चेति नाटके पंचसन्धयः ॥—(ना० शा० १९।३७)—दशरू० १। २४ पूर्वार्द्ध सा० द० ६।७५

के मतानुसार सन्धिपंचकों के लिए अवस्थापंचकों का उपनिवन्धन तो आवश्यक है, किन्तु अर्थप्रकृतिपंचकों का नहीं। वस्तुतः अवस्थापंचकों के साथ सन्धियों का सम्वन्ध औचित्यपूर्ण है, किन्तु अर्थप्रकृतियों के साथ नहीं। अर्थप्रकृतियों के सन्निवेश के सम्वन्ध में भरतमुनि भी मौन हैं। अनिवार्यरूप से अर्थप्रकृतियों के साथ सन्धियों के सम्वन्ध को मान लेने पर अनेक विप्रतिपत्ति की स्थितियाँ आ सकती हैं। कालिदास ने विक्रमोर्वशीयम् में पंचसन्धियों में अवस्थापंचकों का तो विभाग दिखाया है किन्तु पताका और प्रकरी नामक अर्थप्रकृतियों का नहीं। अभिज्ञानशाकुन्तलम् में पाँचों सन्धियों में पाँचों अवस्थाओं एवं पाँचों अर्थप्रकृतियों का सन्निवेश मिलता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि पंचसन्धियों के लिए अवस्थापंचक तो अनिवार्य है, किन्तु अर्थप्रकृतिपंचक नहीं। विना पताका एवं प्रकरी के भी क्रमशः गर्भ एवं अवमर्श सन्धि सम्भव है। पताका एवं प्रकरी का प्रयोग नाटककार की इच्छा पर निर्भर है।

नाटक की पहली सन्धि 'मुखसन्धि' है। इसमें नाटकीय वस्तु के वीज की सूचना दी जाती है। वीज की उत्पत्ति तथा रस के आश्रयभूत मुख्य इतिवृत्त का सर्वत्र प्रथम दृष्टिगत होनेवाला अंश मुखसन्धि कहा जाता है। आरम्भावस्था के साथ होने के कारण तथा प्रधानवृत्त के मुख की तरह होने के कारण यह मुखसन्धि कहलाता है।[1] भरतमुनि के मतानुसार मुख्य उपाय की सम्यक् उत्पत्ति का जो कारणभूत तत्त्व है, जिससे अर्थविकास के लिए अनेक रसों की उत्पत्ति सम्भव है तथा परम्परित रूप से जिससे विचित्र आस्वाद की उत्पत्ति होती है उसे मुखसन्धि कहते हैं।[2]

अभिज्ञानशाकुन्तलम् में प्रस्तावना के तुरन्त बाद–"ततः प्रविशति मृगानुसारी सशरचापहस्तो राजा" से लेकर द्वितीय अङ्क में "इत्युभौ परिक्रम्योपविष्टौ" तक मुखसन्धि है। विक्रोर्वशीयम् में प्रथम अंक से लेकर द्वितीय अंक के प्रवेशक तक मुखसन्धि है।

मुखसन्धि में वीज अल्प रूप से ही प्रकाशित रहता है, किन्तु प्रतिमुखसन्धि में प्रधानोपाय के उद्‌घाटन से वीज का प्रवल रूप में प्रकाशन होता है। अर्थात् मुखसन्धि में वोया गया वीज प्रतिमुखसन्धि में फूटने लगता है। इसमें वीज कुछ

---

१ यत्र वीजसमुत्पत्तिर्नानार्थरमसम्भवा ।६। ७६ ॥
प्रारम्भेण समायुक्ता तन्मुखं परिकीर्तितम् । (सा० स०)--दशरू० (१।२४)।

२ यत्र वीजसमुत्पत्तिर्नानार्थरससम्भवा ।
काव्ये शरीरानुगता तन्मुखं परिकीर्तितम् । (ना० शा०)

अलक्ष्यदशा में ही रहता है। इसमें प्रयत्ननामक अवस्था होने के कारण फलप्राप्ति के निमित्त अधिक शीघ्रता से उद्योग होता है।[1] आचार्य विश्वनाथ के मतानुसार प्रतिमुखसन्धि में मुखसन्धि-विनष्ट बीज का इस तरह उद्भेद होता है जो लक्ष्य एवं अलक्ष्य दोनों रूप का रहा करता है।[2]

अभिज्ञानशाकुन्तलम् के द्वितीय अंक में राजा दुष्यन्त के इस कथन—'माढव्य ! अनाप्तचक्षुफलोऽसि। येन त्वया दर्शनीयं न दृष्टम्।' से लेकर तृतीय अंक के अन्त तक प्रतिमुखसन्धि है। विक्रमोर्वशीयम् के द्वितीय अंक में पुरूरवा के इस कथन—

आदर्शनात्प्रविष्टा सा मे सुरलोकसुन्दरीहृदयम्।
बाणेन मकरकेतोः कृतमार्गमवन्ध्यपातेन ॥२। २॥ से लेकर तृतीय अंक

के विदूषक के इस कथन—"णं दीसदि एव्व सा। किं दु तारिसं अनुराअं पेक्खिअ सक्कं क्खु आसबन्धेण अताअणं धारेदु" तक प्रतिमुखसन्धि है।

मुख एवं प्रतिमुखसन्धि में उत्पन्न एवं उद्घाटित बीज का उद्भेद गर्भसन्धि में होता है। फलोत्पत्ति की ओर अभिमुख होने के कारण इसे गर्भसन्धि कहते हैं।[3] फल-प्राप्ति की सम्भावना होने के कारण यह सन्धि प्राप्त्याशा नामक अवस्था से अनुगत होती है, इसमें फल गर्भित रहता है। नाट्यदर्पणकार का कथन है कि लाभालाभ की गवेषणा द्वारा जिसमें बीज का औन्मुख्य हो उसे गर्भसन्धि कहते हैं।[4] धनंजय के विचार से इस सन्धि में प्राप्त्याशा नामक तृतीय अवस्था एवं पताका नामक अर्थप्रकृति का मिश्रण होता है। लेकिन 'पताका' का होना अनिवार्य नहीं। वह हो भी सकता है, नहीं भी। इसमें प्राप्त्याशा का होना अनिवार्य है। इसमें प्राप्ति की सम्भावना तो होती है किन्तु, फल का ऐकान्तिक निश्चय नहीं हो पाता। यही इसकी निजी विशेषता है।

अभिज्ञानशाकुन्तलम् के चतुर्थ अंक के आरम्भ से पंचम अंक में गौतमी की इस उक्ति—"जादे ! मुहुत्तअं मा लज्ज ! अवण इस्सं दाव दे ओउण्ठणं। तदो तुमं भट्टा अहिजाणिस्सदि"' (इति यथोक्तं करोति)।' तक गर्भसन्धि है। यहाँ पताका

---

१ प्रतिमुखं कियल्लक्ष्यबीजोद्घाटसमन्वितः। (ना० द० प्र० वि०)

२ फलप्रधानोपायस्य मुखसन्धिनिवेशिनः। ७७।
लक्ष्यालक्ष्य इवोद्भेदो यत्र प्रतिमुखं च तत्। (सा० द० परि० ६)।

३ फलप्रधानोपायस्य प्रागुद्भिन्नस्य किंचन। ७८।
गर्भो यत्र समुद्भेदो ह्रासान्वेषणवान्मुहुः। (सा० द० परि० ६)।

४ बीजस्यौन्मुख्यवान् गर्भो लाभालाभगवेषणैः। (ना० द० प्र० वि०)।

नामक अर्थप्रकृति तथा प्राप्त्याशा नामक कार्यावस्था का योग है। विक्रमोर्वशीयम् के तृतीय अंक में राजा पुरूरवा के इस कथन—'एवमेतत्। बलवान्पुनर्मम मनसोऽभिताप:' से लेकर इसी अंक में औशीनरी की इस उक्ति—"अज्जउत्त अलङ्घिदपुव्वो मए णिअमो। (इति सपरिवारा निष्क्रान्ता)" तक गर्भ-सन्धि है। यहाँ 'पताका' नामक तृतीय अर्थप्रकृति का अभाव है। सिर्फ प्राप्त्याशा नामक तीसरी कार्यावस्था है।

विमर्श सन्धि को कई आचार्य अवमर्श भी कहते हैं। वहाँ विमर्श को सन्देहात्मक तथा अवमर्श को विघ्नात्मक कहा जाता है।[1] लेकिन नियताप्ति से अनुगत विमर्श सन्धि में आप्ति की सन्देहात्मकता नहीं सिद्ध की जा सकती है। धनंजय के मतानुसार जहाँ क्रोध से, व्यसन से या विलोभन (लोभ) से फल प्राप्ति के विषय में विचार किया जाय तथा गर्भसन्धि के द्वारा बीज को प्रकट कर दिया गया हो, वह अवमर्श सन्धि कहलाती है।[2] विघ्नों के आ जाने के कारण नायक फलप्राप्ति के बारे में सन्देह में पड़ जाता है। इसीलिए इसे विमर्श के नाम से भी अभिहित करते हैं। अनेक विघ्नों के होने पर भी इस सन्धि में नायक की प्रयत्नशीलता नियत रहती है। अतः यह सन्धि नियताप्ति नामक चतुर्थ कार्या-वस्था से अनुगत होती है।[3]

अभिज्ञानशाकुन्तलम् के पंचम अंक में राजा दुष्यन्त के इस कथन "(शकुन्तलां निर्वर्ण्य, आत्मगतम्) इदमुपनतमेवम्..........नैव शक्नोमि हातुम् ॥५।१९) (इति विचारयन् स्थितः)" से लेकर षष्ठ अंक की समाप्ति तक विमर्श (अवमर्श) सन्धि है। विक्रमोर्वशीयम् में गर्भ सन्धि के बाद उर्वशी के प्रवेश से लेकर चतुर्थ अंक के अन्त तक विमर्श सन्धि है। उर्वशी के लतारूप में परिवर्तित हो जाने से नियताप्ति में बाधा पड़ जाती है।

चारों सन्धियों एवं चारों अवस्थाओं के फल बीज की उत्पत्ति, उद्घाटन, उद्भेद, गर्भ और निर्भेद आदि लक्षणों से जिस सन्धि से समान रूप से लाये जाते हैं

---

१ अभिनवभारती—प्र० विवेक (१९।४२)

२ क्रोधेनावमृशेद्यत्र व्यसनाद्वा विलोभनात्।
गर्भनिर्भिन्नबीजार्थ: सोऽवमर्श इति स्मृतः ।१।४३ (दशरू०)
—सा० द० ६।७९ का उत्तरार्द्ध एवं ८० का पूर्वार्द्ध ।

३ ना० द० प्र० वि०।

उसे निर्वहण सन्धि कहते हैं। इसमें सभी सन्धियों, सभी अवस्थाओं की पृथक् वृत्ति से योजना आवश्यक है।[1] साहित्यदर्पणकार के मतानुसार निर्वहण सन्धि रूपक प्रबन्ध की वह अर्थराशि है जिनमें उन सन्धियों में जहाँ उपन्यस्त बीज आदि रूप नाटकीय कथांश प्रधान फल के निष्पादक बनते दिखाई देते है।

अभिज्ञानशाकुन्तलम् के सप्तम अंक के आरम्भ से लेकर अन्त तक निर्वहण सन्धि है। यहाँ सम्पूर्ण इतिवृत्तांश का उपसंहार हो जाता है। दुष्यन्त का सर्वदमन के साथ शकुन्तला से मिलन होता है। इसी प्रकार विक्रमोर्वशीयम् के पंचम अंक के आरम्भ से अन्त तक निर्वहण सन्धि है। वहाँ पुरूरवा, आयु और उर्वशी का मिलन होता है।

नाट्यशास्त्रियों ने उपर्युक्त पाँचों सन्धियों के भी सूक्ष्मातिसूक्ष्म विभाग किये हैं जिन्हें सन्ध्यंग कहते हैं। इन सन्ध्यंगों की कुल संख्या चौंसठ है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि नाटक का अंकों एवं सन्धियों में विभाजन का आधार अलग-अलग है, अतः यह आवश्यक नहीं है कि कोई सन्धि किसी अंक के शुरू से प्रारम्भ हो तथा अंकान्त में समाप्त हो। कभी-कभी एक ही अंक में एक से अधिक सन्धियाँ हो सकती हैं तथा कभी एक सन्धि कई अंकों तक चल सकती है। कालिदास के रूपकों के उपर्युक्त उदाहरण से इस तथ्य की संपुष्टि होती है।

धनंजय ने चौंसठ सन्ध्यंगों पर भी कुछ आपत्ति करते हुए कहा है कि अमुक सन्धि में अमुक अंश आवश्यक हैं, शेष गौण। ऐसा देखा जाता है कि कभी-कभी तो उन आवश्यक अंगों में से भी कोई नही उपलब्ध होता है। कभी-कभी तो सन्ध्यंगों का व्युत्क्रम भी देखा जाता है। इस प्रकार देखा जाता है कि नाटक के व्यावहारिक रूप में यह सन्ध्यंग-घटना ठीक नही बैठती। सन्ध्यंग-योजना के विषय में परिनिष्ठित सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए आचार्य विश्वनाथ ने बताया है कि रूपक का सारभूत अर्थ रस है। अतः उसमें उसी सन्ध्यंग की योजना आवश्यक है जो उसके रस के अनुकूल हो। इस दृष्टि से एक सन्धि के अंग की योजना दूसरी सन्धि में भी की जा सकती है—"रसानुगुणता वीक्ष्य रसस्यैव हि मुख्यता" (सा० द० ६।११६ उत्तरार्द्ध)। रूपक में इन सन्ध्यगों की योजना के छः प्रयोजन[2] बताये गये है :—(१) इष्टार्थ की रचना, (२) सामाजिकों के हृदय मे आश्चर्यभाव

---

१ सबीजविकृतावस्था नानाभावा मुखादयः।
फलसंयोगिनो यस्मिन्नसौ निर्वहणं ध्रुवम्॥
(ना० द० प्र० वि०)

२ ना० शा० १९।५१। ५२, सा० द० ६।११६-११७, दशरू० १।५५।

का संक्रमण, (३) नाटकीय-वस्तु का विस्तार, (४) दर्शकों के हृदय में रूपक दर्शन के प्रति अनुरागोत्पत्ति, (५) गोप्य विषय का गोपन तथा (६) प्रकाशनीय विषय का प्रकाशन। सन्ध्यंगों की इन्हीं नाटकीय उपयोगिता को ध्यान में रखकर भरतमुनि ने लिखा है कि—जिस प्रकार अंगहीन मनुष्य किसी कार्य को करने योग्य नहीं होता है, उसी प्रकार अंगहीन काव्य भी प्रयोग के लिए अनुपयुक्त रहता है।[1] इसी सन्दर्भ में साहित्यदर्पणकार का कथन है कि रूपक प्रबन्ध की तभी सार्थकता है जब इनमें उपनिबद्ध नायक एवं प्रतिनायक के वाग्विलासों में सन्ध्यंगों का स्वरूप झलके। नायक एवं प्रतिनायक के वाग्व्यवहारों के पश्चात् इन सन्ध्यंगों की योजना का अवसर पताका आदि अर्थप्रकृतियों की योजना में है। यदि यहाँ अवसर न मिले तो बीज, बिन्दु आदि योजना में तो सन्ध्यंगों का प्रयोग आवश्यक है। वस्तुतः रससिद्धि के निमित्त ही सन्ध्यंगों की योजना की जानी चाहिए। शास्त्र-मर्यादा की रक्षा के लिए उनकी योजना आवश्यक नहीं है। स्पष्ट है कि आचार्य विश्वनाथ ने भी सभी सन्ध्यंगों का उपन्यास अनिवार्य नहीं माना है। जब जिस सन्ध्यंग से रस पोषण हो, तभी उसकी योजना की जानी चाहिए। कहने का तात्पर्य यह है कि इतिवृत्तांश के अनुरूप जहाँ तक ये सन्ध्यंग स्वभावतः प्रयुक्त हो सकें वहीं तक उनका प्रयोग नाटककार को करना चाहिए। यदि इनसे कथानक में व्याघात उपस्थित हो तो इनका यथास्थान परित्याग भी कर देना चाहिए।

उपर्युक्त तथ्यों को ध्यान में रखते हुए यहाँ विवेचनीय है कि कालिदास ने अपनी नाट्यकृति में इन सन्ध्यंगों का यथेष्ट प्रयोग किया है। एतदर्थ उनके द्वारा प्रयुक्त सन्ध्यंगों की परिभाषा देते हुए उनके रूपक से यथासम्भव संक्षेप में यहाँ उदाहरण प्रस्तुत्य है।

नाटक में सर्वप्रथम 'मुखसन्धि' का स्थान है। इसके बारह अंग[2] हैं:—(१) उपक्षेप, (२) परिक (परिक्रिया), (३) परिन्यास, (४) विलोभन, (५) युक्ति, (६) प्राप्ति, (७) समाधान, (८) विधान, (९) परिभावना, (१०) उद्भेद, (११) भेद, तथा (१२) कारण। वस्तुतः विचार करने पर पता चलता है कि ये बारह अंग आचार्यों की सूक्ष्मातिसूक्ष्म भागोपभाग करने की रुचि के सूचक मात्र ही हैं। इन सभी का निबन्धन किसी भी नाटक में सम्यक् रूप से नही किया

---

१ अंगहीनो नरो यद्वन्नैवारम्भक्षमो भवेत्।
अंगहीनं तथा काव्यं न प्रयोगक्षमं भवेत् ॥१९।५३ (ना० शा०)—सा० द० ६।११८।
—वही ६।११९-१२०।

२ दशरू०—१।२५-२६।

जा सकता है। अतः इनमें से उपक्षेप, परिकर, परिन्यास, युक्ति, उद्भेद और समाधान का निवन्धन आवश्यक माना गया है।[१]

रूपक के आरम्भिक अंश में जव कवि वीज का न्यास करता है, तो उसे 'उपक्षेप' कहते हैं।[२] जव वीजन्यास की वहुलता पायी जाय तो 'परिकर' (परिक्रिया) होता है।[३] परिकर की सिद्धि को परिन्यास कहते हैं।[४] जव फल से सम्वद्ध किसी वस्तु के गुणों का वर्णन किया जाय तो उसे विलोभन कहते हैं।[५] जहाँ अर्थों का संप्रधारण (कर्त्तव्यों का निश्चय) किया जाय वहाँ युक्ति होती है।[६]

---

१ वही—पृ० २६ (भोलाशंकर व्यास)

२ वैखानसः—सदृशमेतत्पुरुवंशप्रदीपस्य भवतः।
जन्म यस्य पुरूवंशे युक्तरूपमिदं तव।
पुत्रमेवं गुणोपेतं चक्रवर्तिनमाप्नुहि ॥१।११॥
(अभि० शा० की राघवभट्ट-व्या०)
पृ० २१ से राजा—भवतु। तां द्रक्ष्यामि अंक १ (पृ० २३) तक।

३ राजा—(परिक्रम्यावलोक्य च) इदमाश्रमद्वारम्। यावत्प्रविशामि। (प्रविश्य निमित्तं सूचयन्)—शान्तमिदमाश्रमपदं स्फुरति च वहुः कुतः फलमिहास्य। अथवा भवितव्यानां द्वाराणि भवन्ति सर्वत्र। १।१४॥
(अभि० शा०—राघवभट्टव्याख्या)।

४ राजा—असंशयं क्षत्रपरिग्रहक्षमा यदार्यमस्यामभिलाषि मे मनः।
सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः।१।१९
(अभि० शा०, राघवभट्ट व्याख्या)

५ राजा—(आत्मगतम्) कथमियं सा कण्वदुहिता? असाधुदर्शी खलु तत्रभवान् काश्यपः, य इमामाश्रमधर्मे नियुङ्क्ते। (अंक १, पृ० २७) से शकुन्तला—एसो णूणं तुह अत्तगदो मणोरहो। (अंक १, पृ० ३२) तक (अभि० शा० राघवभट्टव्याख्या)

६ राजा—'वयमपि तावद्भवत्योः सखीगतं किमिति पृच्छामः। (अंक १, पृ० ४१) से 'प्रियम्वदा—अज्ज! धम्मचरणे वि परवसो अअं जणो। गुरुणो उण' से "अणुरूववरप्पदाणे संकप्पो" (अंक १, पृ० ४५) तक
(अभि० शा०, राघवभट्टव्याख्या)

जहाँ सुख का आगम हो वहाँ प्राप्ति नामक अंग होता है।[1] युक्ति द्वारा वीज का पुनः व्यवस्थापन समाधान कहलाता है[2] जहाँ नायकादि के हृदय में सुख एवं दुःख पैदा हो, वहाँ विधान कहलाता है।[3] जब पात्रों में आश्चर्य की भावना पाई जाती हो तो परिभावना होती है।[4] रूपक की कथा-वस्तु के अनुरूप प्रकृत कार्य का जहाँ आरम्भ हो, वहाँ करण नामक अंग होता है।[5] रहस्यमय वीज का प्रकटीकरण उद्भेद कहलाता है। जहाँ पात्र को वीज के प्रति प्रोत्साहित किया जाय, वहाँ भेद होता है, यथा—'भो भोस्तपस्विनः (नेपथ्ये)। संनिहितास्तपोवनसत्वरक्षायै भवत। प्रत्यासन्नः किं मृगया विहारी पार्थिवो दुष्यन्तः। (अभि० शा०, राघव-भट्ट व्याख्या, अंक १, पृ० ५१) प्रतिमुख सन्धि के तेरह[6] अंग हैं:—(१) विलास, (२) परिसर्प, (३) विधूत, (४) शम, (५) नर्म, (६) नर्मद्युति, (७) प्रगमन, (८) निरोध, (९) पर्युपासन, (१०) पुष्प, (११) उपन्यास, (१२) वज्र एवं (१३) वर्णसंहार। इनमें परिसर्प, प्रगमन, वज्र, उपन्यास तथा पुष्प प्रधान हैं। अतः इन पाँचों का निबन्धन आवश्यक है। शेष आठ अंगों का प्रयोग यथासम्भव हो सकता है।

---

१ राजा—(सस्पृहं विलोक्य)—चलापाङ्गां दृष्टिं स्पृशसि बहुशो वेपथुमतीं
....
....
वयं तत्वान्वेषान्मधुकर ! हतास्त्वं खलु कृती ॥१।२०॥
(अभि० शा० राघवभट्टव्याख्या)

२ राजा—(आत्मगतम्) न दुःखापेयं खलु प्रार्थना।
भव हृदय साभिलाषं सम्प्रति सन्देहनिर्णयो जातः।
आशङ्कसे यदग्निं तदिदं स्पर्शक्षमं रत्नम् ।१। २४ (वही अक १, पृ० ४५)

३ विदूषकः—..............................। संपदं णअरगमणस्स मणं
कहं वि णा करेदि। अज्ज वि से तं एव्व चिंतअंतस्स अक्खीसु पमादं आसि।....।
(अभि० शा० राघवभट्ट व्याख्या, अंक २ पृ० ५७)।

४ राजा—(ग्रहीतुमिच्छन्निगृह्यात्मानम्, आत्मगतम्) अहो चेष्टाप्रतिरूपिका कामिजनमनोवृत्तिः। अहं हि—
अनुयास्यन्मुनितनयां सहसा विनयेन वारितप्रसरः।
स्थानादनुच्चलन्नपि गत्वेव पुनः प्रतिनिवृत्तः ॥१।२५॥ (अभि० शा० राघव०)

५ प्रियम्वदा—'(शकुन्तलां निरूप्य) हला ! ण दे जुत्तं गंतुं। (अंक १, पृ० ४७) से (इत्यंगुलीयम् दातुमिच्छति) (अभि० शा० अंक १, पृ० ४७) तक।

६ दशरू० १।३१ तथा ३२ का पूर्वार्द्ध, ना० द०, पृ० ६०-६१।

रति की इच्छा को 'विलास' नामक अंग कहते हैं।[1] एक बार बीज के दृष्टिगत होने पर, पुनः उसके नष्ट हो जाने पर, पुनः उसकी खोज की जाय तब तो यह खोज परिसर्प.कहलाती है।[2] जहाँ अरति हो वहाँ विधूत नामक अंग होता है।[3] उस अरति के शान्त हो जाने पर 'शम' नामक अंग होता है।[4]

परिहासपूर्ण वचन 'नर्म' नामक अंग है।[5] धैर्य की स्थिति 'नर्मद्युति' कहलाती है।[6] जहाँ पात्रों में उत्तरप्रत्युत्तर वचन पाये जायँ, वहाँ प्रगमन नामक अंग होता है।[7]

---

१ राजा……। चिन्तय तावत् केनापदेशेन सकृदप्याश्रमे वसामः।
विदूषकः—को अवरो अवदेसो तुम राआणं? णीवारछट्ठभाअं अम्हाणं अवहरंतु हि।
राजा—मूर्ख! अन्यद्भागधेयमेतेषां रक्षणे निपतति, यद्रत्नराशीनपि विहायाभिनन्द्यम्।
पश्य, यदुत्तिष्ठति वर्णेभ्यो नृपाणां क्षयि तत्फलम्।
ततःषड्भागमक्षय्यं ददत्यारण्यका हि नः ॥२।१३॥—(अभि० शा० राघ०)

२ राजा…………………
यावदेनामन्विष्यामि। (सूर्यमवलोक्य) इमामुग्रातपवेलां प्रायेण लतावलयत्सु मालिनीतीरेषु ससखीजना शकुन्तला गमयति। तत्रैव तावद्गच्छामि।
(अभि० शा० राघवभट्टव्याख्या अंक ३, पृ० ८९)

३ शकुन्तला—किं वीअअंति मं सहीओ?

४ शकुन्तला—तं जइ वो अणुमदं ता सह वट्टह जह तस्स राएसिणो अणुकम्पणिज्जा होमि। अण्णहा अवस्सं सिंचध मे तिलोदअं।
(अभि० शा० राघवभट्ट व्याख्या, अंक ३, पृ० ९६)

५ चित्रलेखा—इदो मुहुत्तादो जाणिस्सं का कं अभिकस्सदित्ति। आआरं दाव पडिअआ। (विक्र० अंक २, पृ० ७३, चौ० प्र०)

६ राजा—(अपवार्य) मूढ नायं परिहासकालः। (प्रकाशं) देवि नेदं मया मृग्यते। स खलु परसमन्वेषणार्थमारम्भोऽयम्।

७ सखी—(सहर्षं) साअदं अविलंबिणो मणोरहस्सं।" (अभि० शा० अंक ३, पृ० १०४-राघवभट्टव्याख्या) से 'उभे-णिव्वुद म्हं।'
(अभि० शा०) अंक ३, पृ० १०८) तक।

—उर्वशी—(राजानमुपेत्य। सव्रीडम्) जेदु जेदु महाराओ।
राजा—सुन्दरि,

मया नाम जितं यस्य त्वयायं समुदीर्यते।
जयशब्दः सहस्राक्षादागतः पुरुषान्तरम् ॥२।१७
(विक्र०, ७३-७४)

हित का अवरोध हो जाने पर निरोध होता है।[1] नायिकादि का अनुनय-विनय पर्युपास्ति अंग कहा जाता है।[2] जब विशेष वाक्यों द्वारा बीज का उद्घाटन हो तो पुष्प नामक अंग होता है।[3] उपाययुक्त वाक्य 'उपन्यास' कहलाता है।[4] जब कोई पात्र नायक आदि के प्रति प्रत्यक्ष रूप में निष्ठुर वचन का प्रयोग करे तो वह मर्मभेदी वाक्य 'वज्र' कहलाता है। जहाँ ब्राह्मणादि चारों वर्ण एक साथ एकत्र हों वहाँ 'वर्णसंहार' होता है।

गर्भसन्धि के तेरह[5] अंग हैं:—(१) अभूताहरण, (२) मार्ग, (३) रूप, (४) उदाहरण, (५) क्रम, (६) संग्रह, (७) अनुमान, (८) तोटक, (९) अधिबल, (१०) उद्वेग तथा (११) संभ्रम एवं (१२) आक्षेप। इनमें अभूताहरण, मार्ग, तोटक, अधिबल तथा आक्षेप (क्षिप्ति) अपेक्षित हैं। शेष आठ का यथा-सम्भव प्रयोग हो सकता है।

जहाँ छल हो वहाँ 'अभूताहरण' होता है।[6] जहाँ निश्चित अर्थप्राप्ति

---

१ शकुन्तला—(ससंभ्रमम्) पौरव ! असंसअं मम सरीरवुत्तंतोवतंसस्स अज्जा गोदमी इदो एव्व आअच्छदि। जाव विडवतरिदा होहि।
(अभि० शा० अंक ३, पृ० ११४, (राघवभट्टव्याख्या)

२ राजा—अपराधी नामाहं प्रसीद रम्भोरू विरम संरम्भात्।
सेव्यो जनश्च कुपितः कथं नु दासो निरपराधः ॥२। २१॥ (वक्र०, चौ० प्र०)।

३ राजा—समाश्वासनमिति किमुच्यते।
तुल्यानुरागपिशुनं ललितार्थबन्ध पत्रे निवेशितमुदाहरणं प्रियायाः।
उत्पक्ष्मणा मम सखे मदिरेक्षणायास्तस्याः समागतमिवाननमानेन।२१४॥
अभि० शा० राघवभट्टव्याख्या—३। २३। पृ० ११६। (विक्र० चौ० प्र०)

४ राजा—किं शीतलैः क्लमविनोदिभिरार्द्रवातान्—
संचारयामि नलिनीदलतालवृन्तैः ?
अंके निधाय करभोरु ! यथासुखं ते
संवाहयामि चरणावुतपद्मताम्रौ ॥३। १८ (अभि० शा०)

५ दशरू०—१।३७ तथा ३८ का पूर्वार्द्ध।

६ अनसूया—पिअंवदे ! दुवेणं एव्व णं णां मुहे एसो वुत्ततो चिट्ठदु।
रक्खिदव्वा खु पकिदिपेलवा पिअसही।
प्रियंवदा—को णाम उण्होदएण णोमालिअं सिंचेदि ? (अभि० शा० ४, पृ० १२५ राघवव्याख्या)

रूप तत्व का वर्णन हो, वह मार्ग कहलाता है[1] जहाँ अर्थप्राप्ति की प्रतीक्षा में नायक-नायिकादि तर्क-वितर्कमय वाक्यों का प्रयोग करें, उसे रूप कहते हैं।[2] उत्कर्षयुक्तवाक्य उदाहरण कहलाता है।[3] जहाँ प्राप्ति का चिन्तन किया जाय, तथा वह वस्तु हो जाय वहाँ 'क्रम' नामक अंग होता है।[4]

जहाँ नायकादि अनुकूल व्यवहार करने वाले पात्र को साम एवं दान से प्रसन्न करें, वहाँ साम और दान की उक्ति 'संग्रह' कहलाती है।[5] जहाँ कहीं

---

१ प्रियम्वदा—अग्गिसरणं पविट्ठस्स सरीरं विणा छन्दोमईए वाणिआए। (संस्कृतमाश्रित्य)

दुष्यन्तेनाहितं तेजो दधानां भूतये भुवः।
अवेहि तनयां ब्रह्मन्नग्निगर्भां शमीमिव ॥४।३। (अभि० शा०, पृ० १३०, राघवभट्टव्याख्या)

२ सखी—(तथा कृत्वा) सहि ! जइ णाम सो राआ पच्चहिण्णाणमंथरो भवे तदो से इमं अत्तणामहे अअंकिअं अंगुलीअअं दंसेहि। (अभि० शा० अंक ४, पृ० १५०, राघवभट्टव्याख्या)

३ राजा—अयं तस्या रथक्षोभादंसेनांसो निपीडितः।
एकः कृती शरीरेऽस्मिंशेषमंगं भुवो भरः।३। १८। (विक्र० चौ० प्र०)
ऋषिकुमारकौ—(प्रविश्योपायनहस्तौ)—इदमलंकरणम्। अलंक्रियतामत्रभवति।
(सर्वा विलोक्य विस्मिता.) (अभि० शा० राघवभट्टव्याख्या) अंक ४, पृ० १३४ से
प्रियम्वदा—(शकुन्तलां विलोक्य) हला ! इमाए अब्भुववत्तीए सूइया दे भत्तुणो गेहे अणुहोदव्वा राअलच्छित्ति। (वही पृ० १५५) तक।

४ वत्से ! ययातेरिव शर्मिष्ठा भर्तुर्बहुमता भव।
सुतं त्वमपि सम्राजं सेव पुरुमवाप्नुहि ॥४। ६। (अभि० शा० राघवभट्टव्याख्या, पृ० १३७)
राजा— नन्वेतदुपपन्नम्। (विक्र०, अंक ३, पृ० १२७)।

५ काश्यप.—वत्से ! किमेवं कातरासि ?
अभिजनवतो भर्तुः श्लाघ्ये स्थिता गृहिणीपदे
विभवगुरुभिः कृत्यैस्तस्य प्रतिक्षणमाकुला।
तनयमचिरात् प्राचीवार्कं प्रसूय च पावनं
मम विरजां न त्वं वत्से ! शुचं गणयिष्यसि ॥४। १८॥ (अभि० शा० राघवभट्टव्याख्या, पृ० १४९)

हेतुओं के आधार पर नायिकादि द्वारा तर्क किया जाय, वहाँ 'अनुमान' नामक अंग होता है।[1] जहाँ किन्हीं पात्रों द्वारा नायकादि का अभिप्राय जान लिया जाय वहाँ 'अधिवल' होता है।[2] क्रोधयुक्तवचन तोटक कहलाता है।[3] शत्रुकृत भय 'उद्वेग' कहलाता है। जहाँ पात्रों में शंका तथा भय का संचार हो; वहाँ संभ्रम माना जाता है।[4] जहाँ गर्भ के बीज का उद्भेद हो वहाँ 'आक्षेप' कहलाता है।[5]

विमर्श (अवमर्श) सन्धि के तेरह[6] अंग हैं :—(१) अपवाद, (२) संफेट, (३) विद्रव, (४) द्रव, (५) शक्ति, (६) द्युति, (७) प्रसंग, (८) छलन, (९) व्यवसाय, (१०) विरोधन, (११) प्ररोचना, (१२) विचलन, एवं (१३) आदान। इनमें अपवाद, शक्ति व्यवसाय, प्ररोचना तथा आदान प्रमुख हैं।

---

१ राजा—निमित्तं सूचयित्वा वयस्य !

वचोभिराशाजननैर्भवानिव गुरुव्यथम्।

अयं मां स्पन्दितैर्बाहुराश्वासयति दक्षिणः ॥३।९॥ (विक्र० चौ० सं०)

२ सखी—मा भाआहि; सिणेहो पावसंकी। (अभि० शा० अंक ४, पृ० १५०)

३ शार्ङ्गरवः—किं कृत कार्यद्वेषो धर्मं प्रति विमुखता कृतावज्ञा ?

राजा—कुतोऽयमसत्कल्पनाप्रश्नः ?

शार्ङ्गरवः—मूर्च्छन्त्यमी विकाराः प्रायेणैश्वर्यमत्तेषु ।५।१८॥ (अभि० शा०; पृ० १७

४ शकुन्तला—इमिणा सन्देहेण वो आकंपिद म्हि।

(अभि० शा० अंक ४, पृ० १५०, वही)

५ राजा—तूष्णीं भव। यावदाकर्णयामि।

(आकाशे गीयते)

अहिणवमहुलोलुवो भवं

तह परिचुंबिअ चूअमंजरिं।

कमलवसइमेत्तणिव्वुदो

महुअर ! विम्हरिओ सि णं कहं ?।।५।१।

(अभि० शा० पृ० १५५, वही)

६ दशरू० १।४४ तथा ४५ पूर्वार्द्ध।

जहाँ किसी पात्र के दोषों का वर्णन किया जाय, वहाँ अपवाद होता है। रोषयुक्त बातचीत को 'संफेट' नामक अंग कहते है।[1] किसी पात्र का वध, बन्धन आदि 'विद्रव' कहलाता है।[2] जहाँ गुरुजनों का तिरस्कार हो, वहाँ 'द्रव' नामक अंग होता है।[3] विरोध का शान्त हो जाना 'शक्ति' कहलाता है।[4] किसी पात्र का

---

१ शकुन्तला—(सरोषम्) अणज्ज ! अत्तणो हि अआणुमाणेण पेक्खसि । को दाणिं अण्णो धम्मकंचुअप्पवेसिणो तिणच्छण्णकूवोवमस्स तव अणुकिदिं पडिवदिस्सदि ?

राजा—(आत्मगतम्) सन्दिग्धबुद्धिं मां कुर्वन्नकैतव इवास्याः कोपो लक्ष्यते। तथा ह्यनया,

मय्येव विस्मरणदारुण चित्तवृत्ती।
....
....
भग्नं शरासनमिवातिरुषा स्मरस्य ॥५। २३॥ (अभि० शा० पृ० १८०)

२ (ततः प्रविशति नागरिकः श्यालः पश्चाद्बद्धपुरुषमादाय रक्षिणौ च पृ० १८९) से पुरुषः—ण अणुहुदि भावे अआलणमालणं मा विदु ं।
(अभि० शा० अंक ६, पृ० १९२, राघवभट्टव्याख्या)

३ शकुन्तला—सुट्ठु दाव अत्त सच्छंदचारिणी किदम्हि । आ अहं इमस्स पुरुवंसप्पच्चएण मुहमहुणो हिअदिठअविसस्स हत्थमासं उवगदा । पृ० १८१)'
यहाँ से 'शार्ङ्गरवः
—(सासूयम्) श्रुतं भवद्भिरधरोत्तरम्
आजन्मनः शाठ्यमशिक्षितोय-
स्तस्याप्रमाणं वचनं जनस्य।
परातिसंधानमधीयते यै—
र्विद्येति ते सन्तु किलाप्तवाचः ॥५। २५। (अभि० शा०, पृ० १८२) तक।

४ आश्चर्यम्—(नेपथ्ये) (आकर्ण्य) किं नु खलु स्यात् ? (पृ० १८५ से लेकर पुरोहितः·······श्लोक ५।२० (सर्वे सविस्मयं रूपयन्ति)—(अभि० शा, अंक ५, पृ० १८६, राघव०)। दशरू० १। ४४ तथा ४५ का पूर्वार्द्ध।

तर्जन तथा उद्वेजन करना 'द्युति' नामक अंग है।[1] जहाँ पूज्य व्यक्तियों का संकीर्तन हो, वहाँ 'प्रसंग' नामक विमर्श सन्धि का अंग होता है।[2] जहाँ कोई पात्र किसी दूसरे की अवज्ञा करे, वह 'छलन' कहा जाता है। जहाँ कोई पात्र अपनी शक्ति के वारे में कहे, वहाँ 'व्यवसाय' नामक अंग होता है।[3] जहाँ क्रुद्ध पात्रों द्वारा परस्पर आत्मशक्ति का प्रकटीकरण हो, वहाँ 'विरोधन' नामक अंग होता है।[4] जहाँ कोई सिद्ध पुरुप अपने वचनों द्वारा भावी की घटना की सूचना दे, वहाँ 'प्ररोचना' नामक अवमर्शांग होता है।[5] जहाँ

---

१ (प्रविश्यापटीक्षेपेण कुपितः)
कंचुकी—मा तावत् । अनात्मज्ञे ! देवेनं प्रतिपिद्धे वसन्तोत्सवे त्वामाम्र-कलिकाभङ्गं किमारभसे ? (अभि० शा० अंक ६, पृ० १७७ से उभे—युज्जइ।
(अभि० शा० अंक ६, पृ० २०२, वही) तक।

२ राजा—कामं प्रत्यादिष्टां स्मरामि न परिग्रह मुनेस्तनयाम् ।
वलवत्तु दूयमानं प्रत्याययतीव मे हृदयम् ॥५।३१॥ (अभि० शा० पृ० १८७, वही)

३ राजा—भोस्तिरस्करिणीगर्वित ! मदीयं शस्त्र त्वां द्रक्ष्यति । एप तमिपुं संदधे,
यो हनिष्यति वध्यं त्वां रक्ष्यं रक्षति द्विजम् ।
हंसो हि क्षीरमादत्ते तन्मिश्रा वर्जयत्यपः ॥६।२८॥
(इत्यस्त्रं संधत्ते) (अभि० शा० पृ० २३३, (राघवभट्टव्याख्या)

४ राजा—भोस्तपस्विन् ! किमत्रभवतीं विप्रलभसे ? ५।२८ से
"राजा—(पुरोहितं प्रति) भवन्तमेवात्र गुरुलाघवं पृच्छामि ।
मूढः स्यामहमेपा वा वदेन्मिथ्येति संशये ।
दारत्यागी भवाम्याहो परस्त्रीस्पर्शपांशुलः ॥५।२९॥ (अभि० शा०, पृ० १८४-८५)

५ विदूपकः—जह एव्वं अत्थिखु समाअमो कालेण तत्तहोदीए ।
राजा— कथमिव ? (अभि० शा०, पृ० २०९) से राजा—वयस्य !
स्वप्नो नु माया नु मतिभ्रमो नु
....
....
मनोरथानामतटप्रपाताः ॥६।१० (अभि० शा०, पृ० २१० वही)

कोई पात्र आत्मप्रशंसा करे वहाँ विचलन नामक अंग होता है।[1] जब नाटककार उपसंहार की ओर बढ़ने की कामना से रूपक की वस्तु के कार्य को संगृहीत करता है, तो वह 'आदान' कहलाता है।[2]

निर्वहण सन्धि के चौदह[3] अंग हैं :—(१) सन्धि, (२) विबोध, (३) ग्रथन, (४) निर्णय, (५) परिभाषण, (६) प्रसाद, (७) आनन्द, (८) समय, (९) कृति, (१०) भाषा, (११) उपगूहन, (१२) पूर्वभाव, (१३) काव्यसंहार (उपसंहार) तथा (१४) प्रशस्ति।

जब वीज की उद्भावना की जाती है तो वह सन्धि नामक निर्वहणांग होता है।[4] जहाँ नायक अब तक छिपे हुए अपने कार्य की फिर से खोज करने लगता है, उसे विबोध कहते हैं।[5] उस कार्य का उपक्षेप (उपसंहार) करना 'ग्रथन' कहलाता है।[6] जब नायकादि अपने द्वारा अनुभूत कार्य के विषय में

---

१ सानुमती—णिव्वट्टिदं मए पज्जाअणिव्वत्तणिज्जे अच्छरातित्थसण्णिज्झं जाव....

....

....

....पार्श्ववर्तिनी भूत्वोपलप्स्ये। (इति नाट्येनावतीर्य स्थिता)।
—(अभि० शा०, पृ० १९५-९६)

२ सानुमती—हद्धी हद्धी! सदि खु दीवे ववधाणदोसेण एसोअंधआरदोसं अणुहोदि....
... . पडिपालिदुम्। (अभि० शा०, अंक ६, पृ० २२९, वही)

३ दशरू० १।४९ का पूर्वार्द्ध तथा ५०।

४ राजा—(शकुन्तलां विलोक्य) अये! सेयमत्रभवती शकुन्तला। यैषा,
वसने परिधूसरे वसाना नियमक्षाममुखी धृतैकवेणिः।
अतिनिष्करुणस्य शुद्धशीला मम दीर्घं विरहव्रतं विभर्ति॥
७।२१ (अभि० शा० पृ० २५८ वही)

५ "राजा—(आत्मगतम्)..........। अस्त्येतत्पौरवाणामन्त्यं कुलव्रतम्" ।७।२०
(अभि० शा० पृ० २५४) से-राजा—(स्वगतम्) इयं खलु कथा मामेव लक्ष्यीकरोति। यदि तावदस्य शिशोर्मातरं नामतः पृच्छामि। अथवाऽनार्यः परदारव्यवहारः"। (अभि० शा०, अंक ७, पृ० २५५) तक।

६ (ततः प्रविशति मातलिः)
मातलिः—दिष्ट्या धर्मपत्नीसमागमेन पुत्रमुखदर्शनेन चायुष्मान्वर्धते।
(अभि० शा० अंक ७, पृ० २६३, वही)

वर्णन करते हैं, तो यह 'निर्णय' कहलाता है।[1] जहाँ पात्रों में परस्पर बातचीत (अल्प) हो, उसे 'परिभाषण' नामक अंग कहते हैं।[2]

किसी पात्र के द्वारा नायिका आदि का प्रसाद (पर्युपासन) 'प्रसादन' कहलाता है।[3] अभीप्सित वस्तु की प्राप्ति 'आनन्द' कहलाता है।[4] नायक आदि के दुःख की समाप्ति 'समय' कहलाता है।[5] लब्ध अर्थ के शमन को 'कृति' कहते हैं।[6] नायक आदि की मानादि की प्राप्ति का व्यंजक वाक्य 'भीषण'

---

१ मारीचः—वत्स ! अलमात्मापराधशङ्कया । संमोहोऽपि त्वय्यनुपपन्नः । श्रूयताम् ।
राजा—अवहितोऽस्मि ।
मारीचः—यदैवाप्सरसस्तीर्थावतरणात्प्रत्यक्षवैक्लव्यां..........
....
स चायमङ्गुलीयकदर्शनावसानः । (अभि० शा०, अंक ७, पृ० २६८, वही)

२ "राजा—प्रिये !
स्मृतिभिन्नमोहतमसो..............। पृ० २५९ से शकुन्तला—ण से विस्ससामि । अज्जउत्तो एव्व णं धारेदि ।" (अभि० शा० अंक ७, पृ० २६३, राघवभट्टव्याख्या) ।

३ —मारीचः—वत्से । चरितार्थासि । सहधर्मचारिणं प्रति न त्वया मन्युः कार्यः । पश्य,—७।३२ (अभि० शा०, पृ० २६९) से 'मारीचः—तथा भाविनमेनं चक्रवर्तिनमवगच्छतु भवान् । पश्य,—७।३३ तक (अभि० शा० पृ० २७०)

४ "शकुन्तला—(पश्चात्तापविवर्ण राजानं दृष्ट्वा) ण खु अज्जउत्तो विअ । तदो को एसो दाणि किदरक्खामंगलं दारअं मे अत्तसंसग्गेण दूसेदि ।" से लेकर—"शकुन्तला—(आत्मगतम्) हिअअ ! अस्सस अस्सस । परिच्चत्तमच्छरेण अणुअम्पिअ म्हि देव्वेण । अज्जउत्तो खु एसो" । (अभि० शा०, अंक ७, पृ० २५९, राघवभट्टव्याख्या)

५ "राजा—(सहर्षम् आत्मगतम्) कथमिव सम्पूर्णमपि मे मनोरथं नाभिनन्दामि ? (इति बालं परिष्वजते)" (अभि० शा० पृ० २५७) से "शकुन्तला—विआरकाले विपकिदित्थं ···तह संभावीअदि एदं । (अभि० शा० अंक ७, पृ० २५८)" तक ।

६ —अदितिः—भअवं ! इमाए दुहिदुमणोरहसंपत्तीए कण्णो वि दाव सुदवित्थारो करीअदु । दुहिदुवच्छला मेणआ इह एव्व उपचरती चिट्ठदि । शकुन्तला—(आत्मगतम्) मणोरहो खु मे भणिदो (अभि० शा० अंक ७, पृ० २७०) ।

कहलाता है। नायिका को अद्भुत वस्तु की प्राप्ति 'उपगूहन' कहलाता है[1] तथा कार्य का दर्शन 'पूर्वभाव' कहलाता है।[2] नायकादि को वर की प्राप्ति 'काव्यसंहार' कहलाता है।[3] शुभ (कल्याण) की आशंसा 'प्रशस्ति' कहलाती है।[4]

इन चौंसठ संध्यंगों के अतिरिक्त प्राचीन नाट्याचार्यों ने नाटक में संध्यन्तरों का भी उपयोग किया है। हालांकि इन संध्यंगों में संध्यन्तर भी पाये जाते हैं। उनका सम्बन्ध किसी सन्धि विशेष अथवा अवस्था विशेष से नहीं होता। ये नाटकीय वस्तु के निर्माण में सहायक होते हैं। अतः कहीं भी किसी भी स्थिति में इनका प्रयोग किया जा सकता है। भरतमुनि के अनुसार इनकी संख्या २१ हैं :—(१) साम, (२) दान, (३) भेद, (४) दंड, (५) प्रत्युत्पन्नमति, (६) वध, (७) गोत्रस्खलित, (८) ओजस्, (९) धीः, (१०) क्रोध, (११) साहस (१२) भय, (१३) माया, (१४) संवरण, (१५) भ्रान्ति, (१६) दूत्य, (१७) हेत्ववधारण, (१८) स्वप्न, (१९) लेख, (२०) मद, तथा (२१) चित्र। धनंजय, विश्वनाथ, रामचन्द्रगुणचन्द्र आदि ने इन सन्ध्यन्तरों का कोई विशेष महत्त्व नहीं माना है। लेकिन सागरनन्दी, शारदातनय, शिंग-भूपाल आदि ने भरत की भाँति इनका अलग उल्लेख किया है। सागरनन्दिन के अनुसार सन्ध्यन्तरों का प्रयोग आकाशभाषित अथवा लिखित उक्ति के रूप में किया जाना चाहिए। कालिदास ने सन्ध्यंगों के साथ अनेक सन्ध्यन्तरों का भी पर्याप्त प्रयोग किया है। संक्षेप में यहाँ उनके द्वारा प्रयुक्त कुछ सन्ध्यन्तरों का विवरण प्रस्तुत किया जाता है। अनर्थ को दूर करनेवाले मधुर वचनों से युक्त कथन 'साम' कहलाता है।

---

१ उभे—मा खु एवं अवलंबिअ। कहं गहीदं पोण ? (इति विस्मयादुरोनिहित-हस्ते परस्परमवलोकयतः) (अभि० शा० अंक ७, पृ० ३५६)।

२ प्रथमा—सुणादु महाराओ। एसा अवराजिदा णाम ओसही इमस्स जातकम्म-समए भअवदा मारीएण दिण्णा। एवं किल मादापिदरो अप्पाणं च वज्जिअ अवरो भूमिपडिदं ण गेण्हादि। राजा—अथ गृह्णाति। प्रथमा—तदा तं सप्पो भविअ दंसइ। राजा—भवतीभ्यां कदाचिदस्याः प्रत्यक्षीकृता विक्रिया। उभे—अणेअसो। (अभि० शा० अंक ७, पृ० २५७), राघवभट्टव्याख्या)

३ मारीचः—वत्स ! किं ते भूयः प्रियमुपकरोमि ? (अभि० शा० अंक ७ पृ० २७१, वही)

४ राजा………भरतवाक्यम्,—प्रवर्ततां प्रकृतिहिताय पार्थिवः
सरस्वतीश्रुतमहतां महीयसाम्।
ममापि च क्षपयतु नीललोहितः
पुनर्भवं परिगतशक्तिरात्मभूः ॥७।३४ (अभि० शा० पृ० २७२)।

यथा—राजा—

इदमनन्यपरायणमन्यथा हृदयसंनिहिते ! हृदयं मम ।
यदि समर्थयसे मदिरेक्षणे, मदनबाणहतोऽस्मि हतः पुनः ॥३।१६
(अभि० शा०)

प्रमाद (भूल) करने वाले को सजा देना दंड है—यथा—राजा—(सत्वरमुपसृत्य)

कः पौरवे वसुमतीं शासति शासितरि दुर्विनीतानाम् ।
अयमाचरत्यविनयं मुग्धासु तपस्विकन्यासु ॥१।२९॥ (अभि० शा०)

उपस्थित विषय अथवा आपत्ति के अवसर पर बुद्धिमत्ता का प्रदर्शन प्रत्युत्पन्नमति है, यथा—गौतमी—णूणं दे सक्कावदारब्भंतरे सचीतित्थसलिलं वंदमाणाए पब्भट्टं अंगुलिअअं ।

(अभि० शा० अंक ५, पृ० ११७)। अपनी शक्ति के बारे में किसी व्यक्ति का कथन ओज कहलाता है, यथा—(नेपथ्ये)—

एव त्वामभिनवकण्ठशोणितार्थी शार्दूलः पशुमिव हन्मि चेष्टमानम् ।
आर्तानां भयमपनेतुमातधन्वा दुष्यन्तस्तव शरणं भवत्विदानीम् ॥६।२७

(अभि० शा०, पृ० २३२)

रोष का प्रदर्शन क्रोध है, यथा—राजा—(सरोषम्) कथं मामेवोद्दिशति ? तिष्ठ कुणपाशन ।

(अभि० शा० अंक ६, पृ० २३२, वही)

अप्रत्याशित रूप में भीति की स्थिति, 'भय' है, यथा—प्रतिहारी—(ससंभ्रमम्) परित्ताअदु देवो संस अगदं वअस्सं । (अभि० शा०, अंक ६, पृ० २३०)

अपने ही कथन का खंडन या पूर्वोक्त को दूसरे रूप में अन्वित करना संवरण है, यथा—राजा—(स्वगतम्) चपलोऽयं वटुः । कदाचिदस्मत्प्रार्थनामन्तः-पुरेभ्यः कथयेत् । भवतु, एनमेवं वक्ष्ये (विदूषकं हस्ते गृहीत्वा, प्रकाशम्) वयस्य ! ऋषिगौरवादाश्रमं गच्छामि । न खलु सत्यमेव तापसकन्यकायां ममाभिलाषः । पश्य—

क्व वयं क्व परोक्षमन्मथो मृगशावैः सममेधितो जनः ।
परिहासविजल्पितं सखे ! परमार्थेन न गृह्यतां वचः ।१२।१८॥
(अभि० शा० पृ० ८४, वही)

तर्क-वितर्क के माध्यम से किसी तथ्य का अवधारण हेत्ववधारण कहलाता है, यथा—राजा—तापसवृद्धे !

स्त्रीणामशिक्षितपटुत्वममानुषीषु संदृश्यते किमुत याः प्रतिबोधवत्यः ।
प्रागन्तरिक्षगमनात् स्वमपत्यजातमन्यैर्द्विजैः परभृताः खलु पोषयन्ति ॥५।२२।
(अभि० शा०, पृ० १७९, वही)

किसी पात्र की मानसिक स्थिति को सूचित करने वाला लिखित कथन "लेख" कहा जाता है, यथा - शकुन्तला—(वाचयति)

तुज्झण आणे हिअअं मम उण कामो दिवावि रक्खिस्मि।
णिग्घिण ! तवइ वलिअं तुइ वुत्तमणोरहाइं अंगाइं ।।३।१३
(अभि० शा०, पृ० १०३, राघवभट्टव्याख्या)

अभिमत जन के दर्शनोपाय रूप में चित्र का आलेखन "चित्र" कहलाता है; यथा—राजा—अकारणपरित्यागानुशयतप्तहृदयस्तावदनुकम्प्यतामयं जनः पुनर्दर्शनेन। (अभि० शा० पृ० २१५) से—राजा—वयस्य ! किमिदमनुष्ठितं पौरोभाग्यम् ? दर्शन सुखमनुभवतः साक्षादिव तन्मयेन हृदयेन।

स्मृतिकारिणा त्वया, मे पुनरपि चित्रीकृता कान्ता ।।
६।२१। (अभि० शा० पृ० २-३) तक।

शास्त्रीय दृष्टि से कथावस्तु के सम्यक् विश्लेषण के बाद यह विचारणीय है कि व्यावहारिक रूप में नाटककारों ने इन सिद्धान्तों का कहाँ तक पालन किया है। कालिदास जैसे कुशल नाटककार ने अपनी नाट्यकृतियों में यथासंभव नियमों का सन्निवेश तो अपनी रचनाओं में अवश्य किया है किन्तु सभी निर्धारित नियमों को जबरदस्ती उन्होंने घुसाया नहीं है। स्वाभाविक रूप से जो जहाँ संभव हुआ है उन्हें ही उन्होंने वहाँ प्रस्तुत किया है। यह सही है कि उन्हें सभी नाटकीय नियमों का पूर्ण ज्ञान है। नाट्यशास्त्रीय ग्रंथों में नाटकीय वस्तु के अन्तर्गत अर्थप्रकृति पंचक, अवस्थापंचक, सन्धिपंचक, सन्ध्यंग एवं सन्ध्यन्तरों आदि विविध विधानों की जो योजना प्रस्तुत की गई है उन सबका निर्वाह किसी एक नाटककार ने अपनी किसी एक नाट्यरचना में नही किया है। किसी भी नाट्याचार्य ने यह विवरण नहीं दिया है कि संस्कृत के किस नाटककार ने उपर्युक्त सभी तत्त्वों को नियमित रूप से अपने किस नाटक में प्रयुक्त किया है। प्रायः सभी नाट्यशास्त्रियों ने इन सभी अंगों के विषय में जो उदाहरण दिये हैं वे विभिन्न रूपकों से उद्धृत किये गये हैं। जहाँ तक अर्थप्रकृतिपंचकों की बात है वे नाटक के भौतिक विभाजन हैं। नाटक के प्रयोजन की सिद्धि के लिए ये नाटक में प्रयुक्त होंगे लेकिन इनमें भी पताका एवं प्रकरी का प्रयोग यथावश्यकता ही नाटककार को करना चाहिए। जबरदस्ती नियमपालन के लिए इन्हें घुसा देना स्वाभाविक नही होगा। स्वयं दशरूपककार ने लिखा है कि पताका नामक अर्थप्रकृति के प्रयोग बिना भी गर्भसन्धि संभव है।[1] वे प्राप्तिसंभव (प्राप्त्याशा) नामक तृतीय कार्या-

१ गर्भस्तु दृष्टनष्टस्य बीजस्यान्वेषणं मुहुः।
द्वादशांगः पताका स्यान्न वा स्यात्प्राप्तिसंभवः ।१।३६। (दशरू०)

वस्था को ही एतदर्थ अनिवार्य मानते हैं। कालिदास के विक्रमोर्वशीयम् में जैसा कि ऊपर उल्लेख भी किया गया है कि गर्भसन्धि में पताका का प्रयोग नहीं किया गया है। बीज, बिन्दु एवं कार्य इन तीनों अर्थप्रकृतियों का प्रयोग प्रत्येक रूपक के लिए अनिवार्य है। अब अवस्थापंचक की बात रही। यूँ तो मनोवैज्ञानिक एवं वैज्ञानिक दृष्टियों से इनका प्रयोग वांछनीय है। किन्तु वास्तविक रूप से जहाँ तक नाटकों में इनके प्रयोग की बात है, नाट्याचार्यों का पंचावस्था प्रयोग विषयक आदेश सर्वमान्य नहीं। अनेक कुशल नाटककार प्राप्त्याशा तथा नियताप्ति को नाटकीय कुतूहलवृद्धि में बाधक समझते हैं। अतः उनके विचार से नाटकीय वस्तु की गतिविधि ऐसी हो कि अन्त तक प्राप्त्याशा और नियताप्ति का संकेत भी नहीं मिले। इस विचार का पोषण कालिदास के अभिज्ञानशाकुन्तलम् में मिलता है। उसमें हम देखते हैं कि अँगूठी की प्राप्ति के बाद जिस प्राप्त्याशा का आभास मिलता है, वह शकुन्तला के अन्तर्धान होने का स्मरण होते ही लुप्त हो जाता है तथा सुव्यवस्थित नियताप्ति बिना ही अकस्मात् मारीच के आश्रम में फलागम हो जाता है। इसी नाट्यकौशल के कारण यह नाटक संसार के सभी नाटकों से ऊपर स्थान पा सका। इससे स्पष्ट है कि कालिदास ने अपने नाटकों को शास्त्रीय जटिल नियमों में बाँधा नहीं है। अगर उसे वे क्रमबद्ध कर देते तो उसमें नाट्यकला के स्वाभाविक विकास का कोई अवसर ही नहीं मिल पाता। वैसी स्थिति में बँधे-बँधाये साँचों (ढाँचों) में नाटकीय तत्त्व मात्र उपलब्ध होते हैं। यही कारण है कि संस्कृत के रत्नावली, वेणीसंहार आदि रूपकों में स्वाभाविक प्रवाह का कुछ अभाव हो गया है। उन्हें नाटकीय नियमों के जाल में आबद्ध कर दिया गया है। रूढ़िबद्धता के परिणामस्वरूप इन नाटककारों को वैसी प्रसिद्धि नहीं मिल सकी जैसी प्रसिद्धि स्वाभाविक गति से नाटकीय कथावस्तु का विस्तार करने वाले कालिदास को मिली। नाटकीय वस्तु की ही तरह सन्धिपंचकों, सन्ध्यंगों एवं सन्ध्यन्तरों में नाटक को आबद्ध करना सिर्फ नियमित रूढ़ियों का परिपालन मात्र है। सिर्फ कालिदास ही नहीं, संस्कृत में ऐसा कोई भी नाटककार नहीं है जिसने नियमितरूप से सन्धि के सभी अंगों का अनिवार्य प्रयोग किया हो। सिर्फ नाटक ऐसा रूपक प्रकार है जिसमें अर्थप्रकृतिपंचक, कार्यावस्थापंचक तथा सन्धिपंचक के प्रयोग की व्यवस्था है। 'भाण' में तो सिर्फ मूल तथा निर्वहण दो ही सन्धियाँ होती हैं। 'डिम' में विमर्श सन्धि नहीं होती है। 'वीथी' में भी केवल मुख और निर्वहणसन्धि होती हैं। इस तरह अगर देखा जाय तो स्पष्ट है कि व्यापकरूप से सन्धियों का नियम अत्यधिक ग्राह्य नहीं मालूम पड़ता है। उपर्युक्त तथ्यों के उद्घाटन के बाद यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि नाटकीय वस्तु की प्रकृति स्वयं अपने विस्तार का रास्ता बना लेती है। अतः उसे नियमबद्ध करना उचित नहीं

है। साथ ही पूरी स्वतंत्रता रहने पर ही नाटककार अपने नाट्यकौशल से कथावस्तु को निश्चित परिणाम तक पहुँचा सकता है। कालिदास ने स्वतंत्रतापूर्वक नाटकीय कथावस्तु को विकसित होने दिया है। अतः सभी नाटकीय वस्तुगत नियमों का प्रयोग उनकी किसी एक नाट्यकृति में संभव नहीं हो सका।

उपर्युक्त सन्ध्यंगों एवं सन्ध्यन्तरों के विवेचन से सर्वथा स्पष्ट है कि कालिदास ने इन सबका यथेष्ट प्रयोग किया है। अतिशय विस्तार के भय से सभी रूपकों के सन्ध्यंगों आदि का अलग-अलग सविस्तार अध्ययन प्रस्तुत न कर सिर्फ अभिज्ञानशाकुन्तलम् तथा कुछ विक्रमोर्वशीयम् से ही उदाहरण प्रस्तुत किया गया है।

❀

पंचम अध्याय

नायक-कल्पना

प्रथम प्रकाश : कालिदास के रूपकों के नायक

(अ) शास्त्रीय दृष्टि से नायक के गुण-वैशिष्ट्य एवं भेद-विवेचन।

(आ) कालिदास के रूपकों के नायकों (अग्निमित्र, पुरूरवा तथा दुष्यन्त) का गुणवैशिष्ट्यपूर्ण समीक्षात्मक अध्ययन।

द्वितीय प्रकाश : कालिदास के रूपकों की नायिकाएँ

(अ) शास्त्रीय दृष्टि से नायिका के गुण-वैशिष्ट्य एवं भेद-निरूपण।

(आ) कालिदास के रूपकों की नायिकाओं (मालविका, उर्वशी तथा शकुन्तला) का गुण-वैशिष्ट्यपूर्ण समीक्षात्मक अध्ययन।

पंचम अध्याय

नायक-कल्पना

प्रथम प्रकाश : कालिदास के रूपकों के नायक :

नाटकीय-वस्तु में एक प्रधान क्रिया (घटना) होती है। रूपक में उस प्रधान क्रिया के अन्तिम परिणाम को फल कहा जाता है। उस फल के भोग को अधिकार कहते हैं। फल का अधिकारी रूपक का प्रमुख पात्र होता है, क्योंकि वह नाटकीय कथा-वस्तु की शृंखला को बीज आदि फलोपायों के द्वारा अन्तिम लक्ष्य तक ले जाता है, जो नायक कहलाता है। वस्तुतः नाटक में नायक ही सम्पूर्ण क्रियाओं के केन्द्र में होता है तथा अंगी रस का आलम्बन होता है। इस तरह नाट्य-क्रिया एवं नाट्यरस की दृष्टि से नायक सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण होता है। नाट्यदर्पणकार के विचार से नाटक में वर्णित प्रधान फल को पानेवाला नायक व्यसनों से रहित होता है।[1]

नाटक आदि रूपक में नायक की ही भाँति नायिका का भी प्रधान फल से सम्बन्ध होता है। शृंगार-प्रधान रूपक में तो प्रधान क्रियाओं के केन्द्र में यह नायक के साथ निरन्तर विद्यमान रहती है। अतः इसमें इसका भी महत्त्व नायक से कुछ कम नहीं होता है। इसीलिए संस्कृत के नाट्यशास्त्रियों ने नायक के साथ ही नायिका का सांगोपांग विवेचन-विश्लेषण प्रस्तुत किया है। इस अध्याय में संस्कृत के नाट्यशास्त्रियों के विचारानुसार नायक एवं नायिका के लिए कल्पित आवश्यक गुणों एवं प्रकारों पर विचार करते हुए कालिदास द्वारा अपने तीनों रूपकों में प्रदर्शित नायकों एवं नायिकाओं के गुणों एवं भेदों पर प्रकाश डालना अभीष्ट है।

संस्कृत के नाटककारों ने नायक को सर्वगुणसम्पन्न प्रदर्शित किया है। उनकी दृष्टि में वह वीरता एवं साहस का प्रतीक तथा लोकादर्श होता है। नाट्याचार्यों ने नायक को पूर्ण व्यक्ति बनने के लिए उसमें औदार्य, औदात्त्य, बुद्धिमत्ता, सौन्दर्य, शौर्य, करुणा, जनप्रियता, प्रजारंजकता, धार्मिकता एवं कर्त्तव्य-निष्ठता, आदि मानवीय गुणों का होना अनिवार्य माना है। इन अनुकरणीय गुणों के अभाव में कोई पात्र नेता बनने योग्य नही होता है। शिंगभूपाल के विचार से उपर्युक्त गुणों के अतिरिक्त इसमें वाक्पटुता, कृतज्ञता भाव, राजनीतिक कुशलता, आत्मविश्वास, तेजस्विता, कलाप्रेम एवं मिलनसारता आदि विशेषताएँ भी आवश्यक

---

१ प्रधानफलसम्पन्नो व्यसनी मुख्यनायकः।—(ना० द०, पृ० १७५)

हैं। आचार्य विश्वनाथ ने सभी आचार्यों द्वारा निर्धारित गुणों को समाकलित करते हुए लिखा है कि नाटक के नायक को त्यागी, कृती, कुलीन, बुद्धिवैभवयुक्त, रूपयौवन-सम्पन्न, उत्साही, दक्ष, जनता का स्नेहभाजन, तेजस्वी, विदग्ध तथा शीलवान होना चाहिए।[1] धनंजय के अनुसार नेता विनीत, मधुर, त्यागी, दक्ष, प्रियभाषी, लोकरंजक, पवित्रात्मा, वाग्मी, कुलीन, स्थिर, युवक, बुद्धि-उत्साह-स्मृति-प्रज्ञा-कला-मान-समन्वित, शूर, दृढ़, तेजस्वी, शास्त्रदृष्टिवाला एवं धार्मिक होता है।[2] नाट्यदर्पणकार के कथनानुसार नेता तेजस्वी, विलासप्रिय, माधुर्य, शोभा, स्थैर्य, गाम्भीर्य, औदार्य एवं लालित्य आदि गुणों से सम्पन्न होता है।[3] वस्तुतः ऐसा शीलगुणसम्पन्न नायक ही सहृदय सामाजिक को नाटककार के आदर्शों की ओर ले जानेवाला होता है। इस प्रकार नाट्यशास्त्र के अनुसार नायक को उपर्युक्त सभी गुणों का आधार होना चाहिए। लेकिन यह ध्यातव्य है कि प्रत्येक गुण उचित सीमा के अन्दर हो। संस्कृत-नाटकों के नायक की नम्रता, दुर्बलता का नहीं, वरन् उच्च संस्कृति एवं शील का लक्षण है। अतः नम्रता के साथ-साथ आत्म-सम्मान एवं तेजस्विता आदि गुणों का भी विधान है।

नायक विषयक उपर्युक्त कल्पना के विपरीत यूनानी एवं अंग्रेजी नाटक-कारों ने लिखा है कि यथार्थतः इस मर्त्य संसार में सर्वगुणसम्पन्न नायक मिलना असम्भव है। उनकी धारणा है कि नायक की महत्ता के लिए उसमें कुछ मानवीय कमजोरियों (अवगुणों) का होना भी आवश्यक है। इसीलिए यूनानी एवं अंग्रेजी नाटककारों ने अपने नाटकों में संस्कृत के नाटककारों की ही भांति गुणसम्पन्न वीर नायकों को स्थान देते हुए उनमें कुछ न कुछ मानवीय दुर्बलता को दिखाने का प्रयास किया है। उनकी दृष्टि में नाटक के प्रकारों में दुःखान्त नाटक (ट्रेजिडी) ही उत्कृष्ट है।

कालिदास के रूपकों के अनुशीलन से मालूम पड़ता है कि उन्होंने अपने रूपकों के नेताओं को यथासम्भव उपर्युक्त मानवीय शील-गुण-सम्पन्न प्रदर्शित

---

१ त्यागी कृती कुलीनः सुश्रीको रूपयौवनोत्साही।
दक्षोऽनुरक्तलोकस्तेजोवैदग्ध्यशीलवान्नेता ॥३।३० (सा० द०)

२ नेता विनीतो मधुरस्त्यागी दक्षः प्रियंवदः।
रक्तलोकः शुचिर्वाग्मी रूढवंशः स्थिरो युवा ॥२।१॥
बुद्ध्युत्साहस्मृतिप्रज्ञाकलामानसमन्वितः।
शूरो दृढश्च तेजस्वी शास्त्रचक्षुश्च धार्मिकः ॥२॥ (दशरू०)—

३ ना० द० ४।१६१।

करने का अद्भुत प्रयास किया है। यह सही है कि उन्होंने नायक एवं नायिका में मानवोचित दुर्बलताओं को भी दिखाया है। विक्रमोर्वशीयम् की नायिका उर्वशी यद्यपि दिव्या अप्सरा है, किन्तु कालिदास ने उन्हें मानवीय शीलगुणों से युक्त प्रदर्शित किया है। उसमें स्त्री स्वभावगत ईर्ष्या की भावना का प्रदर्शन किया गया है। राजा पुरूरवा जब विद्याधर-कुमारी उदयवती को बहुत देर तक टकटकी लगाकार ताकते रहे तब उन्हें देखकर ईर्ष्यावश उर्वशी क्रुद्ध हो उठी। असहिष्णुता के कारण उसने अपने स्वामी की अनुनय-विनय कुछ नहीं सुनी। गुरु के शापवश उसका हृदय शून्य हो गया। देवता के नियम का उल्लंघन कर कुमारवन में प्रवेश करते ही वह लता के रूप में परिणत हो गई। प्रेमान्ध राजा पुरूरवा प्रिया के विरह में पागल की तरह उसी वन में प्रलाप करने लगा। प्रेमान्धतावश कर्त्तव्य में प्रमाद का प्रदर्शन अभिज्ञानशाकुन्तलम् में भी दिखाया गया है। अपने प्राण-वल्लभ के चिन्तन में निमग्न शकुन्तला दुर्वासा ऋषि का आश्रमोचित अतिथि-सत्कार करना भूल जाती है। फलतः उसे अभिशप्त होना पड़ता है। युवा-अवस्थानुकूल कामान्धता का प्रदर्शन कालिदास ने सर्वत्र दिखाया है। आश्रम के वातावरण में भी इसका प्रभाव दिखाया गया है। दुष्यन्त आश्रम के रक्षक के रूप में प्रवेश करता है। आश्रम के वातावरण में पली हुई शकुन्तला पिता की अनुपस्थिति में अतिथिसत्कार के लिए नियुक्त की गई है। किन्तु दोनों एक दूसरे के रूपलावण्य पर मुग्ध होकर आश्रमविरोधी आचरण कर बैठते हैं। इसका भरपूर ज्ञान रखने पर भी वे काम के वशीभूत हैं। इस तरह कालिदास ने मानव की स्वाभाविक दुर्बलताओं को भी यथार्थतः प्रदर्शित किया है। किन्तु उनका विश्वास है कि मानव इन दुर्बलताओं के कारण अपूर्ण है। उसके जीवन का उद्देश्य देवत्व को प्राप्त करना है। यह तभी संभव हो सकता है जब वह अपनी दुर्बलताओं को संताप की ज्वाला में दग्ध कर दे। एतदर्थ उन्होंने अपने रूपकों में भरपूर प्रयास किया है। इतना अवश्य है कि उन्होंने यूनानी या अंग्रेजी नाटककारों की तरह अपने नायक या नायिका को सामाजिक दृष्टि में अधःपतित नहीं किया है। उन्होंने उन्हें निष्कलंक बनाये रखने के लिए शाप की कल्पना की है। इससे उन्होंने कुशलतापूर्वक जीवन के यथार्थ को सजीव रूप में सामाजिकों के समक्ष रखने में भरपूर सफलता प्राप्त की है। इसके साथ ही साथ उन्होंने दिखाया है कि मानव-जीवन का आदर्श इससे सर्वथा ऊपर है। इस परम आदर्श की प्राप्ति के लिए नायक एवं नायिका को जीवन के यथार्थ के साथ कठोर संघर्ष करना पड़ता है और अन्ततोगत्वा संताप, पश्चात्ताप एवं वेदना की ज्वाला में अपनी सारी दुर्बल-ताओं को भस्मसात् कर वह अपने निर्विकार समुज्ज्वल रूप को प्राप्त करता है। जीवन के इस परमपद को पाने पर शोकसंताप से दूर 'मधुमती भूमिका' में वह

विचरण करता है। कालिदास की दृष्टि में मानव-जीवन का चरम अवसान दुःखात्मक नहीं, सुखात्मक है। उन्होंने अपने रूपकों एवं नायिकाओं में मानवीय शीलगुणों का सन्निधान करते हुए उन्हें लोकानुकरणीय रूप में प्रदर्शित किया है। उनकी नायक-नायिका विषयक कल्पना परवर्ती नाटककारों एवं नाट्याचार्यों का आदर्श है।

संस्कृत में यद्यपि वीर, अद्भुत एवं करुण आदि रसों को भी अंगी रस मानकर नाट्यरचनाएँ प्रस्तुत की गई हैं, फिर भी अधिकांश नाटकों में प्रधानतः शृंगार-रस की प्रमुखता पायी जाती है। कालिदास के तीनों रूपक शृंगार रस प्रधान हैं। उनमें अंग रूप में वीर, अद्भुत, भयानक एवं करुण आदि रसों का भी सन्निवेश किया गया है। लक्षण-ग्रन्थों में विश्वनाथ प्रभृति आचार्यों ने प्रायः विभाव की व्याख्या करते हुए नायक एवं नायिका के भेद किये हैं तथा उनके विविध गुणों का विस्तृत वर्णन प्रस्तुत किया है। इसके सम्बन्ध में परवर्ती नाट्याचार्यों ने दशरूपककार के विचारों का ही अनुमोदन किया है। धनंजय ने नायक के सम्बन्ध में उपर्युक्त गुणों का विवरण दिया है, साहित्यदर्पणकार के समान आलम्बन विभाव के पक्ष में नहीं। यों आचार्य विश्वनाथ ने भी दशरूपक में वर्णित गुणों का ही विवेचन किया है। संसार में मानव-भेद के अनुसार उनके स्वभाव में भेद देखा जाता है। अतः जितने प्रकार के मानव हैं तथा जितने प्रकार के उनके स्वभाव हैं, वे सभी नायक के प्रकार एवं स्वभाव में अन्तर्मुक्त हो जाते हैं। मानव-स्वभाव एवं उनकी प्रवृत्तियाँ इतनी जटिल हैं कि उनका विभागीकरण आत्यन्तिक नहीं हो सकता। फिर भी संस्कृत के आचार्यों ने मानवीय गुण एवं स्वभाव के आधार पर नायक का विभाग किया है। भरतमुनि के नाट्यशास्त्र के अनुसार स्त्री-पुरुषों की प्रकृति त्रिविध बताई गई है। इस त्रिविध प्रकृति के अनुसार नर-नारी उत्तम, मध्यम एवं अधम तीन प्रकार के हैं। उत्तम प्रकार के मनुष्य जितेन्द्रिय (सदाचारी), ज्ञानवान्, अनेक शास्त्रों का ज्ञाता, सबको प्रसन्न करने वाले, ऐश्वर्यशील, दीन-दुखियों को धैर्य बँधानेवाले, गम्भीर, उदार, धीर एवं त्यागी होते हैं। मध्यम प्रकृतिवाले पुरुष लोक-व्यवहार में चतुर, शिल्प-शास्त्रों में प्रवीण, विज्ञानयुक्त (देश-पात्रानुकूल व्यवहार करनेवाले) मधुर व्यवहार करनेवाले होते हैं। इनके अलावे सबसे रूखा बोलनेवाले, दूसरों से बुरा व्यवहार करने वाले दुष्ट, मन्दबुद्धि, क्रोधी, हिंसक, मित्रघाती, अनेक कौशलों से प्राण लेने वाले, चुगली खाने वाले, घमण्डी, उद्दण्ड, कृतघ्न, आलसी, माननीय लोगों का अपमान करने में कुशल, स्त्रियों के पीछे चक्कर लगाने वाले, झगड़ालू, दूसरों का दोष ढूँढ़ने वाले, पापी तथा दूसरों का धन हरने वाले पुरुष अधम प्रकृति के होते हैं।[1] इसी प्रकार

---

१ समासतस्तु प्रकृतिस्त्रिविधा परिकीर्तिता।२४।१।
एभिर्दोषैस्तु सम्बद्धा भवन्ति ह्यधमा नराः।२४।८॥ पूर्वार्द्ध (ना० शा०)

आचरण की दृष्टि से पुरुषों की तरह ही स्त्रियों की भी प्रकृति तीन प्रकार की होती है, जिसका विवरण नायिका-भेद में उल्लेखनीय है। काव्य-नाट्य में वर्णित उत्तम एवं मध्यमप्रकृति के पुरुषों के स्वभाव-भेद के आधार पर धीरोद्धत, धीर-ललित, धीरोदात्त एवं धीरप्रशान्त चार प्रकार के नायकों की कल्पना की गई है। देवता धीरोद्धत, राजा धीरललित, सेनापति एवं अमात्य धीरोदात्त तथा ब्राह्मण और वैश्य धीरप्रशान्त होते है।[1] नाट्यशास्त्र की नायक-नायिका विषयक यही कल्पना नाट्यदर्पण मे वर्णित है। रामचन्द्र गुणचन्द्र[2] के अनुसार अधम प्रकृति के पुरुषों या स्त्रियों को नायक या नायिका रूप में ग्रहण नही किया जा सकता। उत्तम एवं मध्यम प्रकृति के व्यक्तियों को नाटककार नायक के रूप में चित्रित करता है। नायक के चरित्र-चित्रण में सबसे अधिक उसके धैर्य गुण पर ध्यान दिया जाता है। उद्धतता, उदात्तता, ललितता एवं प्रशान्तता जैसे चतुर्विध स्वभाव का वर्णन नायक में पृथक्-पृथक् रूप से होता है। यों यह भी सम्भव हो सकता है कि किसी एक ही नायक में उपर्युक्त चतुर्विध स्वभाव विद्यमान रहे। धनिक ने अपनी वृत्ति में इसे स्पष्ट करते हुए लिखा है।[3] वस्तुतः यदि कालिदास के रूपकों के दुष्यन्तादि नायको पर ध्यान दिया जाय तो हम देखते हैं कि अगर उनका सम्पूर्ण जीवन धीरोदात्तादि एक ही कोटि का होगा तो उनमें जो कलाप्रियता तथा रागमयता आदि बताई गई है, वह धीरललित का गुण है, उचित नहीं प्रतीत होगा। 'मालविकाग्निमित्रम्' के नायक में तो धीरललितता का ही आधिक्य है। लेकिन यहाँ भी विचारणीय है कि नाटक के लक्षण के अनुसार तो उसके नायक को धीरोदात्त ही होना चाहिए। नाट्य प्रबन्ध का प्रधान चरित्र होने के कारण एक

---

१ मध्यमोत्तमायां प्रकृतौ नाना लक्षणलक्षिताः ॥
धीरोद्धता धीरललिता धीरोदात्तास्तथैव च।
धीरप्रशान्तकाश्चैव नायकाः परिकीर्तिताः ॥
देवा धीरोद्धता ज्ञेया ललितास्तु नृपाः स्मृताः।
सेनापतिरमात्यश्च धीरोदात्तौ प्रकीर्तितौ ॥
धीरप्रशान्ता विज्ञेया ब्राह्मणाः वणिजस्तथा। (ना० शा० अ० २४)

२ उद्धतोदात्त-ललित-शान्ता धीरविशेषणाः।
वर्ण्याः स्वभावाश्चत्वारो नेतृणा मध्यमोत्तमाः ॥ (ना० द० : नाटक निर्णय प्रकरण)

३ धीरललितादिशब्दाश्च यथागुणसमारोपितावस्थाभिधायिनः
रूपाभिधानमसङ्गतमेव स्यात् जातेरनपायत्वात्। (दशरू०-भोलाशंकर व्यास) पृ० ८३

ही उदात्त प्रकृति की प्रधानता प्रत्येक स्थिति में होगी। कालिदास का यही दृष्टिकोण रूपकों की नायक-कल्पना में दृष्टिगत होता है। नायक के चरित्र-चित्रण में यह दृष्टिकोण कालान्तर में कुछ परिवर्तित हो गया। फलतः धनंजय प्रभृति आचार्यों के द्वारा निर्दिष्ट नायक के गुण-विवेचन में स्पष्ट अन्तर परिलक्षित होने लगा, जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया है। उन आचार्यों के दृष्टिपरिवर्त्तन का कारण यह है कि यहाँ धैर्य की विशेषता का उदात्तादि स्वभावचातुर्विध्य के साथ समन्वय करने के बदले धीरोद्धतादि की पारिभाषिकता पर ही विशेष ध्यान रखा गया है। इन चारों प्रकार के नायकों में कुछ हद तक उपर्युक्त गुण पाये जाते हैं। विभिन्न परिस्थिति में उनका स्वभाव उदात्त, ललित, प्रशान्त एवं उद्धत हो सकता है, किन्तु हर हालत में उनका धीर होना परमावश्यक है। जीवन की विषम से विषम परिस्थितियों का सामना उन्हें धैर्य एवं साहस के साथ करना चाहिए।

'धीरोद्धतकोटि' का नायक दर्पयुक्त, ईर्ष्यालु, माया एवं कपट से युक्त, अहंकारी, चंचल, क्रोधी तथा आत्मश्लाघी होता है।[1] 'वीरचरित' का परशुराम इसी प्रकार का नायक है। धीरोदात्त कोटि का नायक दशरूपककार के अनुसार महासत्व, अतिगम्भीर, क्षमावान्, स्थिर मनवाला, आत्मश्लाघारहित, निगूढ़ अहंकारवाला तथा दृढ़व्रत होता है।[2] विश्वनाथ के अनुसार इस प्रकार का नायक अविकत्थन, क्षमाशील, अतिगम्भीर, दुःख-सुख में प्रकृतिस्थ, स्थिर एवं स्वाभिमानी होता है।[3] नाट्यदर्पणकार के विचार से धीरोदात्त नायक अतिगम्भीर, न्यायी, क्षमावान्, क्रोध एवं शोक से रहित, आत्मप्रशंसारहित, प्रण को जीवनपर्यन्त निभानेवाला, शरणागतवत्सल, व्यवहारकुशल तथा अनेक शास्त्रों का ज्ञाता होता है। धर्म में इसकी सर्वाधिक रुचि होती है। यों तो प्रत्येक कोटि के नायक में स्थिरता एवं दृढ़ता आदि गुण पाये जाते हैं, किन्तु धीरोदात्त नायक में इसकी पराकाष्ठा देखी जाती है। इन्हीं उच्चवृत्तियों के उत्कर्ष को औदात्त कहते हैं। धीरललित नायक निश्चिन्त, नृत्य आदि कलाओं में आसक्त, सुखी तथा कोमल

---

१ दर्पमात्सर्यभूयिष्ठो मायाच्छद्मपरायणः।२॥ उत्तरार्द्ध।
धीरोद्धतमहंकारी चलश्चण्डो विकत्थनः।२॥६ पूर्वार्द्ध (दशरू०)
—सा० द०-३।३३, ना० द०-पृ० २७।

२ महासत्वोऽतिगम्भीरः क्षमावानविकत्थनः।२।४
स्थिरो निगूढाहङ्कारो धीरोदात्तो दृढव्रतः। (दशरू०)

३ —सा० द० ३।३२।

स्वभाव का होता है ।[1] इसकी वृत्ति करते हुए धनिक ने लिखा है कि धीरललित नायक के योगक्षेम (अप्राप्त की प्राप्ति तथा प्राप्त की परिरक्षा) की चिन्ता उसके मन्त्री आदि के द्वारा की जाती है, अतः वह इन चिन्ताओं से परिमुक्त रहकर गीतादि कलाओं का प्रेमी एवं भोग-विलास में तल्लीन रहता है। श्रृंगाररस की उसमें प्रधानता होने के कारण वह सुकुमार आचरण एवं कोमल स्वभाव वाला होता है।[2] रत्नावली नाटिका का नायक उदयन इसी कोटि का है। धीरप्रशान्त नायक उपर्युक्त सामान्य गुणयुक्त निरहंकारी, कृपालु एवं गुरुजनों की आज्ञा का उल्लंघन न करनेवाला होता है।[3] यह ब्राह्मण, वैश्य या मन्त्री पुत्रादि होता है।[4] मालतीमाधव का 'माधव' एवं 'मृच्छकटिक' का 'चारुदत्त' इसी कोटि का नायक है।

नाट्यशास्त्र के नियमानुसार नाटक का नायक उत्कृष्ट गुणों से युक्त, प्रतापी, उच्चकुलोत्पन्न राजर्षि भूपति होता है। त्रोटक का नायक भी नाटक के नायक की तरह ही होता है। कालिदास के तीनों रूपकों के नायक धीरोदात्त कोटि के हैं। उनमें इस कोटि के नायक के सभी गुण विद्यमान हैं।

संस्कृत रूपकों में श्रृंगार या वीर रस की प्रधानता पायी जाती है। श्रृंगारप्रधान नाटकों में नायक का चित्रण अनेक प्रकार से हुआ है। प्राचीनकाल में सामान्य रूप से प्रचलित बहुविवाह के कारण किसी भी नायक को अपनी एक से अधिक नायिकाओं के साथ रूपकों में सरसतया चित्रित किया गया है। कालिदास के 'मालविकाग्निमित्रम्' एवं 'विक्रमोर्वशीयम्' में प्रधान नायिका के अतिरिक्त अन्य नायिकायों को भी रंगमंच पर उपस्थित किया गया है, किन्तु 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' में राजा दुष्यन्त की अन्य नायिका मंच पर नहीं जाती है। अतः इसमें नायिका के सभी गुणों का विश्लेषण उनकी अन्य नायिकाओं की अपेक्षा अधिक उत्कृष्ट रूप से हुआ है। यह कालिदास की उत्तरोत्तर विकसित नाट्यशैली का परिचायक है। श्रृंगारप्रधान रूपकों में अपनी अन्यान्य प्रेयसियों एवं पत्नियों के साथ समय-समय पर नायक कैसा व्यवहार करता है तथा उन्हें किस रूप में अंगीकार

---

१ निश्चिन्तो धीरललितः कलासक्तः सुखी मृदुः ।२३। उत्तरार्द्ध (दशरू०)
—सा० द० पूर्वार्द्ध ३।३४

२ दशरू०, अ० २, पृ० ७७, ना० द० पृ० २७।

३ ना० द० पृ० २७।

४ सामान्यगुणयुक्तस्तु धीरशान्तो द्विजादिकः ।२।५ (दशरू०)

करता है, उसके आधार पर उपर्युक्त नायकों के पुनः चार भेद किये गये हैं—(१) अनुकूल (२) दक्षिण, (३) शठ एवं (४) धृष्ट ! शृंगार के अतिरिक्त अन्य रस-प्रबन्धों में तो उपर्युक्त धीरोदात्तादि चार ही नायक पाये जाते हैं। शृंगार-प्रबन्ध की दृष्टि से धीरोदात्तादि चार नायकों के अनुकूल आदि चार भेद होने से नायक के कुल सोलह भेद हुए।[1] इनमें जो नायक एक ही नायिका के प्रति अनुरक्त रहता, वह अनुकूल नायक कहलाता है।[2] जैसे राम दक्षिण नायक एक साथ ही कई नायिकाओं में अनुराग रखता है, किन्तु सबके साथ उसका समान व्यवहार होता है।[3] साहित्य-दर्पणकार के दक्षिणनायक की इस परिभाषा से धनंजय की परिभाषा भिन्न है। उनके अनुसार दक्षिणनायक वह है जो प्रधान नायिका के प्रति हार्दिक प्रेम रखता है।[4] शृंगार की दृष्टि से कालिदास के रूपकों के सभी नायक 'दक्षिण' कोटि के हैं। वे सभी नायिकाओं के प्रति यद्यपि समान अनुराग रखते हैं, पूर्वा नायिका के प्रति पर्याप्त आदर भाव भी प्रदर्शित करते हैं, फिर भी नवीन नायिका के प्रति उनका प्रगाढ़ अनुराग होता है। 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' में अनसूया के द्वारा अपनी सखी शकुन्तला के प्रति किये जाने वाले योग्य व्यवहार के लिए अनुरोध करने पर राजा दुष्यन्त कहता है कि अनेक स्त्रियों के होने पर भी मेरे वंश की दो ही प्रतिष्ठाएँ हैं :—समुद्ररूपी मेखला से युक्त पृथ्वी एवं तुम्हारी यह सखी।[5] इसी प्रकार मालविका एवं उर्वशी के प्रति प्रदर्शित प्रगाढ़ अनुराग उनके नायक के दक्षिणत्व के स्पष्ट सूचक हैं।

जो नायक वस्तुतः किसी दूसरी नायिका से प्रेम करे और अपनी पूर्वा नायिका से उस नवीन प्रेम को व्यक्त करे वह 'शठ' कहलाता है। इस प्रकार का नायक अपनी ज्येष्ठा नायिका से बाहरी प्रेम जता कर छिपे-छिपे उसका अनिष्ट

---

१ स दक्षिणः शठोः धृष्टः पूर्वां प्रत्यन्यया हृतः ।२।६। उत्तरार्द्ध (दशरू०)
—एभिर्दक्षिणधृष्टानुकूलशठरूपिभिस्तु षोडशधा ।३।३५ (पूर्वार्द्ध)
—सा० द०—

२ अनुकूलस्त्वेकनायिका ।२।७। (दशरू०); सा० द० पृ० १४३।

३ एषु त्वनेकमहिलासु समरागो दक्षिणः कथितः ।३।३५ (सा० द०)

४ दक्षिणोऽस्यां सहृदयः। (दशरू० प्र० २, पृ० ८५)

५ परिग्रहबहुत्वेऽपि द्वे प्रतिष्ठे कुलस्य मे।
समुद्ररसना चोर्वी सखी च युवयोरियम् ॥३।१७॥ (अभि० शा०)

करता है । यह पूर्वा नायिका से डर-डर कर नवीन नायिका के साथ छिपी शृंगार-चेष्टाएँ किया करता है ।[1]

जो नायक प्रेम में अपराधी होने पर भी अपनी प्रेमिका के कोप की चिन्ता नहीं करता, प्रेमिका से तिरस्कृत होने पर भी लज्जित नही होता और दोषों के स्पष्टतः प्रकट हो जाने पर भी झूठ बोलकर उन्हें छिपाने का प्रयास करता है, वह धृष्ट कहलाता है ।[2]

यद्यपि विभिन्न नायिकाओं के प्रति कृत व्यवहार के आधार पर नायक के उपर्युक्त प्रकार बताये गये हैं, फिर भी सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर स्पष्ट मालूम पड़ता है कि नायक के अनुकूलादि चारों प्रकार किसी एक ही नायक के उसकी (नायक की) उत्तरोत्तर परिवर्धित अवस्थाओं के भी हो सकते हैं। इस तरह जब तक नायक एक ही पत्नी में अनुरक्त रहता है तब तक वह अनुकूल रहता है । जब वह किसी दूसरी नायिका के प्रेमपाश में बँध कर अपनी पूर्वा नायिका से इस नूतन प्रेम को छिपाने का विफल प्रयास करता है, तब वही 'दक्षिण' नायक कहलाता है। जब इसका यह नवीन प्रेम जेष्ठा के समक्ष प्रकट हो जाता है तब वही 'शठ' नायक हो जाता है। और जब यही नायक कुटिल, नीच वृत्तिवाला तथा निर्लज्ज हो जाता है तब 'धृष्ट' कहलाने लगता है । इस दृष्टि से कालिदास के रूपकों के नायकों द्वारा नायिकाओं के साथ कृत व्यवहार का परीक्षण कर हम पाते हैं कि उनके रूपक के किसी भी नायक में व्यवहारानुसार दक्षिण आदि रूप देखा जाता है। अग्निमित्र मालविका से छिपे-छिपे प्रेम करता है। राजा अग्निमित्र जब समुद्रगृह में मालविका के साथ प्रगाढ़ अनुराग सम्बन्ध व्यक्त कर रहा था तब हठात् इरावती पहुँच गयी। विदूषक को स्वप्न में बड़बड़ाते सुनकर निपुणिका उसके ऊपर लकड़ी का एक टुकड़ा फेंक देती है। वह डर कर साँप-साँप चिल्लाने लगता है। उसकी आवाज सुनकर सहायता के लिए राजा बाहर आता है। पीछे से उसे रोकती हुई मालविका भी वहाँ पहुँचती है। बकुलावलिका भी वहाँ आ जाती है। इरावती को वहाँ देखकर सभी घबड़ा जाते हैं। क्रुद्ध एवं रूठी हुई

---

१ — शठोऽयमेकत्र बद्धभावो यः ।
दर्शितबहिरनुरागो विप्रियमन्यत्र गूढमाचरति ।।३।३७।। (सा० द०)
—गूढ विप्रकृच्छठः (दशरूप०)

२ कृतागा अपि निःशंकस्तर्जितोऽपि न लज्जितः ।
दृष्टदोषोऽपि मिथ्यावाक्कथितो धृष्टनायकः ।३।३६। (सा० द०)
—व्यक्ताङ्गवैकृतो धृष्टः (दशरू०) ।

इरावती से राजा कहता है कि अपराध किये हुए भी दास-दासियाँ उत्सव के अवसर पर बन्धन योग्य नहीं हुआ करते हैं। अतः मैंने दोनों को छोड़ दिया है। ये दोनों प्रणाम एवं कृतज्ञताज्ञापन के लिए यहाँ आयी हैं (४'१७)। इस व्यवहार से यहाँ अग्निमित्र का चित्रण शठ नायक के रूप में स्पष्ट परिलक्षित होता है। 'मालविकाग्निमित्रम्' के तृतीय अंक में मालविका द्वारा अशोक वृक्ष की दोहद पूरी करने पर राजा अग्निमित्र जब अपने अमृतोपम स्पर्श से मालविका को अपनी भी साध पूरी करने के लिए अनुरोध करता है तब इसे सुनकर इरावती वहाँ प्रकट हो जाती है। अचानक इरावती को देखकर सभी अकबका जाते हैं। बकुलावलिका और मालविका के आने पर इरावती चिन्तित स्वर में कहती है—'पुरुषों का कोई विश्वास नहीं। प्रमदवन में झूला झूलने के लिए समय निश्चित करने पर भी वहाँ राजा के साथ उसकी आशा की पूर्ति नहीं हुई।' अतः वह चिन्तित है। वह सोचती है कि उसे बिल्कुल पता नहीं चला कि उसके साथ ऐसी ठगी हो रही है। इस पर राजा बहाना कर इरावती को कहता है —'मेरा मालविका से कोई सरोकार नहीं। तुम्हारे यहाँ आने में देर रही, अतः मैंने थोड़ा-सा मनबहलाव किया है।' राजा उसे प्रसन्न करने के लिए तरह-तरह से मिन्नतें मनौतियाँ करता है, किन्तु वह एक नहीं सुनती है। वह अधीरा क्रोध में आकर अपनी तागड़ी (करधनी) से ही राजा को पीटना चाहती है, लेकिन फिर सोचकर रुक जाती है। उसके बाद राजा उसके पैरों पर गिर पड़ता है। फिर भी वह नहीं मानती है और ताने कसती हुई कहती है कि ये मालविका के पैर नहीं, जो छूने से तुम्हारी साध पूरी कर दें। यह कहकर वह चली जाती है। पादपतन पर भी इरावती के नहीं मानने पर राजा प्रेम की विषमता पर आश्चर्य प्रकट करता है और कहता है कि मेरा हृदय प्रियतमा मालविका ने हर लिया है—तो पैरों में पड़ने पर भी उसने जो मुझे ठुकरा दिया है—इसमें मैं अपनी भलाई ही समझता हूँ। वस्तुतः इरावती मुझसे प्रेम करती है, किन्तु जब वह रूठ ही गयी है तो मैं भी उसकी उपेक्षा कर सकता हूँ (३।२३)। यहाँ राजा की धृष्टता व्यक्त हो जाती है। इसी प्रकार विक्रमोर्वशीयम् और अभिज्ञानशाकुन्तलम् में भी हम देखते हैं कि यद्यपि नायक अपनी नवीन नायिका के साथ प्रगाढ़ प्रेम करता है, किन्तु अपनी पूर्वा नायिकाओं के साथ समान अनुराग रखता है। वह अपनी नवीन नायिका के प्रेम को उसके सामने प्रकट नहीं होने देना चाहता है। देवी वसुमती के आगमन की सूचना पाकर राजा दुष्यन्त शकुन्तला के चित्र को छिपाने के लिए विदूषक से कहता है। उसके आदेशानुसार विदूषक उसे लेकर शीघ्र मेघप्रतिच्छन्द नामक महल पर चला जाता है। शकुन्तला के प्रति अगाध प्रेम रहने पर भी राजा अपनी ज्येष्ठा नायिका वसुमती के प्रति भरपूर आदरभाव रखता है। वह

नवीन नायिका के प्रेम को उससे हमेशा छिपाता है। रानी औशीनरी, राजा पुरूरवा की उर्वशीपरायणता पर इतना बिगड़ जाती है कि उनके पादपतन का भी ख्याल नहीं करती है, फिर भी राजा का अपनी पूर्वानायिका के प्रति आदर बहुमान वैसा ही रहता है। उर्वशी के प्रति अत्यधिक आसक्त रहने पर रानी औशीनरी के प्रति उसका सद्भाव ज्यों का त्यों बना है। विभिन्न अवस्थाओं में कालिदास के रूपकों के नायकों के शठत्वादि विभिन्न रूप होने पर भी सम्पूर्ण रूपकों में इन नायकों का व्यवहार अपनी ज्येष्ठा नायिकाओं के प्रति सहृदयतापूर्ण ही रहता है, अतः सभी दक्षिण कोटि के ही नायक हैं।

प्रकृति-भेद के अनुसार नायक उत्तम, मध्यम और अधम तीन प्रकार के होते है।[1] इस प्रकार नायक के अड़तालीस भेद हुए। पुनः इनमे प्रत्येक के दिव्य, अदिव्य और दिव्यादिव्य तीन-तीन भेद और माने जाते हैं। अतः कुल मिलाकर नायक के १४४ भेद होते हैं। इनमें देवता दिव्य, मनुष्य अदिव्य तथा मनुष्य रूपधारी देवता दिव्यादिव्य होते हैं। रूपगोस्वामी ने पति, उपपति तथा वैशिक नायक के तीन प्रकार और भी किये हैं।

संस्कृत नाटक के नायक की विशिष्टता नाटक के अंगीरस पर निर्भर होता है। नाटक के नायक किसी भी प्रकार के हों किन्तु कुछ वैयक्तिक गुण सामान्य वैशिष्ट्य के रूप में होते हैं। वे सात्विक गुण आठ है—शोभा, विलास, माधुर्य, गाम्भीर्य, स्थैर्य, तेज, ललित तथा औदार्य।[2] पुरुषों के ये शरीर गुण हैं, अतः नायक में इन्हें दिखलाना अभीष्ट रहता है।[3] इन्हीं गुणों के कारण नायक की उत्तमता, मध्यमता और अधमता का निर्धारण किया जाता है। भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में उपर्युक्त शोभादि गुणों का निरूपण 'सात्विक अभिनय' के प्रसंग में किया गया है और इसी अभिनय-प्रकार को सर्वश्रेष्ठ माना गया है, न कि

---

१ ना० द० -पृ० १७४; ना० शा०-अ० २४, सा० द० ३।३८।

२ शोभा विलासो माधुर्यं गाम्भीर्यं स्थैर्यतेजसी।
ललितौदार्यमित्यष्टौ सात्विकाः पौरुषा गुणाः।२।१०। (दशरू०) (सा० द०-३।५)
तेजो विलासो माधुर्यं शोभा स्थैर्यं गम्भीरता।
औदार्यं ललितं चाष्टौ गुणा नेतरि सत्वजाः॥ (ना० द०, पृ० १९५)।
—शोभा विलासो माधुर्यं स्थैर्यं गाम्भीर्यमेव च।
ललितौदार्यतेजांसि सत्वभेदास्तु पौरुषाः।३१॥ (ना० शा०-अ० २४)।

३ इत्यष्टौ महागुणाः पुरुषाणां ये नायके दर्शयितव्याः (ना० ल० र० पृ० १३९)।

आंगिक, वाचिक या आहार्य को।[1] सात्विक अभिनय के निरूपण में स्त्रीगत एवं पुरुषगत सत्त्वभेदों का निरूपण स्वाभाविक है। हाव-भाव-हेला आदि को स्त्रीगत सत्त्वभेद और शोभा, विलास आदि को पुरुषगत सत्त्वभेद कहा गया है। ये सभी सात्त्विक गुण स्त्री एवं पुरुष के शरीर-विकार से सम्बन्ध रखते हैं।

जब नायक में शौर्य एवं दक्षता पाई जाय तथा नीच व्यक्ति के प्रति घृणा एवं अपने से अधिक के प्रति स्पर्धा पाई जाय तब वहाँ शोभा नामक गुण होता है—'नीचे घृणाधिके स्पर्धा शोभायां शौर्यदक्षते।२।११ (दशरू०)। इस शोभा को दक्षता एवं शूरता आदि सभी पौरुष गुणों की जननी के रूप में देखा जा सकता है।[2] साहित्यदर्पणकार के विचार से शोभा नामक गुण नायक की वह विशेषता है जिसके कारण वह वीरता, कुशलता, सत्यवादिता, सत्याचरण, महान् उत्साह, अनुरागिता तथा अपने से छोटों के प्रति दया एवं बड़ों के साथ प्रतिस्पर्द्धा प्रकाशित किया करता है।[3]

नायक का विलास वह विशिष्ट गुण जिसके कारण उसकी दृष्टि में धीरता, चाल में विचित्रता (या धैर्ययुक्त गति) एवं बोलचाल में मन्दहास दृष्टिगत हो।[4]

जब बहुत बड़े क्षोभ होने पर भी नायक में साधारण-विकार पाया जाय तो उसे माधुर्य गुण कहते हैं।[5]

जब हर्ष, शोक, भय तथा क्रोध आदि भावावेशों में भी नायक की आकृति परिवर्तित न हो तो वह उसका गाम्भीर्य नामक सात्विक पौरुष गुण कहा जाता है।[6] इस गुण के प्रभाव से नायक का महान् विकार भी परिलक्षित नहीं होता।[7]

---

१ सत्त्वातिरिक्तोऽभिनयो ज्येष्ठ इत्यभिधीयते। (ना० शा०-२२।२)
—अभिनव भारती, तृतीय भाग, पृ० १५०, बड़ौदा संस्करण।

२ दाक्ष्यं शौर्यमथोत्साहो नीचार्थेषु जुगुप्सनम्।
उत्तमैश्च गुणैः स्पर्धा यतः शोभेति सा स्मृता ॥२४।३२ (ना० शा०)

३ सा० द० ३।५१।

४ गतिः सधैर्या दृष्टिश्च विलासे सस्मितं वचः।२।११ (दशरू०)
—सा० द० ३।५८ पूर्वार्द्ध।

५ श्लक्ष्णो विकारो माधुर्य संक्षोभे सुमहत्यपि। (दशरू०), सा० द० (३।५८)।

६ यस्य प्रभावादाकारा रोषहर्षभयादिषु।
भावेषु नोपलभ्यन्ते गाम्भीर्यमिति शसितम् ॥२४।३६ (ना० शा०)
—सा० ३।५३ पूर्वार्द्ध।

७ गाम्भीर्यं यत्प्रभावेन विकारो नोपलक्ष्यते।२।१२ उत्तरार्द्ध (दशरू०)

जब नायक अनेक विघ्नों के होने पर उससे चंचल नहीं होता तथा अपने व्यवसाय (मार्ग) से विचलित नहीं होता तब वहाँ उसका स्थैर्य गुण परिलक्षित होता है।[1] आचार्य विश्वनाथ ने स्थैर्य के स्थान पर धैर्य लिखा है।[2]

प्राणों के नष्ट होने की स्थिति उत्पन्न हो जाने पर भी तिरस्कार, दैन्य, लज्जा आदि सहन न करना 'तेजस' कहलाता है।[3]

स्वाभाविक कोमलता से युक्त शृंगारपरक चेष्टाओं का नायक में पाया जाना "ललित" नामक सात्त्विक गुण है।[4]

जहाँ नायक अपने प्रिय वचनों द्वारा प्राण तक देने के लिए तैयार हो तथा सज्जनों को अपने सदाचार से अनुकूल बना ले वहाँ उसमें "औदार्य" नामक सात्त्विक गुण माना जाता है।[5]

कालिदास के तीनों रूपकों के नायक उत्तम कोटि के हैं। यथाप्रसंग यहाँ प्रत्येक नायक के गुणवैशिष्ट्य पर विचार करना अपेक्षित है। उनके विश्लेषणात्मक अध्ययन से नाटककार की नायकविषयक धारणा का स्पष्टीकरण संभव है। अतः यहाँ प्रत्येक नायक की विशेषता का सांगोपांग विवेचन प्रस्तुत किया जाता है।

अग्निमित्र नाट्यशास्त्रीय दृष्टि के धीरोदात्त कोटि का नायक है, क्योंकि उसमें धीरोदात्त के सभी लक्षण घटित होते हैं। इसके व्यक्तित्व में तेज एवं सौन्दर्य का मिश्रण है।[6] नाटककार ने मुख्यतः इसे सौन्दर्यप्रेमी के रूप में चित्रित किया है। यह विवाहित राजा है। धारिणी एवं इरावती इनकी दो रानियाँ हैं। उसके पुत्र का नाम वसुमित्र है। वह बहुत वीर एवं विक्रमी है। नाटक के अन्तिम अंक से पता चलता है कि इसने अपने दादा पुष्यमित्र के अश्वमेध यज्ञ के घोड़े की रक्षा करते हुए यवनों को परास्त किया है।[7] यह योग्य पिता

---

१ व्यवसायादचलनं स्थैर्यं विघ्नकुलादपि ।२।१३ पूर्वार्द्ध (वही)

२ सा० द० ३।५३।

३ अधिक्षेपाद्यसहनं तेजः प्राणात्ययेष्वपि ।२।१३ उत्तरार्द्ध (वही)

४ शृंगारचेष्टात्वं सहजं ललितं मृदुः ।२।१४ पूर्वार्द्ध (वही)

५ प्रियोक्त्या जीविताद् दानमौदार्यं सदुपग्रहः ।
२।१४ उत्तरार्द्ध (वही)

६ मालविका० १।११-१२ : पृ० ४६-४७।

७ ततः परान्पराजित्य वसुमित्रेण धन्विना।
प्रसह्य ह्रियमाणो मे वाजिराजो निवर्तितः ।।५।१५ (मालवि०)

का योग्य पुत्र है।[1] अनुमानतः यह कहा जा सकता है कि राजा अग्निमित्र की उम्र करीब ४५ वर्ष की होगी। इस अवस्था में भी काम की संतृप्ति नहीं होने के कारण वह मालविका से प्रेम करता है। चित्र में ही उसके सौन्दर्य को देखकर वह व्याकुल भाव से उसे प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करने लगा। एतदर्थ उसने अपने कार्यान्तर सचिव गौतम (विदूषक) से पर्याप्त सहायता ली है। संगीतशाला में अभिनय-प्रदर्शन के बाद जब मालविका चली जाती है, तब मालविका के प्रति उसकी उभरती हुई प्रेम-पीड़ा और भी तीव्र हो जाती है। उसने मालविका को ही अपने प्रेम का एकमात्र आधार बना लिया है—

सर्वान्तःपुरवनितान्यापारं प्रति निवृत्तहृदयस्य।
सा वामलोचना मे स्नेहस्यैकायनीभूता।२।१४॥

मालविका के साथ अपने गुप्त अनुराग-सम्बन्ध एवं बेचैनी को छिपाने के लिए वह झूठ[2] भी बोलता है।[3]

राजा बहुत विचारवान् व्यक्ति है। अवसरानुकूल वह यथोचित व्यवहार करता है। अकारण वह किसी का दिल नहीं दुखाता है। उसमें पर्याप्त दाक्षिण्य गुण विद्यमान है। इसीलिए वह अपनी नायिकाओं के साथ अत्यन्त विनम्रतापूर्ण बर्ताव करता है। सचमुच यदि राजा चाहता तो अपनी रानियों की परवाह न करके इसके साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित कर लेता, किन्तु वह दाक्षिण्य की मर्यादा का उल्लंघन नही करता है।[4] यही कारण है कि वह सामाजिकों की दृष्टि में गिरता नहीं है। जब रानी इरावती अत्यन्त क्रुद्ध होकर उसे 'शठ' तक कह देती है[5] तथा अपनी करधनी से पीटने के लिए तैयार हो जाती है[6] तब भी

---

१ होदि परितुट्टोम्हि पिदरं अणुअदो वच्छोत्ति (मालवि०, अंक ५, पृ० ३७२)

२ राजा—सुन्दरि ! न मे मालविकया कश्चिदर्थः (मालवि० अ० ३, पृ० २२९)

३ राजा—भाग्यास्तमयमिवाक्ष्णोर्हृदयस्य महोत्सवावसानमिव।
द्वारपिधानमिव धृते मन्ये तस्यास्तिरस्करणम्॥२।११ (मालवि०)
—राजा—(आत्मानं विलोक्य)—शरीरं क्षामं स्यादसति..... ....॥३।१

४ समाहितिका—वलिअं खु साहिलासो भट्टा तस्सि। केवलं देवीए धारिणीए चित्तं रक्खन्दो अत्तणो पहुत्तणं ण दंसेदि। मालविआ वि इमेसु दिअहेसु अणुहूदमुत्ता विअ मालदीमाला मिलाअमाणा लक्खिअदि।—(मालवि० : तृतीय अंक, पृ० १४६)

५ —इरावती—सढ अविस्ससणीअहिअओ सि। (वही पृ० २३२)

६ —इरावती—(इति रशनामादाय राजानं ताडयितुमिच्छति) (वही पृ० २३४)

राजा अग्निमित्र उस पर क्रोध नहीं करता है। अपने मृदु स्वभाव के कारण वह विनम्रतापूर्वक उसे (इरावती को) समझाने-बुझाने का ही प्रयत्न करता है। इसके लिए वह दाम्पत्यशास्त्रानुसार[1] उसके पाँव भी पड़ता है।[2] इसी तरह समुद्रगृह में जब इरावती राजा को मालविका के साथ प्रणयवार्ता करते हुए देखकर उस पर बहुत बिगड़ जाती है, तब भी राजा उसे अतिविनीत भाव से समझाने का ही प्रयत्न करता है।[3] इतना ही नही राजा के दाक्षिण्य का विशेष स्पष्ट रूप वहाँ प्रकट होता है जब मालविका ने यह समझ लिया कि राजा रानी धारिणी से डरता है[4] तब वह (अग्निमित्र) कहता है कि इस प्रकार प्रेम-प्रदर्शन की शिष्टता तो प्रेमियों का कुल नियम है। मेरे प्राण तो तुम्हारी आशा में ही टिके हुए हैं—

'दाक्षिण्यं नाम बिम्बोष्ठि ! बैम्बिकानां कुलव्रतम् ।
तन्मे दीर्घाक्षि ! ये प्राणास्ते त्वदाशानिबन्धना: ।४।१४

पूरे अन्तःपुर में राजा के इस दाक्षिण्य का प्रभाव व्याप्त था। जब राजा प्रमदवन में विहारार्थ रानी इरावती से मिलने नहीं जाना चाहता है तब विदूषक समझाता है कि आपके लिए यह उचित नहीं है कि रानियों के प्रति सदा से चले आते हुए समान प्रेम एवं प्रतिष्ठा को आप एक-ब-एक तिलांजलि दे दें।[5]

यद्यपि प्रमदाओं के स्वभाव के अध्ययन में राजा की सच्ची पैठ है, फिर भी वह प्रेम-व्यवहार में अतिसंयमी है। अतः वह कोई भी ऐसा कार्य नहीं करना चाहता है जिससे उसकी किसी भी रानी को दुःख या अन्यथाभाव का अनुभव हो। नवीन नायिका मालविका के साथ प्रणय-सम्बन्ध[6] दृढ़ हो जाने के कारण

---

१ साम्ना भेदेन दानेन नत्युपेक्षा रसान्तरैः (दशरू०)

२ राजा—अपराधिनि मयि दण्डं संहरसि किमुद्यतं कुटिलकेशि !
वर्धयसि विलसितं त्वं दासजनायात्र कुप्यसि च ।२।२२ (मालवि०)
(इति पादयोः पतति)

३ —नार्हति कृतापराधोऽप्युत्सवदिवसेषु परिजनो बन्धम् ।
इति मोचिते मयैते प्रणिपतितुं मामुपगते च ।।४।१७ (मालवि०)

४ मालविका (सोपहासम्)—जो ण भाएदि सो भए भट्टिणीदंसणे दिट्ठ-सामत्थो भट्टा णं ।

५ विदूषकः—णारिहदि भवं सव्वं अन्देउरपडिट्ठिदं दक्खिणं एव्वपदे पिट्टदो कादुं । (मालवि०, अंक ३, पृ० १६१)

६ मालवि० ४।८

उसके मन में व्याकुलता है। इसलिए अब उसे भय हो रहा है कि कभी उसकी यह व्याकुलता रानी के समक्ष प्रकट न हो जाय।[1]

अग्निमित्र में पर्याप्त धैर्य है। चित्र में मालविका को देखकर यद्यपि वह उसके प्रेम में दिवाना हो जाता है, फिर भी इतना नहीं कि उसका प्रेम सब पर प्रकट हो जाय। वह उसके साथ कृत प्रेम को हमेशा प्रच्छन्न ही रखता है। अशोक वृक्ष के नीचे जब बकुलावलिका ने मालविका से कहा कि राग से भरा उपभोग योग्य यह तुम्हारे सामने ही दीख रहा है।[2] इस पर जब मालविका प्रसन्नता के साथ पूछती है कि क्या प्रियतम ?[3] तब राजा अग्निमित्र बहुत खुश होता है और कहता है—"प्रेमियों के लिए इतना ही पर्याप्त है।[4] राजा की दृष्टि में प्रेम उभयवर्ती होना चाहिए। अतः उसका कहना है कि दो प्रेमियों में से एक में तो तड़पन ही नहीं हो और दूसरा तड़प रहा है, यदि ऐसे दोनों का मिलन भी हो जाय तो मुझे पसन्द नहीं। किन्तु यदि दोनों का एक दूसरे के लिए समान प्रेम हो और वे आपस में मिलने की आशा छोड़ चुके हों, तो उनका एक दूसरे के लिए मर जाना भी अच्छा है।[5] मालविका के समक्ष राजा अपने हार्दिक प्रेम का प्रर्शदन कलात्मक ढंग से करता है। जब मालविका अपनी सखी वकुलावलिका से कहती है कि मुझ मन्दभागिनी के लिए तो स्वप्न में भी भर्त्ता का मिलन दुर्लभ बना रहा[6] तब राजा कहता है कि मैंने तो प्रेम की आग को साक्षी बनाकर अपने आपको ही तुम्हारी सखी के हाथ में सौंप दिया है। मैं इनका स्वामी नहीं बल्कि अकेले में सेवा करने वाला दास हूँ।[7] राजा की शृंगारपरक चेष्टाओं का चूड़ान्त निदर्शन

---

१ —वयस्य ! निसर्गनिपुणाः स्त्रियः। कथं मामन्यसंक्रान्तहृदयमुपलालयन्तमपि ते सखी न लक्षयिष्यति ? अतः पश्यामि—
उचितः प्रणयो वरं विहन्तुं बहवः खण्डनहेतवो हि दृष्टाः।
उपचारविधिर्मनस्विनीनां न तु पूर्वाभ्यधिकोऽपि भावशून्यः ॥३१२॥

२ बकुलावलिका - एसो उवारूढराओ उवभोअक्खमोपुरदोदे दीसइ।

३ मालविका (सहर्ष)—किं भट्टा ? (मालवि० अं० ३, पृ० २१३)

४ राजा—सखे पर्याप्तमेतावता कामिनाम्। (मालवि० अंक ३, पृ० २१४)।

५ राजा—अनातुरोत्कण्ठितयोः प्रसिध्यता समागमेनापि रतिर्न मां प्रति।
परस्परप्राप्तिनिराशयोर्वरं शरीरनाशोऽपि समानुरागयोः ।३।१५।

६ मालविका- सहि महं उण मन्दभाइणीए सिमिणअसमा (मालवि०)
—अमो वि भट्टिणो दुल्लहो आसि। (मालवि०, अं० ४, पृ० २८७)।

७ राजा—उत्तरेण किमात्मैव पंचबाणाग्निसाक्षिकम्।
तव सख्यै मया दत्तो न सेव्यः सेविता रहः ॥४।१२॥

वहाँ मिलता है जब वह मालविका से अपनी आलिंगनभुजा में लिपट जाने का अनुरोध करता है।[1]

सम्पूर्ण नाटक में राजा की काम-कला-निपुणता का प्रदर्शन हुआ है। लेकिन वस्तुतः वह सिर्फ कामी ही नही, अपितु शौर्यवीर्य गुण से पूर्ण है। यह भले कहा जा सकता है कि उसके ललित गुण की तरह उसके शौर्य गुण का प्रदर्शन नहीं हुआ है, फिर भी जगह-जगह पर उसके शौर्य की ओर संकेत किया गया है। वह सभी राजकीय कार्य को कुशलतापूर्वक सम्पन्न करता है। प्रथम अंक के आरम्भ में ही वह राज्य-सुरक्षा के बारे मे अत्यधिक चिन्तित मालूम पड़ता है। अपने मंत्री वाहतक से विदर्भ के राजा यज्ञसेन द्वारा उत्तर स्वरूप प्रेषित पत्र में लिखित सारी बातों को सुनकर तेजस्वी राजा अग्निमित्र कहता है कि यह विदर्भ नरेश मेरा स्वाभाविक शत्रु है तथा मेरे प्रति उसका विरुद्ध व्यवहार है। अत वह उसे समूल नष्ट करने के लिए अपने साले वीरसेन के सेनापतित्व में सैन्यदल भेजने के लिए मंत्री को आज्ञा देता है[2] तथा उससे (मंत्री से) भी सम्मति माँगता है। इससे राजा के राजनीतिकौशल एवं अर्थशास्त्र के ज्ञान[3] का स्पष्ट संकेत मिलता है। यहाँ राजा की तत्कालनिर्णय लेने की क्षमता एवं उदात्तता का परिचय मिलता है। अग्निमित्र यह अच्छी तरह समझता है कि राजतन्त्र की सफलता राजा एवं मंत्री दोनों के परस्पर मतैक्य और राजनीतिशास्त्र की अनुकूलता पर ही आधारित होती है।[4] राजा की इस शास्त्रीय दृष्टि का अनुमोदन जब मंत्री वाहतक करता है[5] तब वह उसे सैन्य की तैयारी का आदेश देता है।[6] पुन उनकी शूरता का परिचय नाटक से अन्तिम अंक में मिलता है। वसुमित्र की यवनों पर विजय का समाचार सुनते ही, परिव्राजिका रानी धारिणी तथा कंचुकी के क्रमशः ये वाक्य उनके शौर्य को व्यक्त करते है :—

१ राजा — विसृज सुन्दरि ! सङ्गमसाध्वसं तव चिरात्प्रभृति प्रणयोन्मुखे।
परिगृहाण गते सहकारतां त्वमतिमुक्तलताचरितं मयि।४।१३। (वही)

२ राजा — (सरोषम्) — कथं कार्यविनिमयेन मयि व्यवहरत्यनात्मज्ञः। वाहतक, प्रकृत्यमित्रः प्रतिकूलाचारी च मे वैदर्भः। तद्यातव्यपक्षे स्थितस्य पूर्वसंकल्पित-समुन्मूलनाय वीरसेनप्रमुखं दण्डचक्रमाज्ञापय। (मालवि०, अं० १, पृ० ३५)

३ हीनेन विगृह्णीयात् (कौटिल्य अर्थशास्त्र)।

४ मन्त्रिणां मन्त्रमूलं हि राज्ञो राष्ट्रं विवर्धते। (महाभारत)

५ अचिराधिष्ठितराज्यः शत्रुः प्रकृतिष्वरूढमूलत्वात्।
नवसंरोहणशिथिलस्तरुरिव सुकरः समुद्धर्तुम् ॥१।८॥ (मालवि०)।

६ राजा — तेनह्यवितथं तन्त्रकारवचनम्। इदमेव निमित्तमादाय समुद्योज्यतां सेनापतिः। (मालवि० अ० १, पृ० ३८।

परिव्राजिका—दिष्ट्या पुत्रविजयेन दम्पती वर्धेते। (देवीं विलोक्य)
भर्त्रासि वीरपत्नीनां श्लाघ्यानां स्थापिता धुरि।
वीरसूरिति शब्दोऽयं तनयात्वामुपस्थितः।५।१६।

देवी—होदि परितुट्ठोम्हि पिदर अणुगदो वच्छोत्ति।

राजा—मौद्‌गल्य! कलभेन खलु यूथपतिरनुकृतः।

कंचुकी—नैतावता वीरविजृम्भितेन चित्तस्य नो विस्मयमादधाति।
यस्याप्रधृष्यः प्रभवस्त्वमुच्चैर्वह्नेरपां दग्धुरिवोरुजन्मा।५।१७

नाटक के भरतवाक्य के रूप में राजा के द्वारा ही उसके वीर्य पराक्रम का संकेत मिलता है।[1] राजा अग्निमित्र ने यज्ञसेन से उसका राज्य छीना नहीं, वल्कि उसका राज्य माधवसेन के साथ आधा-आधा बाँटकर अपनी उदारता का पर्याप्त परिचय दिया।[2] राजा हमेशा सभी कार्य को मंत्रियों के परामर्श से करता है, क्योंकि वह मंत्रीवर्ग को अपने विश्वास में रखना सर्वथा उचित समझता है। विदर्भराज के बँटवारे में राजा की बुद्धि-विलक्षणता एव राजनीति-निपुणता का अनुभव मंत्रिपरिषद् ने किया तथा उसका सहर्ष अनुमोदन किया।[3]

राजा को जीवन की असारता एवं सेवाधर्म में भरपूर विश्वास है। इसके सम्बन्ध में उसके पाण्डित्यपूर्ण विचार का परिचय हमें मिलता है। परिव्राजिका कहती है कि डाकुओं के आक्रमण से घबराई मालविका की रक्षा के प्रयत्न में उसके भाई अपने प्रिय प्राणों को देकर स्वामी के ऋण से उऋण हो गये। इसके बाद वह आँसू गिराने लगती है। उसकी उस कारुणिक दशा को देखकर राजा प्रबोध देते हुए धैर्य बँधाता है—"भगवति तनुभृतामीदृशी लोकयात्रा।[4] न शोच्यस्तत्र-भवान् सफलीकृतभर्तृपिण्ड ।" पुनः उसके गेरुआवस्त्र धारण करने के बारे में राजा कहता है कि यह उचित कार्य है, क्योंकि सज्जनों का इस परिस्थिति में यही मार्ग है।[5] इससे पता चलता है कि विधवाओं के संन्यास एवं वैराग्य में राजा की पूर्ण आस्था है।

---

१ राजा—आशास्यमीतिविगमप्रभृति प्रजानां।
संपत्स्यते न खलु गोप्तरि नाग्निमित्रे।५।२०।

२ राजा—मौद्‌गल्य तत्रभवतोर्भ्रात्रोर्यज्ञसेनमाधवसेनयोर्द्वैराज्यमवस्थापयितु-
कामोऽस्मि। तौ पृथग्वरदाकूले शिष्टामुत्तरदक्षिणे।
नक्तं दिवं विभज्योभौ शीतोष्णकिरणाविव।५. १३। (मालवि०)

३ —कंचुकी—(प्रविश्य) विजयतां देवः। अमात्यो विज्ञापयति। अहो कल्याणी देवस्य बुद्धिः। मन्त्रिपरिषदोऽप्येवमेव दर्शनम्। कुतः—
द्विधा विभक्तां श्रियमुद्वहन्तौ धुरं रथाश्वाविव सग्रहीतुः।
तौ स्थास्यतस्ते नृपतौ निदेशे परस्परावग्रहनिर्विकारौ।।५।१४। (मालवि०)

४ मरणं प्रकृतिः शरीरिणाम्। (रघुवंश)
—जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः (गीता)

५ राजा—युक्तम्। सज्जनस्यैष पन्थाः। (मालवि० अंक ५, पृ० ३५८)।

राजा का व्यक्तित्व स्वभावतः परमकारुणिक, दयाभाव तथा सहृदयता से परिपूर्ण है। मालविका की दारुण दशा का हाल परिव्राजिका से सुनकर वह कहता है कि विपत्तियाँ अनादर का घर हुआ करती हैं, क्योंकि महारानी पद प्राप्त करने योग्य इस भोली-भाली लड़की से हम दासी का काम ले रहे हैं जैसे कोई नहाकर रेशमी वस्त्र से शरीर पोंछने के लिए परने (तौलिये) का काम लेता है।[1]

अपने से बड़ों के प्रति राजा अग्निमित्र आदर-सम्मान का भाव प्रदर्शित करता है। नाट्याचार्य गणदास एवं हरदत्त को ससम्मान आसन पर बैठाकर राजा पूछता है कि शिष्यों के उपदेश काल में आप दोनों के यहाँ उपस्थित होने का क्या प्रयोजन है ? दोनों की बात को सुनकर उनकी नृत्यकला में श्रेष्ठता का निर्णय करने के लिए उसने परिव्राजिका को प्रभारी बनाया। ऐसा करके राजा ने अपनी न्यायनिष्पक्षता का ही परिचय दिया। हालांकि राजा स्वयं ललितकला-प्रेमी होने के कारण उसका पूर्ण मर्मज्ञ है, फिर भी निर्णायिका के पद पर परिव्राजिका को ही नियुक्त करना उचित समझता है। वह स्वयं सामाजिक बनकर अभिनय का प्रदर्शन देखता है। मालविका का प्रत्यक्षदर्शन कर वह एक कुशल चित्रकला मर्मज्ञ की तरह मालविका के अंकित चित्र की आलोचना करते हुए कहता है कि चित्रकार ने सावधानीपूर्वक इसका चित्रांकन नहीं किया है। वस्तुतः इसके सर्वांग सौन्दर्य में कोई भी कमी नही है।[2]

उपर्युक्त गुणवैशिष्ट्य के विश्लेषण से स्पष्ट है कि कालिदास को अग्निमित्र के चरित्र-चित्रण में पर्याप्त सफलता मिली है। श्री रामस्वामी शास्त्री के विचार से अग्निमित्र समग्रभावेन शिष्ट एवं संस्कृत है। उसे स्वजनों के चित्तरक्षण की निरन्तर चिन्ता है। जीवन एवं जगत् में उपलब्ध सौन्दर्य का वह अभिशंसक है। प्रेम के ही समान युद्ध में भी वह सफल है तथा महान् हिन्दू राजाओं के गुणों से युक्त है।[3] वाल्टर रूबेन का कथन है कि नाटक के अन्त में इसे आदर्श पति के रूप में उपस्थित किया गया है, क्योंकि जबतक उसकी पत्नी धारिणी मालविका को उसे सौंप नहीं देती, तबतक वह शांत भाव से प्रतीक्षा करता है।[4]

---

१ राजा—अहो परिभवोपहारिणो विनिपाताः। कुतः

प्रेष्यभावेन नामेयं देवीशब्दक्षमा सती।
स्नानीयवस्त्रक्रियया पत्रोर्णं वोपयुज्यते ॥ ५।१२॥ (मालवि०)

२ —मालविकाग्निमित्रम् ।२।३।

३ के० एस० रामस्वामी : कालिदास, पृ० २३५-२३८।

४ वाल्टर रूबेन : कालिदास, पृ० ८९।

नाट्य-रचना-क्रमानुसार इनके रूपक का द्वितीय नायक पुरूरवा है। नाट्य-विधा की दृष्टि से यह उपरूपक प्रकार त्रोटक का नायक है। त्रोटक के नायक की सारी विशेषताएँ नाटक के नायक की ही भाँति होती है। अतः यहाँ तदनुसार पुरूरवा का नायकत्व विचारणीय है।

चन्द्रवंशी राजा पुरूरवा उच्च कुलसंभूत राजर्षि है[1]। यह मध्यम लोकपाल है।[2] उसका वहुत ऊँचा आदर्श है। उसकी दृष्टि में उम्र से नहीं, जन्म से ही राजकुमार पृथ्वी की रक्षा का भार वहन करता है। यही विचार कर वह अपने पुत्र आयु का राज्याभिषेक करता है। वह स्वयं एक वहादुर एवं लोकप्रिय राजा है। त्रोटक के आरम्भ में ही उसकी वहादुरी एवं उपकारभावना का परिचय मिलता है। सूर्योपासना करके लौटते समय "परित्ताअदु परित्ताअदु जो सुरपक्खवादी जस्स वा अम्वरअले गदी अत्थि" की ध्वनि सुनते ही राजा ने शौर्यपूर्ण शब्दों में कहा —"अलमाक्रन्दितेन।.......... पुरूरवसं मामुपेत्य कथ्यतां कुतो भवत्यः परित्रातव्या इति"। सारी परिस्थितियों को अवगत कर उसने अप्सराओं को आश्वासन दिया कि मैं केशी नामक दैत्य से वन्दीकृत उर्वशी को तुरत छुड़ाने जा रहा हूँ। सभी अप्सराएँ आश्वस्त होकर कहती हैं 'सरिसं खु सोमादो एवकन्दरस्स'। उन्हें राजा के पराक्रम पर भरपूर विश्वास है। अतः मेनका रम्भा से कहती है कि वे निःसन्देह हमारे कष्ट को दूर करेंगे क्योंकि वे इतने पराक्रमी हैं कि युद्धकाल में इन्द्र भी मर्त्यलोक से उन्हें वुलाकर सेनापति वनाते हैं।[4] कुछ ही देर के वाद दैत्य से छुड़ाकर वह चित्रलेखा द्वारा आलम्बित उर्वशी को लेकर पूर्वनिश्चित हेमकूट नामक पर्वत पर प्रतीक्षा में लगी रम्भा आदि सखियों के समक्ष पहुँच गया।[5] यद्यपि पुरूरवा ने अपने वलपौरुष से केशी नामक दैत्य को परास्त कर उर्वशी को उससे

---

१ सूर्याचन्द्रमसौ यस्य मातामहपितामहौ।
स्वयं वृतः पतिर्द्वाभ्यामुर्वश्या च भुवा च यः ।।४।३८ (विक्र०)
—विक्र० ५।२१-२२।
—उर्वशी—हला पिअकलत्तो राएसि। ण उण हिअअं णिवत्तेदुं सक्कुणोमि।
(वही अंक ३, पृ० १२४)।

२ नारदः—विजयतां मध्यमलोकपालः (विक्र०, अंक ५, पृ० २२७)।

३ राजा—५।१८।

४ मेनका—हला मा दे संसओ होदु। उपट्ठिदसंपराओ महिन्दो वि मज्झमलोआदो सवहुमाणं आणाविअ तं एव्व विअअसेणामुहे णिओजेदि,
(विक्र० अं० १ पृ० १)।

५ (ततः प्रविशति रथारूढो राजा सूतश्च चित्रलेखावलम्विता भयनिमीलिताक्षी चोर्वशी)
(वही, पृ० १३)

मुक्त किया फिर भी इसका श्रेय वह त्रिलोकरक्षी इन्द्र को ही देता है।[1] इससे उसकी आत्माहंकारविमुखता एवं विनयशीलता व्यक्त होती है। अप्सराओं की दृष्टि में यह महेन्द्र के समान ही प्रभावशाली है।[2] राक्षस से मुक्त कराने के कारण चित्रलेखा उसे अभयदाता कहती है।[3] उसके इस उपकार के लिए रम्भा अनुग्रह की भावना व्यक्त करती है।[4]

उपकारपरायणता के कारण पुरूरवा यशस्वी एवं समादरणीय है।[5] चित्ररथ राजा को इस उपकार के लिए अपने साथ उर्वशी को लेकर इन्द्र से मिलने का अनुरोध करता है। उनके उपकार को व्यक्त करते हुए उसने कहा—

पुरा नारायणेनेयमतिसृष्टा मरुत्वते।
दैत्यहस्तादपाच्छिद्य सुहृदा संप्रति त्वया ॥१। १४॥

इस पर जब राजा पुरूरवा कहता है कि यह तो इन्द्र की ही महिमा है जिससे उनके पक्ष के आदमी शत्रुओं पर विजय पाते हैं,[6] तब चित्ररथ उसकी (राजा की) इस विनम्रता को उसके अद्भुत पराक्रम का भूषण बताता है।[7]

राजा पुरूरवा विशालकाय[8] एवं सौन्दर्यपूर्ण[9] हैं। गुरुजनों के प्रति वह स्वभावतः श्रद्धालु है, एवं सम्मानभाव से पूर्ण है।[10] नारदमुनि के आने पर राजा स्वयं अर्घ्यजल उपस्थित करते हुए विनम्रतापूर्वक प्रणाम करता है।[11]

---

१ राजा—गतं भयं भीरु सुरारिसंभवं त्रिलोकरक्षी महिमा हि वज्रिणः।
तदेतदुन्मीलय चक्षुरायतं महोत्पलं प्रत्युपसीव पद्मिनी।१।५।

२ चित्रलेखा—ण महिन्देण। महिन्दसरिसाप्पुभावेण इमिणा राएसिणा पुरूरवसेण (वही पृ० १७)।

३ चित्रलेखा—अभअदाई महाराओ आणादि (पृ० २०)।

४ रम्भा—(सर्वा उपसर्पन्ति) हला एथ पिअआरिणं संभावेम्ह राएसिं।

५ चित्ररथ—(राजानं दृष्ट्वा सबहुमानम्) दिष्ट्या महेन्द्रोपकारपर्याप्तेन विक्रम-महिम्ना वर्धते भवान्। (वही अंक १, पृ० २६)।

६ विक्र १।१५।

७ चित्ररथः युक्तमेतत्। अनुत्सेकः खलु विक्रमालंकारः। (वही पृ० २९)।

८ विक्र० ३।३।

९ उर्वशी—हलादाणिं पुढमदंसणादो सविसेसं पिअदसणो महाराओ पडिहादि (विक्र० अंक २, पृ० ६०)।

१० राजा—अम्ब भगवते च्यवनाय मां प्रणिपातय (वही अंक ५, पृ० २१८)।

११ राजा—(उर्वशी हस्तादर्घ्यमायादायावर्ज्य) भगवन्नभिवादये। (वही, पृ० २२७)।

गृहस्थादि आश्रमों में पुरूरवा की भरपूर आस्था है। उसने अपने पुत्र आयु का राज्याभिषेक करते समय उसे गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने के लिए कहा है।[1]

राजा भावुक प्रकृति का है। वह अपने प्रणयोपचार को कवि-हृदय के मधुर रस से सिक्त कर देता है। इस त्रोटक में उसका स्वरूप कवि एवं प्रेमी के रूप में निखरा है।

पुरूरवा उर्वशी का दर्शन उस परिस्थितिविशेष में करता है जब राक्षस के भय से वह नेत्र बन्द किये, रथ पर मूर्च्छावस्था में पड़ी है। राक्षसों के भय की संभावना का प्रत्याख्यान करते हुए वह उससे कहता है कि हे सुन्दरि ! धैर्य धारण करो तथा अपनी प्रशस्त आँखों को उसी तरह खोलो जिस तरह प्रातःकाल होने पर कमलिनी अपना फूल खिलाती है।[2] पुरूरवा की सौन्दर्य-दृष्टि अत्यधिक ऐन्द्रियता-मूलक है। होश में आती हुई उर्वशी जब आँखें खोलती है तब उसे ऐसा लगता है जैसे चन्द्रोदयोपरान्त रजनी अन्धकार की कारा से उन्मुक्त हो गई हो, जैसे रात में धूमशिखा से विमुक्त अग्नि हो, जैसे गंगा की वह धारा हो जो कगार के गिरने से कलुषित होकर पुनः स्वच्छ एवं निर्मल बन गई हो।[3] सचमुच पुरूरवा की दृष्टि लालित्यपूर्ण है। पूर्ण होश मे आने पर उर्वशी को देखकर पुरूरवा मन ही मन सोचता है कि वेदाभ्यास से जड़ीभूत किसी तपस्वी ऋषि की यह सृष्टि नहीं हो सकती है। यह रूप चन्द्रमा, कामदेव अथवा, वसंत के द्वारा बनाया गया होगा।[4] उसके विचार से नारी-सौन्दर्य के रसास्वादन के लिए यौवनोचित मनोवृत्ति एवं विषयोन्मुखता आवश्यक है। इस तरह वह सौन्दर्य को उपभोग्य मानता है। सखियों की उदासीनता को व्यक्त कर बड़ी चतुराई से उर्वशी के प्रति अपने अनुराग को प्रकट करते हुए कहता है कि आपको एक बार भी अकस्मात् देखकर जिसने अपनी आंखों को सफल किया है, वह भी आपके विरह में विकल हो जायगा, उन सखियों की क्या बात है, उनकी तो आपके साथ प्रगाढ़ प्रेम है।[5] रथ के

---

१ राजा—अयि वत्स उषितं त्वया पूर्वस्मिन्नाश्रमे। द्वितीयमध्यासितुं तव समयः। (वही २१८)।

२ तदेतनुन्मीलय चक्षुरायतं निशावसाने नलिनीव पंकजम् ॥१। ५॥ (विक्र०)

३ ....आविर्भूते शशिनि तमसा मुच्यमानेव रात्रि—
नैशस्यार्चिर्हुतभुज इव च्छिन्नभूयिष्ठधूमा।
मोहेनान्तर्वरतनुरियं लक्ष्यते मुक्तकल्पा
गंगारोधः पतनकलुषा गच्छतीवप्रसादम् ॥—(विक्र०)।१।७.

४ विक्र० १।८।

५ विक्र० १।९।

हिलने से चक्रनितम्बा उर्वशी के कन्धे से उसका कन्धा छू गया। फलतः उसे रोमांच हो गया, मानो उसके काम के अंकुर उग गये हों।[1] जब उर्वशी अपनी सखियों के साथ चली जाती है तब राजा उसके मार्ग को निहार कर कहता है—अहो! मदन दुर्लभ वस्तु की अभिलाषा करता है। यह (उर्वशी) आकाश में उड़कर जाती हुई मेरे मन को शरीर से उसी प्रकार बलपूर्वक खींचती जा रही है जैसे कोई राजहंसी टूटे हुए कमल की नाल से उसका तन्तु (सूत्र) खींचे चली जाती है।[2] इस प्रकार पुरूरवा उर्वशी के सौन्दर्य से इतना आकृष्ट है कि उसे आभूषणों का आभूषण, शृंगार-प्रसाधनों का प्रसाधन एवं उपमाओं का भी प्रत्युपमान कहता है।[3] विहार के लिए प्रमदवन में पहुँचने पर दक्षिण पवन से उसमें स्पर्धा का भाव जगता है, क्योंकि वह पवन माधवीलता को पुष्प रस से पूर्ण करता हुआ तथा कुन्दलता को नचाता हुआ उसे (पुरूरवा को) एक कामी के समान लग रहा है।[4] प्रमदवनोद्यान की वसन्त सुषमा उसके लिए पीड़ा-प्रदायिनी सिद्ध हो रही है।[5] दीर्घश्वास लेकर राजा माणवक (विदूषक) से निवेदन करता है कि रूपश्रीउर्वशी के दुर्ललित आकर्षण ने मेरी आँखों को मोहिनी-पाश में बाँध लिया है, अतः उसे उपवन में कुछ भी अच्छा मालूम नहीं पड़ रहा है। इस परिस्थिति में कोई ऐसा उपाय सोचो जिससे मेरी मनोकामना पूर्ण हो।[6]

व्याकुलता के कारण गम्भीर निद्रा के अभाव में पुरूरवा न तो स्वप्न में ही अपनी प्यारी उर्वशी का दर्शन कर सकता है और न चित्रफलक पर उसकी प्रतिकृति ही बनाकर मनबहलाव कर सकता है, क्योंकि अश्रुप्रवाह रुकता ही नहीं। अन्त में लाचार होकर वह प्रेम-प्रमत्त भाव से उर्वशी को उपालम्भ देने लगता

---

१ विक्र० १।१० ।

२ राजा—(उर्वशीमार्गोन्मुखः) अहो नु खलु दुर्लभाभिनिवेशी मदनः ।

एषा मनो मे प्रसभं शरीरात्पितुः पदं मध्यममुत्पतन्ती ।
सुराङ्गना कर्षति खण्डिताग्रात्सूत्रं मृणालादिव राजहंसी ॥१। १८॥

(विक्र०)

३ विक्र० २।३ ।

४ वही २।४ ।

५ वही २।५-७ ।

६ राजा—(निःश्वस्य) २।८—तदुपायश्चिन्त्यतां यथा सफलप्रार्थनो भवेयम् ।
(विक्र० अं० २, पृ० ५३)

है।[1] भूर्जपत्र में अंकित प्रिया की प्रणय-वेदना को पढ़कर उसे ऐसा प्रतीत होता है मानो उसका मुँह उर्वशी की बड़ी-बड़ी बरूणियों वाले मुँह से मिल गया हो। जब चित्रलेखा उर्वशी की प्रणय-वेदना का निवेदन करती है तब पुरूरवा अत्यधिक आर्द्रभाव से प्रार्थना के स्वर में कहता है कि यदि हम दोनों का प्रणय एक दूसरे के प्रति समान भाव से प्रवृद्ध है तो एक तपे हुए लोहे को दूसरे तपे हुए लोहे से जोड़ देना उचित है।[2]

उर्वशी के साथ प्रगाढ़ प्रेम होने पर भी पुरूरवा आत्माधिकार युक्त है। इसका प्रबल प्रमाण यह है कि जब इन्द्र द्वारा प्रेषित देवदूत से प्राप्त संवाद के अनुसार स्वर्ग में अप्टरसाश्रित अभिनय प्रदर्शन के लिए उर्वशी की सखी चित्रलेखा जाने की अनुमति माँगती है तब पुरूरवा इस प्रकार आश्चर्यजनक आत्मसंयम के साथ उसे जाने की अनुमति देता है कि उसके कथन में हिचकिचाहट की भी कमी नहीं व्यक्त होती है।[3] जब उर्वशी अदृश्य हो जाती है और उसका लिखित प्रेमपत्र भी हवा में उड़कर गायब हो जाता है तब पुरूरवा बिल्कुल आर्त्तभाव से उस दक्षिण पवन को निवेदन करता।[4]

पुरूरवा दाक्षिण्य स्वभाव का है। रानी धारिणी अचानक प्रमदवन में पहुँचकर जब उस भुर्जपत्र को पा लेती है तब वह झूठ बोलकर अपना अपराध छिपाने लगता है। फिर भी रानी के नहीं मानने पर अपने को दास बताकर तथा अपराध को स्वीकार कर वह शास्त्रानुकूल क्षमा[5] के निमित्त उसके पैरों पर गिर

---

१ वही २।१०-११

२ राजा —भद्रमुखि !

पर्युत्सुकां कथयसि प्रियदर्शनां तामार्तं न पश्यसि पुरूरवसं तदर्थे।
साधारणोऽयमुभयोः प्रणयः स्मरस्य तप्तेन तप्तमयसा घटनाययोग्यम्।
२।१६ (विक्र०)

३ राजा —(कथंचिद्वाचं व्यवस्थाप्य) नास्मि भवत्योरीश्वरनियोगप्रत्यर्थी।
स्मर्तव्यस्त्वयं जनः। (विक्र० अंक २, पृ० ७७)।

४ विक्र० २।२०

५ स्त्रीणामीर्ष्याकृतो मानः कोपोऽन्यासङ्गिनि प्रिये।
यथोत्तरं गुरुः षड्भिरुपायैस्तमुपाचरेत्॥
साम्ना भेदेन दानेन नत्युपेक्षारसान्तरैः।
तत्र प्रियवचः साम भेदस्तत्सख्युपार्जनम्॥
दानं व्याजेन भूषादेः पादयोः पतनं नतिः।
....(दशरू०)

पड़ता है।[१] रानी के रूठकर चले जाने पर वह विदूषक से अनुभूतिपूर्ण शब्दों में कहता है कि तरह-तरह की मधुर बातों से युक्त भी अनुनय स्नेहरहित होने पर स्त्रियों के हृदय में प्रवेश करता, है जैसे जौहरी लोगों के हृदय में बनावटी रंगवाला मणि नहीं समाता है।[२] स्पष्ट शब्दों मे विदूषक के कथन का खण्डन करते हुए वह कहता है कि उर्वशी से प्रेम करने पर भी वह औशीनरी को पूर्ववत् प्यार करता है।[3] प्रियानुप्रसादनव्रत में लीन औशीनरी को देखकर राजा पुरूरवा कहता है कि हे कल्याणि! अपने मृणालकोमल इन अंगों को इस व्रत से व्यर्थ कष्ट दे रही हो। जो दास तुम्हारी प्रसन्नता के लिए लालायित है उसे तुम क्या प्रसन्न करना चाहती हो।[४] प्रच्छन्नवेश में मणिहर्म्यभवन के पृष्ठ पर स्थित उर्वशी राजा की यह बात सुनकर कहती है—"महन्तो खु से इमस्सि बहुमाणो"। इस पर चित्रलेखा उससे कहती है—अरी मुग्धे! जब नागरिक दूसरी स्त्री पर आसक्त होते हैं तब उनका व्यवहार पहली स्त्री के प्रति विशेष मधुर हो जाता है।[५]

पुरूरवा को प्रणयी के रूप में चित्रित किया गया है। यद्यपि वह औशीनरी के अनुरोध पर मणिहर्म्यपृष्ठ पर आ गया है, किन्तु उर्वशी से मिलने की चिन्ता उसे अत्यधिक व्याकुल बना रही है। निरन्तर देखते रहने पर भी उर्वशी को नहीं पाने से राजा की आन्तरिक पीड़ा बलवती होती जा रही है। इस पीड़ा में वह एक सच्चे प्रणयी के रूप में प्रकट होता है। उसकी दृष्टि मे जिस प्रकार विषम चट्टान के बीच में आ जाने से नदी का प्रवाह अत्यधिक वेगवान् हो जाता है उसी प्रकार प्रियमिलन सुख मे बाधा पड़ने पर प्रेमज्वाला सौगुनी बढ़ जाती है।[६] उसकी चिन्ता में वह क्षीणकाय हो गया है। उसके मनसिजरुजा (प्रेमरोग) की चिकित्सा का एकमात्र उपाय महौषधि उर्वशी ही है।[७] उसके शरीर के सभी

---

१ राजा—अपराधी नामाहं प्रसीद रम्भोरु विरम संरम्भात्।
सेव्यो जनश्च कुपितः कथं नु दासो निरपराधः ॥२।२१—(इति पादयोः पतति)

२ विक्र० २।२२

३ राजा—मा मैवम्। उर्वशीगतमनसोऽपि मे स एव देव्यां बहुमानः। किन्तु प्रणिपातलङ्घनादहमस्यां धैर्यमवलम्बिष्ये। (विक्र० अंक २, पृ० ८९)।

४ विक्र० ३।१३।

५ चित्रलेखा—अइ मुद्धे अण्णसंकन्तप्पेम्माणो णाअरिआ अहिअ दक्खिणा होन्ति।
(विक्र०, पृ० ११५)

६ राजा.... ..। बलवान्पुनर्मम मनसोऽभितापः।
नद्या इव प्रवाहो विषमशिलासंकटस्खलितवेगः।
विघ्नितसमागमसुखो मनसिशयः शतगुणो भवति ॥३।८ (विक्र०)

७ विक्र० ३।१०

अंग पृथ्वी के बोझ हैं सिर्फ अपने कन्धे को वह धन्य मानता है जो रथ के हिलने-डुलने के साथ समीपस्थ उर्वशी के कन्धे से सटता चलता है।[1] वह चाहता है कि उर्वशी चुपचाप आकर उसे अपने नूपुरों की मधुर झनकार सुना जाय अथवा पीछे से आकर अपनी कमलकोमल हथेलियों से उसकी आँखें बन्द कर ले अथवा इस प्रासाद पर उतरकर लज्जावश धीरे-धीरे चलती हुई सखी के द्वारा जबरदस्ती मेरे पास पहुँचा दी जाय।[2] जब उर्वशी पीछे से जाकर राजा की आँखें बन्द कर देती है और पुनः प्रकट होकर 'जय' कहती है तब राजा उसे अपने आसन पर बैठाकर स्वागत करता है। उर्वशी की प्राप्ति को वह अपनी बहुत बड़ी सिद्धि मानता है। उसके आज्ञापालन में वह अपने को जितना धन्य मानता है उतना सम्पूर्ण भूमण्डल के अधिपति बनने या अपने पादपीठ की मुकुटमणियों द्वारा रंगे जाने में नहीं।[3] उसके मिलने पर चन्द्रकिरण एवं मदनबाण आदि उसे अनुनीत से प्रतीत हो रहे हैं।[4] अब वह अनुभव करता है कि दुःखोपरान्त प्राप्त सुख अधिक सरस होता है, धूप में तपने पर मिली छाया अधिक शान्ति देती है।[5] वह कामना करता है कि मिलन के पूर्व की तरह ही रातें शतगुनी लम्बी हो जायँ।[6] पुरूरवा का यह प्रेमालाप आगे चलकर उर्वशी के लुप्त हो जाने पर उन्माद का आधारस्तम्भ हो जाता है। गन्धमादन पर्वत पर उर्वशी की विवेकशून्यता के कारण राजा को पुनः वियोग-दुःख-ज्वाला में दग्ध होना पड़ता है। उसे उन्माद की स्थिति में तरह-तरह के मनोभावों में दोलायमान होना पड़ता है। कभी क्रोधावेश में वह चिल्लाने लगता है -आः दुरात्मन् रक्षस्तिष्ठ तिष्ठ। क्व मे प्रियतमामादाय गच्छसि। हन्त शैलशिखराद्गगनमुत्पत्य बाणैर्मामभिवर्षति। (लोष्टं गृहीत्वा हन्तुं धावन्। अनन्तरे द्विपदिकया दिशोऽवलोक्य)। बोलते-बोलते वह मूर्च्छित होकर गिर पड़ता है। पुनः होश में आकर चारों ओर ताककर और दीर्घ श्वास लेकर कहता है कि जिनका भाग्य खराब हो जाता है, उनके एक दुःख में दूसरा दुःख

---

१ वही ३।११।

२ वही ३।१५।

३ विक्र० ३।१९।

४ वही ३।२०

५ राजा............
यदेवोपनतं दुःखात्सुखं तद्रसवत्तरम्।
निर्वाणाय तरुच्छाया तप्तस्य हि विशेषतः।३।२१ (विक्र०)

६ वही ३।२२।

लगा रहता है।[१] पुरूरवा के प्रणयोद्गार में तर्कना की ऐसी विचारधारा है, जो उसे उन्मादियों की सामान्य कोटि से सर्वथा ऊपर उठा देती है। उनकी मनः-स्थिति में विवेक एवं भ्रान्ति का आन्दोलन होता रहता है। वह मोर, कोयल, हंस, चकवा, भ्रमर तथा प्रमत्त हाथी से उर्वशी का संवाद पूछता है। पुनः पर्वत, नदी, हरिण एवं अशोक से अपनी प्राणप्रिया उर्वशी का पता पूछता है। चन्द्रबली पाण्डेय के अनुसार पुरूरवा की मानसिक स्थिति जाग्रज्जागर, जाग्रत्स्वप्न, जाग्रत्सुप्ति, स्वप्नजागर और सुप्तिजागर की विविध दशाओं में संक्रमण करती रहती है।[२] पुरूरवा की यह स्थिति सीतावियोग में राम की भांति है। इस त्रोटक मे पुरूरवा के व्यक्तित्व का चित्रण प्रणयीश के रूप में हुआ है। उसकी काव्य-कल्पना एवं भाषा में चारुता है।[3] कालिदास के अन्य नायकों में पुरूरवा की तरह माधुर्य नही है। अरविन्द के शब्दों में पुरूरवा को वाणी का गौरवमय वरदान प्राप्त है।[४]

राजा पुरूरवा शीलसम्पन्न है। उर्वशी की प्राप्ति से उसके भौतिक एवं आध्यात्मिक जीवन में एक अभिनव स्फूर्ति आ गयी है। यह उसके शील की मानवीयता की निर्व्याज विज्ञप्ति करता है।[५]

पुरूरवा वात्सल्यभावना से पूर्ण है। अपने पुत्र के प्रथम दर्शन में उसकी वात्सल्य-भावना उमड़ पड़ती है। वह विदूषक से कहता है कि इस बच्चे पर पड़ने वाली हमारी आँखें आंसू से भर आई हैं, हृदय वात्सल्य से पूर्ण हो रहा है, मन में प्रसन्नता है, मेरे सर्वांग कांप रहे हैं, मेरी इच्छा होती है कि धैर्य का परित्याग कर इसका आलिंगन कर लें।

पुरूरवा की वाणी एवं दृष्टि में लालित्य है। कवि के समान उसका आवे-क्षण सूक्ष्म तथा अन्तःप्रेरित है। प्रवाह के प्रवेग से ढहता हुआ नदी-तट का प्रान्त, चन्द्र-बिम्ब से अचानक चमकती हुई तमसाच्छन्नरजनी, रात्रि में धूम्र-स्तम्भ को भेदकर निकलनेवाली अनलशिखा, प्रातःकालीन सूर्य किरणों में लालिमा ग्रहण करने

---

१ राजा.........अये परावृत्तभागधेयानां दुःखं दुःखानुबन्धि।
(विक्र० अंक ३, पृ० १४७)।

२ कालिदास, पृ० ८८-८९।

३ उर्वशी—प्रियंवद, महान् खलु कालस्तव प्रतिष्ठानान्निर्गतस्य। (विक्र० पृ० ९५)।

४ राजा—कल्याणि न तावदहं प्रसादयितव्यः। त्वद्दर्शनादेव प्रसन्नबाह्यान्तःकरणोऽन्तरात्मा। कथय कथमियमन्तं कालमवस्थिता मया विना भवती।
(विक्र० अंक ४, पृ० १९३)।

५ विक्र० ५।९, ५।११ ५।१४।

वाला कमल, चोंचों में कमलनाल लिये आकाश-मार्ग में उड़ने वाला उन्मुक्त हंस आदि प्रकृति के विशाल साम्राज्य में दृष्ट वस्तुएँ उनके (पुरूरवा) के अन्तश्चक्षुओं के अन्दर विद्यमान रहती हैं तथा थोड़े स्पर्श मात्र से ही कविता के रूप में फूट निकलती हैं। हर स्थिति एवं भाव को ग्रहण करने एवं उसे कविता में परिवर्तित करने की उसकी प्रवृत्ति बद्धमूल है।

यूरोपीय नाटककारों ने राजत्व के साथ कवित्व के संयोग को शोकान्त चित्रित किया है, किन्तु पुरूरवा के चित्रण में कविकुल गुरु कालिदास ने यह आभास तक नहीं होने दिया है। कवि ने त्रोटक के प्रत्येक अंक में उसके राजत्व रूप का संकेत किया है। उसे पुनः राजर्षि शब्द से सम्बोधित कराया गया है। वैतालिक उसके पराक्रम का गान करते हैं।[1] फलतः उसका कवि-स्वभाव किसी बनावटी परिवेश में पड़कर अपने ही सर्वनाश का दृश्य तैयार कर रहा है। यहाँ पुरूरवा का चरित्र एक ऐसे पराक्रमी राजर्षि में विद्यमान कवि-सुलभ प्रकृति का निरपेक्ष, निस्संग विश्लेषण है जिसके शील एवं शौर्य की याचना सुरपति इन्द्र भी निःसंकोच करते है। केशीनामक दैत्य से उर्वशी की विमुक्ति विषयक विस्मयपूर्ण घटना का स्मरण सहृदय सामाजिकों के मन में हमेशा बना रहता है। उनके इस प्रारम्भिक शूर एवं साहसी रूप की प्रतीति उनके अभिव्यक्त कवि एवं प्रेमी रूप में भी होती रहती है। त्रोटकान्त में नाटककार ने कलात्मक ढंग से राजा के शौर्य की अभिव्यंजना की है। राजा के पुत्रमुखदर्शन के बाद जब उर्वशी अवश्यम्भावी प्रिय-वियोग की चिन्ता में मग्न थी उसी समय नारद की उपस्थिति होती है। वे इन्द्र का सम्वाद सुनाते हैं—"त्रिकालज्ञ मुनियों का कथन है कि देवासुरसंग्राम होनेवाला है, आप हमारे रण में साथ देते हैं, अतः आप शस्त्र-त्याग न करें। यह उर्वशी आयुभर आपकी धर्मचारिणी रहेगी।[2] इस प्रकार शुरू और अन्त में भी शौर्यव्यसनी नरेश के रूप में इसका चित्रण नाटक-

---

१ विक्र० ५।२१-२२, पृ० २३१-२३२।

२ नारद—त्रिलोकदर्शिभिर्मुनिभिरादिष्टः सुरासुरसंगरो भावी। भवांश्च सांयुगीनः सहायो नः। तेन त्वया न शस्त्रं संन्यस्तव्यम्। इयं चोर्वशी यावदायुस्तव सहधर्मचारिणी भवत्विति। (विक्र० अंक ५, पृ० २२९)।

कार ने किया है। वह कुशल राज्य व्यवस्था-पत्र के समान अपने दैनिक कार्य को शास्त्रानुकूल[1] विभाजित कर सम्पन्न करता है।[2]

पुरूरवा धार्मिक प्रकृति का राजा है।[3] विपत्तिमग्नों की रक्षा करना वह अपना राजधर्म मानता है। धार्मिकता के साथ-साथ उसमें उदारता भी भरपूर है। कालिदास के तीनों रूपकों के नायकों में दुष्यन्त सर्वोत्कृष्ट है। नायक सम्बन्धी उनकी धारणा का परिष्कृत रूप इसमें मिलता है। अग्निमित्र एवं पुरूरवा से यह निःसंदेह उत्कृष्ट है। ऐसा प्रतीत होता है कि कवि की नायकभावना का उत्तरोत्तर विकास होता हुआ दुष्यन्त के चित्रण में उसका पूर्ण विकसित रूप प्रकट हुआ है। राजा दुष्यन्त रत्नावली नाटिका के उदयन से भी अधिक उत्कृष्ट उदात्त भूमिका पर प्रतिष्ठित है। दुष्यन्त के नायकत्व का विश्लेषण राजा एवं प्रेमी, विवेकवादी एवं हृदयवादी दो रूपों में किया गया है। प्रथम रूप में उसकी मनोवृत्ति स्वस्थ एवं लोकसम्मत है तथा द्वितीय रूप में सम्मोहित एवं व्यक्तिनिष्ठ है। इनके दोनों रूपों के समन्वय में नाटककार को अद्भुत सफलता मिली है।

दुष्यन्त धीरोदात्त नायक है। उसमें इस कोटि के नायक के पूर्वोक्त सभी आवश्यक गुण विद्यमान हैं। वह उच्चकुलसंभूत महाबली एवं पराक्रमी पुरुवंशी राजर्षि है। इसका स्वरूप कान्तियुक्त एवं विश्वसनीय है। इसके सभी आचरण

---

१ —उत्थाय चरमे यामे कृतशौचः समाहितः।
हुताग्निर्ब्राह्मणांश्चार्च्य प्रविशेत्स सभां शुभाम्।
दिवसस्याष्टमं भागं भुक्त्वा भागत्रयं तु यत्।
स कालो व्यवहाराणां शास्त्रदृष्टः परः स्मृतः॥
व्यवहारास्ततो दृष्ट्वा स्नात्वा भुञ्जीत कामतः।
भुक्तवान् विहरेच्चैव स्त्रीभिरन्तःपुरैः सह॥
विहृत्य तु यथाकालं पुनः कार्याणि चिन्तयेत्। —(मनुस्मृति)।

२ विक्र० २।१।

३ कंचुकी••••······यावदिदानीमवसितसंध्याजाप्यं महाराजं पश्यामि। (परिक्रम्यावलोक्य च) रमणीयः खलु दिवसावसानवृत्तान्तो राजवेश्मनि। इह हि—श्लोक २, अंक ३ (विक्र०)

ऋषिवत् हैं।[1] उसकी आकृति सुन्दर, स्वस्थ एवं प्रभावशाली है।[2] वह वन्यगज की भाँति विशालकाय है।[3] उसकी भुजाएँ नगर के अर्गल-दण्ड की तरह लम्बी हैं।[4] वह शूर एवं महातेजस्वी है। वह मृगयाव्यसनी है। धनुर्विज्ञान में वह सर्वथा प्रवीण है। अभिज्ञानशाकुन्तलम् के षष्ठ अंक में माधव्य (विदूषक) की आर्त्त पुकार को सुनते ही शूरोचित रोष से पूर्ण होकर वह धनुष पर बाण चढ़ाते हुए कहता है कि ऐ तिरस्करिणीविद्या से गर्वयुक्त ! मेरा शस्त्र तुझे देख लेगा। यह मैं उसी बाण को चढ़ाता हूँ, जो तुम्हें मारेगा, और रक्षणीय ब्राह्मण (विदूषक) की रक्षा करेगा।[5] यह राक्षसों से तपोवन की रक्षा करता है। विपत्तियों के उपस्थित होने पर देवाधिपति इन्द्र उसके पौरुष एवं पराक्रम की याचना करते हैं। षष्ठ अंक में हम देखते हैं कि इन्द्र ने राक्षसों के वध के लिए अपने सारथि मातलि के द्वारा अपना रथ भेज कर उन्हें स्वर्ग में बुलाया है।[6] उन्होंने शीघ्र

---

१ प्रथम :—अहो दीप्तिमतोऽपि विश्वसनीयतास्य वपुषः। अथवोपपन्नमेतदस्मिन् ऋषिभयो नातिभिन्ने राजनि। कुतः—२।१४ (अभि० शा०)

द्वितीय :—तेन हि—नेतच्चित्रं यदयमुदधिश्यामसीमां धरित्रीम्
एकः कृत्स्नां नगरपरिघप्रांशुबाहुर्भुनक्ति।
आशंसन्ते समितिषु सुराः सक्तवैरा हि दैत्यैः
अस्याधिज्ये धनुषि विजयं पौरुहूते च वज्रे ॥२।१६॥ (अभि० शा०)

२ अदितिः—सम्भावणी अप्पहावा से आकिदा। (अभि० शा०, अंक ७, पृ० ५५६)

३ सेना—अनवरतधनुर्ज्यास्फालनक्रूरवर्ष्मा रविकिरणसहिष्णुः स्वेदलेशैरभिन्नः।
अपचितमपि गात्रं व्यायतत्वादलक्ष्यं गिरिचर इव नागः प्राणसारं बिभर्ति।
(२।४। अभि० शा०)

४ ऊपर की संख्या १ की पादटिप्पणी द्रष्टव्य।

५ राजा—भोस्तिरस्करिणीगर्वित ! मदीयं शस्त्रं त्वां द्रक्ष्यति। एष तमिषुं सन्दधे—
यो हनिष्यति वध्यं त्वां रक्ष्यं रक्षिष्यति द्विजम्।
हंसो हि क्षीरमादत्ते तन्मिश्रा वर्जयत्यपः ॥६।२८॥ (अभि० शा०)
(इत्यस्त्रं सन्धत्ते)

६ मातलिः—सख्युस्ते स किल शतक्रतोरवध्य—
स्तस्य त्वं रणशिरसि स्मृतो निहन्ता।
उच्छेत्तुं प्रभवति यन्न सप्तसप्ति—
स्तन्नैशं तिमिरमपाकरोति चन्द्रः ।६।३०॥
स भवानात्तशस्त्र एवेदानीं देवरथमारुह्य विजयाय प्रतिष्ठताम्।
(अभि० शा० अंक ६, पृ० ४२५)

ही अद्भुत बल-पराक्रम से दैत्यों का विनाश कर विजय पायी। उनके पराक्रमशील कार्यों के कारण प्राप्त विजय से प्रसन्न होकर इन्द्र ने उनका कल्पनातीत स्वागत किया। सभी देवों के समक्ष अपने आधे आसन पर उसे बैठाया और अपने गले से मन्दारमाला उतार कर स्वयं उसके गले में पहना दी।[1] देवताओं ने उसके शौर्य एवं विक्रम के गीत रचकर देवस्त्रियों के प्रसाधन से बचे हुए रंगों से कल्पवृक्ष के वस्त्रों पर लिखा।[2] अभिज्ञानशाकुन्तलम् के तृतीय अंक में दुष्यन्त के शौर्यपूर्ण प्रभाव को व्यक्त करते हुए शिष्य ने कहा है कि उनके धनुष की प्रत्यंचा के हुंकार मात्र को सुनकर तपोवन में ऋषियों के यज्ञ में विघ्न पैदा करने वाले राक्षसगण भाग गये हैं।[3]

शौर्य के साथ राजा दुष्यन्त के अन्दर पर्याप्त विनयशीलता है जिससे उसकी शोभा में अभिवृद्धि होती है। देवासुर संग्राम में कालनेमि की सन्तान दुर्जय नामक दानवों के विनाश के बाद प्राप्त विजय का श्रेय वह महेन्द्र को ही देता है, अपने को तो निमित्तमात्र मानता है।[4] राजा के इस कथन में उसका अविकत्थन स्वभाव व्यक्त होता है। मृगया-प्रेमी (१।६) राजा दुष्यन्त तपोवन में प्रवेश करते समय तपोवनोचित व्यवहार को ध्यान में रखकर विनीतवेश को धारण करता है।[5] इससे उसकी धार्मिक भावना व्यक्त हुई है। उसका यह आचरण धर्मशास्त्रानुमोदित है।[6] 'आश्रममृगोऽयम् न हन्तव्यो न हन्तव्यः" की आवाज सुनते ही राजा हरिण

---

१ अभि० शा० ७।२, पृ० ४३१।

२ वही ७।५

३ शिष्यः—अहो ! महानुभावः पार्थिवो दुष्यन्तः। प्रविष्टमात्र एवाश्रमं तत्रभवति राजनि निरुपद्रवाणि नः कर्माणि प्रवृत्तानि भवन्ति।
का कथा बाणसन्धाने ज्याशब्देनैव दूरतः।
हुंकारेणेव धनुषः स हि विघ्नानपोहति ॥३।१ (अभि० शा०, पृ० १३१)

४ राजा—अत्र खलु शतक्रतोरेव महिमा स्तुत्यः।
सिध्यन्ति कर्मसु महत्स्वपि यन्नियोज्याः संभावनागुणमवेहि तमीश्वराणाम्।
वाऽभविष्यदरुणस्तमसां विभेत्ता, तं चेत् सहस्रकिरणो धुरि नाकरिष्यत् ।७।४
(अभि० शा०)

५ राजा—(अवतीर्य) सूत ! विनीतवेषेण प्रवेष्टव्यानि तपोवनानि नाम। इदं तावद् गृह्यताम्। इति सूतस्याभरणानि धनुश्चोपनीयार्पयति। (अभि० शा०, अंक १, पृ० ३६)।

६ विनीतवेषाभरणः पश्येत् कार्याणि कार्यिणाम्। (मनु० ८।२)।

का पीछा करना छोड़ देता है। वैखानस के अनुरोध (१।१०-११) पर वह राजी हो जाता है कि वस्तुत: उसका शस्त्र पीड़ितों की रक्षा के लिए है, निरपराध की हत्या के लिए नहीं। तदनुसार धनुप उतार लेने पर वैखानस उसके आचरण को पुरुवंश प्रदीप के योग्य कहते हैं तथा अपने सदृश गुणसम्पन्न चक्रवर्ती पुत्र पाने के लिए आशीर्वाद भी देते हैं। तदनन्तर उनके अनुरोध (१।१२) पर वह आतिथ्य भी स्वीकारता है। अनसूया जब उसके आतिथ्य के लिए उद्यत होती है तब वह कहता है कि आपलोगों की पवित्र एवं सत्य (मधुर) वाणी ने ही अतिथि-सत्कार कर दिया।[1] आश्रम-रक्षार्थ तपोवन में उपस्थित राजा ज्योंही हाथी के उपद्रव की बात सुनता है त्योंही आश्रम की रक्षा के लिए तत्पर हो जाता है।[2] जब अनसूया एवं प्रियम्वदा उद्विग्नता की स्थिति में अतिथि-सत्कार नहीं कर सकने के कारण लज्जाभाव से पुन: दर्शन देने के लिए आमन्त्रित करती है तब राजा उन्हें सान्त्वना देते हुए कहता है कि आप लोगों के दर्शन से ही मेरा सत्कार हो गया है।[3] राजा की विनयसम्पन्न मधुर वार्त्ता एवं व्यवहार से समाकृष्ट होकर प्रियम्वदा उसकी प्रशंसा करती है।[4] सप्तम अंक में वह मारीच ऋषि एवं इन्द्र-माता अदिति को अतिविनीत स्वर में प्रणाम करता है—"(उपगम्य) उभाभ्यामपि वासवनियोज्यो दुष्यन्त: प्रणमति।" वस्तुत: दोनों को इस अभिवादन में हार्दिक आह्लाद हुआ होगा, जिसकी अभिव्यक्ति उनके अशीर्वाद में हुई है।[5] महाकवि कालिदास ने दुष्यन्त को वाल्मीकि एवं भवभूति के राम की श्रेणी में बिठाने का भरपूर प्रयास किया है।

दुष्यन्त की निरीक्षण शक्ति सर्वथा सूक्ष्म है। रथ के आगे भयत्रस्त भागने वाले हरिण[6], घोड़ों के तेजी से दौड़ने के कारण दृश्यमान पदार्थों के

---

१ राजा—भवतीनां सुनृतयैव गिरा कृतमातिथ्यम् (वही अंक १, पृ० ६०)।

२ राजा—(ससंभ्रमम्) गच्छतु भवत्य:। वयमप्याश्रमपीड़ा यथा न भवति तथा प्रयतिष्यामहे। (अभि० शा०, अंक १, पृ० ८२)।

३ राजा—मा मैवम्। दर्शनेनैवात्रभवतीनां पुरस्कृतोऽस्मि। (अभि० शा०, अंक १, पृ० ८२)।

४ प्रियम्वदा—(जनान्तिकम्) अणसूये! को णु क्खु एसो चउरम्भीराकिदी महुरं पिअं आलवन्तो पहावबन्तो विअ लक्खीअदी।
(अभि० शा०, अंक १, पृ० ६२)।

५ मारीच:—वत्स! चिरंजीव। पृथिवीं पालय।
अदिति:—वच्छ! अप्पडिरहो होहि।

६ अभि० शा० १।७।

स्वरूप में परिवर्तनों [1] तथा तपोवन की विविध छवियों के सूक्ष्म वर्णन [2] से पता चलता है कि परिवेश के प्रति उसकी सजग एवं सूक्ष्म दृष्टि है। वाह्य-निरीक्षण के साथ-साथ उसमें आत्मनिरीक्षण की सविशेप प्रवृत्ति दृष्टिगत होती है। [3]

अपने मधुर भाषण एवं शिष्टाचार के कारण दुष्यन्त लोकप्रिय है। उसमें सुकुमारता एवं कठोरता तथा शौर्य एवं विनयशीलता का अद्भुत सम्मिश्रण है। प्रथम अंक में अनसूया राजर्षि दुष्यन्त के मधुरालाप से विश्वस्त होकर परिचय पूछती हुई कहती है कि आपने किस राजवंश को सुशोभित किया है? किस देश की प्रजा को अपने विरह से व्याकुल करके यहाँ आये हैं? और किस कारण अपने अत्यन्त कोमल शरीर को इस तपोवन में आने के परिश्रम से युक्त किया है? [4] इस कथन से स्पष्ट हो जाता है कि वीरता एव सुकुमारता दुष्यन्त के चरित्र की विशेषता है। कालिदास ने उसके रूप को सभी अवस्थाओ में रमणीयता से समन्वित [5] बताया है। प्रिया वियोग के पश्चात्ताप की ज्वाला मे विदग्ध होने पर भी वह उसी प्रकार क्षीण एवं मलिन नहीं मालूम पड़ता जिस प्रकार खराद कर काटा गया बहुमूल्य रत्न अपनी स्वाभाविक चमक के कारण कृश नहीं प्रतीत होता—"संस्कारोल्लिखितो महामणिरिव क्षीणोऽपि नालक्ष्यते।"

६।६। (अभि श'०)

दुष्यन्त के इस रमणीय रूप में विवेकशीलता का सन्निवेश कर नाटककार ने उसके व्यक्तित्व को अनुपम गौरव से विभूषित कर दिया है। उसकी दृष्टि सौन्दर्यपारखी है। कण्वाश्रम में प्रवेश करते ही ऋषिकन्याओं को देखकर राजा कहता है कि इनका रूप तो बहुत मनोहर है। वह सोचता है कि सचमुच वन लताओं ने

---

१ वही १।९।

२ वही १।१४-१५।

३ राजा..................

अहन्यहन्यात्मन एव तावज्ज्ञातुं प्रमादस्खलितं न शक्यम्।
प्रजासु कः केन पथा प्रयातीत्यशेषता वेदितुमस्ति शक्तिः ।।६।२६।।
(अभि० शा०)

४ अभि० शा० अंक १, पृ० ६३।

५ कंचुकी—अहो सर्वास्ववस्थासु रमणीयत्वमाकृतिविशेषाणाम् (अभि० शा०, पृ० ३५९)

उद्यान लताओं को तिरस्कृत कर दिया है।[1] बाह्य सौन्दर्य के साथ दुष्यन्त अन्तः-सौन्दर्य का भी पारखी है। उस रूपवती शकुन्तला को आश्रम के वृक्षसेचन आदि कार्य में लीन देखकर वह आदरणीय कण्व की असाधुदर्शिता पर आश्चर्य प्रकट करता है।[2] उसकी सौन्दर्यभावना अतिसूक्ष्म है। तदनुरूप वह सौन्दर्य का सिद्धान्त निरूपित करता है—"किमिव हि मधुराणां मंडनं नाकृतीनाम्"।[3]

रूपयौवनसम्पन्न राजा दुष्यन्त धर्मनिष्ठ एवं गुरुजनों के प्रति श्रद्धायुक्त शिष्टाचारी है। उसके व्यवहार में सर्वत्र आत्मसंयम व्यक्त होता है। वह स्वभावतः स्निग्ध, ललित एवं सुसंस्कृत है। वैखानस के अनुरोध पर वह मृगया बन्द कर देता है तथा आश्रम की रक्षा का भार भी सहर्ष स्वीकार करता है। आश्रमवासियों के प्रति सम्मानभाव को ध्यान में रख वह मृगया वेश का परित्याग कर विनीत वेश में कण्वाश्रम में प्रवेश करता है। वहाँ आश्रम-द्वार पर पहुँचते ही अपनी दाहिनी भुजा को फड़कते देखकर विचार करता है और अन्त में इस निर्णय पर पहुँचता है कि होनहार घटनाओं के लिए सर्वत्र ही द्वार हो जाते हैं। (१।१६)। इस कथन में उसकी भाग्यवादिता की स्पष्ट झलक मिलती है। शकुन्तला को देखकर वह चिन्तनशील होकर कहता है कि कदाचित् यह कुलपति की असमान वर्ण की पत्नी से उत्पन्न हो। अथवा संदेह व्यर्थ है। निस्सदेह यह क्षत्रिय द्वारा स्वीकार करने योग्य है (१।२२)। फिर भी वह शकुन्तला को देखने पर अत्यधिक आकृष्ट होकर भी उसे अस्पृश्य अग्नि ही समझता है। जब उसे अनसूया आदि से उसके जन्मवृत्तान्त का पता चलता है तब क्षत्रियकन्या जानकर उसे (शकुन्तला को) वह स्पर्श करने योग्य रत्न मानकर उसके प्रति अभिलाषा व्यक्त करता है। यद्यपि शकुन्तला को देखकर वह उन्मथित हो गया किन्तु कहीं भी विनय भाव का अतिक्रमण नही करता है। सखियों से रूठकर जाती हुई शकुन्तला को वह पकड़ लेना चहता है, किन्तु अपने को रोककर सोचता है कि कामियों की मनोवृत्ति

---

१ राजा—…………(निरूपणं निरूप्य) अहो ! मधुरमासां दर्शनम्।

शुद्धान्तदुर्लभमिदं वपुराश्रमवासिनो यदि जनस्य।
दूरीकृताः खलु गुणैरुद्यानलता वनलताभिः॥ १।१७॥
(अभि० शा०)

२ राजा—…………। असाधुदर्शी खलु तत्रभवान् काश्यपः, यः इमामाश्रमधर्मे नियुङ्क्ते। १।१८ (अभि० शा०)

३ अभि० शा० १।२०।

उनकी चेष्टाओं के अनुकूल ही होती है।[1] उसके इस कथन में उसकी धार्मिक भावना व्यक्त होती है। कण्वाश्रम में सखियों सहित उपस्थित शकुन्तला से एक धार्मिक कर्त्तव्यनिष्ठ राजा की भाँति वह पूछता है—'अपि तपो वर्धते ?' शकुन्ता भयवश मौन खड़ी रहती है। अनसूया के द्वारा परिचय एवं आगमन के प्रयोजन पूछने पर राजा दुष्यन्त अपना परिचय प्रच्छन्नरूप में प्रकारांतर से देते हुए कहता है कि जिसे पुरुवंशी राजाओं ने धर्माधिकारी के पद पर नियुक्त किया है, वह निर्विघ्नता-पूर्वक तपोवन की धार्मिक क्रियाओं के बारे में जानकारी हासिल करने के उद्देश्य से यहाँ आया है। इस प्रकार से परिचय देने का उसका उद्देश्य यह था कि यदि शकुन्तला राजा रूप में उसको जान लेगी तो वह स्वाभाविक रूप से खुल कर बातें एवं व्यवहार नहीं करेगी। धर्मनिष्ठता के कारण ही राजा प्रचण्ड-दाहात्मक तेज वाले तपस्विजनों के सम्मानार्थ वनग्राही अपने अनुचरों को रोक देता है।[2] आश्रम में रुकने के उपायस्वरूप जब विदूषक राजा को षष्ठांश भाग वसूल करने के व्याज से जाने कहता है तब वह उन तपस्वियों के प्रति अपने हार्दिक भाव को व्यक्त करते हुए कहता है कि इनकी रक्षा करने में दूसरा ही अंश प्राप्त होता है। वह रत्नों के ढेरों को भी त्याग कर स्वीकार करने योग्य है। चूँकि चारों वर्णों से प्राप्य धन नश्वर है; किन्तु ये तपस्वीजन तो हमें अपनी तपस्या का अक्षय षष्ठ भाग देते हैं।[3] गौतम एवं हारीत नामक दोनों ऋषिकुमारों ने जब राजा का दर्शन किया तब उसके व्यवहार एवं आकृति से वशिनः (२।१४) कहकर उसे अभिनन्दित किया। ऋषिकुमार से महर्षियों की प्रार्थना[4] अवगतकर वह शिष्टाचार के साथ कहता है—"किं आज्ञापयन्ति ?" तथा उनका आदेश पाकर वह अपने को

---

१ राजा—(ग्रहीतुमिच्छन् निगृह्यात्मानम् आत्मगतम्) अहो चेष्टाप्रतिरूपिका कामिजनमनोवृत्तिः। अहं हि—
अनुयास्यन् मुनितनयां सहसा विनयेन वारितप्रसरः।
स्थानादनुच्चलन्नपि गत्वेव पुनः प्रतिनिवृत्तः ॥१।२९। (अभि० शा०)।

२ राजा—तेन हि निवर्त्तय पूर्वगतान् वनग्राहिणः। यथा न मे सैनिकास्तपोवन-मुपरुन्धन्ति तथा निषेद्धव्याः। पश्य—२।७ (अभि० शा०)।

३ राजा—मूर्ख ! अन्यद् भागधेयमेतेषां रक्षणे निपतति, यद्ररत्नराशीनपि विहायाभिनन्द्यम्। पश्य—२।१३। (अभि० शा०)।

४ उभौ—तत्रभवतः कण्वस्य महर्षेरसान्निध्याद्रक्षांसि न इष्टि विघ्नमुत्पादयन्ति। तत्कतिपयरात्रं सारथिद्वितीयेन भवता सनाथीक्रियतामाश्रम इति।
(अभि० शा०, अंक २; पृ० १२३)।

अनुग्रहीत मानता है। (अनुगृहीतोऽस्मि)। इस पर दोनों ऋषिकुमार सहर्ष कहते हैं कि पूर्वजों का अनुकरण करने वाले आपके लिए यह सर्वथा उचित ही है। वस्तुतः पुरुवंशी राजा विपद्ग्रस्तों को अभयदान रूपी यज्ञों की दीक्षा का व्रत लिये हुए हैं (२।१६) यथोक्तवचनानुसार राजा आश्रम की रक्षा के लिए जाने लगा। इसी समय उसकी माता के पास से करभक यह संवाद लेकर आता है कि आगामी चौथे दिन उपवास की पारणा होगी, अतः उस अवसर पर आप अवश्य उपस्थित हों। इस परिस्थिति में राजा चिन्ताशील हो जाता है। वह सोचता है कि एक ओर तपस्वियों का कार्य है और दूसरी ओर गुरुजनों की आज्ञा।[1] दोनों अनुल्लंघनीय हैं। माता की आज्ञा का पालन भी धर्मसम्मत है तथा आश्रम की रक्षा भी राजा का धर्म है। इस विषम परिस्थिति में राजा बहुत बुद्धिमानी से दोनों कार्यों को सम्पन्न करता है। माता के पास विदूषक को भेजकर वह स्वयं राक्षसों के उपद्रव से आश्रम की रक्षा में लग जाता है। उस स्थल पर कुछ समालोचक को मानव-सुलभ दुर्बलता की झलक दुष्यन्त के चरित्र में मिलती है। वह सभी सैनिकों को भी विदूषक के साथ भेज देता है तथा शकुन्तला विषयक अपने अनुराग को अन्तःपुर की अन्य स्त्रियों से यह न कह दे, अतः वह उससे कहता है कि ऋषियों के प्रति आदरभाव के कारण मैं आश्रम जा रहा हूँ। वस्तुतः उस मुनिकन्या शकुन्तला के प्रति मेरी कोई इच्छा नहीं है। मजाक में उसके बारे में कही हुई बात को तुम सत्य नहीं समझना।[2] सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर हम देखते हैं कि इस प्रकार विदूषक को शकुन्तला विषयक प्रेमासक्ति की बात गलत बताकर कालिदास ने आगे पंचम अंक में घटित होने वाली शकुन्तला-प्रत्याख्यान सम्बन्धी घटनाओं में नाटकीय संघर्ष को उत्तेजक बनाने में अद्भुत सफलता प्राप्त की है। पंचम अंक में कहीं भी विदूषक की उपस्थिति नहीं हुई है। यदि विदूषक वहाँ उपस्थित होता तो वह शकुन्तला के सम्बन्ध में राजा के प्रणय सम्बन्ध को प्रमाणित कर देता। फलतः दुर्वासा के शापवश संजात मतिभ्रम की स्थिति में भी दुष्यन्त द्वारा शकुन्तला

---

१ राजा—इतस्तपस्विकार्यम्, इतो गुरुजनाज्ञा। द्वयमप्यनतिक्रमणीयम्। किमत्र प्रतिविधेयम्। (अभि० शा०)।

२ (स्वगतम्) चपलोऽयं बटुः कदाचिदस्मत्प्रार्थनामन्तःपुरेभ्यः कथयेत्। भवतु। एनमेवं वक्ष्ये। (विदूषकं हस्ते गृहीत्वा, प्रकाशम्) वयस्य ! ऋषिगौरवादाश्रमं गच्छामि। न खलु सत्यमेव तापसकन्यायां ममाभिलाषः। पश्य—

क्व वयं क्व परोक्षमन्मथो मृगशावैः सममेधितो जनः।
परिहासविजल्पितं सखे परमार्थेन न गृह्यतां वचः ॥२।१८॥

(अभि० शा०)।

को स्वीकार किया जाता। लेकिन वैसा करने से कालिदास की योजना सफल नहीं होती। अतः बहुत कलात्मक ढंग से राजा के मुख से माता के पास भेजते समय विदूषक को शकुन्तला के साथ उसकी प्रणयासक्ति गलत बता दी गयी है। इससे नाटकीयसंघर्ष चरम बिन्दु पर पहुँच गया है। दुष्यन्त के राजधर्मानुरूप चारित्रिक दृढ़ता का स्पष्टरूपेण चित्रण हो सका है। गुप्त विवाह के परिणाम का सम्यक् प्रदर्शन कर वेदविहित नियमानुसार सामाजिक मान्यता को स्वीकृत विवाह पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश डाला जा सका है। इतना ही नहीं, नायक एवं नायिका को विरह की ज्वाला में दग्ध होने की परिस्थिति तैयार की जा सकी है।

सन्तानसदृश अपनी प्रजा के पालन कार्य से थके हुए विश्राम करते समय मध्याह्न काल में राजा के पास शार्ङ्गरव शारद्वत् एवं गौतमी के साथ कण्व ऋषि का संदेश लेकर आते हैं। कंचुकी से उनके आगमन की सूचना पाते ही राजा आदरपूर्वक कण्व का संदेश पूछता है तथा तत्क्षण ही उसे अपने उपाध्याय सोमरात से निवेदन करने कहता है कि वे वैदिक-विधि द्वारा सत्कार करके स्वयं ही उन्हें अन्दर लावें। वह उनके दर्शन योग्य स्थान यज्ञशाला में बैठकर आगमन की प्रतीक्षा करता है।[1] तदनन्तर यथोक्त निर्देशानुसार शकुन्तला को आगे करके गौतमी के साथ दोनों मुनिशिष्य प्रवेश करते हैं। उन लोगों के आगे-आगे कंचुकी तथा पुरोहित (सोमरात) हैं। शकुन्तला को देखकर राजा कहता है—"अनिर्वर्णनीयम् परकलत्रम्।" राजा दुष्यन्त पूछता है—"अपि निर्विघ्नतपसो मुनयः?" इस पर उनके धर्मकृत्य की प्रशंसा करते हुए ऋषिशिष्यगण कहते हैं कि सज्जनों की रक्षा करने वाले आपके विद्यमान रहते हुए धर्मसम्बन्धी यज्ञादि में विघ्न कैसे पड़ सकता है? उष्णकिरणों वाले सूर्य के तपते रहने पर अन्धकार कैसे प्रकट हो सकता है?[2] राजा सभी के साथ शिष्टाचार के साथ व्यवहार करता है। शकुन्तला-प्रत्याख्यान के अवसर पर शार्ङ्गरव एवं शारद्वत् राजा के साथ कटूक्तिपूर्ण व्यवहार करते हैं। फिर भी राजा अपने शिष्टाचार की सीमा का उल्लंघन नहीं करता है। वह विनीत भाव से ही कहता है कि हे सत्यवादी! माना कि मैं धोखेबाज ही हूँ। किन्तु इसे (शकुन्तला को) ठग कर मुझे क्या मिलेगा?[3] इस नियंत्रित उत्तर से

---

१ राजा—तेन हि मद्वचनाद् विज्ञाप्यतामुपाध्यायः सोमरातः। अमूनाश्रमवासिनः श्रौतेन विधिना सत्कृत्य स्वयमेव प्रवेशयितुमर्हसीति। अहमप्यत्र तपस्विदर्शनोचिते प्रदेशे प्रतिपालयामि। (अभि० शा०, अंक ५, पृ० २६९)।

२ ऋषयः—कुतो धर्मक्रियाविघ्नः सतां रक्षितरि त्वयि।
तपस्तपति धर्मांशो कथमाविर्भविष्यति ॥५.१४। (अभि० शा०)।

३ राजा—भोः सत्यवादिन्! अभ्युपगतं तावदस्माभिरेवम्। किं पुनरिमामतिसन्धाय लभ्यते। (अभि० शा०)

क्रोध में आकर शार्ङ्गरव कहते हैं—"विनिपातः।" इनके इस कठोर कथन पर भी अपने को नियन्त्रित रखते हुए मार्मिक शब्दों में राजा उससे कहता है कि पुरुवंशी राजा अपना पतन चाहते हैं, यह बात विश्वसनीय नहीं है।[1] इस तरह हम देखते हैं कि राजा ने कहीं भी शीलस्खलन नहीं होने दिया है। अन्ततोगत्वा वह शकुन्तला के ग्रहण के सम्बन्ध में अपने पुरोहित के परामर्श को स्वीकार करता है। राजा दुष्यन्त के आत्मसंयम एवं धर्मपरायणता का परिचय तब मिलता है जब पंचम अंक में अनुपम सुन्दरी शकुन्तला उसे अपना पति कहकर अंगीकार करने के लिए अनुरोध करती है। लेकिन वह उसके उस सौन्दर्य और कण्व के शिष्यों के क्रोध की परवाह किये बिना ही सिर्फ अपनी धर्मपरायणता के कारण उसे स्वीकार नहीं करता है। राजा की धर्मनिष्ठता एवं विचारदृढ़ता पर प्रतिहारी (वेत्रवती) आश्चर्य प्रकट करती हुई कहती है कि स्वामी की कैसी धर्मनिष्ठा है। ऐसे अनायास प्राप्त हुए रूप को देखकर दूसरा कौन विचार करता है।[2]

दुष्यन्त उच्च कोटि का आदर्श शासक है। वह धर्म एवं न्याय के साथ शासन करता है। उसमें त्याग की भावना पर्याप्त है। धनमित्र नामक व्यापारी की मृत्यु पर वह उसके धन उसकी गर्भस्थ सन्तान को दिलाता है।[3] वह प्रजा-वत्सल है। प्रजा की रक्षा करना वह अपना धर्म समझता है।[4] वह दुःखियों के दुःख दूर करने में संलग्न रहता है। अपने शासनकाल में वह दुष्टों की उद्दण्डता बर्दाश्त नहीं कर सकता है।[5] इस दृष्टि से वह पुरुवंश के गौरव का प्रतिनिधि है। उसकी दृष्टि में प्रजा का अनुरंजन ही राजा का परम कर्त्तव्य है—

नातिश्रमापनयनाय यथा श्रमाय राज्यं स्वहस्तधृतदण्डमिवातपत्रम् ।५।६।

---

१ राजा—विनिपातः पौरवैः प्रार्थ्यते इति न श्रद्धेयमेतत्। (वही)

२ प्रतिहारी—(स्वगतम्) अहो धम्मावेक्खिआ भट्टिणो। ईदिसं णाम सुहोवणदं एवं देक्खिअ को अण्णो विआरेदि। (अभि० शा० अंक ५, पृ० २९९)।

३ राजा—ननु गर्भः पित्र्यं रिक्थमर्हति। गच्छ, एवममात्यं ब्रूहि। (अभि० शा० अंक ६, पृ० ४०७)।

४ अभि० शा० ५।६ ।
राजा—किमनेन सन्ततिरस्ति नास्तीति।
येन येन वियुज्यन्ते प्रजा स्निग्धेन बन्धुना।
स स पापादृते तासां दुष्यन्त इति घुष्यताम् ॥६।२३ (अभि० शा०)

५ राजा—(सत्वरमुपसृत्य)—कः पौरवे वसुमतीं शासति शासितरि दुर्विनीतानाम्।
अयमाचरत्यविनयं मुग्धासु तपस्विकन्यासु ॥१।२५॥
(अभि० शा०)।

राजोचित समग्र गुणों में वह आदर्श है। राजा के रूप में वर्ण एवं आश्रम की रक्षा करना वह अपना पुनीत कर्त्तव्य समझता है।[1] कण्वाश्रम के दर्शन से वह अपने को पुनीत बताता है—'पुण्याश्रमदर्शनेन तावदात्मानं पुनीमहे ॥" महर्षि कण्व के आश्रमनिवासी मुनिगण उसके तेजोमय रूप से चकित एवं प्रभावित होकर कहते हैं कि ये इतने तेजस्वी हैं कि इन्हें देखकर ही मन आश्वस्त हो जाता है। सचमुच ये भी ऋषियों के समान हैं—"अहो दीप्तिमतोऽपि विश्वसनीयता अस्य वपुषः अथवोपपन्नमेतदृषिभ्योनातिनिम्ने राजनि ॥" लोक-रक्षण में लगे रहने के कारण वह भी एक प्रकार से तपस्साधना ही किया करता है—"रक्षायोगादयमपि तपः प्रत्यहं संचिनोति।" अपनी प्रिया शकुन्तला के वियोग के सन्ताप से परितप्त स्थिति में भी वह वेत्रवती के माध्यम से अपने मंत्री के पास आदेश भेजता है कि आज देर से उठने के कारण धर्मासन पर बैठना हमारे लिए संभव नहीं है, अतः आपने जो नागरिकों का कार्य देखा हो, उसे पत्र द्वारा मेरे पास लिखकर भेज दें।[2] इससे उसकी प्रजावत्सलता एवं सहानुभूति में अत्यधिक अभिवृद्धि सूचित होती है। पंचम अंक में वैतालिक की स्तुति में दुष्यन्त की राजोचित कर्त्तव्यनिष्ठा का विवरण मिलता है। अपने सुख का परित्याग कर आप प्रजा के कल्याणार्थ प्रतिदिन कष्ट उठाते हैं। वस्तुतः आप अपना धर्मपालन कर रहे हैं, क्योंकि वृक्ष अपने सिर पर तो कठोर धूप सहता रहता है, किन्तु अपनी शीतल छाया से अपने आश्रय (तले) में बैठे हुए प्राणियों का सन्ताप दूर करता है (५।७)। आप अपने राज दण्ड से कुमार्गगामी प्रजाओं को नियन्त्रित रखते हैं तथा पारस्परिक विवादों (झगड़ों) को शान्त कर प्रजाओं की रक्षा करते हैं। धनी सम्पन्नों के तो अनेक सम्बन्धी होते हैं, किन्तु सामान्य प्रजा के बन्धु तो आप ही हैं (५।८)। मारीच से जब दुष्यन्त को मालूम होता है कि शकुन्तला के प्रत्याख्यान में दुर्वासा का शाप मूल कारण है तब उसे अत्यधिक परितोष होता है कि परिणीता पत्नी शकुन्तला को उसने जो तिरस्कृत एवं अपमानित किया है, उसके लिए वह स्वयं अपराधी नहीं है। इस कथन में जनमत के प्रति उसकी संवेदनशीलता व्यक्त होती है। फलतः वह आदर्श शासक सिद्ध होता है। यहाँ रामस्वामी का विचार उल्लेखनीय है। उनका कथन है कि कवि ने राजनीति के सम्बन्ध में एक महनीय तत्त्व की ओर निर्देश किया है—राजसत्ता को जीवन में सदाचरण,

---

१ शार्ङ्गरवः—५।१७।

२ राजा—वेत्रवति ! मद्वचनादमात्यमार्यपिशुनं ब्रूहि। चिरप्रबोधान्न संभावितम-स्माभिरद्य धर्मासनमध्यासितुम्। यत्प्रत्यवेक्षितं पौरकार्यमार्येण तत्पत्रमारोप्य दीयतामिति। (अभि० शा०, अंक ६, पृ० ३६४)।

पवित्रता एवं कठोर संयम के तत्त्वों से संयुक्त होना चाहिए, क्योंकि तभी वह प्रतिष्ठा एवं सम्मान पाने की अधिकारिणी होगी तथा संपूर्ण संसार पर अपना आधिपत्य स्थापित कर सकेगी।[1] दुष्यन्त राज्य के नियमों से ऊपर मानवीय गुणों की प्रतिष्ठा स्वीकार करता है। गर्भिणी शकुन्तला के परित्याग से दुःखी राजा को निःसन्तान धनमित्र नामक वणिक् के बारे में विचार कर अत्यधिक दुःख होता है और कहता है—"कष्टं खलु अनपत्यता।"

सर्वगुण सम्पन्न आदर्श राजा होते हुए भी दुष्यन्त व्यवहारपटु आदर्श प्रेमी है। उसकी अपनी प्राणप्रिया शकुन्तला के प्रति प्रदर्शित आसक्ति, आयास एवं आयोग तीनों में आदर्श रूप की झलक सर्वत्र मिलती है। सर्वप्रथम शकुन्तला को विलासभरी दृष्टि से देखकर दुष्यन्त कहता है कि इसके अधरोष्ठ नये पत्र के समान लाल हैं, दोनों हाथ दो कोमल शाखाओं का अनुकरण करने वाले हैं तथा फूलों के समान सुन्दर मालूम पड़ने वाला यौवन सभी अंगों में व्याप्त है।[2] यौवन-सुलभ रागात्मिका वृत्ति में भी वह वर्णाश्रम की मर्यादाओं से दूर नहीं है। इस समय भी उसे संदेह होता है कि यह ऋषिकन्या किसी दूसरे वर्ण की स्त्री से उत्पन्न तो नहीं है।[3] वह संशय की स्थिति में अन्तःकरण को प्रमाण मानता है। उसे विश्वास है कि उसकी अन्तःप्रेरणा उसे पथभ्रष्ट नहीं कर सकती। यही उसके अन्तःप्रेरित प्रेम की विशेषता है। पंचम अंक में शकुन्तला के प्रत्याख्यान के अवसर पर भी उसे भीतर से थोड़ा-थोड़ा आभास मिलता है और उसी के आधार पर सोचता है कि शकुन्तला के प्रति उसका यह व्यवहार उचित नहीं है। अतिव्यथित होने पर भी अन्तरात्मा से उसे ऐसा आभास मिलता है कि शकुन्तला उसकी विवाहिता पत्नी है।[4]

भौंरे द्वारा शकुन्तला के रतिसर्वस्व अधर का पान किये जाते देखकर

---

१ कालिदास—पृ० २१७ (के० एस० रामस्वामी शास्त्री)
महाकविकालिदास (डा० रमाशंकर तिवारी) में उल्लिखित।

२ अभि० शा० १।२१।

३ राजा—अपि नाम कुलपतेरियमसवर्णक्षेत्रसंभवा स्यात्। १।२२
—(अभि० शा०, अंक १, पृ० ५१)।

४ राजा—कामं प्रत्यादिष्टां स्मरामि न परिग्रहं मुनेस्तनयाम्।
बलवत्तु दूयमानं प्रत्याययतीव मां हृदयम्।५।३१॥ (अभि० शा०)।

उसमें प्रतिस्पर्धा की भावना जगती है[1] किन्तु वह कुलशील का पता लगाने में प्रयत्नशील है। उसे अनसूया से मालूम हो जाता है कि पालन-पोषण के कारण कण्व इसके पिता हैं, वस्तुतः यह विश्वामित्र से उत्पन्न मेनका नामक अप्सरा की कन्या है, फिर भी राजा के मन में सन्देह है कि उसका विवाह हो गया या नही ?[2] इस संशय का निराकरण वह बहुत कलात्मक ढंग से करता है। उसे प्रियम्वदा से मालूम होता है कि यह (शकुन्तला) धर्माचरण करने में भी पराधीन है। फिर भी पिता जी का विचार उसे किसी योग्य वर को देने का है। सम्यक् जानकारी के बाद जब उसकी सारी शंकाएँ निरस्त हो जाती है और वह पूर्ण विश्वस्त हो जाता है कि शकुन्तला के साथ प्रणय-निवेदन में कोई भी नैतिक विरोध नही है तब वह उसकी प्राप्ति के निमित्त अभिलाषा व्यक्त करता है।[3] शकुन्तला की वृक्ष-सेचन से परिश्रान्त स्थिति[4] पर दया का भाव व्यक्त करते हुए ऋणमुक्त करता है तथा अपनी नामाङ्कित अंगूठी देकर अपने हार्दिक अनुराग को प्रकट करता है।[5] अब वह कहता है कि यह राजपुरुष का उपहार है, अतः मुझे राजपुरुष ही समझो।[6]

शकुन्तला के प्रति राजा की आसक्ति प्रगाढ़ हो जाती है। अतः वह उसकी प्रेम-चेष्टाओं की मीमांसा करते हुए कहता है कि जब वह बातें करता है तो शकुन्तला उसकी ओर बिना देखे सावधानी के साथ सुनती है। यद्यपि वह उसकी ओर ताकती नही है फिर भी उसकी दृष्टि किसी अन्य विषय में आसक्त नही है (१।३१)।

---

१ राजा ....(सासूयमिव)

चलापाङ्गां दृष्टिं स्पृशसि बहुशो वेपथुमती
रहस्याख्यायीव स्वनसि मृदु कर्णान्तिकचरः।
करौ व्याधुन्वत्याः पिबसि रतिसर्वस्वमधरं
वयं तत्त्वान्वेषान्मधुकर हतास्त्वं खलु कृती ॥१।२४॥ (अभि० शा०)

२ अभि० शा० २७।

३ राजा—(आत्मगतम्) ...खापेयं खलु प्रार्थना।
भव हृदय! साभि... सम्प्रति सन्देहनिर्णयो जातः।
आशंकसे यदग्निं तदिदं ... क्षमं रत्नम् ॥१।२८। (अभि० शा०)।

४ अभि० शा० १।३०।

५ ...इति अंगुलीयं दातुमिच्छति (अभि० शा० प्रथम अंक)

६ राजा—अलमस्मानन्यथा संभाव्य राज्ञः परिग्रहोऽयम्। (वही)

मेरे द्वारा सामने देखे जाने पर वह अपनी दृष्टि हटा लेती और कुछ अन्य कारण से हँस पड़ती थी। अतः उसने शीलनियन्त्रित व्यापार वाले कामभाव को न तो प्रकट ही किया और न छिपाया ही (२।११)। सखियों के साथ जाते समय उसने मेरे प्रति अपने प्रेमभाव को लज्जाशीलता के साथ उचित रूप में अभिव्यक्त किया। क्योंकि तन्वी शकुन्तला ने कुछ कदम आगे बढ़कर अचानक "कुश के अंकुर से मेरा पैर घायल हो गया है", यह कहकर खड़ी हो गयी और वृक्षों की शाखाओं में न उलझे हुए वल्कल वस्त्र को छुड़ाती हुई मेरी ओर मुँह करके ताकती रही (२।१२)। इस प्रकार उसकी अनुराग चेष्टाओं को याद कर वह उन्मथित है। उसके बिना अब उसका मन किसी अन्य कार्य में नहीं लगता है। वह अच्छी तरह जानता है कि मिलन की व्यग्रता दोनों ओर है—"अकृतार्थेऽपि मनसिजे रतिमुभयप्रार्थना कुरुते"। राजा हमेशा शकुन्तला के ध्यान में मग्न है, अतः मृगया से उसका मन ऊब गया है, क्योंकि अब वह उन हरिणों पर बाण चलाना नहीं चाहता जिन्होंने उसकी प्रिया के साथ रहकर उसे भोली चितवन सिखाई है। प्रणय के कारण उसकी सारी प्रवृत्ति परिवर्त्तित हो गयी है। उसकी दृष्टि में शकुन्तला सौन्दर्यसमूह को एकत्रित कर ब्रह्मा द्वारा निर्मित स्त्री-रत्न है (२।९)। उस अखंडित, अस्पृश्य एवं पवित्र अलौकिक रूपवती शकुन्तला के यौवन के उपभोग के लिए वह अत्यधिक लालायित है (२।१०)। मालिनी नदी के तट पर वह कामवेदना से सन्तप्त शकुन्तला एवं सखियों का विश्रब्ध-वार्त्तालाप सुनता है। शकुन्तला अपनी सखियों से अपनी कामपीड़ा का कारण बताती हुई कहती है कि जबसे तपोवन-रक्षक राजर्षि दुष्यन्त मेरे दृष्टिपथ में आये हैं तब से उनके प्रति अभिलाषा के कारण मैं इस अवस्था को प्राप्त कर गयी हूँ।[1] इसे सुनकर राजा को अपने प्रति शकुन्तला के प्रेम पर विश्वास हो जाता है। इसके बाद उसके प्रेमपत्र[2] के भाव को हृदयंगम कर वह हठात् उसके समीप उपस्थित होकर कहता है कि हे कृशांगि! कामदेव तुझे निरन्तर तपा रहा है किन्तु मुझको तो वह जला ही रहा है। दिन जितना चन्द्रमा

---

१ शकुन्तला—सहि! जदो पहुदि मम दंसणपहं आअदो एते तपोवणरक्खिदा राएसी। (इत्यर्धोक्ते लज्जां नाटयति)

—उभे—कहेदु पिअसहि।

शकुन्तला—तदो आरहिअ तग्गदेण अहिलासेण एतदवत्थम्हि संवुत्ता।

(अभि० शा०, अंक २, पृ० १४९)।

२ शकुन्तला—(वाचयति) तुज्झ ण जाणे हिअअं मम उण कामो दिवाविरत्तिम्पि।
णिग्घिण तवइ बलीअं तुइ वुत्तमणोरहाए अंगाइं। (३।१।३ अभि० शा०)

को कान्तिविहीन करता उतना कुमुदिनी को नहीं।[1] जब प्रियम्वदा राजा से कहती है कि अपने राज्य में विपन्न लोगों के कष्ट को दूर करना आपका धर्म है।[2] तब वह भी स्वीकारते हुए कहता है कि सचमुच इससे बड़ा कोई कर्त्तव्य नहीं है।[3] पुनः प्रियम्वदा स्पष्ट शब्दों में उससे निवेदन करती है कि मेरी प्रिय सखी शकुन्तला आपको ही लक्ष्य करके भगवान् कामदेव के द्वार इस दयनीय अवस्था को पहुँचा दी गई है, अतः उचित है कि आप अपने अनुग्रह द्वारा इसके जीवन की रक्षा करें।[4] इसके निवेदन पर राजा उसे अंगीकार करते हुए कहता है कि यह प्रार्थना दोनों ओर से एक-सी है। मैं सर्वथा आपका अनुगृहीत हूँ।[5] वस्तुतः प्रणय-व्यापार में दोनों समान रूप से क्रियाशील हैं। दुष्यन्त पुरूरवा की अपेक्षा अधिक संयत एवं अग्निमित्र की अपेक्षा अधिक भावुक मालूम पड़ता है। अनेक पत्नियों वाला होने के कारण अनसूया अपनी सखी के प्रति अनुकूल व्यवहार के लिए जब राजा से प्रार्थना करती है तब वह स्पष्ट शब्दों में अपनी हार्दिक प्रेम-भावना को अभिव्यक्त करते हुए कहता है कि अनेक स्त्रियों के होने पर भी मेरे वंश की दो ही प्रतिष्ठाएँ हैं—समुद्ररूपी मेखला से युक्त पृथ्वी तथा तुम्हारी यह सखी शकुन्तला।[6] मृगशावक को उसकी माता के पास पहुँचाने के बहाने दोनों सखियों के चले जाने पर जब शकुन्तला उद्विग्न हो जाती है तब राजा दुष्यन्त धैर्य बँधाते हुए उससे कहता है कि यह तुम्हारा उपासक व्यक्ति तुम्हारे समक्ष ही है। क्या मैं शीतल एवं थकावट को दूर करने वाली कमलपत्र के पंखे से ठंढी

---

१ राजा—(सहसोपसृत्य)—तपति तनुगात्रि मदनस्त्वमनिशं मां पुनर्दहत्येव।
ग्लपयति यथा शशांकं न तथा हि कुमुद्वतीं दिवसः ॥३।१८ (अभि० शा०)।

२ प्रियम्वदा—आवण्णस्स विसअणिवासिणो जणस्स अत्तिहरेण रण्णा होदव्वं त्ति एसो वो धम्मो। (अभि० शा० अंक ३, पृ० १६४)।

३ राजा—नास्मात् परम्! (वही)

४ प्रियम्वदा—तेण हि इअं णो पिअसही तुमं उद्दिसिअ इमं अवत्यन्तरं भअवता मअणेण आरोविदा। ता अरिहसि अब्भुववत्तीए जीविदं से अवलम्बिदुं। (वही, अंक ३)

५ राजा—भद्रे साधारणोऽयं प्रणयः। सर्वथा अनुगृहीतोऽस्मि। (अभि० शा०, अंक ३)

६ राजा—भद्रे! किं वहुना? परिग्रहवहुत्वेऽपि द्वे प्रतिष्ठे कुलस्य मे।
समुद्ररसना चोर्वी सखी च युवयोरियम् ॥३१७॥
(अभि० शा०)।

हवा दूँ अथवा अपनी गोद में रखकर तुम्हारे पद्मताम्र चरणों को दबाऊँ?[1] राजा का यह कथन आत्मनिवेदन की भावना से सिक्त है। उसके रूपयौवन के समक्ष झुककर वह उसका एकान्त प्रेमी बन गया है। इस परिस्थिति में शकुन्तला कहती है कि हे पुरुवंशी राजन्! शील की रक्षा कीजिए। कामपीड़ित भी मुझे अपने पर अधिकार नहीं है।[2] इसके बाद राजा उससे गान्धर्व विवाह का प्रस्ताव करता है।[3] गान्धर्व विवाह के बाद राजा राग-प्रदर्शन करता है (३।२१)। फलतः वह सगर्भा बन जाती है। उद्दामयौवन से लथपथ प्रेम कालिदास की दृष्टि में शाश्वत नहीं। विरह की ज्वाला में दग्ध होने पर ही प्रेम निष्पाप होता है। दुर्वासा के शापवश उसका सम्पूर्ण प्यार एवं आत्मनिवेदन प्रमत्त गीत बन जाता है। निर्धारित तिथि तक प्रतीक्षा के बाद दरबार में आयी शकुन्तला का वह प्रत्याख्यान कर देता है। "परमार्थेन न गृह्यतां वचः" से वह उस प्रेमव्यापार को अवास्तविक समझ लेता है। फिर भी वह उसके अन्दर शकुन्तला के प्रति एक क्षीण संस्कार बना है। शाप के वशीभूत राजा दुष्यन्त से शकुन्तलाप्रत्याख्यान विषयक व्यापार दिखाकर उसके राजत्व को अभिव्यक्त कराया गया है। वस्तुतः राजा का शकुन्तला के प्रति अगाध प्रेम है। इसका ज्वलन्त प्रमाण अँगूठी देखने के बाद उसके हृदय में शकुन्तला के लिए उत्पन्न विरह-व्यथा है। अँगूठी देखते ही उसकी आँखें भर आती हैं। उसे सारा प्रणय-वृत्तान्त प्रत्यक्ष दिखाई पड़ने लगता है। वह पश्चात्ताप की ज्वाला में दग्ध होने लगता है। उसकी सारी क्रियाएँ बदल जाती हैं। अब उसे कोई भी सुन्दर वस्तु अच्छी नहीं लगती है। वह सारी रातें जाग कर बिता देता है। वसन्तोत्सव मनाना बन्द कर देता है।[4] उदारता के कारण अन्तःपुर की स्त्रियों को उचित उत्तर देते समय शकुन्तला का नामोच्चारण के परिणामस्वरूप वह बहुत देर तक लज्जा के कारण व्याकुल रहता है।[5] इस व्यवहार से उसका अन्य स्त्रियों के प्रति दाक्षिण्यभाव व्यक्त हो जाता है। उसे अपने कृत्यों पर पश्चात्ताप होता है।[6] इस विरह-व्यथा में अब उसे शकुन्तला के

१ अभि० शा० ३।१८ .

२ शकुन्तला—पौरव! रक्ख विणअं। मअणसंतत्तावि ण हु अत्तणो पहवामि। (अभि० शा० अंक १, पृ० १७३)

३ राजा—अलं गुरुजनभयेन! दृष्ट्वा तं विदितधर्मा तत्रभवान् नात्र दोषं ग्रहीष्यति कुलपतिः। अपिच—३।२० (अभि० शा०, अंक ३, पृ० १७३)।

४ अभि० शा० ६।४।

५ अभि० शा० ६।५।

६ वही ६।९।

पूर्वमिलन की वास्तविकता में ही संदेह होने लगता है।[१] चित्र को देखकर उसे वह वास्तविक शकुन्तला समझने लगता है तथा चित्राङ्कित भौंरे को डाँट-फटकार सुनाता है।[२] रात्रिजागरण के कारण वह न स्वप्न में ही शकुन्तला से मिल पाता है न अश्रुप्रवाह के कारण चित्राङ्कित शकुन्तला को देखकर ही तृप्त हो पाता है।[3] अज्ञान के कारण उसने स्त्री एवं चक्रवर्ती पुत्र दोनों का परित्याग कर दिया, अतः वह दुःख उसे क्षण-क्षण गला रहा है।[४] हम देखते हैं कि दुष्यन्त की विरहावस्था अत्यन्त मर्मद्रावक है। संयम एवं प्रकृति गम्भीरता के कारण वह पुरूरवा की तरह उन्मत्त नहीं हुआ है। उसका दुःख सीता के विछोह एवं परित्याग से विपन्न राम के दुःख के समान है।

मारीच के आश्रम में शकुन्तला के पुनर्मिलन पर दुष्यन्त के प्रणय का अत्यधिक स्वस्थ रूप मिलता है। शकुन्तला के पैरों पर गिरकर वह कहता है कि हे सुन्दरि! तेरे हृदय से मेरे द्वारा किये गये परित्याग का दुःख दूर हो जाय। उस समय मेरे मन में प्रबल अज्ञान पैदा हो गया था।[५] शकुन्तला उसे उठाती है और कहती है कि उन दिनों शुभ फल में विघ्नकारी मेरा पूर्वजन्म में किया हुआ कोई पाप उदय हो गया था, जिसके कारण दयालु होते हुए भी आर्यपुत्र मेरे प्रति उस समय निर्दय हो गये थे। इसके बाद राजा शकुन्तला के आँसू पोंछने के बहाने मानो अपने ही पाप का प्रक्षालन करता है।[६] इस प्रणय-चित्रण के अध्ययन से विदित होता है कि शकुन्तला के प्रति दुष्यन्त का प्रेम सिर्फ वासनाप्रेरित नहीं है। उसमें शिवात्मक प्रेम की प्रवाहित प्रच्छन्न धारा उत्तरोत्तर व्यक्त होती गयी है। संवेगों

---

१ वही ६।१०।

२ वही ६।१९-२०।

३ राजा—वयस्य! कथमेवमविश्रान्तदुःखमनुभवामि?

प्रजागरात् खिलीभूतस्तस्याः स्वप्ने समागमः।
बाष्पस्तु न ददात्येनां द्रष्टुं चित्रगतामपि ॥६।२२॥ (अभि० शा०)।

४ अभि० शा० ६।२५।

५ अभि० शा० ७।२४।

६ राजा—उद्धृतविषादशल्यः कथयिष्यामि।

मोहान्मया सुतनु पूर्वमुपेक्षितस्ते
यो बाष्पबिन्दुरधरं परिबाधमानः।
तं तावदाकुटिलपक्ष्मविलग्नमद्य
कान्ते प्रमृज्य विगतानुशयो भवेयम् ॥७।२५॥ (अभि० शा०)

के परिमार्जन एवं संस्कार से उसका वासनात्मक भोगजन्य प्रेम योगजन्य प्रेम में परिपुष्ट होकर आध्यात्मिक प्रेम में परिणत हो गया है। प्रथम अंक का दुष्यन्त सप्तम अंक के दुष्यन्त में परिणत होकर आदर्श गृहस्थ के पवित्र आसन पर प्रतिष्ठित हो जाता है।

शकुन्तला के प्रति अगाध प्रेम रहने पर भी वह अपनी रानी के प्रति आदर भाव रखता है। महारानी को आते देखकर वह शकुन्तला का चित्र छिपाने के लिए विदूषक से अनुरोध करता है।[१] इससे स्पष्ट होता है कि वह दक्षिण नायक है।

दुष्यन्त ललितकला का मर्मज्ञ है। हंसपदिका के गीत का मर्म समझकर वह कहता है—"अहो रागपरिवाहिणी गीतिः।" राजा चित्राङ्कन में भी निपुण है। सानुमती शकुन्तला का चित्र देखकर राजा की चित्रकलाकुशलता की प्रशंसा करती है।[२] राजा चित्र में कुछ त्रुटियों को देखकर उन्हें ठीक करता है।[3] स्पष्ट है कि दुष्यन्त अग्निमित्र की अपेक्षा विशेष कला-प्रेमी है।

दुष्यन्त पुत्रवत्सल है। मारीच के आश्रम में अपने पुत्र सर्वदमन को देखकर उसके हृदय में वात्सल्य-भावना उमड़ पड़ती है। वह कहता है कि वह भाग्यवान् पुरुष धन्य है जिसकी गोद में बैठकर यह स्वभाव से हँसमुख, कली के समान कुछ-कुछ झलकते हुए दाँतों वाला और तोतली मनोहर बोली वाला बालक अपने अंगों की धूल उसके अंग में लगाता हो।[४]

---

१ राजा—वयस्य ! उपस्थिता देवी बहुमानगर्विता च। भवानिमां प्रतिकृतिं रक्षतु। (अभि० शा० अंक ६, पृ० ४०४)।

२ सानुमती—अम्मो, एसा राएसिणो णिउणदा। जाणे सही अग्गदो मे वट्टदित्ति। (अभि० शा० अंक ६, पृ० ३८५)।

३ राजा—यतयत् साधु न चित्रे स्यात् क्रियते तत्तदन्यथा।
तथापि तस्या लावण्यं रेखया किंचिदन्वितम् ॥६।१४।
—६।१७-१८ (वही) (अभि० शा०)।

४ राजा—
स्पृहयामि खलु दुर्ललितायास्मै।
अलक्ष्यदन्तमुकुलाननिमित्तहासै—
र्व्यक्तवर्णरमणीयवचः प्रवृत्तीन्।
अङ्काश्रयप्रणयिनस्तनयान् वहन्तो
धन्यास्तदङ्गरजसा मलिनी भवन्ति ॥७।१७॥
(अभि० शा०)।

इस प्रकार, कालिदास ने दुष्यन्त का चित्रण पराक्रमी, विनयशील, सुसंस्कृत, कर्त्तव्यपरायण, सच्चे प्रेमी, उत्तम पति, पुत्रवत्सल पिता, प्रजारक्षक धर्मनिष्ठ आदर्श राजा के रूप में किया है।

द्वितीय प्रकाश : कालिदास के रूपकों की नायिकाएँ

रूपक में नायक के बाद नायिका का महत्त्वपूर्ण स्थान है। शृंगारप्रधान रूपक में नायिका की भूमिका का विशेष महत्त्व होता है। कालिदास की तीनों नाट्यकृतियाँ शृंगार-प्रधान हैं। अतः नायक सम्बन्धी उनकी कल्पना और स्थापना के अनन्तर नायिका का विवेचन अपेक्षित है। एतदर्थ यहाँ सर्वप्रथम शास्त्रीय दृष्टि से विभिन्न आचार्यों के अनुसार नायिका के विभिन्न प्रकारों, उनके गुणों तथा अलंकारों का संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत्य है। इसके बाद कालिदास के नाटकों एवं त्रोटक की नायिकाओं के चारित्रिक वैशिष्ट्य का विश्लेपणात्मक अध्ययन यथा-प्रसंग अभीष्ट है।

भारतीय नाट्यशास्त्र में नायक की प्रिया ही नायिका कहलाती है, किन्तु पाश्चात्य नाट्यशास्त्र में यह आवश्यक नहीं है। वहाँ स्त्रियों में से जिसका नाटकीय कथा-वस्तु-प्रवाह में प्रधान भाग हो वही नायिका होती है, चाहे वह नायक की प्रिया हो या अन्य कोई। शास्त्रीय एवं परम्परागत आधार पर मालविका, उर्वशी एवं शकुन्तला कालिदास के रूपकों की नायिकाएँ है। यों नाटककार ने धारिणी, इरावती एवं औशीनरी का चित्रण कम कलात्मक ढंग से नहीं किया है। ये सभी नायक की विवाहिता पत्नियाँ हैं। कालिदास ने अपने रूपकों के नामकरण के माध्यम से नायिकाओं का स्पष्ट उल्लेख कर दिया है। विक्रमोर्वशीयम् तथा मालविकाग्निमित्रम् में नायक एवं नायिका दोनों का उल्लेख एक साथ है। अभिज्ञानशाकुन्तलम् में सिर्फ नायिका शकुन्तला का नामोल्लेख है। इससे स्पष्ट विदित होता है कि कालिदास को नायिका के सम्बन्ध में शास्त्रीय एवं परंपरागत धारणा ही मान्य थी। जहाँ तक चरित्र वैशिट्य-चित्रण की बात है, उन्होंने धारिणी, इरावती एवं औशीनरी का भी उसी तरह महत्त्वपूर्ण ढंग से विश्लेषण किया है। आलोचनात्मक दृष्टि से देखने पर पता चलता है कि कालिदास ने माविकाग्निमित्रम् में धारिणी के चित्रण मे आदर्श भार्या, विक्रमोर्वशीयम् में औशीनरी के चित्रण में पतिव्रता तथा अभिज्ञानशाकुन्तलम् में शकुन्तला के चित्रण में आदर्श गृहिणी का चित्र अंकित किया है। उन्होने धारिणी एवं औशीनरी का चित्रण मालविका तथा उर्वशी से कम प्रभावकारी नहीं किया है। इनकी चारित्रिक विशेपता का अध्ययन चरित्र-वैशिष्ट्य नामक

अगले अध्याय में किया जा रहा है। यहाँ शास्त्रीय दृष्टि से नायिका के प्रमुख भेदों का सर्वप्रथम विवेचन प्रसंगोपात्त है।

नाट्यशास्त्र एवं काव्यशास्त्र के अन्दर नायिकाभेद का विकास शृंगार रस के आलम्बन के रूप में हुआ है। अपने नाट्यशास्त्र में भरत ने नायिका के चार भेद बताये हैं—दिव्या, नृप-पत्नी, कुल-स्त्री एवं गणिका। अग्निपुराण में उपर्युक्त विभाजन में "पुनर्भू" को भी जोड़ा गया है। नाट्यदर्पणकार ने भरत के ही कथन के आधार पर कुलजा, दिव्या, क्षत्रिया एवं पण्यकामिनी चार भेद माने हैं[1]। परन्तु आगे चलकर उपर्युक्त नायिका-भेद अमान्य हो गया। दशरूपककार तथा साहित्यदर्पणकार ने पूर्वोक्त सामान्य गुणों से युक्त नायक के सम्बन्ध के आधार पर नायिका के तीन प्रकार बताये हैं—स्वीया, अन्या तथा सामान्या।[2] यही परवर्ती नाट्यशास्त्रों में नायिका का सर्वमान्य भेद है। इनमें स्वीया (स्वकीया) नायिका नायक की विवाहिता पत्नी होती है। यह शील, लज्जा आदि युक्त होती है[3]। आचार्य विश्वनाथ के विचार से यह नम्रता, सरलता आदि गुणों से युक्त गृहकर्म में तत्पर तथा पतिव्रता होती है।[4] कामसूत्र के अनुसार स्वकीया (स्वीया) का महत्त्व नहीं है, क्योंकि उसके दृष्टिकोण से नायिका को प्राप्त करना होता है, जबकि काव्यशास्त्र तथा नाट्यशास्त्र में प्रेम की स्थिति स्वीकार किये बिना कोई स्त्री नायिका नहीं कही जा सकती। कालिदास की तीनों नायिकाओं ने अन्ततः प्रेम की स्थिति स्वीकार की है। उर्वशी एवं शकुन्तला से पुत्रोत्पत्ति भी हुई है। संस्कृत रूपकों में स्वीया के चित्रण में रतिभाव की मर्मस्पर्शी एवं मधुर अभिव्यक्ति हुई है। अवस्था एवं कामवासना के आधार पर स्वीया (स्वकीया) को पुनः तीन भागों में विभक्त किया गया है:—मुग्धा, मध्या एवं प्रगल्भा।[5]

---

१ नायिका कुलजा दिव्या क्षत्रिया पण्यकामिनी। । (नाट्यदर्पण, पृ० १७९)।

२ स्वान्या साधारणस्त्रीति तद्गुणा नायिका त्रिधा। (दशरू०, प्र० २, पृ० ९५)।
—अथ नायिका त्रिभेदा स्वान्या साधारणस्त्रीति।
नायकसामान्यगुणैर्भवति यथासंभवैर्युक्ता ॥३।५६ (सा० द०, पृ० १५५)।

३ ....स्वीया शीलार्जवादियुक् ।१।१५ (दशरू० पृ० ९६)।

४ विनयार्जवादियुक्ता गृहकर्मपरा पतिव्रता स्वीया। (सा० द०, पृ० १५६)।

५ वयः कौशलभ्यां मुग्धा मध्या प्रौढेति सा त्रेधा-वयः शरीरावस्थाविशेषः कौशलं कामोपचारनैपुण्यम् ताभ्याम् मुग्धा (काव्यानुशासन अ० ७, सू० २३)
—साऽपि कथिता त्रिभेदा मुग्धा मध्या प्रगल्भेति।।३।५७ उत्तरार्द्ध
(सा० द०, पृ० १५६)।

मुग्धा नायिका वह जिसके शरीर में यौवन अवतरित हो चुका हो, जिसके मन में काम का उन्मेष प्रारम्भ हो, जो रतिलीला में झिझकती हो, जो क्रोध में भी कोमल हो तथा अपनी लज्जाशीलता के कारण प्रेम प्रकट करने में विवश रहा करे।[1] कालिदास की मालविका और शकुन्तला मुग्धा नायिका है।

मध्यम आयु, मध्यम काम तथा मध्यम मानवाली नायिका मध्या होती है। मध्या स्वकीया वह नायिका है जो चित्र-विचित्र रतिलीलाओं में निपुण हो, जिसमें कामपिपासा बढ़ती दिखाई दिया करती है, जिसका यौवन उभाड़ पर हो, जिसे प्रणयालाप में कोई विशेष हिचकिचाहट नहीं हुआ करती तथा जिसकी रतिलज्जा बहुत अधिक नहीं होती।[2] धनंजय के विचार से यह नायिका मूर्च्छा पर्यन्त सुरतक्रीड़ा को सहन कर सकती है।[3]

प्रगल्भा स्वीया नायिका वह है जिसमें मदनोन्माद बढ़ रहा हो, जिसका यौवन पूरे उभार पर पहुँच गया है, जो रतिलीला के सभी कौशल से सर्वथा परिचित हो, जिसके हाव-भाव पूर्णरूप से विकसित हों, जिसमें रतिलज्जा की थोड़ी ही मात्रा अवशिष्ट हो तथा वास्तव में जो रतिलीला में नायक को भी परास्त करने की सामर्थ्य रखती हो।[4] कालिदास की "उर्वशी" प्रगल्भा नायिका है।[5]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि मुग्धा में लज्जा की अधिकता तथा काम की अल्पता होती है। मध्या में लज्जा एवं काम समान होते हैं। प्रगल्भा में काम की अधिकता तथा लज्जा की कमी होती है।

नायक के विपरीत व्यवहार करने पर भी मध्या एवं प्रगल्भा मान प्रकट करती है। मानावस्था में मध्या और प्रगल्भा के तीन-तीन भेद और होते हैं :— धीरा, धीराधीरा और अधीरा।

---

१ प्रथमावतीर्णं यौवनमदनविकारा रतौवामा।
कथिता मृदुश्च माने समधिकलज्जावती मुग्धा ॥३।५८॥ (सा० द०, पृ० १५७)।
—मुग्धा नववयःकामा रतौवामा मृदु क्रुधि ।२।१६ पूर्वार्द्ध (दशरू०)

२ मध्याविचित्रसुरता प्ररूढस्मरयौवना।
ईषत्प्रगल्भवचना मध्यमव्रीडिता मता ॥३।५९॥ (सा० द०)।

३ मध्योद्यद्यौवनानङ्गा मोहान्तसुरतक्षमा ।२।१६ उत्तरार्द्ध (दशरू०)

४ स्मरान्धा गाढतारुण्या समस्तरसकोविदा।
भावोन्नता दरव्रीडा प्रगल्भाक्रान्तनायका ॥३।६०॥ (सा० द०)।

५ वोमेन इन संस्कृत ड्रामाज (लेखिका—रत्नमयी देवी, पृ० ७०)।

धीरा मध्या नायिका नायक के अपराध करने पर वक्रोक्ति द्वारा उसका दिल दुखाती है। धीराधीरा मध्या नायिका रोने के साथ व्यंग्य वचनों का प्रयोग भी करती है। अधीरा मध्या खूब रोती है और नायक को कटुवचन सुनाती है।[1]

धीरा प्रगल्भा नायिका कृत्रिम हँसी में अपना क्रुद्धस्वरूप छिपाया करती है, अपने प्रेमी के साथ रतिप्रसंग में उदासीन रहती है। धीराधीरा प्रगल्भा मध्या की तरह अपने व्यंग्य-वचनों से नायक को दु.खी बनाती रहती है। अधीरा प्रगल्भा अपने प्रेमी को डाँटती-फटकारती है तथा कभी-कभी क्रोध में आकर पीटती भी है।[2]

नायक से प्रेम की अल्पता तथा अधिकता के कारण मध्या एवं प्रगल्भा के दो-दो भेद और होते हैं—कनिष्ठा और ज्येष्ठा।[3] इस तरह कुल भेदोपभेद मिलाकर स्वीया नायिका के तेरह भेद हुए।[4]

परकीया (अन्या) के दो भेद होते हैं—परोढ़ा (पर-परिणीता) और कन्यका (अपरिणीता)। इनमें परोढा परकीया नायिका यात्रा आदि में विशेष रुचि रखती है, दूसरों से प्रेम-प्रसंग रखती है तथा निर्लज्ज होती है। इसके विपरीत कन्यका परकीया नायिका नवयुवती, लज्जाशीला तथा अविवाहिता होती है।[5] कन्यका को परकीया कहने का तात्पर्य यह है कि वह अपने माता-पिता के वश में रहती है। परस्त्री का नायिका के रूप में प्रयोग नीति एवं धर्म के विरुद्ध

---

१ धीरा सोत्प्रासवक्रोक्त्या, मध्या साश्रु कृतागतम्।
खेदयेद्दयितं कोपादधीरा परुषाक्षरम् ॥२।१७ (दशरू०, पृ० १०१)।

२ सावहित्थादरोदास्ते रतौ, धीरेतरा क्रुधा।
सन्तर्ज्य ताडयेत्, मध्या मध्याधीरेव तं वदेत् ॥ २।१९॥ (दशरू०)।

३ —प्रत्येकं ता अपि द्विधा।
कनिष्ठज्येष्ठरूपत्वान्नायकप्रणयं प्रति ॥३।६४ (सा० द०, पृ० १६५)।

४ धीराधीरादिभेदेन मध्याप्रौढे त्रिधा त्रिधा।
ज्येष्ठाकनिष्ठा भेदेन ताः प्रत्येकं द्विधा द्विधा ॥
मुग्धा त्वेकविधा चैवं सा त्रयोदशधोदिता। (शिङ्गभूपालप्रणीत रसार्णव सुधाकर)।
प्रथम विलास-१०५।

५ परकीया द्विधा प्रोक्ता परोढा कन्यका तथा।
यात्रादिनिरताऽन्योढा कुलटा गलितत्रपा ॥३।३६।
कन्या त्वजातोपयमा सलज्जा नवयौवना।३।६७। पूर्वार्द्ध (सा० द०)।

है, अतः नाटक आदि में इसका प्रयोग प्रधान (अंगी) रस के आलम्बन के रूप में नहीं करना चाहिए। लेकिन कन्या के प्रति अनुराग वर्णन में कोई दोष नहीं है। इसके प्रति व्यक्त अनुराग अंगीरस का भी अंग हो सकता है तथा अंगरस का भी।[1]

'सामान्या' नायिका साधारण स्त्री होती है। वह प्रायः गणिका होती है। वह कलाओं में निपुण, प्रगल्भा तथा धूर्त होती है।[2] इस प्रकार की नायिका न तो निर्गुणों से द्वेष करती है और न तो गुणी जनों के प्रेम में आसक्त ही होती है। यह केवल धनसमृद्धि देखकर बाहर प्रेम का प्रदर्शन करती है। चोर, नपुंसक, मूर्ख, विना परिश्रम के धन पाने वाले, संन्यासी तथा प्रच्छन्न कामुक ऐसी नायिका के प्रेमी होते हैं। कभी-कभी मदनातुर होकर ऐसी नायिका किसी के प्रति सच्चा प्रेम भी रखने लगती है। ऐसी नायिका के साथ चाहे वह अनुरक्ता हो या विरक्ता, रतिप्रसंग की बात बहुत ही कठिन होती है।[3] मृच्छकटिक नामक प्रकरण में वसन्तसेना का चारुदत्त पर सच्चा प्रेम हो जाता है।

इसके अतिरिक्त उपर्युक्त सोलह प्रकार की नायिकाएँ (स्वकीया-१३ + परकीया २ + सामान्या १) भी अवस्था भेद से आठ-आठ प्रकार की होती है।[4] स्वाधीनभर्तृका, खण्डिता, अभिसारिका, कलाहान्तरिता, विप्रलब्धा, प्रोषितभर्तृका, वासकसज्जा तथा विरहोत्कण्ठिता।

'स्वाधीनभर्तृका' नायिका की यह विशेषता है कि उसका प्रेमी उसके प्रेम में निरन्तर आसक्त रहता है तथा उसके समस्त प्रेमप्रसंग से उसके प्रणयी के लिए आनन्द का स्रोत उमड़ता रहता है।[5]

खण्डिता नायिका वह है जिसका प्रेमी अपनी किसी दूसरी प्रेमिका के साथ प्रेमप्रसंग में पड़े रहने के कारण, निश्चित समय पर भी उसके पास नही आ पाता

---

१ अन्यस्त्री कन्यकोढा च नान्योढाङ्गरसे क्वचित् ।२।२०।। उत्तरार्द्ध
कन्यानुरागमिच्छातः कुर्यादङ्गाङ्गिसंश्रयम् ।।२।२१।। पूर्वार्द्ध (दशरू०)

२ साधारणस्त्री गणिका कलाप्रागल्भ्यधौर्त्ययुक् ।२।२१ उत्तरार्द्ध (दशरू०)

३ सा० द० ३।६७-७१, पृ १६७।

४ आसामष्टाववस्थाः स्युः स्वाधीनपतिकादिकाः ।२।२३।। दशरू०।
—नाट्यदर्पण—पृ० १८०-१८१; सा० द०-३।७२-७३। पृ० १६८।

५ सुरतादिरसैर्बद्धो यस्याः पार्श्वगतः प्रियः।
सामोदे गुणसंयुक्ता भवेत् स्वाधीनभर्तृका।। (ना० शा० २४।२७७)।

तथा जिसे इस प्रकार की विरह-वेदना समय-समय पर दुखित किया करती है।[1] धनंजय के विचार से जब नायिका को किसी दूसरी स्त्री से संभोग करने के कारण नायक का अपराध पता लग जाय और उस अपराध के कारण वह ईर्ष्या से कलुषित हो उठे, तो वह खण्डिता कहलाती है।[2]

जो नायिका कामपीड़ित होकर या तो स्वयं नायक के पास अभिसरण करे, या नायक को अपने पास बुलावे. वह अभिसारिका कहलाती है।[3] विक्रमोर्वशीयम् में उर्वशी को अभिसारिका नायिका के रूप में चित्रित किया गया है।

जो नायक के अपराध करने पर क्रोध से उसका तिरस्कार करती और बाद में अपने कृत व्यवहार के बारे में पश्चात्ताप करती है, वह "कलहान्तरिता" नायिका कहलाती है।[4]

प्रिय के दत्तसंकेत समय पर उपस्थित न होने पर जो नायिका अपने आपको अपमानित समझती है, वह विप्रलब्धा के नाम से अभिहित होती है।[5]

प्रोषितभर्तृका वह नायिका कहलाती है जिसका प्रिय किसी कार्य से दूर देश में स्थित होता है।[6]

वासकसज्जा वह नायिका है, जो प्रिय के आगमन के समय हर्ष से अपने आपको सजाती है।[7]

प्रिय के अपराधी होने पर भी विलम्ब करने पर जो नायिका उत्कण्ठित मन से उसके आगमन की प्रतीक्षा करती है, वह विरहोत्कण्ठिता कहलाती है।[8]

उपर्युक्त नायिकाओं की परिगणना करने पर कुल मिलाकर १२८ (१६ × ८) नायिका-भेद सिद्ध हुए। इनके भी उत्तम, मध्यम एवं अधम तीन प्रकार हैं अतः समस्त नायिका-भेद ३८४ (१२८ × ३) हुए।

---

१ व्यासङ्गादुचिते यस्या वासके नागतः प्रियः।
तदनागमदुःखार्त्ता खण्डिता सा प्रकीर्तिता ॥ (ना० शा० : अभिनव भारती २२।२१७)

२ ज्ञाते अन्यासङ्गविकृते खण्डितेर्ष्याकषायिता ।।२।२५ उत्तरार्द्ध (दशरू०)

३ कामार्ताऽभिसरेत्कान्तं सारयेद्वाऽभिसारिका ।२।२७ उत्तरार्द्ध (वही)

४ कलहान्तरिता अमर्षाद्विधूतेऽनुशयार्तियुक् ।२।२६। पूर्वार्द्ध (वही)

५ विप्रलब्धोक्तसमयमप्राप्तेऽतिविमानिता ।२।२६। पूर्वार्द्ध (वही)

६ दूरदेशान्तरस्थे तु कार्यतः प्रोषितप्रिया ।२।२७। पूर्वार्द्ध (वही)

७ मुदावासकसज्जा एत्रं मण्डयत्येष्यति प्रिये ।२।२४। उत्तरार्द्ध (वही)

८ चिरयत्यव्यलीके तु विरहोत्कण्ठितोन्मना ।२।२५। पूर्वार्द्ध (वही)

नायिका के गुण :

इन सभी नायिकाओं के ७ सहज गुण माने गये हैं—शोभा, कान्ति, दीप्ति, माधुर्य, धैर्य, प्रागल्भ्य तथा औदार्य।[1] साहित्यदर्पणकार आदि आचार्यों ने इन सात गुणों के साथ अन्य २१ को मिलाकर नायिका के २८ अलंकार बताये हैं।[2] इनमें से हाव, भाव तथा हेला—अंगज; शोभा, कान्ति, दीप्ति, माधुर्य, औदार्य, धैर्य एवं प्रागल्भ्य—अन्त्यज; तथा लीला, विलास, विच्छित्ति, विब्बोक, किलकिंचित, मोट्टायित, कुट्टमित, विभ्रम, ललित, मद, विहृत, तपन, मौगध्य, विक्षेप, कुतूहल, हसित, चकित एवं केलि—स्वभावज अलंकार हैं। इन २८ मे से प्रथम १० (हाव, भाव, हेला, शोभा, कान्ति, दीप्ति, माधुर्य, औदार्य, धैर्य तथा प्रागल्भ्य) नायक के भी सात्त्विक (यौवन सम्बन्धी) अलंकार माने गये हैं। फिर भी नायिका में इन अलंकारों के रहने पर जैसी सुन्दरता एवं विचित्रता मालूम पड़ती है वैसी नायक में नहीं। स्पष्ट है कि ये युवती स्त्रियों के प्रमुख अलंकार होते हैं। ये बाल्यावस्था में भी कुछ उदित होते हैं तथा वृद्धावस्था में अधिकांश प्रायः नष्ट हो जाते हैं। भरतमुनि ने "सामान्याभिनय" के प्रसंग में नायक और नायिका के इन अलंकारों का स्वरूप निर्देश किया है।[3] कालिदास की नायिकाओं के विश्लेषणात्मक अध्ययन के प्रसंग में इन गुणों एवं अलंकारों का विवेचन प्रस्तुत्य है।

अब यथाप्रसंग नाटककार की नायिकाविषयक धारणा के स्पष्टीकरण के लिए उनके रूपकों की नायिकाओं का विश्लेषणात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया जाता है। इनमें 'मालविका' पहली नायिका है। मालविका के साथ अग्निमित्र का प्रेमी-प्रेमिका के रूप में मिलन ही नाटक का प्रमुख उद्देश्य है। प्रायः सभी पात्रों एवं घटनाओं को इसी उद्देश्य की पूर्ति में सम्बद्ध देखा जाता है। नाट्य-शास्त्रीय दृष्टि से यह मुग्धा स्वीया नायिका है।[4] नाटक के प्रारम्भ में नाटककार

---

१ शोभा कान्तिश्च दीप्तिश्च माधुर्यं धैर्यमेव च।
प्रागल्भ्यमथ चौदार्यं गुणा स्युः सप्त योषिताम् ।३१५।। (ना० शा० २३।२४
(ना० ल० र० पृ० २२० में उल्लिखित)

२ यौवने सत्वजास्तासामष्टविंशतिसंख्यका:।
अलङ्कारस्तत्र भावहावहेलास्त्रयोऽङ्गजा: ।। ३।८९ से ३।९२ तक
स्वभावजाश्च भावाद्या दश पुंसां भवन्त्यपि ।३।९३। पूर्वार्द्ध (सा० द०)

३ ना० शा० २२।४-२६।

४ बकुलावलिका—मुद्धे ममरसम्बधोत्ति वसन्द वदार सव्वस्स भूदो किण चूदपसवो ओदंसणिजो। (मालविकाग्निमित्रम्, अंक ३, पृ० २०९)।

ने नाट्याचार्य गणदास के इस कथन से—"भद्रे, तद्विधानामसुलभत्वात्पृच्छामि कुतो देव्या तत्पात्रमानीतम्"—मालविका के नायिकात्व की भूमिका तैयार कर दी है। यह लज्जाशील कोमल स्वभाव की विदर्भराज की राजकुमारी है। इस कुलजा की आकृति अत्यधिक आकर्षक एवं मनमोहक है।[1] चित्र में ही उसकी सुन्दरता देखकर अग्निमित्र मोहित हो गया। पुन: उसे प्रत्यक्ष देखने पर वह उसके सौन्दर्य से इतना प्रभावित हुआ कि उसके सौन्दर्य का वर्णन किये विना ही अपने कार्यान्तर-सचिव गौतम (विदूषक) से कह उठा कि चित्र में इसकी सुन्दरता के वारे में मेरा मन शंका कर रहा था कि क्या यह इतनी सुन्दरी होगी ? किन्तु इसे साक्षात् देखकर मैं सोचता हूँ कि जिसने इसका चित्र बनाया है, उसने उचित ध्यान से काम नहीं किया। वस्तुत: इसके सभी अंगों में अनिन्द्य सुन्दरता है।[2] कालिदास ने पार्वती, उर्वशी, शकुन्तला एवं यक्षपत्नी के ऐसे ही अनूठे शब्द-चित्र खींचे हैं। इन नायिकाओं का चित्रण सचमुच विश्वसाहित्य में अद्वितीय है। विदूषक ने उसे 'नयनमधु' कहा है। मालविका के प्रति अपनी आसक्ति का वर्णन करते हुए अग्निमित्र का कथन है कि गोल-गोल नितम्वों में बड़ी, कमर में पतली, स्तनों में ऊँची तथा आँखों में विशाल यह मेरी जान आ रही है।[3] अभिनयप्रदर्शन के लिए उपस्थित मालविका को देखकर राजा मन ही मन कहता है कि नृत्य की स्थिति में यह और भी अधिक सुन्दर मालूम पड़ती है।[4] मालविका के सौन्दर्य का अग्निमित्र पर इन्द्रजालिक प्रभाव पड़ता है। फलत: वह उसे देखकर सोचता है कि मेरी आँखों ने देखने की वस्तुओं में से सर्वश्रेष्ठ वस्तु प्राप्त कर ली है।[5] उसके पर्दा के पीछे जाने पर अग्निमित्र कहता है कि मालूम पड़ता है कि मानो मेरी आँखों का भाग्य अस्त हो गया हो, मेरे हृदय का महान् उत्सव समाप्त हो गया हो अथवा मेरे धैर्य का द्वार वन्द हो गया हो (२।११)।

---

१ गणदास:—(स्वगतम्) आकृतिविशेषप्रत्ययादेनामनूनवस्तुकां सम्भावयामि। (मालवि०)

२ राजा (आत्मगतम्)—अहो सर्वस्थानानवद्यता रूपस्य। तथाहि—
दीर्घाक्षं शरदिन्दुकान्तिवदनं वाहू नतावंसयो:
संक्षिप्तं निविडोन्नतस्तनमुर: पार्श्वे प्रमृष्टे इव।
मध्य: पाणिमितोऽमितं च जघनं पादावरालाङ्गुली
छन्दो नर्तयितुर्यथैव मनसि श्लिष्टं तथास्या वपु: ॥२।३। (मालवि०)

३ मालवि० ३।७।

४ राजा—(आत्मगतम्)—अहो सर्वास्ववस्थासु चारुता शोभान्तरं पुष्यति। तथाहि—श्लोक-२।६ (मालवि० पृ० १०९)

५ राजा—(आत्मगतम्)—उपात्तसारश्चक्षुपा मे स्वविषय:। यदनेन-श्लोक २।१० (मालवि० पृ० १२१)।

मालविका विचक्षण-बुद्धि बालिका है। रानी धारिणी के आदेशानुसार उसे आचार्य गणदास नृत्यकला की शिक्षा देते हैं। उसकी ग्रहण-कुशलता से विस्मित होकर उसकी हार्दिक प्रशंसा करते हुए वे कहते हैं कि अभिनय के सम्बन्ध में जो-जो भावपूर्ण नृत्य मैं उसे सिखाता हूँ, उन्हें और भी अच्छी तरह से दिखाकर ऐसा प्रतीत होता है कि मानो वह लड़की उलटा मुझे ही सिखा रही हो।[1] उसके निर्दोष अभिनय की प्रशंसा करते हुए परिव्राजिका कहती है कि अपने अंगों को वाणी देकर उनके द्वारा अर्थ अच्छी तरह बता दिया गया है; पैर लय के अनुसार ही चले; भावों के प्रदर्शन में तन्मयता रही; हस्त-संचालन द्वारा किये जाने वाला अभिनय मृदु था; उसमे (अभिनय में) परिवर्तनों का ऐसा ताँता बँधा कि रस का एक भाव तुरत दूसरे भाव का स्थान लेता जाता था। फिर भी राग का समाँ वही रहा।[2] विदूषक ने यथोचित रूप से कहा कि मालविका सिर्फ रूप में ही नही बलिक शिल्प में भी अद्वितीय है।[3] इस पर राजा अग्निमित्र का कथन है कि स्वाभाविक सुन्दरी उस मालविका को ललित-कला का भी ज्ञान देकर ऐसा प्रतीत होता है—जैसे विधाता ने उसे कामदेव का विष में बुझाया वाण बनाया हो।[4]

कुलीन कन्या मालविका स्वभावतः लज्जाशील है। अतः वह राजा आदि के समक्ष नृत्य करने में बहुत घबरा गयी। उसकी घबराहट दूर करने के लिए गणदास ने कहा—"वत्से ! मुक्तसाध्वसा सत्वस्था भव"। उसकी लज्जा के सम्बन्ध में राजा अग्निमित्र ने विदूषक से कहा कि प्रियतम को निहारने की बड़ी भारी चाह होने पर भी स्त्रियाँ स्वभावतः लजीली होती हैं। (४।८)

अग्निमित्र के प्रति मालविका का हार्दिक प्रेम है। अतः उसने अपने चलित नृत्य की गीति में अन्योक्ति शैली में राजा के प्रति अपना अनुराग व्यक्त करते हुए

---

१ गणदासः—विज्ञप्यतां देवीं "परम-निपुणा मेधाविनी च" इति। किं बहुना।

यद्यत्प्रयोगविषये भाविकमुपदिश्यते मया तस्यै।
तत्तद्विशेषकरणात्प्रत्युपदिशतीव मे बाला ॥१।५॥
(मालवि०)

२ मालवि० २।८

३ विदूषक—भो ण केवलं रूवे सिप्पे वि अद्दुदीआ मालविका (मालवि०, पृ० १३३)।

४ राजा—वयस्य—

अव्याजसुन्दरीं तां विज्ञानेन ललितेन योजयता।
परिकल्पितो विधात्रा बाणः कामस्य विषदिग्धः ॥२।१३। (मालवि०)

आत्मसर्पण किया है।[1] इसमें मालविका का दैन्य एवं विवशता की भावना मुखरित हुई है। विप्रलम्भ शृंगार की कोमल अभिव्यक्ति होने के कारण यह गीति हृदय के मर्मस्थल को छूती है। राजा अग्निमित्र के लिए मालविका के मन में इतना प्रेम है कि वकुलावलिका के "एष उपारूढराग उपभोगक्षमः पुरस्ते वर्तते" कहने पर उसके मुँह से अनायास निकल पड़ता है—कि भर्ता ?

प्रमदवन में दोहद के लिए मालविका के मन में अत्यधिक कातरता है। वह अपने मन में सोचती है कि जिस प्रियतम के हृदय का पता ही नहीं, उसे चाहती हुई मुझे अपने आपसे लज्जा आ रही है। मैं अपनी प्यारी सखी से भी यह बात नहीं कह पा रही हूँ। वह प्रेम-पीड़ा न जाने कामदेव मुझे कबतक देता रहेगा, जिसकी कोई औषधि नहीं है। एकान्त में वह आँसू बहाना चाहती है। वह अपनी कामव्यथा प्रकृति तत्त्व में प्रतिबिम्बित पा रही है।[2] वह अपनी सखी वकुलावलिका से कहती है कि मुझ पर मन्दभागिनी के लिए स्वप्न में भी स्वामी का मिलन दुर्लभ रहा।

अपने प्रति मालविका का प्रेम जानकर अग्निमित्र को असीम संतोष होता है। उसे विश्वास हो जाता है कि उसका प्रेम एकपक्षीय नहीं है। अतएव वह कहता है—"परस्परप्राप्तिनिराशयोर्वरं शरीरनाशोऽपि समानुरागयोः।" वाम-लोचना मालविका अग्निमित्र के हृदय में इस प्रकार आ बसी है कि अन्तःपुर की सभी रमणियों से उसका मन एकदम उचट गया है।[3] वह उससे अनुरोध करता है कि मैं चिरकालपूर्व से तुम पर आसक्त हूँ, अतः मुझ पर कृपा करो। यह कहकर वह उसे गले लगाने का अभिनय करता है। मालविका बचकर निकलने का अभिनय करती है।

---

१ मालविका—(उपगानं कृत्वा चतुष्पदं गायति—

दुल्लहो पियो मे तस्सिंभव हिअअ णिरासं
अम्हो अपङ्गओ मे पप्फुरइ किं वि वामओ।
एसो सो चिरदिट्ठो कहं उवणइदव्वो
णाह मं पराहीणं तुइ गणअ सतिण्हं ॥२।४॥ (मालवि०)।

२ मालविका—अअं सो सुउमारदोहदावेक्खी अगहीदकुसुमणेवच्छो उक्कण्ठिदाए भए अणकरेदि असोओ। (मालवि० अंक ३, पृ० १७७)।

३ राजा—दाक्षिण्यं नाम विम्बोष्ठि ! वैम्बिकानां कुलव्रतम्।
तन्मे दीर्घाक्षि ! ये प्राणास्ते त्वदाशानिबन्धनाः ॥४।१४
तदयमनुगृह्यतां चिरानुरक्तो जनः। (इति संश्लेषमभिनयति)
(मालविका नाट्येन परिहरति)

राजा अग्निमित्र से यद्यपि मालविका अत्यधिक प्रेम करती है, किन्तु रानी धारिणी से बहुत डरती है।[1] उसने राजा से कहा—"देव्या भयेनात्मनः प्रियं कर्तुं न पारयामि।" जब राजा ने इसके उत्तर में कहा "अयि न भेतव्यम्" तब उसने (मालविका ने) उपालम्भ देते हुए कहा कि जो अब नहीं डर रहे हैं, उनका साहस तो मैं तब देख चुकी हूँ जबकि उस दिन रानी इरावती दिखलाई पड़ी थी।[2] इस प्रकार उपालम्भ देने की सामर्थ्य कालिदास की अन्य नायिका उर्वशी या शकुन्तला में नहीं। इससे इसकी दृढ़ता का पता चलता है। मालविका के अन्दर स्त्रीसुलभ सौतिया डाह भी है। चित्र में उसकी ओर मुँह करके राजा को ताकते देखकर वह कहती है कि यह स्वामी की अशिष्टता है कि वे अन्य सभी रानियों को छोड़ कर एक का ही मुख ताक रहे हैं।[3] पुनः जब वकुलावलिका उससे कहती है कि यह राजा की वल्लभा है तब वह ईर्ष्या के साथ मुँह फेर लेती है।[4] राजा उसके समीप आकर जब कहता है कि हे कमलनयनी! चित्र में दिये हुए मुझ से तुम क्यों रूठ रही हो? शरीर रूप में तुम्हारा अनन्यदास तो यह खड़ा है (४।१०) तब वह तुरत मुख पर लज्जा का भाव प्रकट करती हुई हाथ जोड़ देती है।[5]

मालविका स्वभावतः संतोषवाली एवं कष्ट सहनेवाली है। उसने अपने बुरे दिनों को बहुत धैर्य के साथ बिताया। राजकुमारी होती हुई भी वह रानी धारिणी के पास विधि नियोग से दासी के रूप में काम करती रही। वह रो-धोकर किसी को अपनी वास्तविकता से परिचित नहीं कराती। वकुलावलिका के साथ वह कारागृह में वन्दी बन कर कठोर यातनाओं को चुपचाप सहती रहती है।

---

१ मालविका—हला देवि चिन्तिअं वेवदि मे हिअअं। ण जाणे अदो हिवरं किं अणुहोदव्वं हविस्सदित्ति। (मालवि०, अंक, ४ पृ० ३१८)।

२ मालविका—(सोपहासम्) जो ण भाएदि सो भए भट्टिणीदंसणे दिट्ठसमत्थो भट्टा णं। (मालवि०, अंक ४, पृ० २९३)।

३ मालविका—हला भट्टा अदक्खिणो विअ पडिमाइ। जा सव्वं देवीजणं उज्झिअ एक्काए मुहे वद्धलक्खो (मालवि०, अंक ४, पृ० २८०)।

४ मालविका—तदो किं दाणिं अत्ताणं आआसेमि। (इतिसासूयं परावर्तते) (वही, पृ० २८१)।

५ मालविका—(आत्मगतम्)—कहं चित्तअदो भट्टा भए असूइदो।
(सव्रीडवदना अञ्जलिं करोति। राजा मदनकातर्यं रूपयति) (मालवि०,) पृ० २८५)।

मालविका का उच्च आदर्श तब व्यक्त होता है जब बकुलावलिका दोहद के लिए मालविका का चरणरंजन करती है। वह अतिविनीत स्वर में आदर के साथ पैर बढ़ाती हुई कहती है कि हे सखी! इस समय मुझे क्षमा करना।[1] इस व्यवहार के कारण मालविका के प्रति सामाजिकों की ऊँची भावना पैदा होती है।

आदर्श भारतीय कन्या के रूप में कालिदास ने इसका चित्रण किया है। यह आदर्श भार्या धारिणी के निरीक्षण में हमेशा रहती है। अन्ततोगत्वा वह स्वयं उपहारस्वरूप राजा अग्निमित्र को समर्पित करती है। वैवाहिक वेश में सुसज्जित मालविका को देखकर राजा कहता है कि मानो यह चैत की वह रात हो जिसमें धुंध के हट जाने से तारे चमकते रहते हैं और चांदनी निकलने को ही रहती है।[2]

कालिदास के रूपक की दूसरी नायिका उर्वशी है। यह वस्तुतः अप्सरा है, जो तपस्या की प्रचुरता से निरन्तर सशंक इन्द्र का सुकुमार अस्त्र रही है, जिसने सौन्दर्यगर्विता लक्ष्मी को परास्त किया है, जिससे स्वर्ग की शोभा है।[3] लेकिन कालिदास ने नैसर्गिक शक्तियों के साथ मानवीय गुणों से सम्पन्न नायिका के रूप में इसका चित्रण किया है।[4] नाट्यशास्त्रीय दृष्टि से यह प्रगल्भा नायिका है[5]। इसका आचरण कुलवधू के समान है।

कालिदास के त्रोटक की उर्वशी एक प्रसन्नवदना अलौकिक रूपवती सुन्दरी है। उसमें दैवी एवं मानवी गुणों का मिश्रण पाया जाता है। यह नारायण मुनि की जांघ से उत्पन्न हुई थी। इसके असाधारण रूप को देखकर पुरूरवा को संदेह होने लगा कि ऐसा सुन्दर रूप कोई तपस्वी उत्पन्न नहीं कर सकता। इसकी सृष्टि के लिए कान्ति प्रदान करने वाला चन्द्रमा स्वयं ब्रह्मा बना होगा

---

१ मालविका—(पादमुपहरन्ती) हलारिसेहिदार्णि। (मालवि०, अंक ४, पृ० १८७)।

२ राजा—पश्याम्याभरणालंकृतामेनाम्। यैषा—

अनतिलम्बिदुकूलनिवासिनी लघुभिराभरणैः प्रतिभाति मे।
उडुगणैरुदयोन्मुखचन्द्रिका गतहिमैरिव चैत्रविभावरी ॥५.७॥ (मालवि०)

३ रम्भा ......। या तपोविशेषपरिशंकितस्य सुकुमारं प्रहरणं महेन्द्रस्य, प्रत्यादेशो रूपगर्वितायाः श्रियः अलंकारः स्वर्गस्य ....। (विक्र०, अंक १, पृ०९)।

४ ....अणच्छरा विअ पडिहासिमे।

५ वोमेन इन संस्कृत ड्रामाज—पृ० ७०।

अथवा शृंगाररस के देवता कामदेव ने इसे बनाया हो या कुसुमाकर वसन्त ने इसकी रचना की होगी।[१] उर्वशी विलक्षण सुन्दरी है। उसका शरीर आभरणों का आभरण, शृंगार-प्रसाधनों का प्रसाधन तथा उपमानों का भी प्रत्युपमान है।[२] यह पूर्णयौवना है। यह सुन्दर सुविकसित नितम्बवाली, कदली वृक्ष के समान सुष्ठु जंघे वाली (रम्भोरू) स्थूल एवं उन्नत स्तनवाली (पीनतुङ्गघनस्तनी), स्थिर यौवनवाली (स्थिरयौवना) है।[3] अतः यह शकुन्तला की तरह 'मुग्धा' नहीं है, अपितु प्रारम्भ से ही 'प्रगल्भा' है।

केशी नामक दैत्य से मुक्त कराकर लाने पर कुछ देर के बाद जब उर्वशी को होश हुआ तब सखियों से मालूम हुआ कि महेन्द्र सदृश पराक्रमी राजा पुरूरवा ने उसे मुक्त कराया है। वहाँ उपस्थित पुरूरवा को पहली बार ही देखकर उसके लिए अभिलाषा करते हुए मन ही मन वह कहती है कि दानवों ने उपकार ही किया।[४] पुनः इन्द्र के पास अपनी सखियों के साथ जाते समय उर्वशी पुरूरवा के प्रति हार्दिक अनुराग से पूर्ण होकर झाड़ियों में एकावली फँसने के बहाने मुड़कर सस्पृह भाव से देखती है।[५]

पहली मुलाकात में ही राजा पुरूरवा के अन्दर भी उर्वशी के लिए अभिलाषा हो जाती है। केशी दैत्य से मुक्त कराकर आते समय विषम भूमि में रथ के हिलने-डुलने के कारण उसके कन्धे से राजा के कन्धे का स्पर्श होने पर रोमांच उत्पन्न हो गया। इस स्पर्श-सुख का अनुभव कर राजा कहता है—"दत्तफलो मे विषमावतारः"। इसके बाद सखियों के साथ इन्द्र के पास जाते समय उर्वशी के मार्ग की ओर देखकर वह कह उठता है कि कामदेव दुर्लभ वस्तु के प्रति भी अभिलाषा पैदा करता है। आकाश में जाती हुई यह मेरे शरीर से मेरे मन को खींच रही है।[६]

---

१ विक्रमोर्वशीयम्—१।८।

२ राजा—आभरणस्याभरणं प्रसाधनविधेः प्रसाधनविशेषः।
उपमानस्यापि सखे प्रत्युपमानं वपुस्तस्याः ॥२।३॥ (विक्र०)

३ विक्र० ४।५८, पृ० १८३।

४ उर्वशी—(राजानमवलोक्य। आत्मगतम्) उवकिदं क्खु दाणवेहिं। (विक्र० अंक १, पृ० १७)।

५ उर्वशी—(उत्पतनभंगं रूपयित्वा) अम्भो लदाविडवे एआवली वैअअन्तिआ मे लग्गा। चित्तलेहे मोआवेहि दावणं। (सव्याजं परिवृत्य राजानं पश्यन्ती)।

६ राजा—(उर्वशीमार्गोन्मुखः) अहो न खलु दुर्लभाभिनिवेशी मदनः।
एषा मनो मे प्रसभं शरीरात्पितुः पदं मध्यममुत्पतन्ती।
सुराङ्गना कर्षति खण्डिताग्रात्सूत्रं मृणालादिव राजहंसी ॥१।१८॥
(विक्र०, अंक ३)

दोनों एक दूसरे के प्रणयपाश में आबद्ध हो जाते हैं। इधर पुरूरवा उर्वशी के लिए विकल है तो उधर उर्वशी भी राजा से मिलने के लिए वेचैन है। वह स्वयं विरह-व्यथित होकर अपनी सखी चित्रलेखा के साथ पुरूरवा से मिलने चली आती है। वह अपने इस व्यवहार को "निर्लज्ज उद्योग" समझती है।[1] जब चित्रलेखा उससे इस उद्योग पर भलीभाँति विचार करने के लिए कहती है तब वह कहती है कि कन्दर्प मुझे प्रेरित कर रहा है, अतः इसमें क्या सोच-विचार किया जाय।[2] अन्ततोगत्वा वह उसके पास जाती है तथा "अपराजिता" नामक शिखाबन्धनी विद्या के प्रभाव से अपने को अदृश्य रखकर राजा की मनोव्यथाजन्य वार्त्ता सुनती है। राजा के उपालम्भ[3] को सुनकर उर्वशी अपनी सखी के कथनानुसार प्रभाव से भूर्जपत्र पैदा कर उस पर अपना प्रेमलेख लिखती है तथा राजा के सामने हवा में फेंक देती है। राजा उस प्रेमपत्र को पढ़ता है—स्वामिन्! अनुराग से पूर्ण हृदयवाले आपके प्रति हमारा जैसा अज्ञान अथवा औदासीन्य आपने स्थिर कर रखा है, यदि वैसी ही बात रहती तो मेरी यह देह पारिजातपल्लव से बने शयन पर भी क्यों छटपटाती तथा उसे नन्दनवनवायु से भी संताप क्यों होता है?[4] इसे पढ़कर राजा विदूपक से कहता है कि मुझे ऐसा प्रतीत होता है मानो मेरा मुँह उसके बड़ी-बड़ी बरुनियों वाले मुँह से मिल गया हो (२।१४)। राजा की इस हार्दिक अभिव्यक्ति पर अलक्ष्य उर्वशी कहती है कि यहाँ तक हम दोनों का स्नेह समान है।[5] यह भी पुरूरवा की चिन्ता में कृशकाय हो गयी है।[6] वह चित्रलेखा के माध्यम से अपने को पुरूरवा के हाथों में समर्पित करती हुई अपनी कामवेदना की शान्ति के लिए भी पूर्ववत् सहायता की याचना करती है।[7] इस पर राजा ने उससे

---

१ उर्वशी—अवं मे अवहथ्थिदलज्जा ववसाओ (विक्र० अंक २, पृ० ५५)।

२ उर्वशी—मअणो खु मं णिओएदि। किं एत्थ संपधारीअदि (विक्र० अंक २; पृ० ५६)।

३ विक्र० २।११, पृ० ६४।

४ विक्र० २।१२-१३, पृ० ६७।

५ उर्वशी—एत्थ णो समविमाआ पीदी। (विक्र० अंक २, पृ० ६९)।

६ चित्रलेखा—णं भणिदं एव्व कमलणालाअमाणेहिं अङ्गेहिं। (विक्र० पृ० ६८)

७ चित्रलेखा—मह सुरारिसंभवे दुज्जादे महाराओ एव्व सरणं आसि।
सा अहं तुह दंसणसमुत्थेण मअणेण वलिअं वाहीअमाणा भूओवि महाराएण अणुकम्पणी अत्ति (विक्र० अंक २, पृ० ७२)।

कहा कि यह प्रेम उभयनिष्ठ है, काम ने दोनों को समभाव से सताया है।[1] इसी अवसर पर वह अष्टरसाश्रित अभिनय के लिए अविलम्ब इन्द्र के पास जाने के निमित्त देवदूत से संवाद पाकर दु:खी हो जाती है। (उर्वशी विषादं नाटयति)। अन्त में राजा से अनुमति लेकर वह वियोग-दुःख व्यक्त करती हुई सखी के साथ इन्द्र के पास जाती है।[2] उसकी इस भावमुद्रा को देखकर राजा पुरूरवा अनुभव करता है कि शरीर पर तो उसका अधिकार नहीं था, परन्तु स्वाधिकारवर्ती हृदय मुझे देती गयी है।[3] पुरूरवा के प्रति उसकी इतनी प्रगाढ़ आसक्ति हो गयी कि वह अभिनय के समय पूर्वासक्तिवश "पुरुषोत्तम" के बदले 'पुरूरवा' नामोच्चारण कर देती है।[4] फलतः वह भरतमुनि से स्वर्गच्युत होने का अभिशाप पाती है। तदनन्तर अभिनय के अन्त में इन्द्र ने शाप में सुधार कर पुत्रमुख-दर्शन-पर्यन्त यथेच्छ पुरूरवा के साथ उसे रहने का आदेश दिया।

विरहाकुल उर्वशी अभिसारिका वेश में सुसज्जित[5] होकर अपनी सखी चित्रलेखा को पुरूरवा के पास ले चलने का अनुरोध करती है।[6] पुरूरवा के राजभवन में पहुँचने पर वह चित्रलेखा से कहती है कि अपने प्रभाव से पता लगाओ कि वह मेरा हृदय चोर (पुरूरवा) कहाँ है।[7] जब चित्रलेखा उसे बताती है कि राजा उपभोग

---

१ विक्र० २।१६, पृ० ७३।

२ उर्वशी—(वियोगदु:खं रूपयन्ती सह सख्या निष्क्रान्ता (विक्र० अंक २, पृ० ७७)।

३ विक्र०—२।१९।

४ द्वितीय :—तदो ताए पुरिसोत्तमेत्ति इति भणिदव्वे पुरूरवेत्ति णिग्गदा वाणी। (विक्र० अंक ३, पृ० ९४)।

५ —(ततः प्रविशत्याकाशयानेनाभिसारिकावेषोर्वशी चित्तलेखा च)।
उर्वशी—(आत्मानं विलोक्य) हला चित्तलेहे अवि रोअदि दे अअं मे अप्पाभरण-भूसिदो णीलंसुअपरिग्गहो अहिसारिआवेसो) (विक्र० अंक ३, पृ० १०७)।

६ उर्वशी—सहि मदणो खु तुमं आणवेदि सिग्घं णेहि मं तस्स सुहअस्स वसदिं। (विक्र० अंक ३, पृ० १०८)।

७ उर्वशी—हला पिअकलत्तो राएसि। ण उण हिअअं णिवत्तेदुं सक्कुणोमि। (विक्र० अंक ३, पृ० १२४)।

के योग्य स्थान में ही हैं तब उर्वशी खेद प्रकट करती है। पुनः तिरस्करिणी हटाये विना उर्वशी राजा की विरहोत्कंठा की बातें सुनकर उसके समीप जाती है। इसी समय प्रियानुप्रसादनव्रत के अनुष्ठान के लिए महारानी औशीनरी पहुँचती है। उसे देखकर उर्वशी स्वीकार करती है कि इन्द्राणी से इसमें कोई कमी नहीं है, अतः इसके लिए देवी शब्द का प्रयोग ठीक ही है। औशीनरी के प्रति राजा का व्यवहार देखकर उर्वशी कहती है कि रानी के लिए इसके हृदय में बड़ा स्नेह है (महन्तो खु से इमस्सिं वहुमाणा)। अपनी रानी के प्रति राजा पुरूरवा के प्रगाढ़ प्रेम को जानकर भी उर्वशी उसके प्रति अपने-प्रेम प्रकाशन के लिए सर्वथा सुदृढ़ है।[1] रानी औशीनरी के जाने के बाद राजा के मनोरथ[2] के अनुसार पीछे से आकर राजा की आँखें बन्द कर देती है। राजा उसे अपने आसन पर बैठाता है। वह अपनी सखी से कहती है कि देवी ने महाराज को दानकर मुझे दिया है, अतः इनकी प्रेमिका की तरह इनके शरीर से सट गयी हूँ। मुझे दोष मत देना।[3] इस समागम सुख के बाद राजा बेहद खुश होता है। उसकी सारी मनोवृत्ति बदल जाती है (३।१९-२०)।

उर्वशी का पुरूरवा पर इतना गहरा प्रेम है कि वह अपने सद्योजात शिशु को भी वियोग-भय से दूर रखती है। वह उसे पालन के लिए सत्यवती के हाथ में सुपुर्द कर देती है। वस्तुतः उसका यह बहुत बड़ा त्याग है। माता होकर पतिप्रेम के निर्वाह के लिए सन्तान को अलग रखना कठिन कर्म है, किन्तु उसने इसका यथासंभव निर्वाह किया। आयु के बड़ा होने पर जब सत्यवती उसे लौटाती है तब इन्द्र द्वारा दी गई शर्त को याद कर उर्वशी रोने लगती है। उसे चिन्ता होती है कि अब उसे पुरूरवा से वियुक्त होकर स्वर्ग चला जाना पड़ेगा; क्योंकि उसने अपने पुत्र का मुँह देख लिया है।

उर्वशी में स्त्री-सुलभ ईर्ष्या की भी कमी नहीं है। गन्धमादन पर्वत पर विहार करते समय विद्याधर कुमारी उदयवती के सौन्दर्य से आकृष्ट होकर बहुत देर तक देखते रहने के कारण राजा पुरूरवा पर वह क्रुद्ध हो उठी तथा स्वामी का अनुनय न मान कर कुमारवन में प्रवेश कर गई। वहाँ जाते ही वह वन्यलता के रूप में परिणत हो गई।

---

१ उर्वशी—हला पिअकलत्तो राएसि। ण उण हिअअं णिवत्तेदुं सक्कुणोमि।
(विक्र० अंक ३, पृ० १२४)।

२ विक्र० ३।१५।

३ उर्वशी—हला देवीए दिण्णो महाराओ। अदो से पणअवदी विअ सरीरसंपक्कं गदम्हि। म खु मं पुरोभाइणि समत्थेहि। (विक्र० अंक ३, पृ० १२७)।

वह अत्यधिक विनीत स्वभाव की है। संगमनीय मणि को लेकर राजा ने ज्योंही उस लता का स्पर्श किया त्योंही वह लता उर्वशी के रूप में परिणत हो गई। इसके बाद वह अपने क्रोध के कारण राजा की हुई विपन्न अवस्था के लिए क्षमा माँगती है।[1]

यद्यपि पुरूरवा के प्रति प्रगाढ़ प्रेम के कारण तथा उससे वियुक्त न होने की कामना से उर्वशी ने अपने पुत्र को अलग कर दिया था, फिर भी उसके अन्दर मातृ-सुलभ वात्सल्य का अभाव नही है। राजा की गोद में अपने पुत्र आयु को देखकर और पहचान कर वात्सल्य भाव के कारण उसके स्तन में दूध उतर आता है।[2] इस तरह कालिदास ने शकुन्तला की तरह इसे भी मातृत्व की महिमा से मंडित किया है। वह कदापि पुरूरवा से विलग होना नहीं चाहती है। नारद से इन्द्र द्वारा भेजे गये इस संदेश—"इयं चोर्वशी यवदायुस्तव सहधर्मचारिणी भवत्विति" को सुनकर बहुत खुश होती है और कहती है कि मेरे हृदय का काँटा निकल गया।[3] उर्वशी लोक-मर्यादा से ग्रस्त है। अतः सोचती है कि प्रजा राजा के इस दीर्घकालीन वियोग के कारण कोसती होगी—"प्रियंवदा महान्खलु कालस्तव प्रतिष्ठान्निर्गतस्य । कदाचिद् सूयिष्यन्ति मक्षं प्रकृतयः तदेहि निवर्तावहे ।"

शकुन्तला कालिदास के रूपकों की सर्वोत्कृष्ट नायिका है। आदर्शभार्या के रूप में धारिणी तथा आदर्श पतिव्रता के रूप में औशीनरी का चित्रण किया गया है। आदर्श गृहिणीत्व भारतीय नारी का सर्वोत्तम रूप है। उसके अन्दर आदर्श भार्या एवं पतिव्रता दोनों का सन्निवेश हो जाता है। कालिदास ने शकुन्तला का चित्रण आदर्श गृहिणी के रूप में किया है। मालविकाग्निमित्रम् एवं विक्रमोर्वशीयम् की तरह ही अभिज्ञानशाकुन्तलम् का भी प्रमुख विषय आदर एवं सम्मान के रूप में प्रणय का चरम विकास है। शकुन्तला के प्रति कर्त्तव्य आचरण के सम्बन्ध में दुष्यन्त द्वारा अनसूया को दिये गये वचन से इस तथ्य की संपुष्टि होती है। दुष्यन्त

---

१ उर्वशी—कहइस्सं। इमं दाव पसीदहु महाराओ जं भए कोववसं गदाए एदं अपथ्यन्तरं पाविदो महाराओ। (विक्र० अंक ५, पृ० १९३)।

२ राजा—(उर्वशीं दृष्ट्वा)।

इयं ते जननी प्राप्ता त्वदालोकनतत्परा ।
स्नेहप्रस्रवनिर्भिन्नमुद्वहन्ती सनांशुकम् ॥५।१२॥ (विक्र० पृ० २१६)।

३ उर्वशी—(अपवार्य) अम्महे सल्लं मे हिअआदो अवणीदं विअ।
(विक्र० अंक ५, पृ० २२९)।

कहता है कि अनेक स्त्रियों के होने पर भी मेरे वंश की दो ही प्रतिष्ठाएँ हैं :—समुद्ररूपी मेखला से युक्त पृथ्वी तथा तुम्हारी यह सखी शकुन्तला।[1] कन्या को आदर्श पत्नी के रूप में विकसित करना ही अभिज्ञानशाकुन्तलम् का मुख्य उद्देश्य है। कन्या के रूप में मालविका और उर्वशी से अधिक मोहक एवं आकर्षक स्वाभाविक सौन्दर्य शकुन्तला का है। वृक्षसेचनक्रम में सखियों के साथ आती हुई शकुन्तला को ध्यान से देखकर राजा दुष्यन्त ने कहा कि यदि तपोवन में रहनेवाले लोगों का अन्तःपुर में भी दुष्प्राप्य ऐसा मनोहर शरीर है, तो मानो वन की लताओं ने अपने गुणों से उद्यान की लताओं को तिरस्कृत कर दिया है।[2] शकुन्तला का सौन्दर्य स्वाभाविक है—"इदं किलाव्याजमनोहरं वपुः।" प्रियंवदा की इस —"अत्र तावत् पयोधरविस्तारयितृ आत्मनो यौवनमुपालम्भस्व"—उक्ति से यह प्रतीत होता है कि उसके अवयव व्यक्त हो गये हैं। मनमोहक नवयौवना शकुन्तला के कोमल शरीर पर वल्कल वस्त्र भी शोभा बढ़ाने वाला है।[3] उसका अधरोष्ठ नवीन पत्र के समान लाल है, उसके दोनों हाथ कोमल शाखाओं का अनुकरण करने वाले हैं तथा फूल के समान सुन्दर दृष्टिगोचर होने वाला यौवन उसके सभी अंगों में व्याप्त है।[4]

जब राजा दुष्यन्त को मालूम होता कि शकुन्तला विश्वामित्र के सम्पर्क से उत्पन्न मेनका नामक अप्सरा की पुत्री है तब वह कहता है कि इस सौन्दर्य की उत्पत्ति मनुष्यलोक की स्त्रियों में कैसे हो सकती है? कान्ति से चंचल ज्योति

---

१ राजा—भद्रे ! किं बहुना ?

परिग्रहबहुत्वेऽपि द्वे प्रतिष्ठे कुलस्य मे।
समुद्ररसना चोर्वी सखी च युवयोरियम् ॥३।१७॥ (अभि० शा०)।

२ राजा.......(निपुणं निरूप्य) अहो ! मधुरमासां दर्शनम्।

शुद्धान्तदुर्लभमिदं वपुराश्रमवासिनो यदि जनस्य।
दूरीकृताः खलु गुणैरुद्यानलता वनलताभिः ॥१।१७॥ (अभि० शा०)।

३ ....

इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी
किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम् ।१।२०॥ (अभि० शा०)।

४ ....अधरः किसलयरागः कोमलविटपानुकारिणौ बाहू।
कुसुममिव लोभनीयं यौवनमंगेषु सन्नद्धम् ॥१।२१॥ (अभि० शा०)।

(विद्युत्) पृथ्वी से उत्पन्न नहीं होती है।[1] स्पष्ट है कि शकुन्तला मानवी-स्वर्गीय है। दुष्यन्त जैसा कुशल चित्रकार भी उसके रूपलावण्य को रेखाओं में बाँध नहीं सका।[2] शकुन्तला के माधुर्य गुण ने राजा दुष्यन्त को अपनी ओर आकृष्ट कर लिया। वह उसके रूप पर मुग्ध होकर वृक्षों की ओट से देखता है और कहता है कि उस तन्वंगी शकुन्तला के शरीर सौन्दर्य का स्मरण करके मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि विधाता ने अपने रचे हुए जगत् के सब जीवों के रूप-समूह को एकत्र करके मानो सम्पूर्ण रूपराशि एक जगह दिखाने के लिए उस स्त्री-रत्न की सृष्टि की है।[3] उसके अछूते यौवन की शोभा का वर्णन करते हुए दुष्यन्त कहता है कि उसका निर्दोष सौन्दर्य न सूँघे गये पुष्प के समान, नाखूनों से न छेदे गये पल्लव के समान, न वींधे गये रत्न के सदृश, अनास्वादित नवीन मधु के समान तथा पुण्यकर्मों के अखण्डित फल के समान है। न जाने, विधाता किस व्यक्ति को उसका उपभोक्ता बनाएगा![4]

शकुन्तला के कान्तिगुण का संकेत राजा दुष्यन्त के इस कथन—"प्रियायाः सावाधं तदपि कमनीयं वपुरिय"—से स्पष्ट है। इसकी कान्ति के सम्बन्ध में प्रियंवदा का इस प्रकार कथन है—"केवलं लावणमई छाआतुमं ण मुंचदि"।

शास्त्रीय दृष्टि से यह मुग्धा नायिका है। राजा दुष्यन्त का इसके प्रति कथन है—"मुग्धासु तपस्विकन्यासु"। तपोवन में पालन होने के कारण वह सुशीला, लज्जाशीला एवं सरलहृदया कन्या है। उसकी अप्रगल्भता का स्पष्टीकरण दुष्यन्त के इस कथन से होता है।—"निसर्गादेवाप्रगल्भस्तपस्विकन्याजनः।" वह

---

१ अभि० शा० १।२६, पृ० ६७।

२ —तथापि तस्या लावण्यं रेखया किंचिदन्वितम्।

३ राजा—वयस्य! किं बहुना—

चित्ते निवेश्य परिकल्पितसत्वयोगा
रूपोच्चयेन मनसा विधिना कृता नु।
स्त्रीरत्नसृष्टिरपरा प्रतिभाति सा मे
धातुर्विभुत्वमनुचिन्त्य वपुश्च तस्याः ॥२।९॥ (अभि० शा०)।

४ राजा—इदं च मे मनसि वर्तते।

अनाघ्रातं पुष्पं किसलयमलूनं कररुहै—
रनाविद्धं रत्नं मधु नवमनास्वादितरसम्।
अखण्डं पुण्यानां फलमिव च तद्रूपमनघं
न जाने भोक्तारं कमिह समुपस्थास्यति विधिः।२।१० (अभि० शा०)

लोक-व्यवहार से सर्वथा अनभिज्ञ तथा शीघ्र विश्वास कर लेने वाली नायिका है। राजा दुष्यन्त को देखते ही उसके मन में अननुभूत प्रेमविकार पैदा हो जाता है। उसकी धीर-गम्भीर आकृति, मधुर भाषण तथा असाधारण बलपराक्रम से शकुन्तला का हृदय आकृष्ट हो जाता है। यद्यपि वह काम के वशीभूत भी हो गई, फिर भी स्वाभाविक लज्जा के कारण अपना मदनविकार सखियों से प्रकट नहीं किया। दुष्यन्त के सामने वह खड़ी भी नही रह सकी। शकुन्तला के व्यवहार के सम्बन्ध में दुष्यन्त ने विदूषक से कहा कि मेरे द्वारा सामने देखे जाने पर वह अपनी दृष्टि हटा लेती थी तथा अन्य कारण से हँस देती थी। अतः शीलनियन्त्रित व्यापार वाले कामभाव को उसने न तो प्रकट किया और न छिपाया ही।[1] पुनः वह कहता है कि जाते समय शकुन्तला ने शिष्टता की रक्षा करते हुए मेरे प्रति अपने प्रेम को व्यक्त कर दिया, क्योंकि वह कुछ पग चलकर सहसा पैर में कुश के अंकुर गड़ जाने के वहाने रुक गई तथा शाखाओं में न उलझे हुए भी वल्कल वस्त्र को छुड़ाती हुई मेरी ओर खड़ी होकर ताकती रही। इससे उसके आन्तरिक सौन्दर्य का मनोहर दृश्य उपस्थित हो गया। उसका भावरूप शरीरज गुण (अलंकार) भी व्यक्त हो गया,[2] क्योंकि इसके निर्विकार मन में काम का प्रथम उन्मेष हुआ। उसके 'हाव' गुण (अलंकार) की अभिव्यक्ति तृतीय अंक में अनसूया द्वारा इस प्रकार हुई—जादिसी इदिहासणिवन्धेसु कामअमाणाणं अवत्था सुणीअदि तादिसीं दे पेक्खामि। कहेहिं कि णिमित्तं दे संदावो विआरं क्खु परमत्थदो अजाणिअ अणारंभो पडिआरस्स।" अपनी इस कामदशा के वारे में अपनी सखियों को वताती हुई शकुन्तला—"सहि ! जदो पहुदि मम दंसणपहं आअदो सो तवोवरणरक्खिदा राएसी"—इतना ही कहकर वह लज्जा का अभिनय करती है। पुनः वह कहती है—"ततो आरहिअ तग्गदेण अहिलासेण एतदवत्थाम्हि

---

१ राजा................

अभिमुखे मयि संहृतमीक्षणं हसितमन्यनिमित्तकृतोदयम् ।
विनयवारितवृत्तिरतस्तया न विवृतो मदनो नच संवृतः ॥२।११॥

(अभि० शा०)

२ राजा—मिथः प्रस्थाने पुनः शालीनतयापि काममाविष्कृतो भावस्तत्रभवत्या।

तथाहि— दर्भाङ्कुरेण चरणः क्षत इत्यकाण्डे
तन्वी स्थिता कतिचिदेव पदानि गत्वा।
आसीद्विवृत्तवदना च विमोचयन्ती
शाखासु वल्कलमसक्तमपि द्रुमाणाम् ।२।१२।

(अभि० शा०)।

संवुत्ता।" तृतीय अंक में शकुन्तला के लज्जापूर्ण व्यवहार तथा संकोचशीलता से उसका मुग्धात्व मुखरित है। वह स्वयं अपने लज्जालु स्वभाव के लिए दुःखी है यहाँ उसके प्रेम की 'हेला' स्थिति का संकेत मिलता है—"(आत्मगतम्) हिअअ ! पढमं एव्व सुहोवणदे मणोरहे कादरभावं ण मुंचसि। साणुएअविहुडिअस्स कहं दे संपदं संदावो ? (पदान्तरे स्थित्वा, प्रकाशम्) लदावलअ संदावहारअ ! आमंतेमि तुमं भूओ विपरिभोअस्स।"

शकुन्तला में विनय एवं आत्मसंयम की विशेषता पायी जाती है। राजा दुष्यन्त जब उसका आँचल पकड़ लेता है तब वह कहती है—"पोरव ! रक्ख विणअं"। वह सरल स्वभाव की है। जब उसकी सखियाँ उससे मजाक करती हैं तब वह सिर्फ इतना ही कहती है—"एष ते आत्मनश्चित्तगतो मनोरथः"। उसके अन्दर अभिमान का भाव नहीं है। वह अपनी सखियों के साथ समान व्यवहार करती है। दुष्यन्त के आश्रम में प्रवेश करने पर अनसूया उससे कहती है—"हला सउंदले ! गच्छ उड्अं। फलमिस्सं अग्घं उवहर"। अनसूया एवं प्रियंवदा उससे कहती है कि जब राजा तुम्हें नहीं पहचाने तब तुम उसे उसकी अँगूठी दिखाना। यह सुनकर उसका हृदय काँप जाता है। पुनः सखियों के यह— "सहि मा भाआहि। सिणेहो पावमासङ्कदि"—कहने पर वह निश्चिन्त हो जाती है।

शकुन्तला अपने पूज्य गुरुजनों के प्रति बहुत आदरभाव रखती है। वृक्ष-सेचन के ऋण से मुक्त कराने पर वह राजा दुष्यन्त को देखकर मन ही मन सोचती है—"ण एवं परिहरिस्सं, जइ अत्तणो पहविस्सं"। तृतीय अंक में काम-पीड़ित शकुन्तला को देखकर राजा उससे कहता है कि तुम्हें नलिनीदल से पंखा झलूँ अथवा तुम्हारे पैर दबाऊँ ? इस कथन पर शकुन्तला कहती है —"ण माणणीएसुं जणेसुं अत्ताणं अवराहइस्सं"। पंचम अंक में जब शार्ङ्गरव अपने पीछे-पीछे शकुन्तला को लौटकर आती देखकर कहता है—"आः पुरोभागिनि किमिदं स्वातन्त्र्यमवलम्बसे" तब वह भयभीत होकर काँपने लगती है। पुनः आगे नहीं बढ़ती है। तपोवन से विदा होते समय वह अपने पिता कण्व के चरणों पर गिर पड़ती है। सप्तम अंक में दुष्यन्त के साथ मारीच ऋषि एवं अदिति के समक्ष जाने में वह लजाती है।

शकुन्तला निसर्ग-कन्या है। उसका जन्म एवं लालन-पालन प्रकृति की गोद में हुआ है। अतः उसका लता, वृक्ष आदि के प्रति सोदर की भाँति प्रेम उत्पन्न हो गया है। अनसूया शकुन्तला से कहती है कि मालूम होता है कि पिता कण्व को ये आश्रम के वृक्ष तुमसे भी अधिक प्रिय हैं, इसीलिए नवीन फूलों से

कोमल तुझे इन्हें सींचने के लिए नियुक्त किया है। शकुन्तला उससे कहती है कि केवल पिता की आज्ञा ही नहीं, बल्कि मेरा भी इन पर सगे भाई जैसा स्नेह है।[1] पतिगृह जाते समय वनदेवता उसे प्रसाधनयोग्य सामग्री देकर अपना अनुग्रह प्रकट करते हैं।[2] उसकी कोमलता एवं स्निग्धता का वर्णन करते हुए स्वयं कण्व ऋषि कहते हैं कि समीपस्थ तपोवन के वृक्षो ! जो तुमको विना जल पिलाये स्वयं जल भी नहीं पीती थी, तुम्हारे प्रति प्रेम की अधिकता के कारण अलंकरण-प्रिय होने पर भी प्रसाधन के लिए तुम्हारे नव-पल्लवों को नहीं तोड़ती थी, प्रथम पुष्प निकलने पर वह उत्सव मनाती थी; वही शकुन्तला आज पति के घर जा रही है। आप उन्हें जाने की अनुमति दें।[3] कोयल की कूक के माध्यम से वन-वास सहचर वृक्ष उसे अनुमति देते हैं।[4] उसे जाते देखकर मृगों ने कुशों के ग्रास को उगल दिया, मयूरों ने नाचना छोड़ दिया तथा लताएँ पीले-पीले पत्ते गिराकर मानों आँसू बहाने लगीं।[5] कण्व के आह्वान पर वनदेवियों ने उसे मंगलसूचक आशीर्वाद दिया।[6] जाते-जाते वह अपनी लता-बहन वनज्योत्स्ना का आलिंगन कर विदा लेती है।[7] कुछ कदम आगे बढ़ने पर वह पिता कण्व से कहती है कि यह गर्भमन्थर मृगवधू जब कुशलपूर्वक प्रसव कर ले तब उसकी सूचना मुझे दीजिएगा। इतने में ही पाला हुआ हरिण उसका वस्त्र खींचने लगा।[8] शकुन्तला उसे समझाती है—"वच्छ किं सहवासपरिच्चाइणिं मं अणुसरसि ? अचिरप्पसूदाए जणणीए विणा वड्ढिवो एव्व। दाणिं पि मए विरहिदं तुमं तादो चिन्तइस्सदि।

---

१ शकुन्तला—हला अणसूए। ण केवलं तादस्स णिओओ, मम वि एदेसु सहोअरसिणेहो। (अभि० शा० प्र० अ०)

२ अभि० शा० ४।५।

३ काश्यपः—भो भोः संनिहितास्तपोवनतरवः !

पातुं न प्रथमं व्यवस्यति जलं युष्मास्वपीतेषु या
नादत्ते प्रियमण्डनापि भवतां स्नेहेन या पल्लवम्।
आद्ये वः कुसुमप्रवृत्तिसमये यस्या भवत्युत्सवः
सेयं याति शकुन्तला पतिगृहं सर्वैरनुज्ञायताम् ॥४।९ (अभि० शा०)

४ अभि० शा० ४।१०

५ वही ४।१२

६ वही ४।११

७ शकुन्तला—(लतामुपेत्य) वणजोसिणि ! चूदसंगता विमं पच्चलिंग इदोगदाहिं साहाबाहाहिं। अज्जप्पहुदि दूरपरिवत्तिणी देवसु भविस्सं। (अभि० शा० अंक ४, पृ० २३१)।

८ अभि० शा० ४।१४

णिवत्तेहि दाव"। शकुन्तला के इस वाक्य में मर्मव्यथा भरी है। इससे स्पष्ट है कि वह आश्रम के लता-विटप, पशु-पक्षी आदि से परम आत्मीयता के सूत्र में बँध गई है। वह वस्तुतः प्रकृतिगत जीवन से समरस हो गई है।

शकुन्तला निश्छल एवं सरल स्वभाव की स्त्री है। पंचम अंक में गौतमी राजा दुष्यन्त से कहती है कि तपोवन में पाली गई यह छलकपट से सर्वथा रहित है।[1] कालिदास ने उसकी सरलता एवं भोलेपन की रक्षा अन्त तक की है। तपोवन से विदाई के समय यद्यपि अत्यधिक उत्कट वेदना हो रही है, फिर भी वह अपनी सखी से स्वीकार करती है कि मैं आर्यपुत्र के दर्शन के लिए उद्विग्न हो रही हूँ। दुष्यन्त के राजभवन में उसके साथ अपने पूर्ण प्रणय का विश्वास दिलाती हुई शकुन्तला कहती है कि मेरे पुत्रवत् पालित दीर्घापांग नामक मृगशावक ने जब आपके हाथ से पानी नहीं पिया और फिर वही जल मेरे दिखलाने पर वह पीने लगा, तब आप हँसकर बोले थे—"प्रत्येक जन्तु का अपने सजातीय पर विश्वास होता है, तुम दोनों ही यहाँ वनवासी हो।[2]

शकुन्तला सखी के रूप में आदर्श है। अपनी सखियों के परिहास करने पर वह बुरा नहीं मानती है। वह अनसूया एवं प्रियम्वदा से कोई बात छिपाती नहीं है। परिणय सम्बन्ध के लिए बहुत आग्रह करने पर उसने दुष्यन्त से कहा कि सखियों से मुझे पूछ लेने दीजिए।[3] उनके परामर्श के अनुसार वह प्रत्येक कार्य करती है। लता-भवन में दुष्यन्त के साथ अकेली छोड़कर मृग के बच्चे को उसकी माता से मिलाने के बहाने दोनों सखियाँ जब जाने लगीं तब उसने कहा—"हला असरण म्हि। अण्णदरा वो आअच्छदु"। तपोवन से विदा होते समय जब सखियाँ उसके मंगल-शृंगार का प्रस्ताव करती हैं तब वह यह कहकर रोने लगती है—"इदं पि बहुमन्तव्वं। दुल्लहं दाणि मे सही मण्डणं भविस्सदि"। सबसे विदा लेकर चली जाने पर सखियाँ बेहाल हो गईं। उसके अभाव में आश्रम उन्हें शून्य-सा मालूम पड़ता है। वे कण्व से कहती हैं कि पिताजी! शकुन्तला से

---

१ गौतमी—महाभाअ! ण अरूहसि एव्व भन्तिदुं। तवोवण संवड्ढिदो अणभिण्णो अअं जणो कइदवस्स। (अभि० शा० ३०७)।

२ शकुन्तला—तक्खणं सो मे पुत्तकिदओ.........
..........एत्थ आरण्णआत्ति। (अभि० शा०, पंचम अंक, पृ० ३०६)

३ शकुन्तला—मुञ्च दाव मं। भूओ वि सहीजणं अणुमाणइस्सं।
(अभि० शा० अंक ३, पृ० १७५)

रहित इस तपोवन में कैसे प्रवेश करें ?[1] इस मार्मिक अभिव्यक्ति से स्पष्ट है कि अपने सरल एवं सात्त्विक स्वभाव के कारण वह सखियों की अत्यधिक प्रिय हो गई है।

शकुन्तला आदर्श पुत्री है। पिता कण्व ने उसे आश्रम में अतिथिसत्कार के लिए नियुक्त किया है। दुष्यन्त को देखने पर अपने अन्दर उत्पन्न आश्रमविरोधी विकार पर वह विचार करती है। असह्य कामवेदना के बावजूद वह पिता की आज्ञा विना दुष्यन्त से परिणय के लिए तैयार नहीं होती है। तपोवन से विदा होते समय वह पिता कण्व को जब प्रणाम करती है तब वे वरस्वरूप आशीर्वाद देते हुए कहते हैं कि हे पुत्री ! शर्मिष्ठा जिस प्रकार राजा ययाति की अतिप्रिय रानी थी उसी प्रकार तुम भी अपने पति राजा दुष्यन्त की अतिप्रिय रानी होओ। शर्मिष्ठा ने जैसे (भावी सम्राट् पुत्र) पुरु को प्राप्त किया, वैसे ही तुम भी भावी सम्राट् (चक्रवर्ती) पुत्र प्राप्त करो। पुनः वे उसे पति के घर में योग्य व्यवहार का उपदेश देते हैं।[2] पिता के आदेशानुसार वह उनका आश्लेष करती है और अतिदीन भाव से कहती है कि अब पिता की गोद से छूटी हुई मैं मलयपर्वत के किनारे से उखाड़ी गई चन्दनलता के समान, दूसरे देश में कैसे प्राण धारण करूँगी।[3] पुनः वह जाते-जाते पिता के गले लगकर निवेदन करती है —'तवच्चरणपीडिदं तादसरीरं। ता मा अदिमेत्तं मम किदे उक्कंठिदु"। महर्षि कण्व ने उसकी विदाई से चिन्तित एवं स्तम्भित होकर अपनी हार्दिक गम्भीर वेदना प्रकट की।[4] उनका दुःख यह सोचकर दूना हो जाता है कि तुम्हारे द्वारा पहले पूजा के लिए रखे और अब उगे हुए नीवार को देखकर मेरे हृदय में धीरज कैसे बँधेगा।[5]

---

१ उभे—ताद ! सउन्दलाविरहिदं सुण्णं विअ तवोवणं कहं पविसामो ?
(अभि० शा० अंक ४, पृ० २५४)

२ काश्यपः—सा त्वमितः पतिकुलं प्राप्य—
शुश्रूषस्व गुरून् कुरु प्रियसखीवृत्तिं सपत्नीजने
भर्तुर्विप्रकृतापि रोषणतया मा स्म प्रतीपं गमः।
भूयिष्ठं भव दक्षिणा परिजने भाग्येष्वनुत्सेकिनी
यान्त्येवं गृहिणीपदं युवतयो वामाः कुलस्याधयः।४।१८।
(अभि० शा०)

३ शकुन्तला—(पितरमाश्लिष्य) कहं तादस्स अंकादो परिब्भट्टा मलउतडुम्मूलिता चन्दणलदा विअ देसन्तरे जीविअं धारइस्सं।
(अभि० शा०, अंक ४, पृ० २४६)।

४ अभि० शा० ४।६, पृ० २१८।

५ वही—४।२१, पृ० २५२।

मुनि-कन्या होने पर भी शकुन्तला आदर्श प्रेमिका तथा गृहिणी है। तपोवन के प्रशान्त वातावरण में लालित-पालित होने पर भी उसके हृदय में नारीसुलभ प्रेम, उन्माद एवं उमंगें हैं।[1] प्रणय का स्वाभाविक विकास दिखाना ही नाटककार का अभीष्ट है। प्रथम अंक के अन्त में जाते समय शकुन्तला के पैर में कुश के गड़ने के बहाने राजा को चोरी-चोरी ताकती है। राजा दुष्यन्त भी उसके लोभनीय यौवन से आकृष्ट होकर उसका परिचय पाता है तथा अन्त में उसे स्पर्शयोग्य रत्न समझकर उसके प्रति अनुरागभरी दृष्टि से देखता है। वह सोचता है कि यद्यपि यह मेरे साथ बातें नहीं करती है, किन्तु मेरी बातें सावधानी से सुनती है। मेरे सामने नहीं बैठने पर भी उसकी दृष्टि अन्य विषयों की ओर नहीं है।[2] जब अनसूया राजा दुष्यन्त का कुशलप्रश्न एवं वंश तथा आगमन का प्रयोजन पूछने लगती है तब शकुन्तला अनुकूल बात जानकर मानसिक शान्ति का अनुभव करती है।[3] प्रणय-व्यापार के विकास में शकुन्तला राजा की अपेक्षा विशेष सक्रिय मालूम पड़ती है। उसकी यह सक्रियता बहुत कुशलता के साथ व्यक्त हुई है। दुष्यन्त के प्रति आसक्ति के कारण शकुन्तला जब कामज्वरग्रस्त हो जाती है तब उसकी दोनों सखियों को उसकी मनोदशा का ज्ञान होता है। कामव्यथाविकल होने पर भी वह अपनी मनोव्यथा प्रकट नहीं करना चाहती है।[4] पुनः आग्रह करने पर वह उनसे बताती है कि जबसे राजर्षि दुष्यन्त को मैंने देखा है तब से ही मेरी यह दशा हो गई है। वह अपनी आसक्ति व्यक्त करती हुई कहती है—तं जइ वो अणुमदं, ता तह वट्टह जह तस्स राएसिणो अणु कम्पणिआ होमि। अण्णहा अवस्सं सिंचह मे तिलोदअं।" इसके इस कथन में नारी-सुलभ गुणों की स्वीकारोक्ति मिलती है। इसकी यह मनोदशा जानकर अनसूया एवं प्रियम्वदा उसे तदनुसार लक्ष्य की सिद्धि में सहायता करती है। प्रियम्वदा अनसूया से कहती है कि इससे राजर्षि के लिए मदनलेख (प्रेम-पत्र) लिखवाओ। उसे फूलों में छिपाकर देवता के प्रसाद के बहाने उनके पास पहुँचा दूँगी। एतदर्थ सखियों के कहने पर शकुन्तला

---

१ शकुन्तला—(आत्मगतम्) किं णु क्खु इमं पेक्खिअ तवोवणविरोहिणो विआरस्स गमणीअह्मि संवुत्ता। (अभि० शा० अंक १, पृ० ६१)।

२ अभि० शा० १।३१।

३ शकुन्तला—(आत्मगतम्) हिअअ ! मा उत्तम्भ। एसा तुए चिन्तिदाइं अणसूआ मन्तेदि। (अभि० शा०, अंक १, पृ० ६३)।

४ शकुन्तला—(आत्मगतम्) बलवं क्खु मे अहिणिवेसो। दाणिं वि सहसा एदाणं सक्कणोमि णिवेदिदुं। (अभि० शा०, अंक ३, पृ० १४५)।

कहती है कि तिरस्कार के भय से डरनेवाला मेरा हृदय कांप रहा है। उनके अनुरोध पर वह अपने नाखून से कमलपत्र पर मदनलेख लिखकर सुनाती है।[1] उसका यह प्रणय-पत्र अत्यन्त मांसल एवं उत्तप्त प्रेम का सूचक है। वस्तुतः उसने अपना हार्दिक अनुराग उस पत्र में व्यक्त कर दिया है। उसी अवसर पर राजा दुष्यन्त उनके समक्ष प्रकट हो जाता है और निकट आकर कहता है कि हे कृशांगि ! कामदेव तुझे निरन्तर तपा रहा है, किन्तु मुझको तो वह जला ही रहा है।[2] राजा को देखकर शकुन्तला उसके स्वागतार्थ उठना चाहती है। राजा उसे उठने से रोकता है और कहता है कि पुष्पों की शय्या को पीड़ित करने वाले, शीघ्र ही मुरझाए हुए मृणालखंडों के टूटने से सुगन्धित, महान् संताप से युक्त तुम्हारे अंग शिष्टाचार के योग्य नहीं हैं।[3] प्रियम्वदा कहती है कि राजा को अपने राज्य के अन्दर रहने-वाले विपत्ति में पड़े हुए व्यक्ति के कष्ट को दूर करनेवाला होना चाहिए। यह आपका धर्म है। राजा दुष्यन्त उसके विचार का अनुमोदन करते हुए कहता है कि इससे बड़ा कोई कर्त्तव्य नहीं है। जब प्रियम्वदा कहती है कि यह हमारी प्रिय सखी शकुन्तला आपको ही लक्ष्य करके कामदेव के द्वारा इस शोचनीय अवस्था में पहुँचा दी गई है, तब राजा उससे कहता है कि यह प्रार्थना दोनों ओर से एक-सी है। मैं सर्वथा आपका अनुगृहीत हूँ।[4] शकुन्तला प्रियम्वदा से कहती है कि अपने अन्तःपुर की स्त्रियों के विरह से खिन्न राजर्षि को क्यों रोकती हो ? इस पर राजा दुष्यन्त कहता है कि हे हृदय में स्थित शकुन्तले ! यदि तुम अन्य में अना-सक्त मेरे इस हृदय को अन्य प्रकार से किसी दूसरे में स्थित मानती हो तो

---

१ शकुन्तला—(वाचयति)

तुज्झ ण जाणे हिअअं मम उण कामो दिवाविरत्तिम्पि।
णिग्घिण ! तवइ बलीअं तुइ वुत्तमणोरहाए अंगाइं।३।१३

(अभि० शा०)

२ राजा—(सहसोपसृत्य)

तपति तनुगात्रि मदनस्त्वामनिशं मां पुनर्दहत्येव।
ग्लपयति यथा शशांकं न तथा हि कुमुद्वती दिवसः।३।१४।

(अभि० शा०)

३ अभि० शा० ३।१५।

४ राजा—भद्रे। साधारणोऽयं प्रणयः। सर्वथाऽनुगृहीतोऽस्मि।

(अभि० शा०, अंक ३, पृ० १६५)।

शकुन्तला सती-साध्वी पतिव्रता गृहिणी है। अपने पति के लिए उसे अपार प्रेम है। विवाह के बाद पति के हस्तिनापुर चले जाने पर वह सदा उसी की चिन्ता में मग्न रहती है। उसे दुर्वासा मुनि के आगमन तथा शाप देकर जाने का भी ज्ञान नहीं होता है। पतिगृह जाने के लिए उसके हृदय में पर्याप्त उत्साह है। दुष्यन्त की राजधानी में जाने पर जब वह दुर्वासा के शापवश उसे नहीं पहचानता है और असंगत बातें करता है तब शकुन्तला कुछ क्षण के लिए उस पर क्रुद्ध होकर कठोर शब्दों का व्यवहार करती है, किन्तु अन्ततः वह अपने दुर्भाग्य को ही दोष देती है। वह राजा दुष्यन्त को भूलती नहीं है। उसके हृदय में राजा के लिए निरन्तर प्रेमभावना बनी रहती है। प्रत्याख्यान के बाद उसे तेजोमयी ज्योति उठाकर महर्षि मारीच के आश्रम में ले जाती है। वहीं वह सर्वदमन को जन्म देती है तथा स्वयं विरहिणी के वेश में अपने शील एवं चरित्र की रक्षा करते हुए तपोमय जीवन व्यतीत करती है।[1] मारीच के आश्रम में शकुन्तला का जीवन बिलकुल आध्यात्मिक हो गया है। उसे यहाँ उन सखियों का साहचर्य नहीं है जो दुष्यन्त से संपृक्त कर दें। वहाँ तो उन तपस्वियों का योग है जो दुष्यन्त को अवनत कर दें। तपोमय स्वर्गीय वातावरण में रहकर स्त्रीरत्नसृष्टिरपरा शकुन्तला सचमुच रमणीरत्न बन गयी। राजा दुष्यन्त शकुन्तला के चरणों पर गिर कर अपने अपराध के लिए क्षमा माँगते हुए कहता है कि प्रिये! परित्याग का दुःख अपने हृदय से दूर करो। उस समय मेरे मन में प्रबल अज्ञान उत्पन्न हो गया था; क्योंकि कल्याणकारी विषयों के प्रति प्रबल तमोगुणवालों की प्रवृत्तियाँ प्रायः ऐसी ही होती हैं। अन्धा व्यक्ति अपने सिर पर डाली गई माला को साँप समझकर फेंक देता है।[2] शकुन्तला उदारतापूर्वक उसे क्षमा कर देती है और उन्हें उठाती हुई कहती है कि उन दिनों शुभ-फल में विघ्नकारी मेरा पूर्वजन्म मे किया हुआ कोई पाप उदय हो गया था, जिसके कारण दयालु होते हुए भी आर्यपुत्र मेरे प्रति

---

१ राजा—(शकुन्तलां विलोक्य) अये ! सेयमत्रभवती शकुन्तला। यैषा—

वसने परिधूसरे वसाना नियमक्षाममुखी धृतैकवेणिः।
अतिनिष्करुणस्य शुद्धशीला मम दीर्घं विरहव्रतं बिभर्ति ॥७।२१॥

(अभि० शा०)।

२ राजा—(शकुन्तलायाः पादयोः प्रणिपत्य)

सुतनु हृदयात् प्रत्यादेशव्यलीकमुपैतु ते
किमपि मनसः संमोहो मे तदा बलवानभूत्।
प्रबलतमसामेवं प्रायाः शुभेषु हि वृत्तयः
स्रजमपि शिरस्यन्धः क्षिप्तां धुनोत्यहिशङ्कया ॥७।२४॥

(अभि० शा०)।

उदासीन हो गये थे।[१] उसकी विनती एवं खेद के प्रकाशन में शकुन्तला अपना सारा दुःख भूल जाती है। यही तो उसकी निश्चलता एवं अनन्यपरायणता का निकष है। वह पुत्रवत्सला है। महर्षि मारीच आशीर्वाद देते हुए कहते हैं कि आज सौभाग्य से यह पतिव्रता शकुन्तला, यह श्रेष्ठ बालक तथा तुम तीनों ऐसे मिल गये जैसे श्रद्धा, धन तथा क्रिया तीनों एक साथ मिल जायें।[२]

नायिका के रूप में शकुन्तला के चरित्र का यह क्रमिक विकास परम स्वाभाविक है। नाटक के अन्त में सपत्नी, सदपत्य तथा सत्पुमान् तीनों के सम्मिलन से जीवन-यज्ञ पूर्ण हो गया। यही मानवजीवन का चरम आदर्श है। इस चरम आदर्श की प्राप्ति के केन्द्र में आदर्श नायिका शकुन्तला का ही चरित्र सर्वत्र विद्यमान है। इसी के इर्द-गिर्द सारी घटनाएँ घटी हैं। दुःखाग्नि में दग्ध तपोबल से पूर्ण होकर उसका लोकादर्श चरित्ररत्न की तरह विश्व के मंच पर उपस्थित होता है। उसका पूर्व रागात्मक पार्थिव प्रेम अपार्थिव आध्यात्मिक प्रेम में परिणत हो जाता है। इसमें सत्य, शिव एवं सुन्दर तीनों एक साथ प्रकट हो गये हैं। उसे यह सर्वोत्तम गौरव मातृत्व के रूप में ही प्राप्त होता है। यही गृहस्थाश्रम का चरम उत्कर्ष है जिसकी स्थापना कालिदास ने अभिज्ञानशाकुन्तलम् में की है। मनु ने भी इसी गृहस्थाश्रम को सभी आश्रमों में श्रेष्ठ माना है।[3] महाभारत में तो इसे सभी आश्रमों का मूल कहा गया है।[४]

शकुन्तला कालिदास के रूपकों की सभी नायिकाओं में श्रेष्ठ है। उर्वशी को प्रणय में स्वयं कष्ट नहीं सहना पड़ा। लतारूप में वह पुरूरवा को ही तरसाती रही है। अन्त में उसकी धर्मसंगिनी बन जाने पर भी, उसे लोकमत का भय सदैव

---

१ शकुन्तला—उट्ठेदु अज्जउत्तो। णूणं मे सुअरिअप्पडिबन्धअं पुरा किदं तेसु दिअहेसु परिणामाहिमुहं आसि जेण साणुक्कोसो वि अज्जउत्तो मइ विरसो संवुत्तो (अभि० शा०, अंक ७, पृ० ४७७)।

२ मारीच—(एकैकं निर्दिशन्)
दिष्ट्या शकुन्तला साध्वी सदपत्यमिदं भवान्।
श्रद्धा वित्तं विधिश्चेति त्रितयं तत् समागतम् ॥७। २९॥ (अभि० शा०)।

३ यथा वायुं समाश्रित्य वर्तन्ते सर्वजन्तवः।
तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते सर्व आश्रमाः ॥
यस्मात्त्रयोऽप्याश्रमिणो ज्ञानेनान्नेन चान्वहम्।
गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठाश्रमी गृही ॥३।७७-७८। (मनु०)

४ तद्धि सर्वाश्रमाणां मूलमुदाहरन्ति।—महाभा० शान्तिपर्व १७९।१७।

बना रहा है। मालविका विशुद्ध एवं निर्दोष है। वह राजमहल के वातावरण में पली है। अतः उसके चरित्र में नागरी गुणों का विकास है। उर्वशी तथा मालविका में वस्तुतः लोकजीवन की पोषक सामग्री का अभाव है। शकुन्तला इन दोनों से भिन्न है। वह पवित्र, निर्दोष एवं शुद्धशीला है। अनवद्य सुषमा एवं पवित्रता के कारण वह लोकानुकरणीय एवं वन्दनीय है।

☆

षष्ठ अध्याय

चरित्र-वैशिष्ट्य

(अ) पात्र-संघटन ।

(आ) कालिदास के रूपकों के प्रमुख पुरुष-पात्र तथा उनका चरित्र-चित्रण ।

(इ) कालिदास के रूपकों के प्रमुख नारी-पात्र तथा उनका चरित्र-चित्रण ।

(ई) कालिदास के रूपकों के विदूषक की नाटकीय उपयोगिता ।

षष्ठ अध्याय

चरित्र-वैशिष्ट्य

(अ) पात्र-संघटन :

नाटकीय वस्तु के सुसंघटित विन्यास होने पर भी रूपक की वास्तविक सफलता उसके पात्रों पर अवलम्बित रहती है। रूपक के पात्र जितने सक्रिय, सजीव एवं गुणी होंगे, नाटक उतना ही सफल सिद्ध होगा। उन पात्रों की चारित्रिक विशेषता का निजी महत्त्व होता है। नाटककार विभिन्न पात्रों के माध्यम से अपने युगीन जीवन का जीता-जागता चित्र अंकित करता है। वह विभिन्न पात्रों के माध्यम से वातावरण, सभ्यता, संस्कृति आदि को अभिव्यक्ति प्रदान करता है। अतः रूपक में चरित्र-चित्रण का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। रूपकों में पात्रों के वाह्य-द्वन्द्व से उनके चरित्र पर प्रकाश पड़ता है। प्रत्येक पात्र की वार्त्ता, व्यवहार, वेशभूषा आदि को देखने से उसकी वैयक्तिक अथवा वर्ग-विशेषगत विशेषताएँ विदित होती हैं। स्नेह, दया, क्रूरता, प्रतिशोध, वीरता, उपकार, लालसा तथा हत्या आदि भावों से युक्त संवाद पात्रों के चारित्रिक वैशिष्ट्य को प्रकट करता है। मनोवैज्ञानिक, अनुभवी तथा प्रतिभा-सम्पन्न नाटककार अपने रूपक में सजीव पात्रों की सृष्टि करता है। कभी-कभी कुछ वैयक्तिक विशेषताओं को उभारने के लिए नाटककार किसी पात्र को अतिरंजित रूप में चित्रित करता है। इतिहास-प्रसिद्ध पात्रों के चरित्र-चित्रण में सजीवता ही प्रमुख तत्त्व है। पात्र-संघटन में यह सर्वथा ध्यातव्य है कि नाटककार ने किसी पात्र का सृजन कर अन्त तक उसका निर्वाह किया है या नहीं। अर्थात् जिस वातावरण में किसी पात्र को पैदा किया गया है, उसका निर्वाह संतुलित ढंग से रूपक में कहाँ तक हुआ है, यह द्रष्टव्य है। पात्रों के कार्य-व्यापारों के आधार पर ही विभिन्न रसों की सृष्टि होती है। इससे स्पष्ट है कि पात्रों के कुशल चयन पर ही नाटककार की सफलता निर्भर है। अंग्रेजी नाटकों में तो चरित्र-चित्रण का सर्वोच्च महत्त्व है। वस्तुतः वही अंग्रेजी नाटक की आत्मा है। किन्तु संस्कृत रूपक में ऐसी बात नहीं है। यहाँ रस नाटक की आत्मा है। रस की अभिव्यंजना के लिए नाटकीय वस्तु का सुसंघटित होना तथा उसमें पात्रों का कलात्मक सन्निवेश परम आवश्यक है। नाट्यशास्त्रियों ने जहाँ नायक एवं नायिकाओं के अनेक लक्षण एवं भेदोपभेद किये हैं वहाँ नायक एवं नायिकाओं से संबद्ध अनेक सहायक पात्रों के भी विविध लक्षण निर्धारित किये हैं।

नायक को नाट्य-प्रयोग में विभिन्न क्रियाओं का सम्पादन करना पड़ता है। इसलिए विभिन्न क्षेत्रों में उसे ऐसे सहयोगियों की आवश्यकता पड़ती है जो उसे अपने लक्ष्य तक पहुँचने में सहयोग दे सकें। धर्म, अर्थ एवं काम तीनों पुरुषार्थों के साधन के लिए नायक के सहायक होते हैं। नायक के धार्मिक कार्य में सहायता पहुँचाने वाले याज्ञिक, पुरोहित, वेदविद् तथा तपस्वी होते हैं।[1] अर्थक्षेत्र में साधारणतः आन्तरिक (स्वराष्ट्र सम्बन्धी कृत्य) तथा वाह्य (परराष्ट्र सम्बन्धी) व्यवहार में मंत्री सहायक होते हैं।[2] वाह्य-व्यवहार में सहायता प्रदान करनेवाला बहुत दूर तक चलने वाले प्रासंगिक इतिवृत्त का नायक पीठमर्द होता है, जो नायक की अपेक्षा कम गुणवाला होता है।[3] यह नायक-सहायकों में प्रमुख होता है। इसे दशरूपककार ने "पताका-नायक" कहा है। उनकी दृष्टि में यह चतुर तथा बुद्धिमान् होता है और प्रधान नायक का अनुचर एवं भक्त होता है।[4] काम की निजी विशेषता होती है। अतः विट्, चेट तथा विदूषक आदि शृंगारी नायक के सहायक होते हैं। ये सभी सहायक स्वामिभक्त नर्मनिपुण तथा मानिनी नायिका को मनाने में कुशल होते हैं। साथ ही ये सच्चरित्र होते हैं।[5]

नायक के अन्तःपुर के सहायकों में वामन, षण्ढ, किरात, म्लेच्छ (जंगली), आभीर, शकार, कुब्ज आदि होते हैं।[6] उपर्युक्त धर्मादि तीन सहायकों के अतिरिक्त नायक के दंड-सहायक भी होते हैं। मित्र, राजकुमार, आटविक, सामन्त, सैनिक आदि की परिगणना दंड-सहायक में की जाती है।[7] इन सहायकों के अतिरिक्त विभिन्न स्थितियों में नायक के अनेक प्रकार के सहायक होते हैं। उनमें दूतों का भी सन्निवेश होता है। दूत तीन प्रकार के होते हैं :—विसृष्टार्थ,

---

१ ऋत्विक्पुरोधसः स्युर्ब्रह्मविदस्तापसास्तथा धर्मे ॥३।४५ उत्तरार्द्ध (सा० द०)

२ मन्त्री स्यादर्थानां चिन्तायाम्—(सा० द०)

३ दूरानुवर्तिनी स्यात्तस्य प्रासङ्गिकेतिवृत्ते तु।
किंचित्तद्गुणहीनः सहाय एवास्य पीठमर्दाख्यः ॥३।३९ (सा० द०)

४ पताकानायकस्त्वन्यः पीठमर्दो विचक्षणः।
तस्यैवानुचरो भक्तः किंचिदूनश्च तद्गुणैः ॥२।८ (दशरू०)

५ शृङ्गारेऽस्य सहाया विटचेटविदूषकाद्याः स्युः।
भक्ता नर्मसु निपुणाः कुपितवधूमानभञ्जनाः शुद्धाः ॥३।४० (सा० द०)

६ वामनषण्ढकिरातम्लेच्छाभीराः शकार कुब्जाद्याः ॥३।४३। (वही)

७ दण्डे सुहृत्कुमाराटविकाः सामन्तसैनिकाद्याश्च ।३।४५। (वही)

मितार्थ तथा संदेशहारक। दूत की ही तरह दूतियाँ भी होती हैं।[1] इन दूतियों में कला-कुशलता, उत्साह, भक्ति, परचित्तज्ञान, स्मृति, मधुरता, नर्मनिपुणता तथा वार्त्ताचातुर्य आदि गुण होते हैं। ये दूतियाँ भी अपनी-अपनी विशेषताओं के कारण उत्तम, मध्यम तथा अधम तीन प्रकार की होती है।[2]

नायक के साथ नायिकाओं का समागम कराने में धात्रेयी (स्तन्यदायिनी), लिङ्गिनी, पड़ोसिन, शिल्पिनी, दासी एवं सखियाँ आदि सहायता करती हैं।

नायक-नायिका तथा उनके सहायक के अलावे यथापरिस्थिति सूत्रधार, उसके सहायक पारिपार्श्वक, नटी आदि अन्य अनेक पात्र नाटकों में आते है, जिनकी भूमिका नाटक के लिए अनिवार्य होती है। वे पात्र किसी भी वर्ग या जाति के हो सकते है। नाट्यशास्त्रों में उपर्युक्त पात्रों के सम्बन्ध में सभी प्रकार की विशेषताओं का विवेचन कर दिया गया है। ऐसी स्थिति में कभी-कभी ऐसा प्रतीत होता है कि नाटककारों को पात्र-सृष्टि में अपनी प्रतिभा के उपयोग का बहुत कम मौका मिल पाता है। पर ध्यानपूर्वक विचार करने से पता चलता है कि सीमाविशेष मे बँधे रहने पर भी उन्हें पात्र-सृष्टि की पर्याप्त स्वतन्त्रता है। वास्तव में नाट्यशास्त्री नाट्य-प्रयोग के आधार पर नियम बनाते हैं। इस दृष्टि से देखने पर पता चलता है कि कालिदास के रूपकों के आधार पर परवर्ती नाट्यशास्त्रों में अनेक नियम बनाये गये।

कालिदास के रूपकों के अध्ययन से पता चलता है कि उसकी पात्र-योजना लक्षण-ग्रन्थों के अनुकूल है। सभी पात्र शास्त्रीय विशेषताओं से पूर्ण हैं। उन्होंने अपने रूपकों की कथा-वस्तु में पात्रों की योजना कुशलतापूर्वक की है। उसमें छोटे-छोटे पात्र का भी सप्रयोजन सन्निवेश किया गया है। कोई भी पात्र ऐसा नही है जो निरर्थक मंच पर लाया गया हो। उनके नाट्य-सौष्ठव में पात्रों के चरित्र-चित्रण का अत्यधिक महत्त्वपूर्ण स्थान है। उन्होंने विभिन्न वर्ग के पात्रों का चित्रण कलात्मक ढंग से किया है। भरतमुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में सिर्फ देवों एवं मनुष्यों तक ही पात्रों को परिसीमित रक्खा है। नाटकीय अर्थ को सहृदय सामाजिकों तक पहुँचाने में योग देने वाले पात्र अभिनेता कहलाते है।

---

१ निसृष्टार्थो मितार्थश्च तथा संदेशहारकः।
कार्यप्रेष्यस्त्रिधा दूतो दूत्यश्चापि तथाविधाः ॥३।४७॥ (सा० द०)
—दूत्यः सखी नटी दासी धात्रेयी प्रतिवेशिनी ॥३।१२८॥
बाला प्रव्रजिता कारुः शिल्पिन्याद्या स्वयं तथा। (सा० द०)

२ सा० द० (३।१२९-१३०)

अभिज्ञानशाकुन्तलम् में मृग, भ्रमर, लता, वृक्ष, वनदेवता, कोकिल आदि मानव पात्रों की तरह नाटकीय व्यापार में योग देते हैं। कालिदास ने इनके सहयोग को कुशलतापूर्वक व्यक्त किया है।

किसी भी नाटक में पात्रों का चरित्र-चित्रण या तो पूर्णतः वैयक्तिक होगा या प्रकार विशेष का। नाटककार का नाट्य-कौशल दोनों प्रकार के चित्रण में है। वैसा चरित्र (पात्र) जो पर्याप्त वैयक्तिक हो, किन्तु सर्वसामान्य के लिए स्थायी अभिरुचि से पूर्ण हो, अधिक श्रेयस्कर होता है। कालिदास ने ऐसे ही पात्रों की सृष्टि अपने रूपकों में की है। उनके सभी पात्र स्वाभाविक एवं सजीव हैं। वे हमारे दैनिक जीवन से सम्बद्ध हैं। उनका चरित्र-चित्रण आदर्शोन्मुख तथा उदात्त है। उनके पात्र भूलोक के ही नहीं द्युलोक के भी हैं। किन्तु उनका चित्रण कालिदास ने भूलोक के प्राणी की तरह ही किया है। उन्होंने पात्रों का यथार्थ चित्रण किया है। उनमें कृत्रिमता का कोई चिह्न भी नहीं है। उनका प्रत्येक पात्र अपनी खास विशेषता एवं व्यक्तित्व रखता है। नायक एवं नायिका की ही तरह उनके अन्य पात्रों के चरित्र का विकास सुव्यवस्थित रूप में हुआ है। जीवन के अनेक संघर्षों के मध्य उनके पात्रों का चरित्र निखर उठा है। उनके रूपकों के पात्र समाज के विभिन्न वर्गों का प्रतिनिधित्व करते हैं। अपने सूक्ष्म निरीक्षण एवं व्यापक अनुभव के आधार पर उन्होंने विभिन्न पात्रों के नैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं धार्मिक पक्षों का चित्रण पूरी कुशलता के साथ किया है। प्रत्येक पात्र को विशिष्ट अधिकार से सम्पन्न कर पृथक् चित्रण के कारण ही कालिदास संस्कृत के अन्य नाटककारों से महान् माने जाते हैं।

कालिदास ने अपनी रचनाओं में संसार के वास्तविक स्वरूप का वर्णन किया है। उन्हें जीवन के विविध क्षेत्रों का अगाध ज्ञान है। उन्होंने भारत के विभिन्न क्षेत्रों, वहाँ के लोगों तथा उनके आचरण एवं रीति-रिवाजों का विस्तृत एवं सूक्ष्म ज्ञानार्जन किया था। उन्होंने समाज की विभिन्न परिवर्त्तित स्थितियों का अवलोकन किया था। उन समग्र दृष्ट परिस्थितियों का चित्रण उन्होंने अपनी रचनाओं में किया है। उन्होंने अपने रूपकों में सभी प्रकार के मनुष्यों, उनके पारस्परिक सम्बन्धों—राजा तथा उसकी प्रजाएँ; माता-पिता और उनकी सन्तान; पति-पत्नी; स्वामी-सेवक; स्वामिनी-सेविका; योगी-यती, गुरु-शिष्य; देवता-देवी का सर्वांगीण चित्रण किया है। इनके अतिरिक्त उन्होंने बालकों, युवकों, वृद्धों, भोगियों, विरक्त आध्यात्मिकों एवं भौतिकता में लीन व्यक्तियों का सरस एवं हृदयावर्जक चित्रण किया है। उनके रूपकों के प्रमुख पात्रों की चारित्रिक विशेषताओं

का वर्णन यहाँ अपेक्षित है। एतदर्थ यहाँ उनके रूपकों के पात्रों का वर्गीकरण इस प्रकार किया जाता है :—

	पुरुष-पात्र	रूपक
१. नाटक का प्रबन्धक	सूत्रधार (प्रधान नट)	मालवि०, विक्र० अभि० शा०
२. सूत्रधार का सहचर	पारिपार्श्वक (नट)	मालवि०, विक्र०
३. राजा	अग्निमित्र (नायक)	मालवि०
	पुरूरवा (")	विक्र०
	दुष्यन्त (")	अभि० शा०
	यज्ञसेन (विदर्भ का राजा)—	मालवि०
४. मंत्री	वाहतक (अग्निमित्र का मंत्री)—	"
	सुमति (माधवसेन का सचिव)—	"
	मौर्य सचिव (मौर्यवंशियों का मंत्री), (यज्ञसेन का साला)	"
५. मित्र (विदूषक)—	गौतम (अग्निमित्र का मित्र)	"
	माणवक (पुरूरवा " ")	विक्र०
	माधव्य (दुष्यन्त " ")	अभि० शा०
६. अन्तःपुरचारी वृद्ध ब्राह्मण—(कंचुकी)	मौद्गल्य	मालवि०
	कंचुकी	विक्र०
	पार्वतायन	अभि० शा०
७. नाट्याचार्य	गणदास	मालवि०
	हरदत्त	मालवि०
८. स्तुतिपाठक	वैतालिक	मालवि०
	वैतालिक	विक्र०
	वैतालिक	अभि० शा०
९. भृत्य	सारसक (कुब्ज, धारिणी का भृत्य)—	मालवि०
	रैवतक (द्वारपाल, दुष्यन्त का नौकर)	अभि० शा०
	करभक (हस्तिनापुर से आया दूत, दुष्यन्त का नौकर)	"
१०. भाई	माधवसेन (मालविका का भाई, यज्ञसेन का चचेरा भाई)	मालवि०

	पुरुष-पात्र	रूपक
११. पिता	पुष्यमित्र (अग्निमित्र का पिता)	मालवि०
१२. पुत्र (राजकुमार)	वसुमित्र (अग्निमित्र का पुत्र)	"
	आयु (पुरूरवा " ")	विक्र०
	सर्वदमन (दुष्यन्त " ")	अभि० शा०
१३. सेनापति	वीरसेन (धारिणी का भाई)	मालवि०
	भद्रसेन (दुष्यन्त का सेनापति)	अभि० शा०
१४. वैद्य	ध्रुवसिद्धि (विषवैद्य)	मालवि०
१५. शिष्य	पल्लव, गालव } (भरतमुनि का शिष्य)	विक्र०
	वैखानस—(कण्व का शिष्य, एक तपस्वी)	अभि० शा०
	शाङ्गरव "	"
	शारद्वत "	"
	हारीत "	"
	गौतम "	"
	गालव (मारीच ऋषि का शिष्य)—	"
१६. ऋषिकुमार	कण्व में आश्रम में रहनेवाले दो ऋषिकुमार	अभि० शा०
१७. गुरु	भरतमुनि	विक्र०
१८. पुरोहित	सोमरात (दुष्यन्त का पुरोहित)	अभि० शा०
१९. योगी	नारद	विक्र०
२०. ऋषि	कण्व (शकुन्तला के धर्मपिता)	अभि० शा०
	विश्वामित्र (शकुन्तला के पिता)	"
	मारीच (कण्व के पिता, देवों एवं राक्षसों के पिता)	"
	दुर्वासा	"
२१. गन्धर्वराज	चित्ररथ	विक्र०
२२. स्वर्गाधिपति	इन्द्र (देवताओं के राजा)	"
२३. राक्षस	केशिन्	"
२४. मछुआ	धीवर	अभि० शा०
२५. नगररक्षक	सूचक }	"
	जानुक }	"

	पुरुष-पात्र	रूपक
२६. नगरकोतवाल	श्याल (दुष्यन्त का साला)	अभि० शा०
	सूत (दुष्यन्त का सारथि)	"
२७. सारथि	मातलि (इन्द्र का सारथि)	"
	स्त्री-पात्र	
१. अभिनेत्री	नटी (सूत्रधार की सहचरी)	अभि० शा०
२. रानी	धारिणी (अग्निमित्र की पटरानी)	मालवि०
	इरावती (अग्निमित्र की दूसरी पत्नी)	"
	औशीनरी (पुरूरवा की प्रथम पत्नी)	विक्र०
	वसुमती (दुष्यन्त की प्रथम पत्नी)	अभि० शा०
३. प्रेमिका	मालविका (मालवनरेश की बहिन) (नायिका)	मालवि०
	उर्वशी (स्वर्ग की अप्सरा, पुरूरवा की प्रेमिका (नायिका)	विक्र०
	शकुन्तला (विश्वामित्र और मेनका की पुत्री, राजा दुष्यन्त की प्रेमिका, नायिका)	अभि० शा०
४. अप्सरा	चित्रलेखा (उर्वशी की प्रमुख सखी)	विक्र०
	सहजन्या, रम्भा, मेनका } उर्वशी की सखियाँ	"
५. तपस्विनी	कौशिकी (माधवसेन के सचिव सुमति की विधवा बहिन)	मालवि०
	तापसी (आयु का पालन करनेवाली तपस्विनी)	विक्र०
	गौतमी (कण्व के आश्रम की प्रधान तपस्विनी)	अभि० शा०
	तापसी (मारीच के आश्रम की एक तपस्विनी)	"
६. सेविका	वकुलावलिका (धारिणी की सेविका, मालविका की सखी)	मालवि०
	निपुणिका (इरावती की सेविका)	"
	निपुणिका (रानी औशीनरी की सेविका)	विक्र०

	स्त्रीपात्र	रूपक
	समाहितिका (परिव्राजिका औशीनरी की सेविका)	मालवि०
	माधविका (भूगृह में नियुक्त सेविका)	"
	चन्द्रिका (रानी इरावती की सेविका	"
७. दासी	चेटी	विक्र०
	यवनी (पुरूरवा की सहायिका)	"
	चतुरिका, परभृतिका, मधुकरिका;	
	यवनी-(दुष्यन्त की दासियाँ)	अभि० शा०
	कौमुदिका	मालवि०
८. शिल्पी लौंडियाँ	मदनिका, ज्योत्स्निका (माधवसेन की भेंट में भेजी हुई शिल्पी लौंडियाँ)	"
९. परिजन	परिचारिकाजन	"
१०. मालिन		मालवि०
११. प्रतिहारी	जयसेना	"
	वेत्रवती	अभि० शा०
१२. माता	मेनका (अप्सरा, शकुन्तला की माता)	अभि० शा०
१३. पुत्री (राजकुमारी)	वसुलक्ष्मी (अग्निमित्र की पुत्री)	मालवि०
१४. ऋषि-पत्नी	अदिति (मारीच ऋषि की पत्नी)	अभि० शा०
१५. सखी	अनसूया, प्रियंवदा (शकुन्तला की सखियाँ)	"
	सानुमती (अप्सरा मेनका की सखी)	"

उपर्युक्त पात्रों में कुछ पात्रों का रूपकों में उल्लेख मात्र हुआ है, उनके द्वारा अभिनय नहीं किया गया है। इन विविध पात्रों को देखने से पता चलता है कि कालिदास ने अपने रूपकों में विस्तारपूर्वक पात्रों का वर्गीकरण किया है। प्रत्येक वर्ग के पात्रों में उनके अनुकूल गुणों का सन्निवेश इन्होंने किया है। इनके चरित्र-चित्रण में उन्होंने सतर्कता एवं कुशलता प्रदर्शित की है। देववर्ग के पात्रों में देवत्व का सन्निवेश किया गया है। इसी प्रकार दानव पात्र में दानवोचित दोष-गुणों को प्रदर्शित किया गया है। दानव के रूप में केशिनदैत्य को उपस्थित किया गया है। कालिदास ने पात्रों के चरित्र को उत्कृष्ट रूप से प्रदर्शित करने के लिए लोक-प्रसिद्ध ऐतिहासिक, पौराणिक आख्यानों से प्राप्त कथानकों में पर्याप्त परिवर्त्तन किया है। दुष्यन्त, शकुन्तला आदि के चरित्र में परिवर्त्तन कर उन्होंने अभिनव रूप प्रदान किया है। पात्रों का चित्रण कालिदास ने इतनी सजीवता एवं वास्तविकता के साथ किया है कि वे सभी पात्र सहृदय

सामाजिकों को अपने समाज के बीच के सदस्य के समान मालूम पड़ते हैं। इससे उन्हें स्वभावतः रसानुभूति होती है। ये सभी पात्र आडम्बररहित हैं। कोई भी पात्र मंच पर व्यर्थ वागाडम्बरपूर्ण वार्त्तालाप नहीं करता है। वस्तुतः वे सभी पात्र स्वभावतः सरल-सीधी भाषा में अतिसंक्षिप्त शब्दों द्वारा मनोगत अभिप्राय को प्रकट करते हैं। वे अपने अन्तर्द्वन्द्व को भी स्पष्ट शब्दों में ही प्रकट करते हैं। उनके सम्वादों में मनोवैज्ञानिक स्थिति का सफलता के साथ निर्वाह किया गया है। कालिदास ने एक भी अनावश्यक पात्र का सन्निवेश नहीं किया है। छोटे-से-छोटे पात्र को भी सप्रयोजन उपस्थित किया गया है। इनका नाटक में महत्त्वपूर्ण स्थान है। मालविकाग्निमित्रम् में राजकुमारी वसुलक्ष्मी सिर्फ एक बार थोड़ी देर के लिए मंच पर आती है, लेकिन उसकी उपस्थिति से विदूषक तथा अग्निमित्र की एक कठिन समस्या सुलझ जाती है। रानी धारिणी और इरावती दोनों राजा अग्निमित्र एवं मालविका के प्रेम में बाधक ही होती हैं। लेकिन इन दोनों का बहुत महत्त्व है। यदि इन्हें नाटकीय कथावस्तु से अलग कर दिया जाय तो सम्पूर्ण कथानक एक प्रेम-कथा बन जायगी। विक्रमोर्वशीयम् में रानी औशीनरी का चरित्र भी पुरूरवा एवं उर्वशी के प्रेम में व्याघात ही पैदा करता है जिससे कथानक में द्वन्द्व की सृष्टि होती है और यथार्थता का समावेश होता है। अभिज्ञानशाकुन्तलम् में रानी वसुमती को मंच पर उपस्थित नहीं किया गया है। यहाँ उनका उल्लेखमात्र किया गया है। इस नाटक में दुर्वासा के शाप से दुष्यन्त एवं शकुन्तला के प्रणय-व्यापार में व्याघात उपस्थित होता है। कालिदास ने जीवन के विविध क्षेत्रों से नाटकीय पात्रों का चयन किया है। स्वर्गलोक के पात्रों को भी रूपक में सन्निविष्ट किया गया है। नाटकीय-व्यापार के सम्पादन में पशु-पक्षियों का भी सन्निवेश कर कालिदास ने भरत के "त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्य नाट्यं भावानुकीर्तनम्"—कथन को सार्थक किया है। इनकी पात्र-योजना सर्वथा भाव एवं रसानुकूल है। इसके साथ ही पात्रों के चरित्र-चित्रण भी सुस्पष्ट हुए हैं। यहाँ उनके रूपकों के कुछ प्रमुख पुरुष एवं स्त्री-पात्रों का चरित्र-चित्रण प्रस्तुत किया जाता है। इससे उनकी पात्र-योजना सम्बन्धी कुशलता एवं सफलता का निरूपण किया जा सकेगा।

(आ) कालिदास के रूपकों के प्रमुख पुरुष-पात्र तथा उनका चरित्र-चित्रण :

कालिदास के तीनों रूपकों के नायकों की चारित्रिक विशेषता पर "नायक-कल्पना" नामक पंचम अध्याय में सांगोपांग विवेचन प्रस्तुत किया गया है। उन तीनों के गुण-वैशिष्ट्य पर ध्यान देने से पता चलता है कि वे उत्तरोत्तर विकसित होते गये हैं। कामुक अग्निमित्र से वीर पुरूरवा उच्च श्रेणी का है तथा दुष्यन्त

उससे भी उच्च कोटि का नायक है। कालिदास के रूपकों में नायक के अतिरिक्त अन्य गौण पात्रों का चित्रण उतने व्यापक रूप से नहीं हुआ है। लेकिन गौण पात्रों का भी रूपक में महत्त्वपूर्ण स्थान है। यहाँ प्रमुख पात्रों का चरित्र-वैशिष्ट्य प्रस्तुत किया जाता है।

वाहतक :

यह अग्निमित्र का मंत्री है। मालविकाग्निमित्रम् के प्रथम अंक में राजा के साथ इसका प्रवेश होता है। वह विदर्भराज के पत्र में प्रेषित प्रस्ताव के आधार पर शीघ्र ही समझ जाता है कि वह अग्निमित्र के साथ बदला चाहता है। अतः राजा अग्निमित्र के पूछने पर स्पष्ट शब्दों में उसके मन्तव्य को बताता है—"देव, आत्मविनाशम्"। यह अपने मालिक का शुभचिन्तक है। उनकी आज्ञा का पालन करता है। वह राजनीति का कुशल ज्ञाता है। विदर्भराज को जड़मूल से समाप्त करने के लिए राजा अग्निमित्र उस पर आक्रमण करने कहता है। वाहतक उनकी आज्ञा का अनुकरण करता है तथा उनके पूछने पर उन्हें उचित परामर्श भी देते हुए कहता है कि आपने शास्त्रानुकूल निर्णय लिया है, क्योंकि जो शत्रु तुरत राजगद्दी पर बैठा हो और प्रजा का विश्वास न जमने के कारण जिसका नव राज्यारोहण सुदृढ़ नहीं हुआ हो, उसे सहज ही यों उखाड़ा जा सकता है जैसे जमीन में जमी न रहने के कारण ढीला ढाला पड़ा, नया लगा हुआ वृक्ष।[1] इस परामर्शवचन में वाहतक की एक सुयोग्य मंत्री के रूप में राजनीति-निपुणता व्यक्त होती है। राजा के आदेशानुसार वह वीरसेन के सेनापतित्व में सैन्यदल को तैयार कर विदर्भराज पर आक्रमण कर देता है। इसके बाद उसने विदर्भराज को अपने अधीन बनाकर माधवसेन को मुक्त करा लिया है। अग्निमित्र के सम्पूर्ण राज्य का संचालन वाहतक कुशलता पूर्वक करता है। यह प्रणय-प्रधान नाटक है। अतः इसमें उसके अधिक कार्य व्यापार का प्रदर्शन नहीं हुआ है।

गणदास एवं हरदत्त :

मालविकाग्निमित्रम् में इन दोनों नाट्याचार्यों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। आचार्य गणदास मालविका को और आचार्य हरदत्त इरावती को नृत्यकला की शिक्षा देते हैं। दोनों आचार्यों को अपने ज्ञान पर गर्व है। फलतः दोनों एक

---

१ अमात्यः—शास्त्रदृष्टमाह देवः। कुतः—

अचिराधिष्ठितराज्यः शत्रुः प्रकृतिष्वरूढमूलत्वात्।
नवसंरोहणशिथिलस्तरुरिव सुकरः समुद्धर्तुम् ॥१।८ (मालवि०)

दूसरे से अपने को श्रेष्ठ मानते हैं।[1] अपने आपस के इस झगड़े के निर्णय के लिए राजा अग्निमित्र के पास वे दोनों पहुँचते हैं।[2] दोनों एक दूसरे के प्रति आरोप लगाते है।[3] राजा अग्निमित्र नाट्यकला विशेषज्ञा पं० कौशिकी सहित महारानी धारिणी के सामने ही इस झगड़े पर विचार करना उचित समझता है। राजा अग्निमित्र हरदत्त के पक्ष में हैं तथा रानी धारिणी गणदास के पक्ष में। ऐसी स्थितियों में राजा नाट्यविज्ञान सम्बन्धी दोनों आचार्यो के परस्पर विवाद के निष्पक्ष निर्णय के लिए परिव्राजिका को ही निर्णायिका बनाता है। दोनों आचार्यो ने इसे स्वीकार किया। परिव्राजिका इस भार को स्वीकार करती है तथा प्रयोगप्रधान नाट्यशास्त्र के विज्ञान का निर्णय प्रदर्शन के आधार पर देना चाहती है। उनकी दृष्टि में श्रेष्ठ शिक्षक वही जो विद्वान् और शिक्षण-कला दोनों में निपुण हो।[4]

गणदास स्वाभिमानी एवं अपनी पद-प्रतिष्ठा में आस्थावान् हैं। उनकी दृष्टि में जो शिक्षक विवाद से डरता है, दूसरे द्वारा की गई निन्दा से डरता है तथा जिसका शास्त्र-ज्ञान केवल पेट भरने के लिए है, वह अपना ज्ञान वेचने वाला बनिया है।[5] अनेक तर्कवितर्क के बाद महारानी धारिणी ने प्रदर्शन के माध्यम से परीक्षा को स्वीकार किया। परिव्राजिका के कथनानुसार चलित नामक नृत्य के प्रदर्शन के लिए दोनों आचार्य अपनी-अपनी शिष्या को उपस्थित करते है। अवस्था में बड़े होने के कारण पहले गणदास ही अपनी शिष्या मालविका का नृत्य-प्रदर्शन करते हैं। शर्मिष्ठा की बनाई हुई मध्यलयवाली चौपदी का अभिनय मालविका करती है। उसके अंगों के विलास की देखभाल आचार्य गणदास

---

१ (नेपथ्ये) अलं वहु विकत्थ्य। राज्ञः समक्षमेवावयोरधरोत्तरव्यक्तिर्भविष्यति (मालवि०)

२ कंचुकी—उभावभिनयाचार्यौ..........१।१०। (मालवि०)

३ गणदासः—सोऽहममुना हरदत्तेन प्रधानपुरुषसमक्षमयं न मे पादरजसापि तुल्य इत्यधिक्षिप्तः। (मालवि० अंक १, पृ० ५१)।

हरदत्तः—देव, अयमेव मयि प्रथमं परिवादकारः। अत्रभवतः किल मम च समुद्र-पल्वलयोरिवान्तरमिति। तदत्रभवानिमं मां च शास्त्रे प्रयोगे च विमृशतु। देव एव नौ विशेषज्ञः प्राश्निकः। (वही०, पृ० ५१ ५२)।

४ मालवि०—१।१६।

५ लब्धास्पदोऽस्मीति विवादभीरोस्तितिक्षमाणस्य परेण निन्दाम्।
यस्यागमः केवल-जीविकार्थं तं ज्ञान-पण्यं वणिजं वदन्ति।।१।७।। (मालवि०)।

करते हैं। उन्हें अपनी कुशल शिक्षा पर पूरा विश्वास है, अतः वे मालविका से कहते हैं—"वत्से ! स्थीयताम्। उपदेशविशुद्धा यास्यसि"। इसके बाद परिव्राजिका उसके कुशल अभिनय की प्रशंसा करती है।[1] उसकी दृष्टि में गणदास सुयोग्य एवं निपुण शिक्षक सिद्ध होते हैं। राजा अग्निमित्र भी अभिनय से बेहद खुश होकर नाट्याचार्य गणदास की श्रेष्ठता स्वीकार करता है—"गणदास ! स्वपक्षे शिथिलाभिमाना वयं संवृत्ताः"। विद्वानों के बीच सफल एवं खरी-खरी हुई शिक्षा को ही गणदास निर्दोष समझते हैं। सभी की प्रशंसा से वह अपने को कुशल नाट्याचार्य मानते हैं।[2] महारानी धारिणी भी उसे इस सफलता पर बधाई देती है—"दिट्ठिआ परिक्खआरोहणेण अहिअं वड्ढई अज्जो"। यह सुनकर गणदास कहता है—"देवीपरिग्रहश्च मे वृद्धिः हेतुः"। विदूषक प्रसन्न होकर उसे पारितोषिक स्वरूप राजा के हाथ का कड़ा देना चाहता है। परन्तु हरदत्त की शिष्या इरावती के अभिनय के प्रदर्शन के बाद श्रेष्ठता का निर्णय देने के लिए रानी धारिणी कहती है। इसके बाद गणदास अपनी शिष्या के साथ प्रस्थान कर जाते हैं।

हरदत्त को भी अपनी विद्या एवं शिक्षण-कला पर अभिमान है, अतः वह अपनी शिष्या के अभिनय के प्रदर्शन के लिए उत्सुक हैं।[3] वैतालिक गान से मध्याह्न की सूचना पाकर अभिनय-प्रदर्शन स्थगित कर दिया जाता है। तृतीय अंक में समाहितिका के कथन से मालूम होता है कि परिव्राजिका ने मालविका के अभिनय में विशेषता के आधार पर गणदास को ही श्रेष्ठ बताया है।

दोनों आचार्यों के विवाद के माध्यम से नाटककार ने बड़े कलात्मक ढंग से मालविका के रूपलावण्य का प्रत्यक्ष दर्शन राजा को करा दिया तथा एक दूसरे के प्रति प्रेमभाव का अंकुर पैदा कर दिया है। दो पात्रों के माध्यम से गुण का प्रकाशन और चरित्र-चित्रण कालिदास की नाटकीय पात्र-योजना की विशेषता है।

अभिज्ञानशाकुन्तलम् में महाकवि कालिदास ने तीन महातपस्वी ऋषियों को प्रस्तुत किया है—महर्षि कण्व, महर्षि दुर्वासा तथा महर्षि मारीच। इन तीनों

---

१ अंगैरन्तर्निहितवचनैः··········—२।८ (मालवि०)।

२ गणदासः—अद्यनर्त्तयितास्मि।

उपदेशं विदुः शुद्धं सन्तस्तमुपदेशिनः।
श्यामायते न विद्वत्सु यः कांचनमिवाग्निषु ॥२।९ (मालवि०)।

३ (प्रविश्य) हरदत्तः—देव ! मदीयमिदानीमुपदेशमवलोकयितुं क्रियतां प्रसादः।
(मालवि० अंक २, पृ० १२७)।

का विशिष्ट व्यक्तित्व है। यहाँ क्रमशः इनकी चारित्रिक विशेषता पर संक्षिप्त प्रकाश डाला जाता है।

कण्व :

तपस्वी एवं साधनालीन महर्षि कण्व अपने आश्रम के कुलपति हैं।[१] ये काश्यप के नाम से विख्यात हैं। ये नैष्ठिक ब्रह्मचारी एवं अग्निहोत्री हैं।[२] तपोबल से ये सब कुछ जान जाते हैं।[3] ये स्नान, ध्यान आदि नित्यकर्मों में निरत धार्मिक भावना से परिपूर्ण हृदय वाले तेजस्वी ब्राह्मण हैं।

वे परित्यक्ता शकुन्तला का अपनी पुत्री के समान पालन-पोषण करते हैं। अतः वह उनकी पाली गई धर्मपुत्री है। उसके प्रति उनका नि.स्वार्थ अगाध स्नेह है। वह उनके जीवन के सर्वस्व के समान है।[४] वे शकुन्तला के प्रतिकूल भाग्य को शान्त करने के लिए सोमतीर्थ जाते हैं। वहाँ से लौटने पर आकाशवाणी से उन्हें शकुन्तला के गान्धर्व-विवाह का ज्ञान हो जाता है।[५] त्याग एवं औदार्य उनके व्यावहारिक जीवन में सर्वत्र दृष्टिगत होते हैं। अनुकूल पति का वरण करने के कारण वे दुष्यन्त के साथ शकुन्तला के विवाह का समर्थन करते है तथा उसे पति के पास तुरत भेजते हैं।[६]

---

१ मुनीनां दशसाहस्रं योऽन्नदानादिपोषणात्।
अध्यापयति विप्रर्षिरसौ कुलपतिः स्मृतः ॥

२ अभि० शा० ४।८।

३ मारीचः—तपः प्रभावात् प्रत्यक्षं सर्वमेव तत्रभवतः। (अभि० शा० पृ० ४९६)।

४ सख्यौ--इमं जीविदसव्वस्सेण वि अदिविसेसं किदत्थं करिस्सदि। (अभि० शा० अं० १, पृ० ६४)।

५ प्रियम्वदा—(संस्कृतमाश्रित्य)
दुष्यन्तेनाहितं तेजो दधानां ।४।४ (वही, अंक ४, पृ० २०७)।

६ प्रियम्वदा—तदो ण लज्जवणदमुहीं परिस्सइअ सअं तादकण्णेण एव्वं अहिणन्दिदं, वच्छे! दिट्ठिआ धूमोवरुद्धदिट्ठणो वि जजमाणस्स पावअस्सज्जेव सुहे आहुदी णिपडिदा, सुसिस्सपरिदिण्णा विअविज्जा असोअणीआसि मे संवुत्ता। अद्यैव त्वाम् ऋषिपरिरक्षितां कृत्वा भर्तुः सकाशं विसर्जयामि। (अभि० शा० अंक ४, पृ० २०५)।

शकुन्तला की विदाई के अवसर पर उनके तप के प्रभाव से तपोवन के वृक्ष वस्त्रादि विविध आभूषण उसे सुसज्जित करने के लिए प्रदान करते हैं।[1] विदाई-वेला में उनका वात्सल्य भाव उमड़ पड़ता है। उनका हृदय व्यथित हो उठता है। आँसू की धारा रोकने के कारण कण्ठ रूँध जाता है तथा चिन्ता के कारण दृष्टि जड़ हो जाती है।[2] ऐसा प्रतीत होता है कि वे तपस्वी होते हुए भी गृहस्थ व्यक्ति के समान पुत्री की विदाई के शोक के आवेग को नहीं रोक पाते हैं। शकुन्तला के प्रणाम करने पर वे आशीर्वाद देते हुए कहते हैं :—

ययातेरिव शर्मिष्ठा भर्तुर्बहुमता भव।
सुतं त्वमपि सम्राजं सेव पुरूमवाप्नुहि ॥४।७॥

उनके इस व्यावहारिक वचन को गौतमी कहती है कि यह तो वरदान है, सिर्फ आशीर्वाद नहीं। इनके हृदय की विवशता तथा करुणा प्रत्येक हिन्दू गृहस्थ की हैं। सर्वात्मदर्शी महर्षि कण्व उसके जाते समय वृक्ष आदि से भी विदाई के लिए अनुमति देने कहते हैं।[3] यह सम्पूर्ण वर्णन ऋषि के शोक को परिपुष्ट कर रहा है। कोकिल की कूक उसी समय सुनकर वे कहते हैं कि मानो इसी की ध्वनि में इन वृक्षों ने शकुन्तला को पतिगृह जाने की अनुमति दे दी है।[4] जव शकुन्तला वनज्योत्स्ना को आलिंगन करने कहती है तव कण्व कहते हैं कि जिस प्रकार के पति की प्राप्ति के बारे में मैंने तुम्हारे लिए पहले ही सोच रखा था, तुमने अपने पुण्यों से उसी प्रकार के अपने समान पति को प्राप्त कर लिया है। यह नव मालिका आम्रवृक्ष से मिल गई है। अव मैं इसकी तथा तुम्हारी ओर से निश्चिन्त हो गया हूँ (४।१३)। अव तुम यहाँ से अपना मार्ग ग्रहण करो। जाते ही जव मृगपोतक उसका वस्त्र खींचने लगता है तब शकुन्तला कण्व से पूछती है, यह कौन मेरा वस्त्र खींच रहा है? कण्व वेदना भरे शब्दों में मृगस्नेह के माध्यम से शकुन्तला के प्रति अपना स्नेह व्यक्त करते हैं।[5]

---

१ द्वितीयः—न खलु। श्रूयताम्। तत्रभवता वयमाज्ञप्ता शकुन्तलाहेतोर्वनस्पतिभ्यः कुसुमान्याहतेति। तत इदानीम्—क्षौमं केनचिदिन्दुपाण्डुतरुणा……
४।५ (वही, पृ० २१५)।

२ काश्यपः—यास्यत्यद्य शकुन्तलेति हृदयं……४।६॥ (वही, पृ० २१८)।

३ काश्यपः— भोः भोः संनिहितास्तपोवनतरवः।
पातुं न प्रथमं व्यवस्यति ……४।९ (अभि० शा०,)

४ अभिमतगमनाशकुन्तला…………४।१० (वही)

५ काश्यपः— वत्से! यस्य त्वया व्रणविरोपणमिंगुदीनां…… ४।१४ (वही)

कुछ दूर जाने के बाद जलाशय के समीप पीपल की छाया में वे लोग बैठ जाते हैं। सोच-विचार कर वे राजा दुष्यन्त को यह संदेश देने के लिए शाङ्गरव से कहते है।[1] वे अपनी पुत्री शकुन्तला के लिए राजा की अन्य पत्नियों के समान पद चाहते हैं। उनकी दृष्टि में अन्य सभी पदार्थ भाग्याधीन हैं। उनके इस कथन में पिता का पुत्री के लिए सर्व प्रमुख अभिलाषा की अभिव्यक्ति हुई है। पुनः वे शकुन्तला से कहते हैं कि वनवासी होने पर भी हमलोग लोकव्यवहार से परिचित हैं। वे शकुन्तला को पतिगृह के लोगों से यथोचित व्यवहार करने तथा गार्हस्थ जीवन के सारे सम्बन्धों के बारे में उपदेश देते हैं।[2] उनकी दूर दृष्टि तथा व्यवहारकुशलता का सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि वे शकुन्तला के साथ अविवाहिता प्रियम्वदा एवं अनसूया को नहीं भेजकर गौतमी, शाङ्गरव एवं शारद्वत को भेजते हैं।[3]

जब शकुन्तला कातर भाव से कहती है कि आपके अंक से दूर मलयतट से उन्मूलित चन्दन लता की तरह मैं कैसे जी सकूँगी, तब उन्होंने (कण्व ने) उसे प्रबोध दिया है।[4] इसमें उनकी व्यवहारकुशलता का पूर्ण परिचय मिलता है। उनके ये उपदेश हिन्दू गृहस्थ पिता द्वारा सामान्य पुत्री को दिये गये उपदेश हैं। इस उपदेश की सार्वभौमता में ही उनकी महिमा है। वे पितृत्व के प्रतिनिधि कहे जा सकते हैं। वस्तुतः वे गृहमुनि हैं। जाते समय जब शकुन्तला उनसे कहती है कि—पिता जी! फिर कब मैं आपका आश्रम देखूँगी? वे उससे कहते हैं कि बेटी! बहुत दिनों तक चतुरन्तमही की सपत्नी बनकर अद्वितीय दुष्यन्त के पुत्र भरत को राज्यसिंहासन पर बिठाकर तथा राज्य का सम्पूर्ण भार उसके ऊपर डालकर अपने पति दुष्यन्त के साथ इस शान्त आश्रम में पुनः आकर रहोगी।[5] इस तरह उन्होंने यह सूचित कर दिया है कि गृहस्थाश्रम के बाद ही अब तुम्हें यहाँ लौटना है। गौतमी के यह कहने पर कि प्रस्थान का समय व्यतीत हो रहा है,

---

१ काश्यपः—अस्मान् साधु विचिन्त्य संयमधनानुच्चैः……४।१७ (वही)

२ काश्यपः—सा त्वमितः पतिकुलं प्राप्य—
सुश्रूषस्व गुरून् कुरु प्रियसखीवृत्तिं……४।१८। (वही)

३ काश्यपः—वत्से! इमे अपि प्रदेये। न युक्तमनयोस्तत्र गन्तुम्। त्वया सह गौतमी यास्यति।।

४ काश्यपः—वत्से। किमेवं कातराऽसि?
अभिजनवतो भर्तुः श्लाघ्ये स्थिता …. …. …. ४।१९ (वही)

५ काश्यपः—श्रूयताम्—
भूत्वा चिराय चतुरन्तमहीसपत्नी …. …. …. ४।२० (वही)

कण्व भी कहते हैं—"वत्से उपरुध्यते तपोऽनुष्ठानम्"। शकुन्तला अपने कृशकाय पिता की चिन्ता करती हुई कहती है—"(भूयः पितरमाश्लिष्य) तवच्चरणपीडिदं तादसरीरं। ता मा अदिमेत्तं ममकिदे उक्कंठिदु"। इस पर काश्यप दीर्घ श्वास लेकर कहते हैं कि हे पुत्री! तुम्हारे द्वारा पहले पूजा के रूप में डाले गये और अब कुटी के द्वार पर उगे हुए नीवार के उपहार को देखते हुए मेरा शोक किस तरह शान्त हो सकेगा? जाओ। तुम्हारा मार्ग मंगलमय हो।[1] इस कथन में पिता कण्व की मर्मान्तिक वेदना फूट पड़ी है।

शकुन्तला के जाने पर उसकी दोनों सखियाँ कहती हैं कि पिता जी! शकुन्तला के बिना सूने तपोवन में हमलोग कैसे प्रवेश करें? कण्व उनसे कहते हैं कि तुम्हारी प्रेम की प्रवृत्ति ऐसा दिखला रही है। उनकी दृष्टि में कन्या पिता के लिए एक धरोहर के रूप में है। अतः पति के घर में उसे भेजकर वे अपनी आत्मा में अत्यधिक शान्ति का अनुभव करते हैं।[2] इस प्रकार हम देखते हैं कि कालिदास ने कण्व को आदर्श पिता एवं आदर्श ऋषि के रूप में चित्रित किया है। यद्यपि इनका चरित्र संक्षिप्त रूप में चित्रित हुआ है, किन्तु बहुत प्रभविष्णु है। सम्पूर्ण नाटक में इनका महत्त्वपूर्ण स्थान है। इनके अभाव में शकुन्तला एवं अभिज्ञानशाकुन्तलम् की कल्पना असंभव है।

दुर्वासा :

पौराणिक परम्परानुरूप दुर्वासा को एक महान् क्रोधी ऋषि के रूप में नाटककार ने चित्रित किया है। ये मंच पर उपस्थित नहीं होते हैं। नेपथ्य से ही उनका शाप सुनाई पड़ता है।[3] शकुन्तला को इसका कोई ज्ञान नहीं। उसकी सखी प्रियम्वदा इस शाप को सुनकर चिन्तित हो जाती है और सामने दुर्वासा

---

१ काश्यपः—(सनिःश्वासम्)- शममेष्यति मम शोकः कथंनु वत्से ···· ···· ४।२१
गच्छतु। शिवास्ते पन्थानः सन्तु। (वही)।

२ काश्यपः—स्नेह प्रवृत्तिरेवं दर्शिनी (सविमर्श परिक्रम्य) हन्त भोः शकुन्तलां पतिकुलं विसृज्य लब्धमिदानीं स्वास्थ्यम्। कुतः—अर्थो हि कन्या परकीय ···· ··· ···· ४।२२ (वही)

३ (नेपथ्ये) आः अतिथिपरिभाविनि!
विचिन्तयन्ती यमनन्यमानसा तपोधनं वेत्सि न मामुपस्थितम्।
स्मरिष्यति त्वां न स बोधितोऽपि सन् कथां प्रमत्तः प्रथमं कृतामिव।४।१। (वही)

को शीघ्रता के साथ जाते देखती है[1]। अनसूया इसे सुनकर कहती है कि अग्नि के अतिरिक्त और कौन जला सकता है। अतः वह अनसूया को उनका अनुनय-विनय कर मनाने के लिए कहती है तथा अतिथि-सत्कार के लिए अर्घ्य तथा जल लाने जाती है। वे स्वभाव से ही वक्र हैं। फिर भी प्रियम्वदा ने अपनी प्रार्थना से दयावान् बना दिया है। उसकी इस प्रार्थना—"भगवन्! प्रथम इति प्रेक्ष्याविज्ञाततपःप्रभावस्य दुहितृजनस्य भगवतैकोऽपराधो मर्षयितव्य इति"—पर वे प्रसन्न होकर बोले कि मेरा वचन असत्य नहीं हो सकता है, किन्तु पहचान के आभूषण को दिखलाने से शाप समाप्त हो जायगा। यह कहते हुए वे अन्तर्धान हो गये[2]।

यद्यपि वे मंच पर उपस्थित नहीं होते हैं, फिर भी नाटकीय वस्तु-योजना में उनका अत्यधिक महत्त्वपूर्ण स्थान है। भले ही पात्र एवं चरित्र-चित्रण की दृष्टि से उनका अधिक महत्त्व नहीं है, किन्तु कथानक में विशिष्ट योजना की दृष्टि से उनका महत्त्व है। उनके शाप से प्राप्त्याशा में विघ्न उपस्थित होता है। दुर्वासा के शाप एवं अभिज्ञानमुद्रिका के प्रसंग की योजना के आधार पर ही नाटकीय वस्तु आगे बढ़ती है अन्यथा दुष्यन्त एवं शकुन्तला के मिलन के साथ ही एक प्रकार से दोनों की प्रणय-कथा की परिसमाप्ति हो जाती है। शाप से संघर्ष बढ़ता है तथा अभिज्ञानमुद्रिका से शापविमोचन की आशा बँधती है। नाटककार ने दुर्वासा के शाप तथा अभिज्ञानमुद्रिका की कल्पना कर मूलकथा को अभिनव रूप प्रदान किया है। वस्तुतः राजा दुष्यन्त के चारित्रिक गौरव का चरम उत्थान शाप के कल्याणमय आशीर्वाद से ही होता है। शकुन्तला के अलौकिक चरित्र के विकासक्रम का एक प्रशंसनीय अध्याय उनके शाप के बाद ही खुलता है। इस तरह हम कह सकते हैं कि दुर्वासा का शाप नायक एवं नायिका दोनों के चरित्र को सर्वाङ्गपूर्ण एवं उन्नत बनाता है। भारतीय कला के सर्वश्रेष्ठ कलाकार कालिदास ने दुर्वासा के शाप का नियोजन कर नाटक की कथावस्तु को सरस, स्वाभा-

---

१ प्रियम्वदा—हद्धी, हद्धी। अप्पिअं एव्व संवुत्तं। कस्सिं पि पूआसहे अवरुद्धा सुण्णहिअआ सउन्दला। (पुरोऽवलोक्य) ण हु जस्सिं कस्सिं पि। एसो दुव्वासो सुलहकोवो महेसी। तह सविअ वेअवलुप्फुल्लाए दुव्वाराये गईए डिणिवुत्तो। (वही, अंक ४, पृ० १९१)।

२ प्रियम्वदा—तदो मे वअणं अण्णहाभविदुं णारिहदि, किंदु अहिण्णाणाभरण दंसणेण सावो णिवत्तिस्सदि त्ति मंतअंतो एव्व अंतरिहिदो। (वही, पृ० १९३)।

विक, सुश्रृंखल एवं विकासोन्मुख बना दिया है। शकुन्तला का दुष्यन्त द्वारा प्रत्याख्यान, दारुण तप तथा पुनर्मिलन का बीज शाप ही है। इसके माध्यम से उन्होंने नायक एवं नायिका के चरित्र को भी निष्कलंक, उदार तथा पवित्र बनाकर उन्हें लोकानुकरणीय एवं आदर्श बना दिया है। कालिदास के दुर्वासा जैसे गौण पात्र का भी नाटक में महत्त्वपूर्ण स्थान है। उन्होंने अनावश्यक एक भी पात्र का सन्निवेश नाटक में नहीं किया है।

मारीच :

महर्षि मारीच अपनी पत्नी अदिति के साथ अभिज्ञानशाकुन्तलम् के सप्तम अंक में दुष्यन्त एवं शकुन्तला के मिलन के अवसर पर मंच पर उपस्थित होते हैं। वे राजा दुष्यन्त को देखकर उसके तेज एवं पराक्रम की प्रशंसा करते हैं। यह देखकर मातलि राजा से कहता है कि आयुष्मन्! ये देवताओं के माता-पिता आपको पुत्र-प्रेम की सूचक दृष्टि से देख रहे हैं। उनके कथनानुसार राजा उनके समीप पहुँचता है तथा उनके बारे में कहता है। मातलि! मुनि लोग जिस युगल दम्पति को बारह प्रकारों में स्थित तेज (सूर्य) का कारण कहते हैं, जिसने तीनों लोकों के स्वामी तथा यज्ञभाग के अधिकारी देवताओं के स्वामी इन्द्र को जन्म दिया है और जिसे स्वयम्भू (ब्रह्मा) से भी महान् पुरुष (विष्णु) ने वामन रूप में जन्म लेने के लिए आश्रय बनाया, वही दक्ष और मारीच से उत्पन्न तथा ब्रह्मा से सिर्फ एक पुरुष के अन्तर वाला यह जोड़ा है।[१] उनके इस कथन से इन दोनों के पौराणिक व्यक्तित्व स्पष्ट हो जाते हैं। राजा के प्रणाम करने पर वे दोनों उन्हें आशीर्वाद देते हैं।[२] इसके बाद वे दोनों शकुन्तला तथा उसके पुत्र सर्वदमन को आशीर्वाद देते हैं।[३+४] तदनन्तर सभी उन दोनों के समक्ष बैठ जाते हैं। मारीच प्रत्येक की ओर संकेत करते हुए कहते हैं कि यह पतिव्रता शकुन्तला है, यह सद्गुणों से युक्त पुत्र है, यह आप हैं। सौभाग्य से श्रद्धा, धन तथा विधि तीनों वस्तुएँ यहाँ एकत्र हो गई हैं। इस कथन में उनका उक्ति-वैशिष्ट्य अभिव्यक्त हुआ है।

---

१ राजा—मातले।
प्राहुर्द्वादशधा स्थितस्य मुनयो ···· ···· ···· ७।२७॥ (अभि० शा०)।

२ मारीचः—वत्स! चिरं जीव। पृथिवीं पालय।
अदितिः—वच्छ! अप्पडिरहो होहि। (अभि० शा०, अंक ७, पृ० ४८५)।

३ मारीचः—वत्से! आखण्डलसमो भर्ता जयन्तप्रतिमः सुतः।
आशीरन्या न ते योग्या पौलोमी सदृशी भव॥७।२८॥ (वही)

४ अदितिः—जादे। भत्तुणो बहुमदा होहि। अअं च दीहाऊ वच्छओ उहअकुलणन्दणो होदु। उवविसह। (वही)

मारीच के आश्रम में दुष्यन्त का अपनी वियुक्ता पत्नी तथा पुत्र से मिलन होता है। अतः प्रजापति मारीच के अद्भुत प्रभाव का वर्णन करते हुए राजा दुष्यन्त कहता है कि भगवन्! अभीष्ट की सिद्धि तो पहले ही हो गयी है और आपका दर्शन बाद में हुआ है। सचमुच आपकी कृपा विचित्र है।[1] जब दुष्यन्त शकुन्तला के साथ अपने कृत प्रत्याख्यान सम्बन्धी व्यवहार पर पश्चात्ताप करता है[2] तब मारीच ऋषि उसे अपराध की बात मन से निकालकर दुर्वासा के शाप की घटना बताते हैं।[3] इसे जानकर शकुन्तला भी परितुष्ट हो जाती है। उसे विश्वास हो जाता है कि आर्यपुत्र ने अकारण उसका परित्याग नहीं किया। मारीच शकुन्तला से अपने पति पर क्रोध नहीं करने का आग्रह करते हैं।[4] इस प्रकार उन्होंने शकुन्तला एवं दुष्यन्त का मिलन ही नहीं कराया बल्कि दोनों के मन की गाँठ भी खोल दी। वे दुष्यन्त के पुत्र सर्वदमन के चक्रवर्ती होने की भविष्यवाणी करते हैं।[5] मारीच ऋषि द्वारा उसका जातसंस्कार हुआ है, अतः दुष्यन्त उनकी भविष्यवाणी को सत्य मानता है। अन्त में महर्षि मारीच उन्हें राजधानी जाने का आदेश देकर अप्रतिम आशीर्वाद देते हैं—तव भवतु बिडौजाः प्राज्यवृष्टिः ···· ···· ७।३४। उनके इस आशीर्वचन में लोकमंगल की भावना स्पष्ट रूप से व्यक्त हुई है। इस तरह हम देखते हैं कि नाटक की मंगलमय परिसमाप्ति भी आश्रम के तपोमय वातावरण में दुष्यन्त, शकुन्तला एवं सर्वदमन के मिलन के साथ होती है। कालिदास ने इस मिलन के अवसर पर महर्षि मारीच को उपस्थित कराकर तथा उनके माध्यम से वस्तुस्थिति की जानकारी कराकर दोनों के हृदय को पवित्र करा दिया है।

---

१ राजा—भगवन्! प्रागभिप्रेतसिद्धिः पश्चाद् दर्शनम्। अतो पूर्वः खलु वाऽनुग्रहः।
कुतः, उदेति पूर्वं कुसुमं ततः फलं घनोदयः प्राकूतदनन्तरं पयः।
निमित्तनैमित्तिकयोरयं क्रमस्तव प्रसादस्य पुरस्तु सम्पदः॥
॥७।३० (वही)।

२ राजा—भगवन्! इमामाज्ञाकारो वो गान्धर्वेण···· ···· मे प्रतिभाति। यथा गजो नेति ···· ···· ···· ७।३१ (वही, पृ० ४९०)।

३ मारीचः—यदेवाप्सरस्तीर्थावतरणात् ···· ···· ···· दर्शनावसानः।
(वही, पृ० ४९१)।

४ मारीचः—वत्से! चरितार्थासि। तदिदानी सहधर्मचारिणं प्रति न त्वया मन्युः कार्यः।
पश्य—शापादसि प्रतिहता ···· ···· ···· ७।३२ (वही, पृ० ४९२)।

५ मारीचः—तथाभाविनमेवं चक्रवर्तिनमवगच्छतु भवान्।
पश्य—रथेनानुद्धातस्तिमितगतिना ···· ···· ···· ७।३३ (वही, पृ० ४९४)।

इनके इस आध्यात्मिक मिलन कराने में महर्षि मारीच का महत्त्वपूर्ण हाथ है। निःस्पृह, जीवनमुक्त तथा दिव्यशक्ति-सम्पन्न महर्षि के रूप में कालिदास ने इनका चित्रण किया है। इनका अपना विशिष्ट व्यक्तित्व है। इनमें लोकमंगल की उदात्त भावना तथा दिव्य तेज का मंजुल समन्वय हुआ है। यद्यपि इनका चरित्र-चित्रण अतिसंक्षिप्त है, फिर भी नाटक में इनका सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान है। कालिदास ने अपने आध्यात्मिक विचार की अभिव्यक्ति इन्हीं के माध्यम से की है।

शार्ङ्गरव और शारद्वत :

कालिदास की पात्र-योजना की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे दो विरोधी पात्रों को उपस्थित कर उनके व्यवहार के तुलनात्मक आधार पर चरित्र-चित्रण करते हैं। अभिज्ञानशाकुन्तलम् में शार्ङ्गरव एवं शारद्वत का चित्रण इसका उदाहरण है। ये दोनों महर्षि कण्व के शिष्य हैं। कण्व उनके नाम के आगे आदरसूचक 'मिश्र' शब्द का प्रयोग करते हैं—"क्व ते शार्ङ्गरवमिश्रा ?" इससे पता चलता है कि उनकी आयु ३० वर्ष की होगी। इन दोनों में शार्ङ्गरव बड़ा तथा प्रौढ़ बुद्धिवाला है, क्योंकि कण्व ने उसी के माध्यम से दुष्यन्त के लिए अपना संदेश भेजा है।

नाटक में गति लाने के लिए कालिदास ने शार्ङ्गरव एवं शारद्वत का प्रवेश कराया है। इनके माध्यम से उन्होंने तत्कालिक परिस्थितियों का सजीव चित्र उपस्थित किया है। चारित्रिक वैशिष्ट्य दिखाने के लिए उन्होंने दोनों की स्वाभाविक एवं व्यावहारिक पृथक्ता का स्पष्टीकरण किया है। अपनी-अपनी स्वतंत्र विचार-धारा, दृष्टिकोण एवं प्रकृति के कारण दोनों सहृदय सामाजिकों पर कण्व एवं दुर्वासा की तरह भिन्न-भिन्न प्रभाव डालते हैं। यद्यपि दोनों का पालन-पोषण एवं संवर्धन एक ही तपोवन के वातावरण में हुआ है, किन्तु दोनों की प्रकृति में बिल्कुल विरोध है। नाटक में शार्ङ्गरव की भूमिका महत्त्वपूर्ण है। अभिज्ञानशाकुन्तलम् में ये सर्वाधिक उग्र एवं स्पष्टवादी पात्र के रूप में चित्रित हुए हैं। एक संदेशवाहक के अनुकूल उसकी प्रकृति दिखाई गयी है। उस रूप में स्पष्टता एवं निर्भीकता अपेक्षित है। गौण-पात्रों में इसका व्यक्तित्व अत्यधिक प्रभावशाली है। शार्ङ्गरव शब्द का अर्थ है "धनुष के समान शब्द करनेवाला।" अतः उसके नाम से ही यह ध्वनि निकलती है कि वह अतिक्रोधी एवं कठोर स्वभाव का होगा। इसके विपरीत शारद्वत शान्तिप्रिय, संयमी एवं समझदार व्यक्ति है। इन दोनों विरोधी पात्रों की योजना में कालिदास की सूक्ष्म दृष्टि का परिचय मिलता है।

दोनों सच्चे गुरुभक्त हैं। वे केवल शुष्क तपस्वी ही नहीं बल्कि लोकाचार भी भलीभाँति जानते हैं। शकुन्तला की विदाई के समय कुछ दूर आगे जाने पर

शाङ्‌र्गरव कण्व से कहता है—"भगवन् ! ओदकान्तं स्निग्धो जनोऽनुगन्तव्य इति श्रूयते। तदिदं सरस्तीरम् । अत्र संदिश्य प्रतिगन्तुमर्हति" । वह अपने गुरु कण्व को सर्वज्ञ तथा सभी सिद्धियों से युक्त मानता है।[1] वह कर्त्तव्यपरायण है। शकुन्तला के प्रस्थान करने में विलम्ब देखकर वह कहता है—"युगान्तमारूढः सविता। त्वरतामत्रभवती।"

शाङ्‌र्गरव एवं शारद्वत दोनों आश्रम के तपोमय जीवन में आसक्त हैं। शाङ्‌र्गरव नगर के जीवन से घृणा करता है। उसकी दृष्टि में जनाकीर्ण दुष्यन्त की राजसभा अग्निवेष्टित गृह की तरह है।[2] इसके विपरीत शारद्वत दार्शनिक स्वभाव का है। उसे दूसरे से घृणा नहीं है। वह उनके साथ सहानुभूति प्रकट करता है। सांसारिक सुख में लीन लोगों को देखकर उन पर उन्हें दया आती है।[3] इन दोनों के विचार की अभिव्यक्ति के माध्यम से नाटककार ने नागर एवं वन्यसंस्कृति में अन्तर प्रकट कराया है। दोनों वनवासी होते हुए भी राजदरवार के शिष्टाचार को जानते हैं। राजा के समक्ष जाते ही वे हाथ उठा उसे आशीर्वाद देते हैं।[4] पुनः वह शिष्ट ढंग से कण्व का सन्देश कहता है। यह सुनकर राजा दुष्यन्त कहता है—"किमिदमुपन्यस्तम् ?" इस पर शाङ्‌र्गरव शिष्ट एवं संयत भाषा में उसे कहता है कि आप स्वयं लोक-व्यवहार में निष्णात हैं। पिता का कुल ही जिनका एकमात्र आश्रय-स्थान रह गया है, ऐसी सधवा पूर्ण पतिव्रता होने पर लोगों की दृष्टि में शंका योग्य हो जाया करती है। इसीलिए युवती के वन्धु-बान्धव यही चाहते है कि पति उसे चाहे या नही, पर वह अपने पति के पास ही रहे।[5] जब राजा कहता है—"कि

---

१ शाङ्‌र्गरवः—न खलु धीमतां कश्चिदविषयो नाम। (अभि० शा०, अंक ४, पृ० २४२)।

—शाङ्‌र्गरवः—स्वाधीनकुशलाः सिद्धिमन्तः। (वही, अक ५, पृ० २८८)।

२ शाङ्‌र्गरवः—शारद्वत।

महाभाग. कामं नरपतिरभिन्नस्थितिरसौ
जनाकीर्णं मन्ये हुतवहपरीतं गृहमिव ॥ ५।१० (अभि० शा०)

३ शारद्वतः—स्थाने भवान् पुरप्रवेशादित्यंभूतः संवृत्तः। अहमपि अभ्यक्तमिव स्नातः शुचिरशुचिमिव.........५।१२ (वही)

४ ऋषयः (हस्तानुद्यम्य) विजयस्व राजन्। (वही, पृ० २८६)।

५ शाङ्‌र्गरवः—यन्मिथः समयादिमां मदीयां दुहितरं भवनुप्रायस्त तन्मया प्रीतिमता युवयोरनुज्ञातम्। कुतः—त्वमर्हतां प्राग्रसरः—।५।१५
तदिदानीमापन्नसत्वेयं प्रतिगृह्यतां सहधर्मचारणायेति। (वही, पृ० २८८)।

चात्रभवती मया परिणीत-पूर्वा ?"—तब शाङ्र्गरव क्रोधावेश में आकर राजा को कहता है—"किं कृतकार्यद्वेषो धर्मं प्रति विमुखता कृतावज्ञा" ? पुनः वह कहता है कि धनादि वैभवों के कारण प्रमत्त व्यक्तियों में ये मानसिक विकार बढ़ जाते हैं। उसके इस कथन से दुष्यन्त अपमान का अनुभव करता है। वैवाहिक सम्बन्ध की स्मृति के अभाव में राजा आपन्नसत्वा शकुन्तला को स्वीकार नहीं करता है। वैसी स्थिति में शकुन्तला का अपमान बर्दाश्त नहीं होने पर शाङ्र्गरव दुष्यन्त को दस्यु कहता है।[1] उसके इस कथन में निर्भीकता एवं व्यंग्य भरा है। यह कठिन संकट-पूर्ण स्थिति में मानसिक संतुलन खो देता है। फलतः समस्या और उलझ जाती है। उसके इस कथन से चिन्तित होकर शारद्वत समस्या को सुलझाने के लिए कहता है—-शाङ्र्गरव। विरम त्वमिदानीम्"। पुनः वह शकुन्तला से राजा को विश्वासार्थ यथोचित उत्तर देने कहता है।[2] यथानिर्देश शकुन्तला उन्हें विश्वास दिलाने के लिए सारा प्रमाण देती है, किन्तु वह कुछ नहीं मानता है। यहाँ तक कि गौतमी आदि सभी स्त्रियों पर ही कलंक लगता है। वैसी स्थिति में रोती हुई शकुन्तला को भी शाङ्र्गरव फटकारता है।[3] इसके इस कथन से नाटककार ने गान्धर्वविवाह पर आक्षेप व्यक्त कराया है। इसके बाद जब राजा दुष्यन्त भी उसे टोकते हुए कहता है कि आप शकुन्तला पर विश्वास के कारण ही दोषयुक्त वाक्यों द्वारा मुझे क्यों दुखित कर रहे हैं। तब शाङ्र्गरव ईर्ष्या के साथ उसे व्यंग्योक्तियों द्वारा अधः-पतित तक कह देता है।[4] इन कथनोपकथनों से पता चलता है कि शाङ्र्गरव अभिमानी, हठी, असहिष्णु, अधीर एवं क्रोधी प्रकृति का व्यक्ति है। लेकिन शारद्वत अल्पभाषी, शान्त, सहनशील तथा अक्रोधी स्वभाव का है। वह राजा दुष्यन्त तथा शाङ्र्गरव के विवाद को शांत करते हुए कहता है कि उत्तर-प्रत्युत्तर से क्या लाभ ? हमलोगों ने गुरु की आज्ञा का पालन कर दिया है। अतः अब हम वापस जाते हैं। राजा के प्रति वह कहता है कि यह आपकी गान्धर्व-विवाह विधि द्वारा विवाहिता

---

१ अभि० शा०—५।१७।

२ शाङ्र्गरव—मा तावत्। कृताभिमर्शामनुमन्यमानः सुतां त्वया नाम मुनिर्विमान्यः।
मुष्टं प्रतिग्राहयता स्वमर्थं पात्रीकृतो दस्युरिवासितेन ।।२० (अभि०शा० अंक ५)।

३ शाङ्र्गरव.—इत्थमात्मकृतमप्रतिहतं चापलं दहति।
अतः परीक्ष्य कर्त्तव्यं विशेषात् सगतं रहः।
अज्ञातहृदयेष्वेव वैरीभवति सौहृदम् ५।२४ (वही)।

४ शाङ्र्गरवः—(सासूयम्) श्रुतं भवद्भिरधरोत्तरम्।
आजन्मनः शाठ्यमशिक्षितो——५।२५ (अभि० शा०)
शाङ्र्गरवः—विनिपातः।

पत्नी है, चाहे आप इसे छोड़ें या अपने पास रखें। क्योंकि पत्नियों पर सब प्रकार की प्रभुता पति की ही स्वीकार की गई है।[1]

शाङ्गरव स्त्री-स्वतंत्रता का पक्षपाती नहीं है। जब वह शकुन्तला को राजा दुष्यन्त के समक्ष छोड़कर अपने लोगों के साथ चलने लगता है तो निस्सहाय शकुन्तला भी उसके पीछे-पीछे चलने लगती है। यह देखकर वह क्रोध के साथ शकुन्तला को डाँटते-डपटते हुए कहता है—"किं पुरोभागे ! स्वातन्त्र्यमवलम्बसे ?" पुनः भयभीत शकुन्तला को वह हर हालत में पति के पास ही रहने के लिए कहता है।[2] इस प्रकार कण्व के दोनों शिष्यों के चारित्रिक विश्लेषण से पता चलता है कि दो विरोधी पात्रों द्वारा कालिदास ने नाटक में पात्रयोजना को सफल एवं आकर्षक बनाया है।

कालिदास ने अपने रूपकों में वसुमित्र, आयु तथा सर्वदमन जैसे बालकों, वीरसेन एवं भद्रसेनादि सेनापति, ध्रुवसिद्धि वैद्य, पुरोहित सोमरात, योगी नारद, धीवर, नगररक्षक सूचक एवं जानुक, और व्यापारी धनमित्र, सारसक, रैवतक, करभक आदि भृत्यों और कंचुकी आदि अनेक पुरुष पात्रों की सृष्टि की है। इनका सजीव एवं सफल चित्रण हुआ है। सभी पात्रों की उपयोगिता है। हम किसी पात्र को नाटक से निकाल नहीं सकते है। इनके चरित्र का अटल प्रभाव हमारे मानस पर पड़ता है। इन सभी का अलग-अलग चरित्र-चित्रण प्रस्तुत करने से प्रबन्ध अधिक विशालकाय हो जायगा। अतः यहाँ कुछ प्रमुख पुरुष-पात्रों का ही चरित्र-चित्रण किया गया है।

(इ) कालिदास के रूपकों के प्रमुख नारी-पात्र तथा उनका चरित्र-चित्रण

कालिदास के तीनों रूपकों के अध्ययन से पता चलता है कि स्त्री-पात्रों के प्रति उनकी विशेष आसक्ति है। उनकी दृष्टि में स्त्रियों का बहुत ऊँचा एवं पवित्र स्थान है। वे उन्हें श्रद्धाभरी दृष्टि से देखते हैं। यही कारण है कि उन्होंने अपने रूपकों में पुरुष पात्रों की अपेक्षा स्त्री-पात्रों का अधिक सुन्दर चित्रण किया है। श्रेष्ठ नारी-पात्रों के चित्रण के कारण ही उनकी सभी नाट्यकृतियाँ आकर्षक बन सकी हैं। वस्तुतः यह कहा जा सकता है कि नारी के प्रति उनका पक्षपातपूर्ण दृष्टिकोण

---

१ शारद्वतः—शाङ्गरव ! किमुत्तरेण। अनुष्ठितो गुरोः सन्देशः। प्रतिनिवर्तामहे वयम्। (राजानं प्रति) तदेषा भवतः कान्ता——५।२६ (वही)

२ शाङ्गरवः—शकुन्तले।
यदि यथा वदति——५।२७ (वही)।

है। उनके रूपकों के नारी-प्रधान नाम से उनकी अभिरुचि का पता चल जाता है। प्रथम दो नाट्यकृतियों के नामों में तो नायिका के साथ नायक के नाम का भी उल्लेख मिलता है, किन्तु अन्तिम और सर्वश्रेष्ठ नाट्यकृति का नामकरण तो सिर्फ नायिका के नाम पर ही हुआ है। रूपकों की नायिकाओं में शकुन्तला सर्वोत्कृष्ट है।

कालिदास के रूपकों में सभी प्रकार के नारी-पात्रों का चित्रण हुआ है। स्त्रियों की प्रत्येक अवस्था एवं स्थिति का वर्णन इन्होंने किया है। प्रणय परित्यक्ता नारी, सानन्द एवं सुखी पत्नी, असंतुष्ट प्रेमिका, कन्या, माता, विधवा स्त्री, पति द्वारा अस्वीकृत नारी, संसार से विरक्ता नारी आदि विविध रूपों में नाटककार ने स्वाभाविक ढंग से चित्रण किया है। संसार में उनके विविध सम्बन्धों को भी दिखाया गया है। ऊपर नारी के विविध सम्बन्धों एवं स्वरूपों को प्रस्तुत किया गया है। कालिदास ने नारी के सर्वांगीण चित्र को प्रस्तुत किया है। उनकी दृष्टि में नारी पुरुष की अर्द्धांगिनी है। अतः उन्होंने नारी के साथ पुरुषों का चरित्र-चित्रण कर उसे सम्पूर्ण बनाया है। उन्होने कन्या के साथ पिता, पत्नी के साथ पति तथा माता के साथ पुत्र का भी चरित्र-चित्रण किया है। उन्होंने अपने रूपकों के माध्यम से सामाजिकों को विश्वास दिलाया है कि एक दूसरे के विना पुरुष एवं स्त्री पूर्ण नही है। सत्यं, शिवं एवं सुन्दरं सम्पूर्ण मानव समाज के जीवन का चरम लक्ष्य है। नाटककार ने रूपकों में दिखाया है कि इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए विशुद्ध एवं पवित्र जीवन-यापन की आवश्यकता है। इसके लिए पुरुष एवं स्त्री दोनों को समान रूप से उत्तरदायी बनना पड़ेगा। उसकी परिपूर्त्ति के लिए दोनों का समान कर्त्तव्य है। इसके अभाव में श्रेय प्राप्ति के बदले पुरुष एवं स्त्री दोनों का अधःपतन तथा विनाश होता है। कालिदास ने अपनी इसी धारणा की स्थापना अपने रूपकों में की है तथा अभिनय के माध्यम से इसका प्रचार भी किया है। उनके विचार से स्त्री पुरुषों को शक्ति एवं उत्तेजना प्रदान करनेवाली तथा सही रास्ते पर ले चलनेवाली है।[1] इस दृष्टि से उन्होंने मनु की तरह नारी को समाज का स्तम्भ माना है।[2] अतः यदि पुरुषों द्वारा वह दुर्व्यवहृत अथवा उपेक्षित होगी तो मानव-समाज का कल्याण संभव नही। नारी के प्रति अपने इस सुदृढ़ विश्वास एवं आस्था का प्रचार कविकुलगुरु कालिदास ने अपनी सभी कृतियों के माध्यम से किया है। उनकी इस धारणा के स्पष्टीकरण के लिए यहाँ उनके रूपकों के उपर्युक्त नारी-पात्रों में से कुछ का चरित्र-चित्रण प्रस्तुत किया जा रहा है।

---

१ —त्वामामनन्ति प्रकृतिं पुरुषार्थप्रवर्तिनीम्।
तद्दर्शिनमुदासीनं त्वामेव पुरुषं विदुः।२।१३ (कुमारसंभवम्)

२ यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः ॥३।५६ (मनुस्मृति)।

कालिदास के रूपकों की नायिकाओं का उत्तरोत्तर विकास हुआ है। मालविका, उर्वशी एवं शकुन्तला उनके रूपकों की नायिकाएँ हैं। उनके गुणों एवं चारित्रिक वैशिष्ट्य का सांगोपांग विवेचन पंचम अध्याय में किया गया है। उन्होंने प्रथम दो नाट्यकृतियों में मुख्य नायिका के साथ नायक की अन्य नायिकाओं का भी चित्रण किया है। मालविकाग्निमित्रम् में रानी धारिणी तथा इरावती और विक्रमोर्वशीयम् में औशीनरी का भी चित्रण किया गया है। फलतः इन दोनों रूपकों की मुख्य नायिका का चरित्र-चित्रण उतना व्यापक एवं स्पष्ट नहीं हो सका है, जितना शकुन्तला का। उन्होंने अभिज्ञानशाकुन्तलम् में राजा दुष्यन्त की पूर्व-नायिका को मंच पर नहीं उपस्थित किया है। इसीलिए शकुन्तला के चरित्र का सर्वांगीण विकास संभव हो सका है। नाटककार ने नारियों के विविध प्रकार का चित्र उपस्थित किया है। समाज में इतने प्रकार की नारियाँ देखी जाती हैं। कालिदास ने भार्या, पतिव्रता तथा गृहिणी के रूप में नारी के स्वरूप को उपस्थित किया है। दो विरोधी नारी-पात्रों को एक साथ उपस्थित कर उनकी चारित्रिक विशेषता को प्रस्तुत करना इनकी चित्रणकला की निजी विशेषता है।

धारिणी :

धारिणी अग्निमित्र की प्रथम पत्नी है। पटरानी के रूप में इसका चित्रण किया गया है। इसके पुत्र वसुमित्र ने अश्वमेध यज्ञ में पुष्यमित्र द्वारा छोड़े गये घोड़े की रक्षा कर यज्ञ को सफल बनाया। इससे पता चलता है कि रानी धारिणी प्रौढ़ावस्था में होगी।

यह आत्मसंयमी एवं उदार स्वभाव की भारतीय आदर्श नारी है। शास्त्रीय दृष्टि से वह प्रगल्भा एवं धीरा नायिका है। अपने अन्तःपुर में सभी लोग उसे सम्मान करते हैं। राजा अग्निमित्र उसे हृदय से प्यार करता है। उसकी सम्मति के बिना वह कोई कार्य नहीं करता है। वह पति की सेवा करती है। यही उसकी दृष्टि में परमधर्म है। अपने पति के सुख के लिए वह स्वयं कष्ट सह सकती है।[1]

वह सबके प्रति सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार करती है। यद्यपि अव्याजसुन्दरी मालविका को अपने साथ अन्तःपुर में रखना उचित नहीं, फिर भी उसे वह वहाँ

१ परिव्राजिका—

नैतच्चित्रं त्वयि। कुतः—

प्रतिपक्षेणापि सेवन्ते भर्तृवत्सलाः साध्व्यः।

अन्य-सरितां शतानि हि समुद्रगाः प्रापयन्त्यब्धिम् (५।१९ (मालवि०)।

रखती है। किसी के आन्तरिक गुण को परखने की उसमें पर्याप्त क्षमता है। मालविका के अन्दर संगीतकला की क्षमता को जानकर वह उसकी उचित शिक्षा के लिए नृत्याचार्य गणदास को नियुक्त करती है। मालविका से गुण एवं कार्य-क्षमता को ध्यान में रखकर स्वयं असमर्थ होने के कारण उसने मालविका को ही दोहद के लिए नियुक्त किया। इसे देखकर ईर्ष्यावश इरावती ने कहा—"महती खल्वस्याः संभावना"।

रानी धारिणी पतिव्रता नारी है। उसे अपने पति की नित्य नयी नवेलियों के प्रति आसक्ति पसन्द नहीं है। अतः मालविका के प्रति राजा अग्निमित्र की आसक्ति का आभास पाते ही वह कुशलतापूर्वक उनकी दृष्टि से उसे बचाये रखने का उपाय करने लगी। अपनी कुशाग्रबुद्धि के कारण वह नृत्याचार्य गणदास के झगड़े के रहस्य को जान जाती है। वह अच्छी तरह समझ जाती है कि इसमें राजा तथा विदूषक का ही हाथ है। इसीलिए सबके समक्ष उनकी शिष्याओं के नृत्य परीक्षण के लिए वह राजी होना नहीं चाहती है।[1] लेकिन शील सौजन्य को खोकर राजा का विरोध करना भी उसके लिए संभव नहीं था, अतः अन्ततोगत्वा उसने मालविका की परीक्षा का प्रस्ताव मान लिया।

वह क्षमाशील एवं विनम्र स्वभाव की है।[2] वह क्रोध एवं ईर्ष्यारहित है। मालविका के प्रति राजा के आकृष्ट होने पर यद्यपि उसे दुःखानुभूति होती है फिर भी वह उनके साथ अपशब्द का प्रयोग नहीं करती है। वह विनम्र भाव से व्यंग्यात्मक शैली में कहती है—"(राजानमवलोक्य) जइ राअकज्जेसु वि ईरिसी उवाअणिउणदा अज्जउत्तस्स तदा सोहणं हवे।" जब राजा अग्निमित्र कहता है—देवि! चलिए हमलोग सामाजिक (द्रष्टागण) बनें तब रानी को कुछ गुस्सा आता है, लेकिन सिर्फ मन ही मन इतना ही कहती है—"अहो अविणओ अज्जउ-त्तस्स"। वह इरावती के समान ईर्ष्यालु प्रकृति की भी नहीं है। वह भलीभाँति जानती है कि मालविका और राजा के पारस्परिक प्रणय में राजा ही दोषी है। यही कारण है कि वह मालविका को दंड देना नहीं चाहती है, किन्तु अपनी सौत (इरावती) को प्रसन्न करने के लिए बकुलावलिका के साथ उसी कारावास की

---

१ देवी—णं कलहप्पिओसि। (मालवि०, अंक १, पृ० ६५)।
—देवी—(स्वगतम्) कहं दाणिं (गणदासं विलोक्य जनान्तिकम्) अलं अज्जउत्तस्स उच्चाहकालणं मणोरहं पूरिअ। (प्रकाशम्) विरम णिरत्थआदो आरम्भादो। (वही, पृ० ७१)।

२ परिव्राजिका—महासारप्रसवयोः सदृशक्षमयोर्द्वयोः।
धारिणीभूतधारिण्योर्भव भर्ता शरच्छतम् ।१।१५ (वही, पृ० ६०)।

सजा देती है।[1] वह आगे-पीछे के परिणाम को सोच कर ही कोई कार्य करती है। अपनी सपत्नी इरावती के मन को वह कभी भी ठेस नहीं लगने देती है। इसीलिए नाटक के अन्तिम अंक में मालविका के साथ राजा का परिचय कराने से पूर्व रानी इरावती से वह अनुमति ले लेती है।

रानी धारिणी सहृदय तथा दयालु स्वभाव की है। ब्राह्मण के प्रति उसका आदरभाव है। वह समाज की वर्ण-आश्रम-व्यवस्था में पूरी आस्था रखती है। उसके उपहार के लिए बिजौरा फल तोड़ते समय विदूषक को सर्प ने काट लिया। यह जानकर वह उद्विग्न हो जाती है और कहती है कि ब्राह्मण के जीवन को संशय मे डालने का कारण वस्तुतः मैं ही हूँ।[2] नागमुद्राङ्कित अंगूठी से उसकी जान बच जाने की सूचना मिलते ही उसने परिणामान्ध होकर अपनी अंगूठी दे दी।

रानी अपने वचन का पालन करती है।[3] मालविका द्वारा अशोक वृक्ष की दोहदपूर्ति होने पर तीन दिनों के अन्दर ही जब वह खिल जाता है तब अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार रानी मनोरथ पूरा करती है।। वह भेंट स्वरूप मालविका को राजा अग्निमित्र के हाथ में सुपुर्द कर देती है।

वह विचारवती एवं सबके अधिकार की रक्षा करनेवाली है। वह उच्च परिवार के लोगों के प्रति आदर की भावना रखती है। जब उसे परिव्राजिका से मालूम होता है कि मालविका राजा के उच्चवंश की कन्या है तब वह मालविका को दासी के रूप में अपने पास रखने के कारण पश्चात्ताप का अनुभव करती है[4] तथा अपने इस अपराध के पश्चात्तापस्वरूप एवं पूर्वप्रदत्त वचन के अनुसार उसका परिणय राजा अग्निमित्र से करा देती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि रानी धारिणी को ऐसी भारतीय आदर्श भार्या के रूप में चित्रित किया गया है—जो पति के लिए सर्वत्याग कर देती है। यह

---

१ चेटी—(प्रविश्य) जेदु भट्टिणी। देवी भणादि। ण मे एसो मच्छरस्स कालो। केवलं तुह खु बहुमाणं वेड्ढदुं वअस्सिआए सह णिअलबन्धणं किदा मालविआ।
(मालवि०; अंक ४, पृ० २९९)।

२ देवी—हद्धि हद्धि णं अहं एव्व बह्मणस्य जीवितसंशयनिमित्तं जाता।
(वही, पृ० २५७)।

३ बकुलावलिका—समस्ससदु णिअसही। सच्चपडिण्णा देवी।
(वही, अंक ५, पृ० ३१९)।

४ देवी—कहं राअदारिआ इअं। चन्दणं खु भए पादुआपरिहोएण दूसिदं।
(वही, पृ० ३५८)।

कर्त्तव्यनिष्ठ भार्या है, अतः अपने घर को सुव्यवस्थित रखती है तथा आपस में संघर्ष नहीं होने देती है। वह पूरे धैर्य के साथ सपत्नी की ईर्ष्या या द्वेष से अपने को मुक्त करती है। यहाँ तक कि अपने पतिदेव की प्रसन्नता के लिए प्रथम सौत इरावती को स्वीकार करने पर भी पुनः मालविका को द्वितीय सौत बना लेती है। नाटक में धारिणी का प्रमुख स्थान है। ऐसा प्रतीत होता है कि मालविकाग्निमित्र में नाटककार ने धारिणी को भी नायिका के रूप में चित्रित किया है। नायिका के भार्यास्वरूप का चित्रण उनका प्रमुख उद्देश्य है। धारिणी के रूप में कालिदास की भार्या विषयक धारणा व्यक्त हुई है।

इरावती :

इरावती का स्वभाव एवं व्यवहार रानी धारिणी के सर्वथा विपरीत है। शास्त्रीय दृष्टि से यह प्रगल्भा एवं अधीरा नायिका है। यह राजा अग्निमित्र की दूसरी पत्नी है। यह राजवल्लभा कहलाती है। यह तरुणी है। इसे अपने सम्मान का निरन्तर ख्याल बना रहता है। यह नृत्य एवं गायन कला में कुशल है। इसे अपने यौवन सुलभ सौन्दर्य पर गर्व है। सौन्दर्यवृद्धि के लिए यह मदिरापान भी करती है। यह अपने पति अग्निमित्र के स्नेह पर पूर्ण अधिकार रखना चाहती है। समुद्रगृह में टँगे हुए अग्निमित्र के साथ स्नेहासक्त मुद्रा में इरावती के चित्र को देखकर मालविका को ईर्ष्या हो गई।[1] वह कदापि यह नहीं चाहती है कि राजा उसे छोड़कर किसी दूसरी कन्या से प्रेम करे। एक दिन प्रमदवन में विहार के लिए गई हुई इरावती ने जब छिपे-छिपे मालविका के साथ प्रेम करते हुए राजा अग्निमित्र को देख लिया तब प्रकट होकर कहा कि—'(सहसोपसृत्य) पूरेहि पूरेहि। असोओ कुसुमं दंसेदि ण वा। अअं उण पुप्फइ फलइ अ। (सर्वे इरावतीं दृष्ट्वा संभ्रान्ताः)' उसके बाद चिन्ता के साथ वह कहती है कि पुरुषों पर विश्वास नहीं।[2] राजा उसे जब मनाता है तब व्यंग्यपूर्ण शब्दों में वह कहती है कि आपका विश्वास क्यों न करूँ? मुझे अगर आपकी मनबहलाव की वस्तु की

---

1 मालविका—हला का एसा ईसप्परिवत्तिदवअणा भट्टिणा सिणिद्धाए दिट्ठीए णिज्झाईअदि।

—मालविका—हला भट्टा अदक्खिणो विअ पडिभाइ। जा सव्वं देवीजणं उज्झिअ एक्काए मुहे बद्धलक्खो। (मालवि०, अंक ४, पृ० २७९-२८०)।

2 इरावती—अहो अविस्ससणीआ पुरिसा। मए वखु अत्तणो वञ्चणा वाहजण-गीदिरत्ताए हरिणीए विअ असक्खिद्राए ण दिण्णदा।

(मालवि०, अंक ३, पृ० २२८)।

प्राप्ति के बारे में मालूम हो जाता तो मैं अभागिन तुम्हारे पास नहीं उपस्थित होती। वह उसे अनापसनाप कहने लगती है तथा क्रोधावेश में आकर अपनी तागड़ी से पीटने के लिए उद्यत हो जाती है।[1] यहाँ उसकी अधीरता की चरम पराकाष्ठा दृष्टिगत होती है। उसे प्रसन्न करने के लिए राजा अग्निमित्र उसके पैर पर गिरता है। इस पर वह कहती है कि ये मालविका के पैर नहीं हैं, जो छूने से तुम्हारी साध पूरी कर दे।[2] तदनन्तर राजा को वैसे ही छोड़कर वह वहाँ से दासी सहित चली जाती है। उसका यह आचरण नाटककार ने नशे की अवस्था में दिखाया है। नशा समाप्त होने पर उसकी बुद्धि ठीक होती है और प्रकृतिस्थ होकर वह राजा के साथ अपने दुर्व्यवहार पर पश्चात्ताप करती है।[3]

वह व्यंग्यपूर्ण बातचीत करने में बहुत कुशल है। जब उसे चेटी द्वारा यह मालूम होता है कि महारानी धारिणी का कथन है कि इरावती का आदर-सम्मान बढ़ाने के लिए ही उसने सखी के साथ मालविका को बेड़ियाँ डालकर कैदखाने में बन्द करवा दिया है तब इरावती चेटी को महारानी से कहने के लिए व्यंग्यपूर्ण शब्दों में कहती है—"णअरिए विण्णवेहि देविं। का वअं भट्टिणिणिओएदुं। पैरिअणणिग्गहेण मइ दंसिदो सिणेहो। कस्सवा अण्णस्स पसादेण अअं जणो वड्ढदित्ति"।

रानी इरावती स्वभाव से ही शंकालु है। प्रमदवन में वह राजा को खोजती है, किन्तु नहीं पाने पर निपुणिका के समक्ष अपने मन की शंका व्यक्त करती है। अन्ततोगत्वा जब वह राजा को मालविका के मधुर सौन्दर्य का पान करते देख लेती है तब उसकी शंका सही सिद्ध हो जाती है।[4]

---

१ इरावती—सठ अविस्ससणीअहिअओ सि। (वही, पृ० २३२)।
—इरावती—इअं वि हदासा तुमं एव्व अणुसरदि। (इति रशनामादाय राजानं ताडयितुमिच्छति) (वही, पृ० २३४)।

२ इरावती—ण क्खु इमे मालविआए चलणा जे दे फरिसदोहअं पूरइस्सदि (इति सचेटी निष्क्रान्ता) (मालवि०, पृ० २३७)।

३ इरावती—आम् चित्तगदं भट्टारं पसादेदुं। (वही, पृ० २९८)।
—इरावती—जारिसो चित्तगदो भट्टा ण तादिसो एव्व।
अण्णसङ्क्रन्दहिअओ अज्जउत्तो। केवलं उवआरादिक्कमं अम्हाणं अअं आरम्भो—
(मालवि०, अंक ४, पृ० २९९)।

४ इरावती—हञ्जे मे चलणा अण्णदो ण प्पवट्टन्दि। मणो वि किं वि विआरेदि। आसङ्क्दिस्स दाव अन्तं गमिस्सं। ठाणे खु कादरं मे हिअअं।
(मालवि०, अंक ३, पृ० १९८)।

इसके अन्दर प्रतिशोध की भावना पर्याप्त है। सर्वप्रथम मालविका के साथ अपने पति अग्निमित्र को बातचीत करते देखकर वह अत्यधिक दुःखी हुई। फलतः महारानी धारिणी के पास शिकायत करके उसने मालविका को कारावास की सजा दिलायी। जब विदूषक ने अपनी युक्ति से उसे मुक्त कराया तब उसने वास्तविकता की जानकारी के बिना समझ लिया कि महारानी धारिणी का ही इसमें कोई न कोई हाथ है[1]। यद्यपि वह मालविका के साथ राजा की शादी होने देना नहीं चाहती है, किन्तु परिस्थितिवश विवश होकर वैसा करने के लिए वह रानी धारिणी को अनुमति देती है, लेकिन राजा अग्निमित्र को बधाई देने के लिए नहीं जाती है।

इरावती के अन्दर नारी सुलभ वात्सल्यभाव है। जब कुमारी वसुलक्ष्मी का पीले बन्दर से डर जाने के कारण बेहोश होने की सूचना जयसेना से वह (इरावती) पाती है तब घबड़ा जाती है और राजा अग्निमित्र से उसे धैर्य धराने के लिए शीघ्रातिशीघ्र चलने का अनुरोध करती है[2]।

इस तरह हम देखते हैं कि रानी इरावती को अलग प्रकार की नायिका के रूप में नाटककार ने चित्रित किया है। वह क्रोधशीला एवं मानवती है। तत्कालिक समाज में इरावती की तरह स्त्री भी थी। उनका यह चरित्र-चित्रण इतना स्वाभाविक हुआ है कि आज भी समाज में इरावती की तरह औरतें मिलती हैं। इसके चित्रण से राजकीय अन्तःपुर का स्वाभाविक एवं यथार्थ वर्णन हो सका है।

औशीनरी :

विक्रमोर्वशीयम् में औशीनरी का चरित्र भी नायक पुरूरवा एवं नायिका उर्वशी के प्रेम में बाधाएँ उत्पन्न करता है। इन बाधाओं से ही इस त्रोटक की कथावस्तु में द्वन्द्व की सृष्टि होती है और यथार्थता का भी सन्निवेश होता है। भारतीय आदर्श पतिव्रता पत्नी के रूप में कविकुलगुरु कालिदास ने उसका चित्रण किया है। वह इरावती की तरह अपने पति राजा पुरूरवा के ऊपर किसी अन्य स्त्री का अधिकार नहीं चाहती है। लेकिन इसमें इरावती से विषमता यह है कि वह अपने पति को अप्रसन्न एवं असंतुष्ट करना नहीं चाहती है। महारानी धारिणी एवं देवी वसुमती का चरित्र आदर्श नारी के रूप में कालिदास ने चित्रित किया है।

---

१ इरावती—णिउणिए गच्छ देवि विण्णवेहि। दिट्ठं देवीए पक्खवाइत्तणं अज्जत्ति (वही, अंक ४, पृ० ३१३)।

२ इरावती—(सावेगम्) तुवरदु अज्जउत्तो णं समासासइदुं। मा दाव से सन्तासचणिओ विआरो वड्ढदु। (वही, पृ० ३१७)।

अभिज्ञानशाकुन्तलम् में कालिदास ने वसुमती को मंच पर नहीं आने दिया है। अतः शकुन्तला एवं दुष्यन्त के प्रणय-व्यापार में बाधक नहीं होने के कारण उसके चरित्र का व्यापक विकास दिखाया जा सका है।

'विक्रमोर्वशीयम्' के द्वितीय अंक में औशीनरी का प्रवेश होता है। यह काशिराजपुत्री है। इसका चरित्र उर्वशी से अधिक वास्तविकता के धरातल पर है। इसे हम धारिणी का परिवर्धित संस्करण मान सकते हैं। यह राजा पुरूरवा की पटरानी है। यह भी रानी धारिणी की भाँति पुरूरवा को उर्वशी के साथ प्रेम करने देना नहीं चाहती है, लेकिन ईर्ष्या का शिकार हुए बिना अपनी वासना को दबा लेती है तथा पूरे विश्वास के साथ अपनी सपत्नी का स्वागत करती है। इस दृष्टि से वह इरावती एवं धारिणी से भिन्न प्रकार की हो जाती है।

सर्वप्रथम इसे भुर्जपत्र पर लिखे उर्वशी के प्रणयगीत से पुरूरवा और उर्वशी की गुप्त प्रेमलीला की सूचना मिलती है[1]। वह अपने पति को अन्य नायिका में आसक्त देखना नहीं चाहती है। अतः वह उस पत्र को हाथ में लेकर कहती है कि मैं इसी उपहार के साथ अप्सरा-प्रेमी से मिलूँगी।[2] जब राजा पुरूरवा विदूषक को रूखे स्वर में कहता है कि वह जबर्दस्ती मुझे कसूरवार सिद्ध करना चाहती है तब रानी धारिणी रूठकर जाती हुई व्यंग्यपूर्ण शब्दों में कहती है—णत्थि भवदो अवराहो। अहं एव्व एत्थ अवरुद्धा जा पडिअलदेसणा भविअ अग्गदो दे चिट्टामि। इदो अहं गमिस्सं। (इति कोपं नाटयित्वा प्रस्थिता)। इसके बाद राजा पुरूरवा विनम्रतापूर्वक उसे मनाता है और उसके पैरों पर गिर जाता है[3]।

रानी काशिराजपुत्री विवेकशीला है। जब राजा पुरूरवा उसके पैरों पर गिरकर मनौती करता है तब वह अपने मन में सोचती है कि मैं इतनी छोटा नहीं हूँ कि इनकी बातों में आ जाऊँगी। किन्तु रूक्ष व्यवहार करने पर पीछे पश्चात्ताप होगा, अतः मैं उससे डरती हूँ। पुनः वह राजा को छोड़ कर परिजन के साथ वहाँ से चली जाती है।[4]।

---

१ देवी—अणुवाएहि दाव णं। जदि अविरुद्धं तदो सुणिस्सं। (विक्र०, अङ्क २, पृ० ८१)।

२ देवी—एत्थ इमिणा एव्व उवाअणेण अच्छराकामुअं पेक्खामि।
(इति परिजनसहिता लतागृहं परिक्रामति)। (वही, पृ० ८२)।

३ राजा—अपराधी नामाहं प्रसीद रम्भोरू विरम संरम्भात्।
सेव्यो जनश्च कुपितः कथ नु दासो निरपराधः ॥२।२१ (वही)

४ देवी-(आत्मगतम्) या खु लहुहिअआ अहं अणुअअं बहु मण्णे। किं दु अदक्खिण्ण-किदस्स पच्छादावस्स भाएमि। (राजानमपहाय सपरिवारा निष्क्रान्ता)

महारानी औशीनरी बहुत सुन्दरी है। अतः वह सही अर्थ में देवी कहलाने योग्य है[1]। वह विनोदप्रिय स्वभाव की स्त्री है। कंचुकी के माध्यम से वह अपने पति पुरूरवा के पास सूचना भेजती है कि वह मणिहर्म्यपृष्ठ पर उनके साथ विनोद करना चाहती है। पुरूरवा के मनाने पर वह पहले तो नहीं मानती है, किन्तु बाद में स्वयं अपने विरोधी आचरण पर पश्चात्ताप करती है तथा उनके प्रति किये रोषजनित अपने दोष को तप एवं व्रत द्वारा दूर करना चाहती है[2]। इससे पता चलता है कि इसकी तप एवं व्रत आदि में पूरी आस्था है। अपने पति पुरूरवा के पादपतन आदि से मनौती करने पर भी पहले रानी औशीनरी नहीं मानी थी। लेकिन बाद में उसे स्वयं अत्यधिक पश्चात्ताप का अनुभव हुआ। अतः उन्हें (पुरूरवा को) प्रसन्न करने के लिए वह प्रियानुप्रसादनव्रत करती है[3]। ऐसा कर औशीनरी ने अपने को महान् हृदय वाली पतिव्रता नारी होने का परिचय दिया है। विदूषक रानी से कहता है कि क्या वास्तव में हमारे मित्र (पुरूरवा) से आपका इतना प्रेम है। इस पर वह कहती है—"मूढ अहं खु अत्तणो सुहावसाणेण अज्जउत्तं णिव्वुदसरीरं कादुं इच्छामि। एत्तिएण चिन्ते हि दाव पियो ण वत्ति"। (विक्र० अंक ३, पृ० १२२) इस प्रकार कालिदास ने औशीनरी को ऐसी पतिव्रता नायिका के रूप में चित्रित किया है जो अपने पति को प्रसन्न मुद्रा में रखने के लिए हमेशा उत्सुक रहती है। इससे कालिदास की पतिव्रता नारी सम्बन्धी धारणा की अभिव्यक्ति भी हुई है।

कौशिकी :

कौशिकी को नाटक में परिव्राजिका के नाम से अभिहित किया गया है। इसे वृद्धा संन्यासिनी के रूप में चित्रित किया गया है। यह विचक्षण बुद्धिवाली उदार

---

१ उर्वशी—हला ठाणे क्खु इअं देवीसद्देण उवअरीअदि। ण किंपि परिहीअदि सचीए ओजस्सिदाए। (वही, अंक ३, पृ० ११७)।

२ विदूषकः—भो तक्केमि जादपच्चादावा तत्तभोदी वदावदेसेण भवदो पणिपाद-लंघणं पमज्जिदुकामत्ति। (वही, पृ० १००)।

३ देवी—उज्जउत्तं पुरोकरिअ कोवि वदविसेसो भए संपादणीओ। ता मुहुत्तं उवरोधो सहीअदु। (विक्र० अंक ३, पृ० ११७)।

देवी—(राज्ञः पूजामभिनीय प्रांजलिः प्रणिपत्य) एसा अहं देवदामिहुणं रोहिणीमिअलंधणं सक्खीकरिअ अज्जउत्तं अणुप्पसादेमि। अज्जप्पहुदि जं इत्थिअं अज्जउत्तो पत्थेहि जा अ अज्जउत्तस्स समाअमप्पणइणी ताए सह भए पीदिबन्धेण वत्तिदव्वंति। (वही, पृ० १२१)।

महिला का प्रतिनिधित्व करती है। अपने अनेक गुणों के कारण यह आर्या तथा पंडिता कौशिकी[1] आदि विशेषणों से सम्बोधित होती है। माधवसेन की बहन है। इसके साथ जब माधवसेन मालविका को लेकर आ रहा था, तब रास्ते में डाकुओं ने उसे (माधवसेन को) मार डाला। फलतः मालविका भी उससे वियुक्त हो गई। वैसी परिस्थिति में सर्वनाश हो जाने पर संन्यासिनी बन गई। वह संयोगवश परिभ्रमण करती हुई रानी धारिणी के समीप आई। वहाँ वह मालविका को भी देखकर रानी के आश्रय में प्रसन्नता-पूर्वक रहने लगी। रानी धारिणी के पास उसके रहने का मुख्य उद्देश्य यही था कि वह मालविका की देखरेख समुचित रूप से करे तथा कालान्तर में ठीक समय पर मालविका की शादी राजा अग्निमित्र से करके अपने भाई के पास चली जाय। यही कारण है कि नाटकान्त में राजा के शादी सम्बन्ध हो जाने पर वह वहाँ से जाना चाहती है, किन्तु उन्होंने उसे जाने नही दिया।

परिव्राजिका को ज्योतिषियों की भविष्यवाणी में भरपूर विश्वास है। अतः वह मन ही मन चाहती है कि मालविका भविष्यवाणी के अनुसार यहीं दासी के रूप में जीवन-व्यतीत करने के बाद राजा अग्निमित्र की पत्नी बन जाय। इसीलिए वह इसकी सी कुल-परम्परा आदि के बारे में किसी से कुछ नही कहती है तथा स्वयं भी अज्ञात रहती है। एतदर्थ वह राजा अग्निमित्र के साथ मालविका को मिलाने की योजना में विदूषक से मिलकर सफल प्रयास करती है। इस कार्य को उसने इतनी कुशलता के साथ सम्पन्न किया कि रानी धारिणी तथा इरावती आदि को उसके ऊपर कुछ भी सन्देह नहीं हुआ। यद्यपि रानी धारिणी नहीं चाहती थी कि मालविका राजा अग्निमित्र के समक्ष नृत्य करे और वह उसे प्रत्यक्ष देखे फिर भी वह उसे वैसा ही करने के लिए निपुणता के साथ राजी कर लेती है। क्रुद्ध जानकर वह उसे (धारिणी को) समझाती है।[2] वह हमेशा रानी धारिणी के साथ प्रेमपूर्वक रहती है। अतः विदूषक उसे रानी की सहायिका भी कहता है।[3] वह कथा आदि कह कर दुःख में रानी का विनोद करती है।[4]

---

१ राजा—मा मैवम्। पण्डितकौशिकी खलु भगवती। पक्षपातिनावनयोरहं च देवी च। (वही, अं० १, पृ० ६२)।

२ परिव्राजिका—(विलोक्य)—अनिमित्तमिन्दुवदने। किमत्रभवतः पराङ्मुखी भवसि। प्रभवन्त्योऽपि हि भर्तृषु कारणकोपाः कुटुम्बिन्यः ।१।१८।। (मालवि०)

३ विदूषकः—अविहा अविहा, उवट्ठिदा पीठमद्दिमं पण्डिअकोसिअं परोकदुअदेवी। (मालवि०, अंक १, पृ० ५८)।

४ प्रतिहारी—(प्रविश्य)—देव ! पवादसअणे देवी णिसण्णा रत्तचन्दणधारिण परिअणहत्थमदेण चलणेण भअवदीए कहादि विणोदिअमाणा चिट्ठई। (वही, अक ४ पृ० २५२)।

कौशिकी ने संगीत प्रतियोगिता में चलित नृत्य[१] का अभिनय अनलंकृतवेश में करने के लिए इस उद्देश्य से कहा जिससे मालविका अपने हार्दिक प्रेम के भावों को संगीत के सहारे राजा अग्निमित्र के समक्ष प्रकट कर सके तथा राजा भी उसके शरीर लावण्य को भलीभाँति देख सके।[२] वह नृत्य एवं संगीत कला की मर्मज्ञा है। नाट्याचार्य भी इसके सम्बन्ध में उसकी धाक स्वीकार करते हैं। अतः दोनों नाट्याचार्यों के विवाद को शान्त करने के लिए उसे ही निर्णायिका नियुक्त किया गया। नाट्यशास्त्र के सम्बन्ध में उसकी धारणा स्पष्ट है—"प्रयोगप्रधानं हि नाट्यशास्त्रम्"। उसकी दृष्टि में सच्चे शिक्षक में अपने विषय के निर्मल अध्ययन के साथ-साथ शिक्षण-कला का सम्यक् ज्ञान होना चाहिए।[3] मालविका के नृत्य-विश्लेषण[४] में उसकी संगीत पारंगता व्यक्त होती है। वह शृंगार कला में भी प्रवीण है। महारानी धारिणी की आज्ञा से वैवाहिक वेश में मालविका को सजाते समय उसने कहा—'यत्त्वं प्रसाधनगर्वं वहसि, तद्दर्शय मालविकायाः शरीरे वैदर्भविवाहनेपथ्यमिति।' सर्पदंश की चिकित्सा करना वह अच्छी तरह जानती है।[५] इस प्रकार हम देखते हैं कि संन्यासिनी होने पर भी कौशिकी जीवन के राग-रंगों में पर्याप्त दिलचस्पी रखती है। विनोदप्रियता तो उसका स्वाभाविक गुण है, वह विदुषी है।[६] नायक एवं नायिका के प्रणय-सम्बन्ध को सुदृढ़ करने

---

१ परिव्राजिका—चतुष्पदोद्भवं चलितं दुष्प्रयोज्यमुदाहरन्ति। तत्रैकार्थसंश्रयमुभयोः प्रयोगं पश्यामः। तावता ज्ञायत एवात्रभवतोरुपदेशान्तरम्। (मालवि० अंक १, पृ० ८३-८४)।

२ परिव्राजिका—निर्णयाधिकारे ब्रवीमि। सर्वांगसौष्ठवाभिव्यक्तये विरलनेपथ्ययोः पात्रयोः प्रवेशोऽस्तु। (वही, पृ० ८७)।

३ परिव्राजिका—तदेव वक्तुकामास्मि।
श्लिष्टा क्रिया कस्यचिदात्मसंस्था संक्रान्तिरन्यस्य विशेषयुक्ता।
यस्योभयं साधु स शिक्षकाणां धुरि प्रतिष्ठापयितव्य एव ॥१।१६॥
(वही, पृ० ६८)।

४ परिव्राजिका—यथा दृष्टम् सर्वमनवद्यम्। कुतः—
अंगैरन्तर्निहितवचनैः····· ···· ····२।८ (वही, पृ० ११५-११६)।

५ परिव्राजिका— ·········। छेदो दंशस्य दाहो वा क्षतेर्वा रक्तमोक्षणम्।
एतानि दष्टमात्राणामायुषः प्रतिपत्तयः ॥४।४ (वही)

६ परिव्राजिका—महासारप्रसवयोः सदृशक्षमयोर्द्वयोः।
धारिणीभूतधारिण्योर्भव भर्त्ता शरच्छतम् १।१५ (वही)।

में उसका सबसे बड़ा हाथ है। सारे रहस्यों को उसने यथावसर प्रकट किया। उसकी यह व्यावहारिक निपुणता सर्वथा प्रशंसनीय है। यह तत्कालिक स्त्रियों के प्रकारों में अपने ढंग की अनूठी है। उसके चित्रण में कालिदास को पूरी सफलता मिली है।

सत्यवती, गौतमी, सुव्रता तथा दाक्षायणी—कालिदास ने परिव्राजिका की भाँति सत्यवती, गौतमी, सुव्रता तथा दाक्षायणी आदि अन्यान्य संन्यासिनी स्त्रियों के विविध प्रकार का चित्रण किया है। ये सभी हमारी भक्ति-भावना एवं श्रद्धा के पात्र हैं। इनमें सामान्य योग्यता के साथ वैयक्तिकता बिल्कुल स्पष्ट है।

गौतमी कण्व ऋषि के आश्रम की शुभकामना करनेवाली वात्सल्यमयी वृद्धा तपस्विनी है। उसे ऋषि कण्व अपनी धर्मभगिनी मानते है तथा शकुन्तला उसे अपनी माँ के समान ही मानती है। पति-गृह के लिए विदा होते समय गौतमी ने शकुन्तला के साथ ममतामयी माँ के समान व्यवहार किया।[1] पिता कण्व के उपदेश देने पर वह कहती है—'एत्तिओ बहूजणस्स उवदेसो। जादे ! इदं खु एव्वं ओधारे हि।' वह शार्ङ्गरव एवं शारद्वत के साथ शकुन्तला को पति के घर पहुँचाने जाती है। दुष्यन्त के राजभवन में पहुँचने पर वह शकुन्तला की मंगलकामना करती है।[2] वह बिल्कुल स्पष्टवादिनी है। वह स्पष्ट शब्दों में दुष्यन्त एवं शकुन्तला दोनों को स्वेच्छाचारी कहती है।[3] अब राजा दुष्यन्त शकुन्तला पर अविश्वास कर कलंक मढ़ते हैं तब गौतमी उनसे साफ एवं सीधे शब्द में कहती है—"महाभाअ ! ण अहहसि एव्वं भन्तिदुं। तवोवणसंवड्ढिदो अणभिण्णो अअं जणो कइदवस्स।" दुष्यन्त के द्वारा अस्वीकृत होने पर रोती हुई अपने पीछे-पीछे आती हुई शकुन्तला को देखकर वह शार्ङ्गरव से उसकी विवशता के बारे मे कहती है।[4] इस प्रकार वात्सल्यभावपूर्ण शान्त स्वभाव की तपस्विनी के रूप मे नाटककार ने गौतमी का चित्रण किया है।

---

१ गौतमी—जादे ! ण्णादिजणसिणिद्धाहिं अणुण्णादगमणासि तपोवणदेवदाहिं। पणम भअवदीणं। (अभि० शा०, अंक ४, पृ० २२९)।

२ गौतमी—जादे ! पडिहदं अमंगलं। सुहादं दे भत्तुकुलदेवदाओ वितरन्दु। (वही, अंक ५, पृ० २८२)।

३ गौतमी—अज्ज किंपि वत्तुकामम्हि। ण मे वअणावसरो अत्थि। कहंति—णावेक्खिओ गुरुअणां इभाए .... ५।१६॥ (वही, पृ० २९१)।

४ गौतमी—(स्थित्वा) वच्छ संगरव ! अणुगच्छदि इअं क्खु णो करुणपरिदेविणी सउन्दला। पच्चादेसपरूपे भत्तुणि किं वा मे पुत्तिआ करेदु। (वही, पृ० ३१९)।

दाक्षायणी तथा सत्यवती दोनो ऋषि-पत्नी हैं। दाक्षायणी देवों की माँ होने के कारण विश्ववन्द्या है। अतः सत्यवती के साथ उसकी कोई तुलना संभव नहीं है। सत्यवती च्यवन ऋषि की पत्नी हैं। उसने कुमार आयु का पालन-पोषण किया है। बड़ा होने पर वह आयु को अपने माता-पिता के पास पहुँचा देती है।[1] जाते समय वह सबको आशीर्वाद देती है।

चित्रलेखा एवं सानुमती :

कालिदास ने अपने रूपकों में चित्रलेखा एवं सानुमती के रूप में अद्वितीय युग्म नारी-पात्रों का चित्रण किया है। दोनों स्वर्गलोक की स्त्री हैं। अपनी सखियों के प्रेम के वशीभूत होकर वे दोनों भौतिक जगत् में आयी हैं। यहाँ आने पर दोनों के आचरण आदि में अन्तर हो जाता है। सानुमती शकुन्तला की माता मेनका की सखी है। अप्सरा होने पर भी उसके भाव एवं व्यवहार बिलकुल मानवीय हैं। अभिज्ञानशाकुन्तलम् के पष्ठ अंक में उसका प्रवेश होता है। प्रिया-वियोग में राजा दुष्यन्त की दयनीय अवस्था को जानने के लिए वह अपनी दैवी शक्ति का प्रयोग नहीं करती है। वह सब कुछ मानव-सुलभ स्वाभाविक ढंग से सम्पन्न करती है। वह स्वयं राजा दुष्यन्त के राजभवन में शकुन्तला के प्रत्याख्यान के बाद उसकी स्थिति की जानकारी के लिए पहुँच जाती है। वह शकुन्तला को माता के समान प्यार करती है।[2] अतः वह उसके वियोग के कारण राजा दुष्यन्त की वेदना से आनन्द का अनुभव करती है। जब कंचुकी अँगूठी देखने के बाद शकुन्तला की मनोदशा[3] का वर्णन करता है तब प्रच्छन्न सानुमती सुनकर कहती है—"पिअं मे।" परित्याग के कारण व्यथित शकुन्तला की उस दशा का स्मरण कर राजा दुष्यन्त अत्यधिक अधीर भाव से कहता है कि वे सारी घटनाएँ विष से बुझे हुए बाण के अग्रभाग के समान मुझे संतप्त कर रही हैं। (६।९)। राजा की बेचैन स्थिति को देखकर सानुमती प्रसन्न होती है[4] तथा कहती है कि पहले तथा

---

१ तापसी—एसो गहिदविज्जो आऊ संपदं कवअहरो संवुत्तो। ता एदस्स दे भत्तुणो समक्खं णिज्जादिदो हत्थणिक्खेवो। ता विसज्जेदुं इच्छामि। उवरुज्झइ मे अस्समधम्मो। (विक्र० अंक ५, पृ० २१७)।

२ सानुमती— ....। मेणआसंबन्धेण सरीरभूदा मे सउन्दला।
कंचुकी ....। (अभि० शा० अंक ६, पृ० ३४५)।

३ रम्यं द्वेष्टि यथा पुरा प्रकृतिभिर्न ....।६।५ (वही पृ० ३५६।

४ सानुमती— अम्महे, ईदिसी स्वकज्जपरदा। इमस्स सदावेण अहं रमामि। (वही, पृ० ३७४)।

इस समय की घटनाओं में विरोध की प्रतीति करानेवाला यह विरह का मार्ग (प्रदर्शन) अपूर्व ही है। इस विरह से उसने शकुन्तला के परित्याग के दुःख को सर्वथा दूर कर दिया है।[१] अन्त में सारी स्थितियों की जानकारी प्राप्त कर वह तदनुकूल सूचना देकर अपनी सखी शकुन्तला को धैर्य बँधाने के लिए चली जाती है।

उर्वशी की सखी चित्रलेखा का व्यक्तित्व सानुमती से सर्वथा भिन्न चित्रित किया गया है। त्रोटक के प्रथम अंक में इसका अपनी सखी के साथ प्रवेश होता है। वह हर स्थिति में अपनी सखी उर्वशी को मदद करती है। पुरूरवा के साथ प्रणयसम्बन्ध स्थापित करने में वह पर्याप्त सहायता करती है। राजा पुरूरवा की मनोदशा की जानकारी के लिए वह अपनी सखी के साथ उसके राजभवन में जाती है तथा तिरस्करिणी विद्या के प्रभाव से अदृश्य रहकर सारी स्थितियों की जानकारी प्राप्त करती है।[२] तदनन्तर वह प्रकट होकर उर्वशी को अनुग्रहीत करने के लिए अनुरोध करती है।[3] जब पुरूरवा का अपनी पटरानी औशीनरी के प्रति प्रगाढ़ प्रेमपूर्ण व्यवहार को देखती है तब वह उर्वशी से कहती है कि नागरिक के दूसरी स्त्री पर आसक्त होने पर उनका व्यवहार पहली स्त्री के प्रति और मधुर हो जाता है।[४] वह राजा पुरूरवा से उर्वशी को ग्रहण करने के लिए निवेदन करती है।[५] चित्रलेखा सच्ची बुद्धिमती, सही परामर्श देनेवाली तथा सचेत सहायिका सखी है।

---

१ सानुमती —सव्वहापमज्जिदं तुए पचदेसदुक्खं सउन्दलाए। (वही, पृ० ४०३)।

२ चित्रलेखा—सहि विस्सद्धा होहि। णं भअवदा देवगुरुणा अवराइदंणाम सिहावन्धणविज्जं उवदिसन्तेण तिदसपडिवक्खस्स अलंघणिज्जाकदम्ह॥
(विक्र०, अंक २, पृ० ५७)

३ चित्रलेखा—मम सुरारिसंभवे दुज्जादे महाराओ एव्व सरणं आसि। सा अहं तुह दंसणमुत्थेण मणणेण वलिअं वाहीअमाणा भूओवि महाराएण अणुकम्पणी अत्ति।
(वही पृ० ७२)।

४ चित्रलेखा—अइ मुद्धे अण्णसंक्रान्तप्रेमाणो नाअरिआ अहिअ दक्खिणा होन्ति।
(वही, अंक ३, पृ० ११९)।

५ चित्रलेखा—वसन्ताणन्तरं उण्हसमय भअवं सुज्जो भए उवचरिदव्वो। ता जहा इअं मे पिअसही सग्गस्से ण उक्कण्ठेदि तहा वअस्सेण कादव्वम्।
(वही, पृ० १२९)।

अनसूया तथा प्रियम्वदा :

अभिज्ञानशाकुन्तलम् में शकुन्तला के बाद अनसूया एवं प्रियम्वदा हमारा ध्यान आकृष्ट करती हैं। कालिदास ने नायिका शकुन्तला की प्रिय सखियों के रूप में इन दोनों की सृष्टि कर अपनी असामान्य प्रतिभा एवं नाट्यकला-निपुणता का परिचय दिया है। वृक्षसिंचनकाल में मात्र रूपलिप्सा पर आधारित पूर्वराग को अनसूया एवं प्रियंवदा की उपस्थिति से सहिष्णु बनाया गया है। नाटक में इन्हीं दोनों सखियों के परिप्रेक्ष्य में शकुन्तला के रूपलावण्य एवं गुण वैशिष्ट्य का सम्यक् विकास हुआ है। इन तीनों के असाधारण रूपयौवन से आकृष्ट होकर राजा दुष्यन्त आनन्दविभोर एवं आश्चर्यचकित हो जाता है।[1] समवयस्क एवं समरूप होने पर भी तुलनात्मक दृष्टि से शकुन्तला अधिक रूपवती है। वह बिजली की ज्योति के समान है। आपस के व्यवहार से पता चलता है कि उम्र में सबसे बड़ी अनसूया, उसके बाद प्रियंवदा तथा सबसे छोटी शकुन्तला है। शकुन्तला एवं दुष्यन्त के प्रेम को आगे बढ़ाने में दोनों सखियाँ सहायिका हैं। प्रकारान्तर से कहा जा सकता है कि अभीष्ट उद्देश्य की सिद्धि में इन दोनों सखियों का अभिन्न व्यक्तित्व है। अनसूया एवं प्रियम्वदा के व्यक्तित्व की सृष्टि करके कालिदास ने शकुन्तला के व्यक्तित्व को प्रभावात्मक, गौरवपूर्ण, शालीनता समन्वित तथा अर्थवान् बनाया है। इन दोनों के अभाव में महाभारत की शकुन्तला की भाँति स्वयं शकुन्तला को ही सारा दायित्व निभाना पड़ता है। कालिदास ने अपने समय के सामाजिक वातावरण के अनुसार शकुन्तला के आदर्श चरित्र को स्त्री की समुचित मर्यादा से विभूषित करने के निमित्त इन दोनों सखियों की सृष्टि की है। दोनों के कार्यव्यापारों के अध्ययन से पता चलता है कि इनके चरित्र में कुछ समानताएँ तथा कुछ विषमताएँ हैं। शकुन्तला के प्रति दोनों का समान रूप से स्वार्थरहित अगाध प्रेम है। अपनी सखी की सुखसमृद्धि एवं हितचिन्ता दोनों का उद्देश्य है। दोनों शकुन्तला को अपनी प्रिय बहन कहती है। वे दोनों मधुरभाषिणी, वाक्पटु, शिष्ट एवं विनम्रस्वभाव की हैं। नाटक के प्रथम अंक में शकुन्तला के साथ दुष्यन्त को परिचय-स्थापन एवं प्रेम-प्रकाशन में दोनो सहायता देती हैं। दोनों भ्रमर से संत्रस्त शकुन्तला की रक्षार्थ दुष्यन्त को पुकारने कहती हैं—'(सस्मितम्) का वअं परित्तादुं ? दुस्संदं अवकन्द। राअरक्खिदव्वई णाम'। दुष्यन्त से परिचय पाने पर शकुन्तला श्रृंगारिक लज्जा का नाट्य करती है। उसे देखकर दोनों सखियाँ कहती हैं—'(उभयोराकारं विदित्वा, जनान्तिकम्) हला सउन्दले ! जइ

---

[1] राजा— .... (निपुणं निरूप्य) अहो मधुरमासां दर्शनम्। शुद्धान्त-दुर्लभमिदं वपुराश्रमवासिनो .... १।१७ (अभि० शा० पृ० ३८)।

एत्थ अज्ज तादो संणिहिदो भवे। इमं जीविदसव्वस्सेण वि अदिविसेसं किदत्थं करिस्सदि।' जंगली हाथियों के उपद्रव को शान्त करने के लिए जाते समय दोनों सखियाँ पुनः दर्शन देने के लिए राजा से निवेदन करती हैं। तृतीय अंक में हम देखते हैं कि कामपीड़ा से व्याकुल रहने के कारण् शकुन्तला के अस्वस्थ होने पर दोनों सखियाँ बहुत चिन्तित हो जाती है तथा उसे स्वस्थ करने के लिए हर संभव उपाय करती है।[१] शकुन्तला का दुष्यन्त से मिलन होने पर दोनों सखियां मृग-पोतक को उसकी माता से मिलने के बहाने शकुन्तला को राजा दुष्यन्त के साथ एकान्त में छोड़कर चली जाती हैं। चतुर्थ अंक में हम देखते हैं कि दुर्वासा का शाप सुनकर दोनों वेहद चिन्ताकुल होकर उनसे अनुनय-विनय कर शापनिवृत्ति का उपाय प्राप्त करती हैं।[२] आश्रम से शकुन्तला के विदा होने पर दोनों व्याकुल हो उठती हैं।[३]

उपर्युक्त कार्यव्यापारगत साम्य के बावजूद दोनों सखियों (अनसूया एवं प्रियम्वदा) के चरित्रों में अपनी वैयक्तिक विशेषताएँ स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है।[४] अनसूया गम्भीर प्रकृति की प्रौढ़ा स्त्री है। अतः वह राजा दुष्यन्त से निःसंकोच बातें करती है। वह कोमल एवं सीधी स्वभाव की नारी है। राजा

---

१ प्रियम्वदा—(विचिन्त्य) हला ! मअणलेहो से करीअदु ! तं सुमणो गोविदं करिअ देवप्पसादस्सावदेसेण से इत्थअं पावइस्सं।
अनसूया—रोअइ मे सुउमारो पओओ। किं वा सउन्दला भणादि ।।
(वही, अंक ३, पृ० १५५-५६)

२ अभि० शा०—अंक ४, पृ० १८९-१९५

३ उभे—ताद ! सउन्दलाविरहिदं सुण्णं विअ तदोवाणं अहं पविसामो।
(अभि० शा०, अंक ४, पृ० २५४)।

४ They are both lovely and loveable and playful but each has some special traits and excellences of her own. Anasuya excels in tranquility and ethical feeling. Priyamvada excels in spertive charm and quick witted sprightliness and gaiety and vivacity and attractive speech. Their very names suggest their special graces. Of the two Anssuya is more diffident where as Priyamvada is more confident.
Kalidasa : His period, personality, poetry—K. S. Ramaswami Sastri, 1933.

दुष्यन्त के शकुन्तला से यह पूछने पर कि 'अपि तपो वर्धते' अनसूया उत्तर देती है कि अब विशेष अतिथि के शुभागमन से तप बढ़ रहा है। पुनः वह शकुन्तला को फलमिश्रित अर्घ्य लाने कहती है। तदनन्तर अनसूया विदग्धतापूर्ण शब्दों में राजा का परिचय पूछती है।[1] जब राजा कहता है कि मैं निर्विघ्नता से युक्त तपोवन की धार्मिक क्रियाओं के सम्बन्ध में जानने के लिए यहाँ आया हूँ तब अनसूया कहती है—'सणहा दाणि धम्मआरिणी'। इसके बाद वह शालीनता के साथ राजा को शकुन्तला का जन्मवृत्तान्त बताती है। जब लज्जा से शकुन्तला जाना चाहती है तब अनसूया कहती है—"ण जुत्तं अकिदसवारं अदिट्ठिविसेसं विसज्जिअ सच्छन्ददो गमणं"। प्रेम के कारण शकुन्तला को अत्यधिक कृशकाय होती देखकर काम-सम्बन्धी बातों से अपनी अनभिज्ञता प्रकट करती हुई ऐतिहासिक ग्रंथों के अध्ययन के आधार पर उसे कामपीड़ित बताती है।[2]

वह विशेष तार्किक एवं सावधान है। उसे शंका होती है कि राजा लोग बहुपत्नीक होते हैं।[3] जब राजा शकुन्तला के प्रति अपना हार्दिक विचार व्यक्त करता है तब वह विश्वस्त हो जाती है। पुनः गान्धर्व विवाह सम्पन्न हो जाने के बाद अनसूया प्रियंवदा से कहती है कि राजा अपने अन्तःपुर की स्त्रियों से मिलने पर यहाँ के सारे वृत्तान्त को स्मरण रखेगा या नहीं? इससे उसकी दूरदृष्टि परिलक्षित होती है। दुर्वासा के शाप देने पर वह स्वयं उनके लिए अर्घ्य आदि लाने जाती है और चतुर प्रियम्वदा को उन्हें शान्त करने के लिए भेज देती है। वह हमेशा अपनी सखी शकुन्तला की मंगलकामना में लीन नजर आती है। अपनी सखियों के उत्कर्ष को देखकर उसके मन में कदापि असूया नहीं उत्पन्न होती है। अतः कालिदास ने उसका नाम अनसूया रखा है।

प्रियम्वदा में अधिक विनोदप्रियता एवं चंचलता है। अपने नामानुरूप वह मधुर भाषिणी तथा हास्यप्रिय है। शकुन्तला उसे कहती है—'अदो ज्जेव तुमं पिअम्वदत्ति भणीअसि'। जब शकुन्तला कहती है कि तुमने मेरी चोली (वल्कलवस्त्र) बहुत

---

१ अनसूया ....। अज्जस्य महुरालावजणिदो वीसम्भो .... पदमुपनीतः? (अभि० शा० अंक १, पृ० ६२)।

२ अनसूया—हला सउन्दले। अणवमन्तरा .... पडिआरस्स। (वही अंक ३, पृ० १४४)।

३ अनसूया—(वअस्स) बहुवल्लहा राआणो सुणीअन्ति। जह णो पिअसही बन्धु-असोअणिज्जा ण होइ तह णिव्वाहेहि। (अभि० शा० अंक ३, पृ० १६७)।

कसकर बाँध दी है तब प्रियम्वदा परिहास के साथ उसे कहती है कि इस विषय में तुम अपने स्तनों के विस्तार के कारणभूत (अपनी) युवावस्था को उलाहना दो।[1] वनज्योत्स्ना तथा आम्रवृक्ष को अनुरागभरी दृष्टि से जब शकुन्तला निहार रही थी तब प्रियम्वदा हास्य में अनसूया से कहती है कि वह (शकुन्तला) भी लता की भाँति ही किसी प्रेमी को खोज रही है।[2] शकुन्तला के जन्म के सम्बन्ध में पूरी जानकारी प्राप्त होने पर जब राजा दुष्यन्त द्विविधा में पड़ जाता है तब प्रियम्वदा ही उसकी विवाहविषयक बातों की जानकारी देती है।[3] इसपर शकुन्तला जब रूठ कर गौतमी से शिकायत करने के लिए जाना चाहती है तब प्रियम्वदा रोक लेती है और कहती है कि वृक्षसेचन रूप ऋण को चुका कर तुम्हें जाना होगा।[4] जब राजा इसके लिए उपहारस्वरूप अपनी अँगूठी देता है तब प्रियम्वदा कोमल शब्दों में उससे कहती है—"तेण हि णारिहदि एवं अंगुलीअअं अंगुलीविओअं अज्जस्स वअणेण अणिरिणा दाणिं एसा। हला सउन्दले! मोइदा सि अणुअम्पिणा अज्जेण, अहवा महाराएण। गच्छ दाणिं।"

शकुन्तला के कामसंताप के कारण को समझकर प्रियम्वदा उससे कहती है कि भाग्य से तुम्हारा आग्रह तुम्हारे योग्य व्यक्ति (दुष्यन्त) के प्रति ही है[5]। वह बताती है कि शकुन्तला को देखकर राजा कामपीड़ित हैं[6]। अतः उसे उसने शकुन्तला को उसके लिए मदनलेख लिखने का निर्देश किया।[7] पुनः उसने राजा

---

१ प्रियम्वदा—(सहासम्) एत्थ पयोहर वित्था..... .... किं उवालहसि।
(वही अंक १, पृ० ४३)।

२ प्रियम्वदा—जह वनजोसिणी अणुरूवेण .... वरं लहेअत्ति।
(वही, अंक १, पृ० ५०)।

३ प्रियम्वदा—अज्ज धम्मचरणे वि परवसो अयं जणो। गुरुणो उण से अणुरूव-वरप्पदाणे संकप्पो।
(वही, अंक १, पृ० ७१)।

४ प्रियम्वदा—रुक्खसेअणं दुवे धारेसि मे। एहि दाव। अत्ताणं मोचिअ तदो गमिस्ससि। (इति बलादेनां निवर्तयति)
(वही, पृ० ७४)।

५ प्रियम्वदा—(प्रकाशम्) सहि दिट्ठिआ अणुरूवो...सहेदि। (वही, अंक ३ पृ० १५१)

६ प्रियम्वदा—णं सो राएसी....लक्खीअदि। (वही पृ० १५३)।

७ प्रियम्वदा—(विचिन्त्य) हला! मअणलेहो से करीअदु। तं सुमनोगोविदं करिअ देवप्पसादस्सावदेसेण से हत्थअं पावइस्सं (वही, पृ० १५५)।

दुष्यन्त से कहा कि आप दोनों का परस्पर प्रेम प्रत्यक्ष ही है। अतः मेरी सखी के कष्ट को राजा होने के नाते दूर करना आपका धर्म है[1]। अपने अनुग्रह द्वारा उसके जीवन की रक्षा करें। इसके इन कथनों से पता चलता है कि प्रियम्वदा संभाषणपटु एवं चतुर है। गान्धर्व विवाह-सम्पन्न होने के बाद निर्धारित तिथि तक शकुन्तला को नहीं ले जाने पर जब अनसूया राजा के विस्मरण के लिए उसे दोषी ठहराती है तब प्रियम्वदा कहती है—'वीसद्धा हो हि। ण तादिसा आकिदिविसेसा गुणविरोहिणो होन्ति। तादो दाणिं इमं वुत्तान्तं सुणिअ ण आणे किं पडिवज्जिस्सदित्ति।' प्रियम्वदा को महर्षि पिता कण्व द्वारा इसके वैवाहिक सम्बन्ध की स्वीकृति की चिन्ता है। जब दुर्वासा शकुन्तला को शाप देते हैं तब प्रियम्वदा बिना हिचकिचाहट के ही तुरत जाती है और अनुनय-विनय कर उन्हें भी अनुकूल बना लेती है। इस तरह हम देखते हैं कि प्रियम्वदा का दृष्टिकोण अत्यन्त संतुलित है। यह कालिदास की अनूठी सृष्टि है। वस्तुतः प्रियम्वदा के अभाव में शकुन्तला का प्रणय-व्यापार अवरुद्ध हो जाता है। उसकी भावुकता एवं व्यवहारकुशलता सर्वत्र दिखाई पड़ती है। इसके कार्यकलाप से नाटकीय गुणों में भी पर्याप्त अभिवृद्धि हुई है। दोनों सखियों की चारित्रिक विशेषताओं को व्यक्त कर कालिदास ने इन्हें स्वतंत्र अस्तित्व प्रदान किया है।

इनके अतिरिक्त कालिदास ने अपने रूपकों में अधम पात्रों का भी चित्रण किया है। मालविकाग्निमित्रम् में बकुलावलिका, निपुणिका, समाहितिका, मधुकरिका, ज्योत्स्निका तथा कौमुदिका और विक्रमोर्वशीयम् में निपुणिका जैसे कुछ परिचारिका श्रेणी के नारी-पात्रों का कालिदास ने सफल चित्रण किया है। अपनी-अपनी चारित्रिक विशेषताओं के कारण वे सभी एक दूसरे से भिन्न हैं। नाटकीय घटनाओं में इनका महत्त्वपूर्ण योग है। इसी दृष्टि से नाटककार ने इन्हें अवतरित किया है। उदाहरणस्वरूप हम नाटक के आधार पर बकुलावलिका का चरित्रचित्रण प्रस्तुत कर सकते हैं। यह रानी धारिणी की दासी के रूप में दृष्टिगत होती है। वह मालविका की सहायिका सखी के रूप में आचरण करती नजर आती है। मालविका के गुणों से वह आकृष्ट हो गई है। वह अपने प्रगाढ़ सम्बन्ध के कारण उसे अपना दूसरा शरीर मानती है[2]। वह दौत्यकर्म में निपुण है[3]। वह मालविका

---

१ प्रियम्वदा—आवण्णस्स विसअणिवासिणो जणस्स अत्तिहरेण रण्णा होदव्वंत्ति एसो वो धम्मो। (वही, अंक ३, पृ० १६४)।

२ बकुलावलिका—अइसरीरं सि मे। (मालवि० अं० ३, पृ० १८८)

३ ....(स्वगतम्) हन्त सिद्धं मे दौत्यम् (वही पृ० २००)।

से कहती है कि प्रेम से प्रेम को परखना चाहिए[1]। रानी के भय से मालविका अपना हार्दिक विचार प्रकट करना नही चाहती है, किन्तु बकुलावलिका ने अति-चतुराई से उसके आन्तरिक प्रेम के भाव को प्रकट करवा दिया[2]। उसके सफल दौत्यकर्म से प्रसन्न होकर राजा अग्निमित्र ने कहा—'स्थाने प्राणाः कामिनां दूत्यधीनाः'। रानी इरावती की दृष्टि में भी यह दूतिकाकर्म में सफल सिद्ध हुई है[3]। यह वातचीत में भी बहुत कुशल है।[4]

यह बहुत निर्भीक स्वभाव की स्त्री है। रानी धारिणी द्वारा मालविका के साथ कारावास का दंड भोगने के वाद भी राजा अग्निमित्र के साथ मालविका को मिलाने में पर्याप्त सहायता करती है। समुद्रगृह में जब इरावती ने मालविका के साथ राजा को देख लिया तब भी वह नही डरती है। उस प्रकम्पावस्था में भी वह मालविका को आश्वासन देती है[5]।

मालविका के साथ उसकी वार्ता से उसकी बुद्धिमत्ता तथा सूक्ष्म ग्रहण-क्षमता का पता चलता है। रानी के भय से मालविका अपना हार्दिक प्रेम उस पर नही प्रकट करती है। इस पर वकुलावलिका उससे कहती है कि भौंरे के तंग करने के डर से क्या वसन्त की सर्वस्व बनी आम्रमंजरी को कानों में न पहने? यह सुनकर मालविका उसे कहती है कि संकट उत्पन्न होने पर तुम सर्वथा मेरी सहायिका बनना।[6] वकुलावलिका अतिकुशलता के साथ इसका जवाब देती है।[7] इस तरह हम देखते है कि वकुलावलिका का छोटा-सा वाक्य भी सारगर्भित होता

---

१ वकुलावलिका—अणुराओ अणुराएण परिविक्खदव्वोत्ति मुअणवअणं पमाणी-करेहि। (वही पृ० २०६)

२ वकुलावलिका—एसो उवारूढराओ उवमोअक्खमो पुरदोदे दीसद्। मालविका—(सहर्ष) किं भट्टा)? (वही पृ० २०६)।

३ इरावती—वउलावलिए दिट्ठआ दोच्चहि आरविसआ संपुण्णा दे पडिण्णा। (वही, अंक ४, पृ० ३०८)।

४ वकुलावलिका—पसीददु भट्टिणी। किं णु खु दद्दुरा वाहरन्दित्तिवव्वापुढवि विसुमरेदि। किं भए किंदति देव्वो पुच्छिदव्वो। (वही, अंक ४, पृ० ३०८)।

५ वकुलावलिका—समस्ससदु पिअसही। सच्चपडिण्णा देवी। (वही, अंक ४, पृ० ३१९)।

६ मालविका—तुमं दाव दुज्जादे मह अच्चन्दसहाइणी होदि। (वही, अंक ३)

७ वकुलावलिका—विमद्दसुरही वउलावलिअ खु अहं। (वही अंक ३, पृ० २०९)।

है। इसका नाटकीय व्यापार हमारे मानस पर अमिट प्रभाव छोड़ता है। इरावती तथा औशीनरी दोनों की दासी का नाम निपुणिका ही है। दोनों समान स्वभाव एवं गुण वाली हैं। दोनों लोगों के सामान्य जीवन में कष्ट उत्पन्न करने वाली हैं। उसीसे उसे आनन्द मिलता है। इसी तरह समाहितिका, मधुकरिका, कौमुदिका तथा ज्योत्स्निका आदि विभिन्न प्रकार के संसार में उपलब्ध नारी-पात्रों को प्रस्तुत किया गया है। उपर्युक्त पात्रों के चरित्रों एवं उनके नाटकीय व्यापारों के आधार पर निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि कालिदास चरित्र-चित्रण की दृष्टि से एक सफल नाटककार हैं।

(इ) कालिदास के रूपकों के विदूषक की नाटकीय उपयोगिता :

संस्कृत रूपकों में नायक के सहयोगियों में विदूषक का महत्त्वपूर्ण स्थान है। नाट्य में हास्य रस की सृष्टि में इसका सबसे बड़ा हाथ रहता है। दुःखमय एवं चिन्ताजनक स्थिति में हास्य की परम आवश्यकता होती है। इस रस की उपयोगिता को ध्यान में रखकर भास, कालिदास आदि श्रेष्ठ नाटककारों ने अपनी नाट्यकृतियों में इसे स्थान दिया है।

नाट्यशास्त्रियों ने नाट्य में विदूषक के प्रयोग का विधान मुख्यतः हास्य के निमित्त ही बताया है।[1] विदूषक के स्वरूप एवं कार्यों के सम्बन्ध में विभिन्न आचार्यों ने विभिन्न रूप से प्रतिपादन किया है। भरतमुनि के विचार से यह जाति का ब्राह्मण होता है। यह छोटे कद का बड़े दाँतों वाला होता है। इसकी आँखें पिंगल वर्ण की होती हैं। यह खल्वाट, कुबड़ा तथा विकृतरूप वाला होता है।[2] संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि इसका स्वरूप हास्योत्पादक होना चाहिए। भरत के परवर्ती नाट्याचार्यों ने विदूषक के रूप पर कुछ भी प्रकाश नहीं डाला है। सिर्फ शारदातनय ने कुछ परिवर्तन के साथ उनके ही शब्दों की पुनरावृत्ति की है।[3] ब्राह्मण होने के कारण यह यज्ञोपवीत धारण किये रहता है। वह अपने हाथ में छड़ी रखता है जिसे दण्डकाष्ठ या कुटिलक कहा जाता है। वह स्वभाव से पेटू, मधुर भोजनप्रिय तथा भीरु होता है।

---

१ "हास्यकृच्च विदूषकः"—(दशरूपक—२।९, पृ० ९०)
—विदूषको हास्यनिमित्तं भवति—(नाट्यदर्पण, पृ० १७७)।

२ वामनो दन्तुरः कुब्जो द्विजिह्वो विकृताननः।
खलतिः पिङ्गलाक्षश्च स विज्ञेयो विदूषकः॥ (नाट्यशास्त्र ३५।७७)

३ खलतिः पिङ्गलाक्षश्च हास्यानूकः विभूषितः। (भावप्रकाशन, अधिकार १,
पृ० २८९)।

विदूषक का प्रमुख कार्य हास्य उत्पन्न करना है। नाट्यदर्पणकार के विचार से यह कुबड़े होने के कारण, कुबड़ेपन एवं विकृताननत्वादि आंगिक विकारों के द्वारा, आकाश-विलोकन तथा गमन आदि नेपथ्य विकारों द्वारा और असंबद्ध एवं अश्लील भा ण आदि वाचिक विकारों के द्वारा हास्यरस उत्पन्न करता है।[1] इसी तरह अंग्रेजी नाटकों का विदूषक भी अपनी वेश-भूषा, चाल-ढाल, व्यंग्य एवं उपहासात्मक अनुकरण से हास्य उत्पन्न करता है। वह मदिरा-प्रिय गायक तथा दुःखद वातावरण को आनन्द में बदल डालने वाला होता है।

नाट्यदर्पणकार ने लिखा है कि विदूषक शान्ति को कलह द्वारा तथा कलह को शान्ति द्वारा नष्ट करता है। अपने विनोदपूर्ण व्यवहार से यह राजा को वियोगावस्था में प्रसन्न रखता है।[2] आचार्य विश्वनाथ का कथन है कि विदूषक प्रेम-व्यापार में राजा का अभिन्न मित्र होता है। इसमें अपनी क्रिया, अपने शरीर, अपनी वेशभूषा तथा अपनी बोल-चाल आदि के द्वारा अन्य लोगों को हँसाने की क्षमता होती है। यह कलहप्रिय तथा विदूषण कर्म में कुशल होता है।[3] अधिक निकट सम्बन्ध होने के कारण वह नायक एवं नायिका सभी के साथ परिहासपूर्ण बातें करता है।

विदूषक के नामकरण के सम्बन्ध में शारदातनय का कहना है कि इसका नाम वात्स्यायन, शाकल्य, मौद्गल्य, वसन्तक तथा गालव आदि होना चाहिए।[4] विश्वनाथ ने इसके लिए कुसुम और वसन्तक नामों का उल्लेख किया है।[5]

भरतमुनि ने धीरोदात्तादि नायक के चार प्रकारों के आधार पर विदूषक को भी चार वर्गों में विभक्त किया है (१) लिङ्गी, (२) द्विज, (३) राजजीवी तथा

---

१ हास्यं चास्याङ्ग-नैपथ्यवचोविकारात् त्रिधा। तत्राङ्गहास्यं खलतिखञ्जदन्तुर-विकृताननत्वादिना। नेपथ्यहास्यमत्यायताम्बररवोल्लोकितविलोकितगमना-दिना। वचोहास्यमसम्बद्धानर्थकाश्लीलभाषणादिना भवति।
(नाट्यदर्पण, पृ० १७७)

२ नाट्यदर्पण—पृ० १७८।

३ .... कर्मवपुर्वेषभाषाद्यैः।
हास्यकरः कलहरतिर्विदूषकः स्यात् स्वकर्मज्ञः ॥३।४२ (सा० द०)

४ वात्स्यायनश्च शाकल्यो मौद्गल्यश्च वसन्तकः।
गालवश्चेत्येवमादि .... (भावप्रकाशन)

५ कुसुमवसन्ताद्यभिधः। (सा० द०, परि० ३, पृ० १४७)

(४) शिष्य। ये क्रमशः दिव्य, नृप, अमात्य एवं ब्राह्मण नायक के विदूषक होते हैं।[१]

यद्यपि विदूषक ब्राह्मण जाति का होता है, किन्तु वह प्राकृत भाषा का ही प्रयोग करता है। भरत के कथनानुसार—इसे प्राच्य प्राकृत का प्रयोग करना चाहिए।[२] सागरनन्दिन ने भी लिखा है कि—विदूषक की भाषा प्राकृत होनी चाहिए।[3]

इस प्रकार विभिन्न नाट्याचार्यों की विदूषक-विषयक परिकल्पना का सम्यक् विवेचन प्रस्तुत करने के बाद कालिदास की तीनों नाट्यकृतियों में उसकी नाटकीय उपयोगिता विवेचनीय है।

महाकवि कालिदास ने अपने तीनों रूपकों में नायक के सहायक के रूप में विदूषक का प्रयोग किया है। उनके रूपकों में उसकी निजी विशेषता है। गौतम, माणवक तथा माधव्य क्रमशः मालविकाग्निमित्रम्, विक्रमोर्वशीयम् एवं अभिज्ञान-शाकुन्तलम् के विदूषकों के नाम हैं। वे सभी प्राकृत भाषा मे वार्त्तालाप करते हैं। वे जाति के ब्राह्मण[४] होते हुए भी प्रायः अपढ़ एवं मूर्ख, नायक के नर्मसचिव तथा उनका विनोद करने में निपुण हैं। कालिदास के रूपकों में विदूषक हमेशा नायक के सुख-दुख में साथ है। यह भी अन्य पात्रों की तरह सर्वथा स्वतंत्र पात्र है। यद्यपि उनके तीनों रूपकों के विदूषकों का स्वभाव एक जैसा मालूम पड़ता है फिर भी उनके कार्यों में काफी अन्तर है। विक्रमोर्वशीयम् तथा अभिज्ञान-शाकुन्तलम् के विदूषकों की तुलना में मालविकाग्निमित्रम् का विदूषक अत्यधिक विशिष्टता युक्त है। वह राजा अग्निमित्र का कार्यान्तरसचिव है। वह नाटक के अन्यान्य प्रमुख पात्रों से अधिक प्रभावशाली है, क्योंकि उसी के संचालन में

---

१ ऐतेषां तु पुनर्ज्ञेयाश्चत्वारस्तु विदूषकाः।
लिंगी द्विजो राजजीवी शिष्यश्चेति यथाक्रमम् ॥
देवक्षितिभृतामात्यब्राह्मणानां प्रयोजयेत् ॥ (ना० शा०, अध्याय ३४। १९-२०)

२ प्राच्या विदूषकादीनाम्—.... ....। (ना० शा०, अध्याय १८, ३८)

३ शौरसेनीमथप्राच्यामवन्ती कर्हिचित् पठेत्।
एता एव वणिक् श्रेष्ठि बालकाश्च विदूषकाः ॥ (नाटकलक्षणरत्नकोश)

४ गणदास—महाब्राह्मण, न खलु प्रथम नेपथ्यसंगीतकमिदम्।
(मालवि० अंक २, पृ० १२१)।

सम्पूर्ण नाटकीय कथावस्तु का विकास होता है। अन्य दोनों रूपकों में विदूषक का महत्त्व उतना नहीं है। यहाँ तीनों रूपकों के विदूषकों के व्यवहारों के आधार पर उनकी चारित्रिक विशेषता पर क्रमशः प्रकाश डाला जाता है।

मालविकाग्निमित्रम् का विदूषक (गौतम) संस्कृत साहित्य में अद्वितीय है। इस नाटक में विदूषक हास्योत्पादक के रूप में उतना नहीं जितना राजा अग्निमित्र के कार्यान्तर सहायक सचिव के रूप में प्रकट हुआ है। वस्तुतः यदि इसे नाटक से निकाल दिया जाय तो नाटकीय वस्तु का विकास ही अवरुद्ध हो जायगा। इसी की सहायता एवं युक्तियों से नाटक का कथानक उत्तरोत्तर विकसित होता है। नाटक के प्रथम अंक में वह राजा के सेवक के रूप में मंच पर उपस्थित होता है।[1] वह मालविका से साथ राजा के प्रणय सम्बन्ध की स्थापना में सहायता करना शुरू कर देता है। एतदर्थ वह नाट्याचार्यों के झगड़े की निर्णायिका परिव्राजिका को अपने पक्ष में मिला लेता है। फलतः मालविका नृत्य-प्रदर्शन के लिए रंगमंच पर उपस्थित होती है। नृत्य की समाप्ति के बाद बड़ी कुशलता के साथ राजा के द्वारा मालविका के सौन्दर्य-पान करने के लिए उसे रोक लेता है।[2] बकुलावलिका को मिलाकर वह समुद्रगृह में मालविका के साथ राजा का एकान्तमिलन कराने में सफल होता है। एतदर्थ वह बड़ी चतुराई से बकुलावलिका को वहाँ से दूर हटा देता है।[3] इस सहायता से मालविका की प्राप्ति में आशावान् होकर राजा अग्निमित्र उसके प्रति अपना आभार व्यक्त करता है।[4] उसके बुद्धिकौशल पर भरपूर विश्वास होने के कारण राजा उसके परामर्श के अनुसार किसी भी कार्य को आरम्भ करता है—'प्रतिगृहीतं वचः सिद्धि-दर्शिनो, ब्राह्मणस्य'।

---

१ (प्रविश्य) विदूषकः—आणत्तोसि, तत्तहोदा रण्णा, गौदम, चिन्तेहि दाव उवाअ जह मे अइच्छ दिट्ठपडिकिदी मालविका पंचक्खदसणा होदित्ति। भए वि तं तह किदं। जाव से णिवेदेमि। (इतिपरिक्रामति)—
(मालवि० अंक १, पृ० ३९)।

२ विदूषकः—भोदि चिट्ठ। किं वि दो विसुमरिदो अम्मभेदो।
(वही, अंक २, पृ ९ १०८)।

३ विदूषकः—(परिक्रम्य ससंभ्रमम्) बउलावलिए एसो वालासोअरुक्खस्स पल्लवाइं हरिणो लंघिदुं आअच्छदि। एहि णिवारेम णं। (वही, अंक पृ० २८९)।

४ राजा—साधु वयस्य, निपुणमुपक्रान्तम्। इदानीं दुरधिगमसिद्धावप्यस्मिन्नारम्भे वयमाशंसामहे। कुतः—अय सप्रतिवन्धं प्रभुरधिगन्तुं—११९ (वही, पृ० ४२)।

अन्य नाटकों की तरह इस नाटक में भी विदूषक की पेटू-प्रवृत्ति का परिचय मिलता है[1]। उसके भीरुपन का उल्लेख मिलता है। सर्पभीरुता उसकी हास्यप्रधान प्रवृत्ति का एक रूप है[2]। दिन में सोते हुए बुड़बुड़ाने के परिणामस्वरूप उसकी योजना का रहस्य रानी इरावती को मालूम हो जाता है[3]। मालविकाग्निमित्रम् का विदूषक मन्दबुद्धि नहीं है, क्योंकि उसी की सूझ-बूझ से राजा को मालविका से मिलने में सफलता मिलती है। यों विदूषक अपने को मन्दमति समझता है[4]।

रानी धारिणी विदूषक को 'कलहप्रिय' कहती है[5]। रानी इरावती विदूषक को अमानवीय समझती है। वह उसे ब्रह्मबन्धु कहकर पुकारती है—'कहं बम्हबन्धु अण्णहा जीविस्सदि'। इरावती की दृष्टि में वह राजा अग्निमित्र का कामतंत्रसचिव है। विदूषक यह अच्छी तरह जानता है कि रानी इरावती उसे अच्छा नहीं समझती है। अतः उसने रानी धारिणी के सामने कहा—'(देवीं विलोक्य)—भोदि जीवेअं वा णवा। जं भए अत्त भवन्दं सेवन्तेण दे अवरुद्धं तं मरिसेहि'। दोनों रानियों के अतिरिक्त अन्य सभी लोग उसे सम्मान की दृष्टि से देखते हैं। वे लोग

---

१ विदूषकः—अविहा अविहा। ब्रह्मणस्य भोअणवेला संवृत्ता। उइदवेलादिक्कमे चिकिस्सआ दोसं उदाहरन्दि। हरदत्त किं दाणिं भणसि। (वही, अंक २, पृ० १३१)।

—विदूषक—भोदी विसेसेण भोअण तुवरोवेहि (वही, पृ० १३३)

—विदूषक—भवदा वि अहं। दिढं खु विपणिकन्दु विअ उअरब्भन्दरं दज्झइ। (वही०, पृ० १३५)।

—विदूषक—ही ही—इअं खु सीहुपाणव्वेजिअस्स मच्छण्डआ उवाणदा। (वही, अंक ३, पृ० १७१)।

२ निपुणिका—सुदं एवं अच्चाहिदम्। इमं भुअंगभीरुअं वम्हवन्धुं इमिणा भुअंग कुडिलेण दण्डकट्ठेण थम्भन्दरिदा भविअ भीसअम्हि। (मालवि० अंक ४; पृ० ३०४)।

विदूषकः—(सपृहासम्) कह दण्डकठ्ठं एदं। अहं उण जाणे जं मए केदईकण्टएहि दंसं करिअ सप्पस्स विअ दंसो किदो तं फलिवंति। (वही पृ० ३०६)

३ विदूषकः—(उत्स्वप्नायते)—होदि मालविए। (वही पृ० ३०३)।

—विदूषकः—इस्स इरावदि अदिक्कामन्दो होहि। (वही, पृ० ३०४)

४ विदूषकः—भअवदि पण्डिदपरितोसप्पच्चआ णं मूढा जादी।

५ देवा—णं कलहप्पिआसि। (वही, अंक १, पृ० ६५)।

उसे आर्यगौतम कहते हैं। गणदास उसके बुद्धिकौशल की प्रशंसा करते हैं 'देवप्रत्यया-त्संभाव्यते सूक्ष्मदर्शिता गौतमस्य'।

वस्तुतः यह राजा अग्निमित्र का सच्चा मित्र है। वह उन्हें सत्परामर्श देता है।[१] सुखों का परित्याग कर उसका हित करता है। सर्पदंश के बहाने वह रानी धारिणी से सर्पमुद्रांकित अंगूठी पाकर अति चतुराई से कारागृहरक्षिका को दिखाकर बंदीगृह से मालविका को मुक्त कराता है। वह विद्वान् भी है। उसे ज्योतिष[२] के साथ नृत्यकला[३] का भी ज्ञान है। उसकी उक्ति विचित्रतापूर्ण एवं आकर्षक होती है[४]। मालविका के साथ मनुहार करते हुए राजा अग्निमित्र को जब इरावती देख लेती है तब विदूषक उसे परिहास के साथ कहता है—"(जनान्तिकम्) पडिओजेहि किं वि दाणिं। किं अण्ण कम्पगहीदेण कुम्भीलएण सन्धिच्छेअणं सिक्खिदोम्हित्ति वत्तव्वं होइ"। इस प्रकार हम देखते हैं कि मालविकाग्निमित्रम् में विदूषक ही सभी घटनाओं का प्रमुख संचालक है। अतः इसकी नाटकीय उपयोगिता अतुलनीय है।

विक्रमोर्वशीयम् में विदूषक का उपयोग सिर्फ विनोदोत्पादन के लिए किया गया है। त्रोटक के द्वितीय अंक में इसका प्रवेश होता है। वह सीधा-सादा एवं सरल स्वभाव का है। दासी निपुणिका वार्ताकौशल द्वारा उससे यह रहस्य खोलवा लेती है कि राजा के मन में उर्वशी बसी है, इसीलिए वह रानी औशीनरी की

---

१ विदूषकः—णारिहदि भवं सव्वं अन्देउरपडिट्ठिदं दक्खिणं एक्कपदे णिट्ठदो कादुं। (वही, अंक ३, पृ० १६१)।

२ विदूषकः———। जाव अंगारओ रासिं विअ सा अणुवक्क ण करेइ।

३ विदूषकः—भो ण केवलं रूवे सिप्पे वि अदुदुदीआ मालविका। (वही, पृ० १३३)

४ विदूषकः—(अपवार्य)—उवट्ठिदं ण अणहु। सण्णिहिदमक्खिअं अ ता अप्पमत्तो दाणिं पेहि (वही पृ० ९७)।

—विदूषकः—(दृष्ट्वा) ही ही इ अ खु सीहुपाणव्वेजिअस्समच्छण्डिआ उवणदा। (वही, पृ० ७१)

—विदूषकः—एसा वि भवं विअ मअणव्वाहिणा-पराभिट्ठा भविस्सदि। (वही, पृ० १७६)।

उपेक्षा कर रहा है[1]। उसके पेटूपन का उल्लेख इसमें किया गया है[2]। वह कुरूप है[3]। राजा पुरूरवा उसे उर्वशी की प्राप्ति के लिए कोई उपाय करने कहता है—'तदुपायश्चिन्त्यतां यथा सफलप्रार्थनो भवेयम् ।' उनके कथनानुसार प्रेयसी उर्वशी के समागम का उपाय सोचकर वह कहता है—'सिविणसमाअमआरिण णिद्दं सेवदु भवं। अहवा तत्तमोदीए उव्वसीए पडिकिदि अलिहिअओलोअन्तो चिट्ठ'। यह असावधान एवं मूर्ख है। फलतः उर्वशी द्वारा लिखित प्रणय-पत्र रानी औशीनरी के हाथ में चला जाता है। उस भुर्जपत्र के लिए व्याकुल राजा को देखकर महारानी औशीनरी कहती है—'अज्जउत्त अलं आवेएण। एदं तं भुज्जवत्तं'। इस परिस्थिति में राजा के पूछने पर विदूषक परिहास के साथ कहता है—'लोतेण गहिदस्स कुम्भिलअस्स अत्थि वा पडिवअणं'। जब राजा अपनी बात छिपाता है तब विदूषक रानी से कहता है 'भोदि तुवरेहि से भोअणं जं पित्तोवसमणसमत्थं होदि'। वह राजा से मजाक भी करता है। उर्वशी के बारे में एकान्त में की गई चर्चा से शान्ति मिलने की बात सुनकर वह राजा पुरूरवा से कहता है—'आम। हं वि जदा सिहरिणीं रसालं अण लहे तदा णं पत्थयन्तो संकितअन्तो आसासेमि'। जब रानी औशीनरी प्रियानुप्रसाद-व्रत सम्पन्न कर चली जाती है तब विदूषक राजा से कहता है—'भण वीसद्धं जं सि वक्तुकामो। असज्झोत्ति वेज्जेण आदुरो विअसेरं मुत्तो भवं तत्तहोदीए।' इस त्रोटक में सर्वत्र विदूषक की विनोदप्रियता परिलक्षित होती है।

---

१ विदूषकः—(स्वगतम्) कहं सअं एव्व तत्तभवदा रहस्सभेदो किपो किं दाणि अहं जीहाजन्तणेण दुक्ख अणुहवामि। किं आमन्तिदा तत्तहोदी उव्वसित्तिताए अच्छराए दंसणेण उम्मादिदो तत्तभवं ण केवलं तत्तभोदिं मंपि विणोदविमुहो दिढं पीडेदि। (विक्र० अंक २, पृ० ३८)।

२ विदूषकः—तहि पंचविहस्स अब्भवहारस्स उवजदसंभारस्स जीअणं पेक्खमाणंहि सक्कं उक्कण्ठा विणोदेदुं। (वही, पृ० ४३)।

विदूषकः—दिट्ठिआ भए विअ बुभुक्खिदेण सोत्थिवाअणअं उवलद्धं भवदा समासासणं। (वही पृ० ६८)

विदूषकः———। बुभुक्खिदस्स बह्मणस्य जीविदं अवलम्बदु भवं। समओ खु णह्राणभोअण सेविदु। (वही, पृ० ८९)।

विदूषकः—ही ही भो एसो खण्डमोदुअसस्सिरीओ उदिदो राजा दुआदीणं (वही, पृ० १०३)

३ ———विदूषकः किं तत्तमोद उव्वसी अहं विअ विरूवदाए अदुदहओ रूवेण। (वही, पृ० ४५)।

महाकवि कालिदास ने अभिज्ञानशाकुन्तलम् में विदूषक को एक नई भूमिका प्रदान की है। नाटक के सैद्धान्तिक पक्ष की रक्षा के लिए ही इसमें विदूषक की अवतारणा की गई है। उसका उपयोग इस नाटक में हास्य के अतिरिक्त नाटकीय कथावस्तु के विकास के लिए भी हुआ है। यह जाति का ब्राह्मण है। यह उम्र में राजा दुष्यन्त से छोटा है।[1] नाटक में उसका चित्रण राजा दुष्यन्त के सच्चे मित्र, सहायक तथा परामर्शदाता के रूप में हुआ है। अन्य विदूषकों की भाँति यह भी खाने-पीने की बातों में अधिक दिलचस्पी लेने के कारण पेटू प्रकृति का है।[2] यह अपने हाथ में एक टेढ़ा डण्डा रखता है।[3] यह भीरु स्वभाव का व्यक्ति है। राक्षसों के भय से यह शकुन्तला को देखने नहीं जाता है।[4] वह राजा का विश्वस्त पात्र है, अतः प्रणय-व्यापार की सारी बातें राजा उसे बता देता है। विदूषक विपत्ति में राजा की सहायता करता है। तपोवन में राक्षसों के उपद्रव के समय में दुष्यन्त की माता के पास यह जाता है। पुनः पंचम अंक में हंसपदिका को समझाने के लिए राजा ने इसे ही भेजा है। साथ ही शकुन्तला के साथ राजा के प्रेम-व्यापार को बढ़ाने के लिए विदूषक पर्याप्त सहायता करता है। यह सरल स्वभाव का है। राजा उसकी स्वाभाविक चंचलता को ध्यान में रखकर राजधानी जाते समय उससे कहता है कि शकुन्तला विषयक प्रेम की बात परिहास मात्र थी, उसे सच मत समझ लेना।[5] वह इतना सीधा है कि राजा के कथन में विश्वास कर लेता है तथा इसके लिए वह शकुन्तला के बारे में बात भी नहीं करता है। नाटककार ने बड़ी कुशलता से शकुन्तला के परित्याग के समय विदूषक को उपस्थित नहीं किया है। षष्ठ अंक में मातलि द्वारा उसे प्रपीड़ित करके राजा में क्रोधावेश पैदा किया गया है। इस आवेश की स्थिति में दैत्यों के वध के लिए राजा को स्वर्ग भेजने में सफलता मिली है। इसी तरह रानी वसुमती को राजा

---

१ विदूषकः—(सगर्वम्) तेण हि जुवराओ म्हि दाणिं संवुत्तो।
(अभि० शा० अंक २, पृ० १२९)।

२ विदूषकः—किं भोदअ खज्जिआए (वही, अंक २ पृ० ९७)।
—विदूषकः—कहं बुभुक्खाए खादिदव्वो म्हि। (वही, अंक ६, पृ० ३८५)।

३ विदूषकः—(सस्मितं) भो! अहं पि दाव एदं दण्डकट्ठं उवालहिस्सं। कथं अज्जुअस्स मे कुडिलं तुमं सित्ति। (वही, अंक ६, पृ० ४४१, किशोरकेलिटीका)।

४ विदूषकः—इदानीं राक्षसवृत्तान्तेन विन्दुरपि नावशेषितः।
(वही, अंक २, पृ० १२५)।

५ विदूषकः—(स्वगतम्) चपलोऽयं वटुः .... ममाभिलापः। पश्य-
क्व वयं क्व परोक्षमन्मथो मृगशावैः सममेधितो जनः।
परिहासविजल्पितं सखे परमार्थेन न गृह्यतां वचः॥२।१८।
(वही, पृ० १२९)।

के निकट आते देखकर विदूषक शकुन्तला का चित्र लेकर वहाँ से चला जाता है। फलतः वह राजा को रानी के क्रोध का पात्र नहीं बनने देता है। इन प्रमुख घटनाओं में विदूषक के प्रमुख हाथ रहने के आधार पर यह निर्विवाद कहा जा सकता है कि नाटककार ने बहुत कलात्मक ढंग से नाटकीय कथावस्तु के विकास के लिए विदूषक का सम्यक् उपयोग किया है।

विदूषक मुँहफट है। किसी के साथ कुछ भी बोलने में यह संकोच नहीं करता है। हँसी में कही हुई इसकी बात को कोई बुरा नहीं मानता है। यह ऊपर से बेवकूफ बनता है, किन्तु वस्तुतः अन्दर से बहुत चतुर है। नाटक के दूसरे अंक में जब राजा इसके साथ एकान्तवार्त्ता करने के लिए सभी सेवकों को हटा देता है तब वह शीघ्र ही राजा के उद्देश्य को समझकर कहता है—"किदं भअदा सम्पदं णिम्भक्खिअं"।

मित्र होने के नाते विदूषक राजा दुष्यन्त के साथ परिहास एवं व्यंग्यपूर्ण बातें करता है। कभी-कभी वह उसे बेवकूफ भी बनाता है। षष्ठ अंक में यह भ्रमर का प्रसंग इस खूबी के साथ उठाता है कि शकुन्तला के ध्यान में लीन राजा दुष्यन्त उसे वास्तविक भौंरा समझ कर अनापसनाप बक जाता है। अन्त में, वह उन्हें स्मरण दिलाता है कि यह तो चित्र है।[1] उसकी व्यंग्योक्तियाँ शिष्ट परिहास उत्पन्न करती हैं।[2] उक्तिवैचित्र्य की भाँति उसकी क्रियाएँ भी मनोविनोद प्रदान करती हैं। षष्ठ अंक में जब दुष्यन्त आम्रमंजरी को काम का बाण बताता है तब विदूषक उन्हें झाड़ने के लिए डण्डा हाथ में ले लेता है।[3] अभिज्ञानशाकुन्तलम् के विदूषक को उतनी छूट नहीं जितनी मालविकाग्निमित्रम् के विदूषक को। अतः दुष्यन्त का व्यक्तित्व स्वतंत्र रूप से अधिक विकसित हुआ है।

इस प्रकार, कालिदास के रूपकों मे विदूषक नायक की चारित्रिक विशेषताओं को प्रकट करने में सहायक होता है। इसकी सफल योजना से नाट्योत्कर्ष में भी पर्याप्त अभिवृद्धि हुई है। विदूषक के सफल प्रयोग में कालिदास की नाट्यनिपुणता परिलक्षित होती है।

---

१ अभि० शा० अंक ६, पृ० ३९५ से ३९९ तक।

२ विदूषकः—(आत्मगतम्) जइ अहं देक्खामि पूरिदव्वं णेण चित्तफलअं लम्बकुच्चाणं तावसाणं कदम्बेहिं। (वही, पृ० ३९३)।

—विदूषकः—तिसङ्कू विअ अन्तरा चिट्ठा। (वही, अंक २, पृ० १२७)।

३ विदूषकः—चिट्ठ दाव इमिणा दण्डकट्ठेण कन्दप्पबाणं णासइस्सं।
(इति दण्डकाष्ठमुद्यम्य चूताङ्कुरं पातयितुमिच्छति)
(अभि० शा० अंक ६, पृ० ३६८)।

☆

सप्तम अध्याय

रसाभिव्यक्ति

प्रथम प्रकाश : भाव एवं रस-विवेचन

नाट्य में 'रस' की अनिवार्यता, 'रस' शब्द की व्याख्या एवं स्वरूप का विवेचन; 'भाव', 'विभाव' एवं 'अनुभाव' शब्दों की व्याख्या तथा नाट्य में स्थिति, भाव के प्रकार—स्थायीभाव, संचारीभाव (व्यभिचारीभाव) एवं सात्त्विकभाव; रस-निष्पत्ति के अंग – विभाव एवं व्यभिचारीभाव; रसाभिव्यक्ति विषयक-भट्ट-लोल्लट, श्रीशंकुक, भट्टनायक तथा अभिनवगुप्त के सिद्धान्त तथा कालिदास की रसविषयक मान्यता; रस के प्रकार तथा कालिदास के रूपक में अभिव्यक्त रस का विवेचन।

द्वितीय प्रकाश : रस-परिपोष में नाट्य-वृत्तियों का योग

(अ) नाट्य-वृत्ति की परिभाषा एवं उद्भव।

(आ) विभिन्न रसों के साथ विभिन्न वृत्तियों का सम्बन्ध।

(इ) नाट्य-वृत्ति के प्रकार—कैशिकी; सात्वती, आरभटी तथा भारती।

सप्तम अध्याय

रसाभिव्यक्ति

प्रथम प्रकाश : भाव एवं रस-विवेचन

भरत आदि आचार्यो द्वारा रूपक के स्वीकृत वस्तु, नेता एवं रस नामक तत्त्वों में रस का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान है। रूपक में वस्तु एवं नेता का इस प्रकार गुम्फन होना चाहिए कि वे विशिष्ट रस की अभिव्यक्ति में सहायक हों। वस्तुतः रस से स्वतंत्र इन दोनों की गतिविधि संभव नहीं। रसोद्रेक करना ही नाट्य का प्रमुख लक्ष्य है। भरतमुनि की दृष्टि में 'रस' नाटक का धर्म है। वाचिक, आंगिक, आहार्य एवं सात्विक अभिनयों के द्वारा सहृदय सामाजिक के चित्त में रस-निष्पत्ति का सम्पादन करना ही नाट्य का उद्देश्य है। नाट्य में रस की प्रमुखता बताते हुए उन्होंने कहा है कि रस के बिना कोई नाट्यांग-रूप अर्थ प्रवृत्त नहीं होता।[1] वस्तुतः उनकी दृष्टि में नट के द्वारा प्रस्तुत किये जाने वाले अभिनय के प्रभाव से प्रत्यक्षवत् प्रतीयमान, एकाग्रमन की निश्चलता के कारण अनुभव किया जाने वाला तथा रूपक (या काव्य) विशेष से प्रकाशित होने वाला अर्थ 'नाट्य' कहलाता है। यह नाट्य आलम्बन तथा उद्दीपन विभावों के असंख्य होने के कारण अनन्त विभावादि रूप है, किन्तु सम्पूर्ण विभावों के ज्ञान में पर्यवसित होने एवं उस ज्ञान का उपभोक्ता में पर्यवसान होने से तथा भोक्ताओं के भोक्ता अर्थात् नायक में पर्यवसान होने से नायक की रत्यादि रूप स्थायीभावात्मक चित्त-वृत्ति भी 'नाट्य' है। कहने का तात्पर्य है कि 'रस' ही नाट्य है तथा 'नाट्य' की समग्र रूप से उपलब्धि रस में ही होती है। भरतमुनि के कथनानुसार पितामह ब्रह्मा ने अथर्ववेद से 'रस' तत्त्व का संग्रह किया था।[2] इससे स्पष्ट है कि भारतीय दृष्टि से नाट्य में रस का स्थान सर्वोपरि है। इसी उद्देश्य से तो नाट्य को 'रसाश्रय' कहा गया है—'रसाश्रयम् नाट्यम्'। वस्तुतः रंगमंच पर अभिनेताओं (पात्रों) द्वारा राम-दुष्यन्तादि के अभिनय से सहृदय सामाजिकों में तादात्म्य प्रतीति

---

१ —न हि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते। —हि० ना० शा० (बाबूलाल शुक्ल) (चौ० सं०)—पृ० २२८।

२ —जग्राह पाठ्यमृग्वेदात्सामेभ्यो गीतमेव च।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि ॥१।१७ (ना० शा०)

तभी संभव है, जब रसोद्रेक हो। प्रेक्षक (भावक) को जब तक रसानुभूति नहीं होती, तब तक अभिनय की सार्थकता एवं सफलता संभव नहीं है।[1]

मूर्त्तिविधायिनी कला होने के कारण नाट्य का आग्रह रूप की प्रतीति कराने में है। इसी में इसकी सार्थकता भी है। दृश्य अर्थात् चाक्षुष होना ही इसका प्रमुख हेतु है। कालिदास ने इसे चाक्षुष-यज्ञ की संज्ञा दी है तथा इसमें रस की प्रधानता स्वीकार की है।[2] नाट्य में सर्वप्रथम रूपात्मक अनुभूति ही बनती है, इसके बाद भावात्मक। इस दृष्टि से विचार करने पर सर्वथा सुस्पष्ट हो जाता है कि रस की भावात्मक सत्ता की सिद्धि के लिए हर हालत में नाट्य के वस्तु एवं नेता सभी पार्थिव एवं रूपात्मक तत्त्व की संगति अपेक्षित है। यही कारण है कि भारतीय नाट्याचार्यों ने वस्तुतः नेता एवं रस तीनों के समुचित विकास पर बल दिया है। इस संदर्भ में विक्रमोर्वशीयम् की प्रस्तावना में कालिदास का विचार उल्लेखनीय है—

"प्रणयिषु वा दाक्षिण्यादथवा सद्वस्तुपुरुषबहुमानात्।
शृणुत मनोभिसहितैः क्रियामिमां कालिदासस्य" ।।१।२।।

इस कथन से स्पष्ट है कि प्रशंसनीय उत्तम रूपक-रचना के लिए रूपात्मक एवं भावात्मक रूप वस्तु, नेता, एवं रस तीनों भेदक तत्त्वों का सम्यक् विन्यास अपरिहार्य है।

पाश्चात्य नाट्यशास्त्री अरस्तू ने प्लाट (वस्तु) को ही काव्य की आत्मा माना है।[3] उनकी दृष्टि में नाटकीय वस्तु जीवन के कार्यव्यापारों की अनुकृति है तथा इन कार्यव्यापारों के अभाव में त्रासदी की रचना सभव नहीं।[4] नाट्य में लोकचरित का वर्णन कालिदास ने स्वीकार किया है। लेकिन उन्होंने अरस्तू

---

१ —सूत्रधारः—कथयामि ते भूतार्थम्—
आपरितोषाद्विदुषां न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम्।
बलवदपि शिक्षितानामात्मन्यप्रत्ययं चेतः ।।१।२।।
(अभि० शा०)।

२ गणदासः—देवानामिदमामनन्ति मुनयः कान्तं क्रतुं चाक्षुषं
रुद्रेणेदमुमाकृतव्यतिकरे स्वाङ्गे विभक्तं द्विधा।
त्रैगुण्योद्भवमत्र लोकचरितं नाना रसं दृश्यते
नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधनम्।१।४। (मालवि०)

३ ए० बु०, पृ० २९।

४ वही, पृ० २७।

से भिन्न रूप में उसे अभिव्यक्त किया है। उनकी दृष्टि में सत्त्व, रज तथा तम तीनों गुणों से निर्मित मानवजीवन नाट्य में अपने विभिन्न रसों में देखने को मिलता है। उन्होंने नाट्य को अलग-अलग रुचि रखने वाले लोगों के लिए नाना प्रकार का मनोरंजन माना है। कहने का तात्पर्य है कि उनके विचार से नाट्य का प्रमुख उद्देश्य आनन्दानुभूति है। ऊपर रूपक के वस्तु एवं नेता तत्त्व का विभिन्न आचार्यों की दृष्टि से विवेचन प्रस्तुत कर तद्विषयक कालिदास की धारणा एवं अभिव्यंजना पर प्रकाश डाला गया। यहाँ रस तत्त्व का विवेचन एवं विश्लेषण प्रसंगोपात्त है। रसाभिव्यक्ति ही रूपक का प्रमुख उद्देश्य है। अतः यहाँ भरत आदि आचार्यों के अनुसार रस-स्वरूप, विभाव आदि उसके अंग, रसाभिव्यक्तिविषयक विभिन्न सिद्धान्त एवं कालिदास की रसविषयक मान्यता, इसके शृंगार आदि विभिन्न प्रकार तथा कालिदास के रूपक में अभिव्यक्त रस का विवेचन प्रस्तुत्य है। इसके बाद रस के सम्यक् परिपोष में कैशिकी आदि नाट्यवृत्तियों के योग पर विचार किया जायगा।

व्युत्पत्ति के अनुसार 'रस' शब्द के दो अर्थ होते हैं :—(१) आस्वाद—रस्यते आस्वाद्यते इति रसः। (२) द्रवत्व—सरते इति रसः।

लौकिक व्यवहार में चार अर्थों में इसका प्रयोग किया जाता है—(१) अम्ल, तिक्त आदि पदार्थगत षड्रस; (२) आयुर्वेद में रसायन, पारद, वीर्य, जल अथवा जलीय पदार्थ एवं रसनेन्द्रिय ग्राह्य पदार्थ; (३) साहित्य रस; तथा (४) मोक्ष या भक्ति का रस। इन सभी अर्थों में स्वाद (आनन्द) का गुण सबमें है। उसके ग्रहण का माध्यम चाहे जिह्वा हो या सूक्ष्मेन्द्रिय, मस्तिष्क हो या आत्मा। इसी तरह द्रवत्व एवं सार अथवा प्राण-तत्त्व का आशय भी किसी न किसी रूप में अन्तर्निहित है। ऋग्वेद में सोमरस[1] के रूप में इसका प्रयोग मिलता है। शतपथ-ब्राह्मण में 'रस' का प्रयोग 'मधु' के अर्थ में हुआ है—"रसो वै मधु"। उपनिषदों में प्राण तत्त्व (सार) एवं स्वाद दोनों अर्थों में इसका प्रयोग मिलता है—"रससारः चिदानन्दप्रकाशः" अर्थात् परमात्मा रस है तथा रस चिदानन्दरूप हैं। इसे ही पाकर आत्मा परमात्मा का भोग करता है। यहाँ तैत्तिरीय उपनिषद् का रस-विषयक संदर्भ उल्लेखनीय है—"रसो वै सः"। "रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति"। इसी से ऋक्, यजुष् एवं साम की ऋचाओं की सृष्टि हुई।[2] इन्हें ही

---

१ दधान कलशे रसम्—ऋग्वेद—९।६३।१३।

२ ऋचामेव तद्रसेन, यजुषामेव तद्रसेन, साम्नामेव तद्रसेन।—छान्दोग्योपनिषद् ४।१७।

प्रमाण देते हुए पण्डितराज जगन्नाथ ने रस को काव्य का प्राणतत्त्व सिद्ध किया है। डा० संकरन का विचार है कि उपर्युक्त वाक्यों से प्रेरणा ग्रहण कर आचार्यों ने संभवतः इन्हीं के आधार पर काव्यानन्द के अर्थ में 'रस' शब्द का प्रयोग किया है। उनके कहने का तात्पर्य है कि जिस प्रकार योगी उस चिदानन्द प्रकाश का अपनी आत्मा में सहज साक्षात्कार करके, पूर्णतः तन्मय होकर ब्रह्मानन्द का अनुभव करता है, उसी प्रकार सहृदय भी अपने मानस में नाटक अथवा काव्य के सौन्दर्य का सहज साक्षात्कार करके आनन्द का अनुभव करता है।[1] स्पष्ट है कि साहित्य शास्त्र में रस का प्रयोग काव्यास्वाद (काव्यानन्द) के लिए हुआ है। सर्वप्रथम नाट्य के ही सम्बन्ध में इसका उल्लेख किया गया था। नाट्य ही रसोन्मेष का सर्वाधिक रम्य प्रतीक है, अतः भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में उसे 'नाट्यरस' नाम दिया है। इस नाट्यरस की व्याख्या करते हुए अभिनवगुप्त ने लिखा है—(१) नाट्यात् समुदाय-रूपात् रसः, (२) नाट्यमेव रसः। रससमुदायो हि नाट्यम्। कहने का अभिप्राय यह है कि नाट्य रसोन्मीलन का प्रधान साधन है। नाट्यरस के उपकरणभूत विभाव, अनुभाव तथा संचारीभाव का अभिनय प्रस्तुत कर उनका दर्शकों के हृदय में यह साक्षात् अनुभव कराता है। यही क्षमता जब श्रव्यकाव्य को भी प्राप्त होती है तभी काव्य में रस का आस्वाद उत्पन्न होता है। इस विषय में महिमभट्ट ने अपने 'व्यक्तिविवेक' में इस प्राचीन श्लोक को उद्धृत किया है—

"अनुभावविभावानां वर्णना काव्यमुच्यते।
तेषामेव प्रयोगस्तु नाट्यं गीतादिरंजितम्"॥

पाश्चात्य विद्वान् अरस्तू के कथनानुसार महाकाव्य के समान ही, दुःखान्त रूपक, अभिनय के बिना भी सिर्फ पाठमात्र से अपना सच्चा प्रभाव उत्पन्न करता है।

वेदान्त दर्शन में आनन्द के तीन प्रकार बताये गये है—विषयानन्द; ब्रह्मानन्द तथा रसानन्द। ब्रह्म सच्चिदानन्द रूप है। वह स्वयं आनन्दरूप है। उसी आनन्दमय ब्रह्म से सभी प्राणी पैदा होते हैं, जीते हैं तथा अन्ततोगत्वा उसी में लीन हो जाते हैं। आनन्द की सर्वश्रेष्ठ कोटि ब्रह्मानन्द है। इसी के अन्तर्गत संसार के सभी आनन्द परिसीमित हैं। विषयानन्द को निकृष्ट माना जाता है। विषया-नन्द ही लौकिक आनन्द है। लेकिन रसानन्द अलौकिक है। ब्रह्मानन्द की उत्पत्ति वासना (कामना) के विनाश से होती है। इसके विपरीत रसानन्द में वासना का

---

१ सम आस्पेक्ट्स ऑफ लिट्रेरी क्रिटीजिज्म में उद्धृत अंश का अनुवाद—
रीतिकाव्य की भूमिका (डा० नगेन्द्र, पृ० ३१)

नाश नहीं होता है, प्रत्युत वासना का परिशोधन होता है। स्थायीभाव रस के रूप में परिणत होता है और यह स्थायी भाव ही वासना रूप होता है। कालिदास के 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' में वासनाजन्य विषयानन्द का संताप एवं तपस्या के द्वारा दाह के बाद परिशुद्ध होने पर रसानन्द की अभिव्यक्ति हुई है। उनकी दृष्टि में भी काम का शोधन अनिवार्य है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि वासना सकाम हुआ करती है। इस सकामभाव को निष्कामभाव में परिणत करने पर ही रसोन्मीलन होता है। साहित्य में यह भावशुद्धि साधारणीकरण द्वारा होती है। मनोविज्ञान में इसे उदात्तीकरण (सब्लिमेशन) कहते हैं। स्पष्ट है कि ब्रह्मानन्द वासना के नाश पर अवलम्बित आनन्द है और रसानन्द वासना की शुद्धि पर आश्रित आनन्द है। अतः दोनों प्रकार के आनन्द में अन्तर रहने के कारण ही रस को ब्रह्मानन्दसहोदर कहा गया है। रस के सम्बन्ध में ब्रह्मानन्दसहोदर की कल्पना का मूल आधार तैत्तिरीय उपनिषद् का उपर्युक्त "रसो वै सः" वाक्य है। अभिनवगुप्त का अभिमत है कि वास्तव में आनन्द ही रस है। रस एक है, अनेक नहीं। जैसे एकमात्र ब्रह्म ही सत्य है तथा नानारसात्मक संसार की विकृतियाँ असत्य हैं। उसी प्रकार शृंगारादि रस की अनेकता एवं पृथकता असत्य है। एकमात्र सत्य रस अंशी है तथा शृंगारादि रस उसके अंशमात्र हैं। इस प्रकार अभिनवगुप्ताचार्य ने मूल स्थानीय रस के लिए "महारस" शब्द का प्रयोग किया है तथा उसके अंशभूत रसों को सिर्फ 'रस' कहा है। इस रस की एकरूपता की सिद्धि के लिए भरत के "नहि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्त्तते" उपस्थित किया गया है। कालिदास ने लिखा है कि सत्त्व, रज तथा तम इन तीनों गुणों से निर्मित मानवजीवन विभिन्न रसों में दृष्टिगत होता है। विभिन्न रुचिवाले लोगों के लिए यह नाट्यरूप एकात्मक रस अनेक प्रकार का समाराधन है। इन्होंने अपने रूपकों में शृंगार को ही अंगी रस के रूप में अभिव्यक्त किया है, शेष वीर, अद्भुत आदि को अंग रस में अभिव्यक्त कराया है। भवभूति ने तो स्पष्ट शब्दों में करुण को ही एकमात्र रस स्वीकार कर शेष रसों को उसी से उद्भूत माना है।[1]

उपलब्धि की दृष्टि से विचार करने पर हम देखते हैं कि जिस अर्थ में आचार्य मम्मट ने कविभारती को 'नवरसरुचिरा' कहा उस अर्थ में आठ या नौ रसों का विवरण अथर्ववेद में नहीं मिलता। यद्यपि सभी आचार्यों ने उसी से रस तत्त्व को ग्रहण करने की बात कही है, किन्तु ऐसा संभव है कि अथर्ववेद की सम्प्रति

---

१ एको रसः करुण एव निमित्तभेदाद्भिन्नः पृथक् पृथगिवाश्रयते विवर्तान्।
आवर्तबुद्बुदतरंगमयान्विकारानम्भो यथा, सलिलमेव हि तत्समग्रम् ॥३।४७
(उ० रा०)

किसी अनुपलब्ध शाखा मे रसों का वर्णन हो। वस्तुतः भरतमुनि से पूर्व रस-सिद्धान्त की कोई भी परंपरा आज उपलब्ध नहीं है। राजशेखर ने काव्यपुरुष के अट्ठारह शिष्यों में नन्दिकेश्वर का नामोल्लेख किया है[1]। परन्तु आज नन्दिकेश्वर की कृति निस्संदेह रूप से उपलब्ध नहीं है। अभी उपलब्ध साहित्यशास्त्रों में भरत का नाट्यशास्त्र ही प्राचीनतम कृति है। रसविवेचन का भी प्रथमतः विवरण इसी में मिलता है। भरत के नाट्यशास्त्र में नाट्यतत्त्व के रूप में ही रस की विशद व्याख्या की गयी है। नाट्यशास्त्र में उपनिबद्ध अनुवंश्य श्लोकों एवं आचार्यों के नामोल्लेखों से पता चलता है कि भरत से पूर्व भी नाट्य सिद्धान्त की सुदीर्घ परम्परा चली आ रही थी। संभवतः भरत ने उन सभी सिद्धान्तों का सार अपने नाट्यशास्त्र में संकलित किया तथा अपनी कई नई उद्भावनाओं को उनमें जोड़ दिया। भरत द्वारा प्रतिपादित रस-सिद्धान्त सूत्ररूप में आबद्ध है। इसके आधार पर अनुमान किया जाता है कि भरत ने पुराने मौलिक रस-सूत्र को इसी रूप में ग्रहण किया। भरत का रसस्वरूपनिरूपक प्रमुख सूत्र है—"तत्र विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रस-निष्पत्तिः।" इस सूत्र के अनुसार विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारीभाव के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। इसमें स्थायीभाव का उल्लेख नही है, फिर भी अपने आप आक्षिप्त हो जाता है। भरत की दृष्टि में स्थायीभावों का अनुभावों में अन्तर्भाव हो जाता है। दशरूपककार ने इसमें सात्त्विक भाव को भी सन्निविष्ट कर कहा है कि विभाव, अनुभाव, सात्विक भाव एवं व्यभिचारियों (संचारियों) के द्वारा जब रत्यादि स्थायीभाव आस्वाद्य (चर्वणा के योग्य) बना दिया जाता है, तो वही रस कहलाता है[2]। मीमांसक भट्ट लोल्लट के अनुयायी होने के कारण धनंजय एवं धनिक के मतानुसार विभावादि रस के हेतु हैं तथा उसमें वे उत्पाद्य उत्पादक सम्बन्ध मानते हैं। "स्वाद्यत्वम् आनीयमानः" का द्वितीय पद इसी बात का संकेत करता है। इसके विपरीत ध्वनिवादी आचार्य रस को व्यंग्य मानते हैं, वाच्य तथा उत्पाद्य नहीं। इसका स्पष्ट उल्लेख आचार्य विश्वनाथ की रसपरिभाषा मे मिलता है। उनका कहना है कि सहृदय-हृदय में वासनारूप में विद्यमान रत्यादिरूप स्थायी भाव जब कविवर्णित विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारीभाव के द्वारा अभिव्यक्त हो उठते हैं तब आस्वाद (आनन्द) रूप हो जाते हैं तथा रस कहे जाते हैं[3]। इनकी यह

१ ——रसाधिकारिकं नन्दिकेश्वरः।—(का० मी०, पृ० ४)।

२ विभावैरनुभावैश्च सात्त्विकैर्व्यभिचारिभिः।
रसतामेति रत्यादिः स्थायीभावः सचेतसाम् ॥३।१॥ (सा० द०)।

३ विभावेनानुभावेन व्यक्तः संचारिणा तथा।
रसतामेति रत्यादिः स्थायीभावः सचेतसाम् ॥३।१॥ (सा० द०)।

परिभाषा भरत के उपर्युक्त रससूत्र की सरल विवृति है। इसमें कविकृत विभावादि-योजना तथा सहृदय हृदय की रत्यादिवासना की 'रसमयता' में व्यंग्यव्यंजक भाव रूप सम्बन्ध की अनिवार्य मान्यता की झलक प्राचीन ध्वन्याचार्यों की भांति उपलब्ध है। अभिनवगुप्त पादाचार्य ने कविकृत विभादिवर्णना द्वारा सहृदय हृदय में रत्यादि स्थायीभाव की रसरूप में अभिव्यक्ति की यही सिद्धि की है।[1] अभिनवगुप्त की व्याख्या के आधार पर मम्मट ने कहा है कि लोक में रति आदि स्थायीभाव के जो कारण, कार्य तथा सहकारी होते हैं, यदि वे नाटक या काव्य में प्रयुक्त होते है तो उन्हें क्रमशः विभाव, अनुभाव तथा संचारीभाव कहा जाता है। उन विभावादि कारण, कार्य और सहकारियों से परिव्यक्त स्थायीभाव रस है।[2] अर्थात् आलम्बन-विभाव से उद्‌बुद्ध, उद्दीपन से उद्दीप्त, व्यभिचारियों से परिपुष्ट एवं अनुभावों द्वारा परिव्यक्त हृदय का स्थायीभाव ही रस-दशा को प्राप्त होता है। इत तरह काव्य-पठन एवं श्रवण अथवा नाट्याभिनय देखने पर विभावादि के संयोग से निष्पन्न होने वाली आनन्दात्मक चित्तवृत्ति ही रस है। उदाहरणार्थ नाट्यकला-निपुण नट एवं नटी दुष्यन्त एवं शकुन्तला (आलम्बन विभाव) के रूप में दर्शकों (सामाजिकों) के सम्मुख उपस्थित होते हैं। सर्वप्रथम ये लोग कण्वाश्रम के सुरम्य कुंजों (उद्दीपन विभाव) में मिलते हैं (विभाव)। दोनों (दुष्यन्त एवं शकुन्तला) एक दूसरे के आह्लादक सौन्दर्य को देखकर विस्मित हो जाते हैं तथा प्यासी उत्सुक आंखों से एक दूसरे की ओर ताकते हैं—अनिच्छापूर्वक सखियों के साथ जाती हुई शकुन्तला कांटा चुभने के बहाने चोरी चोरी राजा दुष्यन्त की ओर निहारती है (अनुभाव)। इसके बाद दोनों वियुक्त हो जाते हैं। उस वियोगकाल में कभी उत्कंठा, कभी निराशा से व्याकुल होकर वे आपस में एक दूसरे से मिलने के लिए आकुल-व्याकुल हो जाते हैं (व्यभिचारीभाव)। इसके बाद सौभाग्यवश अनसूया एवं प्रियम्वदा नामक दोनों सखियों की सहायता से शकुन्तला कमलपत्र पर नाखून से दुष्यन्त के लिए अपने उत्कट प्रेम को गीत में व्यक्त करने का अवसर प्राप्त करती है। इसी समय दुष्यन्त सहसा वहाँ प्रकट हो जाता है। इस तरह

---

१ "तेन प्रतीतिस्तावद्रसस्य सिद्धा। साच रसनारूपा प्रतीतिरुत्पद्यते। वाच्यवाचकयोस्तत्र····· ····· रस्यमानतोदितचमत्कारानतिरिक्तत्वाद्‌भोगस्येति"।

(ध्व० लोचन १८९-१९०)

२ कारणान्यथ कार्याणि सहकारीणि यानि च।
रत्यादेः स्थायिनो लोके तानि चेन्नाट्यकाव्ययोः ॥४।२७॥
विभावानुभावास्तत्कथ्यते व्यभिचारिण.।
व्यक्तस्स तैर्विभावाद्यैः स्थायीभावो रसः स्मृतः ॥४।२८॥ (का० प्र०)

प्रेमी एवं प्रेमिका का मिलन हो जाता है। जब ये सभी (विभाव-अनुभाव एवं व्यभिचारीभाव का संयोग) कविता, संगीत, रंगवैभव आदि की सहायता से, जिन्हें भरत ने नाट्यधर्मी कहा है, रंगमंच पर प्रदर्शित किया जाता है तब प्रेक्षक (सामाजिक) के हृदय में वासना रूप से स्थित रतिस्थायीभाव जागृत होकर उस चरम सीमा तक उद्दीप्त हो जाता है जहाँ प्रेक्षक व्यक्ति देश-काल का अन्तर भूल-कर सामने उपस्थित घटना में उन्मत्त हो जाता है तथा उस चरमावस्था को प्राप्त उसका यह भाव उसे एक आनन्दमयी चेतना मे विभोर कर देता है। तन्मयता की स्थिति में यही आनन्दमयी चेतना रस है। विक्रमोर्वशीयम् के तृतीय अंक के प्रारम्भ में गालव नामक शिष्य अपने साथी पल्लव से पूछता है कि क्या गुरुदेव (भरत) के नाट्यप्रयोग ने देवों का मनोरंजन किया? पल्लव उसे बताता है कि मैं यह नही कह सकता कि देवों का मनोरंजन हुआ या नहीं, किन्तु सरस्वती द्वारा ग्रथित 'लक्ष्मीस्वयंवर' रूपक ने उन्हें विभिन्न रसों में तन्मय बना दिया था।[1] "तेपु तेपु रसेषु तन्मय्यासीत्" का तात्पर्य यह है कि नटों द्वारा प्रदर्शित होनेवाली अनुकूल विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारीभाव के संयोग से प्रादुर्भूत होनेवाले शृंगारादि रसों में परिषद् तल्लीन हो गई थी। इससे स्पष्ट हो जाता है कि अभिनय से अत्यधिक प्रभावित होकर देवदर्शकगण तन्मयावस्था में पहुँच गये होंगे। यही आनन्दमयी तन्मयावस्था रस है।

सहृदय के अन्दर यह रस (तन्मयावस्था) तब तक विद्यमान रहता है जबतक विभावादि मौजूद रहते हैं। इसलिए उसे विभावादि जीवितावधि कहा गया है। रसनिष्पत्ति के लिए विभावादि के इसी अनिवार्य संयोग के कारण 'रस' की तुलना प्रपानक रस से की गई है। अर्थात् गुड़, मिरिच, खटाई, नमक आदि को मिलाने से एक अलग प्रकार का रस तैयार होता है। उसे पीने पर एक विलक्षण प्रकार का रस (स्वाद) मिलता है। इन तत्त्वों में से अलग-अलग रूप में केवल किसी एक का भी स्वाद नहीं आता। इस पानक रस के समान ही काव्यरस भी एक तरह की विलक्षण, अलौकिक एवं अनिर्वचनीय अनुभूति है जो लोकव्यवहार से भिन्न सिर्फ आनन्द देती है। इसका आस्वाद ही किया जा सकता है—"आस्वाद्यत्वात् रसः"। नाट्य में विद्यमान रसों की व्याख्या करते हुए भरतमुनि कहते हैं कि जिस प्रकार पुरुष सुसंस्कृत (शुद्धता से निर्मित) अनेक व्यंजनों का भोजन करते हुए मधुर आदि

---

१ प्रथम··· ···· ····। अपि गुरोः प्रयोगेण दिव्या परिपदाराधिता।
द्वितीय—गालव ण आणे आराहिदाण वत्ति। तस्सिं उण सरस्सईकिदक-व्ववन्धे लच्छीसअंवरे तेसु तेसु रसन्तरेपु तन्मआ आसि।
(मालवि०, अंक ३, पृ० ९२)।

उसमें विद्यमान रसों का आस्वादन कर प्रसन्न होता है उसी प्रकार अनेक भावों (संचारीभावों) से अभिव्यक्त, वाणी (वाचिक) से, शरीरावयव (आंगिक) से तथा सत्व (सात्विक) से युक्त 'स्थायी' भाव का सहृदय प्रेक्षक आस्वादन करते हैं तथा उसे पाकर आमोदित होते हैं।[1] भरत के नाट्यशास्त्र के षष्ठ अध्याय के आनुवंश्य श्लोक में लिखा है कि जैसे भोजन के रसज्ञ अनेक पदार्थों से युक्त व्यंजनों का आस्वादन करते हैं उसी प्रकार अनेक भाव तथा अभिनय से युक्त स्थायीभावों का सहृदयजन मानस-आस्वादन करते हैं। अतः ये स्थायीभाव नाट्यरचनाओं में रस कहलाते हैं।[2] साहित्यदर्पणकार आचार्य विश्वनाथ ने सत्वोद्रेक को रस का हेतु बताया है तथा रस को अखण्ड, स्वप्रकाशानन्द, चिन्मय, वेद्यान्तरस्पर्शशून्य, ब्रह्मानन्दसहोदर तथा लोकोत्तर चमत्कारप्राण कहा।[3] नाट्य (काव्य) में लोकव्यवहार से उत्पन्न शोक, भय आदि की अनुभूति से भिन्न एक विलक्षण आनन्द सब प्रकार के दृश्यों से प्राप्त होता है। इसीलिए इसे अलौकिक कहा गया है। विघ्नों के अभाव की स्थिति में इसकी अबाध रूप से अनुभूति होती है। अतः इसे अखण्ड कहा गया है। इससे संजायमान आनन्द बाह्येन्द्रियगत, अनुकूल संवेदनाजन्य आनन्द से सर्वथा भिन्न प्रकार का है। इसे मानसप्रत्यक्ष कहा गया है। इसकी अलौकिकता के आधार पर ही विभावादि को रसहेतु न कहकर उन्हें विभावादि जैसा विलक्षण नाम दिया गया है। स्पष्ट है कि रस न ज्ञाप्य है, न कार्य, न साक्षात् अनुभव है, न परोक्ष, न वह निर्विकल्पक ज्ञान है, न सविकल्पक। वस्तुतः वह निस्सीम एवं अनिर्वचनीय है।

---

१ रस इति कः पदार्थः? उच्यते आस्वाद्यमानत्वाद्। कथमास्वाद्यते रसः यथा हि नानाव्यंजनसंस्कृतमन्नं भुंजाना रसानास्वादयन्ति सुमनसः पुरुषा हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति, तथा नानाभावाभिनयव्यंजितान् वागङगसत्वोपेतान् स्थायिभावानास्वादयन्ति सुमनसः प्रेक्षकाः हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति।—
(ना० शा०, अध्याय ६, पृ० २८५, चौ० प्र०)

२ यथा बहुद्रव्ययुतैर्व्यञ्जनैर्बहुभिर्युतम्।
आस्वादयन्ति भुञ्जाना भक्तं भक्तविदो जनाः ॥३३॥
भावाभिनयसंबद्धान्स्थायिभावांस्तथा बुधाः।
आस्वादयन्ति मनसा तस्मान्नाट्यरसाः स्मृताः ॥३४॥ (ना० शा० पृ० २८६)।

३ सत्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाशानन्दचिन्मयः।
वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वादसहोदरः ॥३।२॥
लोकोत्तरचमत्कारप्राणः कैश्चित् प्रमातृभिः
स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रसः ॥३।३॥ (ना० शा०)

उपर्युक्त रसस्वरूप-विवेचन में विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी (संचारी) भावों का उल्लेख हुआ है। ये रसनिष्पत्ति के प्रमुख अंग हैं। अतः यहाँ विभावादि प्रमुख अंग रूप रस-सामग्री की व्याख्या अपेक्षित है। भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र के सप्तम अध्याय में सर्वप्रथम "भाव" की व्याख्या की है। इसी मौलिक शब्द (भाव) के आधार पर विभाव, अनुभाव, संचारीभावों की स्थापना की गयी है। अतः यहाँ पहले भाव एवं उनके स्वरूप विवेचनीय हैं। भरत की दृष्टि में भाव चित्तवृत्तिस्वरूप है, अतः वह प्राणिमात्र में व्याप्त है। नाट्य का साध्य रस है तथा भाव उसके साधन। इसलिए भाव के बिना रस-सिद्धि ही नहीं हो सकती। भरत की भाव-व्याख्या का संदर्भ मुख्यतः नाट्य-प्रदर्शन है। भरत ने सर्वप्रथम यह प्रश्न उठाया कि भाव शब्द चित्तवृत्ति के लिए क्यों प्रचलित हुआ? उन्होंने स्वयं इसका दो प्रकार से समाधान प्रस्तुत किया। प्रथम तो चित्त-वृत्तियों के रूप में स्थित होने के कारण वे चित्तवृत्ति स्वरूप हैं। अतः उन्हें भाव कहा जाता है (भवन्तीति भावाः)। दूसरी व्युत्पत्ति के अनुसार सहृदय के हृदय में व्याप्त होकर वे चित्तवृत्तियों को भावित करते हैं। अतः उन्हें 'भाव' कहा जाता है। (भावयन्तीति भावाः)।

दोनों व्युत्पत्तियाँ दिखलाकर प्रश्न की उद्भावना भी मूल में की गई है कि भाव 'भवन्ति' के अनुसार स्थित होने के कारण है अथवा "भावयन्ति" के अनुसार है। यदि "भावयन्ति" के अनुसार है तो ये व्याप्त होकर क्या अनुभावन करते हैं? इसके उत्तर में स्वयं उन्होंने कहा है कि ये भाव इसलिए कहलाते हैं कि अनुभावों के वाचिक, आंगिक, सात्त्विक तथा आहार्य अभिनय द्वारा नाट्यार्थ रूप रस को व्यंजित करते हैं (भावयन्ति)। 'भाव' का अर्थ कारण है, क्योंकि यह भावित, रासित तथा कृत का समानार्थक है। इसकी मूलधातु "भावय" का अर्थ है "परिव्याप्त होना"। इस प्रकार जब विभाव तथा अनुभाव का अर्थ दर्शक के मन में परिव्याप्त किया जाता है (गम्यते), तो इन्हें भाव कहते हैं।[1] भरत ने भावों के अन्तर्गत विभावों एवं अनुभावों की गणना नहीं की है, क्योंकि इनके विचार से

---

१ विभावैराहृतो योऽर्थो ह्यनुभावैस्तु गम्यते।
वागङ्गसत्वाभिनयैः स भाव इति संज्ञितः ॥७।१॥
वागङ्गमुखरागेण सत्वेनाभिनयेन च।
कवेरन्तर्गतं भावं भावयन्भाव उच्यते ॥७।२॥
नानाभिनयसंबद्धान्भावयन्ति रसानिमान् ॥
यस्मात्तस्मादमी भावा विज्ञेया नाट्ययोक्तृभिः ॥७।३॥ (ना० शा०)।

ये लोक-स्वभाव का अनुकरण करने वाली वाह्य स्थिति मात्र होते हैं तथा अभिनयक्रम में ये भावों के साथ ही व्यक्त एवं तिरोहित होते रहते हैं।

भरत ने अन्तस्थ भावों की व्याप्ति के वारे में कहा है कि जिस प्रकार सूखी लकड़ी में अग्नि व्याप्त रहती है उसी प्रकार प्रेक्षक (सामाजिक) के हृदयस्थ भावों के अनुरूप रस की व्याप्ति होती है।[१]

रस एवं भावों के सम्बन्ध के प्रसंग में भावों की स्थिति का स्पष्टीकरण करते हुए अभिनवगुप्तपादाचार्य ने प्रश्न उठाया है कि रसों से भावों की उत्पत्ति होती है अथवा भावों से रसों की ? कुछ विद्वानों का विचार है कि ये पारस्परिक सम्बन्ध द्वारा उत्पन्न होते हैं। किन्तु ऐसा मानना उचित नहीं है, क्योंकि रसों से भावों की उत्पत्ति देखी जाती है, भावों से रसों की नहीं।[२] भरत ने नाट्य-शास्त्र में लिखा है कि अनेक प्रकार के अभिनयों से सम्बद्ध रसों को भावित करने के कारण ही उसका नामकरण 'भाव' हुआ है।[3] जिस प्रकार के पदार्थों से व्यंजना की भावना (संस्कार) होती है, उसी प्रकार भाव अभिनयों के साथ मिलकर रसों की भावना (निष्पत्ति) करते हैं। भावों के विना रसों तथा रसों के विना भावों की स्थिति सम्भव नहीं है। अभिनय में एक दूसरे के आश्रय से उनकी निष्पत्ति होती है।[४] इसे एक उदाहरण देकर नाट्यशास्त्र में वताया गया है कि जिस प्रकार वीज से वृक्ष पैदा होता है तथा वृक्ष से फल-फूल उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार रस मूल-भूत आधार है और इसलिए रसों से ही भावों की

---

१ योऽर्थो हृदयसम्वादी तस्य भावो रसोद्भवः।
शरीरं व्याप्यते तेन शुष्क काष्ठमिवाग्निना ॥७।७॥ (ना० शा०)।

२ अत्राह—किं रसेभ्यो भावानमभिनिवृत्तिरुताहो भावेभ्यो रसानामिति। उच्यते केषांचिन्मतं परस्परसम्बन्धादेषामभिनिष्पत्तिरिति। तन्न। कस्मात्? दृश्यते हि भावेभ्यो रसानामभिनिर्वृत्तिर्न तु भावानामभिनिर्वृत्तिरिति।
(हिन्दी ना० शा०, चौ० प्र०, पृ० २८८)।

३ हिन्दी ना० शा०, (चौ० सं०) ६।३५।

४ न भावहीनोऽस्ति रसो न भावो रसवर्जितः।
परस्परकृता सिद्धिस्तयोरभिनये भवेत् ॥६।३७।
व्यंजनौषधिसंयोगो यथा अन्नं स्वादुतां नयेत्।
एवं भावा रसाश्चैव भावयन्ति परस्परम् ॥६।३८॥

सृष्टि होती है।[1] यद्यपि वे रस के आश्रित होकर रहते हैं; फिर भी रस की निष्पत्ति एवं अनुभूति में वे ही मूल प्रयोजक होते हैं।

आचार्य भरत ने विभाव का अर्थ विज्ञान बताया है—"विभावो विज्ञानार्थः"। यह विभाव (विज्ञान) स्थायी एवं व्यभिचारी भावों का हेतु (कारण) है। जिसके द्वारा स्थायी एवं व्यभिचारी भाव वाचिक आदि अभिनयों के माध्यम से विभावित होते हैं—"विभाव्यते अनेन वागङ्गसत्त्वाभिनय इति विभावः" अर्थात् जो विशेषरूप से जाने जाते हैं, उन्हें विभाव कहा जाता है। नाट्य में विषयवस्तु के अनेकानेक अर्थ आंगिक आदि अभिनयों पर अवलम्बित होते हैं। उनको विभावन (विशेष रूप से ज्ञापन करनेवाले हेतु) व्यापार द्वारा व्यक्त किया जाता है। अर्थात् सहृदय सामाजिक की प्रतीति के योग्य बनाया जाता है।[2]

अभिनवगुप्त के विचार से चित्तवृत्ति के उद्भवहेतु विषय को विभाव कहते हैं। धनंजय का कहना है कि जिसका ज्ञान हो सके वह विभाव है। जिसे विभावित करके सामाजिक रसास्वाद करता है, वह विभाव है। यह विभाव भाव (स्थायीभाव) को पुष्ट करनेवाला है, उसे रसरूप में परिणत करनेवाला है।[3] आचार्य विश्वनाथ के मतानुसार लोक में जो-जो पदार्थ रत्यादि भावों के उद्बोधक हुआ करते हैं, वे ही काव्यनाट्य में निविष्ट होने पर विभाव कहलाते हैं।[4] इस प्रकार स्पष्ट है कि रसानुभूति के कारण को विभाव कहते हैं। यह विभावन यानी आस्वाद के योग्य बनानेवाली रस-सामग्री है। ये दो प्रकार के होते हैं।—आलम्बन तथा उद्दीपन।[5] जिसको आलम्बन करके या आश्रय मानकर रस की उत्पत्ति या निष्पत्ति होती है उसे आलम्बन विभाव[6] तथा जिसके द्वारा रति आदि स्थायी

---

१ यथा बीजाद्भवेद् वृक्षो वृक्षात् पुष्पं फलं यथा।
तथा मूलं रसाः सर्वे तेभ्यो भावा व्यवस्थिताः ॥६।३९॥ (ना० शा०।

२ बहवोऽर्था विभाव्यन्ते वागङ्गाभिनयाश्रयाः।
अनेन यस्मात्तेनायं विभाव इति संज्ञितः ॥७।४॥ (हिन्दी ना० शा०, चौ० प्र०)।

३ ज्ञायमानतया तत्र विभावो भावपोषकृत्। (दशरू०)

४ रत्याद्युद्बोधका लोके विभावाः काव्यनाट्ययोः। (सा० द० परिच्छेद ३)।

५ आलम्बनोद्दीपनाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ। (वही)

६ आलम्बनं नायकादिस्तमालम्ब्य रसोद्गमात् ।३।२९ (वही)

भावों को उद्दीप्त किया जाता है, वह उद्दीपन विभाव कहलाता है।[1] आलम्बन विभाव में आश्रयावलम्बन तथा विषयावलम्बन दो प्रकार माने जा सकते हैं। नाट्य (काव्य) में नायक-नायिका आलम्बन होते हैं। सामान्यतः नायक आश्रय होता है, क्योंकि उसमें नायिका के प्रतिभाव दिखाये जाते हैं। इसी प्रकार नायिका के मन में भी नायक के प्रतिभाव दिखाये जा सकते हैं। उस स्थिति में नायिका आश्रय तथा नायक विषयावलम्बन होगा। उदाहरणार्थ विक्रमोर्वशीयम् में पुरूरवा उर्वशी को देखकर मुग्ध हो जाता है और आलम्बन विभाव रूप उर्वशी का वर्णन करता है :—

अस्याः सर्गविधौ प्रजापतिरभूच्चन्द्रो नु कान्तिप्रदः
शृङ्गारैकरसः स्वयं नु मदनो मासो नु पुष्पाकरः।
वेदाभ्यासजडः कथं नु विषयव्यावृत्तकौतूहलो
निर्मातुं प्रभवेन्मनोहरमिदं रूपं पुराणो मुनिः ।।१।८।।

उदीपन विभाव के अन्तर्गत देश-काल आदि का समावेश होता है। किसी भी आलम्बन विभाव के कारण उद्बुद्ध स्थायीभाव को ये उद्दीपन विभाव और अधिक उद्दीप्त कर रसत्व को पहुँचाते हैं। यथा, शकुन्तला को देखकर दुष्यन्त के मन में रति नामक स्थायीभाव उत्पन्न होता है तथा इन दोनों (शकुन्तला एवं दुष्यन्त) को देखकर सामाजिकों (प्रेक्षकों) के अन्दर रस उत्पन्न होता है। यहाँ दुष्यन्त के लिए शकुन्तला आलम्बन है। मालिनी तट, वसन्त ऋतु, लता कुंज, कोकिल की मधुर आवाज आदि वे विभाव हैं, जो उस रति-भाव को दुष्यन्त के मन में उद्दीप्त करते हैं। ये उद्दीपन विभाव कहलाते हैं।

उद्बुद्ध तथा उद्दीप्त वासनाओं (स्थायीभावों) के प्रभाव से मनुष्य की चेष्टाएँ विभिन्न हो जाती हैं। इन्हीं चेष्टाओं (भाव-भंगिमाओं) को अनुभाव कहते हैं। अर्थात् विभावों के कारण जो भाव आश्रय (नायक-नायिका) के हृदय में उत्पन्न होकर प्रकट या अनुभूत होते हैं, उन्हें अनुभाव कहते हैं। रस-निष्पत्ति में स्थायीभाव रस के आभ्यन्तर कारण हैं तथा विभाव (आलम्बन एवं उद्दीपन) उसके वाह्य कारण हैं। इसके विपरीत अनुभाव और व्यभिचारीभाव उस आभ्यन्तर रसानुभूति से उत्पन्न कायिक एवं मानसिक व्यापार है। भरत ने कहा है कि वाचिक तथा आंगिक अभिनय के द्वारा रत्यादि स्थायीभाव की आभ्यन्तर अनुभूति का जो वाह्य रूप में अनुभव कराता है उसे अनुभाव कहते हैं।[2] इसे व्युत्पत्ति के द्वारा बताते

१ उद्दीपनविभावास्ते रसमुद्दीपयन्ति ये ।।३।१३१।। (वही)।

२ वागङ्गाभिनयेनेह यतस्त्वर्थोऽनुभाव्यते।
शाखाङ्गोपाङ्गसंयुक्तस्त्वनुभावस्ततः स्मृतः ।।७।५।। (हिन्दी ना० शा०)।

हुए नाट्यशास्त्र में कहा गया है कि जिनके द्वारा वाचिक, आंगिक और सात्त्विक अभिनय अनुभावित होते हैं, उन्हें अनुभाव कहते हैं—"अनुभाव्यतेऽनेन वागङ्गसत्व-कृतोऽभिनय इति।" शरीर के विभिन्न अंगों तथा उपांगों की चेष्टाओं द्वारा किये जानेवाले अभिनय से अनुभावों का सम्बन्ध स्थापित करते हुए नाट्यशास्त्र में उन्हें (अनुभावों को) आन्तरिक भावों का सूचक कहा गया है।[1] अतः वहाँ भ्रू-कटाक्ष आदि विकारों को अनुभाव के नाम से अभिहित किया गया है। धनंजय ने कहा है कि रत्यादि स्थायीभाव की सूचना देनेवाले विकार, अनुभाव कहलाते हैं।[2] मानव-स्वभाव के अंग तथा लोक में उनकी स्वाभाविक स्थिति के कारण भरत ने विभावों एवं अनुभावों को लोक-प्रसिद्ध माना है। आचार्य विश्वनाथ के अनुसार लौकिक जीवन में अंगादिव्यापार कार्य समझे जाते हैं, किन्तु काव्य-नाट्य में इन्हें अनुभाव कहा जाता है।[3] इसके विपरीत रस-चर्वणा की प्रधानता देते हुए दशरूपककार ने अनुभावों को कारण रूप ही माना है, क्योंकि रसानुभूति अनुभावों के बिना नहीं हो सकती है। नाट्यदर्पणकार ने इसकी व्युत्पत्ति करते हुए लिखा है कि अनु अर्थात् लिंग के निश्चय के बाद रस को भावित करनेवाले कार्यरूप स्तम्भादि अनुभाव कहे जाते हैं।[4] प्रत्येक रस के विचार से अनुभाव भी अलग-अलग होते हैं। ये अनुभाव अनन्त हैं, अतः इनकी संख्या नहीं निश्चित की जा सकती। फिर भी भरत ने अनुभावों के वाचिक, सात्त्विक एवं आंगिक तीन भेदों का संकेत किया है।[5] शारदातनय ने अनुभावों को तीन वर्गों में विभाजित किया है:—मन-आरम्भानुभाव, वागारम्भानुभाव तथा बुद्ध्यारम्भानुभाव।[6] शिंगभूपाल मनारम्भा-नुभाव के स्थान पर चित्तारम्भानुभाव का उल्लेख कर उपर्युक्त तीन भेदों को ही स्वीकार किया है।[7] मानस अनुभाव को मनारम्भानुभाव तथा कायिक अनुभाव को गात्रारम्भानुभाव कहा गया है। शारदातनय ने इन दोनों अनुभावों का सम्बन्ध नायिका से स्वीकार कर अंगज, अयत्नज एवं स्वभावज नामक भेद किये हैं।

---

१ ना० शा० ४।३।

२ अनुभावो विकारस्तु भावसंसूचनात्मकः। (दशरू०, परि० ४)

३ लोके यः कार्यरूपः सोऽनुभावः काव्य-नाट्ययोः। (सा० द०)

४ तत्रानुलिङ्गनिश्चयात् पश्चात् भावयन्ति गमयन्ति लिंगिनं रसमित्यनुभावाः स्तम्भादयः। (—ना० द०, पृ० १४२)।

५ ना० शा० ७।५

६ भा० प्र० पृ० ६।

७ रसार्णवसुधा—पृ० ४८।

इसीलिए रूपगोस्वामी, विश्वनाथ आदि आचार्यों ने इन्हें नायिकाओं के अलंकार कहा है। मानस अनुभाव के अन्तर्गत हाव, भाव, हेला, शोभा, कान्ति, दीप्ति, माधुर्य, प्रागल्भ्य, धैर्य तथा माधुर्य नामक दश नायिकाओं के अलंकार (गुण) आते हैं। गात्रारम्भानुभाव के अन्तर्गत लीला, विलास, विच्छित्ति, विभ्रम, किलकिंचित्, मोट्टायित, कुट्टमित, बिब्बोक, ललित तथा विहृत आते हैं। इन अलंकारों के अलावे रूपगोस्वामी ने उद्भास्वर तथा वाचिक दो अन्य अंगों का उल्लेख किया है। इनमें उद्भास्वर के अन्तर्गत नीवी-स्रंसन, उत्तरीय-स्रंसन, धम्मिल-वेणी-स्रंसन, शरीर का ऐंठना या अंगभंगापूर्वक काम प्रदर्शित करना, जृम्भ तथा नाक फुलाना परिगणित किये गये हैं।

वाचिक को वागारम्भानुभाव ही कहना चाहिए। वाक् द्वारा प्रकट किये जाने वाले भाव को वागारम्भानुभाव कहते हैं। इनके अन्तर्गत आलाप, प्रलाप, विलाप, अनुलाप, संलाप, संदेश, अतिदेश, निर्देश, उपदेश तथा व्यपदेश नामक १२ अनुभाव माने गये हैं। इन्हें शारदातनय एवं शिंगभूपाल ने स्वीकार किया है। बुद्ध्यारम्भानुभाव के अन्तर्गत रीति, वृत्ति तथा प्रवृत्तियों का वर्णन किया जाता है। इनके प्रयोग में बुद्धि की ही विशेष आवश्यकता होती है।

वेपथु, स्तम्भ, रोमांच, स्वरभेद, अश्रु, मूर्च्छा, स्वेद, वैवर्ण्य इन ८ सात्विक अनुभावों को आचार्यों ने सात्त्विक भाव के अन्तर्गत अलग से परिगणित किया है। वस्तुतः उन्हीं अनुभावों की प्रधानता रूपकों में देखी जाती है।[1] नाट्यदर्पणकार ने उपर्युक्त अनुभावों के अतिरिक्त प्रसाद, उच्छ्वास, निःश्वास, क्रन्दन, परिदेवन, उल्लुकसन, भूमि-विलेखन, विवर्तन, उद्वर्तन, नखनिस्तोदन, भ्रुकुटिकटाक्ष, तिर्यगधोमुखनिरीक्षण, प्रशंसा, हसन, दान, चाटुकार, अस्यराग आदि अनुभावों को भी परिगणित किया है। ये सभी अनुभाव संगत हैं।[2]

बाह्य अभिव्यंजना के साधन होने के कारण अनुभावों में शारीरिक व्यापार की प्रमुखता होती है। अनुकार्य दुष्यन्त आदि की अन्तस्थ रसानुभूति की बाह्य अभिव्यक्ति अनुभावों के रूप में होती है। अभिनेता कृत्रिम रूप में इन अनुभावों का अनुभव करता है। इस तरह रसानुभूति के बाद उत्पन्न होने के कारण उन्हें अनुभाव नाम से अभिहित किया गया है। राजा अग्निमित्र मालविका के रूप सौन्दर्य से आकृष्ट होकर मन में सोचता है कि इसकी बड़ी-बड़ी आँखोंवाला—

---

१ वेपथु-स्तम्भ-रोमांचाः, स्वरभेदोऽश्रुमूर्च्छनम्।
स्वेदो वैवर्ण्यमित्याद्याः, अनुभावा रसादिजाः ॥—(ना० द०, पृ० १६५)

२ नाट्यदर्पण—पृ० १६५।

शरद् के चांद की तरह चमकता चेहरा, कंधों पर झुकी हुई भुजाएं, घने ऊँचे उठे हुए कुचों से कसी हुई छाती, चिकनी कोखें, मुट्ठी से मापी जाने वाली कमर, भारी नितम्ब और नीचे की ओर झुकी हुई अंगुलियों वाले पैर यानी इसका सम्पूर्ण शरीर इस तरह गढ़ा हुआ है जैसा कि नाट्याचार्य गणदास चाहता ही होगा।[1] मालविका छलित नृत्य करती हुई राजा अग्निमित्र के प्रति अपने हार्दिक अनुराग को गीतों[2] में बद्ध कर विभिन्न राग चेष्टाओं एवं भावभंगिमाओ के द्वारा प्रकट करती है। उसे देखकर राजा से विदूषक कहता है कि गीत के माध्यम से उसने (मालविका ने) अपने आपको आप पर न्योछावर-सा कर दिया है। इस पर राजा कहता है कि सचमुच मैंने भी यही अनुभव किया है। हे नाथ! तुम मुझे अपने पर अनुरक्त हुई समझो ("जनमिमनुरक्तं विद्धि नाथेति गेये")—गीत के इस कथन का अपने शरीर की ओर संकेत करते हुए उसने अभिनय किया है और धारिणी के समीप होने के कारण अपना प्रेम प्रकट करने का कोई अन्य साधन न देखकर जो मृदु प्रार्थना का बहाना बनाया है, इससे ऐसा लगता है जैसे यह सब कुछ उसने मुझे ही कहा है।[3] मालविका की इन अनुराग चेष्टाओं से अग्निमित्र के अन्दर रति नामक स्थायीभाव जाग जाता है। तदनन्तर अभिनेता द्वारा मंच पर प्रदर्शित होने पर प्रेक्षकों के अन्दर भी जब वह भाव उत्पन्न होता है तब उन्हें शृंगार रस की अनुभूति होती है। दुष्यन्त शकुन्तला के अव्याज मनोहर शरीर को देखकर मन में कहता है, कि यह निर्दोष सौन्दर्य न सूंघे हुए फूल के समान, नाखूनों से न छेदे गये नवीन पल्लव के सदृश, न बोधे गये रत्न के समान, जिसके सर का आस्वादन नहीं किया गया है, ऐसे नवीन मधु के समान तथा पुण्यकर्मों के अखण्डित फल के समान है। न जाने विधाता किस व्यक्ति को उसका उपभोक्ता बनायेगा।[4] वह शकुन्तला की अनुरागचेष्टाओं का स्मरण करते हुए कहता है कि मेरे द्वारा सामने देखे जाने पर वह अपनी दृष्टि हटा लेती थी तथा अन्य कारण को लेकर हँस पड़ती थी। इसलिए उसने शील के द्वारा नियन्त्रित व्यापार वाले कामभाव को न तो प्रकट

---

१ मालवि०—२।३।

२ वही २।४

३ वही २।५

४ अभि० शा०—२।१०

ही किया और न छिपाया ही।[1] पुनः दुष्यन्त कहता है कि परस्पर विवाद के समय सखियों के साथ प्रस्थान करते समय उसने लज्जाशीलता के साथ अपने प्रेमभाव को मेरे प्रति उचितरूप में अभिव्यक्त किया। क्योंकि दुर्वल अंगोंवाली कुछ ही कदम आगे बढ़ कर अचानक "कुश के अंकुर से मेरा पैर घायल हो गया है", यह कहकर खड़ी हो गयी और वृक्षों की शाखाओं में न उलझे हुए भी वल्कल वस्त्र को छुड़ाती हुई मेरी ओर मुँह करके खड़ी हो गई।[2] इस प्रकार हम देखते हैं कि दुष्यन्त के अन्तस्थ रतिभाव की अभिव्यक्ति वाक् अनुभावों के द्वारा हुई है। इसी प्रकार कालिदास के रूपकों में नायिका के अन्तस्थ रतिभाव की अभिव्यक्ति भी उपर्युक्त माध्यमों से हुई है। उन सबका अलग-अलग विवेचन करने से प्रवन्ध का कलेवर वहुत विशाल हो जायगा अतः संक्षेप में उदाहरणस्वरूप उपर्युक्त अनुभाव का उल्लेख कर इस विचार को यहीं स्थगित किया जाता है।

भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र में भाव के तीन भेद वताये हैं :—स्थायीभाव, व्यभिचारीभाव तथा सात्त्विक भाव।

संसार में हम देखकर या सुनकर जो कुछ अनुभव करते हैं उनका संस्कार हमारे मन पर पड़ता है। ये अनुभव क्षणिक होने के कारण नष्ट हो जाते हैं, किन्तु उसका एक स्थायी संस्कार रह जाता है, जिसे वासना भी कहा जाता है। अनुकूल (उद्वोधक) सामग्री पाकर हमारे मन में सुप्तप्राय ये संस्कार जाग जाते हैं। ये संस्कार इस जन्म के तथा पूर्व जन्म के भी हो सकते हैं। नाट्यदर्पणकार ने कहा है कि ये स्थायीभाव हृदय में वासना रूप से संस्थित रहते हैं।[3] अभिनवगुप्त ने इनकी वासनारूपता के सम्वन्ध में विचार कर लिखा है कि संसार का कोई भी प्राणी इन चित्तवृत्तियों से शून्य नहीं है। संस्काररूप होने से यह

---

१ राजा—निसर्गादेवाप्रगल्भस्तपस्विकन्याजनः, तथापि तु—
अभिमुखे मयि संहृतमीक्षणं हसितमन्यनिमित्तकृतोदयम्।
विनयवारितवृत्तिरतस्तया न विवृतो मदनो न च संवृतः ॥२।११॥
(वही)

२ राजा—मिथ प्रस्थाने पुनः शालीनतयापि काममाविष्कृतो भावस्तत्रभवत्या।
तथाहि दर्भाङ्कुरेण चरणः क्षत इत्यकाण्डे तन्वी स्थिता कतिचिदेव पदानि गत्वा।
आसीद्विवृत्तवदना च विमोचयन्ती शाखासु वल्कलमसक्तमपि द्रुमाणाम् ॥
(अभि० शा०)—२।१२॥

३ —वासनात्मतया स्थितं स्थायिनं……। ना० द०, पृ० १४४)

जन्म से ही हरएक प्राणी के अन्दर वर्त्तमान रहता है।[1] यह (स्थायीभाव) प्रतिक्षण उत्पत्ति एवं विनाशधर्म से युक्त व्यभिचारीभावों में अनुगत रहता है।[2] आचार्य विश्वनाथ का कहना है कि स्थायीभाव उस भाव को कहते हैं, जो न किसी अनुकूल भाव से तिरोहित होता है और न किसी प्रतिकूल भाव से दवा करता है। वह अन्त तक अवस्थित रहता है तथा इसी में रस के अंकुरण की मूल शक्ति निहित रहती है।[3] धनंजय ने स्थायीभाव को स्पष्ट करने के लिए समुद्र से उपमा देते हुए कहा है कि समुद्र के अन्तर्गत कोई भी खारा या मीठा जल मिलकर तद्रूप हो जाता है, समुद्र सभी पदार्थों को आत्मसात् करके आत्मरूप वना लेता है, उसी प्रकार स्थायीभाव अन्यान्य सम्पूर्ण भावों को आत्मरूप वना लेता है। वह अपने प्रतिकूल अथवा अनुकूल किसी भी प्रकार के भाव से विच्छिन्न नहीं होता तथा दूसरे सभी प्रतिकूल या अनुकूल भावों को आत्मरूप वना लेता है।[4] कालिदास ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि रम्य दृश्यों को देखकर अथवा मधुर शब्दों को सुनकर यदि कोई सुखी व्यक्ति भी पर्युत्सुक (उन्मना) हो उठता है तो इसका कारण यही समझना चाहिए कि उसे अपने पूर्व के जन्मों के स्नेह-सम्बन्धों की, जो उसके अचेतन मन में स्थिर (स्थायी) भावों के रूप में स्थित है, अनायास ही सुधि आ रही है।[5] इस कथन से पता चलता है कि कालिदास की दृष्टि में स्थायीभाव ही उद्‌बुद्ध होकर रस के रूप में आस्वादित होता है। मम्मट का कथन

१ जात एव जन्तुरियतीभिः संविद्भिः परीतो भवति।
न हि एतच्चित्तवृत्ति वासनाशयः प्राणी भवति।
वासनात्मना सर्वजन्तूनां तन्मयत्वेन उक्तत्वात् (अभिनवभारती)

२ प्रतिक्षणमुदयव्ययधर्मकेषु बहुष्वपि व्यभिचारिष्वनुयायितयाऽवश्यं तिष्ठतीति स्थायी।—(ना० द०, पृ० १८१)

३ अविरुद्धा विरुद्धा वा यं तिरोधातुमक्षमा।
आस्वादाङ्कुरकन्दोऽसौ भावः स्थायीति सम्मतः ॥३।१७४)—सा० द०

४ विरुद्धैरविरुद्धैर्वा भावैर्विच्छिद्यते न यः।
आत्मभावं नयत्यन्यान् स स्थायी लवणाकरः ॥४।३४॥ (दशरू०)

५ राजा—(आत्मगतम्) किं नु खलु गीतमेवं विधार्थमाकर्ण्येष्टजनविरहाद् ऋते अपि वलवदुत्कण्ठितोऽस्मि।—अथवा —
रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्
पर्युत्सुको भवति यत्सुखितोऽपि जन्तुः।
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं
भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि ॥५।२ (अभि० शा०)

"स्थायीभाव: रसस्मृत:"—कालिदास के विचार से मिलता-जुलता है। आधुनिक मनोविज्ञान में जिन्हें मूलप्रवृत्ति (मन:संवेग) कहा गया है, काव्यशास्त्र में उन्हें ही स्थायीभाव नाम दिया गया है। यह मूल प्रवृत्ति वह प्रकृति प्रदत्त शक्ति है, जिसके कारण प्राणी किसी विशेष पदार्थ की ओर आकर्षित होता है तथा उसकी उपस्थिति में विशेष प्रकार के संवेग (मन.क्षोभ) का अनुभव करता हैं।

लोकव्यवहार में मनुष्य को जैसी अनुभूति होती है उसे ध्यान में रखकर स्थायीभाव के आठ प्रकार माने गये हैं—रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा (घृणा) तथा विस्मय।[1] ये आठों भाव मानव-हृदय में निरन्तर विद्यमान रहते हैं। ये अनुकूल विभावादि को प्राप्त करने पर तदनुरूप अभिव्यक्त होकर पृथक्-पृथक् रसों की सृष्टि करते हैं। अभिनवगुप्त ने स्थायीभावों की संख्या नौ निर्धारित की है।[2] नाट्यदर्पणकार तथा आचार्य विश्वनाथ ने भी स्थायीभावों की संख्या नौ बतायी है।[3] दशरूपककार ने इसकी संख्या आठ ही मानी है। कालिदास ने विक्रमोर्वशीयम् में भरत के अष्टरसाश्रित प्रयोग का उल्लेख किया है।[4] इससे अनुमान किया जा सकता है कि उनकी दृष्टि में आठ ही स्वीकृत रस होने के कारण स्थायीभावों की आठ ही संख्या मान्य हो। किन्तु अभिज्ञानशाकुन्तलम् के शास्त्रीय अध्ययन से पता चलता है कि उन्हें निर्वेद या शम नामक नवम स्थायीभाव भी मान्य था। अतः उसमें शान्त नामक नवम रस की भी अभिव्यक्ति हुई है। हो सकता है कि परवर्ती नाट्याचार्यों ने इसी से प्रभावित होकर शम नामक नवम स्थायीभाव तथा शान्त रस को स्वीकार किया। इन स्थायीभावों से अभिव्यक्त रसों के विभिन्न प्रकार का सांगोपांग विवेचन यथाप्रसंग आगे किया जायगा।

जैसे अनेक अनुचरों द्वारा अर्जित यश एवं श्रेय का अधिकारी अन्ततः राजा होता है तथा जैसे शिष्य अपनी प्रतिभा से गुरु के ज्ञान को प्रकाशित करते हैं, उसी प्रकार विभाव, अनुभाव एवं संचारीभावों द्वारा परिपुष्ट रसत्व के अधिकारी स्थायी-

---

१ रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं तथा।
जुगुप्सा विस्मयश्चेति स्थायीभावा प्रकीर्तिताः ॥६।१८ (हिन्दी० ना० शा०)।

२ अभि० शा०, पृ० ४८१।

३ रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं तथा।
जुगुप्सा विस्मयश्चेत्थमष्टौ प्रोक्ताः शमोऽपि च ॥३।१७५ (सा० द०)।
ना० द०, पृ० १५६।

४ मुनिना भरतेन यः प्रयोगो भवतीष्वष्टरसाश्रयो नियुक्तः।
ललिताभिनयं तमद्यभर्ता मरुतां द्रष्टुमनाः सलोकपालः ।२।१८। (विक्र०)।

भाव होते हैं। अर्थात् विभाव, अनुभाव एवं संचारीभाव तीनों स्थायीभावों के आश्रित होते हैं। वे अनुचर है तथा स्थायीभाव उनका अधिष्ठाता। लेकिन उसका स्थायित्व उसके अनुचरों के कारण है।[1]

नाट्यशास्त्र में व्यभिचारी पद की व्युत्पत्ति करते हुए बताया गया है कि 'वि' एवं 'अभि' उपसर्गों से गति तथा संचालन अर्थ में 'चर्' धातु से व्यभिचारी शब्द निष्पन्न होता है। इस दृष्टि से विभिन्न रसों में अनुकूलता के साथ उन्मुख या संचरित होनेवाले भावों को व्यभिचारीभाव कहा जाता है। ये व्यभिचारी भाव विभिन्न अनुभावों से युक्त आंगिक, वाचिक एवं सात्विक अभिनयों के द्वारा स्थायीभावों को रसरूप मे व्यक्त करते हैं, अर्थात् स्थायीभावों को रस तक ले जाते हैं। इसे यों कहा जा सकता है कि जो रसों में विविध रूप से विचरण करते हैं तथा रसों को पुष्ट कर आस्वादनयोग्य बनाते हैं, उन्हें व्यभिचारीभाव कहा जाता है।[2] जैसे सूर्य नक्षत्र या दिन को धारण करता है, अथवा ले जाता है, उसी प्रकार व्यभिचारी-भाव, स्थायीभावों को धारण करते या रस तक ले जाते हैं। वे स्थायीभावों को रसरूप में भावित करते हैं। इसलिए उन्हें व्यभिचारी कहा गया है।[3] धनंजय का कथन है कि जो भाव विशेपरूप से स्थायीभाव की पुष्टि के लिए तत्पर या अभिमुख रहते हैं और स्थायीभाव के अन्तर्गत आविर्भूत तथा तिरोहित होते दिखाई पड़ते हैं, वे व्यभिचारीभाव कहलाते हैं। जिस प्रकार लहरें समुद्र में पैदा लेती हैं और उसी में विलीन हो जाती हैं उसी प्रकार रत्यादि स्थायीभावों में निर्वेदादि व्यभिचारी (संचारी) भाव उन्मग्न तथा निमग्न होते रहते है। इस प्रकार व्यभिचारीभाव मुख्यरूप से स्थायीभाव में उठते-गिरते हैं।[4] लहरों के उठने तथा गिरने से समुद्र का समुद्रत्व और भी पुष्ट होता है ठीक उसी तरह व्यभिचारीभाव स्थायीभावों के पोषक होते हैं। स्पष्ट है कि स्थायीभाव स्थिर है तो व्यभिचारीभाव संचरणशील एवं अस्थिर। आचार्य भरत ने व्यभिचारीभावों की संख्या ३३ मानी है। ये प्राय: सर्वमान्य हो गये हैं। वे हैं—(१) निर्वेद, (२) ग्लानि, (३) शंका, (४)

---

१ यथा नराणां नृपतिः शिष्याणां च यथा गुरुः।
एवं सर्वभावानां भावः स्थायी महानिह ।।७।८।। (हि० ना० शा०)।

२ विविधाभिमुख्येन रसेषु चरन्तीति व्यभिचारिणः। वागंगसत्वोपेताः प्रयोगे रसान्नयन्तीति व्यभिचारिणः। (हि० ना० शा०—३९०)।

३ यथेदं सूर्यो नक्षत्रं दिन वा नयतीति एवमेते व्यभिचारिण इत्यवगन्तव्याः। (वही)

४ विशेषादाभिमुख्येन चरन्तो व्यभिचारिणः।
स्थायिन्युन्मग्ननिर्मग्नाः कल्लोला इव वारिधौ ।।४।७ (दशरू०),
—सा० द० ३।१४०।

असूया, (५) मद, (६) श्रम, (७) आलस्य, (८) दैन्य, (९) चिन्ता, (१०) मोह, (११) स्मृति, (१२) धृति, (१३) व्रीड़ा, (१४) चपलता, (१५) हर्ष, (१६) आवेग, (१७) जड़ता, (१८) गर्व, (१९) विषाद, (२०) औत्सुक्य, (२१) निद्रा, (२२) अपस्मार, (२३) सुप्त, (२४) प्रबोध, (२५) अमर्ष, (२६) अवहित्था, (२७) उग्रता (२८) मति, (२९) व्याधि, (३०) उन्माद, (३१) मरण, (३२) त्रास, एवं (३३) वितर्क। कालिदास के तीनों रूपकों में इन व्यभिचारीभावों का उपयोग विभिन्न रसों की अभिव्यक्ति में हुआ है। राजा दुष्यन्त के इस कथन में 'मति' नामक व्यभिचारीभाव व्यक्त हुआ है—

असंशय क्षत्रपरिग्रहक्षमा यदार्थमस्यामभिलाषि मे मनः।
सतां हि संदेहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः ।।
"स्मृति" का उदाहरण—"रम्याणि वीक्ष्य ....
.... --- ....
.... ---- ....

जननान्तरसौहृदानि ।।५।२। (अभि० श०)।

मनः प्रभव को सुत्व कहते हैं। मन की एकाग्रता से सत्व की उत्पत्ति होती है—"मनसः समाधौ सत्वनिष्पत्तिर्भवति" सत्व से उत्पन्न होने के कारण इन्हें सात्विक भाव कहते हैं। सत्व का अर्थ है, अनुकार्य दुष्यन्तादि के दुःखादि भाव से भावक के चित्त का भावित होना।[1] अधिकांश आचार्यों ने अनुभाव तथा सात्विक भाव को एक ही माना है। मनःप्रभव होने के कारण इन्हें सात्विक संज्ञा दे दी गई है। सात्विक भाव आठ हैं—(१) स्तम्भ, (२) स्वेद, (३) रोमांच, (४) स्वरभंग, (५) वेपथु, (६) वैवर्ण्य, (७) अश्रु एवं (८) प्रलय।

इस प्रकार नाट्य की रसाभिव्यक्ति में कारणीभूत आठ स्थायीभाव, तैंतीस संचारीभाव तथा आठ सात्विक भावों के सामान्य गुणों के संयोग से शृंगारादि रस निष्पन्न होते हैं।[2] भरतमुनि का भाव-विवेचन वैज्ञानिक तर्कसम्मत होने के कारण परवर्ती आचार्यों के लिए मान्य हुआ। कालिदास के रूपकों में इनकी यथेष्ट अभिव्यंजना हुई है।

रसस्वरूप-विवेचन के प्रसंग में भरत के विचारानुसार यह बताया गया कि रस-भाव के सहायक विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारीभावों के संयोग से रस निष्पन्न होता है। 'निष्पत्ति' शब्द से उनका क्या तात्पर्य है तथा वह किस प्रकार होती है, इसकी भलीभाँति व्याख्या उन्होंने नहीं की। उन्होंने उसके प्रसंग में सिर्फ इतना ही कहा कि जैसे गुड़ आदि द्रव्यों, व्यंजनों और औषधियों से षट्रस बनते हैं

१ पृथग्भावा भवन्त्यन्ये अनुभावत्वेऽपि सात्विकाः।४।४
सत्त्वादेव समुत्पत्तेस्तच्च तद्भावभावनम्। (दशरू० प्र० ४)।

२ एभ्य. सामान्यगुणयोगेन रसा निष्पद्यन्ते। (हि० ना० शा० अ० ७, पृ० ३७६)।

उसी प्रकार नाना भावों से परिवृत स्थायीभाव रसत्व को प्राप्त होते हैं—"गुडादिभिर्द्रव्यैर्व्यञ्जनैरोषधिभिश्च षड्रसा निर्वर्त्यन्ते, एवं नाना भावोपहिता अपि स्थायिनो भावा रसत्वमाप्नुवन्ति"। इसे प्रपाणक रस की तरह चर्व्यमाण रस कहा गया है—"प्रपाणक-रसन्यायात् चर्व्यमाणो रसो मतः"। किन्तु इतने से भी इसका अर्थ स्पष्ट नहीं हो सका। अतः परवर्ती आचार्यों ने अपने-अपने ढंग से उसकी व्याख्या की। यहाँ स्वभावतः प्रश्न उठता है कि रस का मूल भोक्ता नाटककार (कवि) या प्रेक्षक (श्रोता) या नाटक (काव्य) के पात्र अथवा नाट्यगत पात्रों के मूल रूप ऐतिहासिक नर-नारी अथवा नट-नटी आदि में से कौन हैं? इनमें प्रेक्षक (श्रोता) का किसी न किसी रूप में भोक्ता होना स्पष्ट है, अतः प्रायः सभी आचार्यों ने इसे माना है। कालिदास ने भी इसे स्वीकार किया है।[1]

भरत के रससूत्र के प्रथम व्याख्याता मीमांसक भट्टलोल्लट हैं। सामाजिक (प्रेक्षक) के आनन्द को स्वीकार करते हुए ये कहते हैं कि रस का वास्तविक आस्वादन नायक-नायिका ही करते हैं। सामाजिक के हृदय में तो नट-नटी के माध्यम से उनके रस की प्रतीति करके रस की उत्पत्ति होती है। उनके कहने का तात्पर्य है कि नायक-नायिका का रस है वास्तविक, प्रेक्षक का प्रतीतिजन्य (अपरागत) तथा इस प्रतीति के माध्यम नट-नटी हैं। सहृदय सामाजिक नट-नटी में नायक एवं नायिका का आरोप करके (नाट्यकौशल के कारण उन्हें ही नायक-नायिका समझता हुआ) नाट्य का आनन्द लेता है। स्पष्ट है कि लोल्लट रस की स्थिति ऐतिहासिक दुष्यन्त-शकुन्तला में ही मानता है। उनकी दृष्टि में रस के साथ सामाजिकों का कोई सम्बन्ध नहीं रह जाता। इनका यह दृष्टिकोण उत्पत्तिवाद कहलाता है। वे निष्पत्ति का अर्थ उत्पत्ति मानकर विभावादि भावों को उत्पादक तथा रस को उत्पाद्य मानते हैं। वे विभावादि को कारण तथा रस को उनका कार्य मानते हैं। आचार्य मम्मट ने भट्टलोल्लट के मत को उद्धृत करते हुए लिखा है कि आलम्बन तथा उद्दीपन विभावों के कारण उत्पन्न रति आदि भाव, अनुभाव, कार्यों से प्रतीतियोग्य होकर व्यभिचारी सहकारियों से उपाश्रित होकर रस रूप को प्राप्त होते हैं, जो मुख्यतः अनुकार्य में होता है, किन्तु अनुसन्धानवश नट में प्रतीयमान होते हैं।[2] वस्तुतः मम्मट ने प्रतीयमान शब्द

---

१ अभि० शा० ५.१२।

२ विभावैर्ललनोद्यानादिभिरालम्बनोद्दीपनकारणैः रत्यादिको भावो जनितः, अनुभावैः कटाक्षभुजाक्षेपप्रभृतिभिः कार्यैः प्रतीतियोग्यकृतः, व्यभिचारिभिर्निर्वेदादिभिः सहकारिभिरुपचितो मुख्यया वृत्त्या रामादावनुकार्ये तद्रूपतानुसन्धानान्नर्तकेऽपि प्रतीयमानो रसः—(का० प्र०, पृ० ८७)।

का प्रयोग कर इस मत को नवीनता प्रदान की है। लोल्लट ने संयोग को तीन अर्थों में स्वीकार किया है—स्थायीभाव विभाव के साथ उत्पाद्य-उत्पादक-संबंध से उत्पन्न होते हैं; अनुभाव अनुमाप्य-अनुमापक-सम्बन्ध से उनकी अनुमिति कराते हैं तथा संचारी भाव पोष्य-पोषक-भाव-सम्बन्ध से उनकी रसरूप में पुष्टि करते हैं। इस तरह लोल्लट सहृदय सामाजिकों में रस की स्थिति नहीं मानते हैं तथा रस के साथ विभावादि का कार्य-कारण सम्बन्ध बताते हैं। इनका यह सिद्धान्त मीमांसा दर्शन पर आधारित है।

भरत के रससूत्र के दूसरे व्याख्याता नैयायिक आचार्य शंकुक ने भट्टलोल्लट के उत्पत्तिवाद का विरोध करते हुए "निष्पत्ति" का अर्थ अनुमिति बताया तथा प्रतिपादित किया कि रस अनुमित होता है। उनके अनुसार विभावादि अनुमापक हैं और रस अनुमाप्य। इन्हीं को गम्य-गमक भी कहते हैं। उनका कहना है कि विभव, अनुभाव एवं व्यभिचारीभाव रस की अनुमिति कराते हैं। जैसे पर्वत में धूम को देखकर पर्वत स्थित अग्नि की अनुमिति होती है, वैसे ही नट में राम आदि के से अनुभावादि देखकर हम वहाँ रस की स्थिति का अनुमान कर लेते हैं। इस अनुमाप्य-अनुमापक सम्बन्ध में शंकुक ने चित्रतुरगादिन्याय की कल्पना भी की है। जैसे चित्र का घोड़ा वास्तविक घोड़ा न होते हुए भी उसे घोड़ा मानना ही पड़ता है वैसे ही नट स्वयं दुष्यन्त नहीं है, फिर भी सामाजिक उसे चित्रतुरग की तरह दुष्यन्त समझता है। शंकुक के विचार से मूल भाव का अनुभव करते हैं नायक-नायिका, उसके अनुकृत भाव (रस) का अनुमान द्वारा प्रेक्षक अनुभव करते हैं। इस अनुमान का माध्यम है नट-नटी, जिनका अभिनय-सौंदर्य इस अनुमान को सम्भव बनाता है। इस प्रकार शंकुक भी रस की मूल स्थिति ऐतिहासिक दुष्यन्त शकुन्तला (नायक-नायिका) आदि में मानता है, किन्तु वह लोल्लट की भाँति सामाजिकों में उसका सर्वथा अभाव नहीं मानता। निष्कर्षतः आचार्य मम्मट ने शंकुक के मत को प्रकट करते हुए लिखा है कि जिस प्रकार कुहरे से आवृत स्थान में कुहरे को धुआँ समझने के कारण धुएँ के साथ रहने वाली अग्नि का अनुमान होता है, उसी प्रकार नट के द्वारा निपुणतापूर्वक विभावादि को ये मेरे ही हैं, इस रूप में प्रकाशित किये जाने के कारण, वस्तुतः अविद्यमान विभाव इत्यादि के द्वारा उसमें नियत रति अनुमीयमान होने पर भी अपने सौंदर्य के कारण सामाजिकों द्वारा आस्वाद का विषय बनती तथा चमत्कार का आधान करती हुई रसत्व को प्राप्त होती है।[1]

---

[1] यथा कुज्झटिकाकुलिते देशे असतोऽपि धूमस्याभिमानाद् धूमनियतस्य वह्नेरनुमानम्, तथा नटेनैव सुनिपुणं "ममैवेति विभावादयः"—इति प्रकाशितैस्तत्त्वासद्भिरपि विभवादिभिस्तन्नियता रतिरनुमीयमानापि निजसौन्दर्यबलात् समाजिकानामास्वाद्यमानतया चमत्कारमादधती रसतामेतीति रतेरनुमितिरेव रसनिष्पत्तिः। —(वामन, का० प्र० टी०, पृ० ९०)।

वस्तुकः शंकुक ने रसास्वादन के विवेचन में विशेष योग नही दिया। उसकी एकमात्र देन यह है कि नट-नटी के अभिनयकौशल का आनन्द भी रसानुभव में महत्त्वपूर्ण योग देता है। इस मत में असंगत बातें हैं। नट रूप दुष्यन्त का दुष्यन्तत्व निश्चित नहीं, लेकिन उसे अनुमान का आधार बनाया जा रहा है। अनुभव आदि हेतु भी कल्पित तथा कृत्रिम हैं, फिर भी उसे अकृत्रिम माना जा रहा है। कृत्रिम हेतु के द्वारा साध्य स्थायीभाव भी संभावित मात्र हैं, अनुमति कल्पित है।

संख्यावादी आचार्य भट्टनायक ने उत्पत्तिवाद, अनुभितिवाद तथा अभिव्यक्तिवाद का खंडन करते हुए बताया कि रस का न तो ज्ञान होता है, न उत्पत्ति और न अभिव्यक्ति। उनके विचार से रस की भुक्ति होती है। इस तरह उनकी दृष्टि में निष्पत्ति का अर्थ भुक्ति है। विभावादि भोजक है और रस भोज्य। अतः दोनों में भोज्य-भोजक सम्बन्ध मानकर उन्होने भुक्तिवाद के नाम से एक अलग सिद्धान्त की स्थापना की। उन्होंने अभिधाशक्ति के अतिरिक्त भावकत्व एवं भोजकत्व व्यापारों की कल्पना कर काव्य में इन तीन शक्तियों को निसर्ग सिद्ध माना। इनके मतानुसार सामाजिक या श्रोता सबसे पहले काव्य की अभिधाशक्ति द्वारा उसके वाच्यार्थ का ज्ञान प्राप्त करता है। उसके बाद भावकत्व व्यापार के द्वारा वह रामादि पात्रों की भावना के साथ अपनी भावना का तादात्म्य स्थापित करता है। इसी व्यापार के द्वारा रामादि पात्र अपना व्यक्तित्व छोड़कर साधारणीकृत हो जाते हैं। इस स्थिति में पहुँचने पर सामाजिक की बुद्धि में रजोगुण एवं तमोगुण का प्रभाव विनष्ट होकर सिर्फ सत्व गुण का उद्रेक होता है। जब सामाजिक सभी लौकिक इच्छाओं से स्वतंत्र हो जाता है तब भोजकत्व व्यापार-रूपी साधन से रसास्वाद (रसभोग) होता है।[१] इनके इस सिद्धान्त पर सांख्यदर्शन का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। इन्होंने रस की स्थिति नायक नायिका अथवा नट-नटी में न मान कर सहृदय सामाजिक में मानी है। साधारणीकरण के सिद्धान्त की उद्‌भावना रस-व्याख्या के क्षेत्र में इनका महत्त्वपूर्ण योग माना जाता है। यह साधारणीकरण सिद्धान्त नाट्य-सम्मत, व्यावहारिक तथा सर्वथा उपयुक्त होने के कारण परवर्ती आचार्यों द्वारा स्वीकृत हुआ। निःसन्देह उनके विवेचन से रस सिद्धान्त समृद्ध और समुन्नत हुआ। भरत सूत्र के चतुर्थ व्याख्याता व्यंजनावादी तथा ध्वनिवादी आलंकारिक आचार्य

---

१ न ताटस्थ्येन नात्मगतत्वेन रसः प्रतीयते, नोत्पद्यते, नाभिव्यज्यते अपितु काव्ये नाट्ये चाभिधातो द्वितीयेन विभावादिसाधारणीकरणात्मना भावकत्व-व्यापारेण भाव्यमानः स्थायीसत्वोद्रेकप्रकाशानन्दमयसंविद्विश्रान्तिसत्वेन भोगेन भुज्यते इति। (का० प्र०, पृ० ९०)

के मत से संतोष नहीं हुआ। इन्होंने उनके भावकत्व एवं भोजकत्व व्यापारों की कल्पना को तथा उस प्रकार के साक्षात्कार की कल्पना को भी प्रमाणहीन माना है। इनकी दृष्टि में भावकत्व एवं भोजकत्व व्यापार दोनों व्यंजना के ही रूप हैं। इनके विचार से साधक काव्य है, साधन व्यंजना है और साध्य रस है। इनका कहना है कि लोक में प्रमदा के कटाक्ष आदि से जो सहृदय व्यक्ति यह निश्चित अनुमान कर लेते हैं कि उसके हृदय में व्यक्ति विशेष के प्रति रति है, उन्हीं को काव्य में रस का आस्वाद होता है। अभिनवगुप्त का कहना है कि लोक में जो प्रमदा आदि लौकिक कारण होते हैं, वे काव्य और नाट्य में विभावन आदि अलौकिक नाट्यगत व्यापारों से युक्त हो जाने के कारण विभावादि कहलाने लगते हैं तथा लौकिक कारणत्व का परित्याग कर देते हैं। इनके मत में निष्पत्ति का अर्थ अभिव्यक्ति तथा संयोग से विभावादित्रय का सम्मिलित रूप लिया गया है। यानी विभाव विभाव-व्यापार के द्वारा स्थायीभाव को अंकुरित करता है, अनुभाव अनुवाभावनाव्यापार से इस स्थायीभाव को अनुभवयोग्य बना देते हैं और व्यभिचारीभाव अनुरंजन-व्यापार द्वारा उसे पूर्णतया व्यंजित कर देते हैं। इस तरह सामाजिक के स्थायीभाव रसरूप में प्रकट (व्यक्त) होते हैं। स्पष्ट है कि इनके विचार से विभावादि रस के अभिव्यंजक हैं और रस अभिव्यंग्य है। उसे अभिधा या लक्षणा के द्वारा प्रतीत न मानकर वे व्यंजनावृत्ति द्वारा अभिव्यक्त मानते हैं। इन्होंने विभावादि के रसास्वाद होने की योग्यता के लिए भट्टनायक के साधारणीकरण सिद्धान्त को स्वीकार किया है। भावकत्व एवं भोजकत्व आदि कुछ बातों को छोड़कर इन्होंने भट्टनायक की शेष बातें स्वीकार कर ली हैं। उसका इसके सम्बन्ध में सबसे बड़ा महत्त्वपूर्ण योग है—सामाजिकों के अन्तःकरण में वासना रूप से स्थायीभाव की स्वीकृति। इस अभिनव कल्पना के द्वारा उन्होंने रस का सामाजिक के भावों से सीधा सम्बन्ध माना है। रस-निष्पत्ति के लिए सहृदय सामाजिक के अन्दर अनिवार्य रूप से विद्यमान अनादि वासना ही स्थायीभाव के नाम से अभिहित होता है। यह वासना-संवाद ही रस का हेतु है। यह वासना जन्म से ही सभी प्राणियों में वर्त्तमान नहीं रहती है। इनका यह अभिव्यक्तिवाद शैवदर्शन पर आधारित है, जो स्वतः अद्वैतवादी है। उनके कहने का तात्पर्य है कि शिव की आभ्यन्तरिक इच्छा से सृष्टि अभिव्यक्त होती है और उनकी इच्छाशक्ति निर्विघ्न है। इसी तरह सहृदय के अन्त.करण में वासनारूप में स्थित स्थायीभाव निर्विघ्न होकर रसरूप में अभिव्यक्त होते हैं। ये ब्रह्मास्वादसहोदर रूप रसानुभूति को त्रिगुणातीत मानते हैं। इसीलिए उसे व्यक्ति और स्थितिसंबंध से मुक्त मानकर परमभोग तथा विश्रान्ति माना गया है। इसकी यह आत्मस्थावस्था ही निरपेक्ष आनन्द है। भोग

की स्थिति वास्तविक आनन्द नहीं मानी जा सकती। कालिदास भी शैव है। अतः उन्हें भी इसी प्रकार के अलौकिक आनन्द में विश्वास है। उन्होंने अपने सर्वोत्तम नाटक अभिज्ञानशाकुन्तलम् में इस तथ्य की अभिव्यक्ति की है। उन्होंने दुष्यन्त एवं शकुन्तला के भोगजन्य शृंगार को दुर्वासा के शाप से पश्चात्ताप एवं तप में दग्ध कर आत्मज्ञान के माध्यम से योगजन्य शृंगार में परिणत कर दिया है। सिर्फ भोगपरक जीवन में मानवता का कल्याण संभव नहीं, अतः उन्होंने दुर्वासा के शाप का नियोजन किया। पुनः अंगुलीयक जैसी अभिज्ञान की वस्तु को देखने पर शापमोचन का भी उपाय बताया। उनकी शृंगारिक भोगवासना भक्ति की वासना में परिणत हो जाती है। मारीच के आश्रम में शकुन्तला अध्यातम की सिद्धि में लीन है। दुष्यन्त यहाँ आकर आध्यात्मिक सौंदर्य एवं शक्ति से युक्त शकुन्तला को देखकर अपने कर्मों पर पश्चात्ताप करता हुआ एक अपराधी की भाँति क्षमा याचना करता है। वह सब कुछ भूल कर आत्मसमर्पण भाव से शकुन्तला के चरणों पर अपने को निवेदित कर देता है। दुर्वासा के शापवश राजा दुष्यन्त के कृत आचारों की वस्तुस्थिति को मारीच ऋषि द्वारा सत्यापित पाकर शकुन्तला सब कुछ भूलकर दुष्यन्त से मिलती है। यहाँ के आध्यात्मिक वातावरण में दुख-दैन्य उत्पन्न करने वाली वासना का अन्त हो गया है। सारे विघ्न समाप्त हो गये हैं। अतः इस निर्विघ्नावस्था में सामाजिक को आत्मनिरपेक्ष आनन्दानुभूति होती है।

अभिनवगुप्त ने साधारणीकरण के सिद्धान्त द्वारा यह स्वीकार किया है कि रस की स्थिति सहृदय की आत्मा में ही है, नाट्य से उसकी मात्र अभिव्यक्ति होती है। समष्टिगत रस की कल्पना इनकी मौलिक उद्भावना है। उनका कहना है कि सहृदयों को रसास्वाद प्रपाणकरस के समान होता है। वह रस सर्वत्र परिस्फुरित होता हुआ-सा, हृदय में प्रविष्ट होता हुआ-सा, प्रत्यङ्ग को अमृत के समान स्पर्श करता हुआ-सा, अन्य समस्त ज्ञेय पदार्थों का तिरोधान करता हुआ-सा, ब्रह्मास्वाद का अनुभव करता हुआ-सा और लौकिक सामग्रीजन्य आस्वाद की अपेक्षा विलक्षण एवं चमत्कारपूर्ण होता है।[1]

---

१ लोके प्रमदादिभिः स्थाप्यनुमानेऽभ्यासपाटववतां काव्ये नाट्ये च तैरेव कारणत्वादिपरिहारेण विभावनादिव्यापारवत्त्वादलौकिकविभावादिशब्द-व्यवहार्यै ममैवेते शत्रोरेवैते तटस्थस्यैवैते, न ममैवैते न शत्रोरेवैते न तटस्थस्यैवैते—इति सम्बन्धविशेषस्वीकारपरिहार-नियमानध्यवसायात् साधारण्येन प्रतीतैरभिव्यक्तः सामाजिकानां वासनात्मतया स्थितः स्थायी रत्यादिको नियतप्रमातृगतत्वेन स्थितोऽपि साधारणोपायबलात् तत्कालविगलित-परिमित-प्रमातृभाववशोन्मिषितवेद्यान्तरसम्पर्कशून्यापरिमितभावेन प्रमात्रा सकल-हृदयसंवादभाजा साधारण्येन स्वकार इवाभिन्नोऽपि गोचरीकृतश्चर्व्यमाणतैकप्राणो विभावादि जीवितावधिः पानकरसन्यायेन चर्व्यमाणः पुर इव परिस्फुरन् हृदयमिव प्रविशन् सर्वाङ्गीणमिवालिङ्गन् अन्यत् सर्वमिव तिरोदधत् ब्रह्मास्वादमिवानुभावयन् अलौकिकचमत्कारकारी शृङ्गारादिको रसः।
(का० प्र०, पृ० ९५)।

कालिदास ने वासना की स्थिति प्राणीमात्र में मानी है। सबके अन्दर स्वभावतः सांसारिक मूलगत वासनाएँ संस्कार के रूप में स्थित रहती हैं। यही वासना साहित्य में स्थायीभाव है। कालिदास के विचार से रस बाहर से प्राप्त नहीं होता, सहृदय की अपनी आत्मा के अन्दर से आविर्भूत होता है। वह विषयगत (वस्तुगत) न होकर विषयीगत है। इनके रूपकों के अध्ययन से पता चलता है कि सौन्दर्य में ही इन्होंने रस माना है और यह रस-सौन्दर्य विषयीगत है। हंसपदिका के गीत को सुनकर राजा दुष्यन्त के मन में पूर्व संस्कार जग जाता है और वह मन में सोचता है कि प्रियजन के वियोग के बिना भी मैं व्यथित हूँ। पुनः वह विचार करता है कि सुन्दर वस्तुओं को देखकर एवं मधुर शब्दों को सुनकर सुखी जन्तु (प्राणी) जो उत्कंठित हो जाता है वह निःसन्देह अपने हृदय में संस्कार के रूप में स्थित पूर्वजन्मों के प्रेम-व्यवहार को, सही-सही जाने ही अपने मन से याद करता है—

रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्यशब्दान्
पर्युत्सुको भवति यत् सुखितोऽपि जन्तुः।
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वम्
भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि ॥५।२ (अभि० शा०)

इनके कथन में भावस्थिराणि स्पष्टतः स्थायीभाव है। चेतसा स्मरति अर्थात् सुधि आने का तात्पर्य है, अचेतन मन से चेतन मन में जाना। अभिनवगुप्त के शब्दों में भाव का यही अचेतन से चेतन में आना अभिव्यक्ति है। इस तरह इनको सृष्टि में रस बाहर से प्राप्त नहीं होता सहृदय की अपनी आत्मा के अन्दर से ही आविर्भूत होता है। दूसरे शब्दों में सहृदय का स्थायीभाव ही रसत्व को प्राप्त करता है—

रसतामेति रत्यादिः स्थायीभावः सचेतसाम्।

साधारणीकरण के द्वारा 'तन्मयता' की प्राप्ति ही कालिदास की दृष्टि में नाट्यरस है। विक्रमोर्वशीयम् के तृतीय अंक के आरम्भ में तन्मयीभवन को रसानन्द मानने का उनका विचार स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। गालव नामक शिष्य पल्लव से पूछता है कि गुरुदेव (भरत) के नाट्य-प्रयोग से स्वर्गलोक की दिव्या परिषद् का आरधन (मनोरंजन) हुआ। पल्लव ने उससे कहा कि मैं नहीं कह सकता कि देवों का मनोरंजन हुआ या नहीं, परन्तु सरस्वती द्वारा ग्रथित लक्ष्मी-स्वयंवर रूपक के अभिनय ने उन्हें तन्मय बना दिया—"गालव ण आणे अराहिदा ण वत्ति। तस्सिं उग सरस्सईकिदकव्वबन्धे लच्छीसअंवरे तेसुतेसु रसन्तरेसु तन्मआ

आसि !" इसी प्रकार विभावादिक त्रय के संवलन में ही रसोद्बोध संभव है। विभावादि में से दो या किसी एक की ही उपस्थिति रहने पर भी यदि रसोद्बोध हो रहा हो तो यह समझना चाहिए कि काव्य-नाट्य की व्यंजकता शक्ति अन्य अनुपस्थित रससामग्री को भी अविलम्ब प्रकाशित कर रही है। कालिदास के मालविकाग्निमित्रम् के नायक राजा अग्निमित्र के निम्नलिखित कथन में उपर्युक्त तथ्य की पुष्टि होती है—

"दीर्घाक्षं शरदिन्दुकान्तिवदनं बाहू नतावंसयोः
संक्षिप्तं निबिडोन्नतस्तनमुरः पार्श्वे प्रमृष्टे इव।
मध्यः पाणिमितो नितम्बिजघनं पादावरालाङ्गुली
छन्दो नर्तयितुर्यथैव मनसि श्लिष्टं तथास्या वपुः" ।।२।३

यहाँ मालविका के प्रेमी अग्निमित्र ने तो अपनी आँखों में उतरने वाले मालविका के सुन्दर शरीर मात्र का वर्णन किया है। यह सिर्फ विभावरूप वर्णन है। इसमें अग्निमित्र के नेत्र विस्फार आदि अनुभाव तथा उत्सुकता आदि व्यभिचारीभावों के भी आक्षेप करने की शक्ति समा गयी है। अतः यहाँ जो रसोद्बोध है वह विभावादित्रय के सकलन मे ही है।

कालिदास की दृष्टि में नाट्य भिन्न-भिन्न रुचिवाले सहृदय सामाजिकों का समाराधन है। (नाट्य भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाऽप्येकं समाराधनम्)। अभिज्ञान-शाकुन्तलम् के आरम्भ मे सूत्रधार के मुख से यह व्यक्त हुआ है कि जब तक विद्वत् परिषत् सतुष्ट नहीं हो जायें तब तक मैं अपने नाट्य-प्रयोग को सफल नहीं मानता हूँ। भलीभाँति शिक्षा पाये हुए पुरुषो का भी चित्त अपने विषय में अविश्वासयुक्त ही होता है।[1] इस कथन का तात्पर्य स्पष्ट है कि नाटककार के नाट्यग्रथन अथवा अभिनेता द्वारा नाट्य-प्रयोग का मुख्य उद्देश्य सहृदय सामाजिक को अपने कुशल प्रयोग से रसानुभूति कराना ही है।इससे यह कहा जा सकता है कि इनके विचार से रस कि स्थिति सहृदय सामाजिक मे ही है।

रस आस्वादरूप में एक होने पर भी उपाधि-भेद से इसके कई प्रकार किये गये हैं। रसों की संख्या के सम्बन्ध में विद्वानों में बहुत मतभेद है। इसका कारण यह है कि वे 'रस' शब्द का प्रयोग विभिन्न अर्थों में करते हैं। कहीं यथाप्रसंग

---

१ सूत्रधारः—आर्ये कथयामि ते भूतार्थम्—
आपरितोषाद्विदुषां न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम्।
बलवदपि शिक्षितानामात्मन्यप्रत्ययं चेतः ॥ १।२
—(अभि० शा०)।

'रस' शब्द का अर्थ 'आस्वाद' लिया गया है तो कहीं रसानुभावक संमिश्रित सामग्री के समुदायरूप अर्थ के भाव में इस शब्द का प्रयोग हुआ है और कहीं दोनों अर्थों में प्रयुक्त किया गया है। भोजराज ने मानव-आत्मा में विद्यमान अहंकार को ही रसराज शृंगार रूपी एक रस स्वीकार किया है। भवभूति ने करुण रस को मूल रस माना है, जिससे शृंगार आदि अन्य रस उद्भूत होते हैं। भरत के नाट्यशास्त्र में रसों की संख्या आठ बतायी गयी है तथा उनके स्थायीभाव भी आठ ही बताये गये हैं।[1] कालिदास के विक्रमोर्वशीयम् में आठ रसों का उल्लेख मिलता है।[2] भरत के श्लोक परिवर्तित पाठ —"वीभत्साद्भुतशान्ताश्च नवं"—के आधार पर अभिनवगुप्त ने शान्त रस को मान्यता देकर रसों की संख्या नौ स्वीकार की है तथा "शान्त" को ही सभी रसों का मूल प्रमाणित किया है, लेकिन जिन आचार्यों की दृष्टि में नाटक में शान्त रस सम्भव नहीं है, वे—"अष्टौ रसाः"—पाठ को सही मानते हुए आठ ही रस मानते हैं। कुछ आचार्य तो वात्सल्य, लौल्य एवं भक्ति को भी मिलाकर रस के बारह भेद तक निरूपित करते हैं।

व्यावहारिक दृष्टि से भरत के अनुसार मान्य आठ रसों में मूल रस चार ही हैं, जिनसे अन्यान्य चार रसों की उत्पत्ति हुई है। इनमें शृंगार से हास्य, वीर से अद्भुत, रौद्र से करुण तथा वीभत्स से भयानक रस उत्पन्न हुआ है।[3] धनंजय के विचार से काव्यार्थ के ज्ञान के द्वारा आत्मा में (सहृदय के हृदय में) विशेष प्रकार के आनन्द का उत्पन्न होना स्वाद कहा जाता है। यह स्वाद चार प्रकार का माना जाता है—चित्त का विकास, चित्त का विस्तार, चित्त का क्षोभ तथा चित्त का विक्षेप। ये चारों प्रकार के मनोविकार क्रमशः शृंगार, वीर, वीभत्स

---

१ शृङ्गारहास्यकरुणा रौद्रवीरभयानकाः।
वीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः ॥६।१६॥
—रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं तथा।
जुगुप्सा विस्मयश्चेति स्थायीभावाः प्रकीर्तिताः ॥६।१८ (ना० शा०, चौ० सं०)।

२ मुनिना भरतेन यः प्रयोगो भवतीष्वष्टरसाश्रयो नियुक्तः।
ललिताभिनयं तमद्यभर्ता मरुतां द्रष्टुमनाः सलोकपालः ॥२।१८॥
—(विक्र० चौ० सं०)।

३ शृंगाराद्धि भवेद्धास्यो रौद्रश्च करुणो रसः।
वीराच्चैवाद्भुतोत्पत्तिर्वीभत्साच्च भयानकः ॥६।४०॥
(ना० शा०, पृ० २९४ चौ० सं०)।

तथा रौद्र में पाये जाते है। इसीलिए श्रृंगारादि रसों से हास्यादि चार रसों की उत्पत्ति मानी जाती है।[1] कहने का तात्पर्य यह है कि श्रृंगार-हास्य रस-युग्म के रसास्वाद के समय सामाजिक का मानस विकसित होता है; वीर, अद्‌भुत में मन का विस्तार; वीभत्स, भयानक में क्षोभ तथा करुण रौद्र में विक्षेप की स्थिति होती है।

नाट्यशास्त्र में भरत द्वारा वर्णित रस-क्रम बहुत मनोवैज्ञानिक है। इसे अभिनवगुप्त ने अच्छी तरह उपपादित किया है। इन रसों में श्रृंगार की गिनती पहले की जानी चाहिए, क्योंकि सभी प्राणियों में काम तत्त्व सुलभ है तथा सुपरिचित होने के कारण यह सबको आकर्षक एवं मनोहर मालूम पड़ता है। अतः प्रायः सभी आचार्यो ने इसे रसराज कहकर सर्वप्रधान माना है। श्रृंगार का अनुगामी होने के कारण हास्य का दूसरा स्थान है। हास्यविरोधी होने के कारण इसके बाद 'करुण' रस की गणना की जाती है। करुण से उत्पन्न होने तथा अर्थ-प्रधान होने के कारण रौद्र का चतुर्थ स्थान है। अर्थ की उत्पत्ति काम से होती है। पांचवां वीररस है यह अर्थप्रधान है तथा धर्म, अर्थ का मूल है। भयार्तजनों को अभय-प्रदान करना वीरों का प्रमुख उद्देश्य है। अत. इसके बाद इससे संबंधित 'भयानक रस' की गणना की जाती है। भय के विभावों से निर्मित वीभत्स का सातवां स्थान है। वीभत्स को विस्मय से दूर किया जाता है। इसलिए इसके बाद अद्‌भुत रस की गणना की जाती है। इस तरह उपर्युक्त आठ रस त्रिवर्गात्मक हैं। प्रवृत्ति धर्म से संबद्ध होने के कारण ये धर्मार्थकाम रूप त्रिवर्गसाधक नाट्य में उपयोगी रस हैं। अभिनवगुप्त का कथन है कि निवृत्तिधर्म से सम्बद्ध नवम रस शान्त है। यह उभय धर्मोपयोगी एवं मोक्षफलक होता है। अतः तत्वज्ञान से उत्पन्न निर्वेद इसका स्थायीभाव माना जाता है।[2] नाट्यदर्पणकार आदि आचार्यों के अनुसार शान्त रस अभिनेय है।[3] कालिदास के अभिज्ञानशाकुन्तलम् के अनुशीलन से पता चलता है कि उसके सातवें अंक में शान्त रस अभिव्यक्त हुआ है। अतः यद्यपि कालिदास के विक्रमोर्वशीयम् में स्वर्ग मे भरत के अष्ट-रसाश्रित नाटक के अभिनय का उल्लेख मिलता है, फिर भी अभिज्ञानशाकुन्तलम् के निरूपण से पता चलता है कि कालिदास को 'शान्त' नामक नवम रस भी मान्य

---

१ स्वादः काव्यार्थसम्भेदादात्मानन्दसमुद्‌भवः ।
विकासविस्तरक्षोभविक्षेपैः स चतुर्विधः ।।४।४३।।
श्रृंगारवीरवीभत्सरौद्रेषु मनसः क्रमात् ।
हास्याद्‌भुतभयोत्कर्षकरुणानां त एव हि ।।४।४।४४।।

२ अभि० भा० : काव्यानुशासन—२।२७ ।

३ नाट्यदर्पण—पृ० १५०, १५१ ।

था। आगे आचार्यों द्वारा परिभाषित विभिन्न रसों के लक्षणों को प्रस्तुत करते हुए कालिदास के रूपक में अभिव्यक्त रसों को उदाहरण-स्वरूप उपस्थित किया जाता है। इसी के द्वारा कालिदास की तत्तद्रसविषयक धारणा का स्पष्टीकरण हो जायगा।

काम से सम्बद्ध होने के कारण शृंगार रस की प्रधानता का विवेचन ऊपर किया गया है। पुनश्च इस काम पर ही धर्म एवं अर्थ दोनों आधारित हैं। इस तरह हम कह सकते हैं कि प्रकारान्तर से शृंगार रस धर्म, अर्थ एवं काम तीनों से सम्बद्ध है। भरत द्वारा निर्दिष्ट इसकी व्यापकता इसकी श्रेष्ठता के मापदण्ड माने जा सकते हैं।[1] कालिदास ने इसी कारण से अपने रूपकों में शृंगार रस की सर्वप्रमुखता मानकर इसे अंगी रस के रूप में अभिव्यक्ति कराया है तथा शेष रसों को अंग के रूप मे।[2]

कालिदास ने राजसंस्कृति के वैभव, विलास आदि से परिपूर्ण वातावरण में अपने तीनों रूपकों की रचना की थी। उस परिस्थिति के अनुसार रूपकों की कथावस्तु के उपयुक्त शृंगार से बढ़कर दूसरे किसी रस की कल्पना नहीं की जा सकती। अतः यहाँ शृंगार रस ही सर्वप्रथम विवेचनीय है।

शृंगाररस :

व्युत्पत्ति की दृष्टि से शृंगार शब्द 'शृंग' एवं 'आर' दो शब्दों के योग से बना है। 'शृंग' का अर्थ है—'कामोद्रेक' अथवा 'कामवृद्धि'! 'आर' शब्द 'गत्यर्थ' धातु से बना है, जिसका अर्थ 'प्राप्ति' है। इस प्रकार शृंगार शब्द का अर्थ है—"कामवृद्धि की प्राप्ति"।[3] भरतमुनि के कथनानुसार शृंगाररस रति स्थायीभाव से उद्भूत होती है। उसका वेश (स्वरूप) उज्ज्वल होता है। संसार में जो कुछ पवित्र, उज्ज्वल तथा दर्शनीय है, वह शृंगार से उपमित होता है। उदाहरणार्थ जो व्यक्ति उज्ज्वल (ललित) वेशधारी होता है, उसे शृंगारी कहा जाता है। जिस प्रकार कुल एवं आचार के अनुसार और आप्त पुरुष के उपदेश द्वारा मनुष्यों का नामकरण किया जाता है उसी प्रकार रस, भाव तथा अन्य नाट्याश्रित पदार्थों के व्यवहाराश्रित एवं परम्पराप्राप्त (आप्तपुरुषोपदिष्ट) नाम होते हैं। इसलिए

---

१ यथा यत्किंचिल्लोके शुचि मेध्यं दर्शनीयं वा तच्छृङ्गारेणानुमीयते।
(ना० शा०, पृ० ७३)।

२ एको रसोऽङ्गी कर्त्तव्यो वीरः श्रृङ्गार एव वा ॥३।३३ उत्तरार्द्ध
अङ्गमन्ये रसाः सर्वे कुर्यान्निर्वहणेऽद्भुतम्। (दशरू०)।

३ र० म०—पृ० १७९।

विविध आचार से सम्पन्न यह मनोहारी तथा ललित होने के कारण आप्तोपदेश और व्यवहारसिद्ध दोनों रूपों में शृंगार कहलाता है। यह स्त्री-पुरुष के माध्यम से उत्पन्न होता है तथा उत्तम यौवन की प्रकृति के अनुकूल है।[1] धनंजय के कथनानुसार आपस में एक दूसरे के प्रति अनुरक्त युवक नायक-नायिका के हृदय में, रम्य देश, काल, कला, वेश, भोग आदि के सेवन के द्वारा आत्मा का प्रसन्न होना रति स्थायीभाव है। यही रति स्थायीभाव नायक अथवा नायिका के अंगों की मधुर चेष्टाओं के द्वारा एक दूसरे के हृदय में परिपुष्ट होकर शृंगार रस होता है।[2] आचार्य विश्वनाथ के विचार से काम के अंकुरित होने को शृंग कहते हैं। उसकी उत्पत्ति का कारण, अधिकांश उत्तम प्रकृति से युक्त रस शृंगार कहलाता है।[3] इस रस के आलम्बन प्रायः उत्तम प्रकृति के ही प्रेमीजन हुआ करते हैं। अर्थात् परकीया अथवा अनुरागशून्य वेश्या नायिका को छोड़ कर अन्य प्रकार की नायिकाएँ तथा दक्षिण आदि प्रकार के नायक ही इसके उपयुक्त आलम्बन विभाव हैं। चन्द्र-चन्द्रिका, चन्दनानुलेपन, भ्रमर-झंकार इत्यादि इसके उद्दीपन विभाव हैं। अनुरागपूर्ण परस्पर एक दूसरे को देखना, कटाक्ष करना, भृकुटिभंग आदि इसके अनुभाव हैं। उग्रता, मरण, आलस्य तथा जुगुप्सा को छोड़कर अन्य निर्वेदादि इसके व्यभिचारीभाव हैं। 'रति' इसका स्थायीभाव है। प्रेम, मान, प्रणय, स्नेह, राग तथा अनुराग ही रति की उत्तरोत्तर विकासावस्था है। यही रति का विकास शृंग शब्द से निर्दिष्ट किया गया है और इसी शृंग अर्थात् उत्तरोत्तर विकसित रति का भाव अभिव्यंग्य सम्पूर्ण स्वरूप 'शृंगार रस' है। इसका वर्ण श्याम (भरत के अनुसार उज्ज्वल) है तथा अभिमानी देवता विष्णु भगवान् हैं।[4] ऊपर दशरूपककार के अनुसार वर्णित देश आदि विभावों में कालिदास के मालविकाग्निमित्रम् के उस श्लोक में कलाविभाव का वर्णन मिलता है जिसमें मालविका की नृत्यकला के द्वारा अग्निमित्र के हृदय में स्फुरित स्थायी-

---

१ तत्र शृंगारो नाम रतिस्थायीभावप्रभव उज्ज्वलवेषात्मकः। यथा यत्किञ्चि-ल्लोके .... शृंगारो रस इति। स च स्त्रीपुरुषहेतुक उत्तमयुवप्रकृतिः

(ना० शा० अध्याय—६, पृ० २९८—३०१)।

२ रम्यदेशकलाकालवेषभोगादिसेवनैः ।।४।४७ उत्तरार्द्ध

प्रमोदात्मा रतिः सैव यूनोरन्योन्यरक्तयोः।

प्रहृष्यमाणा शृंगारो मधुराङ्गविचेष्टितैः ।।४।४८ (दशरू०)

३ शृंगं हि मन्मथोद्भेदस्तदागमनहेतुकः।

उत्तमप्रकृतिप्रायो रसः शृङ्गार इष्यते ।।३।१८३ (सा० द०)।

४ सा० द०—३।१८४-१८६, पृ० २३०।

भाव शृंगाररस के रूप में परिपुष्ट हुआ है।[1] इसी तरह नाचती हुई मालविका की मुद्रा का तथा उसके द्वारा स्पष्ट दिखाई पड़ते उसके यौवन के वर्णन में युवति-विभाव दृष्टिगत होता है।[2]

शृंगार रस के दो प्रकार होते हैं—संभोग एवं विप्रलम्भ।[3] धनंजय ने अयोग नाम के तीसरे प्रकार का भी निर्देश किया है।[4] यह (अयोग) वस्तुतः पूर्वराग का ही भिन्न नाम है। संभोग (संयोग) तथा विप्रलम्भ (वियोग) दोनों दशाओं (जिन्हें दो भेद माना गया है) में रति का ही आस्वादन होता है और आस्वाद्यमान रूप शृंगाररस होता है। कालिदास के उत्तरमेघ में इस तथ्य की पुष्टि मिलती है—

स्नेहाहुः किमपि विरहे ध्वंसिनस्ते त्वभोगा—
दिष्टे वस्तुन्युपचितरसाः प्रेमराशीभवन्ति ॥२।५२॥

अर्थात् विरह से प्रेम (रति) का ह्रास हो जाता है, यह बात लोग यूँ ही कहते हैं। लेकिन वास्तव में भोग के अभाव में प्रियजन के प्रति तृष्णा बढ़ जाने के कारण यह और भी प्रगाढ़ हो जाता है। स्पष्ट है कि यहाँ वियोगवस्था में रति (प्रेम) के विकास का कथन है।

यही कारण है कि संभोगवस्था में विप्रलम्भ की सम्भावना से भय रहता है और विप्रलम्भ में संभोग की कामना बनी रहती है। संभोग एवं विप्रलम्भ ही शृंगाररस का स्वरूप (क्षेत्र) है। अभिलाषा, ईर्ष्या, प्रवास आदि विप्रलम्भ के पाँचों प्रकारों की रति की स्थिरता के कारण भोग के अभाव में भी इन्हीं शृंगार

---

१ अङ्गैरन्तर्निहितवचनैः सूचितः सम्यगर्थः
पादन्यासैर्लयमनुगतस्तन्मयत्वं रसेषु।
शाखायोनिर्मृदुरभिनयस्तद्विकल्पानुवृत्तौ —
भावो भावं नुदति विषयाद्रागबन्धः स एव ॥२।८॥ (मालवि०)

२ दीर्घाक्षं शरदिन्दुकान्तिवदनं बाहू नतावंसयोः
संक्षिप्तं निविडोन्नतस्तनमुरः पार्श्वे प्रमृष्टे इव।
मध्यः पाणिमितो मितं च जघनं पादावरालाङ्गुली
छन्दो नर्तयितुर्यथैव मनसि श्लिष्टं तथास्या वपुः ॥२।३॥ (मालवि०)

३ तस्य द्वे अधिष्ठाने संभोगो विप्रलम्भश्च।—(ना० शा० अ० ६, पृ० ३०२)।
विप्रलम्भोऽथ संभोग इत्येष द्विविधो मतः ॥३।१८६ उत्तरार्द्ध)

४ अयोगो विप्रयोगश्च संभोगश्चेति स त्रिधा।४।५० (पूर्वार्द्ध (दशरू०)।

के भेदों में अन्तर्भाव हो जाता है। अतः प्रेम होने पर तथा भोग के न होने पर भी संभोगशृंगार आदि का व्यवहार उपचार के द्वारा किया जाता है। इन दोनों दशाओं के मिश्रण से अत्यधिक चमत्कार उत्पन्न होता है। कालिदास ने अपने रूपकों में इनकी दोनों रूपों का बहुत कलात्मक ढंग से सन्निवेश किया है।

अयोग, शृंगारी की वह स्थिति है जहाँ नायक-नायिका का एक दूसरे के प्रति अनुराग होता है तथा उनका चित्त एक दूसरे के प्रति पूर्णतः आकृष्ट रहता है, परन्तु परतन्त्रता (जैसे पिता, माता आदि) के कारण, अथवा भाग्य के फेर से एक दूसरे से अलग ही रहते हैं। अतः उनका संगम नहीं हो पाता। इस शृंगार की स्थिति में नायक-नायिका में एक दूसरे के प्रति पूर्वानुराग की स्थिति होती है, किन्तु उनका मिलन किन्हीं कारणों से नही हो पाता।[1] मालविकाग्निमित्रम् में परतंत्रता के कारण मालविका का मिलन अग्निमित्र से नहीं हो पाता है।

इस अयोग शृंगार की दश अवस्थाएँ होती हैं—अभिलाषा, चिन्तन, स्मृति, गुणकथा, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, संज्वर, जड़ता तथा मरण। ये ही दश कामदशाएँ कहलाती है।[2] वस्तुतः ये दशाएँ दश नहीं, अपितु अनन्त हैं। इनकी प्रत्येक उत्तरावस्था पहले से अधिक तीव्र होती है। इनमें अभिलाष वह अवस्था है जबकि सर्वाङ्गसुन्दर नायक के प्रति नायिका की समागम रूप इच्छा उत्पन्न होती है। यह इच्छा उसको साक्षात् देखने पर अथवा उसके चित्र को देखने पर या उसके बारे में सुनने पर होती है। इस दशा में आश्चर्य, आनन्द, संभ्रम आदि भावों की प्रतीति होती है। नायक अथवा नायिका का दर्शन साक्षात् रूप से चित्र के द्वारा, स्वप्न के द्वारा अथवा इन्द्रजाल आदि माया के द्वारा हो सकता है। अथवा वह सखियों आदि के गीत, या मागध.के गुणस्तवन के सुनने के बहाने से भी हो सकता है।[3] यथा केशी दैत्य से मुक्त कराने पर सखियों से राजा का पुरूरवा के पराक्रम की प्रशंसा सुनकर और उन्हें साक्षात् देखकर उर्वशी के मन में उसके (पुरूरवा) के प्रति अभिलाषा उत्पन्न होती है। इसी तरह पुरूरवा भी उर्वशी के

---

१ तत्रायोगोऽनुरागेऽपि नवयोरेकचित्तयोः ।४।५०।
पारतन्त्र्येण दैवाद्वा विप्रकर्षादसंगमः। (दशरू०)

२ दशावस्थः तत्रादावभिलाषोऽथ चिन्तनम् ॥४।५१
स्मृतिर्गुण कथोद्वेगप्रलापोन्मादसंज्वराः।
जडता मरणं चेति दुरवस्थं यथोत्तरम् ॥४।५२॥ (दशरू०)

३ दशरू०—४।५३—५४।

रूपलावण्य को प्रत्यक्ष देखकर विस्मय-विमुग्ध हो जाता है तथा उसके प्रति उसकी इच्छा जग जाती है। मालविका को चित्र में देखकर ही राजा उसे पाने की अभिलाषा करता है। पुनः उसका प्रत्यक्ष-दर्शन होने पर उसकी अभिलाषा और भी अधिक बलवती हो जाती है। दुष्यन्त को देखकर शकुन्तला के मन में आश्रम-विरोधी विकार पैदा हो जाता है। इसी तरह शकुन्तला को देखने पर शकुन्तला के प्रति उसकी इच्छा हो जाती है:—

"असंशयं अपरिग्रहक्षमा यदार्यमस्यामभिलाषि मे मनः।
सतां हि संदेहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः ॥१।२२।" (अभि० शा०)।

संभोग परस्पर आसक्त हृदयों के रागात्मक मिलन पर आधृत होने के कारण शृंगार का भावात्मक पक्ष प्रस्तुत करता है। इसमें रमण, उपभोग तथा तृप्ति के भाव स्वभावतः अन्तर्भावित हैं। धनंजय का कहना है कि जहाँ नायक-नायिका एक दूसरे के अनुकूल होकर, विलासपूर्ण होकर, दर्शन, स्पर्शन आदि का परस्पर उपभोग करते हैं, वहाँ प्रसन्न और उल्लास से युक्त संभोग होता है।[1] इस शृंगार में नायिकाओं में अपने प्रिय के प्रति लीला आदि दश चेष्टाएँ पायी जाती हैं। ये चेष्टाएँ दाक्षिण्य, मृदुता आदि तथा प्रेम के उपयुक्त होती हैं।[2]

भरतमुनि ने इसके विभावों एवं अनुभावों के सम्बन्ध में बताया है कि इसमें ऋतुरमणीयता, पुष्पमालाओं तथा अलंकारों के धारण विषयक या अर्थ रम्य भवन का उपभोग, उद्यानगमन, प्रियजन के वचनों का श्रवण, उसका दर्शन, उसके साथ क्रीड़ा-लीला आदि विभावों के संयोग से उत्पन्न होता है। इसका अभिनय नयन-चातुर्य, भ्रू-विक्षेप एवं मधुर अंगचेष्टा, आकर्षक वचन आदि के द्वारा किया जाता है। इसमें त्रास, आलस्य, उग्रता तथा जुगुप्सा नामक संचारीभावों को छोड़कर शेष सभी प्रयुक्त होते हैं[3]। संभोग शृंगार के अनन्त भेद हो सकते हैं। यों इसके चार प्रकार भी प्रतिपादित किये गये हैं:—(१) पूर्वरागान्तरसंभोग, (२) मानान्तर-संभोग, (३) प्रवासान्तरसंभोग तथा (४) करुण विप्रलम्भान्तरसंभोग[4]।

---

१ अनुकूलो निषेवेते यत्रान्योऽन्यं विलासिनौ।
दर्शनस्पर्शनादीनि स संभोगो मुदान्वितः ॥४।६९॥ (दशरू०)

२ दशरू० ४।७१।

३ तत्र संभोगस्तावदृतु-माल्यानुलेपनालङ्कारेष्टजनविषयवरभवनोपभोगोपवन-गमनानुभवन-श्रवणदर्शनक्रीडालीलादिभिर्विभावैरुत्पद्यते। तस्य नयनचातुरी-भ्रूक्षेपकटाक्षसंचारललितमधुराङ्गहारवाक्यादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः। व्यभिचारिणश्चालस्यौग्र्यजुगुप्सावर्जाः। (ना० शा० अ० ६, पृ० ३०२-३०५)

४ कथितश्चतुर्विधोऽसावानन्तर्यात्तु पूर्वरागादेः।३।२१३ (सा० द०)

राजा अग्निमित्र मालविका के सौन्दर्य को चित्र में देखकर आकृष्ट हो जाता है। पुनः प्रत्यक्ष देखने पर वह सोचता है कि चित्र में इसके सौन्दर्य का ठीक-ठीक अंकन नहीं हुआ है। वस्तुतः चित्रकार इसके सौन्दर्य को चित्रित नहीं कर सका[१]। राजा उसके रूप को देखकर आकृष्ट हो जाता है[२]। उसके द्वारा मालविका के अंकित शब्दचित्र में शृंगार रस के आलम्बनविभाव की बहुत सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है। मालविका नृत्य करती हुई गीत के माध्यम से राजा अग्निमित्र के प्रति अपने हार्दिक अनुराग की अभिव्यक्ति करती है[३]। राजा उसकी नृत्यकला से आकृष्ट होकर मुग्ध हो जाता है और कहता है कि स्वाभाविक सुन्दरी मालविका को ललित कला का भी ज्ञान देकर ऐसा लगता है जैसे विधाता ने उसे कामदेव का विष में बुझाया बाण बनाया है[४]। वह मालविका के प्रति अपने प्रणय-व्यापार को व्यक्त करता हुआ कहता है कि अन्तःपुर की सभी महिलाओं की ओर से मुँह मोड़े हुए मेरा हृदय उस सुन्दर नयनोंवाली को ही प्रेम का एकमात्र आधार बनाये बैठा हुआ है[५]। इसके बाद राजा की चिन्ता[६] आदि कामदशाओं का हृदयावर्जक दृश्य उपस्थित किया गया है। मालविका भी कामपीड़ा का अनुभव कर रही है[७]। मालविका को आते देखकर अग्निमित्र कहता है कि गोल-गोल नितम्बों वाली कमर में पतली, स्तनों में ऊँची तथा आँखों में विशाल यह मेरी जान आ रही है[८]। जब राजा अग्निमित्र कहता है कि कुन्दलता के समान इसके गाल पीले पड़ गये हैं। (३।८) तब विदूषक उससे कहता है कि आपकी तरह ही इन्हें भी प्रेम-रोग लग गया होगा[९]। राजा अग्निमित्र मालविका के साथ संभोग की कामना से मन ही मन सोचता है कि जिस प्रेमवृक्ष की जड़ें तब पड़ी थीं, जब मैं उसका नाम सुनकर उसकी आशा करने लगा

---

१ मालवि०—२।२, पृ० ९९।

२ अहो सर्वस्थानानवद्यता रूपस्य। तथाहि—२।३ (मालवि०)

३ मालविका····(उपगानं कृत्वा चतुष्पदं वस्तुगायती)—दुल्लहो पियो मे—सतिण्हं।२।४। वही······(इतियथारसमभिनयति)।

४ मालवि० २।१२, पृ० १३४ (किं बहुना चिन्तयितव्योऽस्मि ते)।

५ वही २।१४

६ वही ३।१, पृ० १५१

७ मालविका—अविण्णादहिअअं भट्टारं अहिलसन्दी अत्तणो वि दाव लज्जेमि। कुदो विहलो सिणिद्धसहिअणस्स इमं.........विस्सद्धं मुहुत्तअं।
—(मालवि० अंक ३, पृ० १६८)।

८ मालवि० ३।७

९ विदूषक—एसा विभवं विअ मअणव्वाहिणा परामिट्ठा भविस्सदि।
(मालवि० अंक ३, पृ० १७६)

था, राग-प्रीति के रूप में कोंपल तव फूट पड़ी थी, जब मैंने उसे अपनी आँखों से देखा और कलियाँ सी तब खिल गई थीं, जब उसे हाथों से छूकर उठाते हुए मुझे रोमांच हुआ था, वह वृक्ष अव मुझे फल चखने दे, जिसके लिए मैं आकुल हुआ बैठा हूँ।[1] चित्र में अंकित इरावती की ओर राजा को एकान्तभाव से ताकते देखकर जब मालविका मुँह फेर लेती है और रूठ जाती है तब राजा उसके पास जाकर कहता है कि हे कमलनयिनी! चित्र में दिये हुए मुझसे तुम क्यों रूठ रही हो? शरीर रूप में तुम्हारा अनन्य दास तो यह खड़ा है। वास्तविकता की जानकारी होने पर मालविका लज्जा का भाव प्रकट करती हुई हाथ जोड़ देती है। इसके बाद राजा अग्निमित्र प्रेम की अधीरता दिखाता है। मालविका वकुलावलिका से कहती है—हे सखि! मुझ मन्दभागिनी के लिए तो स्वप्न में भर्त्ता का मिलन दुर्लभ बना रहा।[2] राजा अग्निमित्र मालविका को डरी-सी खड़ी देखकर कहता है कि सुन्दरी! तुम मिलन के भय को छोड़ दो। कभी से तुम्हारे प्रेम के लिए तड़पते हुए मुझ पर तुम यों लिपट जाओ जैसे माधवीलता आम के वृक्ष पर लिपट जाया करती है[3]। पुनः राजा उससे कहता है कि हे विम्ब के समान ओठों वाली! प्रेम दिखाने की शिष्टता तो प्रेमी लोगों में कुल का नियम है, लेकिन हे विशाल नयनों वाली! मेरे प्राण तो तुम्हारी आशा पर टिके हुए हैं[4]। मैं कभी से तुम पर आसक्त हुआ पड़ा हूँ, अतः मुझ पर कृपा करो। यह कहकर गले लगने का अभिनय करता है। मालविका बचकर निकलने का अभिनय करती है। राजा मन ही मन सोचता है कि नवेलियों के प्रेम भरे नखरे कितने सुन्दर लगते हैं। यह काँपती-काँपती अंगुलियों से तागड़ी खोलने में लगे मेरे हाथ को रोक देती है। जब मैं बलपूर्वक आलिंगन करता हूँ तो अपने दोनों हाथों से स्तनों को ढँक देती है। जब मैं सुन्दर पलकों की आँखों वाली मुख को चूमने के लिए ऊपर उठाता हूँ तो यह उसे फेर

---

१ राजा—(आत्मगतम्)—

तामाश्रित्य श्रुतिपथगतामाशया लब्धमूलः
संप्राप्तायां नयनविषयं रूढरागप्रवालः।
हस्तस्पर्शैर्मुकुलित इव व्यक्तरोमोद्गमत्वात्
कुर्यात्क्लान्तं मनसिजतरुर्मां रसज्ञं फलस्य ।४।१। (मालवि०)।

२ मालविका—सहिमहं उण मन्दभाइणीए सिमिणअसमाअमो वि भट्टिणो दुल्लहो आसि। (मालवि० अंक ४, पृ० २८७)।

३ मालवि० ४।१३

४ वही ४।१४

लेती है। इस तरह ना-ना का वहाना करने से ये मेरी इच्छापूर्त्ति का ही आनन्द मुझे दे रही है[1]।

केशी दैत्य से मुक्त कराकर लाने पर भय से संत्रस्त उर्वशी धीरे-धीरे होश में आती है। जब उसे अपनी सखी चित्रलेखा से मालूम होता है कि महेन्द्र के समान प्रभावशाली राजा पुरूरवा ने उसकी रक्षा की है तब वह राजा को देखकर अपने मन में सोचती है कि दानवों ने मेरा उपकार ही किया है।[2] होश में आई उर्वशी को देखकर राजा पुरूरवा मन ही मन सोचता है कि नारायणमुनि को लुभाने गई हुई अप्सराएँ उनके ऊरू से उत्पन्न उर्वशी को देखकर ठीक ही लज्जा से भर गई थी। अथवा यह किसी तपस्वी की सृष्टि नहीं हो सकती है। वह आलम्बन विभाव रूप उर्वशी का वर्णन करते हुए कहता है कि इसकी सृष्टि में कान्ति प्रदान करनेवाले चन्द्रमा या शृंगार के अवतार कामदेव ही स्रष्टा रहे होंगे। अथवा इसकी रचना फूलो से लदे वसन्तमास ने की होगी; क्योंकि वेदाभ्यास से जड़ (शुष्क) हृदयवाला वह बूढ़ा मुनि जिसका भोग-विलास में कोई कुतूहल नहीं रह गया है, इस रमणी के ऐसे मनोहर रूप को बनाने में कैसे समर्थ हो सकता है?[3] राजा की बातें सुनकर उर्वशी अपने को छिपाकर कहती है कि इनके वचन बहुत भले हैं। अथवा चन्द्रमा से अमृत की वृष्टि हो, इसमें क्या आश्चर्य? पुनः प्रकट होकर वह कहती है कि इसी कारण से इन्हें देखने के लिए मेरा हृदय छटपटा रहा है।[4] दैत्य से छुड़ाकर लाते समय रथ का हिलना देखकर राजा अपने मन में सोचता है कि इस विषमाभूमि में उतरने का फल मुझे मिल गया। इस चक्रनितम्बा उर्वशी के कन्धे से हमारा कन्धा सट गया। उससे हमें रोमांच

---

१ — हस्तं कम्पवती रुणद्धिरशनाव्यापारलोलांगुलि
हस्तौ स्वौ नयति स्तनावरणतामालिंग्यमाना बलात्।
पातुं पक्ष्मलचक्षुरुन्नमयतः साची करोत्याननं
व्याजेनाप्यभिलाषपूरणसुखं निर्वर्तयत्येव मे ॥४।१५ (मालवि०)

२ उर्वशी—(राजानमवलोक्य) आत्मगतम्— उवकिद क्खु दाणवेहिं।
(विक्र० अंक १, पृ० १७)।

३ राजा……अस्याः सर्गविधौ प्रजापतिरभूच्चन्द्रो नु कान्तप्रभः
शृंगारैकरसः स्वयं नु मदनो मासो नु पुष्पाकरः।
वेदाभ्यासजडः कथं नु विषयव्यावृत्तकौतूहलो
निर्मातुं प्रभवेन्मनोहरमिदं रूपं पुराणो मुनिः।१।८॥ (विक्र०)

४ अहिजादं दु से वअणं। अहवा चन्दादो अमिअंति किं एत्थ अच्चरीअं। अदो एव्व णं पेक्खिदुं तुवरदि मे हिअअं। (विक्र० अंक १, पृ० २१)।

हो गया। मानों हमारे काम के अंकुर उग आये हों।[1] चित्ररथ के साथ इन्द्र के पास जाते समय जब उर्वशी के निर्देशानुसार चित्रलेखा राजा को आमन्त्रित करती है तब राजा पुरूरवा कहता है—"गम्यतां पुनर्दर्शनाय" सभी अप्सराएँ तथा गन्धर्व आकाश में उड़ते हैं, किन्तु उर्वशी झाड़ियों में एकावली फँस जाने के बहाने मुड़कर राजा को देखती हुई चित्रलेखा को इसे छुड़ाने कहती है।[2] चित्रलेखा मुस्कुरा कर उससे कहती है कि यह तो बहुत जोरों से फँस गई है। इसका छूटना कठिन है। फिर भी कोशिश करूँगी[3]—इस पर उर्वशी कहती है—हे सखि! तुम अपनी इस बात को याद रखना। पुरूरवा सोचता है कि अरी लता, तुमने इसके जाने में विघ्न पैदा करके हमारा उपकार ही किया है, क्योंकि इस दीर्घनयनी उर्वशी को, जो आधा मुँह घुमाये हुए है, फिर देखने का अवसर दिया।[4] उर्वशी सखियों के साथ आकाशमार्ग से राजा को ताकती जाती है। उसे देखकर पुरूरवा कहता है कि कामदेव दुर्लभ वस्तु के प्रति अभिलाषा उत्पन्न करता है। आकाश की ओर जाती हुई यह अप्सरा मेरे शरीर से मन को खींच रही है जैसे अग्रभाग तोड़कर कमलनाल से हंसी सूत खींचती है।[5]

अभिसारिका बनकर प्रमदवन में पुरूरवा के पास आते समय जब उसकी प्रिय सखी चित्रलेखा उससे पूछती है तब वह कहती है—"मअणो खु मं णिओएदि। किं एत्थ संपधारीअदि"। वह अपराजिता नामक शिखाबन्धनीविद्या के प्रभाव से अपने को अदृश्य रखती हुई अपने सम्बन्ध में राजा की सारी बातें सुनती है।[6] वह अपने प्रति उसके प्रगाढ़ प्रेम को जानकर परितुष्ट होती है तथा प्रभाव से भूर्जपत्र पैदाकर उसके लिए अपनी हार्दिक मनोव्यथा एवं कामपीड़ा गीतबद्ध

---

१ राजा—(चक्रोद्घातं रूपयित्वा। आत्मगतम्) हन्त! दत्तफलो मे विषमावतारः
यदयं रथसंक्षोभादंसेनांसो रथोपमश्रोण्याः।
स्पृष्टः सरोमविक्रियमङ्कुरितं मनसिजेनेव ॥१।११ (विक्र०)।

२ उर्वशी—(उत्पन्नभंगं रूपयित्वा) अम्मो लदाविडवे एआवली वैजअन्तिआ मे लग्गा। चित्तलेहे मोआवेहि दाव णं (विक्र० अंक १)।

३ चित्रलेखा—(सस्मितम्) दिढं क्खु लग्गा। दुम्मोआ विअ मे पडिहादि। होदु जदिस्सं दाव। (वही)

४ विक्र० १।१६

५ वही १।१८, पृ० ३२

६ वही २।१०-११, पृ० ६३-६४।

लिखकर वहीं गिरा देती है।[1] तिरस्करिणी हटाकर चित्रलेखा राजा पुरूरवा के समीप जाकर अपनी सखी उर्वशी की ओर से निवेदन करती है कि दानवों के कारण उपस्थित आपत्ति में आप ही हमारे रक्षक हुए थे, वही मैं उनके दर्शनों के बाद कामदेव से सताई जा रही हूँ। पुनः आपको मुझ पर दया करनी चाहिए।[2] यह सुनकर राजा कहता है कि यह प्रेम तो उभयनिष्ठ है, कामदेव ने दोनों को समानभाव से सताया है, अतः गरम लोहे को गरम लोहे से जोड़ा जा सकता है।[3] इन्द्र के आदेशानुसार जब उर्वशी स्वर्ग में अभिनय प्रदर्शन के लिए अपनी सखी चित्रलेखा के साथ राजा से अनुमति पाकर जाने लगती है तब वह (पुरूरवा) कहता है—"(कथंचिद्वाचं व्यवस्थाप्य) नास्मि भवत्योरीश्वरनियोगप्रार्थी। स्मर्तव्यस्त्वयं जनः"।

इन्द्र-सभा में खेले जा रहे "लक्ष्मीस्वयंवर" नाटक में लक्ष्मी का अभिनय करने के लिए उर्वशी मंच पर आती है, किन्तु अपने प्रेमी के ध्यान में डूबी रहने के कारण 'पुरुषोत्तम' के बदले 'पुरूरवा' कह देती है। फलतः वह भरतमुनि से अभिशप्त होकर स्वर्गच्युत होती है। वहाँ से निकलकर वह पुरूरवा के निवास स्थान पर आती है तथा मनो-विनोद के लिए प्रकट होकर पीछे से राजा की आँखें बन्द कर देती है। राजा उर्वशी को पाकर अपना अभ्युदय मानता है।[4] उसका हाथ पकड़कर राजा कहता है कि इष्ट वस्तु का लाभ स्थिति में आश्चर्यजनक परिवर्तन ला देता है। आज वे ही चन्द्रकिरणें हमारे शरीर को आनन्दित करती हैं, वे ही कामबाण मेरे अनुकूल हो रहे हैं। प्रिये, तुम्हारे वियोग-काल में जो हमारे प्रतिकूल थे, वे सभी अब अनुनीत से हो रहे हैं।[5] इसके बाद सायंकालिक

१ राजा—श्रूयताम्। (वाचयति)—
सामिअ संभाविआ जह अहं तुह अमुणिआ।
तह अणुरत्तस्स जइ णाम तुह उवरि ।२।१२॥
णं मे लुलिअपारिजा असअणिज्जयम्मि होन्ति।
णन्दणवणवादावि अच्चुण्हआ सरीरए ॥२।१३॥ (विक्र०)।

२ विक्र० अंक २, पृ० ७२।

३ राजा—भद्रमुखि! पर्युत्सुकां कथयसि प्रियदर्शनां ता-
मार्तं न पश्यसि पुरूरवसं तदर्थे।
साधारणोऽयमुभयोः प्रणयः स्मरस्य
तप्तेन तप्तमयसा घटनाय योग्यम् ।२।१६ (विक्र०)।

४ विक्र०—३।१९

५ राजा—(उर्वशीं हस्तेनावलम्ब्य) अहो विरुद्धार्थसंपादयितेप्सित लाभो नाम ।३।२०।

चन्द्रमा का उपभोग कर राजा उर्वशी के साथ परिभोग योग्य महल में जाता है। पुनः वे दोनों संभोग योग्य स्थान गंधमादन पर्वत उद्यान में जाते हैं। वहाँ भी अपनी उद्दामप्रवृत्ति के कारण स्वामी कार्तिकेय के शापवश लता बन जाती है। पुनः संगमनीय मणि के माध्यम से राजा के स्पर्श करते ही लता उर्वशी के रूप में प्रकट हो जाती है। राजा पुरूरवा आँखें बन्द किये ही स्पर्श-सुख का अनुभव करते हुए कहता है कि अहा! मुझे मालूम पड़ता है कि उर्वशी के शरीर का सम्पर्क हो गया हो, मुझे बहुत शान्ति मिल रही है।[1]

रसपरिपाक की दृष्टि से कालिदास का अभिज्ञानशाकुन्तलम् विलक्षण नाटक है। रस-परिपोष के साथ ही नाटककार ने विस्तार एवं उपसंहार की कला का इतनी कुशलता से प्रयोग किया है कि नाटकीय कथावस्तु कहीं भी विकलांग नहीं हुई है। उन्होंने शकुन्तला एवं दुष्यन्त के प्रणय-व्यापार के विभिन्न पक्षों के उद्घाटन में अपनी अपूर्व नाट्यकला-कुशलता का परिचय दिया है। ऊपर इनके मालविकाग्निमित्रम् एवं विक्रमोर्वशीयम् में व्यक्त संयोग (संभोग) शृंगार का सांगोपांग विवेचन प्रस्तुत किया गया है। अभिज्ञानशाकुन्तलम् इनकी सर्वोत्कृष्ट नाट्यकृति है। इसमें शृंगार अंगी रस के रूप में अभिव्यक्त हुआ है तथा वीर, अद्भुत आदि रसों का अंग रस के रूप में सुन्दर परिपाक हुआ है। अतः यहाँ उनकी रस विषयक धारणा के स्पष्टीकरण करने के लिए इसमें अभिव्यक्त अन्यान्य रसों को उदाहरण स्वरूप उपस्थित करना अभीष्ट है। संयोग शृंगार का अत्यधिक आकर्षक विश्लेषण इस नाटक के प्रथम, द्वितीय, तृतीय एवं सप्तम अंक में हुआ है। प्रथम अंक में अनुकार्य की चेष्टाएँ विभाव, अनुभावादि की भूमिका पूरी करती हैं। दुष्यन्त पहली मुलाकात में ही शकुन्तला को देखकर आकृष्ट हो जाता है।[2] उसके अव्याज मनोहर शरीर को तपस्या के योग्य बनाने में कण्व की असाधुदर्शिता पर राजा दुष्यन्त विस्मय प्रकट करता है। उसके शरीरसौष्ठव को देखकर राजा कहता है कि कन्धे पर बँधी गाँठवाले, दोनों स्तनों के विस्तार को ढकने वाले वल्कल वस्त्र से इसका यह मनोहर शरीर, पीले पत्ते के मध्यभाग से ढँके पुष्प के समान अपनी शोभा को नहीं धारण कर रहा है। यद्यपि यह वल्कल वस्त्र पर्याप्त रूप से इसके शरीर के योग्य नहीं है फिर भी यह इसके अलंकार की शोभा को उत्पन्न कर रहा है।[3] शकुन्तला की अंगयष्टि एवं सौन्दर्य का वर्णन करते

---

१ राजा—(निमीलिताक्ष एव स्पर्शं रूपयित्वा)—अये उर्वशीगात्रसंपर्कादिव निर्वृतं मे शरीरम्। तथापि न पुनरस्ति विश्वासः। कुतः—४।६८॥ (विक्र०)।

२ राजा ···· ···· ····(निपुणं निरूप्य) अहो मधुरमासां दर्शनम्।

३ अभि० शा०—१।१९; २०, पृ० ४४।

हुए दुष्यन्त कहता है कि उसके अधर कोमल किसलय के समान रक्तिम हैं, बाहु कोमल शाखाओं के समान हैं तथा अंगों में पुष्प के समान यौवन व्याप्त है।[1] वस्तुतः दुष्यन्त की दृष्टि में शकुन्तला का रूप अमानवीय है।[2] उसका यह नैसर्गिक आभूषणविहीन तथा दिव्यरूप दुष्यन्त को आसक्त कर देता है।

भ्रमर-वाधा से उत्पन्न शकुन्तला की शारीरिक चेष्टाएँ उसकी रतिभावना को और अधिक उद्दीप्त कर देती है। शकुन्तला की इस उक्ति—"(ससंभ्रमम्) अम्भो सलिलसेअसंभमुग्गदोणोमालिअं उज्झिअ वअणं मे महुअरो अहिवट्टइ"— से सहृदय सामाजिक को मद, व्रीड़ा, चपलता, आवेग आदि का प्रत्यक्ष रूप से दर्शन हो रहा है। सस्पृहभावना से भ्रमर को हटाने की उसकी चेष्टा को देखकर दुष्यन्त कहता है कि —जिधर भौंरा जाता है उधर अपनी सुन्दर आँखों को घुमा कर और भौंहों को ऊपर चढ़ाकर यह (शकुन्तला) भयवश काम-भावना से रहित होने पर भी आज कटाक्षपात को सीख-सी रही है। ईर्ष्या भाव के समान उसे देखकर राजा कहता है कि हे भ्रमर तू चंचल नेत्रों वाली तथा काँपती हुई दृष्टि को पुनः पुनः स्पर्श (चुम्बन) कर रहा है। रहस्यपूर्ण बात को कहने वाले के समान तू कान के निकट जाकर मधुर गुंजन कर रहा है। हाथों को हिलाती हुई उसके रतिसर्वस्व अधर का पान कर रहा है। हम तो वास्तविकता की खोज में ही मारे गये, किन्तु तू कृतार्थ हो गया।[3] राजा दुष्यन्त के इस वर्णन से जहाँ एक ओर विभाव की मनोहर योजना है वहीं दूसरी ओर उसकी (राजा की) ग्लानि, असूया, आवेग आदि की व्यंजना भी हो रही है। इस प्रकार इससे एक अभूतपूर्व प्रभाव की सृष्टि होती है। राजा की गंभीर आकृति, स्वस्थ एवं सर्वाङ्गसुन्दर शरीर एवं मधुर भाषण से आकृष्ट होकर शकुन्तला के हृदय में प्रेम की अनुभूति होती है।[4] शकुन्तला की भावभंगिमा को देखकर दुष्यन्त को पूर्णतः विश्वास हो गया

---

१ राजा ... . । अस्याः खलु ....

अधरः किसलयरागः कोमलविटपानुकारिणौ वाहू ।
कुसुममिव लोभनीयं यौवनमङ्गेषु सन्नद्धम् ।१।२१।। (अभि० शा०)।

२ मानुषीषु कथं वा स्यादस्य रूपस्य संभवः ।
न प्रभातरलं ज्योतिरुदेति वसुधातलात् ।१।२६।। वही ।

३ राजा—(सस्पृहं विलोक्य) साधु, वाधनमपि रमणीयमस्याः ।
अंक १ श्लोक २३-२४ (अभि० शा०, पृ० ५३-५४)।

४ शकुन्तला (आत्मगतम्)—किं णु क्खु इमं पेक्खिअ तदोवणविरोहिणो विआरस्स गमणीअह्मि संवुत्ता ।

है कि उसके प्रति शकुन्तला के हृदय में आसक्ति हो गई है।[1] हाथी के उपद्रव से आक्रान्त होने पर सखियों के साथ वहाँ आती हुई शकुन्तला पैर में कुश के अग्रभाग के चुभने के बहाने चोरी-चोरी राजा को निहारती है।[2] अपने प्रति उसके उत्तरोत्तर प्रवर्धित अनुराग का वर्णन करते हुए वह विदूषक से कहता है।[3] शकुन्तला की असह्य कामवेदना को देखकर और राजा के प्रति उसकी प्रगाढ़ आसक्ति[4] को जानकर उसकी सखियाँ उससे मदन-लेख लिखवाकर प्रसाद के बहाने राजा को देने का निर्णय लेती है। उसके मदनलेख के भाव को समझ कर राजा अचानक समीप में जाकर उसके प्रति अपनी भावना व्यक्त करते हुए कहता है कि हे कृशांगी कामदेव तुझे निरन्तर सता रहा है, किन्तु मुझे तो जला ही रहा है।[5] प्रियम्वदा दुष्यन्त से कामपीडिता अपनी प्रिय सखी के जीवन की रक्षा के लिए प्रार्थना करती है—"तेण हि इअं णो पिअसही तुमं उद्दिसिअ इमं अवत्थन्तरं भअवता मअणेण आरोविदा। ता अरिहसि अब्भुववत्तीए जीविदं से अवलम्बिदुं"। शकुन्तला की दारुण दशा का अवलोकन कर उसके प्रति अपने हार्दिक प्रेम का विश्वास दिलाते हुए वह कहता है कि अनेक स्त्रियाँ होने पर भी मेरे वंश की दो ही प्रतिष्ठाएँ हैं—समुद्ररसना पृथ्वी तथा यह शकुन्तला। प्रेमातुरतावश वह

---

१ राजा—शकुन्तलां विलोक्य। (आत्मगतम्) किं नु खलु यथावयमस्यामेवमियमप्यस्मान् प्रति स्यात्। अथवा लब्धावकाशा मे प्रार्थना। कुतः—
वाचं न मिश्रयति यद्यपि मद्वचोभिः कर्णं ददात्यभिमुखं मयि भाषमाणे।
कामं न तिष्ठति मदाननसम्मुखीना भूयिष्ठमन्यविषया न तु दृष्टिरस्याः॥
(अभि० शा० १।३९)।

२ शकुन्तला—अणसूये। अभिणवकुसुसूईए परिक्खदं मे चलणं। कुरवअसाहापरिलग्गं च वक्कलं। दाव पडिपालेध मं आवणं मोआवेमि। (शकुन्तला राजानमवलोकयन्ती सव्याजं विलम्ब्य सहसखीभ्यां निष्क्रान्ता)।
(अभि० शा० अंक १ पृ०, ८३)।

३ अभि० शा०—१।११-१२, पृ० ११३-११४)

४ शकुन्तला—तं जइ वो अणुमदं, ता तह वट्टह जह तस्स राएसिणो अणुकम्पणिज्जा होमि। अण्णहा अवस्सं सिंचह मे तिलोदअं।
(अभि० शा० अंक ३, पृ० १५०)।

५ शकुन्तला—(वाचयति)—तव न जाने हृदयं मम पुनः कामो दिवापि रात्रावपि।
निर्घृण! तपति बलीयस्त्वयि वृत्तमनोरथाया अङ्गानि ॥१३
(अभि० शा० अंक ३, पृ० १६१)।

शकुन्तला के पैरों को भी दबाना चाहता है।[1] जब शकुन्तला वहाँ से जाना चाहती है तब राजा दुष्यन्त जबरदस्ती उसे लौटाता है। शकुन्तला की शीलरक्षा सम्बन्धी बात पर वह गान्धर्व विवाह का प्रस्ताव करता है—(३।२०।) पुनः वह शकुन्तला के अधररस का पान करना चाहता है।[2] यहाँ सम्भोग अपने चरम उत्कर्ष को प्राप्त करता है। नाटक के अन्तिम अंक में वियोगिनी शकुन्तला को देखकर राजा दुष्यन्त खेद प्रकट करता है[3] तथा अपने द्वारा किये गये परित्याग का पश्चात्ताप करता हुआ उसके पैरों पर गिर कर क्षमा माँगता है—

सुतनु हृदयात् प्रत्यादेशव्यलीकमपैतु ते
किमपि मनसः संमोहो मे तदा बलवानभूत्।
प्रबलतमसामेवं प्रायाः शुभेषु हि वृत्तयः
स्रजमपि शिरस्यन्धः क्षिप्तां धुनोत्यहिशङ्कया ॥७।२४॥

ग्रहण के बाद रोहिणी तथा चन्द्रमा की भाँति दोनों का मधुर मिलन होता है।[4]

विप्रलम्भ (वियोग) शृंगार में नायक तथा नायिका का समागम नहीं होता। यह समागमभाव एक बार समागम हो लेने के बाद की दशा का है। यह वियोग अत्यधिक रूढ़ अथवा सिर्फ प्रेम का ही एक बहाना हो सकता है। धनंजय के अनुसार यह दो प्रकार का होता है—(१) प्रवासरूप वियोग, (२) मानरूप वियोग। यह मानरूप वियोग प्रेम अथवा ईर्ष्या के कारण होता है।[5] नायक-नायिका में से एक या दोनों के क्रोध होने पर प्रणयमान विप्रयोग होता है। प्रिय के किसी अन्य स्त्री नायिका के प्रति आसक्ति होने पर स्त्रियों में जो क्रोध उत्पन्न होता है, वह ईर्ष्याकृत मान होता है। यह नायक की अन्यासक्ति या तो स्वयं आँखों से देखी हो

---

१ वही ३।१४।

२ वही, कि शीतलैः······ ···· ३।१८

३ राजा—अपरिक्षितकोमलस्य यावत् कुसुमस्येव नवस्य षट्पदेन।
अधरस्य पिपासता मया ते सदयं सुन्दरि! गृह्यते रसोऽस्य ॥३।२१।
(अभि० शा०)

४ राजा—(शकुन्तलां विलोक्य) अये! सेयमत्रभवती शकुन्तला। यैषा—७।२१
(अभि० शा०)। पृ० ४७२।

५ विप्रयोगस्तु विश्लेषो रूढविश्रम्भयोर्द्विधा ॥४।५७ उत्तरार्द्ध।
मानप्रवासभेदेन, मानोऽपि प्रणयेर्ष्ययोः।
तत्र प्रणयमानः स्यात्कोपावसितयोर्द्वयोः ॥४।५८। (दशरू०)

अथवा अनुमान कर ले या किसी के मुँह से सुन ले। इसके बारे में प्रिय की श्रुति सखी के मुँह से हो सकती है। प्रिय की अन्यासक्ति का अनुमान तीन तरह से हो सकता है—नायक द्वारा स्वप्न में नायिका के नाम लेने, नायक के शरीर पर अन्य स्त्री संभोग के चिह्न देखने से तथा गलती से आसक्त अन्या नायिका का नाम लेने से (गोत्रस्खलन से)[1]। ईर्ष्यामान सिर्फ स्त्रियों में ही पाया जाता है। नायिका के इस ईर्ष्यामान को छः प्रकार से दूर किया जा सकता है – साम, भेद, दान, नति (पादपतन), उपेक्षा तथा अन्यरस के द्वारा[2]।

किसी कार्य से, सम्भ्रम (गड़बड़ी) से, अथवा शाप के कारण नायक-नायिका का अलग-अलग देश में रहना प्रवास विप्रयोग है। इसमें नायक एवं नायिका दोनों में अश्रु, निःश्वास, दुर्बलता, केशविन्यास न करने के कारण उसका लम्बा होना आदि अनुभाव पाये जाते हैं। यह प्रवास तीन प्रकार का होता है– भविष्यत् (जब प्रवास होनेवाला), वर्तमान (जब प्रवास हो रहा हो) तथा भूत (जब प्रवास हो चुका हो)। इनमें सम्भ्रमजनित प्रवास वह होता है, जहाँ दैवी अथवा मानुषी विप्लव के कारण नायक-नायिका एकदम एक दूसरे से अलग कर दिये गये हों। नायक एवं नायिका के समीप होने पर भी, उनका स्वभाव या रूप शाप के कारण बदल दिया जाय वह शापज प्रवास कहलाता है।[3]

आचार्य विश्वनाथ के अनुसार विप्रलम्भ शृंगार के चार भेद होते हैं:— पूर्वराग, मान, प्रवास तथा करुणा। उपर्युलिखित धनंजय के अयोग शृंगार का दूसरा नाम "पूर्वराग" है। रूप-सौन्दर्य आदि के श्रवण या दर्शन से आपस में अनुरक्त नायक-नायिका की वह दशा जो दोनों के समागम के पूर्व हुआ करती है। इसमें पूर्वोक्त दश काम दशाएँ संभव हैं। इसके तीन प्रकार होते हैं:— नीली राग, कुसुम्भराग तथा मंजिष्ठ राग। करुण-विप्रलम्भ को दशरूपककार नहीं मानते हैं[4]। विश्वनाथ के विचार से करुण विप्रलम्भ वह है जो प्रेमी तथा प्रेमिका

---

१ स्त्रीणामीर्ष्याकृतो मानः कोपोऽन्यासङ्गिनी प्रिये।
श्रुते वाऽनुमिते दृष्टे, श्रुतिस्तत्र सखी मुखात् ।४।५९
उत्स्वप्नायितभोगाङ्कगोत्रस्खलनकल्पितः।
त्रिधाऽनुमानिको, दृष्टः साक्षादिन्द्रियगोचरः ।४।६०॥ (वही)

२ साम्ना भेदेन दानेन नत्युपेक्षारसान्तरैः ॥४।६१॥ उत्तरार्द्ध (दशरूप०)।

३ द्वितीयः संहसोत्पन्नो दिव्यमानुषविप्लवात्।
स्वरूपान्यत्वकरणाच्छापजः सन्निधावपि ॥४।६६॥ (दशरू०)

४ दशरूपक ४।६७।

में से किसी एक के दिवंगत हो जाने पर, पुनः जीवित हो सकने की अवस्था में जीवित बचे दूसरे के शोकसंवलित रतिभाव का अभिव्यंजन होता है।

विप्रलम्भ शृंगार का अभिनय निर्वेद, ग्लानि, शंका, असूया, श्रम, चिन्ता, औत्सुक्य, निद्रा, स्वप्न, विब्बोक, व्याधि, उन्माद, अपस्मार, जाड्य तथा मरण (मोह) आदि संचारीभावों द्वारा किया जाता है[१]। कालिदास के तीनों रूपकों में विप्रलम्भ शृंगार रस का सुन्दर परिपाक हुआ है। इरावती जब मालविका के साथ राजा अग्निमित्र को आसक्त देख लेती है तब प्रकुपित हो जाती है। ऐसी स्थिति में राजा उससे उसकी मनौती करता है तथा सफाई देता है कि उत्सव के दिन कैदियों को छोड़ देना चाहिए। बन्धनमुक्ति की खुशी में मालविका तथा बकुलावलिका धन्यवाद देने के लिए यहाँ आयी है[२]। तृतीय अंक में इरावती क्रोधावेश में अपनी करधनी से राजा अग्निमित्र को जब पीटने के लिए उद्यत होती है तब राजा मनौती करते हुए उसके पैरों पर गिर जाता है।[3]

विक्रमोर्वशीयम् में इन्द्र के पास उर्वशी के जाने पर पुरूरवा की विकल दशा का वर्णन कालिदास ने किया है। इसमें काम की सारी अवस्थाओं का सम्यक् प्रतिपादन हुआ है। अभिनय के लिए स्वर्ग जाते समय उर्वशी राजा से अनुमति लेकर वियोग दुःख प्रकट करती हुई जाती है[४]। पुरूरवा उसके जाने पर कहता है कि अब आँखें व्यर्थ हैं।[५] राजा को विरहव्यथित स्थिति में देखकर और भूर्जपत्र में उर्वशी के व्यक्त अनुराग को जानकर रानी धारिणी प्रकुपित हो जाती है। वस्तुस्थिति को छिपाने का पर्याप्त प्रयास राजा करता है। अन्ततोगत्वा भेद

---

१ विप्रलम्भकृतस्तु निर्वेदग्लानिशङ्कासूयाश्रमचिन्तौत्सुक्यनिद्रासुप्तस्वप्नविबोधव्याध्युन्मादापस्मारजाड्य (मोह) मरणादिभिरनुभावैरभिनेतव्यः ॥
(ना० शा०, अ० ६, पृ० ३०५)।

२ राजा—त्वमन्यथा कल्पयसि। अहं पुनः सत्यमेवात्र कोपस्थानं न पश्यामि।
कुतः— नार्हति कृतापराधोऽप्युत्सवदिवसेषु परिजनो बन्धम्।
इति मोचिते मयैते प्रणिपतितुं मामुपगते च। ४।१७।

३ राजा— अपराधिनी मयि दण्डं संहरसि किमुद्यतं कुटिलकेशि!
वर्धयसि विलसितं त्वं दासजनायात्र कुप्यसि च ॥३।२२
(आत्मगतम) नूनमिदानीमनुज्ञातम् (इतिपादयोः पतति)। (वही)

४ उर्वशी—(वियोगदुःखं रूपयन्ती सह सख्या निष्क्रान्ता) (विक्र०, पृ० ७७)।
५ राजा—(सनिःश्वासम्) सखे वैयर्थ्यमिव चक्षुषः सम्प्रति। (वही)

खुल जाने पर पुरूरवा उसकी मनौती करते हुए उसके पैरों पर गिर पड़ता है।[1] फिर भी रानी उनकी उपेक्षा कर चली जाती है।

तृतीय अंक में राजा पुरूरवा कामपीड़ित हो उर्वशी की पूर्व चेष्टाओं को स्मरण करते हुए कहता है कि रथ के हिलने-डुलने से हमारे कन्धे से उसका कन्धा सट गया। अतः हमारे अंगों में सिर्फ कन्धा ही कृती है, शेष अंग तो पृथ्वी के भारभूत हैं।[2] चतुर्थ अंक में शापज विप्रलम्भ का उदाहरण मिलता है। राजा पुरूरवा जब उदयवती को बहुत देर तक निहारते रहे तब उसे देखकर उर्वशी क्रुद्ध हो उठी। बहुत मनाने पर भी वह नहीं मानी और कुमारवन में प्रवेश कर गई। वहाँ प्रवेश करते ही भरतमुनि के शापवश तथा देवता के नियम को भूल जाने के कारण वह लता के रूप में परिणत हो गई। राजा उसके विरह में पागल की तरह प्रलाप करता हुआ उसे उसी वन में खोजता रहा। कालिदास ने पुरूरवा की कामदशा का हृदयावर्जक चित्र उपस्थित किया।

अभिज्ञानशाकुन्तलम् में कालिदास ने विप्रलम्भ श्रृंगार के मनोरम पक्ष का हृदयावर्ज दृश्य उपस्थित किया है। इसके माध्यम से उन्होंने सिर्फ संभोग को परिपुष्ट ही नही किया अपितु अपने माता-पिता आदि गुरुजनों की अनुमति के विना किये गये वासनाजन्य प्रेम को वियोगाग्नि में भस्मसात् करके दाम्पत्यस्नेह की पवित्रता से विभूषित किया है। शकुन्तला के प्रत्याख्यान एवं दुष्यन्त के पश्चात्ताप से दोनों की कलुषता समाप्त हो जाती है। अन्त में दोनों भरत के रूप में अपने प्रेम रूप फल को प्राप्त कर धन्य हो जाते हैं। द्वितीय, तृतीय तथा षष्ठ अंक में विप्रलम्भ श्रृंगार का विशेष वर्णन है। विप्रलम्भ के सभी प्रकारों का वर्णन इसमें किया गया है। राजा दुष्यन्त शकुन्तला को विधाता की स्त्रीरत्नसृष्टिरपरा कहकर अनाघ्रात पुष्प आदि विभिन्न उपमानों से तुलना करते हुए उसके रूपलावण्य को स्मरण कर उसकी प्राप्ति के लिए चिन्तित होता है।[3] वह उसकी विगत अनुराग चेष्टाओं को याद कर व्यथित हो जाता है।[4] उसके वियोग में दुष्यन्त के लिए चन्द्रमा की शीतल किरणें अग्नि की वर्षा करती हैं तथा कामदेव के कोमल कुसुमवाण

---

१ राजा- अपराधी नामाहं प्रसीद रम्भोरु विरम संरम्भात्।
सेव्यो जनश्च कुपितः कथं नु दासो निरपराधः ॥३।३१॥
(इति पादयोः पतति) (वही, पृ० ८७)

२ राजा—अथ तस्या रथक्षोभादंसेनांसो निपीडितः।
एकः कृती शरीरेऽस्मिञ्शेषमङ्गं भुवो भरः ॥३।११ (विक्र०)।

३ अभि० शा० २। ९-१०।

४ वही २। ११-१२

भी वज्र के समान तीक्ष्ण हो जाते हैं।[1] शकुन्तला भी दुष्यन्त के वियोग के कारण अत्यंत दुःखी तथा कामसंतप्त है। चन्दन आदि का लेप किये हुए पुष्पों की शय्या पर लेटे रहने पर भी उसे शान्ति नहीं मिल रही है।[2] उसकी दशा बहुत दयनीय हो गई है[3]। राजा दुष्यन्त भी शकुन्तला के वियोग में अत्यधिक दुर्बल हो गया है[4]। आर्या गौतमी के आने पर दुष्यन्त एवं शकुन्तला एक दूसरे से वियुक्त हो जाते है। अब शकुन्तला पश्चात्ताप करती है—"(आत्मगतम्) हिअअ! पढमं एव्व सुहोवणदे मणोरहे कादरभावं ण मुंचसि। साणुसअ-विहडिअस्स कहं दे संपदं संदावो? (पदान्तरे स्थित्वा, प्रकाशम्) लदावलअ संदावहारअ। आमंतेमि, तुमं भूओ विपरिभोअस्स"। शकुन्तला के जाने पर अत्यधिक दुःखी होने के कारण राजा की दशा किंकर्त्तव्यविमूढ़ सी हो जाती है। वह चारों ओर देखकर कहता है कि उसके शरीर द्वारा दबाई गई तथा शिला पर पड़ी हुई यह फूलों की शय्या है। उसके नखों द्वारा कमल पत्र पर लिखा हुआ यह मुरझाया हुआ प्रेम-पत्र है। उसके हाथ से गिरा हुआ यह मृणाल-निर्मित कंकण है। इस प्रकार इन वस्तुओं में लगी हुई दृष्टिवाला मैं इस सूने (शकुन्तला रहित) भी वेंत के गृह (लता-मण्डप) से सहसा बाहर निकल कर जाने में असमर्थ हूँ।[5]

अपने प्रियतम (दुष्यन्त) के विरह में शकुन्तला इतनी दुःखी एवं चिन्तित है कि उसे दुर्वासा के आगमन एवं शाप देकर चले जाने का कोई पता नहीं है।[6] इसी शाप के प्रभाववश पंचम अंक में अपने समक्ष उपस्थित शकुन्तला का राजा दुष्यन्त प्रत्याख्यान कर देता है। उस समय शकुन्तला की दशा बड़ी दारुण हो जाती है। वह पुरोहित तथा तपस्वियों के साथ प्रस्थान करती है तथा पृथ्वी से

---

१ राजा………। (मदनबाधां निरूप्य) भगवन्कुसुमायुध! त्वया चन्द्रमसा च विश्वसनीयाभ्यामतिसंधीयते कामिजनसार्थः। कुतः………३।३ (अभि० शा०)

२ राजा…………। स्तनन्यस्तोशीरं प्रशिथिल………३।६ (अभि० शा०)

३ राजा— अवितथमाह प्रियम्वदा। तथा हि—
क्षामक्षामकपोलमाननमुरः………………३।७ (अभि० शा०)

४ प्रियम्वदा—ण सो राएसो इस्सिं सिणिद्धदिट्ठीए सूइदाहिलासो इमाइं दिअहाइं पजाअरकिसो लक्खीअदि।

राजा—सत्यमित्थंभूत एवास्मि। तथा हि………इदमशिशिरैरन्तस्तापाद्……॥३।१० (वही)

५ राजा…………(सर्वतोऽवलोक्य)—
तस्याः पुष्पमयी शरीरलुलिता……३।२३ (अभि० शा०)।

६ आः अतिथिपरिभाविनि!
विचिन्तयन्ती………४।१ (अभि० शा०)।

अपने अन्दर स्थान माँगती है।[1]। षष्ठ अंक में अंगुलीयक मिलने पर राजा को शकुन्तला की याद आ जाती है। और वह पश्चात्ताप की ज्वाला में दग्ध होने लगता है। वह उसके विरह में बिस्तर से करवटें बदलते हुए रात भर जागते रहता है, सभी सुन्दर वस्तुओं से घृणा करता है तथा मंत्रियों से पूर्ववत् प्रतिदिन नहीं मिलता है।[2] आम्रमंजरी को देखकर वह उन्मत्त हो जाता है। उसने वसन्तोत्सव को भी रोक दिया है। शकुन्तला के परित्याग का स्मरण कर पुनः दुःखी हो उठता है।[3] वह अँगूठी को देखकर उसे ही उलाहना देने लगता है तथा विगत सारी घटनाओं को याद कर चिन्तित होता है। (५।११-१३)। उसके नेत्रों से निरन्तर अश्रुधारा बहते रहने के कारण चित्राङ्कित शकुन्तला को भी वह नहीं देख पाता है।[4] धनमित्र की मृत्यु की खबर सुनकर अपनी पुत्रहीनता का स्मरण होने पर उसे अपार दुःख होता है।[5] अपने वंश की समाप्ति का स्मरण कर वह मूर्च्छित हो जाता है।[6]

कालिदास ने विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारीभाव का परिवर्धन मर्यादा के अन्दर ही किया है। इन्होंने शृंगार के दोनों पक्षों का परिपाक संयम के साथ किया है।

---

१ शकुन्तला—भअवदि वसुहे ! देहि मे विवरं। (इति रुदती प्रस्थिता। निष्क्रान्ता सह पुरोधसा तपस्विभिश्च) (वही, पृ० ३२५)।

२ कंचुकी——(आत्मगतम्) ते ह्यल्पं कथयितव्यम्। (प्रकाशम्) यदैव खलु ········ ········पश्चात्तापमुपगतो देवः। तथाहि············

रम्यं द्वेष्टि यथा पुरा प्रकृतिभिर्न············॥६।५ (अभि० शा०, पृ० ३५६)।

३ राजा—(ध्यानमन्दं परिक्रम्य) प्रथमं सारङ्गाक्ष्या ·····६।७। (वही, पृ० ३६२)। राजा—वयस्य ! निराकरणविक्लवायाः········बलवदशरणोऽस्मि सा हि —इतः प्रत्यादेशात स्वजनमनुगन्तु········६।९। (वही, पृ० ३७२)।

४ राजा—(निःश्वस्य) ! अहं हि—साक्षात् प्रियामुपगतामपहाय········६।१६॥ (वही पृ०३९०)।

राजा—वयस्य ! कथमेवमविश्रान्तदुःखमनुभवामि ?

प्रजागरात् खिलीभूतस्तस्याः स्वप्ने········६।२२ (वही पृ० ४०१)।

५ राजा—संरोपितेऽप्यात्मनि········६।२४ (अभि० शा० ४१०)।

६ राजा—अहो दुष्यन्तस्य संशयमारूढा पिण्डभाजः। कुतः—

अस्मात्परं बत यथाश्रुतिः········६।२५ (वही पृ० ४१३) इति मोहमुपगतः)।

हास्य :

यह स्वभावतः सुखात्मक रस है। भरतमुनि के विचार से यह चार उपरसों की श्रेणी में है। इसकी उत्पत्ति शृंगार से मानी गई है। उन्होंने इसे शृंगार की अनुकृति कहा है।[1] शृंगार से उत्पन्न होने पर भी इसका वर्ण शृंगार रस के श्याम वर्ण से भिन्न सित माना गया है।[2] इसके देवता भी शृंगार देवता 'विष्णु' से भिन्न शिवगण (शैवप्रमथ) हैं।[3] फ्रायड आदि आधुनिक मनोवैज्ञानिक हास्य के मूल में राग की जगह पर द्वेष की भावना का प्राधान्य मानते हैं। इसका स्थायी भाव 'हास' होता है। इसका आविर्भाव (उत्पत्ति) आकार-विकृति, वाग्-विकृति, वेष-विकृति, चेष्टा-विकृति अथवा अन्यान्य प्रकार की विकृतियों के वर्णन या अभिनयन से होता है। इसका आलम्बन वह व्यक्ति होता है, जिसमें आकार, वाणी तथा चेष्टा की विकृतियाँ दिखाई देती हैं तथा जिन्हें देखकर लोग हँसते हैं। ऐसे हास्यास्पद व्यक्ति की चेष्टाएँ ही उद्दीपन होती हैं। ओष्ठ-दंशन, नासा-कपोल-स्पन्दन, आँखों के सिकुड़ने, स्वेद, पार्श्वग्रहण आदि अनुभावों के द्वारा इसके अभिनय का निर्देश किया गया है। आलस्य, अवहित्था (अपना भाव छिपाना), तंद्रा, निद्रा, स्वप्न, प्रबोध, असूया (ईर्ष्या, निन्दा-मिश्रित) आदि इसके व्यभिचारीभाव माने गये हैं।[4]

हास्य के आश्रय के आधार पर इसके दो भेद किये गये हैं—(१) आत्मस्थ (आत्मसमुत्थ) जब कोई व्यक्ति स्वयं हँसे; (२) परस्थ (परसमुत्थ)—जब कोई दूसरे को हँसाये।[5] अभिनवगुप्त को ये दोनों भेद मान्य नहीं हैं।[6] इन दोनों के अतिरिक्त भाव के विकासक्रम अथवा उसके तारतम्य को भी आधार मानकर हास्य के छः भेद किये गये हैं। इन्हें प्रकृति की दृष्टि से उत्तम, मध्यम और अधम तीन कोटियों में निम्नलिखित क्रम से रखा गया है—उत्तम—(१) स्मित, (२) हसित। मध्यम—(३) विहसित (४) उपहसित। अधम—(५) अपहसित (६) अतिहसित।[7]

---

१ शृंगारानुकृतिर्यातु स हास्य इति संज्ञितः ६।४० (ना० शा०)।

२ सितो हास्यः प्रकीर्तितः ६।४२ (ना० शा०)।

३ हास्यः प्रथमदैवतः ६।४४ (वही)

४ सा० द० ३।२१४-२१६; ना० शा० (चौ० सं०)—पृ० ३१६।

५ द्विविधश्चायमात्मस्थः परस्थश्च। यदा स्वयं हसति तदात्मस्थः।
यदा तु परं हासयति तदा परस्थः—ना० शा० (चौ० सं०)—३१६।

६ अभि० भा० पृ० ५७२।

७ स्मितमथ हसितं विहसितमुपहसितं चापहसितमतिहसितम्।
द्वौ द्वौ भेदौ स्यातामुत्तममध्याधमप्रकृतौ ॥६।५३ (ना० शा० पृ० ३८०)।

भरत के अनुसार "स्मितहास्य" में कपोलों के निचले भाग पर हँसी की हलकी छाया रहती है। कटाक्ष-सौष्ठव समन्वित रहते हैं तथा दाँत नहीं झलकते। हसित में मुख-नेत्रादि उत्फुल्ल हो जाते हैं, कपोलों पर हास्य प्रकट रहता है तथा दाँत भी कुछ-कुछ दीख जाते हैं। विहसित में आँखों एवं कपोलों का आकुंचित होना, मधुर स्वर के साथ समयानुसार मुख पर लालिमा का झलक जाना पाया जाता है। "उपहसित" में नाक फूल जाना, दृष्टि में कुटिलता आ जाना है तथा कंधे एवं सिर का संकुचित हो जाना आवश्यक माना गया है। असमय पर हँसना, हँसते हुए आँखों में आँसुओं का आ जाना तथा कन्धे और सिर का हिलने लगना "अपहसित" की विशेषता है। नेत्रों में तेजी से आँसू आ जाना, उद्धत चिल्लाहट का स्वर होना तथा हाथों से बगल को दबा लेना "अतिहसित" का लक्षण है।[1] अनुभावों के आधार पर कल्पित होने के कारण इन छः भेदों को मानसिक से अधिक शारीरिक ही माना गया है। कालिदास के तीनों रूपकों में हास्यरस का प्राचुर्य मिलता है। मालविकाग्निमित्रम् के द्वितीय अंक में जब मालविका का नृत्यप्रदर्शन समाप्त हो जाता है तब विदूषक कहता है कि पहले-पहल लास्य प्रदर्शन पर आपको ब्राह्मण-पूजा करनी चाहिए थी। उसे वस्तुतः आपलोग भूल गये। इस पर परिव्राजिका कहती है कि क्या यह भी नाट्य के अन्तर्गत प्रश्न है? इसकी बात पर सभी हँसने लगते हैं। मालविका भी मंदस्मित हास्य करती है।[2] इस तरह इस नाटक में हास्य के अनेक उदाहरण हैं। विक्रमोर्वशीयम् नामक त्रोटक के तृतीय अंक में राजा पुरूरवा जब कहता है कि उर्वशी के सम्बन्ध में एकान्त में चलाई गई चर्चा हमारे संताप को दूर कर सकती है, तब विदूषक परिहास के साथ कहता है कि मुझे भी जब शिखरिणी या आम नहीं मिलते तो मैं उनका नाम लेकर तसल्ली हासिल किया करता हूँ।[3]

अभिज्ञानशाकुन्तलम् में सर्वत्र शिष्ट एवं परिस्कृत हास्य मिलते हैं। शकुन्तला अनसूया से कहती है कि प्रियम्वदा ने वल्कलनिर्मित चोली को बहुत कसकर बाँध दिया है, अतः ढीला तो कर दो। इस पर प्रियम्वदा हँसती हुई कहती है :—(सहासम्) एत्थ पओहरवित्थारइत्तअं आअणो जोव्वणं उवालह। मं किं उवालहसि? (अंक १, पृ० ४३)।

---

१ ना० शा०—६।५५-६०; सा० द० ६।२१८-२१९; दशरू० ४।७६-७७

२ (सर्वे प्रहसिताः। मालविका च मन्दस्मितं करोति)।—(मालवि०, पृ० १२०)।

३ विदूषक—आम! हंविजदा सिहरिणीं रसालंअ ण लहे तदा णं पत्थयन्तो संकित्तअन्तो आसासेमि। (विक्र० पृ० ११२)।

राजा दुष्यन्त शकुन्तला की विगत चेष्टाओं को याद कर उसकी प्राप्ति के लिए अत्यधिक आशावान् हो उठता है (२।२) यह सुनकर विदूषक उसी प्रकार खड़े रहते हुए कहता है कि हे मित्र, मेरे हाथ-पैर नहीं चल रहे है. अतः मैं वाणी-मात्र से आपकी जय कहता हूँ। उसके इस स्वरूप को देखकर मुस्कुराते हुए कहता है—(सस्मितम्) कुतोऽयं गात्रोपघातः ?

मृगया से विश्राम के बाद राजा दुष्यन्त द्वारा सहायता की याचना किये जाने पर विदूषक उससे पूछता है—"किं भोदअखज्जिआए। तेण हि अभं पुगहीदो खणो।" (अभि० शा० अंक २, पृ० ९७)। सेनापति के द्वारा दुष्यन्त को शिकार के लिए उत्साहित किये जाने पर विदूषक उससे कहता है—(सरोषम्)………… । तुमं दाव अडवीदो अडवीं आहिण्डन्तो णरणासिआ लोलुवस्स जिण्णरिच्छस्स कस्स वि मुहे पडिस्ससि। (अभि० शा० अंक २, पृ० १०८) दुष्यन्त के मुँह से शकुन्तला के अनुपम सौन्दर्य का वर्णन सुनकर वह राजा दुष्यन्त को सम्मति देता है—"तेण हिलहु परित्ता अदुणं भवं। मा कस्स वि तवस्सिणो इंगुदीतेल्ल-चिक्कणसीसस्स हत्थे पदिस्सदि। (अभि० शा० अंक २). अन्तःपुर में अनुपम सौन्दर्यवाली रानियों के मध्य रहने पर भी शकुन्तला की कामना करनेवाले दुष्यन्त को विदूषक कहता है……"(विहस्य) जह कस्स वि पिण्डखज्जूरेहिं उव्वेजिदस्स तिन्तिणीए अहिलासो भवे, तह इत्थिआरअणपरिभाविणो भवदो इमं अब्भत्थणा" (अभि० शा०, अंक २, पृ० १०९) राजा दुष्यन्त द्वारा आश्रम रक्षा के निमित वहाँ ठहरने और माता की आज्ञा के अनुसार राजधानी जाने की द्वैध स्थिति पर विदूषक कहता है—"तिसङ्कू विअ अन्तरा चिट्ठ।" (अभि० शा० अंक २) जब राजा दुष्यन्त रानी हंसपदिका के समीप विदूषक से जाने कहता है तब वह कहता है—"……गहीदस्स ताए परकीएहिं हत्थेहिं सिहण्डए ताडीअमाणस्स अच्छराए दीदरामस्स विअणत्थि दाणिं मे मोक्खो। (अभि० शा०, अंक ५, पृ० २६०)।

इन्द्र के सारथि मातलि द्वारा पकड़े जाने पर विपत्ति में भी वह परिहास-पूर्ण शब्दों में कहता है—"एस मं को वि पच्चवण दसिरोहरं इक्खुं विअ तिण्ण भंगं करेदि (अभि० शा०, अंक ६, पृ० ४१९)। पुनः विदूषक कहता है—बिडालग्गहीदो मूसओ विअ णिरासोम्हि जीविदे संवुत्तो (अभि० शा० अंक ६, पृ० ४२१)।

करुणरस :

भरतमुनि ने करुणरस की उत्पत्ति रौद्र से मानी है[1]। उसका वर्ण कपोत के

---

१ रौद्राच्च करुणोरसः—(ना० शा० ६।४०)।

समान है।[1] इसके देवता यमराज हैं।[2] इसका स्थायीभाव शोक है।[3] उसकी उत्पत्ति 'शापजन्य क्लेशविनिपात', 'इष्टजनविप्रयोग', 'विभवनाश', 'वध', 'बन्धन', 'विद्रव' (पलायन); 'अपघात' (आपत्ति) आदि विभावों के संयोग से होता है। इसके अभिनय में अश्रुपातन, परिदेवन (विलाप), मुखशोषण, वैवर्ण्य, त्रस्तगात्रता, निःश्वास, स्मृतिविलोप आदि अनुभावों के प्रयोग का निर्देश नाट्यशास्त्र में किया गया है। इसमें निर्वेद, ग्लानि, चिंता, औत्सुक्य, आवेग, मोह, श्रम, भय, विषाद, दैन्य, व्याधि, जड़ता, उन्माद, अपस्मार, त्रास, आलस्य, मरण, स्तम्भ, वेपथु, वैवर्ण्य, अश्रु, स्वरभेद आदि व्यभिचारी भाव पाये जाते हैं।[4] इसी का संक्षेप करके आचार्य धनंजय एवं विश्वनाथ ने इस रस के उत्पादक कारणों को संक्षिप्त करके 'इष्टनाश' तथा 'अनिष्टप्राप्ति' दो संज्ञाओं में बांध दिया है।[5]

करुणरस तथा करुण विप्रलम्भ में अन्तर यह है कि करुण का स्थायीभाव 'शोक' है तथा करुणविप्रलम्भ का स्थायीभाव रति है। करुणरस में मिलन की आशा नहीं रहती है, लेकिन करुण विप्रलम्भ में पुनर्मिलन की आशा बँधी रहती है। वस्तुतः करुणरस की व्याप्ति एवं परिसीमा बहुत अधिक है। यद्यपि करुण का स्थायीभाव शोक माना गया है, किन्तु शोक सभी संभव है जब उसके मूल में राग या रति किसी न किसी रूप में निहित हो। इसका प्रमाण यह है कि जिस क्रौंच-मिथुन में से एक के वध का परिणाम शोक के श्लोकत्व में घटित हुआ वह काम-मोहित था। इस आधार पर आलोचकों ने करुण का क्षेत्र अन्य रसों की अपेक्षा अत्यन्त व्यापक बताया है तथा शृंगारादि रसों को उसी की परिधि में समाविष्ट करने का प्रयास किया है। इसका सर्वाधिक श्रेय उत्तररामचरित के रचयिता भवभूति को है।[6] कालिदास के अभिज्ञानशाकुन्तलम् के चतुर्थ अंक में कण्व के आश्रम

---

१ कपोतः करुणश्चैव (वही ६।४३)।

२ करुणो यमदैवतः—(वही ६।४५)।

३ अथ करुणो नाम शोकस्थायिभावप्रभवः—(वही अ० ६, पृ० ३२४ चौ० सं०)।

४ ना० शा० (चौ० सं०,— अ० ६, पृ० ३२४

५ इष्टनाशादनिष्टप्राप्तौ शोकात्मा करुणोऽनुतम्।—(दशरू० ४।८१ पूर्वार्द्ध)।
इष्टनाशादनिष्टप्राप्तेः करुणाख्योरसो भवेत्। (सा० द० ३।२२२ पूर्वार्द्ध)।

६ तमसा—अहो संविधानकम्।
एको रसः करुण एव निमित्तभेदा-
द्भिन्नः पृथक्पृथगिवाश्रयते विवर्तान्।
आवर्तबुद्बुदतरंगमयान्विकारा-
नम्भो यथा, सलिलमेव हि तत्समस्तम्॥३।४७
(उत्तररामचरितम्, चौ० प्र० १९५३ ई०)

से शकुन्तला की विदाई तथा ऐसे ही अन्य स्थल शास्त्रीय परिभाषा के अनुसार करूण रस के अन्तर्गत न आते हुए भी न्यूनाधिक करुण प्रभाव उत्पन्न करते हैं। पं० राघवभट्ट के विचार से चतुर्थ अंक में "ततः प्रविशति स्नानोत्तीर्णः काश्यप." (पृ० १३६) से—

उभे—ताद सउंदलाविरहियं सुण्णं विअ तवोवणं कहं पविसावो? (पृ० १५२) तक करुण रस है (अभि० शा० राघवभट्टव्याख्या)।

रौद्ररस :

रौद्ररस का स्थायीभाव क्रोध है तथा वर्ण रक्त एवं देवता रुद्र है। कोपाविष्ट दशा में मनुष्य की आकृति क्षोभ की अतिशयता से रक्त वर्ण हो जाती है, अतः यद्यपि इसके श्वेत रंग वाले देवता रुद्र हैं फिर भी इसका रंग लाल माना गया है। भरत-मुनि के अनुसार रौद्ररस राक्षस, दैत्य तथा उद्धत प्रकृति के मनुष्यों में संग्राम आदि द्वारा उद्भूत है। इसमें आलम्बन रूप में शत्रु का वर्णन किया जाता है तथा शत्रु की चेष्टाएँ उद्दीपन विभाव का काम करती हैं। इसका अभिनय रक्त नयन, स्वेद-प्रसार, भृकुटी चढ़ाना, दाँत एवं ओठों का चबाना, गालों का फुलाना, हाथों का मसलना आदि अनुभाव के द्वारा किया जाता है। इसमें मोह, उत्साह, आवेग, अमर्ष, चपलता, उग्रता, स्वेद, कम्पन, रोमांच तथा गद्‌गद आदि संचारीभाव होते हैं।[1] अभिज्ञानशाकुन्तलम् के छठे अंक के अन्त में जब मातलि विदूषक को पकड़ कर परीशान करने लगता है तब रक्षा के लिए पुकारने पर राजा दुष्यन्त क्रोधाभिभूत होकर उसकी हत्या के लिए बाण उठाता है।[2] इसमें रौद्ररस का परिपाक हुआ है।

वीररस :

वीररस उत्तम प्रकृति वाला, उत्साह स्थायी भावात्मक होता है। इसके आश्रय उत्तम प्रकृति के व्यक्ति होते हैं। इसका स्वर्णवर्ण होता है। इसके देवता

---

१ अथ रौद्रो नाम क्रोधस्थायिभावात्मको रक्षोदानवोद्धतमनुष्यप्रकृतिः ·········
संग्रामहेतुकः। सच ·········स्वेदवेपथुरोमांचगद्‌गदादयः।··········
(ना० शा० अ० ६, पृ० ३२७-३२८)

२ (नेपथ्ये) अविहा अविहा। अहं अत्त भवतं पेक्खामि। तुमं मं ण पेक्खसि? विडालग्गहीदो मसओ विअ णिरासो म्हि जीविदे संवुत्तो।
राजा—भोस्तिरस्करिणीगर्वित! मदीयं शस्त्रं त्वां द्रक्ष्यति। एष तमिषुं संदधेयो हनिष्यति वध्यं वध्यं त्वां रक्ष्यं रक्षिष्यति द्विजम्। हंसो हि क्षीरमादत्ते तन्मिश्रा वर्जयत्यपः ॥६।२८॥ (इत्यस्त्रं सन्धत्ते) (अभि० शा०, अंक ६, पृ० २३३, राघवभट्टव्याख्या)।

महेन्द्र हैं। इसके आलम्बन विभाव विजेतव्य शत्रु आदि हैं तथा इन विजेता शत्रु आदि की चेष्टाएं इसके उद्दीपन विभाव हैं। यह प्रत्युत्पन्न-मतित्व, असम्मोह, अध्यवसाय, नीति, बल (सैन्य), पराक्रम, शक्ति, प्रताप, प्रभाव आदि विभावों द्वारा उत्पन्न होता है। इसका अभिनय स्थिरता, धैर्य, शौर्य, त्याग, चातुर्य आदि अनुभावों के द्वारा करना चाहिए। इसमें धृति, मति, गर्व, रोमांच आदि संचारी भाव होते हैं।[1] इसके चार प्रकार होते हैं—दानवीर, धर्मवीर, युद्धवीर और दयावीर।[2]

मालविकाग्निमित्र के प्रथम अंक में अग्निमित्र के इस कथन में वीररस की अभिव्यक्ति हुई है—(सरोषम्) कथं कार्यविनिमयेन मयि व्यवहरत्यनात्मज्ञः। वाहृतक, प्रकृत्यमित्रः प्रतिकूलचारी च मे वैदर्भः। तद्यातव्यपक्षे स्थितस्य पूर्वसंकल्पितसमुन्मूलनाय वीरसेनप्रमुखं दण्डचक्रमाज्ञापय। (मालवि, पृ० ३५) विक्रमोर्वशीयम् के प्रथम अंक में केशीनामक दैत्य से उर्वशी को मुक्त कराकर राजा पुरूरवा ने अपनी वीरता का परिचय दिया है। चित्ररथ उनकी वीरता और पराक्रम की प्रशंसा करता है।[3]

अभिज्ञानशाकुन्तलम् के प्रथम अंक के आरम्भ में मृग का आखेट करते हुए दुष्यंत के उत्साह नामक स्थायीभाव का परिचय मिलता है, अतः वहाँ वीररस है। द्वियीय अंक में ऋषिकुमार राजा की युद्धवीरता की प्रशंसा करते हैं।[4] तृतीय अंक के आरम्भ में राजा दुष्यन्त की वीरता के परिणाम का वर्णन किया गया है[5]। इस अंक के अन्त में दुष्यन्त के इस कथन में वीररस है :—

(आकर्ण्य, सावष्टम्भम्) भो भोस्तपस्विनः। मा भैष्ट मा भैष्ट, अयमहमागत एव।
(अभि० शा०, अं० ३, पृ० १८२)।

---

१ अथ वीरो नामोत्तमप्रकृतिरुत्साहात्मकः। स चासंमोहाध्यवसाय.........रोमांचप्रतिवोधादयः। (ना० शा०, अ० ६, पृ० ३३६)।

२ सा० द० ३।२३२-२३४।

३ चित्ररथः—वयस्य केशिना हृतामुर्वशीं.........मघोनः प्रियमनुष्ठितं भवता। पश्य......पुरा नारायणेनेयमतिसृष्टा मरुत्वते। दैत्यहस्तादपाच्छिद्य सुहृदा सम्प्रति त्वया ॥१।१४॥ (विक्र० पृ० २७)।

४ प्रथमः—......। अध्याक्रान्ता वसतिरमुनाप्याश्रमे.......२।१४ (अभि० शा०)
द्वितीयः.............। नैतच्चित्रं यदयमुदधिश्यामसीमां.........२.१५ —वही)

५ शिष्यः— अहो ! महानुभावः पार्थिवो दुष्यन्तः। प्रविष्टमात्र एवाश्रमं तत्रभवति राजनि निरुपद्रवाणि नः कर्माणि प्रवृत्तानि भवन्ति।
का कथा वाणसन्धाने.........३।१ (अभि० शा०, अंक ३, पृ० १३१)।

पंचम अंक में राजा दुष्यन्त शार्ङ्गरव के वाग्युद्ध के वर्णन में दोनों की धर्मवीरता का परिचय मिलता है। अपने प्रणयसम्बन्ध की बात याद कराकर विश्वास दिलाने के लिए जब शकुन्तला आश्रम की विगत घटना को सुनाती है तब भी वह अपने को धर्मवीर के रूप में ही प्रस्तुत करता है तथा शकुन्तला को आचारविहीन कहता है।[1] शकुन्तला पर आरोप लगाता हुआ राजा कहता है कि स्त्रियाँ तो जन्म से ही धूर्त्त हुआ करती हैं[2]।

भयानकरस :

भयानक वह रस है जिसका भय स्थायीभाव होता है। इसका वर्ण "कृष्ण" और देवता 'काल' हैं। स्त्री तथा नीच प्रकृति के लोग इसके आश्रय होते हैं। भयोत्पादक पदार्थ इसके आलम्बन होते हैं तथा उनकी भीषण चेष्टाएँ उद्दीपन का काम करती हैं। यह अट्टहासादि विकृत शब्द, हिंसक जन्तुओं के दर्शन (शब्द एवं रुदन); सियार और उल्लू अथवा भूत, प्रेत आदि के द्वारा त्रास, उद्वेग, शून्य अरण्य तथा गृह में प्रवेश, आत्मीय व्यक्ति के वध, बन्धन का दर्शन, श्रवण तथा कथन आदि विभावों के द्वारा उत्पन्न होता है। इसका अभिनय घुमाते हुए हाथ, पैर तथा फड़कते हुए नेत्रों, रोमांच, वेपथु, स्वरभेद, आदि अनुभावों के द्वारा करना चाहिए। इसमें स्तम्भ, स्वेद, गद्गद हो जाना, रोमांच, वेपथु, स्वरभेद, वैवर्ण्य, शंका, मोह, दैन्य, आवेग, जड़ता, त्रास, अपस्मार तथा मरण आदि संचारीभाव होते हैं।[3]

अभिज्ञानशाकुन्तलम् के प्रथम अंक के आरम्भ में भयभीत भागते हुए मृग के वर्णन में भयानक रस है[4]। इसी अंक के अन्त में भयभीत मृगों के झुण्डों को छिन्न भिन्न करता हुआ, तपस्या के लिए साक्षात् विघ्न के समान हाथी के तपोवन में प्रवेश करने के दृश्य में भी भयानक रस है[5]। तृतीय अंक के अन्त में भयानक स्वरूप को धारण कर राक्षसों द्वारा यज्ञशाला के निकट विचरण करने का वर्णन है।[6]

वीभत्सरस :

वीभत्सरस वह है जो "जुगुप्सा" स्थायीभाव से अभिव्यंजित होता है।

---

१ व्यपदेशमाविलयितु.........५।२१ ।। (अभि० शा० अंक ५)
२ स्त्रीणाममशिक्षित.............५।२२ (वही)।
३ अथ भयानको नाम भयस्थायिभावात्मकः। सच विकृत ......मरणादयतः।
सा० द० ३। २३५—२३८ (ना० शा० अ० ६, पृ० ३३९)।
४ ग्रीवाभंगाभिरामं.........१.७ (अभि० शा०, राघवभट्टव्याख्या)
५ तीव्राघातप्रतिहत..........१।३२, वही पृ० १६)
६ सायन्तने सवनकर्मणि संप्रवृत्ते......वही, पृ० ११७)।

इसका वर्ण 'नीला' तथा देवता महाकाल है।[1] दुर्गन्धमय मांस, रक्त, भेद (चर्बी) आदि इसके आलम्बन-विभाव हैं। इन्हीं पदार्थों में कीड़े पड़ने आदि को उद्दीपन-विभाव माना गया है। यह असुन्दर तथा अप्रिय पदार्थों को देखने, अनिष्ट वस्तु के दर्शन एवं कथन आदि विभावों द्वारा उत्पन्न होता है। इसका अभिनय सभी अंगों के संकोच, मुख को सिकोड़ने, घुमाने, ऊपर की ओर ले जाने तथा थूकने और अंगों के घुमाने आदि अनुभावों के द्वारा प्रदर्शित करना चाहिए। इसमें अपस्मार, उद्वेग, आवेग, मोह, व्याधि तथा मरण आदि व्यभिचारीभाव होते हैं[2]। भरतमुनि के अनुसार इसके तीन भेद होते हैं :—(१) क्षोभज, (२) शुद्ध, (३) उद्वेगी। शारदातनय ने इसके क्षोभज और उद्वेगी दो ही भेद माने हैं। धनंजय ने भरत की तरह ही इसके तीन भेद माने हैं। अभिज्ञानशाकुन्तलम् के षष्ठ अंक के अन्त में नेपथ्योक्ति[3] में बीभत्स रस की अभिव्यक्ति हुई है।

अद्भुतरस :

भरतमुनि ने वीररस से अद्भुत की उत्पत्ति बतायी है[4]। उनके विचार से इसका वर्ण पीला[5] तथा देवता 'ब्राह्मण' है[6]। आचार्य विश्वनाथ के अनुसार 'गन्धर्व' इसके देवता हैं। इसका स्थायीभाव 'विस्मय' होता है तथा आलम्बन अलौकिक वस्तु होती है। उसका (अलौकिक वस्तु का) गुण-कीर्तन इसका उद्दीपन है[7]। यह दिव्यजन के दर्शन, इष्ट मनोरथों की प्राप्ति, उद्यान तथा सभाभवन, विमान,

---

१ जुगुप्सास्थायिभावस्तु बीभत्सः कथ्यते रसः।
नीलवर्णो महाकालदैवतोऽयमुदाहृतः ॥३। २३९ (सा० द०)।

२ ना० शा० चौ० सं० अ० ६, पृ० ३४३।
सा० द० ६। २४०—२४१

३ (नेपथ्ये) एष त्वामभिनवकण्ठशोणितार्थी
शार्दूलः पशुमिव हन्मि चेष्टमानम्।
आर्त्तानां भयपेतुमात्तधन्वा
दुष्यन्तस्तव शरणं भवत्विदानीम् ॥ ६।२७
(अभि० शा०, राघव भट्टव्याख्या पृ० २३२)।

४ वीराच्चैवाद्भुतोत्पत्तिः (ना० शा० ६।४०)।

५ पीतश्चैवाद्भुतो स्मृतः—(वही, ६।४४)।

६ अद्भुतो ब्रह्मदैवतः (वही, ६।४६)।

७ अद्भुतो विस्मयस्थायिभावो गन्धर्वदैवतः।३।२४२ ॥
पीतवर्णो वस्तु लोकातिगमालम्बनं मतम्।
गुणानां तस्य महिमा भवेदुद्दीपनं पुनः।३। २४३ ॥

माया एवं इन्द्रजाल के दर्शन आदि विभावों द्वारा उत्पन्न होता है।[1] स्तम्भ, स्वेद, रोमाञ्च, गद्गद स्वर, संभ्रम, नेत्रविकास आदि इसके अनुभाव हैं। इसमें वितर्क, आवेग, संभ्रम, हर्ष आदि व्यभिचारीभाव होते हैं।[2] इसके दो भेद हैं :—दिव्य एवं आनन्दज।[3]

अभिज्ञानशाकुन्तलम् के पंचम अंक के अन्त में प्रत्याख्यान के बाद तेजोमयीज्योति द्वारा शकुन्तला को उठा ले जाने के वर्णन में अद्भुत रस है।[4] शास्त्रीय नियमानुसार कालिदास ने अभिज्ञानशाकुन्तलम् नाटक के अन्त में निर्वहण सन्धि में अद्भुतरस की अभिव्यक्ति करायी है। राजा दुष्यन्त द्वारा इन्द्रलोक से पृथ्वी की ओर आते समय मार्ग में ही किये गये पृथ्वी के वर्णन""""शैलानामवरोहतीव शिखरादुन्मज्जतां""""॥७।८—में अद्भुत रस है।

इसी प्रकार मातलि द्वारा मारीच के आश्रम में तपस्या करते हुए ऋषियों के वर्णन में भी अद्भुत रस है—

वल्मीकार्धनिमग्नमूर्तिरुरसा""""।७।११ (अभि० शा०) इसमें समाधिस्थ योगी का वर्णन विस्मयजनक है।

शान्तरस :

आचार्य मम्मट ने 'शान्तोऽपि नवमो रसः' कहकर इसे स्वीकार किया है। भरतमुनि ने नाट्शास्त्र में प्रतिपादित किया है कि शान्तरस से ही रति आदि आठ स्थायीभावों की उत्पत्ति होती है और पुनः उसमें ही उनका विलय हो जाता

---

१ ना० शा० अ० ६, पृ० ३४५।

२ सा० द० ६।२४४ तथा २४५ का पूर्वार्द्ध।

३ दिव्यश्चानन्दजश्चैव द्विधा ख्यातोऽद्भुतोरसः।
दिव्यदर्शनतो दिव्यो हर्षादानन्दजः स्मृतः ६।८३॥ (ना० शा०)

४ (नेपथ्ये) आश्चर्यम् राजा— (आकर्ण्य) किं नु खलु स्यात् ?
पुरोहितः— (सविस्मयम्) (प्रविश्य) देव अद्भुतम् खलु संवृतम्।
राजा— किमिव ?
पुरोहितः— देव ! पुरावृत्तेषु कण्वशिष्येषु।
सा निन्दन्ती स्वानि भाग्यानि बाला
बाहुत्क्षेपं क्रन्दितुं च प्रवृत्ता।
राजा—किं च। पुरोहितः— स्त्रीसंस्थानं चाप्सरस्तीर्थमारा-
दुत्क्षिप्यैनां ज्योतिरेकं जगाम ॥३० (सर्वे विस्मयं रूपयन्ति) (वही)

है[1]। इस तरह वे रति को वैकारिक भाव तथा शान्त को प्रकृति मानते हैं। विकार प्रकृति से उत्पन्न होते हैं तथा फिर उसी में लीन हो जाते हैं। इस कथन से शान्तरस का महत्त्व अन्य रसों की तुलना में सर्वोपरि सिद्ध होता है। इसके स्थायीभाव के सम्बन्ध में अनेक मतभेद हैं। किसी ने 'निर्वेद' को तो किसी ने 'शम' को स्थायीभाव माना है। आचार्य विश्वनाथ ने बताया है कि 'शम' रूप स्थायीभाव इसका आस्वाद हुआ करता है। इसके आश्रय उत्तमप्रकृति के व्यक्ति हैं। इसका वर्ण 'कुन्देन्दु' तथा देवता 'श्री नारायण' हैं। वस्तुजगत् की निस्सारता तथा परमात्मा के स्वरूप का ज्ञान इसके आलम्बन विभाव हैं। पवित्र आश्रम, तीर्थ-स्थान, भावना की लीला भूमियाँ, सुरम्य एकान्त वन तथा महापुरुषों का सत्संग आदि इसके उद्दीपन विभाव हैं। रोमांच आदि इसके अनुभाव तथा निर्वेद, हर्ष, स्मृति, मति एवं जीवदया आदि व्यभिचारीभाव हैं[2]। भरतमुनि का कथन है कि जिसमें न दुःख हो न सुख हो, न द्वेष हो, न मत्सर हो तथा जो सभी प्राणियों में समत्व बुद्धि रखे उसे शान्तरस समझना चाहिए[3]।

अभिज्ञानशाकुन्तलम् के सप्तम अंक में मारीच के आश्रम और ऋषि (मारीच) के वर्णन में शान्तरस की अनुभूति होती है। आश्रम में पहुँचने पर राजा दुष्यन्त को स्वर्ग से भी अधिक शान्ति एवं सुख की प्राप्ति होती है[4]। आश्रम में निवास करने वाले सभी व्यक्ति तपस्वी एवं संयमी हैं। उनकी तपस्या विचित्र है[5]। महर्षि मारीच का दर्शन कर राजा दुष्यन्त बहुत प्रभावित हो जाता है और स्वयं उनकी प्रशंसा करता है।[6]

---

१ स्वं स्वं निमित्तमासाद्य शान्ताद्भावः प्रवर्तते।
पुनर्निमित्तापाये च शान्त एवोपलीयते।
एवं नवरसाः दृष्टा नाट्यज्ञैर्लक्षणान्विता। ॥६।८७॥ (ना० शा०, पृ० ३६४)

२ सा० द० ३।२४५—२३८ तथा २४९ का पूर्वार्द्ध (ना० शा० चौ० सं० — पृ० ३५० — ३५३)।

३ न यत्र दुःखं न सुखं न द्वेषो नापि मत्सरः।
समः सर्वेषु भूतेषु स शान्तः प्रथितो रसः ॥६। ८५ (ना० शा०)

४ राजा — स्वर्गादधिकतरं निर्वृतिस्थानम्। अमृतह्रदमिवावगाढोऽस्मि।
(अभि० शा०, अंक ५, पृ० ४४९)।

५ राजा — ननु विस्मयादवलोकयामि।
प्राणानामनिलेन वृत्तिरुचिरा·········७।१२ (वही)

६ राजा — मातले ! प्राहुर्द्वादशधा स्थितस्य मुनयो' ····७।२७ वही

वात्सल्यरस :

'वत्स' से 'वात्सल्य' शब्द व्युत्पन्न हुआ है। यह पुत्रादिविषयक रति का पर्याय है। इसका प्रयोग रस की अपेक्षा भाव के लिए विशेष उपयुक्त है। संभवतः इसीलिए प्राचीन आचार्यों ने वात्सल्य रस न लिखकर वत्सल भाव लिखा है। वत्सलता या वात्सल्य इसका स्थायीभाव माना गया है[1]। आचार्य विश्वनाथ के मतानुसार प्रकट चमत्कार होने के कारण वत्सल को भी रस माना जाता है। वात्सल्य-स्नेह इसका स्थायीभाव होता है तथा पुत्रादि आलम्बन। बालसुलभ चेष्टाओं के साथ, उसकी विद्या, शौर्य, दया आदि उद्दीपन्न विभाव हैं। आलिंगन, अंगस्पर्श, शिरश्चुम्बन, सस्नेह वीक्षण, रोमांच, आनन्दाश्रु आदि इसके अनुभाव हैं। अनिष्ट की आशंका, हर्ष, गर्व, आदि इसके व्यभिचारीभाव हैं। इसका वर्ण पद्मगर्भ की छवि (शुभ्र-पीत) है तथा देवता लोकमाता (जगदम्बा) हैं[2]।

महाकवि कालिदास के 'रघुवंश' में राजा दिलीप के रघु-प्रेम का वात्सल्य रस में इस प्रकार अभिव्यंजन हुआ है —

"यदाह धात्र्या प्रथमोदितं वचो ययौ तदीयामवलम्ब्य चाङ्गुलीम्।
अभूच्च नम्रः प्रणिपातशिक्षया पितुर्मुदं तेन ततान सोऽर्भकः ॥"

अभिज्ञानशाकुन्तलम् के सप्तम अंक में दुष्यन्त सर्वदमन (भरत) को देखकर वात्सल्यभाव से पूर्ण हो जाता है[3]। उसके अंगों का स्पर्श करके वह बेहद प्रसन्नता का अनुभव करता है।[4]

रसों के उपर्युक्त विश्लेषणात्मक अध्ययन से स्पष्ट है कि कालिदास ने यद्यपि प्रायः सभी रसों की अभिव्यक्ति की है, किन्तु मुख्य रूप से संयत शृंगार के सभी पक्षों की अभिव्यंजना करना ही उनका अभीष्ट है। उनके अभिज्ञानशाकुन्तलम् में शृंगार रस की मुख्य धारा के अन्दर वीररस का एक सांकेतिक स्रोत प्रवहमान है। अतः निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि इनके रूपकों में रसों का सुन्दर परिपाक हुआ है।

●

---

१ शृंगारवीरकरुणाद्भुतरौद्रहास्यवीभत्सवत्सलभयानकशान्तनाम्नः।
(शृं० प्र १.६)

२ स्फुटं चमत्कारितया वत्सलं च रसं विदुः।
स्थायीवत्सलता स्नेहः पुत्राद्यालम्बनं मतम् ३.२५१
—३।२५२-२५३ तथा २५४ का पूर्वार्द्ध। (सा० द०)

३ राजा—स्पृहयामि खलु दुर्ललितायास्मै।
आलक्ष्यदन्तमुकुलान्……७।१७। अभि० शा०

४ राजा—आकारसदृशं चेष्टितमेवास्य कथयति। स्थानप्रत्ययात्तु वयमेवंतर्किणः। यथाभ्यर्थितमनुतिष्ठन् बालस्पर्शमुपलभ्य। (आत्मगतम्) अनेन कस्यापि…७।१९
(अभि० शा०)।

रसपरिपोष में नाट्यवृत्तियों का योग

वर्त्तन के अर्थ में प्रयुक्त वृत् धातु में 'क्तिन्' प्रत्यय के योग से 'वृत्ति' शब्द बना है। वर्त्तन का तात्पर्य जीवन है। अतः उसमें मदद करने वाली जीविका को हम वृत्ति कह सकते हैं। अभिनवगुप्त के विचार से पुरुषार्थ के साधक व्यापार को वृत्ति कहते हैं। धनिक ने नायक के उस व्यापार या स्वभाव को वृत्ति कहा है; जो उसे किसी विशिष्ट दिशा की ओर प्रवृत्त करता है।[1] आनन्दवर्धन ने वृत्ति को व्यवहार कहा है। साहित्यदर्पण के टीकाकार तर्क-वागीश का कहना है कि जिसके कारण रस वर्त्तमान हो अर्थात् जो रसास्वाद का मुख्य कारण हो, उसे वृत्ति कहते हैं— 'वर्त्तते रसोऽनयेति वृत्तिः'। राजशेखर ने प्रवृत्ति, वृत्ति तथा रीति में अन्तर स्पष्ट करते हुए लिखा है कि विशेष प्रकार की वेश-रचना को 'प्रवृत्ति', विलास प्रदर्शन को 'वृत्ति' तथा वचन चातुरी को 'रीति' कहते हैं।[2] आचार्य अभिनवगुप्त ने वृत्ति के स्वरूप के बारे में लिखा है—'काय-वाङ्-मनसां चेष्टा एव सह वैचित्र्येण वृत्तयः'। अर्थात् नाटक के पात्रों के शरीर, वचन और मन की विचित्रता से युक्त चेष्टाएँ ही वृत्तियाँ कहलाती हैं। भोजराज के विचार से चित्त के विकास, विक्षेप, संकोच एवं विस्तार की दशा में पात्रों के जो व्यवहार होते हैं, सामान्यरूप से वृत्ति कहते हैं। नायक की प्रवृत्ति रस तथा अवस्था के अनुरूप परिवर्तित होती रहती हैं। जैसे मालविकाग्निमित्रम् नाटक का अग्निमित्र शृंगार चेष्टाओं में लीन मालूम पड़ता है। वेणीसंहार नाटक में भीमसेन युद्ध कार्यों में रत है। भरतमुनि ने इस विचार की स्थापना की है कि वृत्ति-भेद से काव्य-भेद होता है[3]। उन्होंने वृत्तियों को नाट्य की जननी कहा है[4]। चूँकि इसीसे (व्यापार से) नाटक का जन्म होता तथा इसी के अनुरूप पात्र-योजना, दृश्य-विधान, संवाद, गीत-वाद्य आदि की योजना होती है।

वृत्ति के उद्भव के बारे में भरतमुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में लिखा है कि मधुकैटभ नामक दैत्यों के साथ संलग्न नारायण–विष्णु की चेष्टाओं से भारती, सात्वती,

---

१ प्रवृत्तरूपो नेतृव्यापारस्वभावो वृत्तिः।—धनिक, (दशरूपक : अ० २, ४७)।

२ तत्र वेषविन्यासक्रमः प्रवृत्तिः विलासविन्यासक्रमोवृत्तिः वचनविन्यासक्रमो रीतिः।
—काव्यमीमांसा—

३ वृत्तिभेदात् काव्यभेदा भवन्ति—नाट्यशास्त्र—१८-५

४ एवमेता बुधैर्ज्ञेया वृत्तयो नाट्यमातरः।—नाट्यशास्त्र।

कैशिकी एवं आरभटी चार वृत्तियाँ उत्पन्न हुईं। युद्ध में विष्णु के पद-संचालन से पड़े पृथ्वी पर भार से भारतीय वृत्ति उत्पन्न हुई। उनकी ओजस्विनी, वीररसोचित चेष्टाओं से सात्वती वृत्ति का जन्म हुआ। उन्होंने जो ललित लीला तथा विचित्र आंगिक अभिनय के साथ शिखा बाँधी उससे कैशिकी का उद्भव हुआ तथा उन्होंने जो आवेग से युक्त होकर अनेक प्रकार की विचित्र युद्ध-चेष्टाएँ कीं, उनसे आरभटी वृत्ति का विकास हुआ[1]। इस वृत्ति के उद्भव संबंधी पौराणिक आख्यान से स्पष्ट है कि नायक आदि के अनेक कार्यव्यापार ही वृत्तियों के आश्रय है। इसमें विष्णु नट के प्रतीक हैं एवं उनकी चेष्टाएँ नाट्यव्यापारों की विशिष्ट प्रकृतियों के सूचक हैं। भरतमुनि ने इन वृत्तियों का सम्बन्ध चारों वेदों से माना है। ऋग्वेद से भारती, यजुर्वेद से सात्वती, सामवेद से कैशिकी तथा अथर्ववेद से आरभटी का उद्भव हुआ।[2] शारदातनय ने ब्रह्मा के चारों मुखों से इन चारों वृत्तियों का उद्भव माना है।

व्यापार नाट्य के प्राण हैं। उसकी उत्पत्ति वृत्तियों के विना संभव नहीं है। रामचन्द्रगुणचन्द्र का कथन है कि नाटक का एक व्यापार उसके किसी दूसरे व्यापार से बिलकुल अलग होकर नहीं चलता[3]। नाटकीय व्यापारों के लिए मानसिक, कायिक एवं वाचिक तीनों व्यापारों का समन्वय अपेक्षित है। उन्होंने भी चार वृत्तियाँ मानी हैं[4]। भोज ने कैशिकी, आरभटी, सात्वती, भारती तथा मध्यम कैशिकी नामक वृत्ति के छः भेद किये हैं। धनंजय आदि सभी नाट्याचार्यों ने भरत के नाट्य-शास्त्र के आधार पर वृत्तियों का विश्लेषण किया है। आचार्य अभिनवगुप्त के विचारानुसार वाणी का व्यापार भारती के अन्तर्गत, मन का व्यापार सात्वती के अन्तर्गत तथा कायचेष्टा शेष दो वृत्तियों (कैशिकी और आरभटी) के अन्तर्गत है। उग्र कायचेष्टा आरभटी और सुकुमार कायचेष्टा कैशिकी के अन्दर माना गया है। इनमें से शब्द-प्राधान्य के कारण भारती को शब्दवृत्ति तथा शेष तीनों में अर्थ की प्रधानता होने से अर्थवृत्ति कही जाती है। नाट्य में इन चार वृत्तियों की कल्पना सर्वथा उचित एवं प्रामाणिक है।

---

१ ना० शा०—२२:२-१४।

२ ऋग्वेदाद् भारती वृत्तिर्यजुर्वेदात्तु सात्वती।
कैशिकी सामवेदाच्च शेषा चाथर्वणात्तथा॥—(ना० शा० २०: २५)।

३ न नाम प्रबन्धेषु व्यापारान्तरासंवलितः कोऽप्येकाकी कायिको वाचिको मानसो वा व्यापारो लक्ष्यते।—ना० द० ३: १ (वृत्ति)।

४ भारती सात्वती कैशिक्यारभटी च वृत्तयः।
रसभावाभिनयगाश्चतस्रो नाट्यमातरः॥—ना० द० ३:१।

नाट्य का प्रधान उद्देश्य रासोत्पत्ति है। अतः दर्शकों के हृदय में रस तथा भाव का संचार करना ही वृत्तियों की योजना का अभिप्राय है। भरतमुनि ने वृत्तियों का सम्बन्ध विविध रसों के साथ स्थापित करते हुए लिखा है कि कैशिकी वृत्ति का उपयोग शृंगार तथा हास्य रस के प्रसंग में किया जाता है। सात्वती का वीर, रौद्र तथा अद्भुत रसों में; आरभटी का भयानक, बीभत्स एवं रौद्र रसों में तथा भारती का करुण और अद्भुत रसों में प्रयोग किया जाता है[1]। धनंजय के अनुसार शब्द वृत्ति होने के कारण भारती वृत्ति का सर्वत्र प्रयोग होता है[2]। शान्तरस में भी भारती वृत्ति ही उपयुक्त होती है। लेकिन शान्तरस को स्वतंत्र रस मानने वाले विद्वान् उसके लिए प्रासीवृत्ति स्वीकार करते हैं[3]।

कैशिकी वृत्ति : कैशिकी की व्युत्पत्ति इस प्रकार है—"अतिशायिनः केशाः सन्त्यासामिति कैशिकाः" स्त्रियः स्तनकेशवतीत्वं हि स्त्रीणां लक्षणमिति तत्प्रधानत्वात्-तासामियं कैशिकी।" भरत मुनि ने इसका सम्बन्ध विष्णु के केशपाश बाँधने से बताया है। उनके विचार से श्लक्ष्ण नेपथ्य विशेष चित्र स्त्रीसंयुत, बहुवृत्त गीतसंयुत, कामोपभोग कार्य-व्यापार की प्रधानता से संयुत वृत्ति को कैशिकी कहते हैं[4]। आचार्य विश्वनाथ के अनुसार जिसमें नानाविध वेशाभूषण की शोभा रहा करती है, जो रमणी-पात्रों के बाहुल्य से विचित्र लगा करती है, जिसके लिए बहुविध नृत्य, गीत आदि की योजना आवश्यक है, जिसमें कामोपभोग या रतिसुख से संबद्ध बहुविध व्यापारों का प्राधान्य रहा करता है तथा जो सुन्दर हाव-भाव से समन्वित हुआ करती है, उसे कैशिकी वृत्ति कहते हैं।[5] इससे स्पष्ट है कि जहाँ कहीं भी लालित्य और माधुर्य हो वह सब कैशिकी का क्षेत्र है। अतः संगीतरत्नाकरकार शाङ्र्गदेव ने लिखा है—

वागङ्गाभरणानां या सौकुमार्येण निर्मिता।
उल्लद्गीतनृत्ताढ्या शृंगाररसनिर्भरा॥
नि.शंकः कैशिकी ब्रूते तां सौन्दर्यैकजीविताम्॥

---

१ शृंगारे चैव हास्ये च, वृत्तिः स्यात् कैशिकीति सा।
सात्वती नाम सा ज्ञेया, वीररौद्राद्भुताश्रया॥
भयानके च बीभत्से, रौद्रे चारभटी भवेत्।
भारती चापि विज्ञेया, करुणाद्भुत-संश्रया॥ (ना० शा० २२।६५-६६)

२ शृंगारे कैशिकी वीरे सात्वत्यारभटी पुनः।
रसे रौद्रे च वीभत्से वृत्तिः सर्वत्र भारती।६२॥—(दशरू० द्वि० प्र०)।

३ नम्बर ऑफ रसाज, पृ० ५१.

४ ना० शा०, २०।५३।

५ या श्लक्ष्णनेपथ्यविशेपचित्र स्त्रीसंकुला पुष्कलनृत्यगीता।
कामोपभोगप्रभवोपचारा सा कैशिकी चारुविलासयुक्ता॥१२४॥ (सा० द० परि०)

धनंजय ने लिखा है कि गीत, नृत्य, विलास आदि शृंगारमयी चेष्टाओं के कारण कैशिकी वृत्ति कोमल होती है[१]। यह मधुरावृत्ति कहलाती है। शैव मत के आधार पर इस वृत्ति का सम्बन्ध ताण्डव से न होकर लास्य से है। भरतमुनि की मान्यता है कि इस वृत्ति का प्रयोग नाटक में स्त्रीपात्रों को करना चाहिए। शृंगारादि रसों के प्रसंग में इसका प्रयोग किया जाता है। इसके चार अंग माने गये हैं--नर्म, नर्मस्फिंज, नर्मस्फोट तथा नर्मगर्भ। प्रिया नायिका या प्रिया के चित्त को प्रसन्न करने वाला विलासपूर्ण व्यापार नर्म[२] कहलाता है—'वैदग्ध्यक्रीडितं नर्म प्रियोपच्छन्दनात्मकम् ॥४८॥दशरू० २। धनंजय के अनुसार यह तीन प्रकार का होता है—हास्य से युक्त नर्म (हास्यनर्म), शृंगार से युक्त नर्म (शृंगार नर्म), तथा भय से युक्त नर्म (भयनर्म)। आचार्य विश्वनाथ के अनुसार इसके हास्य नर्म, शृंगार नर्म और भयहास्य नर्म तीन भेद हैं। धनंजय शृंगारी नर्म के पुनः तीन भेद करते हैं–आत्मोपक्षेपपरक, संभोगपरक और मानपरक। उन्होंने भययुक्त नर्म के भी दो भेद किये हैं- शुद्ध और अंग। इस प्रकार ये छः प्रकार के नर्म वाक्, वेष एवं चेष्टा के त्रिविध प्रकाशन के अनुसार १८ प्रकार के होते हैं। इन सभी नर्मभेदों में हास्य का समावेश रहता है।

जब प्रेमी-प्रेमिका को प्रथम समागम के समय पहले सुख होता है, लेकिन प्रतिनायिका द्वारा भेद पा जाने की आशंका से भय होता है, तो इसे नर्मस्फिंज[3] (नर्मस्फुंज या नर्मस्फूर्ज) कहते हैं—"नर्मस्फिंजः सुखारम्भो भयान्ते नवसंगमे"। नर्मस्फोट की स्थिति वहाँ दृष्टिगत होती है जहाँ सात्त्विकादि भावों के लेशमात्र से किंचित् रस की सूचना कर दी जाय— "नर्मस्फोटो भावलेशैः सूचिताल्परसो

---

१ दशरू० २ : ४७।

२ शृंगारहास्यनर्म का उदाहरण—

अभिज्ञानशाकुन्तलम्—शकु० असंतुट्ठो उण किंकरिस्सदि।

राजा—इदम्। (इति व्यवसितः शकुन्तलवक्त्रं ढौकते)।

चेष्टानर्म (क्रियानर्म) का उदाहरण—मालविकाग्निमित्र नाटक में औंघते हुए विदूषक के ऊपर दण्डकाष्ठ डालकर निपुणिका साँप का भ्रम उत्पन्न कर देती है।

३ मालविकाग्निमित्र नाटक में संकेत स्थल पर नायक के प्रति अभिसरण के निमित्त आई हुई मालविका से अग्निमित्र का कथन—

विसृज सुन्दरि सङ्गसाध्वसं ननु चिरात्प्रभृति प्रणयोन्मुखे।

परिगृहाण गते सहकारतां त्वमतिमुक्तलताचरितं मयि ॥

मालविका—भट्टा देवीए भयेण अत्तणो वि पिअं काउं ण पारेमि।

मतः। १२७ सा० द० परि० ६। किसी प्रयोजन विशेष के निमित्त जब नायक छिपकर प्रवेश करे तो उसे नर्मगर्भ कहते हैं—छन्ननेतृप्रतीचारो नर्मगर्भोऽर्थहेतवे।५२। दश० प्र०२।

सात्वीतवृत्ति :

'सत्व' शब्द के योग के कारण इसे सात्वती कहा गया है। भरतमुनि के मतानुसार इसका प्रयोग सत्वशाली उद्धव पुरुषों द्वारा किया जाता है। अभिनवगुप्त इसका सम्बन्ध सत्व या मन से मानते हैं। अतः सात्विक अभिनय इसके अन्तर्गत आता है। यह मनोव्यापाररूपा सात्विकी वृत्ति है। संग्राम आदि के वर्णन के प्रसंग में इसका प्रयोग किया जाता है। नाट्यदर्पणकार के मतानुसार मानसिक, वाचिक एवं कायिक अभिनयों से सूचित होने वाले, आर्जव, डाँट-फटकार, हर्ष और धैर्य से युक्त तथा रौद्र, वीर, शांत एवं अद्‌भुत रसों से सम्बद्ध मानसव्यापार को सात्वती वृत्ति[1] कहते हैं। धनंजय का कथन है कि जहाँ नायक का व्यापार शोकहीन होता है, तथा उसमें सत्व, शौर्य, त्याग, दया, कोमलता, हर्ष आदि भावों की स्थिति होती है, उसे सात्वतीवृत्ति[2] कहते हैं। इसके चार अंग हैं—संलापक, उत्थापक, सांघात्य एवं परिवर्तक। वीर, रौद्र और अद्‌भुत रसों के वर्णन में इसका प्रयोग होता है, शृंगार, करुण आदि रसों में बहुत कम। यह विशोकावृत्ति है। जहाँ पात्रों में परस्पर नाना भावों एवं रसों से युक्त गम्भीर उक्ति पायी जाती है वहाँ संलापक की स्थिति मानी जाती है—संलापको गम्भीरोक्तिर्नाना-भावरसा मिथः।" जहाँ एक पात्र दूसरे पात्र को युद्ध के लिए उत्तेजित करे वहाँ उत्थापक होता है। मंत्रशक्ति, अर्थशक्ति तथा दैवशक्ति आदि से जब शत्रु के संघ का भेदन होता है, तो सांघात्य नामक सात्वतीवृत्ति होती है।

जहाँ किसी एक कार्य का आरम्भ किया गया है, लेकिन उसे छोड़कर जहाँ दूसरे कार्य को सम्पन्न किया जाय, वहाँ परिवर्तक होता है।

आरभटीवृत्ति :

आरभट (आर-प्रतोद के समान भट) शब्द से आरभटी व्युत्पत्ति हुई है।[3]

---

१ ना० द० ३ : ५।

२ ना० शा०—४१-५०

विशोका सात्वती सत्वशौर्यत्यागदयार्जवैः।

संलापोत्थापकावस्यां सांघात्यः परिवर्तकः ॥५३॥ (दशरू०)।

३ आरेण (प्रतोदकेन) तुल्याभटा (उद्धताः पुरुषाः) आरभटाः। ते सन्त्यस्यामिति ज्योत्स्नादित्वादणि आरभटी—रामचन्द्रगुणचन्द्र।

इसका अर्थ है—"साहसी एवं उद्धत पुरुष"। यह सात्वतीवृत्ति का उल्टा है, क्योंकि इसमें न्यायोचित के स्थान पर छल-कपट रखता है। यह अहंकार, अभिमान आदि की द्योतक है। अतः धीरोद्धत नायक के प्रसंग में यह मुख्यतः उपयुक्त होती है। इसमें माया, इन्द्रजाल, संग्राम, क्रोध, उद्भ्रान्त आदि चेष्टाएँ पाई जाती हैं[1]। किसी अविद्यमान वस्तु को मंत्र से बतलाना माया है। इसे ही जब तंत्रबल से किया जाय तो इन्द्रजाल कहलाता है। चकित होकर इधर-उधर चक्कर काटते रहने को उद्भ्रान्ति कहते हैं। शत्रु के वध या बन्धन आदि इसी वृत्ति के बाह्य रूप हैं। औद्धत्य के साथ इसका अटूट सम्बन्ध है। भरतमुनि के कथनानुसार आरभट्ट गुणों से युक्त (क्रोध, आवेग आदि से युक्त) बहुकपट, वंचना, दंभ, अनृत आदि वचनों से युक्त वृत्ति को आरभटी कहते हैं।[2] इस वृत्ति के साथ आंगिक, वाचिक, सात्विक एवं आहार्य चारों अभिनयों का सम्बन्ध है। यह दीप्त रसभावों से समन्वित वृत्ति है:—'भयानके च बीभत्से रौद्रे चारभटी भवेत्'। (ना० शा०) इसके चार भेद होते हैं:—वस्तूत्थापन, संफेट, संक्षिप्ति तथा अवपातन। मंत्रबल के द्वारा माया से किसी वस्तु की उत्थापना करना वस्तूत्थापन कहलाता है—"मायाद्युत्थापितं वस्तूत्थापनमिष्यते"। (दशरू० २) जहाँ दो क्रुद्धपात्रों का परस्पर समाघात (एक दूसरे का अधिक्षेप) पाया जाता है, वह संफेट कहलाता है—"संफेटस्तु समाघातः क्रुद्धसंरब्धयोर्द्वयोः"। ५८ दशरू० प्र० २०। संक्षिप्ति में नाटककार शिल्प का प्रयोग कर संक्षिप्त वस्तु की रचना करता है। कुछ लोगों के मतानुसार संक्षिप्ति वहाँ होती है, जहाँ पहला नायक निवृत्त हो जाय तथा दूसरा नायक आवे अथवा फिर एक नायक की अवस्था छोड़कर दूसरी अवस्था का ग्रहण किया जाय—

"संक्षिप्तवस्तुरचना संक्षिप्तिः शिल्पयोगतः ।५७।।
पूर्वनेतृनिवृत्त्याऽन्ये नेत्रन्तरपरिग्रहः ।— (दशरू-२)

किसी भी पात्रादि के रंगमंच पर प्रवेश करने से अथवा रंगमंच से चले जाने से दूसरे पात्रों में जो भय तथा भगदड़ मचती है, वह अवपात कहलाता है:—

"अवपातस्तु निष्क्रामप्रवेशत्रासविद्रवैः ।५९।। (दशरू० प्र०)।

---

१ मायेन्द्रजालसंग्रामक्रोधोद्भ्रान्तादिचेष्टितैः ।।१३८।।
संयुक्ता वधबन्धाद्यैरुद्धतारभटी मता ।—सा० द० परि० ६।

२ आरभटप्रायगुणा तथैव बहुकपटवंचनोपेता ।
दम्भानृतवचनवती त्वारभटी नाम विज्ञेया ।। (ना० शा० २० । ६४)।

भारतीवृत्ति :

भरतों (नटों) के द्वारा प्रयुक्त होने के कारण इसे 'भारती कहते हैं।[1] वाचिक अभिनय करने वाले को भरत और मूक अभिनयकर्ता को 'नट' कहा जाता है। भारती का अर्थ सरस्वती या वाणी है। यह वाग्वृत्ति (शब्दवृत्ति) है। धनंजय ने प्रथम तीन अर्थवृत्तियों को ही सच्ची (क्रिया) वृत्ति माना है तथा नाटकीय व्यापार से कोई संबंध नहीं रहने के कारण भारती को वाचिक वृत्तिमात्र कहा है। धनिक ने इसीलिए भारती को नाटक के आमुख का अंग माना हैं।[2] अभिनवगुप्त ने इसे पाठ्य-प्रधानवृत्ति माना है। भरमुनि ने भारती का संबंध करुणा तथा अद्भुत रसों से इसलिए माना है चूँकि इन रसों में विलाप एवं वाग्विलास अधिक रहता है। लेकिन इसका प्रयोग रौद्र, वीर आदि में भी किया जा सकता है। शृंगार और हास्य में इसका वर्णन नहीं किया जा सकता है, इसीलिए धनंजय, विश्वनाथ, आदि आचार्यों का मत है कि इस वृत्ति का प्रयोग सभी रसों में हो सकता है।[3] स्पष्ट है कि भारती का उद्देश्य रस की अभिव्यक्ति है, रस चाहे कोई भी हो। भरतमुनि के अनुसार जिसमें संस्कृतवाणी की बहुलता हो, जो पुरुषों द्वारा प्रयोग में लाई गई हो, जो स्त्रियों में सर्वथा वर्जित हो, उसे भरतों (नटों) द्वारा सदा प्रयोज्य होने से भारती वृत्ति कहते हैं।[4] धनंजय ने भी लिखा है कि नट के द्वारा प्रयुक्त संस्कृत भाषावाला वाग्व्यापार भारती कहलाता है। इसके प्ररोचना, आमुख, वीथी और प्रहसन चार भेद होते हैं।[5] प्रहसन और वीथी के नाम रूपक के भेदों में भी आये हैं।

प्ररोचना :

"प्ररोचना" शब्द का अभिप्राय किसी के मन को किसी ओर लुभाना है।[6]

---

१ प्रयुक्तत्वेन भरतैः भारतीति निगद्यते।

२ भारती तु शब्दवृत्तिरामुखाङ्गत्वात्तत्रैव वाच्या। —(दशरू० प्र० २)।

३ ....

..........वृत्तिः सर्वत्र भारती। ६२॥ (दशरू० प्र० २)।, सा० द० परि० ६।१२२

४ या वाक्प्रधाना पुरुषप्रयोज्या स्त्रीवर्जिता संस्कृतवाक्ययुक्ता।
स्वनामधेयैः भरतैः प्रयुक्ता सा भारती नाम भवेत्तु वृत्तिः॥ (ना० शा० २२। २५)।

५ भारती संस्कृतप्रायो वाऽव्यापारो नटाश्रयः।
भेदैः प्ररोचनायुक्तैर्वीथी प्रहसनामुखैः॥५॥ (दशरू० प्र० ३)।

६ प्रकर्षेण रोच्यते उपादेयतया ध्रियते प्रकृतोऽर्थोऽनयेति प्ररोचना।

धनंजय के अनुसार काव्यार्थादि की प्रशंसा के द्वारा सामाजिकों को उसकी ओर उन्मुख करना, उनके मन को आकृष्ट करना, प्ररोचना कहलाता है[1]—

'उन्मुखीकरणं तत्र प्रशंसातः प्ररोचना ॥' (दशरू० प्र० ३)।

आमुख :

आमुख उसे कहते हैं, जहाँ सूत्रधार, नटी, मार्ष (पारिपार्श्विक) या विदूषक के साथ बात करते हुए, विचित्र उक्ति के द्वारा प्रस्तुत का आक्षेप कर (वस्तु का संकेत करते हुए) अपने कार्य का वर्णन करे। इसी आमुख को प्रस्तावना भी कहते हैं—

सूत्रधारो नटी ब्रूते मार्षं वाऽथ विदूषकम् ।
स्वकार्यं प्रस्तुताक्षेपि चित्रोक्त्या यत्तदामुखम् ॥ ८५ दशरू० प्र० ३.

भरतमुनि तथा विश्वनाथ ने प्रस्तावना (आमुख) के पाँच प्रकार बताये हैं :—उद्घात्यक (उद्घातक), कथोद्घात, प्रयोगातिशय, प्रवर्तक और अवगलित। धनंजय ने कथोद्घात, प्रयोगातिशय और प्रवर्त्तक ये तीन ही प्रस्तावना के अंग माने हैं। भरत ने बताया है कि रूपक प्रबन्ध में पाँचों में से किसी एक की ही योजना अपेक्षित है।[2] उद्घातक[3] वह प्रस्तावना भेद है जिसमें सामाजिक अनिश्चितार्थक पदों की योजना कर स्थापक के अभिप्रेत अर्थ का निर्धारण करते हैं। कथोद्घात उसे कहते हैं जिसमें सूत्रधार के प्रयुक्त वाक्य का उच्चारण करते हुए या उसके अर्थ का अनुशीलन करते हुए किसी पात्र का रंग-मंच पर प्रवेश होता है। यह वाक्यमूलक तथा वाक्यार्थमूलक दो प्रकार का होता है। प्रयोगातिशय प्रस्तावना में सूत्रधार स्वयं आरब्ध प्रस्तावना का अतिक्रमण कर नाट्यात्मक प्रयोग प्रस्तुत करता है—

---

१ श्रीहर्षो निपुणः कविः परिषदप्येषा गुणग्राहिणी (रत्ना० ना० प्रथम अंक)।

२ एषामन्यतमं श्लिष्टं योजयित्वार्थयुक्तिभिः ।
पात्रग्रन्थैरसम्बाधं प्रकुर्यादामुखं ततः । (ना० शा० २०।३७)

३ विक्रमोर्वशीयम् में राजा काम के विषय में गूढार्थ पदों का प्रयोग कर फिर उसकी व्याख्या करता है—
विदूषक।—भो वअस्स को एसो कामो जण तुमं पि दूमिज्जसे सो किं पुरीसो आदु इत्थिआ त्ति।
राजा—सखे ! मनोजा तिरनाधीना सुखेष्वेव प्रवर्तते ।
स्नेहस्य ललितो मार्गः काम इत्यभिधीयते । विदूषक—एवंपि न जाणे।
राजा— इच्छा प्रभवः स इति ।

यदि प्रयोग एकस्मिन् प्रयोगोऽन्यः प्रयुज्यते ।
तेन पात्रप्रवेशश्चेत्प्रयोगातिशयस्तदा ॥३६॥ (सा० द० परि० ६)

कालिदास ने अपने नाटक मालविकाग्निमित्र[1] में तथा त्रोटक ने विक्रमोर्वशीयम्[2] में प्रयोगातिशय नामक प्रस्तावना का उपयोग किया है। प्रवर्त्तक वह प्रस्तावना प्रकार है, जिसमें सूत्रधार नाट्य-प्रयोग के समय वसन्त आदि ऋतु का वर्णन किया करता है और पात्र उस वर्णन की श्लेषभंगी के आधार पर रंगमंच पर आ पहुँचता है।

अवगलित वह प्रस्तावना-भेद है जहाँ सूत्रधार अपने प्रस्तावनानुष्ठान रूप एक प्रयोग में नाट्यारम्भ-रूप अन्य प्रयोग की भी युक्तिपूर्वक योजना कर दिया करता है और पात्र का प्रवेश हो जाता है—

"यत्रैकत्र समावेशात्कार्यमन्यत्प्रसाधयेत् ।
प्रयोगे खलु तज्ज्ञेयं नाम्नावगलितं बुधैः । ३८॥ (सा० द० परि० ६)।

अभिज्ञानशाकुन्तलम् की प्रस्तावना में कालिदास ने इसका उपयोग किया है।[3]

प्रहसन :

हास्यपूर्ण विचित्र वार्तालाप प्रहसन कहलाता है।

वीथी :

धनंजय ने लिखा है कि वीथी और आमुख दोनों भारतीवृत्ति के भेदों के एक ही अंग हैं। वीथी में एक ही अंक होता है, लेकिन प्रधानता शृंगाररस की होती है। वीथी के १३ अंग हैं:—उद्घातक, अवगलित, प्रपंच, त्रिगत, छल,

---

१ मा० वि० अंक १, श्लोक ३।

२ विक्र० प्र० अंक।

सूत्रधार :—(कर्ण दत्वा) अये किं नु खलु मद्विज्ञापनानन्तरं कुररीणामिवाकाशे शब्दः श्रूयते । विचिन्त्य । भवतु ।
ज्ञातम् ।—उरुद्भवा नरसखस्य मुनेः सुरस्त्री
कैलासनाथमुपसृत्य निवर्तमाना।
वन्दीकृता विबुधशत्रुभिरर्धमार्गे
क्रन्दत्यतः शरणमप्सरसां गणोऽयम् ॥३॥

३ सूत्रधार नटी से कहता है—आर्ये । सम्यगनुबोधितोऽस्मि । अस्मिन् क्षणे खलु विस्मृतं मयैतत् । कुतः—तवाऽस्मि गीतरागेण हारिणा प्रसभं हृतः ।
एष राजेव दुष्यन्तः सारङ्गेणातिरंहसा ॥५॥ (अभि० शा० प्र० अं०)

वाक्केलि, अधिवल, गण्ड, अवस्यन्दित, नालिका, असत्प्रलाप, व्याहार और मृदव। इन अंगों का सम्बन्ध पूर्वरंग से उतना नहीं है जितना स्वयं रूपक के कथानक से। भारती वृत्ति का एकदेश होने के कारण वीथी में वक्रोक्तिवैचित्र्य की बहुलता रहती है। इसकी उक्ति वीथी (गल्ली) की तरह टेढ़ी मेढ़ी होती है। इसके तेरहों अंग वस्तुतः वक्रोक्ति वैचित्र्य के ही भिन्न-भिन्न रूप हैं। इसीलिए सांगोपांग वीथी को रूपकमात्र के लिए उपकारक माना गया है। अभिनवगुप्त के इस मत का समर्थन नाट्यदर्पणकार ने भी किया है।[1] उद्घातक तथा अवगलित की सोदाहरण व्याख्या प्रस्तावना के भेद में ऊपर की गयी है। प्रपंच वह वाक्य संदर्भ है जिसमें पात्र आपस में एक दूसरे की ऐसी अनुचित प्रशंसा करे, जो हास्य उत्पन्न करनेवाली हो। जैसे विक्रमोर्वशीयम् में बलभी पर बैठे विदूषक और चेटी का आलाप-संलाप।

त्रिगत[2] वह है जहाँ शब्द-साम्य के कारण अनेक अर्थों (वस्तुओं) की योजना एक साथ की जाय।

जहाँ कोई पात्र बाहर से प्रिय लगनेवाले, किन्तु वस्तुतः अप्रिय वाक्यों के द्वारा दूसरों का विलोभन कर के उनके साथ छल करे, वह "छल" नामक वीथ्यंग है। जहाँ दो या तीन बार उक्तिप्रयुक्ति का प्रयोग पात्रों द्वारा किया जाय, वहाँ "वाक्केलि" होती है।

परस्पर स्पर्द्धापूर्वक बढ़चढ़ कर बातचीत करने को अधिवल कहते हैं। प्रस्तुत विषय से संबद्ध लेकिन विरुद्धार्थक वचन के सहसा उपन्यास को 'गण्ड' कहते हैं। स्वाभिप्राय के प्रकाशक वचन के अन्यथा व्याख्यान को अवस्यन्दित कहते हैं। हास्य-परिहास से युक्त छिपे अर्थ वाली पहेली भरी उक्ति को 'नालिका' कहते हैं। जहाँ ऊटपटांग असम्बद्ध उक्ति तथा प्रलाप पाया जाय, वह असत्प्रलाप कहलाता है। जहाँ हँसी के लोभ को उत्पन्न करने वाले ऐसे वाक्य का प्रयोग हो जिसका अर्थ कुछ और ही हो, वह "व्याहार" कहलाता है। जैसे मालविकाग्निमित्रम् नाटक में लास्यप्रयोग के पश्चात् मालविका जाना चाहती है। इस पर

---

१ सर्वेषां रूपकाणां नाटकादीनां वक्रोक्त्यादिसङ्कुलत्रयोदशाङ्ग-प्रवेशेनोपयोगिनी वैचित्र्यकारिका। (नाट्यदर्पण)।

२ राजा—सर्वक्षितिमतां नाथ, दृष्टा सर्वाङ्गसुन्दरी।
रामा रम्ये वनान्तेऽस्मिन् मया विरहिता त्वया ॥४।५१।
(नेपथ्ये तत्रैव प्रतिशब्दः)
राजा—कथं दृष्टेत्याह। (विक्र० पृ० १९७)

विदूषक कहता है—"मा दाव उवएससुद्धा गमिस्ससि। (इत्युपक्रमेण)

गणदासः—(विदूषकं प्रति) आर्य! उच्यतां यस्त्वया क्रमभेदो लक्षितः।"

विदूषक :—पढमं बम्मणपूआ भोदि, सा इमाए लङ्घिदा।

(मालविका स्मयते)।

यहाँ मालविका को विश्वास में डालकर अग्निमित्र को उसका दर्शन कराने के लिए हास्यकारी उक्ति का प्रयोग विदूषक ने किया है। जहाँ कोई पात्र गुणों को दोष बताकर तथा दोषों को गुण बताकर कहे, वह मृदव[1] वीथ्यंग है। वैसे उपर्युक्त सभी वीथ्यंग नाटकादि रूपकों में पाये जाते हैं किन्तु वीथी नामक रूपक में इनकी योजना अनिवार्य है। रसभावों की वीथी (पंक्ति) सी रचित होने के कारण इसे वीथी कहते हैं।

चार वृत्तियों के अनुसार नाटक चार प्रकार के होते हैं—(१) संवादप्रधान नाटक (भारती वृत्ति), (२) संगीत शृंगार प्रधान नाटक (कैशिकी वृत्ति), (३) व्यक्तिप्रधान या भावप्रधान नाटक (सात्वती वृत्ति); (४) संघर्षप्रधान नाटक (आरभटी वृत्ति)। इसी आधार पर संस्कृत रूपक एवं उपरूपक लिखे गये हैं यद्यपि उनमें वस्तु, नेता और रस के आधार पर भी भेद माना गया है। भरतमुनि के अनुसार सभी नाट्यप्रकारों का अनिवार्य तत्त्व वृत्तियाँ हैं तथा दशरूप इन्हीं वृत्तियों के प्रयोग के आधार पर निःसृत हुए हैं।[2] नाटक और प्रकरण में समस्त वृत्तियाँ तथा अनेक प्रकार के बन्ध हुआ करते हैं।[3]

---

१ अभिज्ञानशकुन्तलम् में—राजा दुष्यन्त मृगया के दोषों को गुणों के रूप में रखता है—

मेदश्छेदकृशोदरं लघु भवत्युत्थानयोग्यं वपुः
सत्वानामुपलक्ष्यते विकृतिमच्चित्तं भयक्रोधयोः।
उत्कर्षः स च धन्विनां यदिषवः सिध्यन्ति लक्ष्ये चले
मिथ्यैव व्यसनं वदन्ति मृगयामीदृग्विनोदः कुतः ॥२।५॥

२ ना० शा०—१८।४।

३ वही—१८।७।

अष्टम अध्याय

भाषा-शैली

१. भाषा-शैली — सामान्य विवेचन।

२. संवाद-योजना— संवाद का स्वरूप एवं विशेषता;
नाटकीय संवादों में प्रयुक्त भाषा—संस्कृत एवं प्राकृत।
संवादों की भाषागत विशेषता।
संवादों में पात्रों के सम्बोधन-प्रकार।

३. नाटकीय कथावस्तु के सम्यक् विकास एवं संवादों में रसाभिव्यंजन के लिए नाट्य-लक्षण तथा नाट्यालंकार का प्रयोग।

४. नाटकीय संवाद में काव्य-तत्त्व का सन्निवेश—
रीति, गुण, ध्वनि तथा अलंकार।

५. नाटकीय संवादों में गद्य एवं पद्य-शैलियों का प्रयोग।

अष्टम अध्याय

भाषा-शैली

वस्तु, नेता (पात्र) तथा रस को नाट्य का प्रमुख अंग माना गया है। नाटकीय वस्तु, व्यापार एवं रस की अभिव्यक्ति का माध्यम "भाषा" एवं शैली ही हैं। इन दोनों पर ये सभी आश्रित हैं। अतः इस अध्याय में 'भाषा-शैली' पर विचार करना अभीष्ट है। भाषा एवं शैली के अन्तर्गत ही भाव, रस, अलंकार, रीति आदि काव्य-तत्त्वों का सन्निवेश हो जाता है। भाषा तथा शैली यद्यपि दोनों पृथक् शब्द हैं, किन्तु वस्तुतः दोनों का उसी तरह अवियोज्य सम्बन्ध है जैसे जल एवं जलवीची अथवा शब्द एवं अर्थ।[1] विचाररूपी जल में शैली लहरों की भाँति है, जो विचारों के आन्दोलन को मूर्त्त रूप देती है। स्पष्ट है कि विचार (भाषा) के अभाव में शैली की कल्पना भी सम्भव नहीं। हम दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि शैली भाषा (विचार) का आवरण (परिधान) है, परन्तु स्मरणीय यह है कि जैसे परिधान को हम शरीर से अलग कर देते हैं वैसे शैली को विचार से अलग नहीं किया जा सकता है। शैली विचारों का वाहर से प्रदत्त आवरण नहीं, वह तो विचारों का ही वाह्य रूप है। अव्यक्त विचार व्यक्त होते ही शैली वन जाते हैं।

साहित्य के भाव एवं कला दो पक्ष माने गये हैं। इस भाव पक्ष का सम्बन्ध मानव-मन की गहराइयों में व्याप्त भाव-समुद्र से है। शृंगारादि रसों के स्थायी-भाव का सम्बन्ध भावपक्ष से है। इस अगाध भावसागर को व्यक्त करने के लिए शैली की आवश्यकता होती है। मानस को उद्वेलित करनेवाली ये भावनाएँ भाषा के माध्यम से प्रकट होती हैं। आत्मा का शरीर से जो सम्बन्ध है, वही सम्बन्ध भावपक्ष से कलापक्ष का है। विचाराधिक्य तथा उसके प्रकट करने के ढंग को ही शैली कहा गया है। दूसरे शब्दों में साहित्यकार की शब्द-योजना, वाक्यांशों का प्रयोग, वाक्य-विन्यास और उसकी ध्वनि का नाम शैली है। भावसम्पत्ति रूपक (नाट्य) की जान (आत्मा) है तथा भाषा उसका शरीर। जैसे शरीर-विहीन प्राण अदृश्य है वैसे ही भाषाविहीन भाव मानव के लिए अगोचर तत्त्व है। भाषा भाव को मूर्त्त वनाती है।

---

१ वागर्थाविव संपृक्तौ वागर्थः प्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ ॥१।१ (रघुवंश)
—गिरा अरथ जल-वीचि सम, कहियत भिन्न न भिन्न (रामचरितमानस)।

भाषा एवं शैली के सामान्य स्वरूप तथा नाट्य में उसकी उपयोगिता के सम्बन्ध में विचार करने के बाद यह प्रतिपाद्य है कि नाटकीय कथावस्तु का विकास दो या अधिक पात्रों के परस्पर वार्त्तालाप से होता है। नाटकीय कार्य-व्यापार तथा रसाभिव्यक्ति भी संवाद-योजना पर ही निर्भर है। इसी पर नाट्य की सफलता अवलम्बित होती है। ऐसा देखा जाता है कि बहुत से नाटक कला (अभिनेयता) की दृष्टि से उच्च कोटि के न होते हुए भी संवाद के बल पर सफल हो जाते हैं। इस दृष्टि से कालिदास की नाट्य विषयक धारणा की पूर्ण जानकारी के लिए उनके रूपक की संवाद-योजना के सम्बन्ध में सांगोपांग अध्ययन अनिवार्य है। पात्रों के कथोपकथन के माध्यम से ही नाटकीय तत्त्वों का विश्लेषण एवं अभिव्यंजन होता है। इसी के द्वारा पात्रों का चरित्र-चित्रण होता है। कुशल रूपककार पात्रों से इस प्रकार बातचीत कराता है कि कथानक, स्थिति तथा पृष्ठभूमि का ज्ञान स्वतः हो जाता है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि दो या अधिक पात्रों की उस परस्पर वार्त्ता को नाटकीय संवाद कहते हैं जिसमें दो या दो से अधिक व्यक्ति प्रसंग, आवश्यकता, योग्यता, परिस्थिति तथा पद के अनुरूप भाषा में बातचीत करते हों। वाचिक अभिनय (शब्द-नाट्य) की दृष्टि से इस अभिव्यक्त भाषा के चार प्रकार होते हैं—(१) जिसका अर्थ सम्बोध्य व्यक्ति ठीक-ठीक समझ ले, (२) जिसका अर्थ सम्बोध्य व्यक्ति उल्टा समझे, (३) सम्बोध्य व्यक्ति के अतिरिक्त रंगमंच पर उपस्थित अन्य पात्र या तो समझे ही नहीं अथवा उल्टा समझ ले, (४) जहाँ कई लोगों के बीच कही हुई बात निर्दिष्ट व्यक्ति ठीक समझ ले तथा अन्य व्यक्ति या तो समझे ही नहीं या उल्टा समझे। संवाद को कुतूहलजनक बनाने के लिए प्रायः नाट्यकर्त्ता इसी चतुर्थ प्रकार की पदावली का प्रयोग करते हैं। कहीं-कहीं श्लिष्ट पदावली का प्रयोग कर दो प्रकार के अर्थों को व्यक्त कराया जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि नाटकीय संवाद के शब्द अथवा वाक्य में ही अभीष्ट अर्थ होता है, चाहे वह एक हो अथवा अनेक। इसी तरह बोध्यार्थ भी सम्बोध्य व्यक्ति की योग्यता, बाह्यपरिस्थिति, मनःस्थिति एवं प्रसंग के अनुसार एक अथवा अनेक हो जाते हैं। कालिदास के रूपकों के संवाद इन विशेषताओं से पूर्ण हैं। उनके संवाद संक्षिप्त एवं सरल हैं।

कभी-कभी नेपथ्य से की हुई पुकार, कोलाहल अथवा वाणी का भी प्रयोग किया जाता है।[1] इसी प्रकार आकाशवाणी का भी प्रयोग किया जाता है।[2]

---

१ (नेपथ्ये)—चक्कवाकवहुए ! आमन्तेहि सहअरं। उवट्ठिआ रअणी।
(अभि० शा० अंक ३)।

२ (आकाशे) राजन् ! सायंतने सवनकर्मणि''' '''३।५४ (वही)

इस तरह इन सम्पूर्ण आवश्यक एवं अपरिहार्य वाक्-संयोग को ही नाटकीय संवाद कहते हैं। यहाँ यह स्मरणीय है कि यह संवाद उतना ही होना चाहिए जितने से कथा का प्रसार, पात्रों का चरित्र, घटना-क्रम तथा स्वरूप स्पष्ट हो। भारतीय प्राचीन नाट्यशास्त्रियों ने यद्यपि नाट्य-तत्त्वत्रय के अन्तर्गत अलग से संवाद-योजना का विवेचन नहीं किया है, फिर भी उन्होंने श्राव्य की दृष्टि से नाटकीय कथावस्तु का विभाजन किया है। उन्होंने कथोपकथन के प्रमुख तीन भेद किये हैं—सर्वश्राव्य, नियतश्राव्य तथा अश्राव्य। नियतश्राव्य के दो भेद हैं—जनान्तिक एवं अपवारित। इनके अतिरिक्त आकाशभाषित का भी उल्लेख किया गया है। इन सभी की व्याख्या तथा कालिदास के रूपकों में इनके प्रयोग का विवेचन "कालिदास के रूपकों के संविधानक" शीर्षक चतुर्थ अध्याय में किया गया है। नाटकीय संवाद के सम्बन्ध में भारतीय प्राचीन नाट्याचार्यों ने यत्र तत्र कुछ चर्चा की है। दर्शकों के लिए सुन्दर एवं उपयोगी नाटक के बारे में भरतमुनि ने बताया है कि नाटक मृदु एवं ललित पदों से युक्त तथा गूढ़शब्दार्थहीन होना चाहिए। बुद्धिमानों को सुखदेने वाला, बुद्धिमानों द्वारा खेलनेयोग्य, अनेक रसों को अभिव्यक्त करने के मार्ग को खोलनेवाला तथा ठीक सन्धियों से सधा हुआ होना चाहिए।[1] भरतमुनि ने संवाद के भाषातत्त्व एवं काव्यतत्त्व दोनों पर गम्भीर रूप से विचार किया है।

नाटकीय संवाद का प्रथम तत्त्व भाषा है। भरतमुनि के विचार से नाट्य में 'अतिभाषा', 'आर्यभाषा', 'जातिभाषा', तथा 'जात्यन्तरी' नामक चार प्रकार की देशी भाषाएँ प्रयोज्य हैं।[2] देवताओं की भाषा को 'अतिभाषा' कहते हैं। राजाओं की भाषा आर्यभाषा कहलाती है। जातिभाषा लोक-प्रयुक्त भाषा है। प्रयोग में यह दो प्रकार की बतायी गयी है—(१) जिसमें म्लेच्छ शब्दों का प्रयोग होता है तथा (२) जो भारतवर्ष में बोली जाती है। जात्यन्तरीभाषा अरण्य-वासियों की भाषा है। पशुपक्षियों के अनुकरण की बोलियाँ भी इसके अन्तर्गत

---

१ मृदुललितपदार्थं गूढशब्दार्थहीनं बुधजनसुखयोग्यं बुद्धिमन्नृत्तयोग्यम्।
बहुरसकृतमार्गं सन्धिसन्धानयुक्तम् भवति जगति योग्यं नाटकं प्रेक्षकाणाम्॥
(ना० शा०)

२ भाषा चतुर्विधा ज्ञेया देशरूपप्रयोगतः।२३।
संस्कृतं प्राकृतं चैव यत्र पाठ्यं प्रयुज्यते।
अतिभाषार्यभाषा च जातिभाषा तथैव च॥२४॥
तथा जात्यन्तरी चैव भाषा नाट्ये प्रकीर्तिता। (ना० शा० अ० १७)।

आ जाती हैं। चातुर्वर्ण्य के आधार पर जातिभाषा का पाठ्य दो प्रकार का होता है—(१) संस्कृत तथा (२) प्राकृत। धीरोदात्तादि चारों प्रकार के नायकों की भाषा संस्कृत होती है।[1] कालिदास के तीनों रूपकों के धीरोदात्त नायक संस्कृत में बोलते है।[2] विक्रमोर्वशीयम् के चतुर्थ अंक में प्रियावियोग के कारण उन्मत्त स्थिति में पुरूरवा की प्रलापोक्तियों में कई स्थान पर अपभ्रंश की छाया दृष्टिगत होती है।[3] इस अंश को कुछ विचारक प्रक्षेपक मानने के पक्ष में हैं। लेकिन ऐश्वर्य में मतवाले नायक से प्राकृत में बोलवाने का शास्त्रीय विधान है।[4] विक्रमोर्वशीयम् के पुरुष-पात्रों में नायक पुरूरवा के अतिरिक्त नाट्याभिनय-प्रबंधक सूत्रधार[5], उसका सहायक पारिपार्श्वक[6], गन्धर्वराज चित्ररथ[7], लोक-

---

१ जातिभाषाश्रयं पाठ्यं द्विविधं समुदाहृतम् ।।२८ उत्तरार्द्ध
प्राकृतं संस्कृतं चैव चातुर्वर्ण्यं समाश्रयम् ।
धीरोद्धते धीरललिते धीरोदात्ते तथैव च ।।२९।।
धीरप्रशान्ते च तथा पाठ्यं योज्यं तु संस्कृतम् ।
एषामेव तु सर्वेषां नायकानां प्रयोगतः ।।३०।। (ना० शा० अ० १७)

२ राजा—तेन ह्यवितथं तन्त्रकारवचनम्। इदमेव निमित्तमादाय समुद्योज्यतां सेनापतिः— (मालवि० अंक १, पृ० ३८)।
——राजा—वयमपि तावद्भवत्योः सखीगतं किमपि पृच्छामः
(अभि० शा० अंक १, पृ० ६५)।
——राजा—अलमाक्रन्दितेन। सूर्योपस्थानात् प्रतिनिवृत्तं पुरूरवसं मामुपेत्य कथ्यतां कुतो भवत्यः परित्रातव्या इति। (विक्र० अंक १, पृ० ८)।

३ हंइं पैं पुच्छिमि-आअक्खहि गअवरूललिअपहारे णासिअतरुवरु।
दूरविणिज्जिअससहरकन्ती दिट्ठीपिअ पैं संमुहजन्ती ।।४।४५
(विक्र० पृ० १७३)।

४ कारणव्यपदेशेन प्राकृतं सम्प्रयोजयेत् ।
ऐश्वर्येण प्रमत्तस्य द्रारिद्र्येण प्लुतस्य च ।।३१।।
उत्तमस्यापि पठत. प्राकृतं सम्प्रयोजयेत् । (ना० शा० अं० १७)।

५ सूत्रधारः—अलमतिविस्तरेण (नेपथ्याभिमुखमवलोक्य) मारिष इतस्तावत्।
(विक्र०)

६ परिपार्श्वकः—भाव अयमस्मि। (विक्र० अं० १, पृ० ४)।

७ चित्ररथः—युक्तमेतत्। अनुत्सेकः खलुविक्रमालंकारः। (वही, पृ० २९)।

प्रसिद्ध योगी नारद[1], पुरूरवा का पुत्र आयु[2], अन्तःपुरचारी वृद्ध ब्राह्मण कंचुकी[3], तथा भरतमुनि का शिष्य गालव[4] संस्कृत भाषा में बोलते हैं। शेष पुरुषपात्रों में राजा का मित्र विदूषक[5] (माणवक) तथा भरतमुनि का शिष्य गालव[6] प्राकृत में बोलता है। इस त्रोटक में सभी स्त्रीपात्र शास्त्रीय नियमानुसार शौरसेनी प्राकृत में बोलती हैं[7]।

मालविकाग्निमित्रम् में नायक के अतिरिक्त सूत्रधार, पारिपार्श्वक, राजा का मन्त्री वाहतक[8] कंचुकी (मौद्गल्य), नाट्याचार्य गणदास एवं हरदत्त तथा वैतालिक संस्कृत भाषा का प्रयोग करते हैं। पुरुषपात्रों में राजा का मित्र विदूषक (गौतम) तथा रानी धारिणी का भृत्य सारसक[9] शौरसेनी प्राकृत में बोलता है। स्त्रीपात्रों में परिव्राजिका को छोड़कर सभी शौरसेनी प्राकृत का प्रयोग करती हैं। परिव्राजिका संस्कृत में बोलती है।[10]

अभिज्ञानशाकुन्तलम् में नायक के अतिरिक्त सूत्रधार, राजा दुष्यन्त का सारथि सूत, सेनापति भद्रसेन, शकुन्तला के धर्मपिता कुलपति कण्व (काश्यप), उनका (कण्व का) शिष्य तपस्वी वैखानस, कण्वाश्रम में रहने वाले दोनों ऋषि-कुमार, कण्व के शिष्य शार्ङ्गरव एवं शारद्वत, गौतम तथा हारीत देवों एवं दानवों

---

१ नारदः—राजन् श्रूयताम् महेन्द्रसंदेशः। (विक्र० अंक ५, पृ० २२८)।
२ कुमारः—(सस्मितम्) तात वन्दे। (वही—पृ० २१५)।
३ कंचुकी—यावन्नियोगमशून्यं करोमि। (इति निष्क्रान्तः) (वही, पृ० २०६)।
४ प्रथमः—सदोषावकाश इव ते वाक्यशेषः (विक्र०, अंक ३, पृ० ९३)
५ विदूषकः—ही ही भो एसो खण्डमोदअसस्सिरीओ उदिदो राजा दुआदीणम्
(वही पृ० १०३)।
६ द्वितीयः—सा खु सत्ता उवज्झाएण। महिन्देण उण अणुगहिदा।
(वही, पृ० ९४)।
७ स्त्रीणां तु प्राकृतं प्रायः सौरसेन्यमधमेषु च। (दशरू० प्र० २, पृ० १४०)।
८ आमात्यः—यदाज्ञापयति देवः। (मालवि० अंक १, पृ० ३६)।
९ सारसकः—महुअरिए वेअपारआणं वम्हणाणं णिच्चं दक्खिणा दादव्वा।
(मालवि० अंक ५, पृ० ३२२)।
ता अज्जपुरोहिदस्स हत्थं पावइस्सं। (मालवि० अंक ५, पृ० ३२२)।
१० परिव्राजिका (सस्मितम्) अलमुपालम्भेन। पत्तने विद्यमानेऽपि ग्रामे रत्न-परीक्षा। (मालवि० अंक १, पृ० १२)।

के पिता प्रजापति मारीच (कश्यप), उनका (मारीच का) शिष्य गालव, दुष्यन्त, का पुरोहित सोमरात, इन्द्र का सारथि मातलि, राजा का सेवक कंचुकी (वातायन) राजा दुष्यन्त का स्तुति पाठक वैतालिक संस्कृत में बातचीत करते हैं। विदूषक (माधव्य), दुष्यन्त का पुत्र बालक भरत (सर्वदमन), राजा दुष्यन्त का नौकर द्वारपाल (दौवारिक) रैवतक, राजा दुष्यन्त का भृत्य करभक, प्रधान नगररक्षक दुष्यन्त का साला (श्याल) आदि की भाषा शौरसेनी प्राकृत है। लेकिन दोनों सिपाही तथा धीवर की भाषा मागधी प्राकृत है।[1] धनंजय के अनुसार नीच पात्रों की भाषा मागधी स्वीकृत की गई है।[2] अभिज्ञानशाकुन्तलम् की सभी स्त्रियाँ शौरसेनी प्राकृत में बोलती हैं। यहाँ ध्यातव्य है कि अभिज्ञानशाकुन्तलम् में साधारणत: गद्य के लिए शौरसेनी प्राकृत तथा पद्यों के लिए महाराष्ट्रीय प्राकृत का प्रयोग किया गया है।[3]

कालिदास के रूपकों में प्रयुक्त भाषाओं के विश्लेषणात्मक अध्ययन से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि उनके समय में शिक्षित एवं उच्च श्रेणी के लोगों की भाषा संस्कृत तथा जनसाधारण की भाषा प्राकृत रही होगी। स्त्रियाँ भी उस समय प्राकृत बोलती होंगी। अथवा ऐसी परम्परा उनसे पूर्व महाकवि भास आदि से चली जाती रही होगी, इसीलिए उन्होंने शिष्ट पात्रों से शुद्ध संस्कृत तथा शेष पात्रों से प्राकृत का प्रयोग कराया। अपने रूपकों को अत्यधिक स्वाभाविक तथा यथार्थोन्मुख बनाने के उद्देश्य से ही कालिदास ने विभिन्न नाटकीय भाषाओं के प्रयोग कराये हैं। यह भाषावैविध्य नाट्यशास्त्रानुमोदित है।[4]

---

१ रक्षिणौ........तह। गच्छ अले गंडभेदअ। (अभि० शा० अंक ६, पृ० ३३६)
—पुरुषः........। तश्श उदलब्भन्तरे एदं लदणभाशुलं अंगुलीअं देक्खिअं। पच्छा अहके शे विक्कआअ दंशअंते गहिदे भावमिश्शेहिं। मालेह वा मुंचेह वा। अअं शे आ अमवुत्तंते। (वही)

२ पिशाचात्यन्तनीचादौ पैशाचं मागधं तथा (।२।६५ का उत्तरार्द्ध, दशरूप०)

३ प्रियंवदा ....।।

उग्गलिअदब्भकवला मिआ परिच्चत्तणच्चणा मोरा।
ओसरिअपं डुपत्ता मुअंति अस्सू विअ लदाओ ।।४।११
(अभि० शा०, पृ० १४१)

तुज्झण आणं हिअअं मम उण कामो दिवावि रत्तिम्मि।
णिग्घिण! तवइ्वलिअं तुइ वुप्तमणोरहाइं अंगाइं ।।३।१३ (अभि० शा०)

४ ना० शा० अं० १७।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि कालिदास संस्कृत एवं प्राकृत दोनों भाषाओं के प्रयोग में सिद्धहस्त हैं। संस्कृत के समान ही उन्हें प्राकृत के प्रयोग पर भी अधिकार है। अभिज्ञानशाकुन्तलम् के सप्तम अंक में तापसी[1] के कथनों में प्रयुक्त भाषा को देखने से उनकी प्राकृत भाषा सम्बन्धी योग्यता का परिचय मिलता है। उसने ऐसे शब्द का प्रयोग किया है जिससे दोनों बातों का उल्लेख स्पष्ट हो गया है—

(१) मोर का प्रसंग भी चल रहा है तथा

(२) उससे राजा को भी बिना बताये हुए ही बच्चे की माँ का नाम (शकुन्तला) ज्ञात हो जाता है।

यह बात अवश्य है कि उनकी संस्कृत भाषा में यत्र-तत्र अपाणिनीय प्रयोग भी मिलते हैं।[2] 'अनवद्य' शब्द अवद्यपण्य इस पाणिनि नियम से अनियमित रूप से बना। ऐसे अनेक अपाणिनीय प्रयोग दृष्टिगत होते हैं।

रूपकों में प्रयुक्त विभिन्न भाषाओं के विश्लेषण के बाद उनकी भाषागत विशेषता विवेचनीय है। इस सन्दर्भ में सबसे बड़ी खूबी यह है कि कालिदास ने अपने रूपकों में पात्रानुकूल भाव तथा तदनुरूप भाषा का प्रयोग कराया है। उससे उनके पात्रों के व्यक्तित्व, स्थिति, योग्यता तथा प्रकृति आदि का सम्यक् बोध होता है। उदाहरणस्वरूप यहाँ कुछ प्रमुख पात्रों की भाषा उल्लेखनीय है। अभिज्ञानशाकुन्तलम् के प्रथम अंक में अनसूया एवं प्रियम्वदा के वार्त्तालाप से उनका परिहासपूर्ण व्यक्तित्व प्रकट होता है।[3] दुष्यन्त का परिचय पूछते समय अनसूया के कथन से उसके चरित्र की शालीनता का परिचय मिलता है।[4] महर्षि कण्व

---

१ तापसी—(प्रविश्य मयूरहस्ता) सव्वदमण। सउन्दलावण्णं पेक्ख। (अभि शा० अंक ७ पृ० ४६६)।

२ राजा—(आत्मगतम्) अहो सर्वस्थानानवद्यता रूपस्य। (मालवि० अंक २, पृ० १-१)।

३ प्रियम्वदा—अणसूये। जाणासि किं सउन्दला वनजोसिणिं अदिमेत्तंपेक्खदि त्ति।
—अनसूया—ण क्खु विभावेमि। कहेहि।
प्रियम्वदा—जह वनजोसिणी अणुरूवेण पादवेण संगदा, अविण्णा एव्वं अहं वि अत्तणो अणुरूवं वरं लहेअंत्ति। (अभि० शा० अंक १, पृ० ५०)।

४ अनसूया..........(प्रकाशम्) अज्जस्स महुरालावणिजदो वीसम्भो मं मताविदिकतमो अज्जेण राएसिक्सो अलंकरीअदि। कदमो वा विरहपज्जुस्सुअजणो किदो देसो। किं णिमित्तं वा सुउमारदरो वि तवोवणगमण परिस्समस्स अत्ता पद उवणीदो। (अभि० शा० अंक १, पृ० ६२)।

गान्धर्व विवाह की स्वीकृति देते हुए शकुन्तला के प्रति कहते हैं—"दिष्ट्या धूमाकुलितदृष्टेरपि यजमानस्य पावक एवाहुतिः पतिता"। इनके इस कथन में निरन्तर यज्ञयाग तथा अध्ययन-अध्यापन-कार्य में लीन रहने से सर्वथा उनके अनुकूल मालूम पड़ता है। साथ ही उनकी तपस्या से उत्पन्न पवित्रता अभिव्यक्त होती है। विदूषक की उक्तियों से उसके पेटूपन का बोध होता है।[1] अभि० शा० के षष्ठ अंक के प्रवेशक में धीवर के व्यवसाय का पता लगाने पर श्याल कहता है—"(विहस्य) विसुद्धो दाणि आजीवो"। दोनों रक्षक उसे कहते हैं—"तह। गच्छ अले गंठभेदअ"।

इनके तीनों रूपकों के संवाद सरल एवं स्वाभाविक हैं। यहाँ तीनों के संवाद उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत्य हैं।

(क) बकुलावलिका –एसो उवारूढराओ उवभोअक्खमो पुरदो दे दीसई।
मालविका—(सहर्षम्) किं भट्टा।
बकुलावलिका—(सस्मितम्) ण दाव भट्टा। एसो असोअसाहावलम्बी पल्लवगुच्छो। ओदंसेहि दाव णं? (मालवि, अंक ३, पृ० २१३-२१४)।

(ख) सख्यौ—(उभयोराकारं विदित्वा, जनान्तिकम्) हला सउन्दले! जइ एत्थ अज्ज तादो संणिहिदो भवे।
शकुन्तला—तदो किं भवे?
सख्यौ –इमं जीविदसव्वस्सेण वि अदिविसेसं किदत्थं करिस्सदि।
(अभि० शा० अंक १, पृ० ६४)

(ग) चित्रलेखा—को उण सहीए पुसमं पेसिदो।
उर्वशी—हिअअं।
चित्रलेखा –सर्वं एव्व साहु संधारीअदु दाव।
उर्वशी—मअणो खु मं णिओएदि। किं एत्थ संपधारीअदि।
(विक्र० अंक २, पृ० ५६)।

कालिदास संवाद के माध्यम से नाटकीय कथावस्तु में विकास लाये हैं। उनके सम्वाद अतिसंक्षिप्त, सरल, तार्किक सामंजस्यपूर्ण एवं रोचक हैं। अतः पाठकों एवं दर्शकों के चित्त को अनायास आकृष्ट कर लेते हैं। उनके संवादों में

१ विदूषकः—(विहस्य) जह कस्स वि पिण्डखज्जूरहिं उव्वेजिदस्स तिन्तिणीए अहिलासो भवे, तह इत्थिआरअणपरिभाविणो भवदो इमं अब्भत्थणा।
(अभि० शा० २, पृ० १०९)।

कहीं भी अनावश्यक विस्तार नहीं आने पाया है। दो या तीन से अधिक पात्रों का संवाद एक साथ नहीं कराया गया है। विषयानुकूल संवादों को सजीव एवं सामान्य बनाये रखने के लिए मुहावरों एवं लोकोक्तियों का आवश्यक प्रयोग इनके तीनों रूपकों में किया गया है। उदाहरणार्थ यहाँ कुछ मुहावरे एवं लोकोक्तियाँ प्रस्तुत्य हैं। नाट्याचार्य गणदास, आचार्य हरदत्त की शिकायत करते हुए राजा अग्निमित्र से कहते हैं कि उसने (हरदत्त ने) मुझे सबके सामने अपमानित करते हुए कहा है कि यह तो मेरे पैरों की धूल के बराबर भी नहीं है।[1] इसके बाद हरदत्त राजा से गणदास की शिकायत करते हुए कहते हैं कि उसने (गणदास ने) मेरी यों निन्दा की है कि मुझमें और इसमें तो समुद्र और तलैया का अन्तर है।[2] राजा अग्निमित्र जयसेना से कहता है, तुम अपना काम देखो।[3] धारिणी परिव्राजिका से कहती है कि आपने यह उचित नहीं किया जो हमें मालविका को उच्चकुलीन नहीं बताया। इसपर परिव्राजिका कहती है—"शान्तं पापं, शान्तं पापम्"।

इस तरह हम देखते हैं कि मुहावरेदार भाषा के प्रयोग से नाटकीय संवादों की प्रभावोत्पादकता में वृद्धि हुई है। अभिज्ञानशाकुन्तलम् में प्रयुक्त कुछ मुहावरे एवं लोकोक्तियाँ परीक्षणीय हैं। दुष्यन्त को देखने के बाद कामपीड़िता शकुन्तला से उसके सन्ताप का कारण पूछती हुई अनसूया एवं प्रियम्वदा कहती हैं—"प्रियजनों में बँटा हुआ दुःख, सहन करने योग्य हो जाता है।[4] इसी प्रकार "उदारः कल्पः", "अरण्ये रुदितम्", "प्रतिहतमंगलम्", "कर्णं दत्वा", आदि अनेक मुहावरे अभिज्ञान-शाकुन्तलम् में प्रयुक्त हुए हैं। दुर्वासा द्वारा पति के ध्यान में लीन शकुन्तला को शाप दिये जाने पर प्रियम्वदा कहती है कि अग्नि को छोड़ कर और कौन जला सकता है।[5] कालिदास के रूपकों में प्रयुक्त लोकोक्तियों में से कुछ उदाहरण प्रस्तुत किये जाते हैं। मालविकाग्निमित्र के द्वितीय अंक में इरावती के सम्बन्ध मे विदूषक से बात करते हुए राजा अग्निमित्र कहता है "कमलबेल को देखकर हाथी मगर

---

१ गणदासः······ ··········अयं न मे पादरजसापि तुल्य इत्यधिक्षिप्तः।

२ हरदत्तः·········· ····। अत्रभवतः किल मम च समुद्रपल्वलयोरिवान्तरमिति।
—(मालवि० अंक १, पृ० ५१-५२)।

३ राजा·········। स्वनियोगशून्यं कुरु। (मालविका० अंक ४, पृ० २६८)।

४ उभे················। सिणिद्धजणसंविमत्तं हि दुक्खं सज्झवेदणं होदि।
(अभि० शा० अंक ३, पृ० १४७)।

५ अनसूया—को अण्णो हुदवहादो दहिदुं पहवदि।
(अभि० शा०, अंक ४, पृ० १९१)।

की परवाह नहीं करता।[1] अभिज्ञानशाकुन्तलम् के द्वितीय अंक में विदूषक मृगया से तंग आकर कहता है—यह कपोल के ऊपर एक फोड़ा और निकल आया है[2] अर्थात् घाव पर घाव निकल आया है। हिन्दी में इसके लिए "जले पर नमक छिड़कना" कहते हैं। इस तरह कालिदास की प्रयुक्त मुहावरेदार भाषा पर विचार कर हम देखते हैं कि उन्होंने भाषा को कहीं भी अनावश्यक अलंकार से बोझिल नही बनाया है। पात्रों के संवाद में सर्वत्र स्वाभाविकता देखी जाती है।

पात्रानुकूल प्रयुक्त भाषा की परीक्षा करने पर पता चलता है कि शब्द-योजना एवं वाक्य-विन्यास की दृष्टि से कालिदास के रूपकों की भाषा नाटकीय है। इसमे अभीष्ट गति एवं प्रवाह भी है। यही कारण है कि इनके रूपकों के अनेक वाक्यों ने सूक्तियों का रूप धारण कर लिया है। उदाहरणार्थ यहाँ कुछ सूक्तियों को प्रस्तुत किया जाता है। अभिज्ञानशाकुन्तलम् के पंचम अंक में राजा दुष्यन्त राजा के कर्त्तव्य के प्रति विचार करते हुए कहता है कि प्रतिष्ठा (उच्चपद या राज्य आदि की प्राप्ति) सिर्फ उत्सुकता को ही शान्त करती है, लेकिन प्राप्त हुए की रक्षा का कार्य उसे दुःखित ही कर देता है। राज्य एक छाते के समान है जिसका अपने हाथ में पकड़ा हुआ दण्ड थकान को उतना अधिक दूर नहीं करता है जितना थकान पैदा करता है।[3] प्रथम अंक में शकुन्तला की स्वाभाविक सुन्दरता का वर्णन राजा दुष्यन्त ने किया है। वही उक्ति सौन्दर्य-विषयक सामान्योक्ति हो जाती है।[4] पंचम अंक में राजा दुष्यन्त द्वारा शकुन्तला को अपनी पत्नी मानकर स्वीकार नही करने पर गुप्त रूप से किये गये गान्धर्व विवाह के परिणाम के बारे में शार्ङ्गरव ने रोती हुई शकुन्तला से कहा—इस तरह स्वयं

---

१ राजा – न हि कमलिनीं दृष्ट्वा ग्राहमवेक्षते मतङ्गजः।

(मालवि० अंक २, पृ० १८०)।

२ विदूषकः.......... । ततो गण्डस्योपरि पिटकः संवृत्तः।

(अभि० शा०, अंक २, पृ० ८८)।

३ राजा—औत्सुक्यमात्रमवसाययति प्रतिष्ठा
क्लिश्नाति लब्धपरिपालनवृत्तिरेव।
नातिश्रमापनयनाय यथा श्रमाय
राज्यं स्वहस्तधृतदण्डमिवातपत्रम् ॥५।६। (अभि० शा०)

४ राजा—
सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति।
इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी, किमित हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम् ॥

(१।२०। वही)।

की गई अनियन्त्रित चंचलता दुःख देती है। अतः एकान्त में किया गया समागम विशेष रूप से परीक्षा करने के बाद ही करना चाहिए। परस्पर अज्ञात हृदय-वाले व्यक्तियों के प्रति किया गया प्रेम इसी भाँति वैर (शत्रुता) रूप में बदल जाता है।[1] कालिदास की मधुर सूक्तियों को ध्यान में रखकर महाकवि बाणभट्ट ने लिखा है कि इनकी (कालिदास की) मंजरी के समान मीठी सूक्तियों को सुनकर किसके हृदय में आनन्द का उद्रेक नहीं होता है।[2] जयन्त ने कालिदास की सूक्तियों के बारे में लिखा है—

अमृतनेव संसिक्ताः चन्दनेनेव चर्चिताः।
चन्द्रांशुभिरिवोद्धृष्टाः कलिदासस्य सूक्तयः॥ (न्यायमंजरी)

भाषा पर कालिदास का पूर्ण अधिकार है। उन्होंने भावों के चित्रण के अनुकूल ही भाषा का प्रयोग किया है। सरल एवं सीधी-सादी भाषा के बावजूद भाव की गम्भीरता इनकी निजी विशेषता है। असाधारण रूपलावण्य वाली शकुन्तला से वृक्ष-सेचन आदि आश्रम के कार्यों को सम्पन्न करने के लिए नियुक्त करने वाले कण्व ऋषि की असाधुदर्शिता पर दुष्यन्त विस्मय प्रकट करता है।[3]

प्रतिपाद्य विषयों के वर्णन की दृष्टि से इनके रूपकों की समीक्षा करने पर पता चलता है कि इनमें कहाकवि कालिदास ने अपने असाधारण वर्णन-कौशल का परिचय दिया है। उनके वर्णन की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे हर वस्तु का ऐसा सजीव एवं ठोस वर्णन करते हैं कि वह पाठक अथवा सहृदय सामाजिक की आँखों के सामने वास्तविक चित्र की भाँति मालूम पड़ता है। मालविकाग्निमित्रम् में राजा अग्निमित्र के मुँह से कालिदास का खींचा हुआ नृत्यांगना मालविका का एक ऐसा अनूठा शब्द-चित्र है, जो किसी भी कलाकार

---

१ शार्ङ्गरवः – इत्यमात्मकृतमप्रतिहतं चापलं दहति।
अतः परीक्ष्य कर्त्तव्यं विशेषात् संगतं रहः।
अज्ञातहृदयेष्वेव वैरी भवति सौहृदम् ॥५।२४॥ (वही)

२ निर्गतासु न वा कस्य कालिदासस्य सूक्तिषु।
प्रीतिर्मधुरसान्द्रासु मञ्जरीष्विव जायते॥ (हर्षचरितम्)।

३ राजा—कथमिव सा कण्वदुहिता। असाधुदर्शी खलु तत्रभान्। काश्यपः,
य इमामाश्रमधर्मे नियुङ्क्ते।
इदं किलाव्याजमनोहरं वपुस्तपःक्षमं साधयितुं य इच्छति।
ध्रुवं स नीलोत्पलपत्रधारया समिल्लतां छेत्तुमृषिर्व्यवस्यति ॥१।१८॥
(अभि० शा०)।

के वर्ण-चित्र को मात कर सकता है।[1] उन्होंने उर्वशी एवं शकुन्तला का भी चित्रण इसी प्रकार किया है। नाटककार ने अभिज्ञानशाकुन्तलम् के प्रथम अंक में ग्रीष्म ऋतु[2], भयभीत मृग[3] के भागने तथा दौड़ते हुए घोड़े[4] का सजीव वर्णन किया है। कामपीड़ित शकुन्तला का वर्णन करते हुए वे कहते हैं कि उसका मुँह अत्यधिक क्षीण कपोल वाला हो गया है, वक्षःस्थल ढीले स्तन वाला हो गया है, कटि कृशतर हो गई है, कन्धे वहुत झुक गये हैं तथा शरीर की कान्ति पाण्डुवर्ण की हो गई है। काम से पीड़ित यह पत्तों को सुलाने वाली वायु से स्पर्श की जाती हुई माधवीलता के समान शोचनीय तथा प्रियदर्शन वाली दिखाई पड़ रही है।[5] शकुन्तला के पतिगृह जाते समय का वर्णन करते हुए कण्व ऋषि अपने दुःख का वर्णन करते हैं।[6] इसी प्रकार द्वितीय अंक में विदूषक से राजा दुष्यन्त का वार्तालाप, तृतीय अंक में दोनों का प्रेम-प्रदर्शन एवं गान्धर्व विवाह, चतुर्थ अंक में शकुन्तला की विदाई का दृश्य, पंचम अंक में उसका प्रत्याख्यान, षष्ठ अंक में दुष्यन्त की विरहावस्था तथा सप्तम अंक में मारीच के आश्रम में समाधिस्थ ऋषि, सर्वदमन की चेष्टाओं एवं शकुन्तला से मिलन आदि का यथार्थ, सजीव और सुरुचिपूर्ण वर्णन महाकवि कालिदास ने किया है। वर्णन में उनकी कोमल कल्पना उल्लेखनीय है। शकुन्तला के सौन्दर्य का वर्णन करते हुए उनकी कल्पना व्यक्त हुई है। विदूषक से दुष्यन्त कहता है कि शकुन्तला का निष्कलंक सौन्दर्य न सूँघे गये पुष्प के समान, नाखूनों से न छेदे गये नवीन पल्लव के समान, न बींधे गये रत्न के समान, जिसके रस का आस्वादन नहीं किया गया है, ऐसे नवीन मधु के समान तथा पुण्यकर्मों के खण्डित फल के समान है। न जाने, विधाता किसे उसका उपभोक्ता बनाएगा।[7] मालविकाग्निमित्रम् के तृतीय अंक में अलंकृत मालविका को देखकर अग्निमित्र वकुलावलिका से कहता है—

---

१ राजा—(आत्मगतम्) सर्वस्थानानवद्यता रूपस्य। तथाहि - दीर्घाक्षं शरदिन्दुकान्ति......... तथास्याः वपुः ॥२।३। (मालवि०)

२ अभि० शा० १।३

३ ग्रीवाभंगाभिरामं..........१।७ (अभि० शा०)।

४ यदालोके सूक्ष्मं..........१।९॥ (वही)

५ राजा—अवितथमाह प्रियंवदा। तथा हि—

—क्षामक्षामकपोलमाननमुरः..........।३।७ (अभि० शा०, पृ० १४७);

६ काश्यपः—यास्यत्यथ शकुन्तलेति..........४।६ (वही, पृ० २१८)।

७ राजा—इदं च मे मनसि वर्त्तते।

अनाघ्रातं पुष्पं किसलयमलूनं..........२।१०। (वही, पृ० १११)।

चरणान्तनिवेशितां प्रियायाः सरसां पश्य वयस्य रागरेखाम् ।
प्रथमामिव पल्लवप्रसूतिं हरदग्धस्य मनोभवद्रुमस्य ॥३।११

कालिदास ने अपने रूपकों के संवादों में शास्त्रीयनियमानुसार सम्बोधन के विविध प्रकारों का उपयोग किया है। सूत्रधार पारिपार्श्वक को "मारिष" तथा पारिपार्श्वक उसे (सूत्रधार) को 'भाव' कहकर पुकारता है।[1] नट एवं नटी एक-दूसरे को 'आर्य' या 'आर्यपुत्र' तथा आर्ये कहते हैं।[2] रथारोही राजा को सारथी (सूत) आयुष्मन् कहकर पुकारता है।[3] पूज्य लोग शिष्य और पुत्र आदि को आयुष्मान् ही कहते हैं। उत्तम पात्रों द्वारा विद्वान् देवर्षि और तपस्वी पात्र 'भगवन्' कहकर सम्बोधित किये जाते हैं।[4] पूज्य लोग शिष्य, पुत्र अथवा अपने से छोटे पुरुषपात्र को 'वत्स' कहते हैं। तथा स्त्री पात्र को 'वत्से' कहते हैं।[5] शकुन्तला मृगाशावक को 'वत्स' कहकर' पुकारती है।[6]

राजा को अधिकारी-वर्ग 'स्वामिन्', भृत्यवर्ग भर्त्ता[7], (भट्ट, भट्टारक) कहकर सम्बोधित करते हैं। साधारणतः राजा को "आर्य" कहकर पुकारा जाता है।[8]

---

१ सूत्रधारः—(नेपथ्याभिमुखमवलोक्य)—मारिष, इतस्तावत् ! (प्रविश्य) पारि-पार्श्वक—भाव, अयमस्मि (मालवि० अंक १, पृ० ५)।
—विक्र० अंक १, पृ० ४

२ सूत्रधारः—(नेपथ्याभिमुखमवलोक्य) आर्ये ! यदि नेपथ्यविधानमवसितम्, इतस्तावदागम्यताम्। (प्रविश्य) नटी—अज्जउत्त ! इयं ह्मि।
(अभि० शा०, अंक १, पृ० ६)।

३ सूतः—(राजानं मृगं चावलोक्य) आयुष्मन् ! (अभि० शा० अंक १ पृ० १६)।

४ राजा—भगवन् ! अत्र खलु मे वंशप्रतिष्ठा (वही, अंक ७, पृ० ४९३)।
शिष्यः—भगवन् ! अयमस्मि। (वही, पृ० ४९६)।

५ तृतीया—वच्छे (वत्से) ! भत्तणो वहुमदा होहि। (वही, अंक ४, पृ० २१२)।
गोतमी—वच्छ णारअ ! कुदो एदं ? (वही, पृ० २१४)।
पुरोहितः—वत्से ! इतः अनुगच्छ माम् (वही, अंक ५, ३२४)।
काश्यपः—वत्से ! इतः सद्योहुतानग्नीन् प्रदक्षिणीकुरुष्व। (वही, पृ० २२३)।

६ शकुन्तला—वच्छ ! किं सहवासपरिच्चाइणिं मं अणुसरसि ? (वही; पृ० २३६)।

७ वकुलावलिका—भट्टा (भर्त्ता) देउ सेउत्तरं। (मालवि० अंक ४, पृ० २८८)।

८ अनसूया—अज्ज ! ण खु किंवि अच्चाहिदं। (अभि० शा० अंक १)

ऋषि या उनके शिष्य राजा को 'राजन्' कहकर पुकारते हैं।[1] प्रतिहारी राजा को 'देव' कहकर सम्बोधित करती है।[2] विदूषक राजा को 'वयस्य' कहकर संबोधित करता है। राजा भी विदूषक को 'वयस्य' या उसका नाम लेकर पुकारता है।[3]

सेनापति राजा को 'सखे' कहकर सम्बोधित करता है।[4]

समवयस्क एक दूसरे को 'वयस्य' कहते हैं, लेकिन मध्यमवर्ग के पात्र एक दूसरे को 'हंहो' कहते हैं। समान उम्र की कुलीन स्त्रियाँ एक दूसरे को 'हला', 'सखि', 'अयि' या नाम लेकर सम्बोधित करती हैं।[5] नौकरानी एक दूसरे को 'हञ्ज' कहती है। विदूषक रानी तथा सेविका को 'भवती' कहता है—

विदूषकः—भोदी (भविति) विसेसेण मोअण तुवरोवेहि (मालवि० अंक २, पृ० १३३)। श्रेष्ठ पात्र 'अत्रभवान्' एवं 'तत्रभवान्' कहे जाते हैं। स्त्री पात्रों के लिए भी इनका प्रयोग आर्ये "अत्रभवती" और "तत्रभवती" रूप में होता है—

राजा—(शकुन्तलां विलोक्य) अये ! सेयमत्रभवती शकुन्तला। (अभि० शा० अंक ७) इस प्रकार कालिदास के रूपकों में भारतीय शिष्टाचारों से संबद्ध अनेक सम्बोधन प्रकारों के प्रयोग से संवादों में सर्वत्र नाटकीयता परिलक्षित होती है।

इन सम्बोधन-प्रकारों की भाँति ही नाट्यशास्त्रियों ने नाटकीय वस्तु के विकास एवं संवाद-सौष्ठव के लिए नाट्यलक्षणों एवं नाट्यालंकारों के प्रयोग का विधान किया है। इनके प्रयोग से नाटकीय संवाद रसात्मक, ध्वन्यात्मक एवं अर्थगौरवपूर्ण हो गये हैं। धनंजय प्रभृति कुछ नाट्यशास्त्रियों ने नाट्यलक्षणों एवं नाट्यालंकारों की व्याख्या नहीं की है। उनकी दृष्टि में इनका अन्तर्भाव, सन्ध्यंगों, सन्ध्यन्तरों एवं भावों में हो जाता है। भरतमुनि ने रूपक में छत्तीस नाट्यलक्षणों

---

१ उभौ—विजयस्व राजन् ! (वही अंक २, पृ० १२२)

२ प्रतिहारी—देव ! पसण्णमुहवण्णा दीसंति (वही, अंक ५, २८४)।

३ विदूषकः—(तथास्थित एव) भो वअस्स, ण मे हत्थपाआपसरन्ति (वही, अंक २)।

राजा—माढव्य ! अनवाप्तचक्षुः फलोऽसि (वही)

राजा—वयस्य ! किं बहुना (वही)

४ सेनापतिः—(जनान्तिकम्) सखे ! स्थिरप्रतिबन्धो भव। (वही)

५ प्रियम्वदा—(शकुन्तलां निरुध्य) हला ! ण दे जुत्तं गंतुं। (वही अंक १)।

—शकुन्तला—(सरोषमिव) अणसूए गमिस्सं अहं। (वही)

के यथावश्यक प्रयोग का विधान बनाया है।[1] नाट्यशास्त्र में पाठान्तर के कारण उल्लिखित ३६ लक्षणों में कुछ भेद हैं। इसके परिणामस्वरूप भोजदेव तथा शारदातनय ने चौंसठ नाट्यलक्षण स्वीकार कर लिये। आचार्य विश्वनाथ ने उन्हें नाट्यलक्षण एवं नाट्यालंकार दो रूपों में विभक्त कर दिया। उन्होंने भरत के ३६ नाट्यालक्षणों को ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया है तथा अवशिष्ट ३३ लक्षणों को नाट्यालंकार के रूप में निरूपित किया है। अतः दोनों मिलकर ६९ हो गये हैं। वे नाट्य-लक्षण[2] निम्नलिखित हैं :—

नाट्य-लक्षण :—(१) भूषण, (२) अक्षरसंघात, (३) शोभा, (४) उदाहरण, (५) हेतु, (६) संशय, (७) दृष्टांत, (८) तुल्यतर्क, (९) पदोच्चय, (१०) निदर्शन, (११) अभिप्राय, (१२) प्राप्ति, (१३) विचार, (१४) विष्ट, (१५) उपदिष्ट, (१६) गुणातिपात, (१७) गुणातिशय, (१८) विशेषण, (१९) निरुक्ति, (२०) सिद्धि, (२१) भ्रंश, (२२) विपर्यय, (२३) दाक्षिण्य, (२४) अनुनय, (२५) माला, (२६) अर्थापत्ति, (२७) गर्हण, (२८) पृच्छा, (२९) प्रसिद्धि, (३०) सारूप, (३१) संक्षेप, (३२) गुणकीर्तन, (३३) लेश, (३४) मनोरथ, (३५) अनुक्तसिद्धि तथा (३६) प्रियवचन।

ये नाट्य-लक्षण गुण एवं अलंकारों से भिन्न हैं। गुण एवं अलंकार काव्य-सामान्य की विशेषताएँ हैं। इसके विपरीत ये लक्षण काव्य-शरीर सम्पन्न काव्य-प्रबन्ध (नाट्य का काव्य-तत्त्व) की ही विशेषता है। यहाँ अभिनवभारती का निम्नलिखित संदर्भ उदाहरणीय है :—

"लक्षणानि गुणालङ्कारमहिमानमनपेक्ष्य स्वसौभाग्येनैव शोभन्ते। लक्षणं महापुरुषस्य पद्मादिरेखादिवत् काव्यशरीरस्य सौन्दर्यदायि। अलंकारस्तु रत्नाभरणादिदेव, येन विनापि स्वसौन्दर्येणैवपुरुषः प्रतिभासते। गुणस्तु प्रवृत्तिद्योतितो धैर्यादिवत् काव्यस्य शब्दार्थरचनामाश्रयति। यथा लक्षणरहितः पुरुषो न सुन्दरशब्दवाच्यस्तथा लक्षणवर्जं कलाशरीरं गुणालङ्कारोज्ज्वलमपि नीरसत्वं भजत् प्रौढकाव्याभिधानं नार्हति।" (अभिनवभारती : नाट्यशास्त्र, अध्याय १६)।

कालिदास के रूपकों के संवादों के विश्लेषणात्मक अध्ययन से पता चलता है कि उन्होंने नाटकीय वस्तु-विन्यास एवं संवाद को रसात्मक बनाने के लिए यथावश्यक अनेक नाट्यलक्षणों का प्रयोग किया है। यहाँ उनके द्वारा प्रयुक्त कुछ लक्षणों की सोदाहरण परिभाषा दी जाती है।

---

१ एतानि वा काव्यविभूषणानि षट्त्रिंशदुद्देश्यनिदर्शनानि।
काव्येषु सोदाहरणानि तज्ज्ञैः सम्यक् प्रयोज्यानि बलानुरूपम्। १६।४२॥
(ना० शा०)

२ सा० द० ६। १७१ के उत्तरार्द्ध से ६।१७५ के पूर्वार्द्ध तक।

"भूषण" वह लक्षण है जिसको माधुर्य आदि गुण या अनुप्रास, उपमा आदि अलंकारों द्वारा दृश्य (या श्रव्य) काव्य-प्रबन्ध के कथाशरीर में सौन्दर्य का संयोग अथवा अलंकरण कहा जाता है।[1]

सादृश्य के कारण अभूतपूर्व अर्थ की कल्पना को 'अभिप्राय' कहते हैं।[2] किसी उत्कृष्ट एवं लोक-प्रसिद्ध अर्थ के आधार पर किसी अभिमत अर्थ का साधन प्रसिद्धि है।[3]

जिससे पूर्वसिद्ध अर्थ का वर्णन होता है उसे 'निरुक्ति' कहते हैं।[4] "पदोच्चय" का तात्पर्य है अर्थानुरूप पद-संदर्भ का संचय।[5]

जो निगूढ़ार्थक वाक्य द्वारा निगूढ़ अर्थ का प्रतिपादन करता है उसे 'उदाहरण' नामक नाट्यलक्षण कहते हैं।[6]

निदर्शन का अभिप्राय प्रसिद्ध अर्थ का परिकीर्तन है, जिसमें किसी अन्य अर्थ की संभावना न हो सके।[7]

किसी वस्तु के अंशमात्र से उस वस्तु का अनुमान प्राप्ति है।[8]

---

१ यदालोके सूक्ष्मं व्रजति·········।।१।९।। (अभि० शा०, राघवभट्टव्याख्या पृ० १९)

२ राजा—(आत्मगतम्) कथमियं सा कण्वदुहिता ? असाधुदर्शी खलु तत्रभवान् काश्यपः य इमामाश्रमधर्मे नियुङ्क्ते। इदं किलव्याजमनोहरं···········१।१६ भवतु, पादपान्तर्हित एव विश्रब्धं तावदेनां पश्यामि। (इति तथा करोति) (वही, पृ० २७)।

३ सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि···········१।२० (वही, पृ० २८)।
—सूर्याचन्द्रमसौ यस्य मातामहपितामहौ।
स्वयं वृतः पतिर्द्वाभ्यामुर्वश्या च भुवा च यः।।४।३८ (विक्र० पृ० १६८)

४ शकुन्तला—अदो क्खु पिअंवदा सि तुमं। (अभि० शा० अंक १, पृ० ३०)।

५ राजा—प्रियमपि तथ्यमाह शकुन्तलां प्रियम्वदा। अस्याः खलु—
अधरः किसलयरागः·········१।२१ ।। (अभि शा० पृ० ३०)।

६ राजा—(आत्मगतम्) कथमिदानीमात्मानं निवेदयामि, कथं वा आत्मापहारं करोमि ? ··········धर्मारण्यमिदमायातः।
(अंक १ पृ० ३९) से शकुन्तला—तुम्हे अवेध। किं वि हिअए करिअ मंतेधं। ण वो वअणं सुणिस्सं। (अंक १, पृ० ४१)।

७ राजा - उपपद्यते,—मानुषीषु कथं वा स्यादस्य ········· १।२२ (वही, पृ० ४२)।

८ राजा—(शकुन्तलां विलोक्य, आत्मगतम्) किं नु खलु यथा वयमस्यामेवमियम-प्यस्मान्प्रति स्यात्। अथवा लब्धावकाशा मे प्रार्थना। कुतः—वाचं न मिश्रयति··· ···········१।२७ (अभि० शा०, पृ० ५०)।

'शोभा' वह नाट्यलक्षण है जिसके कारण अप्रसिद्ध अर्थ भी सिद्ध अर्थ के समान प्रकाशित होता है ।[1]

'माला' उसे कहते हैं, जिसमें अभीष्ट अर्थ के प्रतिपादक अनेक अभिप्रेत अर्थों का वर्णन रहता है ।[2]

शास्त्रानुसार मनोहर वाक्य-विन्यास 'उपदिष्ट' कहलाता है ।[3] 'मनोरथ' वह नाट्यलक्षण है जो किसी अभिमत अभिप्राय का विचित्रता के साथ प्रकाशन कहा जाता है ।[4] संशय वह नाट्यलक्षण है जिसे किसी वाक्य में, किसी अज्ञात किन्तु सारभूत अर्थ के सम्बन्ध में अनिश्चय का उपन्यास कहा जाता है ।[5]

'हेतु' को संक्षिप्त तथा युक्तिपूर्ण किन्तु अभिमत अभिप्राय का अवबोधक वाक्य कहा गया है ।[6]

स्वल्प, किन्तु श्लिष्ट अक्षरों द्वारा विचित्र अर्थ का उपवर्णन 'अक्षर संघात' कहलाता है ।[7]

---

१ सेनापतिः……………।
मेदश्छेदकृशोदरं लघु…………॥२।५ (वही, पृ० ६५) ।

२ राजा—…………किं शीतलैः……………३।१८ (वही, पृ० १०९) ।

३ राजा—भीरु ! अलं गुरुजनभयेन । दृष्ट्वा ते विदितधर्मा तत्रभवान्न तत्र दोषं ग्रहीष्यति कुलपतिः । अपि च—
गान्धर्वेण विवाहेन……………३।२० (वही, पृ० १११) ।

४ शकुन्तला—(आत्मगतम्) हिअअ । पढमं एव्व सुहोवणदे मणोरहे कादरभावं न मुंचसि । साणुसअविहडिअस्स कहं दे संपदं संदावो ? (पदान्तरे स्थित्वा, प्रकाशम्) लदावलअ संदावहारअ । आमंतेमि तुमं भूओ विपरिभोअस्स । (अभि० शा० अंक ३, पृ० ११५) ।

५ राजा—(शकुन्तलां निर्वर्ण्य आत्मगतम्)—इदमुपनतमेवं………………………
५।१९ (अभि० शा० पृ० १७४) ।
(इति विचारयन्स्थितः)

६ राजा—निपुणो भवान् । अस्त्यत्र मे भावचिह्नम् । स्विन्नाङ्गुलिविनिवेशो …………६।१५
चतुरिके अर्धलिखितमेतद्विनोदस्थानम् । गच्छ, वर्तिकां तावदानय ।
(अभि० शा०, अंक ६, पृ० २१७) ।

७ राजा—कच्चित्सखीं वो नातिबाधते शरीरसंतापः । प्रियम्वदा—सम्पदं लधोसहो उअसमं गमिस्सदि । (अभि० शा०) ।

स्निग्ध वचनों द्वारा अभिप्रेत अर्थ के साधन को 'अनुनय' कहते हैं।[1]

ऊपर बताया गया है कि ३३ लक्षणों को नाट्यालंकार के रूप में निरूपित किया गया है। वे निम्नलिखित हैं :—(१) आशीः, (२) आक्रन्द, (३) कपट, (४) अक्षमा, (५) गर्व, (६) उद्यम, (७) आश्रय, (८) उत्प्रासन, (९) स्पृहा, (१०) क्षोभ, (११) पश्चात्ताप, (१२) उपपत्ति, (१३) आशंसा, (१४) अध्यवसाय, (१५) विसर्प, (१६) उल्लेख, (१७) उत्तेजन, (१८) परीवाद, (१९) नीति, (२०) अर्थ-विशेषण, (२१) प्रोत्साहन, (२२) साहाय्य, (२३) अभिमान, (२४) अनुवर्तन, (२५) उत्कीर्तन, (२६) प्रहर्ष, (२७) यांचा, (२८) परिहार, (२९) निवेदन, (३०) प्रवर्त्तन, (३१) आख्यान, (३२) युक्ति और (३३) उपवेशन।

कालिदास के रूपक के संवादों में प्रयुक्त कुछ नाट्यालंकारों को उदाहरण स्वरूप परिभाषा के साथ उपस्थित किया जाता है।

किसी कार्य के करने की स्वीकृति का वर्णन 'उल्लेख' कहलाता है।[2] शास्त्रानुसरण का वर्णन 'नीति' नामक नाट्यालंकार कहलाता है।[3] अनुवर्तन वह नाट्यालंकार है जिसे विनयपूर्वक किसी के सत्कारादि का वर्णन कहा जाता है।[4]

शिक्षादान का वर्णन उपदेशन (उपदेश) कहलाता है।[5]

इष्टजन की आशंसा अथवा अभ्युदयकामना "आशीः" है।[6] अर्थविशेषण वह नाट्यालंकार है जिसे पूर्वोक्त भी अर्थ का, उपालम्भ के अभिप्राय, अनेक बार पुनर्वचन कहा गया है।[7]

---

१ राजा—(शकुन्तलायाः पादयोः प्रणिपत्य)
सुतनु ! हृदयात्प्रत्यादेशव्यलीकमुपैतु........ ७ २४६ (वही, पृ० २६१)।

२ वैखानसः—राजन् ! समिदाहारणाय प्रस्थिता वयम्। एष खलु कण्वस्य कुलपतेरनुमालिनीतीरमाश्रमो दृश्यते। न चेदन्यकार्यातिपातः, प्रविश्य प्रतिगृह्यतामातिथेयः सत्कारः। (अभि० शा० अंक०, पृ० २१)

३ राजा—(अवतीर्य) सूत ! विनीतवेषेण प्रवेष्टव्यानि तपोवनानि नाम। इदं तावद्गृह्यताम्। (वही, पृ० २४)

४ राजा—(शकुन्तलां प्रति) अयि ! तपोवर्धते ?
अनसूया—दाणि अदिहिविसेसलाहेण। इत्यादि (वही, पृ० ३७)।

५ अनसूया—सहि ! ण जुत्तं ते अकिदसक्कारं अदिहिविसेसं विसज्जिअ सच्छंददो गमणम्। (अभि० शा० अंक १, पृ० ४६)।

६ काश्यपः वत्से !—ययातेरिव शर्मिष्ठा भर्तुर्बहुमता भव।
सुतं त्वमपि सम्राजं सेव पुरुमवाप्नुहि।। ४।६, वही अंक ४, पृ० १३७)।

७ शार्ङ्गरवः—कथमिदं नाम ? भवन्त एव सुतरां लोकवृत्तान्तनिष्णाताः।
सतीमपि ज्ञातिकुलैक................५।१७।। (वही, अंक ५, पृ० १७२)।

किंचिन्मात्र भी अनादर की असहनशीलता का वर्णन "अक्षमा" नामक नाट्यालंकार है।[1]

"उत्प्रासन" वह नाट्यालंकार है जिसे अपने आपको सज्जन माननेवाले किसी दुर्जन के उपहास का वर्णन कहा गया है।[2] आनन्दातिरेक के वर्णन को 'प्रहर्ष' कहा गया है।[3]

रूपक के संवाद के अन्तर्गत नाट्य-तत्व के अतिरिक्त काव्य-तत्वों का भी सन्निवेश होता है। कालिदास के रूपकों के संवादों में काव्य-तत्त्वगत सारी विशेषताएँ हैं। इसमें काव्य की गद्य पद्य दोनों शैलियों का प्रयोग किया जाता है। अतः यहाँ भाषाशैली के अन्तर्गत कालिदास के रूपकों में प्रयुक्त भाव, रस, वृत्ति, रीति, गुण, ध्वनि, अलंकार तथा छन्द आदि का विवेचन अपेक्षित है। भाव, रस वृत्ति आदि का सांगोपांग विवेचन रसाभिव्यक्ति शीर्षक अध्याय में किया जा चुका है।

विचारों की अभिव्यक्ति के ढंग को शैली कहते हैं। भारतीय आचार्यों ने इसे 'रीति' के नाम से अभिहित किया है। भोज ने गत्यर्थक रीङ् धातु से रीति शब्द की व्युत्पत्ति बताई है।[4] इसका तात्पर्य है कि जिससे चला जाय वह रीति है। यह 'रीति' शब्दमार्ग का पर्याय है। दण्डी ने इसके लिए "मार्ग" शब्द का प्रयोग किया है।[5] 'रीति' शब्द को आचार्य वामन ने लोकप्रिय बनाया। उनके विचार से गुणों पर आश्रित पदसंघटना 'रीति' कहलाती है।[6] आचार्य विश्वनाथ का कथन है कि यह रस, भाव आदि की उपकर्त्री है।[7] भरतमुनि ने रचना की शैली या संघटना के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा है। उन्होंने सिर्फ इतना ही कहा है कि नाट्यरचना की भाषा ऐसी होनी चाहिए, जिसमें ऐसे अक्षर हों जो रचना के सौन्दर्य को बढ़ा सकें तथा भाषा के शब्द रसानुरूप उदार अथवा मधुर

---

१ राजा—भोः सत्यवादिन्! अभ्युपगतं तावदस्माभिरेवम्। किं पुनरिमामतिसंधाय लभ्यते?
शार्ङ्गरवः—विनिपातः।
राजा—विनिपातः पौरवैः प्रार्थ्यत इति न श्रद्धेयम्। (वही, पृ० १८२)

२ शार्ङ्गरवः—यदा तु पूर्ववृत्तमन्यसङ्गाद्विस्मृतो भवांस्तदा कथम् धर्मभीरुः?
(वही, पृ० १८४)।

३ राजा—अभूतसंपादितस्वादुफलो मे मनोरथः। (वही, अंक ७, पृ० २६३)

४ सरस्वती कंठाभरण २।५१

५ काव्यादर्श—१।४०

६ विशिष्टापदरचनारीतिः। विशेषो गुणात्मा।—(काव्यालंकारसूत्र)

७ उपकर्त्री रसादीनाम् (सा० द०)

हों।[1] भरत के इसी संक्षिप्त संकेत के आधार पर दण्डी तथा वामन ने रचना को विशेष महत्त्व दिया। आनन्दवर्द्धन ने रीति को काव्य-रचना में गौण स्थान दिया है। अभिनवगुप्त का कथन है कि रीतियाँ गुणों में पर्यवसित होती हैं और गुण रस पर्यवसायी ही हैं।

दण्डी के विचार से सूक्ष्म भेद के कारण मार्ग (रीति) अनेक हैं। उन्होंने मुख्यतः दो मार्ग स्वीकार किया है—वैदर्भ और गौड़ीय। गुणों के आधार पर इनमें अन्तर है। कुन्तक का कहना है कि यदि देशभेद के आधार पर रीतियों का निर्धारण किया जाय तो देशों के अनन्त होने के कारण ये रीतियाँ भी अगिनत होंगी।[2] भोज ने छः रीतियाँ मानी हैं—वैदर्भी, पांचाली, गौड़ी, आवन्ती, लाटी तथा मागधी। वामन के अनुसार रीतियाँ तीन हैं—वैदर्भी, गौढ़ी तथा पांचाली। आनन्दवर्द्धन ने 'रीति' के स्थान पर संघटना शब्द का प्रयोग किया है। उनके विचार से यह संघटना गुणाश्रित होती है तथा गुण संघटना के आश्रित होते हैं। संघटना रस की अभिव्यक्ति करती है। इसके तीन प्रकार हैं–(१) असमासा, (२) मध्यमसमासा तथा (३) दीर्घसमामा। वस्तुत इन्हें ही क्रमशः वैदर्भी, पांचाली तथा गौड़ी रीति कहा जा सकता है। आचार्य मम्मट ने उपर्युक्त तीनों रीतियों को उपनागरिका, परुषा एवं कोमला वृत्तियों के नाम से अभिहित किया है।[3] आचार्य विश्वनाथ ने उपर्युक्त तीन रीतियों के अतिरिक्त रुद्रट द्वारा स्वीकृत लाटीया को मानकर चारो रीतियाँ स्वीकार की हैं। ये हैं—वैदर्भी, गौड़ी, पांचाली तथा लाटी। कालिदास की सभी रचनाएँ वैदर्भी रीति में रचित हैं। इसके प्रयोग में वे विशेष कुशल माने गये हैं।[4]

आचार्य विश्वनाथ के विचार से वैदर्भी वह रीति है, जो माधुर्य के अभिव्यंजक वर्णों से पूर्ण, असमस्त अथवा स्वल्प समासयुक्त रचना होती है।[5] रुद्रट

---

१ उदारमधुरैः शब्दैस्तत्कार्यं तु रसानुगम्—(ना० शा० १६।१२०)।

२ वक्रोक्तिजीवित, पृ० ९९।

३ काव्यप्रकाश—९।४

४ वाल्मीकेरजनि प्रकाशितगुणा व्यासेन लीलावती।
वैदर्भी कविता स्वयं वृतवती श्रीकालिदासं वरम्॥
—वैदर्भीरीतिसन्दर्भे कालिदासो विशिष्यते।
(वरदाचार्य संस्कृत साहित्य का इतिहास पृ० २३)
—लिप्ता मधुद्रवेणासन् यस्य निर्विवशा गिरः।
तेनेदं वर्त्म वैदर्भं कालिदासेन शोधितम्॥ (अवन्तिसुन्दरी)।

५ माधुर्यव्यंजकैर्वर्णैः रचना ललितात्मिका ॥९।२॥ उत्तरार्द्ध।
अवृत्तिरल्पवृत्तिर्वा वैदर्भी रीतिरिष्यते ॥९।३॥ पूर्वार्द्ध।

के अनुसार इसमें समस्तपदावली का प्रयोग नहीं होता है, यदि एकाध समस्त पद आ जाएँ तो कोई हानि नहीं होती। इसमें श्लेष, माधुर्यादि दश गुण विद्यमान रहते हैं। इसमें द्वितीय वर्ग अर्थात् चवर्ग के वर्णों की बहुलता होती है तथा इसमें ऐसे वर्ण रहा करते हैं जो स्वल्प प्रयत्न से उच्चरित होते हैं।[1]

वैदर्भी रीति की इन विशेषताओं को ध्यान में रखकर कालिदास की रचनाओं की परीक्षा करने पर हम देखते हैं कि इनमें प्रयुक्त शब्द मधुर, वाक्य-विन्यास लालित्यपूर्ण हैं। इनमें समासों का बहुत कम प्रयोग हुआ है। इसीलिए सुकोमल एवं सुकुमार भावों के चित्रण करने में इन्हें अद्वितीय माना गया है। प्रसन्नराघव ने इन्हें कविकुलगुरु के आसन पर प्रतिष्ठित कर कविताकामिनी का 'विलास' कहा है। ललित पद-विन्यास की मधुरता से क्लिष्टता एवं कृत्रिमता के सर्वथा निराकरण से इनकी रचनाएँ स्वाभाविक, सरस, सुन्दर तथा बोधगम्य हैं। अभिज्ञानशाकुन्तलम् के प्रथम अंक में वैखानस द्वारा दुष्यन्त को दिये गये आशीर्वाद यहाँ उदाहरणीय हैं :—

वैखानसः— सदृशमेतत् पुरुवंशप्रदीपस्य भवतः।
जन्म यस्य पुरोर्वंशे युक्तरूपमिदं तव।
पुत्रमेवं गुणोपेतं चक्रवर्तिनमाप्नुहि। १। १२॥

आचार्य दण्डी ने वैदर्भी रीति के भरतानुमोदित दश-गुणों को स्वीकार कर इन्हें वैदर्भी शैली के प्राण माने हैं।[2] भरत ने गुण की परिभाषा न देकर दोष विपर्यय को गुण कहा है।[3] दण्डी ने भी गुण की कोई परिभाषा नहीं दी है, लेकिन उनके गुणों के विवेचन से स्पष्ट है कि वे गुणों को भी अलंकारों के समान काव्य-शोभा विधायक धर्म मानते हैं। वामन के अनुसार शब्दार्थ में शोभा उत्पन्न करने वाले धर्म को गुण कहते हैं। इनके (गुण के) अभाव में अलंकार काव्य की शोभा नहीं उत्पन्न कर सकते। अतः अलंकार-काव्य-शोभा की वृद्धि के हेतु हैं।[4] आनन्दवर्द्धन ने

---

१ असमस्तैकसमस्ता युक्ता दशभिर्गुणैश्च वैदर्भी।
वर्गद्वितीय बहुला स्वल्प प्राणक्षरा च सुविधेया॥ (काव्यालंकार)

२ श्लेषः प्रसादः समता माधुर्यं सुकुमारता।
अर्थव्यक्तिरुदारत्वमोजः कान्तिसमाधयः॥
एते वैदर्भमार्गस्य प्राणाः दश गुणाः स्मृताः। (काव्यादर्श)

३ ना० शा० १७।९५।

४ काव्यालंकार सूत्र—३।१। १-२
अलंकृतमपि प्रीत्यै न काव्यं निर्गुणं भवेत्।
वपुष्यललिते स्त्रीणां हारो भारायते परम्॥१।३। ३४६ (अग्निपुराण)

गुणों की स्वतंत्र स्थिति न स्वीकार कर उन्हें रसाश्रित माना है। इस स्थिति में उनके विचार से अंगीभूत रसाश्रित धर्म को गुण कहते है–'तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृता.'। इनके विचार को मानकर आचार्य मम्मट ने लिखा है कि आत्मा के शौर्यादि गुणों के समान अंगीरस के उत्कर्षकारी तथा अचलस्थिति धर्म को गुण कहते हैं।[1] इन्हीं का अनुकरण करते हुए आचार्य विश्वनाथ ने कहा कि जैसे आत्मा के धर्म, शौर्य आदि गुण कहे जाते हैं वैसे ही रस के धर्म को गुण कहते हैं।[2] इन विवेचनों से निष्कर्ष यह निकला कि वामन आदि ने गुणों को शब्द एवं अर्थ का धर्म माना है। ध्वनिवादी और रसवादी आचार्यों ने उन्हें रस का धर्म माना है। वस्तुतः गुण दोनों (शब्दार्थ एवं रस) का धर्म है।

भरतमुनि ने गुणों की संख्या दश मानकर उन्हें शब्द-गुण तथा अर्थगुण के रूप में निरूपित किया है। वामन ने इसकी संख्या बीस निश्चित की है। भोज के अनुसार चौबीस गुण हैं। अग्निपुराण में इन चौबीस के स्थान पर अट्ठारह गुणों का उल्लेख किया गया है। अग्निपुराणकार ने इसके शब्दगुण, अर्थगुण तथा उभयगुण तीन प्रकार किये हैं। गम्भीर रुचि के आचार्य इन गुणों की बढ़ती हुई संख्या को परिसीमित करने के लिए प्रयत्नशील रहे। वामन के पूर्ववर्ती आचार्य भामह ने तीन गुणों की ही कल्पना की थी। उनके बाद आनन्दवर्द्धन, अभिनवगुप्त, मम्मट, विश्वनाथ आदि ने रस के धर्म के रूप में माधुर्य, ओज एवं प्रसाद इन्हीं तीनों गुणों को स्वीकार कर लिया। उन्होने इन्हीं में अन्य गुणों को अन्तर्भुक्त कर उनकी व्यापकता का प्रतिपादन किया है। कालिदास की शैली में प्रसाद, माधुर्य एवं ओज तीनों गुण विद्यमान हैं। प्रसाद एवं माधुर्य की अपेक्षा ओज गुण कुछ कम हैं। यहाँ उनके रूपकों में प्रयुक्त तीनों गुणो के उदाहरण, लक्षण के साथ, प्रस्तुत किये जाते हैं।

भामह का कहना है कि माधुर्य गुण में समास का अभाव रहना चाहिए।[3] आनन्दवर्द्धन ने शृंगार रस को मधुर तथा परमानन्ददायक रस माना है। उनके मतानुसार शृंगाररसमय काव्य का आश्रय ग्रहण कर माधुर्य गुण अवस्थित होता है।[4]

---

१ ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः ॥ (काव्यप्रकाश)

२ रसस्याङ्गित्वमाप्तस्य धर्माः शौर्यादयो यथा।८।१ (सा० द०)

३ काव्यालंकार—२।३

४ ध्वन्यालोक—२।७

आचार्य मम्मट के अनुसार माधुर्य आह्लादक तथा चित्तवृत्ति में द्रुति उत्पन्न करने-वाला है।[1] यह द्रुति शृंगाररस में उत्पन्न होती है। आचार्य विश्वनाथ के मतानुसार जिसके कारण अन्तःकरण आर्द्र या पिघल जाय, वह आह्लाद विशेष माधुर्य कहलाता है। यह संभोग शृंगार में, उससे बढ़कर करुण में, उससे बढ़कर विप्रलम्भ शृंगार में और सर्वाधिक शान्त रस में उपस्थित रहता है।[2] अभिज्ञान-शाकुन्तलम् के निम्नलिखित श्लोक माधुर्यगुण से पूर्ण है :

अधरः किसलयरागः कोमलविटपानुकारिणौ बाहू।
कुसुममिव लोभनीयं यौवनमङ्गेषु सन्नद्धम् ॥१।२१

माधुर्य गुण के और भी अनेक उदाहरण कालिदास के रूपकों में द्रष्टव्य हैं।[3]

भामह के कथनानुसार ओज गुण में समास की बहुलता होती है। मम्मट का कहना है कि ओज दीप्ति से आत्मविस्तार उत्पन्न करता है तथा उसकी स्थिति वीररस में होती है।[4] आचार्य विश्वनाथ के मतानुसार ओज सहृदय की वह दीप्ति या प्रज्वलितप्रायता है जिसका स्वरूप चित्त की विस्तृति अथवा उष्णता है। यह वीर रस में, उससे बढ़कर बीभत्स में तथा उससे भी बढ़कर रौद्र में स्थित रहता है।[5] वस्तुतः इस गुण में रचना दीर्घसमासयुक्त तथा संघटन औद्धत्यपूर्ण होनी चाहिए। अभिज्ञानशाकुन्तलम् के अधोलिखित श्लोकों को पढ़ने से हृदय में उत्साह भाव उद्भूत होकर वीरत्व की अनुभूति होती है, अतः इनमें ओज गुण परिलक्षित होता है—

अनवरतधनुर्ज्या..........................।२।४।
का कथा बाणसन्धाने ज्याशब्देनैव दूरतः।
हुंकारेणैव धनुषः स हि विघ्नानपोहति ॥३।१

भामह के कथनानुसार जिसका अर्थ विद्वानों से लेकर स्त्रियों एवं बच्चों

---

१ आह्लादकत्वं माधुर्यं शृंगारे द्रुतिकारणम्। (काव्यप्रकाश ८।६८)

२ चित्तद्रवीभावमयो ह्लादो माधुर्यमुच्यते।
संभोगे करुणे विप्रलम्भे शान्तेऽधिकं क्रमात्।८।२ (सा० द०)

३ दीर्घाक्षं शरदिन्दुकान्तिवदनं..........२।३ (मालवि०)
—आभरणस्याभरणं प्रसाधनविधेः.................२।३ (विक्र०)
—सरसिजमनुविद्धं.....................१।२० (अभि० शा०)

४ दीप्त्यात्मविस्तृतेर्हेतुरोजो वीररसस्थितिः।
बीभत्सरौद्ररसयोस्तस्याधिक्यं क्रमेण च ॥—(काव्यप्रकाश)।

५ ओजश्चित्तस्य विस्ताररूपं दीप्तत्वमुच्यते ॥८।४
वीरबीभत्सरौद्रेषु क्रमेणाधिक्यमस्य तु। (सा० द०)।

तक की समझ में आ जाए उसे प्रसाद कहते हैं।[1] मम्मट ने लिखा है कि जिस प्रकार शुष्क काष्ठ अग्नि को, स्वच्छ जल मन को, अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है, उसी प्रकार जो चित्त में व्याप्त हो जाता है, उसे प्रसाद गुण कहते हैं। उसकी अवस्थिति सभी रसों में होती है।[2] इसीसे मिलता-जुलता अभिप्राय आचार्य विश्वनाथ ने भी व्यक्त किया है। उनके मतानुसार प्रसाद सहृदय-हृदय की एक ऐसी निर्मलता है जो चित्त में उसी तरह व्याप्त हो जाती है जिस तरह सूखी लकड़ी में आग। यह गुण सभी रसों एवं रचनाओं में अवस्थित रहता है।[3] अभिज्ञानशाकुन्तलम् के निम्नलिखित श्लोकों को पढ़ने मात्र से भाव का स्पष्ट बोध हो जाता है—

> अर्थो हि कन्या परकीय एव तामद्य संप्रेष्य परिग्रहीतुः।
> जातो ममायं विशदः प्रकामं प्रत्यर्पितन्यास इवान्तरात्मा ।।४।२२

ऐसे अनेक श्लोक कालिदास के रूपकों में सर्वत्र विद्यमान हैं।[4] कालिदास की सुप्रसिद्धि एवं लोकप्रियता का प्रमुख कारण उनकी प्रसादगुणविशिष्ट लालित्यपूर्ण परिष्कृत शैली है। उनकी शैली की सर्वोत्कृष्ट विशेषता यह है कि वे किसी भाव का चित्रण करते समय उसका स्पष्ट शब्दों में विशद वर्णन करने की अपेक्षा व्यंजनावृत्ति का आश्रय लेकर उसकी ओर सूक्ष्म संकेत कर देना मात्र आवश्यक समझते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि उनकी शैली संक्षिप्त तथा ध्वन्यात्मक है। रूपकों के संवादों में उनकी अभिव्यक्ति ध्वनि को पूर्णरूपेण हृदयंगम करना सहृदय व्यक्ति की सहृदयता पर निर्भर है। आनन्दवर्द्धन ने ध्वनि (प्रतीयमान अर्थ) की प्रशस्ति में लिखा है कि महाकवियों की वाणी वाच्यार्थ से भिन्न प्रतीयमान अर्थ कुछ और ही वस्तु है जो रमणियों के प्रसिद्ध मुख, नेत्र आदि अवयवों से भिन्न उनके लावण्य के समान चमकता है।[5] कालिदास की ध्वनि-शक्ति की विविध प्रशंसा अलंकार

---

१ काव्यालंकार—२।३

२ शुष्केन्धनाग्निवत्स्वच्छजलवत् सहसैव यः।
व्याप्नोत्यन्यत् प्रसादोऽसौ सर्वत्र विहितः स्थितिः ।।८।७० (का० प्र०)

३ चित्तं व्याप्नोति यः क्षिप्रं शुष्केन्धनमिवानलः ।।८।७ उत्तरार्द्ध
स प्रसादः समस्तेषु रसेषु रचनासु च। ।८।८ पूर्वार्द्ध (सा० द०)

४ तदेषा भवतः कान्ता त्यज वैनां गृहाण वा।
उपपन्ना हि दारेषु प्रभुता सर्वतोमुखी ।।५।२६ (अभि० शा०)
—भवन्ति नम्रास्तरवः..............५।१२ (वही)।

५ प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
तत् यत् प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु ।।

शास्त्रियों ने की है। यहाँ उनके रूपकों के संवादों में अभिव्यक्त कुछ ध्वन्यात्मक संदर्भ उल्लेखनीय हैं। मालविका के उपस्थित होने पर उसके दर्शन के लिए उत्कण्ठित राजा अग्निमित्र से विदूषक कहता है कि "आपकी आँखों की शहद आ गई, लेकिन उसके समीप ही मक्खी भी बैठी हुई है, अतः इस समय थोड़ी सावधानी से पीजिएगा।[1] इसी प्रकार लम्बी प्रतीक्षा के बाद जब राजा दुष्यन्त शकुन्तला को देखता है तब वह सहसा आनन्दोल्लास व्यक्त करते हुए कहता है कि मेरे नेत्रों ने निर्वाण का परमानन्द प्राप्त कर लिया है।[2] इसी प्रकार अभिज्ञानश कुन्तलम् के प्रथम अंक में "भव हृदय साभिलाषम्"—राजा दुष्यन्त के इस कथन में उसकी उत्सुकता ध्वनित होती है। "किं णु खु इमं पेक्खिअ तवोवणविरोहिणो विआरस्स गमणीअह्मि संवुत्ता"—शकुन्तला के इस कथन में उसके हृदयगतभाव नामक अंगज विकार व्यंजित हो रहा है। अनाघ्रातं पुष्पं किसलयमलूनं ………२।१० राज दुष्यन्त की इस उक्ति द्वारा शकुन्तला के कन्यात्व तथा उसके (दुष्यन्त के) द्वारा ग्रहण करने योग्य होने की ध्वनि की पूर्ण व्यंजना है। दर्भाङ्कुरेण चरणः क्षत…………२।१२ –इस कथन से शकुन्तला की उत्कण्ठातिशयता, लज्जा तथा दुष्यन्त के आश्चर्य एवं आनन्दमयता ध्वनित होती है। उर्वशी और शकुन्तला ने अपने-अपने प्रणय-पत्र में सम्पूर्ण हार्दिक भावनाओं को व्यंजित कर दिया है।[3] इसी प्रकार मालविका ने नृत्य में प्रयुक्त गीत के माध्यम से अग्निमित्र के प्रति अपने हार्दिक प्रेमभाव को व्यंजित कर दिया है।[4] अभिज्ञानशाकुन्तलम् के चतुर्थ अंक के आरम्भ में कण्व के शिष्य द्वारा किये गये प्रभातवर्णन[5] से संकेततः यह ध्वनित होता है कि सुख-दुःख का क्रम अनिवार्य है, अतः शकुन्तला पर विपत्ति आयेगी। उसका पति (दुष्यन्त) से वियोग होगा तथा उसकी स्थिति दयनीय होगी। इस नाटक के चतुर्थ अंक में शकुन्तला की पतिगृह के लिए विदाई के अवसर पर कण्व ऋषि आश्रम के वृक्षों को सम्बोधित कर कहते हैं—पातुं न

---

१ विदूषकः—(अपवार्य) उवद्धिदं णअणमहु। सणिहिदमक्खिअं अ ता अप्पमत्तो दाणिं पेहि। (मालवि० अंक २, पृ० २७)।

२ …………अये, लब्धं नेत्रनिर्वाणम्। (अभि० शा० अंक ३, पृ० १३९)।

३ सामिअ संभाविआ जह ………२।१२ (विक्र०)

णं मे लुलिअपारिजाअसअणिज्जयम्मि……२।१३ (वही)

—तुज्झ ण जाणे हिअअं मम उण……३।१३ (अभि० शा०)

४ दुल्लहो पियो मे …… ……२।४ (मालवि०)

५ यात्येकतोऽस्तशिखरं पतिरोषधीनां ……………४।२॥

—अन्तर्हिते शशिनि सैव…………४।३ (अभि० शा०)।

प्रथमं व्यवस्यति जलं.........४।९ उनके इस कथन में कालिदास की असाधारण व्यंजनाशक्ति प्रकट हुई है। इसी तरह जब शकुन्तला अपनी सखियों के हाथ मे वनज्योत्स्ना को धरोहर के रूप में रखने कहती है तब सखियों ने रोते स्वर में कहा—अयं जनः कस्य हस्ते समर्पितः। हंसपदिका के गीत से ध्वनित होता है कि राजा दुष्यन्त शकुन्तला को भूल जायगा।[1] अभिज्ञानशाकुन्तलम् के पंचम अंक में गौतमी की उक्ति पूर्णतः व्यंग्यात्मक है—

> णावेक्खिओ गुरुअणो इमाए तुए पुच्छिदो ण बन्धुअणो।
> एक्कक्कस च चरिए भणामि किं एक्कमेक्कस ॥५।१६॥

इसकी ध्वनि यह है कि तुम दोनों के द्वारा एकान्त स्वतंत्रता तथा स्वेच्छा पूर्वक किये गये कार्य के लिए मैं तुम दोनों के प्रति क्या कहूँ? तुम दोनों का कर्त्तव्य हो जाता है कि अपने किए हुए को निभाओ। इसी तरह राजा दुष्यन्त से शार्ङ्गरव की उक्ति ध्वनिपूर्ण है—आजन्मनः शाठ्यमशिक्षितः.......५।२५। इसका भाव यह है कि शकुन्तला का कहना सत्य है तथा वास्तव में तुम ही असत्यवादी हो। षष्ठ अंक में कोतवाल हँसकर धीवर को कहता है—तुम्हारी बड़ी पवित्र आजीविका है।[2] धीवर जब राजा दुष्यन्त के यहाँ से निर्दोष छूट जाता है तब वह उसके व्यंग्य का जवाब व्यंग्य के साथ कहता है कि 'मेरी आजीविका कैसी है?[3] इस प्रकार यहाँ व्यंग्य पर व्यंग्य है। ऐसे ध्वान्यात्मक वाक्यों से इनके रूपकों के सम्वाद भरे हैं। हम देखते हैं कि कविकुल गुरु कालिदास ने अपने रूपकों में ध्वन्यात्मक शैली में विषय का मार्मिक वर्णन करके अपने नाट्यकौशल का परिचय दिया है। वस्तुतः उनके व्यंग्यपूर्ण कथन सहृदयजन संवेद्य हैं। वस्तुतः यही व्यंजनाशक्ति काव्य नाटक तथा चित्र, नृत्य, संगीतादि कलाओं का असली मर्म है। कालिदास की व्यंजनाशक्ति का प्रभाव परवर्ती साहित्यशास्त्रियों पर पर्याप्त पड़ा है।

अलंकार काव्य-शरीर का उपस्कर है। आचार्यों ने सर्वप्रथम नाट्य-रचना को सुन्दर एवं सुव्यवस्थित बनाने के लिए अलंकार-योजना की संस्तुति की थी, परन्तु बाद में सभी काव्यविधाओं में उनके प्रयोग होने लगे। भरत द्वारा कल्पित नाट्य-लक्षणों एवं नाट्यालंकारों के आधार पर परवर्ती आचार्यों ने करीब एक सौ से अधिक अलंकारों की कल्पना कर ली है। उनकी दृष्टि में ये अलंकार

---

१ अहिणवमहुलोलुवो.....................५।१॥ (वही, अंक ५, पृ० २२७)।

२ श्यालः (विहस्य) विसुद्धो दाणि आजीवो। (अभि० शा०, अंक ६, पृ० ३३३)

३ पुरुषः—(श्यालं प्रणम्य) भट्टा अह कीलिशे मे आजीवे।

नाट्यरूप या काव्यरूप में चमत्कार विधायक होते हैं।[1] उदाहरणस्वरूप द्रष्टव्य है कि भरतमुनि के उदाहरण से दृष्टान्त, हेतु से काव्यलिंग, संशय से संदेह, प्राप्ति से अनुमान आदि अलंकारों का विकास हुआ। भरत ने उपमा, रूपक, दीपक तथा यमक चार अलंकारों को ही नाटक के लिए उपयोगी माना है।[2] नाट्यरचना को समलंकृत करने तथा नाट्यगत रस को अत्यधिक प्रभावशाली बनाने के उद्देश्य से अलंकारों की योजना करनी चाहिए। इसीलिए भरतमुनि ने विभिन्न रसों के लिए विभिन्न अलंकारों के प्रयोग का विधान किया है।[3] उनके कथनानुसार लघु-अक्षरों से युक्त उपमा तथा रूपक का प्रयोग वीर, रौद्र और अद्भुत रस के काव्य में तथा शृंगार रस की रचनाओं में रूपक और दीपक से युक्त आर्या छन्द का प्रयोग करना चहिए।[4]

कालिदास की नाट्य-शैली अलंकारयुक्त है। उन्होंने अपने तीनों रूपकों में परवर्ती काव्यशास्त्रों में वर्णित रूपक, उत्प्रेक्षा आदि प्रमुख अलंकारों का प्रयोग किया है। भाव-सौन्दर्य की परिवृद्धि तथा रसपरिपाक के लिए ही उन्होंने अनेक अलंकारों का प्रयोग किया है। उनकी भाषा में अलंकार स्वभावतः ही आ गये हैं। महाकवि माघ की भाँति पाण्डित्य प्रदर्शन के लिए कहीं भी कृत्रिम तथा अस्वाभाविक प्रयोग इन्होंने नहीं किया है। वस्तुतः उनका उद्देश्य ही था—'किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्।' उन्होंने शब्दालंकार एवं अर्थालंकार दोनों का

---

१ शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्माः शोभातिशायिनः।
रसादीनुपकुर्वन्तोऽलङ्कारास्तेऽङ्गदादिवत्।१०।१ (सा० द०)
—उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्।
हारादिवदलंकारास्तेऽनुप्रासोपमादयः।।१०।१ (काव्यप्रकाश)
काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते॥ (काव्यादर्श)

२ उपमा रूपकं चैव दीपक यमकं तथा।
अलंकारास्त विज्ञेयाश्चत्वारो नाटकाश्रयाः॥१७।४३॥ (ना० शा०)

३ लघ्वक्षरप्रायकृतं उपमारूपकाश्रयम्!
काव्यवार्ये तु काव्यज्ञैः वीररौद्राद्भुताश्रयम्॥१७।१०९॥
रूपदीपकसंयुक्तम् आर्यावृत्तसमाश्रयम्।
शृंगारे रसकार्यं तु काव्यं स्यान्नाटकाश्रयम्॥१७।१११॥ (ना० शा०)।

४ ....
निर्ह्रादिन्युपहितमध्यमस्वरोत्था मायूरी मदयति मार्जना मनांसि॥१।२९
(मालवि०)

प्रयोग किया है। उनके सर्वाधिक प्रिय अलंकार में उपमा, उत्प्रेक्षा, दृष्टान्त, अर्थान्तरन्यास, स्वभावोक्ति तथा अप्रस्तुत प्रशंसा हैं। इन अलंकारों के अलावे निदर्शना, विभावना, विशेषोक्ति, समासोक्ति, विरोधाभास एवं अनुमान आदि अलंकारों का इन्होंने पर्याप्त प्रयोग किया है। यहाँ उदाहरणस्वरूप उनके प्रयुक्त कुछ अलंकारों का विवेचन अपेक्षित है।

कालिदास ने शब्दालंकारों का प्रयोग बहुत स्वाभाविक ढंग से किया है। नाद-सौन्दर्य की उत्पत्ति के लिए अनुप्रास अलंकार की मनोरम योजना उनके रूपकों में हुई है। अनायास उनकी रचनाओं में यत्र-तत्र 'यमक' अलंकार प्रयुक्त हुए हैं। श्लेष अलंकार के प्रयोग में कालिदास ने अपने विशिष्ट बुद्धि-कौशल का परिचय दिया है।[1] मालविकाग्निमित्र में चन्द्रिका[2] शब्द श्लेष की तरह ही बकुलावलिका[3] ध्रुवसिद्धि प्रियम्वदा[4] आदि पात्रों के नाम भी विशिष्ट अर्थ से पूर्ण हैं। पात्रों के संवाद में नाटककार ने इसे स्पष्ट किया है।

वाचिक रसोत्पत्ति में सहायक मानकर कालिदास ने वक्रोक्ति का अत्यन्त पटुता के साथ प्रयोग किया है। वक्रोक्ति के अन्तर्गत सम्पूर्ण वाग्वैदग्ध्यपूर्ण कथन का समावेश हो जाता है। मालविकाग्निमित्रम् में इरावती के कथन में वक्रोक्तियों की अधिकता है।[5] अभिज्ञानशाकुन्तलम् के द्वितीय अंक में विदूषक का यह कथन वक्रोक्तिपूर्ण है—जह कस्स वि पिण्डखज्जूरेहिं उब्वेजिदस्स तिन्तिणीए अहिलासो भवे, तह इत्थिआरअणपरिभाविणो भवदो इमं अब्भत्थणा। सौन्दर्य-विवृत्ति में अधिक महत्त्व रखने के कारण कालिदास ने वस्तुतः शब्दालंकारों से अधिक अर्थालंकारों का विशेष प्रयोग किया है। डा० कीथ के कथनानुसार वे स्वभावोक्ति अलंकार

---

१ विदूषकः—भो विस्सद्धो भविअ इमं जोव्वणवदिं पेक्ख।
देवी— कं?
विदूषक—तवणीआसोअस्स कुसुमेहिं (मालवि० अंक ५, पृ० ३४५)।

२ विदूषक—अहो कुम्भीलएहिं कामुएहिं अ पलिहलणिज्जा खु चन्दिआ।
(मालवि० अं० ४, पृ० २७४)

३ वकुलावलिका—विभद्दसुरही वउलावलिअ खु अहं (वही, अंक ३ पृ० २०९)।

४ शकुन्तला—अदो क्खु पिअंवदा सि तुमं (अभि० अंक १, पृ० ४७)।

५ इरावती—(राजानं सहसोपसृत्य) अवि णिव्विग्घमणोरहो दिवा सङ्केदो मिहुणस्स।
इरावती—वउलावलिए दिट्ठिआ दोच्चहि आरविसआ संपुण्णा दे पडिण्णा।
इरावती—कुविदावि दाणी किं करिस्सं (मालवि० अंक ४, पृ० ३०७ से ३१०)।

के निबन्धन में श्रेष्ठ हैं।[1] भागते हुए मृग का पीछा करते हुए दुष्यन्त के वर्णन में स्वभावोक्ति अलंकार की छटा दर्शनीय है।[2] यों औपम्यगर्भ अलंकारों के प्रयोग में उनकी विशेष रुचि मालूम पड़ती है। इनमें उत्प्रेक्षा[3], दृष्टांत[4], अप्रस्तुतप्रशंसा[5] अर्थान्तरन्यास[6] इत्यादि अलंकारों के निबन्ध में इन्हें विशेष सफलता मिली है। अर्थान्तरन्यास में उनके व्यावहारिक अनुभवों का सार तत्त्व सरस एवं सारगर्भित भाषा में अंकित हुआ है। उनमें से कई अलंकार कहावतों की तरह व्यावहारिक भाषा में प्रचलित हो गये हैं। यथा—अचेतनं नाम गुणं न लक्षयेत्; अज्ञातहृदयेष्वेव वैरीभवति सौहृदम्, अतिस्नेहः पापशङ्की, अनार्यः परदारव्यवहारः, अनिर्वर्णनीयम् परकलत्रम्, अहो कामी स्वतां पश्यति; सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तः-करणप्रवृत्तयः; भवितव्यतानां द्वाराणि भवन्ति सर्वत्र इत्यादि अनेक उदाहरण उनकी रचनाओं में उपलब्ध हैं। अर्थान्तरन्यास के अतिरिक्त कालिदास ने अपने रूपकों में निदर्शना, अन्योक्ति, अतिशयोक्ति, पर्याय, समुच्चय, संदेह, विभावना, विशेषोक्ति, समासोक्ति, विरोधाभास, अनुमान, व्यतिरेक आदि अर्थालंकारों का प्रयोग किया है। किसी-किसी श्लोक में तो एक साथ अनेक अलंकारों का मिश्रित प्रयोग हुआ है[7]।—

चलापाङ्गां दृष्टिः स्पृशसि बहुशो वेपथुमतीं
रहस्याख्यायीव स्वनसि मृदु कर्णान्तिकचरः।
करौ व्याधुन्वन्त्याः पिबसि रतिसर्वस्वमधरं
वयं तत्वान्वेषान्मधुकर हतास्त्वं खलु कृती ॥

१।२४॥ (अभि० शा०)

इस श्लोक में विभावना, उत्प्रेक्षा, समासोक्ति, व्यतिरेक, भ्रान्तिमान, काव्यलिंग; आदि अनेक अलंकार प्रयुक्त हुए हैं, यद्यपि कालिदास अर्थान्तरन्यास के प्रयोग में

---

१ संस्कृत नाटक, हिन्दी अनुवाद—पृ० १६२।

२ ग्रीवाभङ्गाभिरामं मुहुरनुपतति..........१।७ (अभि० शा०)।
—१।८, १।१४, १।३० (वही)

३ अपसृतपाण्डुपत्रा मुञ्चन्त्यश्रूणीव लताः। (अभि० शा०, अंक ४)।

४ मानुषीषु कथं वा स्यादस्य रूपस्य संभवः। न प्रभातरलं ज्योतिरुदेति वसुधातलात् ॥ १।२६, (अभि० शा०)

५ शुद्धान्तदुर्लभमिदं वपुराश्रमवासिनो यदि जनस्य।
दूरीकृताः खलु गुणैरुद्यानलता वनलताभिः ।१।१७ (अभि० शा०)

६ सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि..............१।२० (वही)।

७ अभि० शा०—२।१२, ३।७, ३।१५, ४।३, ४।११, तथा ४।१८

कुशल हैं फिर भी आलोचकों की दृष्टि में वस्तुतः उनकी उपमा सर्वोत्तम है।[1] इनकी उपमाओं में न तो महाकवि माघ की तरह वेढवपन तथा न श्रीहर्ष की तरह दुरूहता अथवा अस्वाभाविकता है। इनकी उपमाएँ निरुपम हैं। ये स्त्रीलिङ्ग-पुंल्लिग तक का ठीक-ठीक विचार कर उपमानोपमेय लाते हैं, अन्यान्य कवियों में इसका बिलकुल अभाव है। यथा—

तवास्मि गीतरागेण हारिणा प्रसभं हृतः।
एष राजेव दुष्यन्तः सारंगेणातिरंहसा ॥ १।५ (अभि० शा०)

यहाँ सारंग पुंल्लिग है तो राग भी वही है। राजा दुष्यन्त उपमान है तो वही स्वयं उपमेय भी। इसी तरह— गच्छति पुरः शरीरं धावति ········१।३४ (अभि० शा०) में लिंगसाम्य तथा अलौकिक प्रकृतिनिरीक्षण व्यक्त हुआ है। उनकी उपमाएँ सुन्दर, सरस एवं स्वाभाविक हैं।[2] उनमें उपमा-सौष्ठव सम्बन्धी सभी विशेषताएँ विद्यमान हैं। उनकी सारी उपमाएँ वर्णन में चमत्कार पैदा करने वाली तथा काव्य में सौन्दर्य की वृद्धि करने वाली हैं। साथ ही उनमें नयी-नयी कल्पनाएँ दृष्टिगत होती हैं। ये उपमाएँ अन्तर्जगत् एवं वाह्य जगत् से तथा ज्ञान एवं जीवन के प्रत्येक क्षेत्र से संचित हैं। कहीं-कहीं मूर्त्त से अमूर्त्त[3] या अमूर्त्त से मूर्त्त की उपमा भी इनकी रचनाओं में मिलती है। कालिदास द्वारा प्रयुक्त उपमाओं को चार वर्गों में विभक्त किया गया है[4]--(१) सृष्टिपदार्थीय, (२) शास्त्रीय, (३) आध्यात्मिक (४) व्यावहारिक। इनकी उपमाएँ वर्णन करने योग्य वस्तु का वास्तविक स्वरूप प्रस्तुत करने में समर्थ होती हैं।[5] कालिदास ने प्रसंग तथा पात्र के अनुरूप उपमाएँ दी

१ उपमाकालिदासस्य।

२ अनाघ्रातं पुष्पं किसलयमलूनं··········२।१० (अभि० शा०)
—इदमुपनतमेव··········५।१९ (वही)
—अधरः किसलयरागः··········१।२१ (वही)
—वाष्पासारा हेमकांचीगुणेन··········३।२१ (मालवि०)
—मामियमभ्युत्तिष्ठति देवी विनयादनुत्थिता प्रियया।
विस्मृतहस्तकमलया नरेन्द्रलक्ष्म्या वसुमतीव ॥५।६ (मालवि०)
—दिष्ट्या शकुन्तला साध्वी सदपत्यमिदं भवान्।
श्रद्धा वित्तं विधिश्चेति वितयं तत् समागतम् ॥ (अभि० शा०; अंक ७)।

३ उभावभिनयाचार्यौ परस्परजयोद्यतौ।
त्वां द्रष्टुमिच्छतः साक्षाद्भावाविव शरीरिणौ।१।१० (मालवि०)

४ वा० वि० मिराशी।—कालिदास—पृ० २२९-२३०।

५ कुसुममिव लोभनीयं यौवनम्—१।२१ (अभि० शा०)
—मध्ये तपोधनानां किसलयमिव पाण्डुपत्राणाम् (वही, अंक ५)

है।[1] इस सोदाहरण विवेचन से कालिदास के रूपकों में उनकी अलंकार-योजना का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है।

कालिदास ने अपने रूपकों के संवादों में गद्य एवं पद्य दोनों शैलियों का कुशलतापूर्वक प्रयोग किया है। यथाप्रसंग यहाँ उनकी दोनों शैलियों पर विचार किया जाता है। रूपकों के संवादों के अध्ययन से पता चलता है कि उनका गद्य एवं पद्य पर समान अधिकार है। उनका गद्य बाणभट्ट के गद्य से सर्वथा भिन्न है। उनका गद्य महाभाष्यकार की तरह प्रसन्न, भास के गद्य की तरह सरल, किन्तु उनसे अधिक परिमार्जित तथा शिष्टजनोचित है। उनका यह परिष्कार न केवल संस्कृत बल्कि प्राकृत में भी दृष्टिगत होता है।[2]

संस्कृत गद्य की तीन शैलियाँ हैं—(१) उपनिषदों एवं ब्राह्मणों का गद्य, (२) बाणभट्ट, सुबन्धु आदि की अलंकृत काव्यात्मक शैली, तथा (३) दार्शनिक शैली। इस प्रथम कोटि का गद्य, जो प्रांजल, परिष्कृत एवं आकर्षक है, कालिदास के रूपकों में प्रयुक्त हुआ है। उनके गद्य को देखकर कहा जा सकता है कि यह एक उत्कृष्ट गद्यकार का सुरुचिपूर्ण विन्यास है। वस्तुतः उन्हें भाषा के सूक्ष्म प्रभावों का संयत ज्ञान है। इनके रूपकों के पात्रों के कथनोपकथन में एक वक्रता विद्यमान है।[3] कालिदास के समय में संस्कृत का वह स्थान नहीं रह गया था जो ब्राह्मण काल में था। उनके समय में भिन्न-भिन्न विषयों के स्वतंत्र मौलिक चिन्तन के फलस्वरूप भाषा में भी विभिन्नता तथा साधुता का विकास हो रहा था। इसका स्पष्ट प्रमाण अभिज्ञानशाकुन्तलम् के सूत्रधार का प्रारम्भिक वाक्य-विन्यास है।[4] रुचि एवं प्रकृति की दृष्टि से यह एक वर्गविशेष की भाषा मालूम पड़ती है। वर्गविशेष की प्रतिनिधि भाषा होने पर भी उसमें कहीं भी कृत्रिमता नजर नहीं आती है। उनके पद्यों की भाषा इसी का संयत एवं परिष्कृत रूप है।

१ निपुणिका—(परिक्रम्यावलोक्य च) भट्टिणी एसो दुवारूच्छङ्गे समुद्दघरस्स विवणिगदो विअ वुसहो अज्जगोदमो आसीणो एव्व णिद्दाअदि।

२ विदूषकः—(निःश्वस्य) भो दिट्ठं एदस्स मअआसीलस्स रण्णो वअस्सभावेण णिव्विणो म्हि।..................ज इ एव्व विणाम विस्समलहअं।

(अभि० शा० अंक २, पृ० ८७)।

३ अनसूया—पहिवुद्धा वि किं करिस्सं ? ण मे उइदेसु वि..........इत्यंगदे अम्हेहिं किं करणिज्जं ? (अभि० शा० अंक ४, पृ० २०३)।

४ सूत्रधार—आर्ये ! अभिरूपभूयिष्ठा परिषदियम्। अद्य खलु कालिदासग्रथितवस्तुनाभिज्ञानशाकुन्तलनामधेयेन नवेन नाटकेनोपस्थातव्यमस्माभिः। तत् प्रतिपात्रमाधीयतां यत्नः। (अभि० शा०, अंक १, पृ० ८)

महाकवि कालिदास ने गद्य के साथ पद्यशैली का भी प्रयोग अपने रूपकों में किया है। उनके पद्यों में शाश्वतप्रमोदोत्पादन की शक्ति है। संस्कृत काव्याकाश के ये पूर्णचन्द्र थे संस्कृत भाषा पर उनका असामान्य अधिकार था। अपने पद्यों में उन्होंने चुन-चुन कर सरल, किन्तु सरस तथा प्रसङ्गानुरूप शब्दों को रखा है। उनकी प्रतिभा एवं कल्पना सर्वतोमुखी थी। उनके वर्णन का ढंग अत्यन्त कलात्मक तथा हृदयस्पर्शी है। अपने प्रयोजन के अनुकूल उन्होंने व्याकरण, ज्योतिष, अलंकारशास्त्र नीतिशास्त्र, संगीतशास्त्र, आयुर्वेद, वेदान्त, सांख्य, पदार्थविज्ञान, इतिहास तथा पुराण आदि से तथ्यों को ग्रहण कर नाटकीय संवादों में उनका उपयोग किया है। इनके नाटकीय पद्यों में संक्षिप्तता, गम्भीरता एवं गौरव तीनों गुण विद्यमान हैं।

इनके रूपकों में नाटकीय सवादों को प्रभावोत्पादक बनाने के लिए छन्दोयोजना का शास्त्रीय विधान किया गया है। विभिन्न रसों की अभिव्यंजना के लिए तदनुकूल विभिन्न छन्दों के प्रयोग के सम्बन्ध में महाकवि क्षेमेन्द्र ने अपने सुवृत्त-तिलक में लिखा है कि रस तथा वर्णनीय वस्तु के अनुसार इनका प्रयोग करना चाहिए।[1] कालिदास ने अपने रूपकों के संवादों में सतर्कतापूर्वक छन्दों का प्रयोग किया है। उन्होंगे किसी निश्चित प्रसंग में निश्चित छन्दों का प्रयोग किया है। इसके आधार पर अनुमानतः कहा जा सकता है कि वे कुछ विशेष छन्दों को कुछ विशेष भावों एवं रसों के उपयुक्त समझते थे। उन्होंने निम्नलिखित छन्दों का प्रयोग अपने तीनों रूपकों में किया है—अनुष्टुप्, अपरवक्त्र, आर्या, इन्द्रवज्रा, उद्गाथा (गीत), उपजाति, द्रुतविलम्बित, पथ्यावक्त्र, पुष्पिताग्रा, प्रहर्षिणी, पृथ्वी, मन्दाक्रान्ता, मञ्जुभाषिणी, मालभारिणी, (औपच्छन्दसिक), मालिनी, रथोद्धता, रुचिरा, वंशस्थ, वसन्ततिलका, वियोगिनी (वैतालीय), शार्दूलविक्रीडित, शालिनी, शिखरिणी, सुन्दरी, स्रग्धरा, हरिणी। इन लौकिक छन्दों के अतिरिक्त उन्होंने त्रिष्टुप् नामक वैदिक छन्द का भी प्रयोग किया है।[2] विभिन्न भाव एवं रसानुरूप उनके प्रयुक्त छन्दों के विश्लेषणात्मक अध्ययन से हम उनकी छन्दोयोजनाविषयक धारणा के सम्बन्ध में तथ्यपूर्ण निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि लम्बी कथा को संक्षिप्त करने तथा उपदेश देने मे अनुष्टुप्, तपस्या, नायक-नायिका का सौन्दर्य तथा वंश-

१ काव्ये रसानुसारेण वर्णनानुगुणेन च।
कुर्वीत सर्ववृत्तानां विनियोगं विभागवित्। (सुवृत्ततिलक)

२ काश्यपः—(ऋक्छन्दसा आशास्ते) वत्से! अमीवेदों परितः………४।८॥
(अभि० शा०)।

वर्णन में उपजाति; वीरता के प्रकरण में वंशस्थ, करुणरस में वैतालीय; समृद्धि के वर्णन में द्रुतविलम्बित; काम-क्रीड़ा, मृगया आदि के वर्णन में रथोद्धता; प्रवास, विपत्ति तथा वर्षा के वर्णन में मन्दाक्रान्ता; सर्गान्त में मालिनी; हर्षपूर्णवर्णन में प्रहर्षिणी; नायक के अभ्युदय तथा सौभाग्यवर्णन में हरिणी; कार्यसफलता के वर्णन में वसन्ततिलका; सफलतार्थ प्रस्थान या प्राप्ति में पुष्पिताग्रा; कृत-कृत्यता में शालिनी, वीरता प्रदर्शन में औपच्छन्दसिक; वीरता आदि के वर्णन में शार्दूल-विक्रीडित का प्रयोग किया गया है। क्षेमेन्द्र ने कालिदास की छन्दोयोजना के सम्बन्ध में कहा है कि जैसे अच्छा घुड़सवार अच्छी कम्बोजी घोड़ी को अपने वश में करके उस पर सवारी करता है वैसे ही कालिदास भी मन्दाक्रान्ता को अपने वश में किये हुए हैं। सुन्दर वर्णवाले प्रबन्ध-काव्यों में छन्द का प्रयोग उसी तरह कलात्मक ढंग से करना चाहिए, जैसे सोने में यथास्थान रत्न जड़े जाते हैं।[1] छन्दों का प्रयोग उन्होंने यथावसर स्वाभाविक ढंग से किया है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि कालिदास की भाषा-शैली सरल, सरस, परिष्कृत एवं प्रांजल है। इनकी भाषा में मनोरमता के साथ स्वाभाविक प्रवाह है। इनके सरस एवं छोटे-छोटे छन्द सहृदय सामाजिक के मानस में अमन्द आनन्द की धारा प्रवाहित करते हैं। इससे संगीत साकार हो जाता है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि भाषा पर कालिदास का असामान्य अधिकार है। वस्तुतः ये संस्कृत नाट्य-साहित्य में शीर्षस्थानीय नाटककार हैं। इसीलिए इनकी सर्वोत्कृष्ट रचना अभिज्ञानशाकुन्तलम् के सम्बन्ध में यह कथन प्रचलित है—

"काव्येषु नाटकं रम्यम् तत्र रम्या शकुन्तला।
तत्रापि चतुर्थोऽङ्कः यत्र याति शकुन्तला॥"

जर्मन विद्वान् गेटे ने तो आनन्दविभोर होकर कहा कि यदि यौवन-वसन्त का पुष्प-सौरभ तथा प्रौढ़त्व, ग्रीष्म का मधुर फल-परिपाक एकत्र देखना चाहते हो, अथवा अन्तःकरण को अमृत के समान संतृप्त एवं मुग्ध करनेवाली वस्तु का अवलोकन करना चाहते हो, अथवा स्वर्गीय सुषमा एवं पार्थिव सौन्दर्य इन दोनों के अभूतपूर्व

---

१ सुवशा कालिदासस्य मन्दाक्रान्ता प्रवलाति।
सदश्वदमनस्येव कम्बोजतुरगाङ्गना॥
सुवर्णार्हप्रबन्धेषु यथास्थान-निवेशिनाम्।
रत्नानामपि वृत्तानां भवत्यभ्यधिका रुचिः॥ (सुवृत्ततिलक)।

सम्मिलन की अपूर्व झांकी देखना चाहते हो तो एक वार अभिज्ञानशाकुन्तलम् का अनुशीलन एवं मनन करो।[1]

---

१ "Wouldst thou the young year's blossoms and the fruits
of its decline,
And all by which the soul is charmed,
enraptured feasted, fed ?
Wouldst thou the earth and heaven itself
in one soul name combine ?
I name thee, O Shakuntala and all at once is said".

नवम-अध्याय

उपसंहार

कालिदास की नवीनताएँ

कविकुल गुरु कालिदास भारत के ही नहीं, अपितु संसार के नाट्यकर्ताओं में अग्रगण्य एवं सम्मान्य हैं। उनकी कीर्तिलता का विस्तार सम्पूर्ण विश्व में है। उनकी रचनाएँ सारे संसार में आध्यात्मिक आलोक के प्रसार के लिए पर्याप्त हैं। उनका अध्ययन कर पाठक आनन्दसागर में निमग्न हो जीवन की सुशिक्षा से संतृप्त हो जाते हैं। वस्तुतः उनकी तरह निखिल ब्रह्मांडव्यापिनी सर्वातिशायिनी प्रतिभा विश्व में अन्यत्र दुर्लभ है।

ऊपर के अध्यायों में उनकी नाट्यकला एवं नाट्यरचनाओं की कतिपय विशेषताओं का विश्लेषणात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। भारतीय नाट्याचार्यों एवं उनकी रचनाओं की सुदीर्घ परम्परा के अध्ययन से पता चलता है कि संस्कृत में नाट्यशास्त्रीय चिंतन अत्यधिक समृद्ध है। अभी भरत का नाट्यशास्त्र ही प्राचीनतम नाट्यसिद्धान्त सम्बन्धी ग्रन्थ उपलब्ध है। इसके विकसित एवं प्रांजल स्वरूप को देखने से स्पष्ट है कि इसके पूर्व भी कई नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थ रचित हुए होंगे। इन नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थों से पूर्व अनेक उच्च कोटि के रूपकों की रचना हुई होगी, क्योंकि समृद्ध लक्ष्य ग्रन्थों के आधार पर लक्षण ग्रन्थों का निर्माण संभव है।

भरत के नाट्यशास्त्र में नाट्यशास्त्र के ऐतिहासिक, रचनात्मक, अभिनयात्मक एवं रसात्मक पक्षों का संगठित रूप से व्यापक तथा वैविध्यपूर्ण विवेचन किया गया है। कालिदास के समय तक भारतीय समाज में इसकी प्रतिष्ठा अत्यन्त प्रामाणिक एवं पवित्र नाट्यवेद के रूप में हो चुकी थी। अतः कालिदास की नाट्यकृतियों पर इसका सर्वत्र प्रभाव परिलक्षित होता है।

संभवतः महाकवि भास के रूपकों पर भी इसका प्रभूत प्रभाव हो। यह तो निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि कालिदास ने इसी महान् नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थ के निर्देशन में अपने रूपकों की सृष्टि की है। किन्तु इसके निर्देशन में नाट्यग्रन्थन करने पर भी असाधारण प्रतिभा के बल पर अपनी नाट्यविषयक धारणाओं को इन्होंने नूतन प्रयोगात्मक स्वरूप प्रदान किया। इनके इस नूतन आलोक में

परवर्त्ती नाटककारों ने अपने रूपकों की रचना की। अनेक परवर्ती नाट्यशास्त्रीय लक्षणग्रन्थों पर भी इनके प्रयोग का अद्भुत प्रभाव पड़ा। साहित्यिक विकास की दृष्टि से कालिदास का युग अपूर्व था। आर्यजाति की विकसित सामाजिक एवं सांस्कृतिक चेतना की अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में कालिदास ने लोकानुरंजनी एवं सर्वसमाराधिनी नाट्यकला को व्यवस्थित प्रयोगात्मक रूप प्रदान किया। उन्होंने भारतीय जीवन के सुन्दर, भव्य, उदात्त एवं श्रेष्ठ तत्त्वों को नाट्यकला के माध्यम से अभिव्यक्त किया। उनके रूपकों में सम्पूर्ण ललित कलाओं का सन्निवेश कलात्मक ढंग से हुआ। कहने का तात्पर्य है कि उन्होंने अपने रूपकों में काव्य, नृत्य, संगीत, चित्र आदि सभी कलाओं का सन्निवेश कर उसे पूर्ण बनाया है। इसका विशद विवेचन प्रथम अध्याय में किया गया है। भारतवर्ष की सामाजिक एवं सांस्कृतिक चेतना के इतिहास में कालिदास का व्यक्तित्व और कर्त्तव्य विलक्षण है। *इनका नाट्य-प्रयोग शताब्दियों से सारे विश्व की नाट्य एवं काव्यकला को* प्रेरित करता आ रहा है। इस दृष्टि से इनका वाल्मीकि एवं व्यास की तरह ऐतिहासिक महत्त्व है।

कालिदास ने नाट्यशास्त्र को प्रयोग-प्रधान बताया है—"प्रयोगप्रधानं हि नाट्यशास्त्रम्।" इसीलिए उन्होंने अपने नाट्यप्रयोग में शास्त्रीय नियमों के परिपालन के साथ-साथ उन्हें अभिनेय भी बनाया है। उन्होंने नाट्य के विविध प्रकारों का भी प्रयोग किया है। स्पष्ट है कि उन्होंने तीन अर्थों में नाट्य-प्रयोग शब्द लिखा है—प्रयुज्यते इति प्रयोगः (नाट्य-प्रकार), प्रयुज्यते निवर्त्यते इति प्रयोगः (नाट्य शास्त्र) तथा प्रयुक्तिः प्रयोगः (अभिनय)। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि उनके रूपक उनके प्रयोग-विज्ञान के स्फुट व्यक्त रूप हैं। रूपकों में इस प्रकार नाट्य-शास्त्रीय तत्त्वों की अभिव्यक्ति इनके पूर्ववर्त्ती या परवर्ती किसी रूपक मे दृष्टिगत नही होती है। इनका नाट्य-प्रयोग अपने ढंग का अनूठा है। वे जनमनोरंजन एवं विद्वत्प्रशंसा को नाट्य सिद्धि की कसौटी मानते हैं। इससे विदित होता है कि उनके समय में सिद्धान्त से अधिक प्रयोग का महत्त्व दिया जाता होगा। उनके रूपकों में नाट्य एवं रूपक, नाट्य का स्वरूप, उससे सम्बद्ध नृत्य एवं नृत्त, नाट्योत्पत्ति, नाट्योद्देश्य, नाट्यपरिधि, नाट्य-प्रयोग-विज्ञान, नाट्यार्थ, नाट्योपकरण, एवं रंग शिल्पी, नाट्य-सिद्धि, नाट्यशाला आदि नाट्य-तत्त्वों का विवेचन किसी-न-किसी रूप मे मिल जाता है। उसके आधार पर तद्विषयक उनकी धारणा परिव्यक्त हो जाती है। ऊपर इन सब पर सांगोपांग प्रकाश डाला गया है। कालिदास की दृष्टि में नाट्य देवताओं के नेत्रों को सुन्दर लगने वाला चाक्षुष यज्ञ है। स्वयं रुद्र ने उमा को अपने शरीर में मिला कर इसे दो भागों में विभक्त कर दिया है—

ताण्डव एवं लास्य। इसमें सत्त्व, रज एवं तम इन तीन गुणों से निर्मित लोगों के चरित अनेक रसों में दृष्टिगत होते हैं। इसलिए भिन्न-भिन्न रुचि वाले लोगों के लिए यह एक नाना प्रकार का मनोरंजन है। अर्थात् इस एक ही नाट्योत्सव में अनेक प्रकार के आनन्द (रस) मिलते हैं।[1] उनके विचार से भाव, रस तथा अभिनय तीनों का समन्वित रूप नाट्य है। उन्होंने धर्म, अर्थ एवं काम इन त्रिवर्गों को अपने रूपकों में प्रतिपादन का विषय बनाया है। लोक के विविध भावों एवं अवस्थाओं का अनुकीर्त्तन स्वत: इनके रूपकों में हो गया है। इनके रूपकों में भोग-विलास, युद्ध, मृगया, हास्य, धर्म, अर्थज्ञान, योग तथा शान्ति आदि का विवरण मिलता है। इन रूपकों से केवल विनोद ही नहीं मिलता है, अपितु जीवन के लिए बहुत बड़ा उपदेश मिलता है। उसका अभिनय देख कर सामाजिक स्वत: अपने चरित को सुधारने की कोशिश करता है। उन्होंने अतिकलात्मकता के साथ सुख-दुःखात्मक संसार का अपने नाटकों में प्रदर्शन किया है। इससे परमविश्रान्ति भी मिलती है। स्पष्ट है कि कालिदास के विचार से लोकरंजन, लोकहित एवं लोकविश्रान्ति नाट्य का उद्देश्य है।

कालिदास ने अपने रूपकों में उत्तम, मध्यम तथा अधम तीनों प्रकार के मनुष्यों, देवताओं, राक्षसों, राजाओं, गृहस्थों, तपोवनवासियों एवं ब्रह्मर्षियों के वृत्तान्त का प्रदर्शन किया है। कहने का तात्पर्य है कि सुख-दुःख समन्वित लोगों के स्वभाव एवं व्यवहार का आंगिक, वाचिक आदि अभिनय ही उनकी दृष्टि में नाट्य का असल उद्देश्य है। सब प्रकार के लोगों के चरितों के स्वाभाविक अभिनय से सबको विनोद, उपदेश एवं विश्रान्ति मिलती है। सचमुच इनका नाटक धर्म, यश, आयु, कल्याण एवं बुद्धि-विवर्धन करने वाला, श्रुति, स्मृति, सदाचार की परिकल्पना करने वाला और लोकसमाराधन करने वाला है।

कालिदास ने चराचर विश्व के प्राणियों के क्रिया कलाप को नाट्य-परिधि के अन्तर्गत समाहित किया है। इसमें हर प्रकार के लोगों की क्रियाओं का विधान है। इसलिए इनके नाटक के अन्तर्गत सभी ज्ञान, शिल्प, विद्या, कला एवं शास्त्रों का सन्निवेश हुआ है। विविध योग एवं कर्मों का इसमें दर्शन हुआ है। कालिदास ने अपने रूपकों में मनुष्यों के साथ पशुपक्षियों के भावों एवं क्रियाओं का भी प्रदर्शन किया है। उन्होंने देवप्रकृति, मानवप्रकृति तथा पशुप्रकृति के साथ पेड़-पौधों जैसी जड़-प्रकृति का भी अपने रूपकों में सन्निवेश कर सबमें समन्वय स्थापित किया है। थोड़े में, हम कह सकते हैं कि कालिदास ने वाह्य प्रकृति के साथ मनुष्य

---

१ मालविकाग्निमित्रम् । १।४।

की अन्त प्रकृति का सामंजस्य स्थापित कर सही अर्थों में तीन लोकों के सभी प्राणियों के भावों का अनुकीर्तन किया है। इसके साथ ही उनके रूपकों में ललित कला के पांचों भेदों—काव्यकला, संगीतकला, चित्रकला, मूर्त्तिकला एवं वास्तुकला का समावेश हुआ है। इन्होंने नाट्य के अन्तर्गत गीत, वाद्य एवं नृत्य (अभिनय) तीनों उपकरणों को अपेक्षित माना है। नाट्य-प्रयोग के लिए इनकी परम आवश्यकता है।

कालिदास ने नाटक के लिए 'प्रयोगबन्ध' शब्द का प्रयोग किया है। इससे प्रतीत होता है कि अभिनय के लिए ही उन्होंने रूपकों की रचना की। प्रयोग के अनुरूप ही उन्होंने नाट्यग्रथन किया। इनका नाट्ग्रथन शास्त्रानुमोदित है। उन्होंने नाटक के संवेगों के साथ विविध पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया है।[1] नाट्य-प्रयोग के लिए नाट्यशाला को भी उन्होंने आवश्यक माना है। उनकी रचनाओं में नाट्यशाला के विविध रूपों के उल्लेख से विदित होता है कि उस समय अभिनय के लिए राजभवनों में उच्चकोटि की नाट्यशालाएँ भी थीं। पर्वत की गुहा आदि में अन्यत्र भी विभिन्न प्रकार की नाट्यशाला के लिए रंग शब्द का प्रयोग किया गया है।[2] इसके अन्तर्गत रंगमंच, अभिनेता एवं सामाजिक (दर्शकगण) आदि सभी आ जाते हैं। नाट्याभिनय तथा संगीतप्रदर्शन के स्थान को उन्होंने 'प्रेक्षागृह' कहा है।[3] इसके अतिरिक्त उनके अन्य ग्रन्थों में 'शिलावेश्म' और 'दरीगृह'[4] आदि का प्रयोग भी मिलता है। उनके तीनों रूपकों में 'नेपथ्य' शब्द मिलता है। पर्दा के लिए उन्होंने 'तिरस्कारिणी' शब्द का प्रयोग किया है। उनके रूपकों के अध्ययन से पता चलता है कि नाट्य-प्रयोग में पात्र एवं अभिनयजन्य परिस्थितियों के अनुकूल रंगमंचीय परिधान आदि के उपयोग पर पर्याप्त ध्यान

---

१ द्विधा प्रयुक्तेन च वाङ्मयेन सरस्वती तन्मिथुनं नुनाव।
संस्कारपूतेन वरं वरेण्यं वधूं सुखग्राह्यनिबन्धनेन ॥९०॥
तौ सन्धिषु व्यंजितवृत्तिभेदं रसान्तरेषु प्रतिबद्धरागम्।
अपश्यतामप्सरसां मुहूर्तं प्रयोगमाद्यं ललितांगहारम् ॥९०॥ (कुमारसंभव, सर्ग ७)

२ अहो रागनिविष्टचित्तवृत्तिरालिखित सर्वतो रंगः।
—अभि० शाकुन्तलम्, अंक १, पृ० ५।

३ तेन हि द्वावपि वर्गौ प्रेक्षागृहे संगीतरचनां कृत्वात्रभवतो दूतम् प्रेषयतम्।
—मालवि०, अंक १, पृ० ८५

४ मेघदूतम्, १।२७।

दिया गया है। इसके साथ ही जो पात्र जिसका अभिनय करता था, उसके लिए वह उसकी भूमिका में आता था।[1] नाट्याभिनय के पूर्व उसका अभ्यास किया जाता था।

रस एवं अभिनय की प्रधानता के आधार पर नाट्य के किये गये रूपक और उपरूपक दोनों भेद कालिदास को स्वीकार थे।[2] उन्होंने मालविकाग्निमित्रम् एवं अभिज्ञानशाकुन्तलम् नामक दो नाटकों तथा विक्रमोर्वशीयम् नामक उपरूपक प्रकार त्रोटक की रचना की। संस्कृत नाट्य परम्परा में भाव, भाषा, शैली, अभिनेयता एवं रसात्मकता सभी दृष्टियों से इनके रूपकों का सर्वोच्च स्थान है। ऊपर कालिदास के नाट्यवैशिष्ट्य का सामान्य विवेचन प्रस्तुत किया गया है। कालिदास ने तीनों नाट्यकृतियों में नाट्य के सम्पूर्ण तथ्यों का विश्लेषण किया है। इनके अतिरिक्त उन्होंने दो महाकाव्यों एवं खण्डकाव्यों में अपनी कारयित्री प्रतिभा की अभिव्यक्ति की है। इनकी परम्परा का निर्वाह परवर्ती नाटककारों ने किया है। अपने पूर्ववर्ती भारत की नाट्य कृतियों से यद्यपि ये प्रभावित हैं फिर भी इन्होंने वस्तु, नेता, रस एवं अभिनय सभी में अपनी मौलिक प्रतिभा का प्रदर्शन किया है। ये परम्परावादी होते हुए भी नवीनता के समर्थक हैं। संस्कृत रूपकों के इतिहास का अध्ययन करने से विदित होता है कि अभिज्ञानशाकुन्तलम् में भारतीय नाट्यकला के भावाभिव्यंजन तथा शिल्पन दोनों का चरम परिपाक हो गया है। वस्तुतः कालिदास की नाट्यकला की विशिष्टता उसके विकास एवं परिणति में है। इनके बाद वस्तु, नेता एवं रस को नूतन परिवेश में समान सफलता के साथ स्थापित करने की क्षमता अन्य नाटककार में नहीं दिखाई पड़ती है। परम्परावादी होने के कारण कालिदास की नाट्यकला में संयमन एवं संरक्षण है। उनकी नाट्यदृष्टि विकासोन्मुखी है। उनके मालविकाग्निमित्रम् से लेकर अभिज्ञान-शाकुन्तलम् तक भाव, भाषा, शैली, अभिव्यक्ति आदि सभी क्षेत्रों में स्पष्टरूपेण परिवर्त्तन एवं परिमार्जन प्रतिभासित होते हैं। प्राचीनता और नवीनता के समन्वय में ही उनकी नाट्यकला की विशिष्टता है। वस्तुतः कालिदास वाल्मीकि, व्यास एवं भास की परम्परा का अनुवर्त्तन करते हुए अपनी नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा के अद्भुत चमत्कार से पुरातन मार्ग का अभिनव संस्कार करते हैं। इनकी नाट्य-शैली व्यंजनाप्रधान है, अतः ये संकेत मात्र से बहुत कुछ कह देते हैं। इनके बाद संस्कृत रूपकों की परम्परा में भवभूति के अपनी अद्भुत प्रतिभा का प्रभाव छोड़ा।

---

१ कुमारसंभव, १।१० तथा १।१४

२ लक्ष्मीभूमिकायां वर्त्तमानोर्वशी वारुणीभूमिकायां वर्त्तमानया मेनकया पृष्ठा। विक्र, अंक ३, पृ० ९३

इन्होंने नाट्य के कई क्षेत्रों में मौलिकता तो दिखाई। किन्तु ये कालिदास की समकक्षता नहीं पा सके।

कालिदास ने अपनी नाटयकृतियों में मानव हृदय की विभिन्न बाह्य परिस्थितियों में उदीयमान वृत्तियों का चित्रण लोकाचार के साथ सामंजस्य पूर्वक किया है। उनके विचार से नाटक जीवन का अध्ययन है। तीनों रूपकों में उन्होंने प्रेममूलक आख्यान को ही नाटकीय कथावस्तु के रूप में ग्रहण किया है। उनके सूक्ष्म परीक्षण से स्पष्ट हो जाता है कि उनमें प्रेम की विविध अवस्थाओं का दिग्दर्शन बहुत मनोवैज्ञानिक ढंग से किया गया है। मालविकाग्निमित्रम् में विपरीत परिस्थिति में रहने पर भी तात्कालिक राजयान्त पुर में प्रवर्धित यौवनसुलभ प्रेम चित्रित हुआ है। विक्रमोर्वशीयम् में यौवन की उद्दाम वासना से उद्भूत ऐसे प्रेम का निरूपण है जो मदनातुर पुरुष को प्रेमिका के वियोग में प्रमत्त बना देने वाला है। अभिज्ञानशाकुन्तलम् में प्रेम का स्वरूप इन दोनों से सर्वथा भिन्न है। इसमें आरम्भ के तीन अंकों में कामुकता पूर्ण प्रेम के चित्रण में भी धर्म एवं नीति पर ध्यान है। वस्तुतः यहाँ नायिका शकुन्तला की स्थिति अन्य दोनों नायिकाओं से भिन्न है। इसमें तप एवं साधना के द्वारा, वियोग की ज्वाला से विशुद्ध बनाने वाले काम की प्रेम में परिणति का मनोमुग्धकारी चित्र उपस्थित किया गया है। प्रेम के उत्तरोत्तर चरम विकसित रूप को दिखाते हुए कालिदास ने बताया है कि कठोर तप से पूर्व सच्चा प्रेम पैदा नहीं हो सकता है। इसके पूर्व तो वह सिर्फ वासना है। उनका मन्तव्य है कि प्रेम का लक्ष्य उदात्त-गुणता है, न कि कामुकता। दुष्यन्त एवं शकुन्तला का प्रारम्भिक प्रेम कामवासना से लथपथ था। उसमें स्वार्थ के जहरीले हिंसक कीट उत्पन्न हो गये थे। दुष्यन्त के राजदरबार में जाने पर प्रत्याख्यान के बाद शकुन्तला हताश होकर शान्त मन से मारीच के आश्रम में कठिन तपःसाधना में अनुरक्त हो जाती है। दुष्यन्त भी पश्चात्ताप तथा विरह की दारुण ज्वाला में अपने को परितप्त कर संशुद्ध होता है। इसके बाद क्षुद्र वासना से रहित सच्चे आध्यात्मिक प्रेम की समुज्ज्वल प्रतिमा सामने दृष्टिगत होती है। वस्तु, नेता एवं रस की दृष्टि से इनके तीनों रूपकों में अनुपम वैशिष्ट्य है।

अपने मालविकाग्निमित्रम् की प्रस्तावना में कालिदास ने भास, सौमिल्लक तथा कविपुत्र आदि पूर्ववर्ती नाट्यकर्त्ताओं का श्रद्धा के साथ उल्लेख किया है। आज भास के अतिरिक्त इनके पूर्ववर्ती नाटककारों में किसी की रचना उपलब्ध नहीं है। भास की सभी नाट्यकृतियाँ न्यूनाधिक रूप से महाकाव्यों पर आश्रित हैं। नाटकीय कथा के विकास की दृष्टि से सभी वर्णनात्मक हैं। भास का व्यक्तित्व

सर्वप्रथम नीतिवादी तदनन्तर कलाकार के रूप में विकसित हुआ। ये तत्त्व कालिदास को अपने पूर्वज नाटककार से विरासत के रूप में प्राप्त हुए थे। तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने पर पता चलता है कि भास के रूपकों की अपेक्षा कालिदास के रूपक अधिक नाटकीय कलात्मक सौष्ठव से पूर्ण हैं। स्पष्ट है कि इनके समय तक दर्शकों (सामाजिकों) का बौद्धिक एवं रागात्मक स्तर बहुत विकसित हो गया। फलतः नाट्यविषयक धारणा में भी पर्याप्त भेद हो गया। कालिदास के रूपकों में इन परिवर्त्तित स्थितियों का महत्तम उत्कर्ष दृष्टिगत होता है। परम्परावादी होने के कारण उन्होंने अपने रूपकों का आधार वेद, पुराण एवं इतिहास को ही बनाया है। परन्तु अपनी असाधारण प्रतिभा तथा कलात्मक शक्ति के द्वारा यथेष्ट परिवर्त्तन एवं परिवर्धन कर सर्वथा अभिनव रूप प्रदान किया। ऊपर उनकी नाटकीय वस्तु, नेता एवं रस आदि में प्रदर्शित नवीनताओं पर सांगोपांग विवेचन किया गया है।

कालिदास के रूपकों के कथानकों पर सावधानी के साथ विचार करने से विदित होता है कि उनके सभी रूपक परम्परा में समादृत राजाओं की प्रेमकथाओं का वर्णन करने वाली प्राचीन नाट्यश्रेणी के ही हैं। परन्तु उन आख्यानों के विकास एवं नवनिर्माण से यह धारणा बदल जाती है। उन्होंने अपने सम्पूर्ण नाट्यकौशल एवं कलात्मक विन्यास को सुनियोजित करने के लिए ही प्राचीन कथा को रूपक का आधार बनाया। सामाजिकों को कथाएँ पहले से मालूम थीं। अतः पूर्ववर्त्ती नाटककार भास की वर्णनात्मक शैली का परित्याग कर उन्होंने नाटकीय वस्तु को कलात्मक ढंग से सुसज्जित किया। अपने नूतन नाट्यप्रयोग के सम्बन्ध में उन्होंने प्रथम नाटक में ही स्पष्ट शब्दों में दर्शकों को सचेत कर दिया है। उन्होंने पूरे दावे के साथ घोषित किया है कि प्राचीनता मात्र से कोई रचना श्रेष्ठ और समादरणीय और नूतन होने से निकृष्ट और निन्दनीय नहीं होती। कालिदास ने कथा-कथन से अधिक चित्रण और रसाभिव्यंजन को अपने रूपकों में महत्त्व दिया है।

मालविकाग्निमित्रम् में कालिदास ने अपने समय में लोकप्रसिद्ध अग्निमित्र और मालविका की प्रेमकहानी में कुछ परिवर्त्तन एवं परिवर्धन कर नवीन नाटकीय रूप प्रदान किया है। पुष्यमित्र का यवनों पर विजय तथा अश्वमेध यज्ञ जैसी ऐतिहासिक घटनाओं का भी इसमें सन्निवेश किया गया है। नायक-नायिका के प्रेम की परिपूर्त्ति के लिए मालविका की नियुक्ति, विदूषक की चपलता के कारण धारिणी का गिरकर पैरों में चोट खाना। साँप काटने का विदूषक का बहाना, राजा अग्निमित्र की पुत्री वसुलक्ष्मी का पिंगल बन्दर से डरना आदि घटनाओं की

कल्पना नाटककार ने की है। ऐसा करने से कथानक में अभिनव रूप के साथ नाटकीयता आ गयी है।

विक्रमोर्वशीयम् की नाटकीय कथावस्तु का अत्यन्त प्राचीनतम रूप वेद एवं पुराण आदि ग्रन्थों में कुछ परिवर्त्तनों के साथ मिलता है। पुरूरवा-उर्वशी की प्रेमविषयक पौराणिक कथा तथा इस त्रोटक की कथा में अनेक भिन्नताएँ परिलक्षित होती हैं। पुराणों के निर्माण की तिथि अनिश्चित और संदेहास्पद है। अतः अनुमानतः कहा जा सकता है कि नाटककार ने ऋग्वेद के पुरूरवा-उर्वशी-संवाद को ही विक्रमोर्वशीयम् का उपजीव्य बनाया होगा। उन्होंने इस वैदिक कथा को ही अनेक आवश्यक परिवर्त्तनों एवं परिवर्धनों के द्वारा नवीन रूप प्रदान किया। वैदिक कथा को नाटकीय रूप देने के लिए त्रोटक में कई घटनाओं की कल्पना भी की गयी। भारतीय नाट्य परम्परानुसार प्राचीन दुखान्त कथा को सुखान्त बनाने के लिए ये परिवर्त्तन एवं परिवर्धन सर्वथा अपेक्षित थे। ऊपर इस संदर्भ में पर्याप्त विचार व्यक्त किया गया है।

विक्रमोर्वशीयम् में सर्वप्रथम पुरूरवा एवं उर्वशी की पारस्परिक आसक्ति की अभिव्यंजना हुई है। इसके बाद दोनों के अनुराग का सम्बन्ध प्रेम का रूप धारण कर लेता है। नाटकीयकथावस्तु में युद्ध के बाद प्रेम-प्रदर्शन का दृश्य नाटककार की अभिनव मौलिक उद्भावना है। इस त्रोटक में उर्वशी से प्रणय के पूर्व ही राजा पुरूरवा के साथ महारानी औशीनरी का वैवाहिक सम्बन्ध बताया गया है। अन्यत्र कथाओं में इस तथ्य का सर्वथा अभाव है।

नाटक के द्वितीय एवं तृतीय अंक की कथावस्तु में विकास एवं नाटकीय संघर्ष पैदा करने के लिए नाटककार ने अतिकुशलता के साथ उर्वशी के प्रणय-सूत्र की प्राप्ति के बाद औशीनरी की ईर्ष्या तथा पुनः शान्तिपूर्वक प्रियानुप्रसादन व्रत सम्पन्न कर स्वीकृति सम्बन्धी घटना का सन्निवेश किया है। रानी औशीनरी के इस त्यागमूलक दाक्षिण्यपूर्ण व्यवहार से उर्वशी का राजा पुरूरवा की समागम प्रणयिनी होना सरल हो गया है। इस प्रकार कथावस्तु में नवीनता लाने से स्वाभाविकता के साथ-साथ तात्कालिक सामाजिक मान्यता का पोषण भी किया जा सका है। यह सम्पूर्ण नाटकीय दृश्य कालिदास का अपना अन्वेषण है।

उर्वशी के शाप का प्रसंग भी विक्रमोर्वशीयम् मे पुराणादि से भिन्न है। यहाँ स्वर्ग मे भरतमुनि के निर्देशन में खेले जाने वाले लक्ष्मीस्वयंवर नाटक के प्रसग मे पूर्वासक्ति के कारण प्रमादवश उर्वशी ने पुरुषोत्तम के बदले पुरूरवा नाम का उच्चारण कर दिया। फलतः अपना अपमान समझ कर भरतमुनि ने उसे शाप दिया। अभिनय के अन्त में इन्द्र ने उसके शाप में सुधार कर दिया है। उन्होंने कहा है कि

तुम पुरूरवा के पास तब तक रहोगी जब तक वह तुम से उत्पन्न सन्तति का मुख दर्शन नहीं कर ले। इससे दोनों प्रेमियों का मार्ग निर्विघ्न हो जाता है। इस परिवर्तन से नाटकीय कथा-वस्तु में सुसंगति आ गयी है। नाटकीय व्यापार में भी सामंजस्य उत्पन्न हो गया है। इस प्रकार प्राचीन कथा को नया रूप देने के कारण कालिदास को अद्भुत सफलता मिली है।

कालिदास ने अपने त्रोटक में बहुत कलात्मक ढंग से काम के उभयवर्त्ती उद्वेग को चित्रित करने के लिए दिखाया है कि स्वयं उर्वशी अपनी सखी चित्रलेखा के साथ अभिसारिका के रूप में मानवलोक में आयी। वे दोनों तिरस्करिणी की आड़ में स्थित होकर राजा पुरूरवा की मनोदशा तथा उसके कामदशानुरूप समग्र व्यापार से भलीभाँति परिचित होने पर सामने उपस्थित होती हैं। वह बिना वैवाहिक विधान सम्पन्न किये ही राजा की सहधर्मिणी हो गयी। इसीलिए उर्वशी चिन्तित है कि कहीं उसे लोग कुलटा न समझ लें। देवी औशीनरी ने राजा को दानस्वरूप मुझे दिया है, यह सोचकर वह प्रेमिका की तरह उससे चिपक जाती है।

कालिदास ने विक्रमोर्वशीयम् के चतुर्थ अंक में प्रवेशक का प्रयोग कर उर्वशी के लता रूप में परिणत होने की घटनाओं की सूचना दी है। इससे कथा में नूतनता के साथ सुसंगति एवं प्रवाह आ गया है। संगमणीय मणि के माध्यम से नायक-नायिका के पुनर्मिलन की घटना कालिदास की निजी सृष्टि है। उन्होंने अतिनाटकीय ढंग से लता रूप में परिणत उर्वशी को संगमणीय मणि के स्पर्श होते ही अलौकिक सुन्दरी के रूप में राजा द्वारा स्पृष्ट भुजपाश में आबद्ध होने की घटना का चित्रण किया है। इससे प्राचीन कथा का दुःखान्त रूप समाप्त हो गया है। फलतः परम्परानुसार त्रोटक को सुखान्त बनाने में कालिदास को पर्याप्त सफलता मिली है। पुनर्मिलन के समय उर्वशी को मौन रख कर नाटककार ने अपने अपरिमित संयम का परिचय दिया है। उर्वशी समग्र घटनाओं का अति संक्षिप्त परिचय देती है।

त्रोटक के पंचम अंक की कथावस्तु भी नाटककार की मौलिक कल्पना है। दासी के हाथ से गीध द्वारा झपट लेने के कारण संगमनीय मणि के विलुप्त होने तथा आयु द्वारा बाण से उस गीध को मार कर मणि की प्राप्ति की घटना से अद्भुत दृश्य उपस्थित हो गया है। बाण पर खुदे नाम से पता चलता है कि यह पुरूरवा एवं उर्वशी के पुत्र आयु का है। भगवती सत्यवती कुमार आयु को लेकर उपस्थित होती हैं और सारा गोपन वृत्तान्त सुनाती हैं। राजा पुरूरवा पुत्र को गोद में लेकर अत्यधिक खुश होता है। उर्वशी सत्यवती से न्यास रूप में अपने पुत्र को पाकर इन्द्र के कथनानुसार पुत्रमुखदर्शन के बाद स्वर्ग लौटने की शर्त्त को याद कर

विषादग्रस्त हो जाती है। राजा पुरूरवा उसके स्वर्ग जाने पर अपने पुत्र आयु को राज्याभिषिक्त कर वन जाना चाहता है। इस समय नारद इन्द्र का संवाद लेकर आते हैं और राजा पुरूरवा से कहते हैं कि भविष्य में देवासुर संग्राम होने वाला है, अतः आप शस्त्र त्याग नहीं करें। यह उर्वशी जीवनपर्यन्त आपकी सहधर्म-चारिणी बनी रहेगी। इस त्रोटक में भावी चिरस्थायी वियोग में पुरूरवा के ऊपर इन्द्र का अनुग्रह बताया गया है। इस प्रकार कालिदास ने प्राचीन कथा का ऐसा संस्कार किया है कि सर्वत्र नवीनता, तार्किक सामंजस्य, मनोवैज्ञानिकता एवं रोचकता आ गयी है। नायक-नायिका का प्रणय-सम्बन्ध चिरस्थायी हो गया है। पिता, पुत्र, महारानी औशीनरी, उर्वशी और चित्रलेखा आदि के मधुर मिलन के साथ नाटकीय कथावस्तु की परिसमाप्ति हुई है। हम देखते हैं कि इसकी नाटकीय कथावस्तु का क्षेत्र लोक के साथ ही परलोक भी है। इसमें दैवी और मानवी प्रेम का चित्रण हुआ है। सम्पूर्ण संस्कृत साहित्य में इसका कथानक अप्रतिम एवं अद्वितीय है।

अभिज्ञानशाकुन्तलम् के कथानक की रचना महाभारत के शकुन्तलोपाख्यान के आधार पर की गयी है। उस साधारण, शुष्क एवं नीरस कथा मे नाटककार ने अपनी मौलिक कल्पना तथा प्रखर प्रतिभा से अनेक परिवर्त्तन एवं परिवर्धन कर नाटकीय रूप प्रदान किया। यह नवीनतम और सरस कथानक लोकरुचि के अनुकूल होने पर सर्वग्राह्य हो गया। इसे अभिनव एवं नाटकीय रूप प्रदान करने के लिए नाटककार ने संभवतः वाल्मीकीय रामायण एव भास आदि की कृतियों से अभीष्ट तत्त्व ग्रहण किया हो।

अभिज्ञानशाकुन्तलम् की प्रस्तावना मे उल्लिखित विवरण से नाटकीय-वस्तुगत नवीनता का स्पष्टीकरण हो जाता है—

अथ खलु कालिदासग्रथितवस्तुनाऽभिज्ञानशाकुन्तलनामधेयेन नवेन नाटकेनो-पस्थातव्यमस्माभिः।—नाटक का नाम भी वस्तुगत नवीनता का द्योतक है। इसका सांगोपांग तुलनात्मक अध्ययन इस प्रबन्ध के तृतीय अध्याय में प्रस्तुत किया गया है।

महाभारत में राजा दुष्यन्त एवं शकुन्तला की प्रणयविषयक कामवासना से पूर्ण कथा वर्णित है। कालिदास ने इसमें यथेष्ट परिवर्त्तन एवं परिवर्धन द्वारा नवीन रूप प्रदान कर इसे विनोद के साथ हितोपदेश एवं विश्रान्ति के योग्य बनाया। एतदर्थ उन्होने दुर्वासा के शाप एवं अँगूठी की घटना की मौलिक योजना की। दुर्वासा के शाप के परिणामस्वरूप उन्हें नाटक के षष्ठ और सप्तम अंकों में

नूतन घटनाओं का विन्यास करना पड़ा। मूल कथा में इन घटनाओं का सर्वथा अभाव है। इससे नाटकीय कथावस्तु के स्वरूप एवं उद्देश्य में पर्याप्त परिवर्त्तन हो गया। इसी के माध्यम से नायक एवं नायिका के पार्थिव प्रेम को स्वर्गीय प्रेम में परिणत किया गया है। इस नाटक में आध्यात्मिक रहस्यों की ओर भी अपूर्व संकेत मिलता है, जिसका मूलकथा में कहीं निशान भी नहीं है। इसमें ऐसे अनेक तत्त्व एवं मूर्त्ति हैं, जो आत्मसंवेद्य एवं अनुभवगम्य हैं। नाटककार ने अतिकुशलता के साथ छोटी-बड़ी सभी घटनाओं को मूल कथानक एवं उद्देश्य से सम्बद्ध कर दिया है।

इस नाटक में शकुन्तला के समक्ष दुष्यन्त को उपस्थित कराने के लिए भ्रमरवृत्तान्त की कल्पना की गयी है। इससे दोनों के मिलन की स्थिति में स्वाभाविकता एवं नाटकीयता संभव हो सकी है।

कालिदास ने शकुन्तला के प्रतिकूल भाग्य की तथा भावी अमंगल की शान्ति के लिए कण्व ऋषि को सोमतीर्थ भेजा है। अनुष्ठान आदि क्रिया को सम्पन्न कर लौटने में संभवतः कुछ महीने लग गये होंगे। इतने पर्याप्त समय में राक्षसों के उपद्रव से तपोवन की रक्षा के लिए गये दुष्यन्त को शकुन्तला से मिलने और परस्पर अनुराग बढ़ाने का मौका मिलना स्वाभाविक मालूम पड़ता है। नाटककार ने दोनों के पारस्परिक प्रेम का चित्रण किया है। इससे दोनों के चरित्रों में समुचित शिष्टाचार का प्रदर्शन किया जा सका है। इसके लिए अनसूया एवं प्रियंवदा नामक दो सखियों की परस्पर वार्त्ता का सन्निवेश कर प्रेम तथा परिणय में स्वाभाविकता लाई गई है। तृतीय अंक में जब दुष्यन्त ने शकुन्तला को अपने आलिंगनपाश में आबद्ध कर लिया है तब नाटककार ने औचित्य एवं कलात्मकता के साथ गौतमी का प्रवेश करा दिया है। इसके साथ राक्षसों के आगमन की सूचना देकर दुष्यन्त को भी मंच से हटा दिया है। लताकुंज को पुनः विहार के लिए आमंत्रित करने के बहाने शकुन्तला की अतृप्त कामवासना को व्यक्त करा दिया गया है। कालिदास ने नायक-नायिका के हृदय में अनुरागोत्पत्ति, विकास तथा परिणति का चित्रण कुशलता पूर्वक प्रदर्शित किया है।

इस नाटक में पीछे छूटी हुई सेना राजा दुष्यन्त को खोजती हुई आश्रम में पहुँच गयी है। राजा सैनिकों के उपद्रवों को शान्त करने के लिए बाहर जाता है। उस समय अतिथिसत्कार नहीं कर सकने के कारण अनसूया और प्रियम्वदा पुनः दर्शन देने के लिए उनसे अनुरोध करती है। इस तरह हम देखते हैं कि यहाँ नायक-नायिका का प्रथम मिलन बहुत नाटकीय ढंग से हुआ है। मूलकथा में इस रोचकता और स्वाभाविकता का सर्वथा अभाव है।

शकुन्तला के प्रतिकूल भाग्य एवं भावी अनिष्ट की शान्ति के लिए कण्व के सोमतीर्थ गमन की अभिनव परिकल्पना के आधार पर नाटककार ने कई नाटकीय घटनाओं को अवलम्बित किया। दीर्घकाल तक उनकी अनुपस्थिति में तपोवन के रक्षार्थ राजा दुष्यन्त का वहाँ ठहरना, नायक एवं नायिका में प्रेमोत्पत्ति, गान्धर्व विवाह तथा पति के चिन्तन में लीन रहने के कारण अतिथि-सेवा धर्म की उपेक्षा के परिणामस्वरूप दुर्वासा का शाप आदि घटनाएँ घटीं। पुनः सखियों के अनुनय से शाप में सुधार किया गया। इस सुधार में कण्व ऋषि द्वारा सोमतीर्थ में किया गया अनुष्ठान भी कारण था। इन सभी नवीन घटनाओं का मूलकथा में कहीं उल्लेख भी नहीं है।

कालिदास ने इस नाटक में शकुन्तला के गान्धर्व-विवाह आदि की सूचना कण्व को तीर्थ से लौटने पर छन्दोमयी वाणी द्वारा दिलायी। इसमें औचित्य भी मालूम पड़ता है। उन्होंने सूचना मिलते ही आपन्नसत्वा शकुन्तला को भारतीय मर्यादा के साथ पतिगृह भेज दिया। विदाई वेला के कारुणिक एवं मार्मिक दृश्य का वर्णन कर नाटककार ने कथानक में अद्भुत चमत्कार उत्पन्न कर दिया है। कण्व का उपदेश, प्राकृतिक प्राणियों का शकुन्तला के प्रति हार्दिक प्रेमप्रदर्शन आदि घटनाएँ सहृदय सामाजिक के मर्मस्थल का स्पर्श करती हैं। इसे देख कर सामाजिक संकुचित विचार से ऊपर उठता है और समदर्शी होकर प्राणिमात्र के साथ सौहार्दपूर्ण व्यवहार करने की प्रेरणा ग्रहण करता है। इससे नाटकीय कथानक स्वाभाविक एवं सरस हो मनोवैज्ञानिक धरातल पर आधृत हो गया है।

नाटक में पुत्रोत्पत्ति की घटना को मानवप्रकृति के अनुकूल बनाने के लिए कालिदास ने राजा द्वारा अस्वीकृत करने पर शकुन्तला को दैवी शक्ति द्वारा मारीच के आश्रम में भेज दिया है। वहीं वह यथासमय पुत्र उत्पन्न करती है। स्वयं मारीच ऋषि उसका जातसंस्कार आदि सम्पन्न करते हैं। ऐसा करने पर दुष्यन्त को अपने पुत्र एवं पत्नी से मिलने में नाटककार सफल होता है। यह कन्योचित वातावरण में हुआ वहाँ पतिमिलन के रूप में शकुन्तला की तपस्या फलवती होती है। तपस्या एवं पश्चात्ताप की दारुण ज्वाला में वासना और अज्ञान भस्मसात् होने पर निर्मल तथा निर्विकार स्थिति में दोनों का आध्यात्मिक चिरन्तन मिलन होता है। नायक-नायिका के इस अभिनव मिलन की कल्पना से नाटकीय-कथावस्तु में अद्भुत चमत्कार एवं रोचकता की सृष्टि हुई है।

कालिदास ने महाभारत के शकुन्तला-प्रत्याख्यान के दृश्य को सर्वथा बदल कर नाटकीय एवं प्रासंगिक बना दिया है। यहाँ उन्होंने गान्धर्व विवाह पर

भी आक्षेप उपस्थित किया है। नाटकीय कथानक में गौतमी, शार्ङ्गरव एवं शारद्वत द्वारा दुष्यन्त के चरित्र पर दोषारोपण करना, शकुन्तला द्वारा अँगूठी दिखाने का उद्योग करना, स्नान करते समय उसका नदी में गिरने का गौतमी का अनुमान, शकुन्तला द्वारा तपोवन में प्रेम और विवाह सम्बन्धी घटनाओं का स्मरण कराने का प्रयत्न, दुष्यन्त के नहीं अंगीकार करने पर पुनः शार्ङ्गरव आदि के पीछे शकुन्तला का लौटना, शार्ङ्गरव द्वारा डाँट-फटकार कर दुष्यन्त के पास ही शकुन्तला को रहने कहना, प्रसव के पूर्व तक पुरोहित द्वारा अपने घर में रखने का प्रस्ताव, विपन्न शकुन्तला का पृथ्वी के अन्दर स्थान माँगना और करुण-विलाप करती हुई शकुन्तला को तेजोमयी मूर्ति द्वारा आकाश में उड़ा ले जाना आदि सभी सुनियोजित घटनाएँ कवि कल्पित हैं।

कालिदास ने धीवर द्वारा मछली के पेट से उस अँगूठी की पुनः प्राप्ति और उसे देखकर राजा को शकुन्तला के साथ प्रणय-विषयक बातों के स्मरण से उसके प्रति प्रेम की अधिकता एवं अपने कृत आचरण पर पश्चात्ताप आदि घटनाओं की नवीन कल्पना कर दुर्वासा के दुःखमय शाप के विमोचन का नाटकीय दृश्य उपस्थित किया है। उन्होंने नाटकीयता एवं यथार्थता लाने लिए षष्ठ एवं सप्तम अंक की सारी घटनाओं की परिकल्पना की है। इससे महाभारत से गृहीत नीरस एवं असम्बद्ध कथा को नूतन नाटकीय कथानक का रूप प्रदान करने में नाटककार को यथेष्ट सफलता मिली है। इसी में इनकी मौलिक उद्भावना-शक्ति परिव्यक्त हुई है।

अपने रूपकों में कालिदास ने पौराणिक एवं ऐतिहासिक गृहीत कथा के सम्यक् विन्यास के लिए शास्त्रीय नियमों का आश्रय लिया है। उनकी दृष्टि में नाट्यकृति की गुणशालिता के निर्णय के लिए नाट्यशास्त्र ही मानदंड है। नाटकीय नियमों की जटिलता के संदर्भ में भी उन्होंने अपनी प्रतिभा के बल पर उसे सुसंगठित एवं प्रभावोत्पादक बनाया है। शास्त्रीय नियमों से सर्वथा अभिज्ञ रहने पर भी उन्होंने यथाप्रसंग नियमों का अतिक्रमण कर अपनी नवीन दिशा का निर्देश दिया है। इसी कारण वे कहीं-कहीं भरत से विपरीत भी मालूम पड़ते हैं। इनके इन परिवर्त्तित नियमों का परवर्त्ती नाट्यशास्त्र पर प्रभाव पड़ा है।

नाटकीय वस्तु (कथानक) ही नाटक का मेरुदंड है, क्योंकि इसी के आधार पर पात्रों की सृष्टि तथा रसाभिव्यंजन संभव है। कालिदास ने यथानियम अर्थोक्षेपकों, अर्थप्रकृतियों, कार्यावस्थाओं, सन्धियों, सन्ध्यंगों एवं सन्ध्यन्तरों का प्रयोग अपने रूपकों में किया है। इसका विशद विवेचन ऊपर प्रस्तुत किया गया है।

नाटकीय वस्तु का विन्यास पात्रों के कार्य-व्यापारों द्वारा होता है। अतः पात्रों का शील-वैचित्र्य रूपक का आन्तर रस है। इसी शील रूप आन्तर रस में नाट्य प्रतिष्ठित रहता है। कालिदास के रूपकों में इस आन्तर रस की उद्भावना धर्म, अर्थ और काम सम्बन्धी विषयों के प्रति पात्रों की शारीरिक एवं मानसिक संवेदनाओं तथा तदनुकूल प्रतिक्रियाओं से होता है। विभिन्न पात्रों की प्रवृत्तियों के उत्तरोत्तर विकास से उनके शील का निर्माण हुआ है। कालिदास ने मानव की सभी प्रवृत्तियों में काम प्रवृत्ति को अपने रूपकों में सर्वाधिक आश्रय दिया है। उन्होंने स्त्रियों को काम-सुख का सार माना है लेकिन यह स्पष्टरूपेण व्यक्त किया है कि यह कामसुख ही जीवन का चरम श्रेय नहीं है। उन्होंने धर्म में इसकी चरम परिणति मानी है।

कालिदास ने अपने रूपकों में पात्रों का संघटन भलीभाँति किया है। उनके पात्र संसार के विभिन्न प्रकार के पुरुषों एवं स्त्रियों का प्रतिनिधित्व करते हैं। माता-पिता, पुत्र-पुत्री, पति-पत्नी, मालिक-नौकर, योगी-ऋषि, गुरु-शिष्य, आदि जितने प्रकार के मानवीय सांसारिक सम्बन्ध संभव हैं, नाटककार ने रूपकों में उनकी व्यवस्था की है। इससे संसार का सजीव चित्र इनके रूपकों में उपस्थित हो गया है। उन्होंने मानवेतर बाह्य प्रकृति से भी मानवप्रकृति को सुसम्बद्ध किया है। पशु-पक्षियों को भी पात्र के रूप में उपस्थित कर कालिदास नाट्य जगत् में अभिनव परिवर्तन लाए हैं।

लौकिक सुख-दुःखात्मक रस से मानव-चरित्र की परिपुष्टि होती है। कालिदास के सभी पात्र यथार्थता के समर्थक होकर भी आदर्शोन्मुख हैं। उनके रूपकों के तीनों नायक महापुरुष, जनप्रिय एवं शिष्टाचार सम्पन्न हैं। उनकी नायिकाएँ भी उत्तम गुणों से युक्त हैं। उनमें धैर्य, शौर्य, औदार्य आदि नाट्य-शास्त्रियों द्वारा कल्पित सारे गुण विद्यमान हैं। कालिदास के रूपकों के सभी नायक शास्त्रीय नियमानुसार धीरोदात्त कोटि के हैं। नायिकाओं के प्रति व्यवहार की दृष्टि से सभी दक्षिण नायक हैं। यों व्यवहार-भेद से कहीं-कहीं उनमें शठता भी परिलक्षित होती है। प्रकृतिभेद से इनके सभी नायक उत्तम श्रेणी के हैं।

इनके रूपकों के अध्ययन से पता चलता है कि इनके नायकों का उत्तरोत्तर विकास हुआ है। मालविकाग्निमित्रम् में अग्निमित्र की विशेषतः कामकला निपुणता का ही चित्रण हुआ है, किन्तु वास्तव में वह सिर्फ कामुक ही नहीं अपितु शौर्यगुण सम्पन्न है। राजनीति निपुण भी वह है। ऐसा कर नाटककार ने उसे नाटक की धीरोदात्त श्रेणी में प्रतिष्ठित किया है।

विक्रमोर्वशीयम् का नायक पुरूरवा उच्चकुलसंभूत राजर्षि है। प्राचीन आख्यानों में वर्णित पुरूरवा के चरित्र को इस त्रोटक में अनेक गुणों से विभूषित कर नाटककार ने अभिनव रूप प्रदान किया है। कालिदास ने इस त्रोटक में उसे कवि एवं सहृदय प्रेमी के रूप में चित्रित किया है।

अग्निमित्र एवं पुरूरवा से दुष्यन्त उत्कृष्ट नायक हैं। कालिदास की नायक सम्बन्धी धारणा का परिष्कृत रूप इसमें मिलता है। अथवा हम कह सकते हैं कि नाटककार की नायक विषयक धारणा का उत्तरोत्तर विकास होता हुआ दुष्यन्त के चित्रण में उसका पूर्ण विकसित रूप प्रकट हुआ है। इसे सर्वाधिक उत्कृष्ट एवं उदात्त भूमिका पर प्रतिष्ठित किया गया है। इसमें धीरोदात्त कोटि के नायक के सभी गुण वर्तमान हैं। कालिदास ने दुष्यन्त को वाल्मीकि एवं भवभूति के राम की श्रेणी में बैठाने का सफल प्रयास किया है। उन्होंने दुष्यन्त का चित्रण पराक्रमी, विनयशील, सुसंस्कृत, कर्त्तव्यपरायण, सच्चे प्रेमी, उत्तमपति, पुत्रवत्सल पिता, प्रजारक्षक, धर्मनिष्ठ आदर्श राजा के रूप में किया है। इन गुणों से सम्पन्न रहने पर भी उसमें मानवीय दुर्बलताएँ भी हैं। इन दुर्बलताओं को प्रदर्शित करते हुए नाटककार ने नाटक के प्रथम भाग में (१—३ में) पतन, द्वितीय भाग (४—५) में उठने की चेष्टा तथा तृतीय भाग (६ —७) में उनके चरम उत्थान को परिव्यक्त किया है। यही जीवन का चरम श्रेय है। इसी पतन एवं उत्थान में दुष्यन्त के चरित्र का महत्त्व है।

नायकों के समान उत्तम प्रकृति की नायिकाएँ भी पति-प्रेम के आदर्श में ढली होती हैं। इनमें भी शास्त्रीय दृष्टि से शोभा, कान्ति, दीप्ति, आदि गुण होते हैं। कालिदास ने अपनी नायिकाओं को शास्त्रीय गुणों से विभूषित कर उन्हें नूतन रूप प्रदान किया है। इन गुणों से समन्वित होने पर वे आकर्षक एवं लोकादर्श बन गयी हैं। कालिदास को नायिका के सम्बन्ध में शास्त्रीय एवं परम्परागत धारणा मान्य थी।

मालविकाग्निमित्रम् एवं विक्रमोर्वशीयम् में कालिदास ने मुख्य नायिका के अतिरिक्त अन्य नायिकाओं का भी नाटकीय वस्तु के सम्पादन में महत्त्वपूर्ण योगदान दिखाया है। अतः यहाँ उनका भी सरस चित्रण हुआ है। उन्होंने धारिणी के चित्रण में आदर्श भार्या, औशीनरी के चित्रण में पतिव्रता तथा शकुन्तला के चित्रण में आदर्श सती साध्वी गृहिणी का सजीव चित्र अंकित किया है। समीक्षात्मक दृष्टि से विचार करने पर स्पष्ट है कि नाटककार ने धारिणी एवं औशीनरी का चित्रण मालविका तथा उर्वशी से कम प्रभावकारी नहीं किया है। ऊपर इनकी चारित्रिक विशेषताओं पर विशद विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

शास्त्रीय दृष्टि से मालविका एवं शकुन्तला स्वीया मुग्धा तथा उर्वशी स्वीया प्रगल्भा नायिका है। नाटककार ने अवस्था-भेद से उर्वशी को अभिसारिका नायिका के रूप में चित्रित किया है। ये सभी उत्तम कोटि की नायिकाएँ हैं। इनमें शोभा, कान्ति, दीप्ति, आदि नायिकाओं के सहज गुण विद्यमान हैं। इन गुणों को नायिकाओं के अलंकार के रूप में नाटककार ने व्यक्त कराया है। मालविका को आदर्श भारतीय कन्या के रूप में चित्रित किया गया है। अप्सरा होने पर भी नाटककार ने उर्वशी को नैसर्गिक शक्तियों के साथ मानवीय गुणों से सम्पन्न प्रेमिका के रूप में चित्रित किया है। उसमें दैवी एवं मानवी गुणों का मिश्रण दिखलाया गया है। अभिज्ञानशाकुन्तलम् की शकुन्तला निश्छल एवं सरल स्वभाव की निसर्ग कन्या है। नाटककार ने इसमें अनेक गुणों का सन्निवेश कर इसे बिल्कुल नवीन बना दिया है। मूल कथा में उनका व्यक्तित्व कामुकता एवं अर्थलोलुपता से परिपूर्ण है। वहाँ वह प्रगल्भा, स्पष्टवादिनी एवं निर्भीक तरुणी के रूप में चित्रित की गयी है। लेकिन इस नाटक में वह त्याग और तप की मूर्त्ति है। यहाँ उसका जीवन आध्यात्मिकता से पूर्ण है। यहाँ उसे लज्जाशील प्रेमपरायणा मुग्धा बालिका के रूप में चित्रित किया गया है। पंचम अंक में नारीत्व के ऊपर आघात होने पर उसका तीक्ष्ण एवं उग्र रूप प्रकट हुआ है। सम्पूर्ण नाटक में उसकी सरलता एवं भोलेपन की रक्षा की गयी है। यहाँ यह स्त्रीरत्न बन गयी है। सखी के रूप में भी शकुन्तला का आदर्श रूप उपस्थित किया गया है। दुःखाग्नि में दग्ध तपोबल से पूर्ण होकर शकुन्तला का लोकादर्श चरित्र रत्न के समान विश्वमंच पर उपस्थित हुआ है। उसका पूर्वरागात्मक पार्थिव प्रेम अपार्थिव आध्यामिक प्रेम में परिणत हो गया है। मातृत्व के रूप में उसका गौरव निखर उठा है। इसी गृहस्थाश्रम के चरम उत्कर्ष को दिखाना कालिदास का अभीष्ट था। मनु ने भी इसी गृहस्थाश्रम को सभी आश्रमों में श्रेष्ठ माना। महाभारत में इसे सभी आश्रमों का मूल कहा गया। कालिदास के रूपकों की सभी नायिकाओं में शकुन्तला सर्वश्रेष्ठ है। इसमें मालविका और उर्वशी के समान लोकजीवन की पोषक सामग्री का अभाव नहीं है। वह निर्दोष, शुद्ध शीलगुणसम्पन्न एवं अनवद्य सुषमा के कारण लोकानुकरणीय एवं वन्दनीय है।

नाटकीय कथावस्तु के अनुरूप कार्य व्यापार के सम्पादन के लिए मुख्य फल के उपभोक्ता के सहायक के रूप में अन्यान्य पात्रों की सृष्टि नाटक में की जाती है। इसी प्रकार नायिका की सहायिका के रूप में अनेक नारी-पात्रों की सृष्टि की जाती है। मालविकाग्निमित्रम् में विदूषक, इरावती, परिव्राजिका, बकुलावलिका, नाट्याचार्य, गणदास एवं हरदत्त अनेक पुरुष तथा स्त्री पात्रों की सृष्टि की गई है।

विक्रमोर्वशीयम् में औशीनरी, विदूषक, गालव, पल्लव, निपुणिका, कंचुकी, रम्भा, सहजन्या, आयु एवं नारद आदि का सन्निवेश करने से नाटक का रंगमंचीय प्रभाव अत्यधिक उत्कृष्ट एवं समुन्नत हो गया है। अभिज्ञानशाकुन्तलम् में कालिदास ने अनसूया, प्रियंवदा, शाङ्र्गरव, शारद्वत, गौतमी, माधव्य (विदूषक) सारथि, सेनापति भद्रसेन, वैखानस, मारीच ऋषि, दुर्वासा ऋषि, रैवतक (द्वारपाल), करभक, श्याल (नगररक्षक), धीवर, गालव, सूचक, जानुक, सानुमती, परभृतिका, मधुकरिका, चतुरिका आदि हर क्षेत्र के विविध पात्रों की रचना की। इन पात्रों के कार्यव्यापारों के संयोग से नायक एवं नायिका का चरित्र भी नवीन रूप में परिवर्त्तित हो गया है।

कालिदास के रूपकों में नाटकीय कथा के विकास में विदूषक का भी उल्लेखनीय योगदान है। नायक को नाटकीय कार्यव्यापार के सम्पादन में यह यथेष्ट सहायता करता है। मालविकाग्निमित्रम् में तो यही सब कुछ है। इसमें उसे कार्यान्तर सचिव कहा गया है। नायक अग्निमित्र तो मालविका के साथ प्रणय-व्यापार-सम्पादन में इसके हाथ का कठपुतला है। लेकिन विक्रमोर्वशीयम् एवं अभिज्ञानशाकुन्तलम् में नायक का कार्यव्यापार विदूषक पर आश्रित नहीं है। हास्य रस की सृष्टि में ही इसका विशेष उपयोग किया गया है। यह सर्वथा स्वतंत्र पात्र के रूप में कालिदास के रूपकों में चित्रित हुआ है। कालिदास के विदूषकों का स्वभाव यद्यपि एक-सा है तथापि उनमें यथेष्ट भिन्नता है।

भारतीय आचार्यों की दृष्टि में रसाभिव्यक्ति ही नाट्य का प्रमुख उद्देश्य है। वस्तुतः रस नाट्य का प्राण है। कालिदास ने स्पष्ट कहा है—

'त्रैगुण्योद्भवमत्र लोकचरितं नाना रसं दृश्यते।
नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाऽप्येकं समाराधनम्॥'

नाटकीय कथावस्तु तथा पात्रों के शील निरूपण से इसी महारस एवं महाभोग का नाट्य में आविर्भाव होता है। सत्व, रज एवं तम इन तीन गुणों से निर्मित लोकचरित विभिन्न रसों में दृष्टिगत होता है। नाट्य के द्वारा मनुष्य की संवेदनाओं (भावों) का उद्भावन होता है। रसत्व में स्थायी भावों की परिणति कालिदास को स्वीकार है।[1] इन्होंने तन्मयीभवन को सहृदय में रस-स्थिति मानी है।[2] यह कालिदास की मौलिक उद्भावना है। बाद में इसे ही साधारणीकरण के नाम से अभिहित किया गया। अभिज्ञानशाकुन्तलम् में अभिव्यक्त रसों के अध्ययन से

१ अभि० शा०, अंक ५, श्लोक २

२ विक्र०, अंक ३, पृ० ९२

स्पष्ट है कि शान्त नामक नवम रस भी इन्हें मान्य था। यों उसमें वात्सल्य भाव का भी उल्लेख है। यह बाद में वात्सल्य रस कहा गया है।

यह तो कालिदास की अद्भुत कला का चमत्कार है कि उन्होंने शृंगार रस से परिपूर्ण मूल प्रेमविषयक कथा को इस प्रकार नाटकीय कथानक के रूप में सुसज्जित किया कि उसमें मुख्य शृंगार रस के साथ गौण रूप में वीर, अद्भुत, करुण, भयानक, वीभत्स, शान्त आदि अनेक रसों का सन्निवेश हो गया। इन रसों की अभिव्यंजना के साथ ही उन्होंने अपने रूपकों में अनेक संचारी भावों का आस्वाद कराया है। महाभारत का शकुन्तलोपाख्यान शृंगाररस से परिपूर्ण है। वह प्रणय-व्यापी अन्य व्यापारों की अपेक्षा सहज भाव से हृद्य है। अभिज्ञान-शाकुन्तलम् में धर्म एवं प्रेम के योग से समुन्नत मधुर आनन्द का आस्वाद मिलता है। वह उनकी सर्वतोमुखी प्रतिभा एवं असाधारण कल्पना का निदर्शन है। इसमें वीर, करुण, रौद्र आदि रसों की अभिव्यक्ति हुई है। नाटकीय कथानक में अनेक रसों के सन्निवेश से रस-विषयक नवीनता सर्वत्र परिलक्षित होती है। इनके नाटकों के अध्ययन से विदित होता है कि रस का सम्बन्ध नाट्यकला के रचनात्मक एवं अभिनयात्मक दोनो ही पक्षों से समान रूप से है।

नाटकीय वस्तु, पात्रों के कार्यव्यापार और रसाभिव्यंजन के माध्यम भाषा एवं शैली है। इसी के अन्तर्गत भाव, रस, अलंकार एवं रीति आदि काव्य-तत्वों का सन्निवेश होता है। नाटकीय कथावस्तु का विकास दो या अधिक पात्रों की परस्पर-वार्ता से होता है। इसी संवाद पर नाटकीय कार्यव्यापार एवं रसाभिव्यंजन आश्रित हैं। संवाद पर ही नाटक की सफलता निर्भर करती है। कालिदास के रूपकों के संवाद सरस एवं काव्यात्मक हैं। उनके नाटकीय संवाद में शास्त्रीय नियमों का सर्वथा पालन किया गया है। उन्होंने पात्रानुकूल भाषा का प्रयोग किया है। एतदर्थ उन्होंने संस्कृत, प्राकृत दोनों ही भाषाओं का प्रयोग किया है। उन्मत्त अवस्था में पुरूरवा ने अपभ्रंश का प्रयोग किया है। विषयानुकूल संवादों को सजीव एवं सामान्य बनाये रखने के लिए मुहावरों एवं लोकोक्तियों का आवश्यक प्रयोग इनके तीनों रूपकों में किया गया है। शब्द-योजना एवं वाक्य-विन्यास की दृष्टि से इनकी भाषा नाटकीय है। इसमें अभीष्ट गति एवं प्रवाह है। उनके संवादों में अनेक सूक्तियाँ हैं। संवादों में उन्होने शास्त्रानुमोदित सम्बोधन के विभिन्न प्रकारों का उपयोग किया है। उन्होंने नाटकीय वस्तु के विकास एवं संवाद-सौष्ठव के लिए नाट्यलक्षणों एवं नाट्यालंकारों का यथेष्ट प्रयोग किया है।

कालिदास के रूपकों के संवादों में काव्य-तत्त्वगत सारी विशेषताएँ विद्यमान हैं। इन संवादों में काव्य की गद्य एवं पद्य दोनों शैलियों का प्रयोग किया गया गया है। काव्यशास्त्रीय दृष्टि से इनके नाटकीय संवादों के परीक्षण से स्पष्ट है कि इनमें रीति, गुण, ध्वनि, अलंकार आदि का सफल एवं सुसंगत प्रयोग हुआ है। इनके नाटकीय संवादों में वैदर्भी रीति की प्रचुरता है। इनके संवादों में ओज, प्रसाद एवं माधुर्य तीनों गुण मिलते हैं। इनके संवादों की सबसे बड़ी विशेषता संक्षिप्तता एवं ध्वन्यात्मकता है। नाटकीय संवादों को आकर्षक एवं चमत्कारपूर्ण बनाने के लिए कालिदास ने अनुप्रास, यमक, उपमा, रूपक, अर्थान्तरन्यास आदि शब्दालंकारों एवं अर्थालंकारों का युक्तियुक्त प्रयोग किया है। इसीलिए इनके नाटकीय संवाद समलंकृत एवं सरस होने के कारण प्रभावोत्पादक हो गये हैं। इनके नाटकीय संवादों में गद्य की प्रांजल, परिष्कृत एवं आकर्षक शैलियों का प्रयोग हुआ है। इनके संवादों में प्रयुक्त गद्य को देखकर हम कह सकते हैं कि यह एक उत्कृष्ट गद्यकार का सुरुचिपूर्ण विन्यास है। इनके संवादों में पद्यशैली का भी प्रयोग हुआ है। उनके पद्यों में प्रमोदोत्पादन की अपरिमित शक्ति है। कालिदास ने विभिन्न रसों की अभिव्यंजना के लिए विभिन्न छन्दों का प्रयोग किया है। यथाप्रयोजन उन्होंने अपने नाटकीय संवादों में व्याकरण, ज्योतिष, अलंकार शास्त्र, नीतिशास्त्र, संगीतशास्त्र, आयुर्वेद, वेदान्त, सांख्य, पदार्थविज्ञान, इतिहास तथा पुराण आदि के तथ्यों का उपयोग किया है। संक्षेप में, हम कह सकते हैं कि इनके नाटकीय पद्यों में संक्षिप्तता, गम्भीरता एवं गौरव तीनों गुण वर्त्तमान हैं।

कालिदास की उपर्युक्त नाट्यविषयक धारणा एवं स्थापना के विशद विवेचन के बाद अन्त में हम कह सकते हैं कि उनकी नाट्यकला देश, काल एवं जाति की सीमाओं में विकसित होने पर भी सार्वभौम सुख एवं आनन्द की अमन्द धारा प्रवाहित करती है। अतिप्राचीन होने पर भी जीवन-रस से सम्पुष्ट होने के फलस्वरूप उनकी नाट्यकला आज भी सजीव मालूम पड़ती है। आज भी विश्व की नाट्यकला को प्रेरित करने लिए के वह पर्याप्त हैं। सचमुच उनके सम्बन्ध में यह उक्ति आज भी अक्षरशः सत्य है—

पुरा कवीनां गणनाप्रसंगे कनिष्ठकाधिष्ठितकालिदासाः।
अद्यापि तत्तुल्यकवेरभावादनामिका सार्थवती बभूव ।।

☆

संदर्भ-ग्रन्थ पुटी

अभिज्ञानशाकुन्तलम्	शारदारंजन राय, कलकत्ता, १९४९
अभिज्ञानशाकुन्तलम्	एम० आर० काले, बम्बई, १९५७
अभिज्ञानशाकुन्तलम्	श्री नवकिशोर शास्त्री, चौखम्बा संस्कृत सिरीज, वाराणसी
अभिज्ञानशाकुन्तलम्	डा० सुरेन्द्रदेव शास्त्री
अभिज्ञानशाकुन्तलम्	सी० आर० देवधर
अभिज्ञानशाकुन्तलम्	सुबोध चन्द्र पन्त
अभिज्ञानशाकुन्तलम्	पं० राघवभट्ट की टीका सहित, निर्णय सागर प्रेस, मुंबई-२
अभिनवभारती	अभिनवगुप्त, गायकवाड़ ओरियण्टल सिरीज, बड़ौदा, १९२५
अभिनवभारती (अभिनवगुप्त)	सं० आचार्य विश्वेश्वर
अभिनवनाट्यशास्त्र	पं० सीताराम चतुर्वेदी
अशोकमल्ल का नृत्याध्याय	वाचस्पति गैरोला
अष्टाध्यायी	पाणिनि
अमरकोश	चौ० संस्कृत सिरीज, वाराणसी
अभिनय दर्पण	नन्दिकेश्वर
अभिनय अरस्तू का काव्य शास्त्र	डा० नगेन्द्र, अनुसंधान परिषद्, दिल्ली-विश्वविद्यलय, दिल्ली
अथर्ववेद	
अवन्तिसुन्दरी कथा	दण्डी
अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया	विन्सेन्ट स्मिथ
अग्निपुराण	
अग्निपुराण का काव्यशास्त्रीय भाग	रामलाल वर्मा शास्त्री, दिल्ली, १९५९
उत्तररामचरितम्	शारदारंजन राय, कलकत्ता, १९४९
उत्तररामचरितम्	आनन्द स्वरूप, मोतीलाल बनारसीदास; १९६३
उपमा कालिदासस्य	डा० शशिभूषण दास गुप्त, कलकत्ता विश्वविद्यालय

ए हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर, खंड-३ (भाग-३) — एम० विन्टरनित्स, मोतीलाल बनारसीदास, १९६३

ए हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर — आर्थर ए० मैकडोनल, लन्दन, १९१३

ए हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर, खण्ड-१ — एस० एन० दास गुप्त तथा एस० के० दे, कलकत्ता, १९४७

एरिस्टाटल्स थिअरी आफ पोएट्री एण्ड फाइन आर्ट (चतुर्थ संस्करण) — एस० एच० बुचर, १९५१

ए हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर — वेबर

एन एसे आन ड्रेमेटिक पोएजी — जान ड्राइडेन

ऋग्वेद

ऋतुसंहार — कालिदास

कथासरितसागर — जीवानन्द विद्यासागर, रमानाथ मजुमदार लेन, कलकत्ता।

काव्यमीमांसा — पं० केदारनाथ शर्मा सारस्वत, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, १९५४

कालिदास और भवभूति — द्विजेन्द्रलाल राय (अनु० पं० रूपनारायण पाण्डेय), बम्बई, १९५६

कालिदास — वासुदेव विष्णु मिराशी, एम० ए० मोतीलाल बनारसीदास, प्रथम संस्करण, १९३८

कालिदास — चन्द्रबली पाण्डेय, मोतीलाल बनारसीदास

कालिदास का भारत — भागवतशरण उपाध्याय, भारतीय, ज्ञानपीठ, काशी, १९५४

कालिदास : ए स्टडी — जे० सी० झाला

कालिदास — अरविन्द घोष, कलकत्ता, १९२९

कालिदास के ग्रन्थों पर आधारित तत्कालीन भारतीय संस्कृति — डा० गायत्री वर्मा

कालिदास : द ह्यूमन मिनिंग आफ हिज वर्क्स — वाल्टर रूबेन

कालिदास : एक अनुशीलन — पं० देवदत्त शास्त्री

कालिदास—एक अध्ययन — काशीनाथ द्विवेदी

कालिदास और भास — भागवतशरण उपाध्याय

काव्यालंकार	भामह
काव्यानुशासन	हेमचन्द्र
कात्यायन श्रौत सूत्र	
काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध	जयशंकर प्रसाद, तृतीय संस्करण
कौटिल्य अर्थशास्त्र	
कुमारसंभवम्	कालिदास
कालिदास एण्ड पद्मपुराण	हरदत्त शर्मा
कालिदास	के० एस० रामस्वामी शास्त्री
काव्यप्रकाश (मम्मट)	वामन की टीका
काव्यादर्श	दण्डी
काव्यालंकारसूत्र	वामन
कौमिक एलिमेन्ट इन संस्कृत ड्रामा	डा० आर० एल० सिंह
गुप्त साम्राज्य का इतिहास	वासुदेव उपाध्याय
गउडवहो	वाकपतिराज
जैन साहित्य का इतिहास	नानूराम प्रेमी
जातक संदोहो	प्रो० भागवत
छान्दोग्योपनिषद्	गीता प्रेस, गोरखपुर
ड्रामा इन एंसियेण्ट इण्डिया	एस० सी० भट्ट, दिल्ली, १९६१
ड्रामाजा	एस० एच० विल्सन
ड्रामाज एण्ड ड्रामेटिक डान्सेज आफ नानयूरोपियन रेसेज	डा० रिजवे
ड्रामा इन संस्कृत लिटरेचर	आर० बी० जागिरदार
तिलकमंजरी	धनपाल
त्रयोदश त्रिवेन्द्रम नाटकानि	टी० गणपति शास्त्री
तंत्रालोक	अभिनवगुप्त पादाचार्य
तैत्तिरीय ब्राह्मण	
थ्योरी आफ रस इन संस्कृत ड्रामा	हरिराम मिश्र, विन्ध्याचल प्रकाशन, भोपाल
द संस्कृत ड्रामा इन इट्स आरिजन डेवेलपमेण्ट एन थ्यूरी एण्ड प्रैक्टिस	ए० बी० कीथ, आक्सफोर्ड, १९२४
द टाइप्स आफ ड्रामा	डी० आर० माकंड, करांची, १९३६
द नाट्यशास्त्र (खंड १ और २)	मनमोहन घोष, द एसिआटिक सोसाइटी, कलकत्ता, १९६१

द लाज एण्ड प्रेक्टिस आफ संस्कृत ड्रामा	एस० एन० शास्त्री, चौखम्बा, संस्कृत सीरीज, आफिस वाराणसी, १९६१
दशरूपक	जी० सी० हास
द अभिज्ञानशाकुन्तलम् आफ कालिदास	लेफ्टिनेन्ट कोलोभेल; ए० बी० गजेन्द्र गदकर, एम० ए० एम० बी० इ० डी। एकादश संस्करण, १९६७
द रघुवंश आफ कालिदास	एम० आर० काले
द विक्रमोर्वशीयम् आफ कालिदास	एम० आर० काले, मोतीलाल बनारसी दास, वाराणसी, एकादश संस्करण, १९६७
द ध्वनि थ्योरी इन संस्कृत पोएटिक्स	मुकुन्द माधव शर्मा, चौखम्बा, संस्कृत सिरीज आफिस, वाराणसी
द थ्यारीज आफ रस एण्ड ध्वनि	ए० शंकरण, पब्लिस्ड बाइ द यूनिवर्सिटी आफ मद्रास, १९२९
द डेभेलपमेण्ठ आफ ड्रामेटिक आर्ट	प्रा० डोनाल्ड क्लाइव स्टुआर्ट
द रघुवंश आफ कालिदास	गोपाल रघुनाथ नन्दएरीकर
ध्वन्यालोक	जगन्नाथ पाठक, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी
ध्वन्यालोक	आचार्य विश्वेश्वर, सं० २०१९
ध्वन्यालोक लोचन	अभिनव गुप्तपदाचार्य
नाट्यशास्त्र	पं० बटुकनाथ शर्मा तथा पं० बलदेव उपाध्याय, चौखम्बा संस्कृत सिरीज आफिस, वाराणसी
नाट्यशास्त्र	एम० रामकृष्ण कवि, गायकवाड़ ओरियण्टल सिरीज खण्ड, ५८, बड़ौदा, १९३४
नाट्यदर्पण	आचार्य विश्वेश्वर, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली १९६१
नाट्य समीक्षा	दशरथ ओझा
नाट्य शास्त्र की भारतीय परम्परा और दशरूपक	डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी
नाटकलक्षणरत्नकोश	बाबूलाल शुक्ल शास्त्री, चौखम्बा, संस्कृत सिरीज आफिस, वाराणसी-१

नम्बर आफ रस	वी० राघवन, १९४०
नागानन्द	हर्ष
प्रिंसिप्लस आफ लिटररी क्रिटिसिज्म इन संस्कृत	डा० आर० सी० द्विवेदी
पद्मपुराण एण्ड कालिदास	हरदत्त शास्त्री
पद्मपुराण	विश्वनाथ नारायण, आनन्दाश्रम, मुद्रणालय, पुण्याख्यपत्तन, १८९४
प्राचीन भारतीय साहित्य का इतिहास	एम० विण्टरनित्स, मोतीलाल बनारसी दास, १९६६
प्राचीन साहित्य	रवीन्द्रनाथ
प्रसन्नराघव	जयदेव
भरत का नाट्यशास्त्र	रघुवंश, मोतीलाल बनारसीदास, १९६४
भवभूति एण्ड हिज प्लेस इन संस्कृत लिटरेचर	ए० बरुआ, कलकत्ता, १८७८
भारतीय नाट्य साहित्य	सेठ गोविन्द दास, अभिनन्दन ग्रन्थ, नई दिल्ली
भास-ए स्टडी	डी० पुस्लकर, लाहौर, १९४०
भावप्रकाशन	शारदातनय, गायकवाड ओरियण्टल सिरीज, १९३०
भोजाज श्रृंगार प्रकाश	डा० वी राघवन, श्रीकृष्णपुरम् स्ट्रीट, मद्रास, १९६३
भारतीय नाट्य परम्परा और अभिनय दर्पण	वाचस्पति गैरोला।
भरत और भारतीय नाट्यकला	डा० सुरेन्द्र नाथ दीक्षित
भारतीय समीक्षा सिद्धान्त	डा० सूर्यनारायण द्विवेदी
भवभूति और उनकी नाट्यकला	डा० अयोध्या प्रसाद सिंह, मोतीलाल बनारसी दास, वाराणसी-१।
भारतीय तथा पाश्चात्य रंगमंच	पं० सीताराम चतुर्वेदी
भरत का संगीत सिद्धान्त	कैलाशचन्द्रदेव बृहस्पति, प्रकाशन शाखा, सूचना विभाग उत्तरप्रदेश।
भरतकोश	महेन्द्र विक्रम
भागवत पुराण	
मनुस्मृति	निर्णय सागर प्रेस, बम्बई

महाकवि भवभूति — डा० गंगासागर राय, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, १९६५

मेघदूतम् — शारदारंजन राय, कलकत्ता, १९६४

मालविकाग्निमित्रम् आफ कालिदास — सी० आर० देवधर, मोतीलाल बनारसी दास, १९६६

महाकवि कालिदास — डा० रमाशंकर तिवारी

मालविकाग्निमित्र — डा० संसार चन्द्र

मालविकाग्निमित्र — रामचन्द्र मिश्र

मालविकाग्निमित्र-ए क्रिटिकल स्टडी — एम० पारदकर

मध्यकालीन संस्कृत नाटक — रामजी उपाध्याय, प्रकाशक संस्कृत परिषद्, सागर विश्वविद्यालय, सागर, १९७४

मैक्समूलर्स वर्सन आफ ऋग्वेद वाल्यूम १

मृच्छकटिकम् — शूद्रक

मालतीमाधव — भवभूति

महाभारत

मत्स्यपुराण

यजुर्वेद संहिता

रससिद्धांत:स्वरूप विश्लेषण — आनन्द प्रकाश दीक्षित, राजकमल प्रकाशन, १९६०

रस सिद्धान्त — डा० नगेन्द्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, १९६४

रसगंगाधर — निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १८९४

रत्नावली नाटिका — आचार्य रामचन्द्र मिश्र, चौखम्बा, संस्कृत सिरीज आफिस, वाराणसी, १९६४

राष्ट्रकवि कालिदास — सीताराम सहगल, १९६१

रसार्णव सुधाकर — शिंगभूपाल

राजतरंगिणी — कल्हण

रामकथा : उद्भव और विकास — कामिलबुल्के

रीतिकाव्य की भूमिका — डा० नगेन्द्र

रामचरित मानस — तुलसीदास, गीताप्रेस, गोरखपुर

लाज एण्ड प्रैक्टिस आफ संस्कृत ड्रामा — डा० एस० एन० शास्त्री

वाजसनेयी संहिता (शुक्लयजुर्वेद)

वाल्मीकीय रामायण	गीता प्रेस, गोरखपुर, सं० २०१७
विक्रमोर्वशीयम्	पं० रामचन्द्र मिश्र, चौ० संस्कृत सिरीज; वाराणसी, १९५३
विक्रमोर्वशीयम् आफ कालिदास	सी० आ० देवधर, मो० ब० दा०, १९६६
विक्रमोर्वशीयम् (ए ड्रमा आफ कालिदास)	श्री अरविन्द
विक्रमोर्वशीयम्	एम० आर० काले
विक्रमोर्वशीयम् आफ कालिदास	एच० डी० वेलंकर, निर्णय सागर प्रेस; बम्बई २
विमेन इन संस्कृत ड्रामाज	डा० रत्नमयी देवी दीक्षित, दिल्ली, १९६४
विश्व कवि कालिदास एक अध्ययन	सूर्यनारायण व्यास
विष्णुपुराण	
व्यक्तिविवेक	महिमभट्ट
वेणीसंहार	भट्टनारायण
शृंगार प्रकाश	भोजदेव
शृंगार रस का शास्त्रीय विवेचन	डा० सुरेन्द्रनाथ सिंह, चौ० स० सीरीज; वाराणसी
शतपथ ब्राह्मण	
श्रीमद्भागवत	
शकुन्तला	गजेन्द्रगदकर
संस्कृत ड्रामा एण्ड ड्रामेटिस्ट	देयर क्रोनोलोजी माइन्ड एण्ड आर्टस, के० पी० कुलकर्णी, एम० ए०
संस्कृत साहित्य का इतिहास	ए० बी० कीथ, अनु०-डा० मंगलदेवशास्त्री
संस्कृत साहित्य का इतिहास	वाचस्पति गैरोला, चौ० विद्याभवन, वाराणसी
संस्कृत साहित्य का इतिहास	वी० वरदाचार्य, अनु०-डा० कपिलदेव द्विवेदी
संस्कृत कवि दर्शन	डा० भोलाशंकर व्यास, चौखम्बा विद्या भवन
संस्कृत कविचर्चा	पं० बलदेव उपाध्याय
संस्कृत साहित्य का इतिहास	पं० बलदेव उपाध्याय
संस्कृत नाटक	ए० बी० कीथ, अनु० उदभानु सिंह
संस्कृत साहित्य की रूप-रेखा	पं० चन्द्रशेखर पाण्डेय

संस्कृत नाट्य सिद्धान्त	डा० रमाकान्त त्रिपाठी
संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास	एस० के० दे, अनु० मायाराम शर्मा, बिहार हिन्दी अकादमी, पटना ३
साहित्य दर्पण	शालग्राम शास्त्री, मोतीलाल बनारसीदास
संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास	वी० वी० काणे, मोतीलाल बनारसी दास
संस्कृत सुकवि समीक्षा	बलदेव उपाध्याय, चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी-१
संस्कृत काव्यकार	डा० हरदत्त शास्त्री, साहित्य भण्डार, सुभाषा बाजार १९६२
संस्कृत नाट्यकला	डा० रामलखन शुक्ल, मोतीलाल बनारसी दास
संस्कृत साहित्य में सादृश्यमूलक अलंकारों का विकास	डा० ब्रह्मानन्द शर्मा
सरस्वती कण्ठाभरण	भोजदेव
संस्कृत साहित्य का इतिहास	कन्हैया लाल पोद्दार
संगीत रत्नाकर	सारंगदेव
सिद्धान्त कौमुदी	भट्टोजि दीक्षित
संस्कृत नाटककार	कान्तिकिशोर भाटिया, सूचना विभाग, उ० प्र०, १९५९
संस्कृत ड्रामा—इट्स ओरिजिन एण्ड डिक्लाइन	आइ० शेखर, लदन, १९६०
हिन्दी दशरूपक	डा० भोलाशंकर व्यास, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९६०
हिन्दी काव्यप्रकाश	डा० सत्यव्रत सिंह, चौ० विद्याभवन, वाराणसी १९६०
हिन्दी साहित्य कोश	ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी, सं० २०१५
हिन्दी साहित्य दर्पण	डा० सत्यव्रत सिंह, चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी, १९५७
हिन्दी कामसूत्र	देवदत्त शास्त्री, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, १९६४

हमारा संस्कृत साहित्य	प्रो० जगन्नाथ राय शर्मा, ग्रन्थमाला कार्यालय, पटना
हिन्दी अलंकार सर्वस्व	डा० रेवा प्रसाद द्विवेदी, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस वाराणसी, १९७१
हिन्दी नाट्यशास्त्र	बाबू लाल शुक्ल शास्त्री, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी।
हर्षचरितम्	बाणभट्ट

साहित्यिक पत्रिकाएँ

एनाल्स आरिएन्टल रिसर्च यूनिवर्सिटी, मद्रास, वाल्यूम ५, (१९४०-४१)

के० एच० ध्रुव, पूना ओरियन्टलिस्ट, अक्टूबर, १९३६

कालिदास निबन्धांक, कामेश्वर सिंह संस्कृत विश्वविद्यालय पत्रिका

जर्नल आफ दि रायल एशियाटिक सोसाइटी, (१९८१ ई०) (दि वैदिक आख्यान एंड दि इण्डियन ड्रामा शीर्षक निबन्ध)

वही १९०३, १९०४, १९०९

जर्नल आफ दि ओरिएण्टल रिसर्च, मद्रास, खण्ड ६ एवं ७, १९३३

जर्नल आफ बिहार एण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी, वाल्यूम ७

दि क्वाटरली जर्नल आफ दि आन्ध्र हिस्टारिकल रिसर्च सोसाइटी—१।

द सोसल प्ले इन संस्कृत, वी० राघवन, एम० ए० पी० एच० डी, ट्रान्जेक्शन न० ११;

द इण्डियन इन्स्टिट्यूट आफ कल्चर, बसवंगुदी, बंगलौर, मार्च, १९५२

द हिरोइन्स आफ द प्लेज आफ कालिदास, संस्कृत विशारद एस० रामचन्द्र राय; एम० ए० ट्रान्जेक्शन न०७, द इण्डियन इन्स्टीच्यूट ऑफ कल्चर, बसवंगुदी, बंगलौर; मई १९५१

आलोचना, अक्टूबर, १९५७, नाट्यशास्त्र की भारती परम्परा, डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी

☆

संकेत-सूची

अथर्व०	:	अथर्ववेद
अभि० शा०	:	अभिज्ञान शाकुन्तलम्
अभि० भा०		अभिनव भारती
अष्टा०		अष्टाध्यायी
अमर०	:	अमरकोश
अ०	:	अध्याय
अभि० द०		अभिनय दर्पण
अधि०	:	अधिकार
अभि० गा० स०	:	अभिनव भारती गायकवाड़ संस्करण

अं०	अंक
इति०	इतिहास
उ० रा०	उत्तररामचरितम्
उत्तरा०	उत्तरार्द्ध
ऋ० सं०	ऋक् संहिता
ऋ० वे०	ऋग्वेद
का० मी०	काव्यमीमांसा
का० प्र०	काव्यप्रकाश
कौ० अ०	कौटिल्य अर्थशास्त्र
का० सू०	कामसूत्र
काव्या०	काव्यादर्श
काव्य० सू०	काव्यालंकारसूत्र
कारि०	कारिका
चौ० सं०	चौखम्बा संस्करण
चौ० प्र०	चौखम्बा प्रकाशन
चौ० सं० सी०	चौखम्बा संस्कृत सीरीज
छा० उ०	छान्दोग्योपनिषद्
पृ०	पृष्ठ
परि०	परिच्छेद
पूर्वा०	पूर्वार्द्ध
वं० सं०	वंगाल संस्करण
भ० को०	भरतकोश
भा० प्र०	भावप्रकाशन
मुद्र०	मुद्राराक्षस
मृच्छ०	मृच्छकटिक
मालविका०	मालविकाग्निमित्रम्
मनु०	मनुस्मृति
महाभा०	महाभाष्य
यजु०	यजुर्वेद
रा० च० मि०	रामचन्द्र मिश्र
र० सु०	रसार्णव सुधाकर
रत्ना० ना०	रत्नावली नाटिका
रा० च० मा०	रामचरित मानस

टी०	टीका	ले०	लेखक
डा० स० व्र०	डाक्टर सत्यव्रत सिंह	विक्र०	विक्रमोर्वशीयम्
दशरू०	दशरूपक	वा० रा०	वाल्मीकीय रामायण
ध्व०	ध्वन्यालोक	शृ० प्र०	शृंगार प्रकाश
ना० शा०	नाट्यशास्त्र	सा० द०	साहित्य दर्पण
ना० द०	नाट्यदर्पण	सं० ड्रा०	संस्कृत ड्रामा
ना० ल० र०	नाटक लक्षण रत्नकोश	सि० कौ०	सिद्धान्त कौमुदी
प्र० वि०	प्रथम विवेक	स० र०	संगीत रत्नाकर
प्र० प्र०	प्रथम प्रकाश	सं० सा०	संस्कृत साहित्य
प्र० अ०	प्रथम अध्याय		
पू० मे०	पूर्वमेघ		